चारित्र चक्रवर्ती

श्रमणशिरोमणि

आचार्य शान्तिसागर महाराज

का पुण्य चरित्र

लेखक

धर्मदिवाकर पं. सुमेरुचंद्र दिवाकर

(शास्त्री, न्यायतीर्थ)

सिवनी (म.प्र.)

प्रकाशक / प्रकाशन

श्री भारतवर्षीय दिगंबर जैन (श्रुत संवर्द्धिनी) महासभा

६०६, भण्डारी हाऊस, ९१ नेहरू प्लेस, नई दिल्ली -११० ०१९

दूरभाष : ०११-५५६०२६९३/ फेक्स ०११-२६२१४६८६

E-Mail id : digjainmahasabha@yahoo.com

नाम : **चारित्र चक्रवर्ती**

(श्रमणशिरोमणि आचार्य शान्तिसागर महाराज का पुण्य चरित्र)

लेखक : **सुमेरुचन्द्र दिवाकर, सिवनी(म.प्र.)**

प्रस्तुति/संपादन : **डॉ. हेमन्त काला, इन्दौर(म.प्र.)**

संस्करण : **अष्टम संस्करण, ५००० प्रतियाँ, १ फरवरी २००६**

संकल्पना : **आशीष जैन**

१८/१, बियाबानी, प्रेमसुख अस्पताल के पीछे, इन्दौर(म.प्र.)

मुद्रक : **त्रिमुर्ती प्रिंटर्स**

५-सेक्टर डी,सांवेर रोड़, एम.पी.आई.डी.सी., इन्दौर (म.प्र.)

अर्थ सौजन्य : **१. कान्ति भाई जवेरी**

C/o. निहालचन्द गिरधारीलाल जवेरी

६८, जवेरी बाजार, मुम्बई - ४०० ००२

२. श्री भारतवर्षीय दिगंबर जैन (श्रुतसंवर्द्धिनी) महासभा

६०६, भण्डारी हाऊस, ६१ नेहरू प्लेस,

नई दिल्ली -११० ०१६

प्रकाशक : **श्री भारतवर्षीय दिगंबर जैन (श्रुतसंवर्द्धिनी) महासभा**

६०६, भण्डारी हाऊस, ६१ नेहरू प्लेस,

नई दिल्ली -११० ०१६

दूरभाष:०११-५५६०२६६३/फेक्स ०११-२६२१४६८६

E-Mail id : digjainmahasabha@yahoo.com

प्राप्ति स्थान : **श्री भारतवर्षीय दिगंबर जैन श्रुतसंवर्द्धिनी महासभा, परीक्षालय बोर्ड**

४३८, कालानी नगर, बी.एस.एफ. पानी की टंकी के पास,

एरोड्रम रोड़, इन्दौर - ४५२ ००५

E-Mail id : pajikshalaya@yahoo.co.in

दूरभाष - ०७३१-३०६४८६८,

मो. - ०-६४२५०७५७७४

मूल्य : **१५०/=(एक सौ पचास रुपये मात्र)**

ज्ञानं पूज्यं तपोहीनं, ज्ञानहीनं तपोऽर्हितम् ।
यत्र द्वयं स देवः स्याद्, द्विहीनो गणपूरणः ।।

अर्थ - तप न हो और मात्र (विशिष्ट) ज्ञान ही हो तो वह भी पूज्य है। (विशिष्ट) ज्ञान न हो, केवल तप या चारित्र ही हो, तो वह भी पूज्य है। और जिस व्यक्ति में (विशिष्ट) ज्ञान व तप दोनों हों, उसे तो साक्षात् देव ही समझना चाहिये। (यशःस्तिलकचंपू महाकाव्य)

जिनका ज्ञान व तपोबल, दोनों ही, परिक्षाप्रधानियों तक को चरणों में नवां गया, उन चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागरजी महराज के श्री चरणों में शत-शत वंदन, शत-शत वंदन।

श्री भारतवर्षीय दिगंबर जैन महासभा चैरिटेबल ट्रस्ट
श्री भारतवर्षीय दिगंबर जैन (धर्म संरक्षिणी) महासभा
श्री भारतवर्षीय दिगंबर जैन (श्रुत संवर्द्धिनी) महासभा
श्री भारतवर्षीय दिगंबर जैन (तीर्थ संरक्षिणी) महासभा
श्री भारतवर्षीय दिगंबर जैन (श्रुत संवर्द्धिनी) महासभा, परिक्षालय बोर्ड

जैन गजट परिवार (साप्ताहिक)	प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्धार परिवार (मासिक)	श्रुतसंवर्द्धिनी परिवार (मासिक)	महिलादर्श परिवार (मासिक)

चारित्र चक्रवर्ती ग्रंथ पर कतिपय अभिमत-१

आचार्य देशभूषणजी महाराज -

आपने आचार्य श्री का जीवन चरित्र समाज के सामने प्रस्तुत कर अपूर्व पुण्य और यश को प्राप्त किया है। महाराजजी के सन्निकट में रहकर जो पुण्य और यश प्राप्त किया है, अन्य किसी संसारी प्राणी को दुर्लभ है। आचार्य महराज ने इस अखंड भारत में कोने-कोने पर विहार कर प्राणियों को उनका कल्याणकारी मार्ग बताया है और जैनधर्म की प्राणप्रण से रक्षा की है। आचार्य महाराज समस्त संसार की महान् विभूति हैं। आपने उक्त महान ग्रंथ लिखकर जो गुरूभक्ति का प्रसार किया है, हमारा आशीर्वाद सदैव आपके साथ है।

पूज्य वर्द्धमानसागरजी -

आपने बहुत परिश्रम से चारित्र चक्रवर्ती १०८ आचार्य शांतिसागरजी महाराज का जीवन चरित्र लिखकर प्रकाशित किया है। आपने यह अत्यंत चिरस्मरणीय कार्य किया है। यह ग्रंथ अजरामर है। आपको इसके लिए आशीर्वाद।

पूज्य समंतभद्रजी महाराज -

आचार्य श्री का चारित्र लिखकर आपने बहुत बड़ा कार्य किया है, इस हेतु आपको अनेक शुभाशीर्वाद पूर्वक धन्यवाद। आपका धर्मोत्साह बढता रहे, यह मंगलकामना।

श्री लक्ष्मीसेनजी भट्टारक, कोल्हापुर -

चारित्र चक्रवर्ती लोकोत्तर महात्मा पूज्य आचार्य श्री का चारित्र ग्रंथ ब्रह्मनिष्ठ विद्वान आपकी विद्वतता का सार है, जो जगन्मान्य है ही।

ब्र. सूरजमल जी (आचार्य वीरसागर जी के समीप से)-

वास्तव में चारित्र चक्रवर्ती ग्रंथ में आपने बहुत ही परिश्रम किया। इतना बड़ा ग्रंथ, जिसमें पूज्य गुरूदेव का चारित्र पूर्ण रूप से है, बिना पांडित्य के ऐसी अमोलक चीज नहीं बन सकती। पूज्य वीरसागर जी महाराज आपको आशीर्वाद देते हुए ग्रंथ को बनाने के हर्षोपलक्ष्य में आपके परिश्रम के लिए आपकी प्रशंसा करते हैं।

रावराजा सरसेठ हुकुमचंदजी, इन्दौर -

आपका लिखा हुआ चारित्र चक्रवर्ती ग्रंथ हमने आद्योपान्त पढा है। वह बहुत सुन्दर है और हमको बहुत अच्छा लगा। आपके सद्प्रयत्न की हम हृदय से सराहना करते हैं।

आचार्य श्री के आशीर्वचन महासभा के लिए

दिगम्बर जैन धर्म संरक्षिणी महासभा को हमारा आशीर्वाद है, क्योंकि वह धर्म संकट में नहीं डिगी है। आगे भी यह धर्म से नहीं डिगेगी ऐसी हमें आशा है।

- चारित्र चक्रवर्ती (संस्करण १९९७), प्रभावना, पृष्ठ २३९

महासभा सदैव की तरह धर्म रक्षा[1] में सदा कटिबद्ध रहे, धर्म को कभी न भूलें और धर्म के विरूद्ध कोई भी कार्य न करें।

- आचार्य शांतिसागर सल्लेखना विशेषांक, जैन गजट, सन् १९५५

१. धर्म-रक्षा शब्द से आचार्य श्री का तात्पर्य - सज्जातित्व सरक्षण (स्व-स्व जातियों की पंचायतों व पंचायतों के प्रावधानों के प्रति प्रत्येक सदस्य की अड़िग आस्था व सामाजिक स्तर पर एक जुटता), धर्म संरक्षण (जैन पंचायत अर्थात् धार्मिक संगठन महासभा के प्रावधानों के प्रति भी घोर आस्था व प्रत्येक धार्मिक मामलों में एकजुटता), विजातीय विवाह, विधवा विवाह व बाल विवाह निषेध, शुद्र जल का त्याग, यज्ञोपवित-धारण आदि-आदि।

चारित्र चक्रवर्ती ग्रंथ पर कतिपय अभिमत-२

श्री मूलचन्द किसनचन्द कापड़िया, संपादक जैनमित्र -

श्री दिवाकरजी ने यह महान् चारित्र ऐसी खोज व ऐसे ढंग से लिखा है कि जो जैन-अजैन सब महानुभावों के हस्त में रखने योग्य है। वर्षों की खोज व बड़ी छानबीन के साथ ही यह चारित्र दिवाकरजी ने लिखा है, जो दिगम्बर जैन समाज के लिये क भूषण रूप है।

ब्र. चन्दाबाईजी जैन (महिला आश्रम, आरा)

श्री पं. सुमेरुचंद्रजी दिवाकर लब्ध प्रतिष्ठित लेखक और चिन्तनशील विद्वान हैं। आपने प्रस्तुत ग्रंथ में चारित्र चक्रवर्ती पूज्य आचार्य शांतिसागरजी महाराज की जीवनी बड़ी ही शोधबीन के साथ प्रस्तुत की है। प्रसंग पर धर्मचर्चायें भी प्रस्तुत की गई हैं, जिससे ग्रंथ की उपयोगिता में चार चाँद लग गये हैं। जीवनी लिखने का ढंग भी बहुत ही सुन्दर और रोचक है। पाठक पढ़ते समय बहता चला जाता है।

पूज्य आचार्य महाराज के निकट सम्पर्क में रहकर उनके जीवन की अनेक शिक्षाप्रद घटनाओं का संकलन भी लेखक ने प्रामाणिकता और ईमानदारी के साथ किया है।

श्री लक्ष्मीचंद जैन (भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली) -

चारित्र चक्रवर्ती ग्रंथ के संबंध में आपने जो परिश्रम किया है और पूज्य आचार्य शांतिसागरजी महाराज के जीवन चरित्र के माध्यम से जैन धर्म के संबंध में सैद्धांतिक प्रकाश डाला है, वह वास्तव में बहुमूल्य है। आपने उनके पवित्र जीवन के अनुरूप ग्रंथ प्रकाशित करके समाज की लाज बचा ली और सार्वभौम प्रणति को अभिव्यक्ति दी।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त -

ऐसे ग्रंथ की आलोचना क्या! शिरोधार्य होते हैं। इनसे कुछ शिक्षा ली जाय तो बड़ी बात है। हाँ, उसके लिये आपने जो प्रयास किया है, उसकी जितनी बड़ाई की जाय थोड़ी है। आपकी जो मुझ पर कृपा रहती है उसके लिए चिरकृतज्ञ हूँ।

श्री मा. गोलवेलकर (राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ) -

मैं कुछ लिखने का गुण अपने अंदर नहीं पाता। मैं तो केवल संतो का पूजारी मात्र होने की इच्छा रखता हूँ और इसी दृष्टि से मैं श्री १०८ शांतिसागर महाराज के पुण्य चरणों में नम्रतापूर्वक प्रणाम करता हूँ।

श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी -

चारित्र चक्रवर्ती देख गया हूँ। पुस्तक अच्छी है, धन्यवाद।

आचार्य श्री निमित्त, दोहला एवं ज्योतिष विज्ञान की दृष्टि में
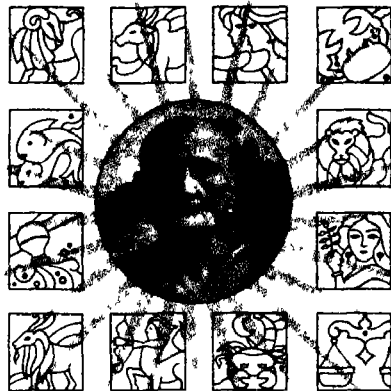
आचार्य श्री निमित्त विज्ञान की दृष्टि में : निमित्त शास्त्र के जानने वालों का ऐसा मत है कि जिस व्यक्ति के शरीर में सर्प चढ़कर लीला करे और उस व्यक्ति को बाल-बाल छोड़ दे, वह व्यक्ति संसार में महापुरूष होगा, महा पराक्रमी होगा, अलौकिक कार्य कर संसार का उद्धार करेगा।

महर्षि शांति सागर के शरीर पर भी ५ बार सर्प चढ़ने का उल्लेख व देखने का मौका मिला है। कभी-कभी तो दो-दो घंटे तक सर्प शरीर में अपनी लीला करता रहा, परंतु न तपोनिधि शांतिसागर विचलित हुए और न ही वह ही कुछ विक्षुब्ध हुआ। वस्तुत: यह बात आचार्य श्री शांतिसागर के अलौकिक महापुरूषत्व को प्रकट करती है।

- आचार्य श्री शातिसागर महामुनि का चरित्र का आद्य वक्तव्य
लेखक: महान उद्योगपति व तत्वेत्ता सेठ श्री रावजी सखाराम दोशी
पृष्ठ १ सन् १९३४, सवत् १९९०

आचार्य श्री दोहला विज्ञान की दृष्टि में : आचार्य श्री की भव्य भवितव्यता को दर्शाने वाला दोहला उनके गर्भ काल में माता को आया था। मुनिवर्य वर्द्धमानसागरजी जो कि आचार्य श्री के बडे भाई थे ने बतलाया कि आचार्य श्री के गर्भ में आने पर माता को दोहला हुआ था कि एक सौ आठ सहस्रदल वाले कमलों से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करुं। उस समय पता लगाया गया कि कहाँ ऐसे कमल मिलेंगे। कोल्हापुर के समीप तालाब से वे कमल विशेष प्रबंध तथा व्यय द्वारा लाये गये और भगवान् की बड़ी भक्तिपूर्वक पूजा की गई थी।

- चारित्र चक्रवर्ती (सस्करण १९९७), लोक स्मृति पृष्ठ २२

आचार्य श्री ज्योतिष विज्ञान की दृष्टि में : एक बार एक उच्चकोटि के ज्योतिषशास्त्र के विद्वान को आचार्य महाराज की जन्मकुण्डली दिखाई थी। जिसे देखकर उन्होंने कहा था कि जिस व्यक्ति की यह कुण्ड़ली है, उसके पास तिलतुष मात्र भी संपत्ति नहीं होना चाहिए, किन्तु उसकी सेवा करने वाले लखपति, करोड़पति होना चाहिये। उन्होंने यह भी कहा था कि उनकी शारीरिक शक्ति गजब की होना चाहिये। बुद्धि बहुत त्रीव बताई थी और उन्हें महान् तत्त्वज्ञानी भी बताया था।

- चारित्र चक्रवर्ती (संस्करण १९९७), प्रभावना, पृष्ठ १९१

आचार्य श्री शांतिसागर मुनिवर्यस्य

जन्मपत्रिका व फल

वंदित्वादौ शांतिसिंधुं मुनिं श्रीशांतिसागरम् ।।
तज्जन्मपत्रिका-जीर्णो-द्धारं कुर्वे यथामति ।।१।।

(प्राचीन कर्नाटक भाषा में लिखी जीर्ण पत्रिका का जीर्णोद्धार कर इस पत्रिका की जैन दर्शन के महान विद्वान व सुप्रसिद्ध ज्योतिष उदगाँव निवासी पं. अप्पा शास्त्री ने वीर निर्वाण संवत् २४४८ को निर्मिति की)

[1]शकनृपतिशालिवाहन-चतुर्णवत्यधिकसप्तदशशतवर्षे ।
शुभज्येष्ठकृष्णपक्षे तिथिषष्ठ्यां सौम्यवासरे चापि ।।१।।
गतघटिवसुपंचाशत्प्रभातसमये बृहस्पतेवरि ।
पूर्वाभाद्रपदाया-स्तृतीयचरणे च शोभने योगे ।।२।।
एतस्मिन् शुभदिवसे भोजग्रामे स्थितो भीमगौडः ।
तद्भार्या शीलवती सत्यवती नामिका तयोरुदरे ।।३।।
दामोदर इतिनामाप्ययं महात्मा सुतः समजनिष्ट ।
अपि चास्य सातगौडा व्यवहारे वदति सर्वजनतेह ।।४।।
जन्मफलश्रुतिमस्य ज्योतिःशास्त्रानुसारतो वक्ष्ये ।
पूर्वाभाद्रपदानक्षत्रस्य तृतीयचरणे जननात् ।।५।।
अयमतिसुंदररूपो दाता दारिद्र्यसुजनसंतोषः ।
सत्कीर्तिमान् सुपुण्यो धन्योदारश्च देवगुरुभक्तः ।।६।।
धर्माचाररतः सन् स्वस्थानोद्योगिभव्यसत्पुरुषः ।
किंचिच्च कंठरोगी व्यवहारज्ञः क्षमागुणः शांतः ।।७।।
अपि चास्य कुंभराशी-तत्फलमनुवर्ण्यते यथाशास्त्रम् ।
रूपी परोपकारी प्रियवादी सद्विनेयजनतानाम् ।।८।।
विनयगुणी नृपमानी ह्यसत्यद्वेषीच राजभयदूरः ।
दीनोऽपि चान्नदाता सज्ज्ञानी सद्गुणी रतिविरक्तः[2] ।।९।।
जन्मद्वितीयवर्षे प्राणभयं तत्तृतीयवर्षे च ।
वातभयं वैरागं नवमे वर्षेच बालग्रहपीडा ।।१०।।
षोडशवर्षेऽपि च पशुभयमपमृत्योर्भयं खवेदाब्धे[3] ।
गण्डान्तरेषु चैवं गतेषु सत्स्वप्यशीतिवर्षायुः[4] ।।११।।
आदौ कर्नाटभाषायां केन कार्तांतकेन चित् ।
लिखितां पत्रिकां जीर्णां दृष्ट्वा तदनुसारतः ।।६।।

---

१. शक १७९४ वर्षे, २. स्त्रीसुखविरक्तः, ३. ४० वर्षे, ४. ८० वर्षायुः ।

आचार्य शांतिसागरजी महाराज
की जन्म-पत्रिका[1]

ग्रह-स्पष्ट

रवि	चंद्र	मंगल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	राहु	केतु
२	१०	२	३	३	२	८	१	१८
२१	११	८	२	१४	१९	२४	१८	१८

अस्य घातचंद्रः ११, घाततिथिः १४, घातवारः गुरुवारः। घातनक्षत्रं आर्द्रा। घातमासश्चैत्रः। गुरोर्जन्म महर्दशा। मनुष्यगणः। कुंभराशिः। तदधिपतिः शनैश्चरः। अस्य फलं पंचविंशतिवर्षे ३२ वर्षे वा अग्निभयं वा शस्त्रभयमिति आर्यावृत्तम्॥

---

१. साभार - उपर्युक्त कुण्डलियाँ व पिछले पृष्ठ पर निर्देशित जन्म पत्रिका व फल आचार्य श्री शांतिसागरजी का चरित्र, प्रकाशन वर्ष १९३४ से लिया गया है॥

।। महासभा का स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य इतिहास ।।

आचार्यश्री के सुसान्निध्य में
सन् १९२८ में श्री सम्मेदशिखर सिद्ध क्षेत्र पर आयोजित महासभा का भव्य अधिवेशन का एक लघु दृश्य व उसमें लिये गये निर्णय

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन धर्म संरक्षिणी महासभा और दिगम्बर जैन शास्त्रिपरिषद् के वार्षिक अधिवेशन संघपति ने कराये। उसमें धर्म तथा समाज के रक्षणोपयोगी (सत्तातित्व संरक्षण, विजातीय- विधवा विवाह निषेध आदि)अनेक विषयों का निर्णय किया गया।

इस महामहोत्सव में दक्षिण, कर्नाटक, द्रविड़, महाराष्ट्र, वऱ्हाड, बुंदेलखंड, मरवाड, गुजरात, राजपुताना, पंजाब, बंगाल, आसाम, आगरा, दिल्ली, कलकत्ता, मुंबई आदि सर्व प्रांतों से दिगम्बर जैन समाज लक्षावधि आकर इकट्ठा हो गया था।

भारत महासभा के पूर्व वर्ष के अध्यक्ष नागपुरनिवासी सवाई सिंघई सेठ मोतीलाल गुलाबसाव, भूतपूर्व सभापति इंदौर निवासी राज्यभूषण दानवीर रायबहादुर सर नाईट आदि उपाधिविभूषित सेठ हुकुमचंद, महासभा के नैमित्तिक इस अधिवेशन के अध्यक्ष रायसाहिब कुंवर मोतीलालजी रानीवाले, ब्यावर निवासी और उनके पिता रायबहादुर धर्मवीर सेठ चंपालाल, शास्त्रीपरिषद् के स्थायी अध्यक्ष पंडितशिरोमणि खंडेलवाल कुलभूषण धन्नालाल कासलीवाल, इन्दौर निवासी, वर्तमान अधिवेशन के अध्यक्ष नानूलाल शास्त्री, जयपुर निवासी, संमेदाचलपर पूर्व में जिन्होंने प्रतिष्ठा कराई थी वे श्रीमान् सिवनीनिवासी रायबहादुर श्री श्रीमंत सेठ पूरणसाहुजी, अजमेरनिवासी रायबहादुर धर्मवीर सेठ टीकचंदजी सोनी, महासभा के महामंत्री रायसाहिब जातिनेता सेठ चैनसुख छावड़ा, सिवनी निवासी, न्यायतीर्थ व्याकरणसिद्धांतशास्त्री शास्त्रिपरिषद् के मंत्री सोलापूरवाले बंशीधर शास्त्री, विद्यावारिधि वादीभकेसरी न्यायालंकार धर्मवीर पदोंसे भूषित जैनगजट नाम महासभा के मुखपत्र के संपादक पं. मक्खनलाल शास्त्री, चावली निवासी, स्वाध्याय विभाग के मंत्री धर्मधीर पदसे अलंकृत पं. श्रीलाल पाटनी महोदय अलीगढ़वासी, खंडेलवाल महासभा के मुखपत्र खंडेलवाल हितेच्छुके संपादक कविभूषण पं. इंद्रलाल शास्त्री जयपुरस्थ, खंडेलवाल महासभा के महामंत्री सेठ माणिकचंद बैनाडा कलकत्तानिवासी इत्यादि असंख्य धनवान् विद्वान् सर्व प्रकार के श्रावक इस महोत्सव में इकट्ठे हुए।

-आचार्य श्री शांतिसागर महामुनि का चरित्र (संस्करण-सन् १९३४),

पृष्ठ : ८६-८७, लेखक : पं. बंशीधरजी शास्त्री, सोलापुर(महा.)

इस संस्करण के संदर्भ मे

मैं चारित्र-चक्रवर्ती के इस संस्करण से अनायास युक्त हुआ।।

आदरणीय श्री सेठी जी (महासभा-अध्यक्ष) से दूरभाष से चर्चा हुई कि चारित्र-चक्रवर्ती ग्रंथ को इंदौर में ही और वह भी कोई आशिष जैन से ही छपवाना है।। मैंने दूरभाष क्रमांक व पता मांगा, जो कि अनुपलब्ध था।। कोशिश की।। कोशिश करने पर पता चला कि वे और कोई नहीं अपितु महासभा परिक्षालय बोर्ड जिनसे नैतिक शिक्षा आदि मुद्रित करवाता है, वे ही हैं।। इनका अपना प्रेस नहीं है, किंतु केनवासिंग अर्थात् जॉब वर्क की नियमावली के आधार पर अन्य प्रेसों से करवाते हैं।। उन्होंने अपना बज़ट बतलाया व कहा कि यदि मेरे कम्प्यूटर में पूर्व प्रकाशित संस्करण की प्रेस कॉपी सुरक्षित होगी, तो आपके उस प्रेस कॉपी के लिये जो रूपये अतिरिक्त लगने हैं, बच जायेंगे, अन्यथा प्रेस कॉपी व मुद्रित होने योग्य तस्वीरों की पॉजिटिव का खर्च अतिरिक्त लगेगा।। ये समाचार मैंने आदरणीय सेठी जी व बम्बई में इस कार्य के लिये उत्साहित आदरणीय विद्वान विधानाचार्य श्री भरतजी काला तक पहुँचा दिये व विषय को करीब-करीब भूल सा गया।। अचानक एक दिन आदरणीय सेठी जी का फोन आया कि पुस्तक मुद्रित करवानो है, अतः बात करो।। मैंने बात की, कॉटेशन लिया व दिल्ली भेज दिया।। दिल्ली से आदेश आया कि कार्य उनके सुपुर्द कर दिया जाय, सो कार्य उनके सुपुर्द कर दिया गया।।

मेरा कार्य यहाँ समाप्त हो गया था और यहाँ से मुझे पृथक हो जाना था।।

किंतु नहीं हो पाया।। कारण बनी चारित्र-चक्रवर्ती की प्रेस-कॉपी।। मुद्रक को प्रेस-कॉपी के कम्प्यूटर में सुरक्षित न होने संबंधी जो शंका थी, सो सत्य सिद्ध हुई।। कम्प्युटर में प्रेस कॉपी सुरक्षित नहीं थी।। उसने मुझसे प्रेस-कॉपी व मुद्रित होने वाले फोटो के पोजिटिव मांगे।। मेरे पास तो कुछ भी नहीं था।।

इस समस्या की सूचना मैंने मुद्रक की ओर से संभावित अर्थात् अुमानित प्रतिपुस्तक व्यय के उल्लेख सहित आदरणीय सेठीजी व बम्बई में श्री भरतजी काला को दे दी।।

वहाँ से तदनुसार स्वीकृति आई व फोटो आदि के लिये सिवनी श्री अभिनंदन जो दिवाकर से संपर्क करने हेतु कहा गया।। मैंने दूरभाष पर संपर्क किया, किंतु उनके पास भो संबंधित सामग्री पर्याप्त नहीं थी।। जितनी थी, उतनी उन्होंने भिजवाने की हामी भर दी।।

मैंने मुद्रक से कहा कि वो प्रेस कॉपी निर्मित कर ले।। उसने उसमें असहमती जतलाई व कहा कि चूंकि इस कार्य में प्रुफ रीडिंग आदि की जटिलतायें काफी हैं, अतः यह कार्य आप ही कर के दें तो बेहतर होगा।

बस यहीं से मैं इस कार्य से संबंधित हुआ।।

मेरे सम्मुख १९५३, १९७२ व १९९७ में प्रकाशित संस्करणों की तीन प्रतियाँ थीं। तीनों का मेल किया, तो मुझे तीनों के मध्य का संदर्भ समझ में नहीं आया ।। १९५३ की प्रति में मुद्रित आधे से अधिक अध्याय १९७२ की प्रति में नहीं थे।। दो अध्याय स्वाभाविक रूप से अधिक थे, जिनमें पहला आचार्य श्री की सल्लेखना का व दूसरा आचार्य श्री के संसर्ग में रहे श्रमणों व गृहस्थों के संस्मरणों का।। किंतु आधे से अधिक अध्यायों का १९७२ की प्रति में अभाव होना मुझे आश्चर्य चकित कर गया।। मैंने अनुमान लगाया कि संभवतः अगले प्रकाशकों ने पुस्तक की मोटाई से प्रभावित होकर, जिन अध्यायों का संबंध या तो आचार्य श्री से प्रत्यक्ष नहीं होगा अथवा न्यून होगा, उन्हें संपादित करके पृथक कर पुस्तक मुद्रित करवाई होगी।। प्रथम संस्करण में कुल पृष्ठ संख्या ७८६+२०(प्रस्तावनादि के)= ८०६ थी।। १९७२ में प्रकाशित पुस्तक में कुल पृष्ठ संख्या वह भी सल्लेखना व श्रमणों के संस्मरण युक्त होने के पश्चात् भी मात्र ५१७+४९ = ५६६ थी।। इनमें से यदि सल्लेखना व श्रमणों के संस्मरण के पृष्ठों की संख्या को यदि हम कम कर देवें, तो कितने पृष्ठ प्रथम संस्करण से कम हुए उसकी संख्या आ जायेगी।। सल्लेखना के कुल पृष्ठ ५० व श्रमणों के संस्मरण के पृष्ठ ९१ हैं।। कुल संख्या १४१।। ५१७ में से १४१ कम करने पर पृष्ठ संख्या प्राप्त हुई ३५६।। अर्थात् प्रथम संस्करण के कुल ७८६ पृष्ठों में से मात्र ३५६ पृष्ठ ही बाद के प्रकाशकों ने चारित्र-चक्रवर्ती के संस्करणों में मुद्रित करवाये थे व ४३० पृष्ठ संपादित कर छाँट कर पृथक कर दिये थे।।यह घटना सामान्य घटना नहीं थी।। मेरे देखे प्रकाशित साहित्यों में तो प्रथम ही थी।। मुझे प्रारंभिक विषयों के लिये, वे विषय जो कि तीनों प्रतियों में समान थे, १९५३ की प्रति उत्तम व अधिकारिक लगी, अतः उस अनुसार मेटर कम्पोजिंग का कार्य प्रारंभ करवाया।।

कार्य काफी होने के पश्चात् मुझे ख्याल आया कि इसकी सूचना मुझे आदरणीय सेठी जी को दे देनी चाहिये।। ऊपर दर्शाये गये गणित अनुसार मैंने इसकी सूचना आदरणीय सेठीजी व बंबई में श्री भरत कालाजी को दे दी।। दोनों को ही आश्चर्य हुआ कि ऐसा कैसे हो गया !! सेठीजी ने अपनी ओर से सुझाव दिया कि चूँकि वे इस विषय में विशेष कुछ नहीं जानते, अतः श्री अभिनंदनजी दिवाकर, सिवनी से संपर्क करें।। मैंने उनसे संपर्क किया व चर्चा की।। उन्होंने बतलाया कि १९५३ व १९७२ की प्रतियों में काफी अन्तर है।। जो ४३० पृष्ठ छाँट कर पृथक कर दिये गये हैं उनका आचार्य श्री से कोई संबंध नहीं

था।। वे तो पंडितजी के स्वयं के भिन्न-भिन्न विषयों पर लिखे गये लेख थे, जिसे कि पंडित जी साहब ने स्वयं ने संपादित कर पृथक कर दिया था, अतः हमें १९७२ की प्रति को ही मौलिक प्रति मानकर कार्य को गति देनी है।। इसी के साथ उन्होंने प्रूफ रिडिंग के लिये स्वयं आगे होकर उत्साह बतलाया।।

हमने १९५३ के आधार पर कम्पोजिंग किये हुए प्रूफ सिवनी भिजवा दिये।। वहाँ उनके सुपुत्र यशोधर दिवाकर ने १९७२ की प्रति अनुसार आवश्यक संशोधन किये व प्रूफ वापस भिजवा दिये।। हमने यहाँ द्वितीय प्रूफ रिडिंग के लिये डॉ. महेन्द्र जैन मनुज को व मीना दिवाकर जी को अनुबंधित किया।। इन दोनों ने आदरणीय ब्रह्मचारिणी सुषमाजी व संध्यादीदी के मार्ग निर्देशन में प्रुफ रिड़िंग के कार्य को गति दी।। इस प्रकार इस प्रति की प्रूफ रिडिंग मुख्यतया तीन व्यक्तियों ने मिलकर की।। मैं समयाभाव के कारण इनके मध्य सेतु भर बना रहा, इससे अधिक कुछ नहीं कर सका।।

इस बीच पता चला कि पंडितजी ने आगे के संस्करणों में भी विषय की मांग व प्राप्त समालोचनाओं के आधार पर कुछ संशोधन किया है, जिनका कि १९७३ की प्रति में अभाव है, तब १९९७ की प्रति को आदर्श मान, उसके अनुसार कार्य की इति की गई।।

इस बीच कुछ पृष्ठ सामान्य समस्याओं को लेकर मेरे सम्मुख आये, जिसने कि मुझे चारित्र चक्रवर्ती को गंभीरता से पढ़ने को बाध्य कर दिया।। मैंने १९५३, १९७३ व १९९७ के तीनों ही संस्करणों को पढ़ लिया।।

इन संस्करणों को पढ़ना ही मुझे इस संस्करण से प्राण-प्रण से युक्त होने को बाध्य कर गया।। मेरे चित्त में चारित्र चक्रवर्ती को लेकर कुछ नया करने का विचार कौंधा।। प्रथम सोचा कि १९५३ के संस्करण में कई सारे उत्तम विषय, जिनमें से कुछ आगम से संबंधित थे, कुछ इतिहास से, तो कुछ संस्मरणों से, को इस संस्करण से युक्त किया जाय।। तदनुसार कुछ प्रयास किया, जैसे आचार्य पद शीर्षक के तहत भिन्न-भिन्न ग्रंथों में दिये गये आचार्य परमेष्ठी के स्वरूप को, जो कि १९५३ की प्रति में तो थे, किन्तु आगे की प्रतियों में नहीं, उन्हें पुनः दिया, इसी प्रकार संस्कृत भाषा के एक ऐतिहासिक दस्तावेज को भी सम्मिलित किया जो कि चारित्र-चक्रवर्ती महाराज के सान्निध्य में हुए श्री शिखरजी के पंचकल्याणक महोत्सव से संबंधित व १९५३ की प्रति में तो मुद्रित था, किंतु आगे के संस्करणों में नहीं।।

इसके अतिरिक्त इस ग्रंथ को संपादित करने हेतु एक कुशल संपादक की आवश्यकता भी हमने महसूसी, क्योंकि इस ग्रंथ में बहुत सारे विषय ऐसे थे, जो कि संशोधित करने आवश्यक थे, जैसे वातावरण शीर्षक के तहत १९९७ के संस्करण में लिखा है कि लगभग ५० वर्ष पूर्व एक समाचार प्रकाश में आया।। यहाँ पर स्पष्ट नहीं है कि ५० वर्ष

कहाँ से लेना है।। प्रथम संस्करण १९५३ से, द्वितीय संस्करण १९७२ से या कि इसो संस्करण १९९७ से।। १९९७ की प्रति में पृष्ठ ६१ पर १९९० का व पृष्ठ ७० पर १९८० का संस्मरण है, अतः कहा जा सकता है कि इसे १९७३ के व १९८९के पश्चात् प्रकाशित संस्करणों में पुनः-पुनः संशोधित किया गया।। अतः प्रश्न वही कि वहीं था कि इस पंक्ति से क्या अर्थ लिया जाय कि आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व एक समाचार प्रकाशित हुआ था।। १९५३ की प्रति में आज से ३० वर्ष पूर्व यह वाक्य है, अतः कहीं यह प्रुफ रीडिंग की तो भूल नहीं थी।। हमने सिवनी फोन लगाया कि इस व इसी प्रकार के अन्य संदर्भों के विषय में कोई अधिकारिक जानकारी है ? उत्तर नहीं में आया।। तब गणना हमीं ने प्रारंभ की १९५३ से ५० वर्ष पूर्व १९०३ आता है, जो कि अशक्यानुष्ठान है, क्योंकि आचार्य श्री की क्षुल्लक दीक्षा १९१५ में हुई थी, व यह समाचार मुनि अवस्था का था।।

फिर १९७३ से की।।

१९७३ से गणना करने पर सन् १९२३ आया।। हाँ!! यह ठीक था।। १९२३ में कोन्नूर चातुर्मास के दौरान घटी यह घटना थी।। अतः स्पष्टीकरण के लिये हमने १९५३ की प्रति को आदर्श प्रति मानते हुए इस संस्करण में इस वाक्य को इस प्रकार मुद्रित करवाते हुए प्रकरण को निःशंक करने का प्रयास किया है : आज से (१९५३ से) लगभग तीस वर्ष पूर्व...

१९५३ की प्रति को आदर्श मानना इसलिये आवश्यक था, क्यों कि यदि ऐसा न किया जाय, तो प्रत्येक संस्करण में गणना परिवर्तित करके कहना होगा कि आज से इतने वर्ष पूर्व, जो कि न सिर्फ असंभव है, अपितु हास्यास्पद भी।। सभी संस्करणों में एक रूपता लाने के लिये हमने १९५३ की प्रति को इस संदर्भ में आदर्श प्रति अनुमानित किया।।

इसी प्रकार के अन्य भी बहुत से विषय, जो कि प्रामाणिक होने के पश्चात् भो परिश्रम व संशोधन की चाह रखते थे, पंडित जी के अभाव में अन्य किसी अधिकारिक व्यक्ति का सद्भाव न होने से, हमने यथावत् रखना ही उपयुक्त समझा, क्यों कि वे कुशल संपादकों के ही योग्य थे।।

हमें इस विषय में इस ग्रंथ पर राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त द्वारा की गई प्रतिक्रिया की पंक्तियाँ स्मरण में आ गई कि ऐसे ग्रंथ की आलोचना क्या ? ये शिरोधार्य होते हैं, इनसे कुछ शिक्षा ली जाय तो वह बड़ी बात है।।

हमने भी इसी मार्ग का अवलंबन लिया व पुस्तक पर परिश्रम करने के मानस को विराम दिया।।

भले ही हमने परिश्रम करने के मानस को विराम दे दिया हो, किंतु एक प्रश्न, उत्तर की

तलाश में चित्त में रह-रहकर उभर रहा था कि पंडित जी ने जितना विषय इस ग्रंथ में दिया है, वह उन्हें मिला कहाँ से ? क्योंकि १९५१ में निर्णय हुआ कि चरित्र लिखना है, वर्षभर में चरित्र तैयार होकर १९५३ में मुद्रित भी हो गया, तो वर्षभर में भ्रमण कर इतनी सामग्री जुटा लेना संभव ही नहीं।। इतना ही नहीं, अपितु वे तो शिखरजी में भी उनके साथ नहीं थे, वे तो वापसी में लौटते हुए कटनी से अर्थात् १९२८ के पश्चात् आचार्यश्री की परीक्षा करने के बाद आचार्य श्री से जुड़े थे।।

अतः प्रश्न यह था कि इतनी सामग्री आखिर पंडित जी को मिली तो मिली कहाँ से ?

बस यहीं से पंडितजी का गौरव करने को मन करता है।। उनके अथक परिश्रम पर आस्था उत्पन्न होती है।।

वह साहित्य जो कि चारित्र चक्रवर्ती में एक सुंदर सी माला के सदृश्य गुंफित है,आज मेरे सम्मुख भिन्न-भिन्न पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे मोती सदृश्य बिखरा पड़ा हुआ है।। निश्चित ही १९५१ में पंडितजी के सम्मुख भी यह इसी तरह यत्र-तत्र बिखरा पड़ा होगा।।

बहुत कठिन कार्य है इन्हें सहेजना, इनका क्रम निश्चित करना, इनकी सूची बनाना, उन्हें छाँटना व फिर उन्हें मस्तिष्क में बैठलाना, बैठा कर उनके पूर्वापर संबंधों का मिलान करना, और अंत में बगैर इनके इतिहास व इनकी प्रामाणिकता को तिल-तुष मास भी छेड़े, उन्हें ऐसी शैली में प्रस्तुत करना कि पाठकों को लगे कि वे आचार्य श्री के काल में आचार्य श्री के साथ ही विचरण कर रहे हैं।।

निश्चित ही अद्भूत व अद्वितीय उद्यम की अपेक्षा करने वाला कार्य है यह।।

स्वयं का अथवा जिनके साथ हम सतत रहे, उनका यात्रा अथवा जीवन वृतांत लिखना तो सरल कार्य है, किंतु जिनके साथ हम सतत नहीं रहे, उनकी यात्रा अथवा जीवन वृतांत की जानकारियों को एकत्रित करना, फिर उनकी प्रामाणिकता की परीक्षा करना, मात्र उनकी ही प्रामाणिकता की परीक्षा करना ऐसा नहीं, अपितु मैं जो कि इन्हें संकलित कर एक सुंदर सी माला का रूप देने जा रहा हूँ, तो मैं भी इस कार्य की सिद्धि के लिये प्रामाणिक व अधिकारिक व्यक्ति हूँ, की भी सिद्धि करना।। निशिचित ही दुरुह कार्य है यह।। पंडितजी ने दोनों ही परीक्षाओं को गरिमापूर्ण ढ़ंग से उत्तीर्ण किया।।

आइये अब इन बिखरे मोतियों के संदर्भ में कुछ जानें।।

पंडितजी के द्वारा लिखा गया यह चारित्र ग्रंथ प्रथम चारित्र ग्रंथ था, ऐसा नहीं, इस के पूर्व भी आचार्यश्री के चारित्र मुद्रित हो चुके थे।। सन् १९३१ में सेठ जीवराज गौतमचंद जी ने मराठी में लिखा था।। उनके पश्चात् पंडित बंशीधर जी शास्त्री (सोलापुर वाले) ने १९३३ में हिन्दी में लिखा।। इनमें से बंशीधर जी के द्वारा लिखित चारित्र विक्रम संवत् १९८८ तक हुए तेरह चातुर्मासों का सिलसिले वार ब्यौरा देनेवाला अद्भूत संकलन ग्रंथ

है।। इस ग्रंथ में विशेषता यह है कि आचार्यश्री की कुल परंपरा को निर्दोष व मुनिपद ग्रहण करने के योग्य बतलाने वाले, अठारह पीढ़ीयों को दर्शाने वाले वंश वृक्ष का भी मुद्रण किया गया है, जिसे कि हम इस लेख के पश्चात् मुद्रित कर रहे हैं।।

इसका प्रकाशन संवत् १९९० सन् १९३४ में किया गया था।।

इसका आद्य वक्तव्य महान उद्योगपति, स्वाध्याय प्रेमी, मराठी मासिक जैन बोधक, जो कि आज भी अनवरत गतिशील है, के संपादक, महान दानदाता व आचार्य श्री के अत्यंत विश्वस्त माननीय श्री रावजी सखाराम दोषी, जो कि दूसरे दशक के महासभा के राष्ट्रीय अध्यक्ष थे, ने लिखा है।। चारित्र-चक्रवर्ती का आधार संभवतः यही चारित्र ग्रंथ है।।

इसके अलावा हमें बहुत ढूँढने पर दहीगाँव (महाराष्ट्र) में उस काल में प्रकाशित समाचार पत्रों व मासिक पत्रों का भण्डार ही मिल गया, जिनमें कि चारित्र चक्रवर्ती में संकलित सामग्री आद्योपांत भरी हुई थी।। इन मासिकों व समाचार पत्रों में जैन बोधक, जैन मित्र, जैन गजट, खण्डेलवाल हितेच्छु आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।।

उस समय का शायद ही कोई अखबार या पत्रिका होगी जिसमें कि आचार्यश्री से संबंधित सामग्री का अभाव होगा, क्यों कि उस समय बगैर आचार्य श्री के समाचारों के प्रत्येक जैन पत्र अपूर्ण समझा जाता था, अतः आचार्य श्री से संबंधित नवीन से नवीन समाचार प्राप्त करने व मुद्रित करने हेतु प्रत्येक जैन पक्ष उत्सुक रहता थां।।

एक उदाहरण देना यहाँ उपयुक्त होगा।।

गुजरात में गोरल चातुर्मास के पश्चात् ईड़र रियासत की ओर भ्रमण करते हुए आचार्य श्री से एक आदिवासी समूह प्रभावित हुआ व उनके मुखिया ने आचार्य श्री को बहुत ही मार्मिक प्रतिज्ञा पत्र लिख कर दिया कि आज से हमारा कुनबा शाकाहार भोजन की प्रतिज्ञा करता है व मांसाहार एवं शिकार करने का त्याग करता है।। यह पत्र खण्डेलवाल हितेच्छु, सन् १९३७ के संस्करण में छपा है।।

इसी प्रकार आचार्य श्री को मार्ग में भिन्न-भिन्न रियासतों से प्राप्त बाधायें व सहयोग एवं उन बाधाओं को पार करने व सहयोग को प्राप्त करवाकर देने वाले सज्जनों के कार्य मय ऐतिहासिक प्रमाणों(रियासतों के भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्रसारित आदेशों) के जैन बोधक के विशेषाँक में छप चुके थे।। यह विशेषाँक सम्पूर्ण भारत वर्ष में दिगम्बर मुनि को विचरण हेतु आचार्य श्री के निर्देशन में सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज द्वारा किंये गये पुरुषार्थ का आँखों देखा हाल है।।

अर्थात् उस समय का शायद ही कोई अखबार या पत्रिका होगी जिसमें कि आचार्यश्री से संबंधित सामग्री का अभाव होगा, क्यों कि बगैर आचार्य श्री के समाचारों के प्रत्येक जैन पत्र अपूर्ण समझा जाता था व आचार्य श्री से संबंधित नवीन से नवीन समाचार प्राप्त

करने व मुद्रित करने हेतु प्रत्येक जैन पत्र उत्सुक रहता था।। इनमें भी पुनः जैन बोधक तो आचार्य श्री का पार्यवाची ही हो चुका था।।

इन वैभव पूर्ण संकलनों के अतिरिक्त मुनिवर्य कुंथुसागर जी, जो कि आचार्य श्री से ही दीक्षित थे व संस्कृत-प्राकृत महाभाषाओं के ज्ञाता, महान शास्त्रज्ञ तथा जिनके लिखे साहित्य का पारायण स्याद्वादी विद्वान भी करते थे, ने भी सन् १९३६-३७ में श्री शांतिसागर चरित्र को लिखा था, जिसके कि कुछ अंश जिनमें आचार्य श्री के गुरु आदि का वर्णन है, को हमने इस संस्करण के अंत में परिशिष्ट-२ शीर्षक से विभाजित अंतरे (कॉलम) में दिया है।।

आचार्य श्री से संबंधित जैन मित्र के भी विशेषाँक छप चुके थे।।

निश्चित ही मैं इन सभी महानुभावों का जिन्होंने कि आचार्य श्री की स्मृतियों को बिखरे मोतियों सदृश्य संकलित करके रखा व आदरणीय पंडितजी का, जिन्होंने कि उन बिखरे मोतियों को कुशल कारीगर की मानिन्द माला में गुंफित कर सुंदर सी माला में परिणमित कर हमारे लिये उपलब्ध करवाने का अद्वितीय उद्यम किया, हृदय से अभिवादन करता हूँ/नमन करता हूँ, इन सभी के कारण चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागरजी आज भी हमारे मध्य जीवित सम बने हुए हैं, वरना आचार्य श्री हमारे लिये सिर्फ कल्पना की बात होते, यथार्थ की नहीं।। आने वाली पीढ़ी विश्वास ही नहीं कर पाती कि कभी ऐसा भी महामानव इस पृथ्वी तल पर हुआ होगा।।

हममें से यदि कोई प्रयास करे, तो आचार्य श्री से संबंधित ऐतिहासिक सामग्री का भण्डार भरा पड़ा है, जिसके कि आधार से चारित्र-चक्रवर्ती के द्वितीय खण्ड का प्रकाशन और अधिक गरिमामय ढ़ंग से हो सकता है।।

यद्यपि आज पंडित जी नहीं है, किन्तु यदि वे होते, तो हम उनसे आगे कहे दो विषयों में एक का संशोधन व दूसरे को अपने संस्करण में स्थान देने की विनती करते।।

हमें आज भी पूर्ण विश्वास है कि ये अथवा इसी प्रकार के अन्य विषय जो चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागरजी के मिशनों से संबंधित थे, उन्हें यदि हम उदारमना पंडित जी के सम्मुख रखते, तो जैसे उन्होंने बाद के संस्करणों को स्वयं संपादित करते हुए पूर्व प्रकाशित कुछ विषयों को छाँट कर पृथक किया है व कुछ नवीन संस्मरणों व विषयों को अपनी पुस्तक में स्थान दिया है, उसी प्रकार इन विषयों के साथ भी न्याय करते।।

१९५३ अथवा बाद के संस्करणों में जो छप गया वह अंतिम था, ऐसी मान्यता निश्चित ही पंडितजी की थी ही नहीं।।

उन दो विषयों में से प्रथम विषय ऐतिहासिक दस्तावेज से संबंधित है व दूसरा हरिजन टेंपल एन्ट्री एक्ट के इतिहास से।

इन दोनों में से प्रथम विषय श्री शिखरजी की यात्रा के दौरान आचार्यश्री के सान्निध्य में हुए पंच कल्याणक के समय संस्कृत भाषा में लिखवाये गये शिलालेख से संबंधित है॥ इसे उन्होंने १६५३ के संस्करण में मुद्रित करवाया, किंतु आगे के संस्करणों में वो नहीं था, उसे इतिहास के बोधार्थ हमने उसी संस्करण से लेकर पुनः इस संस्करण में मुद्रित करवाया है॥

इसके मुद्रित होने के पश्चात् हमारे पास शिलालेख की मूल प्रति आई व मूल प्रति का मुद्रित प्रति से मिलान करने पर हमने पाया कि शिलालेख का एक विशिष्ट अंश संभवतः प्रुफ रिडिंग की भूल वश १६५३ में छूट गया था॥

यह शिलालेख १६५३ के संस्करण में पृष्ठ क्रमांक २११-२१३ पर मुद्रित था॥

२१३ पृष्ठ पर से शिलालेख में उल्लिखित महापुरुषों के नाम वाला परिच्छेद जो कि संभवतः प्रुफ रिडिंग की भूल वश छूट गया था. इस प्रकार है :-

भारतवर्षीयमहासभायाः पूर्ववर्षाध्यक्षो नागपुरनिवासी सवाईसिंघई श्रेष्ठी मोतीलाल गुलाबचन्द्र साव, भूतपूर्वसभापतिरिन्दौरनिवासी राज्यभूषण दानवीर रायबहादुर सरनाईट उपाधिविभूषितः श्रेष्ठी हुकुमचन्द्रः, महासभायाः अस्य नैमित्तिकाधिवेशनस्याध्यक्षो रायसाहिब इति गवर्नमेन्टोपहृतपदालङ्कृतः कुँवर मोतीलाल जी रानीवाले ब्यावरनिवासी तत्पिताश्च रायबहादुर धर्मवीर चंपालाल श्रेष्ठी, शास्त्रिपरिषदः स्थाय्यध्यक्षः पण्डितशिरोमणिः खण्डेलवाल कुलभूषण पण्डित धन्नालाल कासलीवाल इंदौरनिवासी, तदधिवेशनाध्यक्षो नानूलाल शास्त्री जयपुरनिवासी , संमेदाचलोपरि येन पूर्वं प्रतिष्ठा कारिता स श्रीमान् सिवनी निवासी रायबहादुर धर्मवीर टीकमचन्द्रजी सोनी, उक्तसभाया महामंत्रो रायसाहिब जातिनेतृपदविभूषितः श्रेष्ठी चैनसुख छाबड़ा सिवनीस्थ., न्यायतीर्थव्याकरणसिद्धांतशास्त्री, शास्त्रिपरिषदो मंत्री वंशीधरः सोलापुरस्थः विद्यावरिधिवादीभकेसरिन्यायालंकारधर्मधीरेतिपदवो विभूषितः पं. मक्खनलाल शास्त्री जैनगजटनाम्नो महासभामुखपत्रस्य संपादकः चावलीवास्तव्यः, धर्मधीरे ति पदवीसमलंकृतः पं श्रीलाल महोदयः स्वाध्यायविभागस्य मंत्री अलीगढ़स्थः, कविभूषण पं. इन्द्रलालजी शास्त्री संपादकः खंडेलवाल महासभाया मुखपत्रस्य जयपुरस्थः, खण्डेलवालमहासभाया महामंत्री श्रेष्ठी माणिकचन्द्रो बैनाडागोत्रजः कलिकातास्थः एवकादयो विख्याता धनवन्तो विद्वांसश्च सर्वविधश्रावका असंख्येशा महोत्सवेऽत्र समायाताः।

शिलालेख के इस अंश में उन महामनाओं के नाम हैं, जिनकी उपस्थिति निर्दिष्ट कार्य व कार्यक्रम, दोनों को गौरव प्रदान करती थी॥ जैसे आदरणीय विद्वान पं. सुमेरूचंद्रजी किसी उत्सव में सम्मिलित हों व उस उत्सव से संबंधित प्रकाशित समाचार में पंडितजी का उल्लेख न हो, तो क्या वह समाचार पूर्ण समझा जायेगा ? निश्चित ही नहीं॥ इतना ही नहीं, अपितु समाचार-प्रेषक को अपनी इस भूल के लिये स्पष्टीकरण भी देना होगा॥

ठीक ऐसे ही व इस कद के महानुभावों के नाम हैं शिलालेख के इस अंश में॥ कुछ नाम तो पंडितजी के कद से भी बडे हैं॥

इस मूल शिलालेख की प्रति सन् १६३१ में सेठ जीवराज गौतमचंदजी ने जो मराठी

में चारित्र लिखा है, उसमें, पंडित बंशीधर जी शास्त्री के १९३३ के संस्करण में व तत् काल के जैन बोधक आदि समस्त पत्र-पत्रिकाओं व समाचार पत्रों में मुद्रित है ॥

क्या पाठकों को किंचित् भी शंका है कि जिस कद के महानुभावों के नाम शिलालेख के इस अंश में मुद्रित हैं, तत् संबंधि अंश को यदि हम पंडितजी के सम्मुख रखते, तो क्या इसअंश के प्रकाशन को लेकर उनकी प्रतिक्रिया नकारात्मक होती ? निश्चित ही नहीं॥ यही सोच हमारी भी है॥ इसीलिये हमने उस अंश को अभी तो इस लेख में, किंतु कालांतर में शिलालेख के साथ मुद्रित करवाने का प्रयास करने का मानस बनाया है॥॥

यह प्रथम विषय हुआ, अब द्वितीय॥

१९५३ के ही संस्करण में दिगम्बरत्व शीर्षक के अन्तर्गत पृष्ठ ५३३ पर प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल जी नेहरू द्वारा हरिजन टेम्पल एन्ट्री एक्ट पर भारत सरकार के दृष्टिकोण की सूचना देने वाले दिनांक ३१ जनवरी १९५० को लिखित व प्रधानमंत्री कार्यालय से प्रेषित एक महत्वपूर्ण व बहुमूल्य पत्रांश का उल्लेख पंडितजी द्वारा किया गया है :-

आइये इस पत्रांश का अवलोकन करें :-

"यह स्पष्ट है कि बुद्ध धर्मी हिंदु नहीं हैं॥ जैनियों को हिंदु मानने का कोई कारण नहीं है॥ यह सत्य है कि जैन लोग कुछ अंशों में हिंदुओं से निकट संबंधित हैं, तथा उनमें एक समान रीति रीवाज पाये जाते हैं, किंतु इस विषय में संदेह का तनिक भी स्थान नहीं है कि जैन लोग स्वतंत्र धार्मिक समाज के रूप में हैं तथा भारत का संविधान इस प्रकार की निश्चित स्थिति को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचाता॥"

पंडितजी ने इस महत्वपूर्ण व बहुमूल्य पत्रांश का उल्लेख तो किया, किन्तु यह पत्र किसे लिखा गया, क्यों लिखा गया व जिसे लिखा गया उसने कौन सा ऐसा महत्वपूर्ण कार्य किया था कि जिसके कारण प्रधानमंत्री कार्यालय इस पत्र को प्रेषित करने को बाध्य हो गया अथवा क्या यह व्यक्तिगत पत्र था या कि जैन समाज के नाम प्रेषित किया गया पत्र था अथवा कहीं यह स्वयं आचार्यश्री के ही मिशन का तो अंग नहीं था, आदि प्रश्नों में से एक प्रश्न को भी अपने लेख में स्थान नहीं दिया है॥

खोज करने पर इससे संबंधित अद्‌भुत इतिहास का हमें ज्ञान हुआ, जिसे कि हम मय ऐतिहासिक प्रमाणों के इसी संस्करण में आदरणीय दिवाकरजी द्वारा लिखे गये लेखों की समाप्ति के पश्चात् परिशिष्ट-१ शीर्षक से विभाजित अंतरे (कॉलम) के अन्तर्गत परमपूज्य १०८ आचार्य वर्धमानसागर जी, स्वस्ति श्री भट्टारक चारुकीर्ति जी, स्वयं महासभा अध्यक्ष एवं ईस संस्करण के दानपति जिनका कि व जिनकी कि पूर्वपीढ़ी का बहुभाग आचार्यश्री के साथ गुजरा व जो कि इस इतिहास के स्वयं साक्षी थे ऐसे श्री कांतिलाल जी जवेरी के परामर्शानुसार प्रतिज्ञा-२ शीर्षक से दे रहे हैं॥ इन सभी का एक मत से निर्णय था

कि इसके अभाव में इस विषय से संबंधित इतिहास अधूरा सा प्रतीत होता है।। स्वस्ति श्री भट्टारक चारुकीर्तिजी का परामर्श तो यहाँ तक था कि संपादक, प्रबंध संपादक, संयोजक, प्रकाशक आदि अपने मंतव्यों को जो कि लेखक के मंतव्य से मेल खाता हो या नहीं खाता हो, को विशेषार्थ में, फुटनोट में या परिशिष्ट के रूप में दे सकते हैं, उन्हें इस प्रकार देने में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आती।। उन्हीं के इस परामर्शानुसार इस इतिहास को हम परिशिष्ट-१ शीर्षक से विभाजित अंतरे(कॉलम) में प्रतिज्ञा-२ शीर्षक से मय पंडित नेहरुजी के ३१.१.१९५० के ऐतिहासिक पत्र के स्वतंत्र रूप से दे रहे हैं।।

एक बार हम पुनः कह दें कि यद्यपि आज पंडितजी हमारे मध्य नहीं है, किंतु यदि पंडितजी आज होते, तो निश्चित ही आचार्य श्री से संबंधित इस इतिहास को हमें परिशिष्ट अंतरे में देने की आवश्यकता ही नहीं पडती, इसे वे जहाँ यह विषय है (प्रतिज्ञा-१), वहीं से आगे अथवा उसीमें प्रकरणानुसार युक्त करने को कहते।।१९५३ अथवा बाद के संस्करणों में जो छप गया वह अंतिम था, ऐसी मान्यता या धारणा पंडितजी की थी ही नहीं ।।

उपर्युक्त इतिहास को मुद्रित करवाते हुए एक समस्या यह भी रही कि इस इतिहास से संबंधित मूल फोटो हमें उपलब्ध नहीं हो पाये ।।

मूल फोटो उपलब्ध न हो पाने की स्थिति में हम असमंजस में थे कि करें तो क्या करें ? वैसे यह इतिहास सन्१९५१ के जैन बोधक के धर्मध्वजांक विशेषांक अपर नाम श्री आचार्य शांतिसागर विशेषांक में ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में मय इस इतिहास से संबंधित तस्वीरों के प्रकाशित हुआ था, किंतु उसमें प्रकाशित तस्वीरें पुनः उपयोग के योग्य नहीं रह गई थी अथवा उपयोग में आ भी सकती थी, तो मुंबई जाकर प्रोसेस आदि के माध्यम से हो आ सकती थी, अन्य किसी प्रकार से नहीं।। जब इस विषय में कई स्थानों व व्यक्तियों से संपर्क करने पर भी अनुकूल उत्तर नहीं मिला, तब हमने मुंबई जाने का मन बनाया।। अभी मुंबई जाने का मन बनाया ही था कि श्रवणबेलगोला से आदरणीय भरत कालाजी का फोन आया व उन्होंने सूचना दी कि मुनिवर्य अमितसागर जी महाराज(**शिष्य-तृतीय पट्टाधीश आचार्य धर्मसागरजी महाराज**) की प्रेरणा से इचलकरंजी(महा.) की समाज ने इस प्रति को जैसी यह तब छपी थी, ठीक वैसी ही, न कम न अधिक, यथावत् मुद्रित करवाई है व उसमें प्रकाशित तस्वीरें पुनः प्रकाशन हेतु उपयोग में आ सकती हैं ।। हमारी खुशी का ठीकाना हो न रहा !! अकलुज के बाबूभाई गांधी व ब्र. रामलाल के संयुक्त प्रयासों से वह प्रति उपलब्ध हो गई।। यद्यपि ये तस्वीरें पूर्णतया निर्दोष नहीं थी, किंतु उपयोग में आने योग्य अवश्य थी।। इन तस्वीरों में मुद्रण योग्य सफाई भले ही न हो, किन्तु इतिहास अवश्य था।।

परिशिष्ट के इस अंतरे में मात्र इसी विषय को दिया है, अन्य नहीं, ऐसा नहीं, अपितु हरिजन टेंपल एन्ट्री एक्ट के तहत आचार्य श्री के पक्ष में दिये गये बम्बई हायकोर्ट के निर्णय

की नकल प्रति जो कि दिगम्बर जैन मतावलंबियों के लिये महान उपलब्धि को दर्शाने वाले दस्तावेज के रूप में हैं, को भी जैसा का तैसा मुद्रित करवाते हुए, पंडित वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, संपादक जैन बोधक द्वारा लिखित व १९५१ के जैन बोधक के धर्मध्वजांक विशेषांक अंक में प्रकाशित हिन्दी अनुवाद को भी मुद्रित करवाया है।। बम्बई हायकोर्ट के निर्णय की नकल प्रति, विशिष्ट जानकारियों के साथ हमारे लिये अकलुज के श्री जवाहरलालजी फड़े ने उपलब्ध करवाई।।

यह तो दो ऐतिहासिक प्रश्न व तत् संबंधी बुधजनों के मार्गदर्शनानुसार की गई प्रतिक्रिया हुई, किंतु इस संस्करण में परिशिष्ट-२ भी है।। इसमें आचार्यश्री के द्वारा दीक्षित महाज्ञानी तत्त्ववेत्ता महाराज कुंथुसागर जी द्वारा १९३६-३७ में रचित श्री शांतिसागर चारित्र (संस्कृत भाषा का छंदोबद्ध काव्य ग्रंथ) के कुछ अंशों को, जिनमें कि आचार्यश्री के गुरु आदि का उल्लेख है, प्रकाशित करवाया है(इसे हम पूर्व में कह चुके हैं) व साथ में परमपूज्य १०८ आचार्य विद्यासागरजी द्वारा लिखित श्री शांतिसागर स्तवन को भी मुद्रित करवाया है ।।इस स्तवन के तीन छंद (३५,३६,३७)प्रूफ रीडिंग की भूलवश मुद्रित होने से छूट गये हैं, जिसके लिये हम हृदय से क्षमा प्रार्थी हैं ।। वे छंद इस प्रकार हैं :-

छाई अतः दुख निशा ललना - जनों में, औ खिन्नता, मलिनता, भयता नरों में ।
आमोद हास सविलास विनोद सारे, हैं लुप्त मंगल सुवाद्य अभी सितारे ।। ३५ ।।
सारी विशाल जनता महि में दुखी है, चिन्ता-सरोवर-निमज्जित आज भी है ।।
चर्चा अपार चलती दिन रैन ऐसी, आई भयानक परिस्थिति हाय !कैसी ? ।। ३६ ।।
फैली व्यथा मलिनता, जनता - मुखों में, हा ! हा ! मची रूदन भी नर नारियों में ।
क्रीड़ा उमंग तज के वय बाल बाला, बैठी अभी वदन को करके सुकाला ।। ३७ ।।

यह तो इस संस्करण के मूल ग्रंथ से संबंधित विषय हुआ।।

अब समस्या इस संस्करण में प्रकाशित होने योग्य तस्वीरों के निर्णय की थी।।

पूर्व के संस्करण में प्रकाशित तस्वीरें जहाँ जो उपलब्ध हो गई, तदनुसार थीं।। किसी निश्चित इतिहास को बोलती हुई सिलसिलेवार नहीं ।।

बहुत चिंतन किया, बहुतों से सलाह ली, तस्वीरों की उपलब्धता को लेकर प्रयास किये, किन्तु कोई निष्कर्ष नहीं निकला, मानों अकाल सा हो गया हो।।

अचानक एक दिन प्रातःकाल सहज ही कुछ मिल जाये इस दृष्टि से १९५५ में प्रकाशित जैन गजट के आचार्य शांतिसागर विशेषांक के पृष्ठ पलट ही रहा था कि इस विशेषांक के संपादक के अद्भुत/अद्वितीय कौशल पर ध्यान गया।। चित्रों से संबंधित दो अद्वितीय संकलन उनमें थे, एक आचार्य श्री के समस्त चातुर्मासों की एक-एक फोटो, जो आचार्यश्री के चेहरे व कद काठी में आये परिवर्तन, किन्तु वृद्धिगत होते हुए तेज से न सिर्फ समन्वित थी,

अपितु पाठकों को आचार्यश्री के एक-एक रूप से परिचय करवाती हुई भी थी।।

व दूसरा संकलन था आचार्यश्री की समाधि की साधना के छत्तीस दिनों का।। इसी के साथ एक लेख और था और वह था संल्लेखना के छत्तीस दिनों की मिनट बुक का।। इस मिनट बुक में १४ अगस्त से १८ सितम्बर तक कुंथलगिरी क्षेत्र पर जो कुछ भी महत्वपूर्ण हुआ अथवा जो महत्वपूर्ण व्यक्ति इस महामहोत्सव में सम्मिलित हुए, उसका संक्षिप्त किन्तु सिलसिले वार ब्यौरा था।।

चिंतन में चलचित्र का अहसास दिलवाने वाली दोनों प्रकार की झाँकी-चित्रों में से एक को इस संस्करण में सम्मिलित करने हेतु मानस बनाया।। निकटतम सहयोगियों को अपना चिंतन बतलाया, सभी को विचार अतिउत्तम लगा।।अब चित्रों के संकलन के लिये पुरूषार्थ करना था।। सर्वप्रथम कोशिश जैन गजट में की गई।। उन्होंने कार्यालय में विषय से संबंधित कागजात ढूँढने के प्रयास किये, किंतु निराशा हाथ लगी।। फिर विश्वस्त सूत्रों से ज्ञात कर उन्होंने बतलाया कि वे सभी कागजात संपादक श्री अजित प्रसाद जी के पास ही रह गये थे व उनका देहावसान हो गया है।। वे महावीर जी विराजते थे, अतः महावीरजी संपर्क किया गया।। किन्तु निराशा हाथ लगी।। पश्चात् पता चला कि वह सामग्री अजमेर चली गई थी।। उसके पश्चात् पता चला कि वहाँ से समस्त सामग्री उज्जैन छोटेलालजी बरैया ले गये थे।। तुरंत उज्जैन संपर्क किया गया, किंतु उज्जैन लगातार संपर्क बनाये रखने पर भी अंत में हाथ निराशा ही लगी।।

इस बीच अन्य-अन्य स्थानों पर भी संपर्क किये गये, किन्तु हाथ कुछ भी न लगा।।

इस बीच सोचा गया कि चातुर्मास के फोटो ना सही समाधि के ही छत्तीस दिनों के फोटो मिल जायें..........

इस विचार के आते ही सर्वप्रथम जो नाम कौंधा वह कुंथलगिरि का था।। एक विश्वस्त सज्जन ने बतलाया कि कुंथलगिरि के ट्रस्टियों ने तो वे तस्वीरें कब की उतारकर एक तरफ रख दीं।। चित्त में दुःख अवश्य हुआ, किंतु विश्वास नहीं।। इस बीच अकलूज के बाबूभाई गाँधी से भेंट हुई।। उन्होंने कहा कि वस्तुस्थिति मैं पता लगाकर आपको फोन करता हूँ।। उन्होंने बहुत तेजी से कार्य किया और सूचना दी कि सारी तो नहीं, किन्तु कुछ फोटो जो सुरक्षित थीं, उन्हें बड़ी करवाकर बहुत ही आदर पूर्ण ढंग से लगवाया गया है, यदि आप आ जाओ तो फोटोग्राफर को यहाँ से साथ ले जाकर तस्वीरें उतार लेवें।। मैंने उनसे कहा कि प्रथम फोटोग्राफर से आप इस विषय में राय ले लेवें, फिर मैं सुविधाजनक संसाधन से पहुँचता हूँ।। उन्होंने फोटोग्राफर से पूछा, फोटोग्राफर ने कहा कि लटकी हुई, शीशे चढ़ी फोटो से फोटो खिंचने का कोई मतलब नहीं है।। यदि वे फ्रेम खोलकर खिंचने की आज्ञा दें, तब तो कुछ अर्थ निकलेगा।। बाबूभाई ने वहीं से ट्रस्टियों को फोन किया।।

उन्होंने और अधिक सुन्दर रास्ता बतलाया कि महाराष्ट्र के सांगली जिले में सांगली के पास ही वालवा(इस्लामपुर) नाम का एक गाँव(तहसील) है, जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त एक चित्रकार रहता है पोतदार, हमने उन्हीं से करवाई है, उसके पास कम्प्यूटर में वे तस्वीरें सुरक्षित भी हैं।। हमने पोतदार साहब का टेलीफोन नम्बर ढूँढकर उनसे चर्चा की।। उन्होंने कहा कि आ जाओ।। हम गये और उन्होंने उचित द्रव्य लेकर समाधि-काल के सत्ताईस फोटो हमें दे दिये।।

एक तरफ खुशी हुई, वहीं दूसरी तरफ निराशा कि इतनी सी फोटो से क्या होगा ? जो साध्य सिद्ध करना है, वह तो सिद्ध नहीं ही होगा।।

इसी बीच एक दिन रास्ते से गुजरते हुए अचानक ही नांदणी मठ(महा.) जाना हो गया।। वहाँ स्वस्ति श्री भट्टारक जिनसेन स्वामी विराजते हैं।।

हम दोनों का पूर्व परिचय नहीं था, किन्तु उन्होंने नाम सुन रखा था।। हमारी एक पुस्तक 'क्या आर्यिका मातायें पूज्य हैं ?' का मराठी अनुवाद करवाकर उन्होंने उसे उनके यहाँ से प्रकाशित मासिक पत्रिका में क्रमवार मुद्रित करवाया था।। यह परिचय काम कर गया।। हमने सहज ही चर्चा में आचार्यश्री के समाधिकाल की तस्वीरों के विषय को छेड़ दिया।। यहाँ हमारा विषय छेड़ना था कि वहाँ भट्टारक जी उठे और तत्काल कमरे में जाकर सत्ताईस फोटो का एलबम लाकर हमारे हाथों में रख दिया और कहा कि ये तस्वीरें हमारे आराध्य-देव की हैं, तुम आये हो इसलिये दे रहा हूँ, अन्यथा नहीं देता, इसे जैसे ले जा रहे हो, वैसे ही लौटा देना।। मैंने स्वामीजी को इच्छामि किया व लौट आया।।

इतना होने के पश्चात् भी कार्य सिद्ध नहीं हुआ, क्योंकि आधी तस्वीरें वे ही थीं, जो कि हमें पोतदार साहब से मिल चुकी थी।। फिर भी हमने हार नहीं मानी।। हार न मानने का नतीजा यह हुआ कि कुछ तस्वीरें इन्दौर में ही उपलब्ध हो गईं।।

जो नहीं मिल पाई उनके लिये उपाय करने की सोची।। उपाय के रूप में १९५५ में छपे जैन गज़ट के आचार्य शांतिसागर विशेषांक में छपी तस्वीरों को हमने इंदौर के आधुनिक तकनिक से फोटो प्रोसेसिंग करने हेतु प्रसिद्ध फर्म व्ही. जी. ग्राफिक्स को बतलाया।। उन्होंने तस्वीरें देखी, एक्सपर्ट से चर्चा की व कहा कि सभी तस्वीरें तो नहीं, किंतु कुछ तस्वीरें जो कि इस संस्करण में मुद्रित हैं, उसकी अपेक्षा उन्नीस बन सकती हैं।। हमने सोचा यही सही।। इस प्रकार इस संकलन की ८ तस्वीरों का समायोजन हुआ।। इन ८ में से २ तस्वीरें ऐतिहासिक तस्वीरें थी, पहली आचार्य श्री द्वारा दी गई अंतिम क्षुल्लक दीक्षा की, जिसमें दीक्षित पात्र था आचार्य श्री की सतत सेवा में रत ब्र. भरमप्पा व सहयोगी थे क्षुल्लक श्री सुमतिसागरजी व दूसरी तस्वीर थी आचार्य श्री की समाधि के तुरंत पश्चात् अर्थात् १८ सितम्बर को ही आयोजित श्रद्धाँजलि सभा में अपने समस्त पूर्व नियोजित अनुबंधों व कार्यक्रमों को निरस्त

कर उपराष्ट्रपति महोदय डॉ. राधाकृष्णन द्वारा दी गई उपस्थिति॥

इन सभी तस्वीरों को एकत्रित किया गया व इन्दौर के सुप्रसिद्ध कम्प्यूटर प्रोग्रामर आर्टिस्ट सुनील गुप्ता को सौंप दिया॥ इसमें सोने पर सुहागे का काम किया इंटिरीयर डेकोरेटर अभय कटारिया ने और अब यह "इस युग के महानायक के महाप्रयाण की साधना के छत्तीस दिन" शीर्षक से आपके सामने है॥ इन ३६ दिनों की तस्वीरों के साथ हमने उस-उस दिन के मिनट भी जैन गज़ट के उसी विशेषांक से लेकर दिये हैं॥

वैसे इसे एकदम से इस संस्करण में सम्मिलित करने का निर्णय भी हमारे अकेले का नहीं है॥ इस निर्णय को पुष्ट किया आचार्य श्री विद्यानंदजी, आचार्य श्री वर्धमानसागर जी, आचार्य श्री देवनन्दि जी, क्षुल्लक श्री ध्यानसागरजी, स्वस्तिश्री भट्टारक चारूकीर्ति जी, स्वयं महासभा अध्यक्ष आदरणीय सेठी जी, इस संस्करण के मुख्य द्रव्यदाता कांतिलाल जी, प्राचार्यश्री नरेन्द्रप्रकाश जी, सुप्रसिद्ध उद्योगपति व महासभा उपाध्यक्ष श्री त्रिलोकचंदजी कोठारी, जैन गज़ट के सह संपादक श्री कपूरचंदजी पाटणी आदि आदि॥

अब समस्या पूर्व संस्करणों में प्रकाशित तस्वीरों की थी कि उनका क्या किया जाय ? इन तस्वीरों की भी मूल तस्वीरें अथवा निगेटिवादि उपलब्ध नहीं हो पाई थी॥तब पूर्व प्रकाशित संस्करणों से वे तस्वीरें ले उन तस्वीरों को हमने लघुरूप दे उनकी स्मृति बनाये रखने के लिये इस संस्करण में मुद्रित करवाने का निर्णय लिया॥

चित्रों से संबंधित एक कार्य और किया गया॥ प्रत्येक अध्याय के प्रारंभ में हमने एक-एक पार्टिशन पेज, जिसे कि डिवाईडर भी कहते हैं, की निर्मिति का॥ इन डिवाईडरों में हमने प्रत्येक अध्यायगत् विषय वस्तु का अहसास दिलाने वाले रेखाचित्र अथवा फोटो चित्रों को चित्रित करवाया॥ इस कार्य में सहयोग दिया इंदौर शहर की सुप्रसिद्ध आर्टिस्ट कुमारी अंशुम जैन(कोठारी) ने, जिसकी कि इस क्षेत्र में निपुणता निसर्ग प्रदत्त है॥ उन चित्रों की निर्मिति के लिये हमने सहयोग लिया मुनिवर्य नियम सागरजी द्वारा विरचित विद्याष्टक का॥ इनकी निर्मिति में कुछ रेखाचित्र तो हाथ से बनाये व कुछ के लिये तस्वीरों का सहयोग लिया गया॥

इस प्रकार इस संस्करण को संस्कारित करने का यह द्वितीय अध्याय पूर्ण हुआ॥

अब यह संस्करण आप सभी के सामने है, एक विशिष्ट प्रस्तावना '**चारित्र चक्रवर्ती-एक अध्ययन**' के १६ पृष्ठीय लेख के साथ॥ इसमें जो कुछ भी उत्तम है, वह सब मेरे सहयोगियों/सहकर्मियों का है, जिन्होंने कि इस कार्य को एक मिशन की तरह किया और जो भी भूलें अथवा अनुत्तम है, वह सब मेरा है, क्यों कि अंततोगत्वा कार्य मेरे ही निर्देशन में सम्पन्न हुआ है॥ मैं उन समस्त भूलों/चूकों के लिये हृदय से क्षमा प्रार्थी हूँ॥

दिनांक : १.२.२०६

हेमन्त काला
इंदौर (म.प्र.)

जिनागमों में मुनि व आचार्य पद हेतु दर्शाई गई कुल शुद्धि को दर्शाता आचार्य श्री की १८ पीढियों का वंश वृक्ष।
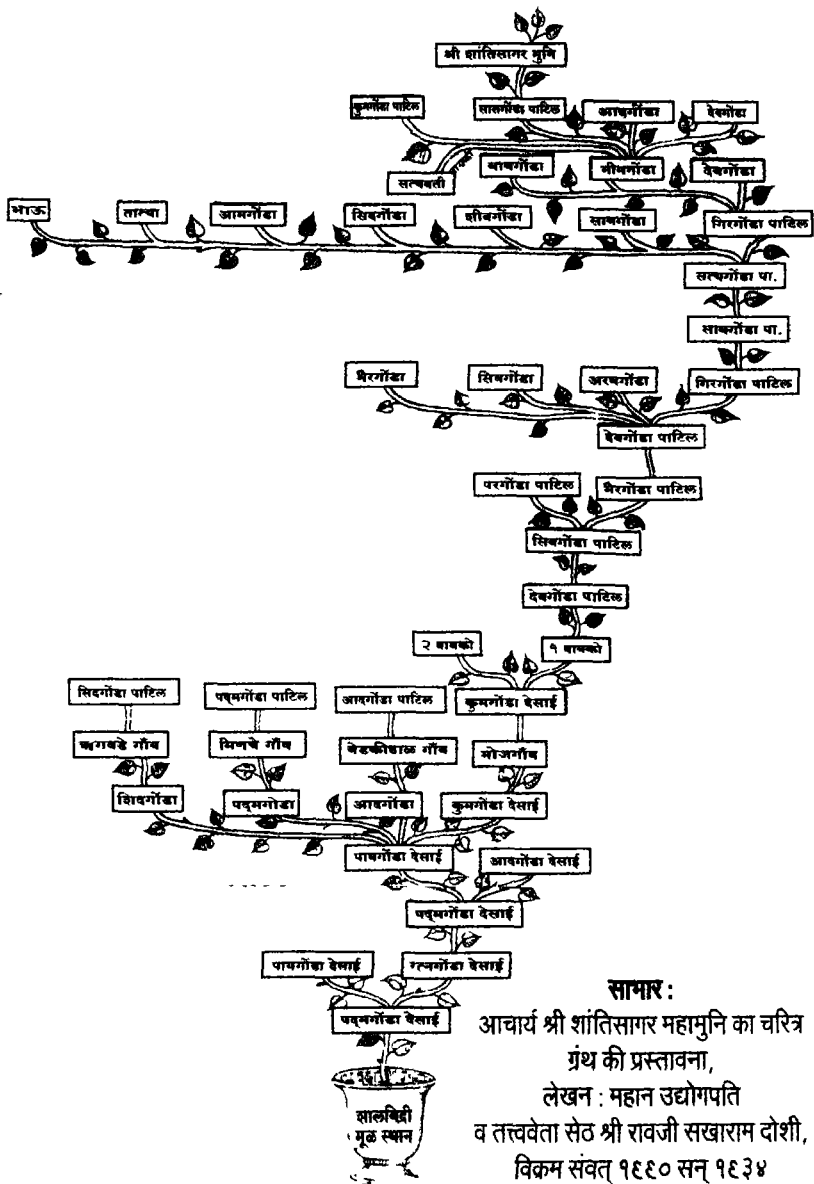
साभार :
आचार्य श्री शांतिसागर महामुनि का चरित्र
ग्रंथ की प्रस्तावना,
लेखन : महान उद्योगपति
व तत्त्ववेता सेठ श्री रावजी सखाराम दोशी,
विक्रम संवत् १९९० सन् १९३४

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर जी

के समय में जैन धर्मावलम्बियों का व्यक्तित्व व मंदिर व्यवस्था

{समडोली (महा.) चातुर्मास, सन् १६२४}

समडोली गांव सांगली के समीप है। कहने के लिये ही ये गांव हैं, परंतु जैनों की संख्या की अपेक्षा शहर ही कहने चाहिये। क्योंकि ऐसा इधर कोई गांव नहीं, जहांपर दो चार सौ जैनों के घर न हों। समुदाय अधिक होने से जैन धर्म की संस्कृति व प्रभावना भी इन गांवों में संतोषप्रद दिखाई देती है। इधर कोई ऐसा मनुष्य नहीं जो कि यज्ञोपवीत धारण न करता हो। जैन के सिवा किसी दूसरे के हाथ का स्पर्शित अन्न तो क्या, पानी तक भी इधर के जैन लोग नहीं पीते। प्रत्येक ग्राम में देवमंदिर रहता है और उसके पूजन की व्यवस्था के लिये स्वतंत्र मनुष्य नियत रहते हैं जिन्हें जिनयज्ञ यागादिका पूरा ज्ञान और अभ्यास रहता है। संस्कृत भाषा का ज्ञान किसी को न भी हो तो भी ये पूजनपाठ का बहुत शुद्ध उच्चारण करते हैं। पूजनविधि के लिये जो मंत्रविधि, मुद्रा, न्यास, क्रिया आदि चाहिये वह सब इन्हें अभ्यस्त रहता है। ये लोग ब्रह्मवृत्ति से रहते हैं। इन्हें जैन ब्राह्मण भी कहा जाता है। पंचकल्याणक प्रतिष्ठा सरीखे विधिविधानों को ये लोग बहुत अच्छी तरह और सर्वांग पूर्ण करना जानते हैं। कुछ लोग संस्कृत और धर्मशास्त्रों के अच्छे विद्वान भी इस जाति में पाये जाते हैं, जैसे उदगांव के श्री अप्पाशास्त्री, समडोली के श्री वासुदेव शास्त्री, कोल्हापुरके कलाप्पा अनंत शास्त्री, मैसूर के श्री शांतिराज शास्त्री, श्रवणबेलगुल (जैनबिद्री) के श्री दोर्बलि शास्त्री, शेडवाल के शांतिनाथ शास्त्री इत्यादि। और भी ऐसे कई शास्त्री हैं, जो कि प्रतिष्ठा विधि सरीखे भारी जिन पूजन सरीखे कार्य को बहुत सुंदर रीति से करते हैं।

इनकी जाती में विधवा विवाह सरीखी किसी भी निंद्य प्रथा का प्रचार नहीं। इनका कुल अत्यंत ही सदाचारी व उत्तम समझा जाता है। वर्णों में ब्राह्मण जैसे सर्व श्रेष्ठ माना जाता है, वैसे ही इधर के इन जैन ब्राह्मणों के प्रति सारे जैन समाज का आदर भाव रहता है।

प्रत्येक गांव में एक-दो मंदिर के सिवा गृहचैत्यालय भी अच्छी स्थिति वालों के यहाँ रहते हैं। इधर गृहचैत्यालयों का खासा रिवाज है। प्रत्येक गांव में कम से कम दस-बीस गृह चैत्यालय तो रहते ही हैं। धर्म और संख्या, इन दोनों दृष्टियों से दूर प्रांतों के लोगों को जो आनंद और प्रसन्नता शहरों में भी देखने को नहीं मिलती, वह यदि उन्हें इधर के गांवों में आने का सुयोग मिले तो प्राप्त होती है। ऐसे ही गांवों में यह समडोली भी एक प्रभावना युक्त गांव है।

यहाँ महाराज का संघ सहित चातुर्मास शुरु हुआ।

-साभार : आचार्य श्री शांतिसागर महामुनि का चरित्र,
संस्करण : सन् १६३४, पृष्ठ : ३६-४०
लेखक : पं. वंशीधर शास्त्री, सोलापुर

प्राक्कथन

श्रमण जगत् में महामुनिंद्र चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागरजी महाराज का सर्वोपरि स्थान रहा है। उन्होंने अपने तप, त्याग, संयम पालन द्वारा मुनिमार्ग को आगमोक्त मार्ग बताया। उनका जीवन पथ प्रदर्शक के रूप में था। वर्तमान में आज जो हमारी श्रमण संस्कृति के साधक मुनिगण विद्यमान हैं वे उन्हीं ऋषिराज की कृपा से हैं। संत शिरोमणि आचार्य विद्यासागरजी महाराज के शब्दों में -

प्रायः कदाचरण युक्त अहो धरा थी,
सन्मार्ग - रूढ़ मुनि मूर्ति न पूर्व में थी ।
चारित्र का नव नवीन पुनीत पंथ
जो भी यहां दिख रहा तव देन संत ।।

उन महान् परोपकारी गुरूराज का पुण्य जीवन चरित्र **'चारित्र चक्रवर्ती'** समाज के मूर्धन्य विद्वान् बालब्रह्मचारी, धर्म - दिवाकर, विद्वतरत्न, विद्यावारिधि स्व. पंडित सुमेरूचंदजी दिवाकर बी.ए., एल.एल.बी., सिवनी, म.प्र. ने लिखा। पूज्य पंडित जी (हमारे सबसे बड़े भ्राता जिन्हें वैसे हम सभी 'दादा जी' कहा करते थे) का संपूर्ण जीवन धर्म, समाज और साहित्य - सेवा में बीता। उनके द्वारा रचित संपादित साहित्य में समाज के लिये मार्गदर्शन के रत्न भरे हुए हैं जिनसे हमारी वर्तमान और भावी पीढ़ी आपमें चारित्र, विद्वत्ता और भक्ति की त्रिवेणी में अवगाहन करके लाभान्वित होगी। किंतु आपने **'चारित्र चक्रवर्ती'** ग्रंथ लिखकर समाज का जो महान् उपकार किया है वह वर्णनातीत है।

पूज्य पंडितजी के देहावसान (२५ जनवरी १९९४) पर भारतवर्षीय दिगम्बर जैन (धर्म संरक्षिणी) महासभा, महाराष्ट्र राज्य शाखा, बम्बई द्वारा प्रेषित संवेदना प्रस्ताव के ये शब्द उल्लेखनीय हैं-"दिगम्बर जैन संस्कृति का वर्तमान का महान् शिल्पकार, समाज ने खो दिया है। वर्तमान में दिगम्बर जैन मुनि परंपरा का गौरव उन्नत करने में वह समर्पित जीवन अंत समय तक इसी कार्य की सुरक्षा में लीन रहा । वर्तमान की इस परंपरा पर जब भी, जहाँ से भी आघात हुआ उसको रोकने हेतु सफलीभूत आवाज उठाने वाले सबसे अगुआ विद्वान के अब दर्शन दुर्लभ हैं।"

चारित्र चक्रवर्ती जैसा महान ग्रंथ उनका जीवन स्मारक है । पंडित जी के देह का अवसान अवश्य हुआ है, मगर चारित्र चक्रवर्ती के महान् शिल्पकार के रूप में युगों - युगों

तक जन - जन में श्रद्धा के पात्र बने रहेंगे। आगम परंपरा के दृढ़ संरक्षक और प्रचारक के प्रबल स्तंभ के रूप में भविष्य पंडितजी की स्मृति को सदैव विनयावनत प्रणाम करता रहेगा।

पूज्य पंडितजी की आचार्य महाराज के प्रति अगाध श्रद्धा-भक्ति थी। वे उनके अनन्य भक्त के रूप में विख्यात थे।

'चारित्र चक्रवर्ती' ग्रंथ के बारे में पूज्य पंडितजी ने स्वयं लिखा है- "मुझे अपने जीवन में कई वर्ष पर्यन्त अनेक बार इन साधुराज के समीप बहुत समय तक रहने का सौभाग्य मिला। कईं वर्षों में पर्यूषण भी इन गुरूदेव के सान्निध्य में व्यतीत होता था। उस सत्संग से प्राप्त अनुभवामृत को विशुद्ध रूप से मैंने चारित्र चक्रवर्ती ग्रंथ में निबद्ध किया है।" इस ग्रंथ में लिखित आचार्य महाराज के जीवन संबंधी सामग्री को एकत्रित करने में पूज्य पंडित जी ने सतत् श्रम किया। उसकी कल्पना आज का प्रबुद्ध पाठक नहीं कर सकता है। कितने ही दिन बाहर रहकर गाँव-गाँव घूमकर आचार्य महाराज से संबंधित सामग्री जुटाई थी। मुझे स्वयं उनके साथ कई जगह जाने का सौभाग्य इस हेतु प्राप्त हुआ। आचार्य महाराज ने ग्रंथ हेतु इच्छापूर्वक कभी अपने जीवन के बारे में नहीं बताया। यह तो पूज्य पंडितजी का चातुर्य हो कहा जाय कि उन्होंने किस तरह बद्धिमत्तापूर्वक उनसे चर्चा करते हुए आचार्य महाराज के जीवन संबंधी बातों का ज्ञान प्राप्त किया। यह शायद पूज्य पंडितजी के लिये ही संभव था क्योंकि आचार्य महाराज का भी पूज्य पंडितजी को विशेष आशीर्वाद प्राप्त था।

सन् १९५० में पूज्य पंडित जी के साथ बंबई जाते हुए गजपंथा में आचार्य महाराज के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। पूज्य पंडितजी की आचार्य महाराज से चर्चा हो रही थी। प्रसंगवश आचार्य महाराज के दीक्षा गुरू पूज्य देवप्पा स्वामी एवं उनके समकालीन मुनिराजों के बारे में बता रहे थे। बोरगाँव के मुनि आदिसागर जी के बारे में 'एक तारा' द्वारा भजन गाने की बात पर से आचार्य महाराज के मुख पर हँसी आ गई व बोले कि बडे सरल तपस्वो साधुराज थे। मैं सामने ही बैठा अपनी डायरी में चर्चा लिख रहा था। मुझे यह लिखते देखकर महाराज सहसा गंभीर मुद्रा में बोले- "यह सब व्यर्थ की बात है इन चर्चा से क्या लाभ? बाबा, तीर्थंकरों का चरित्र पढ़ो जिससे कल्याण होगा।'

आचार्य महाराज के प्रति अगाध भक्ति एवं आत्मविश्वास से कि आचार्य महाराज के पुण्य जीवन का परिचय पाकर जगत् को सुख और शांति का प्रकाश एवं संयम - पथ पर चलने की प्रेरणा मिलेगी, पूज्य पंडितजी ने **'चारित्र चक्रवर्ती'** ग्रंथ को लिखा। कितनी तन्मयता, श्रद्धा से उन्होंने यह ग्रंथ लिखा इसका आभास हमें हमारे स्व. भाई डॉ. सुशीलचंद जी दिवाकर द्वारा अपनी डायरी में दिनांक २३.२.५२ को लिखे नोट से होता है-"इन दिनों दादाजी आचार्य महाराज पर लिख रहे हैं। रात्रि में १२ बजे सोते हैं। सुबह ४ बजे उठते हैं। बड़ी तेजी से अध्ययनपूर्वक लिख रहे हैं। जब लिखने से थकते से

हैं, तो १० जाप ऋषिमंडल की दे लेते हैं, फिर कितने ही पृष्ठ लिख लेते हैं। रात्रि को सोने के पूर्व कोई सुंदर विषय से अंत करते हैं ताकि रात्रिभर दिमाग उसी में रहा करे व कल्पनाएं बढ़ चलें। लुई फिशर की पुस्तक, जो गांधीजी पर है, उसके आधार पर लिखते हैं।''

विचार- विमर्श के बाद इस ग्रंथ का नाम मात्र '**चारित्र चक्रवर्ती**' रखना ही उपयुक्त समझा गया, कारण कि यह नाम आकर्षक होने के साथ परमपूज्य आचार्य महाराज का पर्यायवाची बन चुका था, अतः किसी अन्य साधुराज के बारे में भ्रम की स्थिति पैदा होने का प्रश्न ही नहीं था।

ग्रंथ-लेखन के बाद मुद्रण की भी विकट समस्या रही। इस ग्रंथ के प्रथम संस्करण के प्रकाशक होने का पुण्य सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। प्रथम संस्करण में संलग्न फोटो की प्रिंटिंग, बाईंडिंग आदि हेतु कितने ही बार मुझे बंबई जाना पड़ा। प्रयत्न था कि मार्च १९५३ के भगवान् बाहुबली के महामस्तकाभिषेक के अवसर पर पुस्तक छप कर वहाँ पहुँच जावे। दो - दो बजे रात तक स्वयं पंडितजी जबलपुर में प्रूफ रीडिंग किया करते थे। जबलपुर से बंबई २००० प्रतियों हेतु छपे पृष्ठों को बम्बई ले जाकर बाईंडिंग आदि का कार्य करना भी कुछ कम दुष्कर नहीं था। इस दरम्यान बंबई में ही मेरी मुलाकात जर्मनी से विश्व जैन मिशन, अलीगंज के निमंत्रण पर आये विद्वान लूथर बैडल से हुई और यह परिचय अत्यंत निकट मित्रता में हो गया। मैं अपने साथ दो सौ प्रतियाँ लेकर श्रवणबेलगोला पहुँचा। मेरे पहुँचने के एक दिन बाद पूज्य पंडितजी के हाथों मैंने जब ग्रंथ की प्रति दी तो ग्रंथ को देखकर उन्हें बेहद प्रसन्नता हुई जो स्वाभाविक थी[1]। मुझे आशीर्वाद देते हुए कहा था-''यह तुमने बहुत पुण्य-कार्य किया है।''

दिनांक ४.३.५३ को प्रातः श्रवणबेलगोला के मठमंदिर में समस्त चार संघ समाज में आचार्यरत्न पूज्य देशभूषणजी महाराज एवं संघस्थ साधुओं की उपस्थिति में ग्रंथ विमोचन का कार्य हुआ। इस अवसर पर जर्मन विद्वान लूथर बेंडल ने अपने भाषण में

---

1. The Harder the thing is to do.
   The greater the joy when it is done.
   The greater the burden you bear.
   The greater the joy when it is done.

2. "It was on my way to Shravanbelgola where I had an opportunity to attend the puja of Gommateshwara Statue that I heard first of Saint Shantisagarji who was consideard as the most outstanding personality of Jainism in our days. It was my friend A.K. Diwaker who told me so and his brother Sumerchand Diwaker author of a voluminous work on the great Saint was of the same opinion. So I longed to have an encounter with this great personality."

-Prof. Lother Wendel : A Transcendental Saint,
जैन गजट, श्रद्धांजलि विशेषांक, पृष्ठ २५६

आचार्य महाराज के दर्शन की इच्छा व्यक्त की। आचार्य-रत्न देशभूषण महाराज ने आचार्य महाराज के श्रमण संस्कृति पर महान् उपकार का उल्लेख करते हुए पूज्य पंडितजी को उन महान् ऋषिराज का कल्याणकारी जीवन चारित्र जनजन तक पहुँचाने के पुण्य कार्य हेतु आशीर्वाद दिया था। उपस्थित साधु-संघ एवं भक्तजनों ने भी इस ग्रंथराज के प्रति अपने आदरभाव व्यक्त किये थे। पूज्य पंडितजी ने स्व. पूज्य चारूकीर्तिजी भट्टारक श्रवणबेलगोला, श्रीमान् मंजैय्या हेगड़े धर्मस्थल, सररोठ भागचंदजी सोनी अजमेर, श्री मूलचन्दजी कापड़िया, संपादक जैनमित्र, सूरत आदि को ग्रंथ की प्रति भेंट की थी।

'चारित्र चक्रवर्ती' ग्रंथ की श्रमण एवं श्रावक वर्ग ने आदरपूर्वक प्रशंसा की। बडगांव ग्राम में मुझे पंडित जी के साथ दिनांक १२.१२.५३ को परम पूज्य वर्धमान सागरजी महाराज (आचार्य महाराज के ज्येष्ठ भ्राता) के दर्शन का सौभाग्य मिला। उस समय महाराजजी ने पूज्य दादाजी को आशीर्वाद देते हुए कहा था-''आपने यह अत्यंत चिरस्मरणीय कार्य किया है। यह अजरामर है।'' उन साधुराज ने यह भी कहा था-''यदि इस युग में केवलज्ञान होता, तो आपको अवश्य होता''। एक क्षण रूकते हुए उन्होंने आगे कहा-''मगर इन कपड़ों के साथ नहीं होगा। इन्हें अलग करें। बिना पिच्छी, कमण्डलु के कल्याण नहीं।''उसी समय परम पूज्य समंतभद्रजी महाराज के दर्शन एवं आशीर्वाद का लाभ पूज्य पंडितजी ने बाहुबली क्षेत्र में लिया। विद्वत्वर्ग ने पू. पंडितजी की भूरि-भूरि प्रशंसा की एवं साधुवाद दिया। सन् १९७६ में परम पूज्य आचार्य विद्यानंदजी महाराज के सान्निध्य में भगवान् महावीर के २५०० वें निर्वाणोत्सव के अवसर पर 'चारित्र चक्रवर्ती' ग्रंथ के रचयिता के नाते पूज्य पंडितजी का सम्मान किया गया था।

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य महाराज के स्वर्गवास के उपरांत पूज्य पंडितजी ने चारित्र चक्रवर्ती ग्रंथ की श्रृंखला के ही रूप में **'आध्यात्मिक ज्योति'** ग्रंथ लिखा तथा आवश्यक संशोधन, संवर्धन के उपरांत इस ग्रंथ का द्वितीय संस्करण १९७२ में परमपूज्य आचार्यरत्न १०८ श्री देशभूषण जी महाराज की कृपा से प्रकाशित हुआ एवं आचार्यरत्न १०८ श्री बाहुबलीजी महाराज की कृपा से १९८९ में तृतीय संस्करण प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथराज के अनुवाद मराठी, कन्नड़ भाषा में भी प्रकाशित हुए। तथा ग्रंथ के लघु संस्करण भी निकले। पूज्य पंडितजी के देहावसान के करीब ६ माह पूर्व प्रोफेसर पद्मराज, हासन, कर्नाटक द्वारा कन्नड़ भाषा में अनुवादित ग्रंथ प्रकाशित हुआ। इसमें पूज्य पंडितजी की कुछ मान्यताओं के विपरीत सामग्री की उनके स्पष्ट निर्देशों के बावजूद समाविष्टि से पूज्य पंडितजी को अत्यधिक दुःख हुआ था।

हमारे बड़े भाई पंडित श्रेयांसकुमार जी दिवाकर के प्रयास के फलस्वरूप **'चारित्र चक्रवर्ती'** ग्रंथ के चतुर्थ संस्करण का प्रकाशन परम पूज्य महान् तपस्वी १०८ गुरूदेव

आचार्य विमलसागर जी महाराज, परमपूज्य १०८ आचार्य भरत सागरजी महाराज, पूज्य १०८ चैत्यसागरजी महाराज की महान् कृपा से हो चुका है ।[1]

अंत में पूज्य पंडितजी के ही शब्दों में "यह भारत का सौभाग्य रहा कि उसको चारित्र चक्रवर्ती श्रमणराज आचार्य शांतिसागर महाराज नाम के दिगम्बर जैन महर्षि के रूप में आध्यात्मिक ज्योति प्राप्त हुई थी। उन्होंने श्रेष्ठ अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहादि की समाराधना की थी तथा ३६ दिन पर्यंत आहारपान का परित्याग उच्च अहिंसा की साधना के हेतु कुंथलगिरी की जैन तपोभूमि से १८ सितम्बर १९५५ के सुप्रभात में परलोक यात्रा की थी। वे चन्द्रमा के समान अत्यन्त शीतल थे तथा सूर्य की भाँति तपस्या के तेज से अलंकृत थे । वह आध्यात्मिक ज्योति लोकोत्तर थी जिसमें भानु तथा शशि की विशेषताएं केन्द्रित थीं। उन गुरूदेव के चरणों में शत-शत वंदन।"

अभिनंदन कुमार दिवाकर(एडवोकेट)
एम.ए.,एल.एल.बी.

---

१. षष्ठम् प्रकाशन वीनस कम्प्युटर एवं ग्राफिक्स, इन्दौर से प्रकाशित किया गया था । सप्तम् प्रकाशन आ. ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर एवं श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मंदिर संघी जी सांगानेर से प्रकाशित किया गया था। यह आठवाँ संस्करण है जिसे कि श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन (धर्म संरक्षिणी) महासभा द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है।

इस संस्करण की कुल पृष्ठ संख्या

मूल ग्रंथ के पृष्ठ	=	५५२
नये अध्यायों के पृष्ठ	=	०३३
कॉटेशन(बहुमूल्य वचन) पृष्ठ	=	००७
डिवाईडर पृष्ठ (२०+१८)	=	०३८
फोटो पृष्ठ (२५+१)	=	०२६
प्रस्तावना आदि..	=	०६४
चारित्र चक्रवर्ती - एक अध्ययन	=	०१६
सल्लेखना के पृष्ठ (आर्ट पेपर)	=	०३२
कुल पृष्ठ = ७३६+३२(आर्ट)	=	**७६८**

प.पू.चा.च. आचार्य परमेष्ठी श्री

शांतिसागर महाराज

के चातुर्मासों की सूची

क्र.	वर्ष	स्थान
१	१९१५	कोगनोली
२	१९१६	कुंभोज
३	१९१७	कोगनोली
४	१९१८	जैनवाड़ी
५	१९१९	नसलापुर
६	१९२०	कोगनोली
७	१९२१	नसलापुर
८	१९२२	ऐनापुर
९	१९२३	कोन्नुर
१०	१९२४	समडोली
११	१९२५	कुंभोज
१२	१९२६	नांदनी
१३	१९२७	बाहुबली
१४	१९२८	कटनी
१५	१९२९	ललितपुर
१६	१९३०	मथुरा
१७	१९३१	दिल्ली
१८	१९३२	जयपुर
१९	१९३३	ब्यावर
२०	१९३४	उदयपुर
२१	१९३५	गोरल
२२	१९३६	प्रतापगढ़
२३	१९३७	गजपंथा
२४	१९३८	बारामती
२५	१९३९	पावागढ़
२६	१९४०	गोरल
२७	१९४१	अकलुज
२८	१९४२	कोरोची
२९	१९४३	डिगरज
३०	१९४४	कुंथलगिरी
३१	१९४५	फलटन
३२	१९४६	कवलाना
३३	१९४७	सोलापुर
३४	१९४८	फलटण
३५	१९४९	कवलाना
३६	१९५०	गजपंथा
३७	१९५१	बारामती
३८	१९५२	लोनंद
३९	१९५३	कुंथलगिरी
४०	१९५४	फलटण
४१	१९५५	कुंथलगिरी

****

१९१५ से १९१८ तक के चार चातुर्मास आचार्य श्री ने क्षुल्लक अवस्था में सम्पन्न किये
१९१९ का पाँचवा चातुर्मास ऐलक अवस्था में सम्पन्न किया
तत् पश्चात् १९२३ तक के ५ चातुर्मास साधुपरमेष्ठी के रूप में व १४ चतुर्मास आचार्य परमेष्ठी के रूप में सम्पन्न किये
पश्चात् शेष १७ चातुर्मास चारित्र-चक्रवर्ती के रूप में सम्पन्न हुए

क्षुल्लक दीक्षा १९१५
ऐलक दीक्षा १९१९
मुनि दीक्षा १९२०
आचार्य पद १९२४
चारित्र-चक्रवर्ती पद १९३७
आचार्य पद त्याग १९५५
समाधि १९५५ कुथलगिरि

प्रस्तावना

बहुत समय से चारित्र चक्रवर्ती १०८ आचार्य शांतिसागर महाराज के सौरभ सम्पन्न लोकोत्तर चरित्र से परिचित लोगों की मनोकामना थी कि उन मुनिनाथ की जीवन कथा प्रकाश में लाई जाय जिससे मोहान्धकार में भ्रांत मानव आध्यात्मिक प्रकाश पा मंगल पथ में प्रवृत्ति करे। सुयोग की बात है, सन् १९५१ के पर्यूषण पर्व के समय बारामती (पूना) में विशेष चर्चा हुई। उस समय पूज्य आचार्य देव चातुर्मास वहां ही व्यतीत कर रहे थे और मैं भी गुरूचरण के समीप पहुँचा था। लोगों से चर्चा के उपरान्त चरित्र निर्माण का कार्य मुझ पर रखा गया और प्रकाशन आदि की आर्थिक व्यवस्था का भार जिनवाणी जीर्णोद्धारक संघ ने स्वीकार किया।

पर्यूषण पर्व के उपरान्त सिवनी लौटने पर जब मैंने लेखन निमित्त सामग्री का अन्वेषण किया तो मुझे बड़ी निराशा हुई, क्योंकि दो-एक लघु पुस्तिकाओं तथा समाचार पत्रों के अल्प विवरण से चरित्र निर्माण का व्यवस्थित कार्य भी कठिन प्रतीत होता था। मैं चिन्ता में पड़ गया। निराशा ने मुझे घेर लिया। ऐसे अवसर पर अनेक लब्धप्रतिष्ठ लोगों के उत्साहवर्धक पत्र मिले। दानवीर रावराजा श्रीमंत सरसेठ हुकुमचंद जी, इन्दौर का पत्र बड़ा प्राणपूर्ण था। केन्द्रीय लोक सदन (Parliament) के अध्यक्ष श्री मावलंकर से प्राप्त पत्र द्वारा प्रेरणा मिली। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रमुख श्री गोलवलकर ने बड़े उदात्त उद्‌गारों को व्यक्त करके स्फूर्तिप्रद शब्दों में उत्साहजनक सामग्री प्रदान करते हुए लिखा था कि ऐसे पवित्र और निस्वार्थ सेवा के क्षेत्र में परमात्मा की कृपा से सफलता की उपलब्धि में तनिक भी सन्देह नहीं करना चाहिए। राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त ने अपनी पुण्य भावना को व्यक्त करते हुए यह सुन्दर पद्य आचार्य महाराज की अभिवंदना निमित्त लिखा था :-

पंथ अनेक, संत सब एक। नत हूँ मैं अपना सिर टेक।
जहाँ अहिंसा का अभिषेक। परम धर्म का वहां विवेक॥

ऐसी पवित्र स्फूर्तिप्रद सामग्री उल्लास तथा उत्साह देती थी किन्तु जीवन घटनाओं का अल्प परिचय हमें सचिन्त बनाता था। इस कठिन प्रसंग में अन्तःकरण ने परमात्मा की आराधना को उचित बताया, इसलिये मैंने वीतराग तीर्थंकरों की यथाशक्ति समाराधना तथा अर्चा की। उसके फलस्वरूप तथा विविध ग्रंथों के परिशीलन में संलग्नता के कारण धीरे-धीरे उपयुक्त सामग्री मस्तिष्क में प्रतिबिम्बित हो चली। परमात्मा का नाम-स्मरण और आचार्य श्री के चरणों को प्रणाम करते हुए मैं जब लिखने बैठता था, तो विपुल सामग्री मिलती जाती थी।

आचार्य सोमदेव ने लिखा है कि पवित्र कार्य में विघ्न प्रायः आया करते हैं। उन्हें आमंत्रण देकर बुलाने की आवश्यकता नहीं होती। इस आचार्य वाणी की सत्यता का हमें पर्याप्त मात्रा में अनुभव हुआ। जब हम लेखन कार्य में अत्यन्त संलग्न थे, तब जिनवाणी जीर्णोद्धारक संघ के मंत्री जी ने हमें सूचना दी कि यह कार्य आचार्य महाराज को पसंद नहीं है, इसलिए आप ग्रंथ निर्माण का कार्य बन्द कर दीजिये। हमने सोचा कि यह श्रम अर्थ की प्रेरणा के स्थान में अंतःकरण के प्रेम, श्रद्धा और भक्तिवश किया जा रहा है, इसलिये उसे अविश्रांत रूप से जारी रखना ही ठीक होगा। फिर भी व्यवस्था की बात मन में विचार उत्पन्न करती थी। ऐसे अवसर पर हमारे गुरू-भक्त छोटे भाई ज्ञानचंद दिवाकर तथा शांतिकुमार ने कहा-"इस संबंध में यदि अन्यत्र से व्यवस्था न हुई तो अपने घर से ही इस ग्रंथ का प्रकाशन करेंगे।"

दिगंबर जैन महासभा की प्रबंधकारिणी की एक बैठक में यह प्रस्ताव पास हुआ था कि हमारे ग्रंथ निर्माण के अनंतर महासभा उसे आचार्य श्री की हीरक जयंती के अवसर पर उनके कर कमलों में अर्पण करेगी। जब मैंने ग्रंथ प्रकाशनार्थ आर्थिक व्यवस्था के विषय में प्रमुख महोदय को पत्र दिया तो ऐसा उत्तर नहीं आया जो हमें निःशंक बनावे। पश्चात् की प्रवृत्तियों से तो इस परिणाम पर पहुंचना पड़ा कि इस दिशा में आशान्वित न होना ही समझदारी की बात होगी।

कोई कोई गुरू भक्त कहते थे-"आपने जैन -शासन सदृश महत्वपूर्ण ग्रन्थ तथा प्राकृत भाषा की प्रांजल तथा दो हजार वर्ष प्राचीन महान कृति 'महाबंध' प्रथम खंड की टीका को दक्षिण से लाकर प्रसिद्ध व्यवसायी सेठ शांतिप्रसाद जी जैन की भारतीय ज्ञानपीठ, काशी को प्रकाशनार्थ अमूल्य प्रदान की, तो वह कृतज्ञ संस्था आचार्य श्री के जीवन चरित्र को प्रकाशित करने में कृतार्थता का अनुभव करेगी। शांतिप्रसाद जी की संस्था द्वारा शांतिसागर स्वामी संबंधी रचना का प्रकाशन पूर्णतया समंजस ही है।" वह विचार अनुपयोगी दिखाई दिया, क्योंकि केवल ज्ञानप्रसाद तथा लोक कल्याण की कामना से प्रदत्त सामग्री के प्रतिफल स्वरूप जो व्यथा वर्धक पुरस्कार प्राप्त हुआ उससे ज्ञानपीठ की ओर पीठ करना ज्ञान पूर्ण लगा। हमें तो यह जानकर आश्चर्य हुआ कि प्रकांड दार्शनिक रायबहादुर प्रिंसिपल ए. चक्रवर्ती, एम.ए., आई.ई.एस., मद्रास द्वारा अंग्रेजी समयसार तथा कुरल काव्य, अमूल्य दिए जाने पर उक्त संस्था से उन्हें हमारी तरह पारितोष के स्थान में परिताप प्राप्त हुआ। ऐसी और भी उज्जवल साहित्य सेवियों की व्यथा की कथा है। यदि दानवीर संस्थापक जी स्वयं ध्यान देकर संस्था को अकलंक बनाने का प्रयत्न करें, तो समंतभद्र बात होगी। धीरे-धीरे वह दिन भी आ गया, जब अंतःकरण ने चरित्र निर्माण कार्य की समाप्ति पर संतोष और प्रसन्नता का अनुभव किया।

अब तो प्रकाशन का प्रश्न प्रमुख बन गया। कुछ श्रीमानों ने हमें लिखा कि-"यदि आप पर्युषण पर्व में हमारे यहाँ धर्मोपदेश के हेतु आवें, तो अर्थ की व्यवस्था हो जाएगी।" मैं विचार में पड़ गया, क्योंकि हृदय आचार्य महाराज के समीप पहुंचने की सलाह देता था,

कारण पर्यूषण में आचार्य महाराज से अमूल्य अनुभव पूर्ण सैद्धान्तिक चर्चा द्वारा अपूर्व आल्हाद और महान प्रकाश प्राप्त होता रहा है। सात, आठ वर्षों से मेरा पर्यूषण महाराज के समीप ही व्यतीत हुआ करता है, इसलिए मेरे मन को अर्थ प्राप्ति की अपेक्षा बौद्धिक और आध्यात्मिक लाभ उठाना श्रेयस्कर लगा। इसका विशेष कारण है कि उनके पास जाने पर ऐसा लगता है, मानों हम सजीव उत्तम, क्षमा आदि दश विध धर्मों की पार्श्व भूमि में पहुँच गए हों। अतएव मैं महाराज के पास लोणंद पहुँचा।

एक दिन आचार्य महाराज के पास नीरा के कुछ भाई दर्शनार्थ पहुँचे। मैंने उत्साही सेठ नेमचन्द देवचंद जी आसवलीकर से कहा कि -''आपके लिऐ एक प्रिय सामग्री मैं लाया हूँ''और मैंने उन्हें ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति दिखाई। उसे देख उनका गुरूभक्त हृदय अत्यन्त हर्षित हुआ। मैंने कहा-'' ग्रंथ प्रकाशन के उपरांत सहायतार्थ लगाई गई द्रव्य बिक्री के पश्चात् सधन्यवाद लौटा दी जाएगी। इस योजना से लोक कल्याण होते हुए भी आर्थिक क्षति नहीं होगी। गोम्मटेश्वर स्वामी का महाभिषेक महोत्सव समीप है। उस समय ग्रंथ की बिक्री भो सरलता से हो जायगी ऐसी आशा है।''

उनको यह योजना उचित लगी। उनने तथा श्री रावजी हीराचंद कोठड़िया ने हमसे नीरा का अनुरोध किया। नीरा पहुँचने पर उक्त दोनों सज्जनों ने तथा श्री रामचन्द्र अमीरचन्द्र शाह ने हमारी योजना की पूर्ति का वचन दिया तथा वचन-पूर्ति की।

उक्त आर्थिक सहायता में जो भी कमी पड़ी उसकी पूर्ति हमारे भाई ज्ञानचंद दिवाकर ने की। इस ग्रंथ प्रकाशन की अधिक अड़चन दूर करने का कार्य असाधारण महत्व रखता है, इसलिए नीरा के उक्त तीन सज्जनों को सामयिक उदारता के लिए धन्यवाद है। अब ग्रंथ प्रकाशन के प्रबंध की समस्या थी। छपाई की कठिनता भाई छगनमल जी, बी.ए., एल.एल.बी., मैनेजर, परफेक्ट पाटरी कंपनी, जबलपुर के सहयोग से सहज ही दूर हो गई।

ग्रंथ निर्माण में उपयोगी विपुल ग्रंथ, अनेक लाभप्रद सुझाव आदि हमारे अनुज प्रोफेसर सुशीलकुमार दिवाकर, एम.ए., बी.कॉम., एल.एल.बी. तथा भाई श्रेयांसकुमार दिवाकर, बी.एस.सी. से प्राप्त हुए। अभिनंदन कुमार दिवाकर, एम.ए. ने प्रकाशन आदि के निमित्त बहुत श्रम किया तथा चित्रों के प्रकाशन आदि की व्यवस्था निमित्त टाइम्स ऑफ इंडिया प्रेस, मुम्बई में पहुँचकर कुशलता से सब कार्य सम्पन्न कराया। उक्त प्रेस के उच्च अधिकारियों ने विशेषकर श्री राजकुमार जैन, डिप्टी मैनेजर, टाइम्स प्रेस, और वीरेन्द्र कुमार जैन एम.ए., 'धर्मयुग' बंबई ने प्रेम और सौजन्य सहित कार्य किया। हमने देखा आचार्य महाराज के जीवन का थोड़ा सा वर्णन एवं उनके चित्रों का दर्शन कर सर्वत्र सहयोग प्राप्त करना सरल हो जाता था।

कर्नाटक प्रान्त में परिभ्रमण कर आचार्य श्री की जन्मभूमि तथा अन्य स्थानों में जाकर उपयोगी सामग्री प्राप्त करने में कीर्तनकार ब्रह्मचारी जिनदास जी समडोलिकर ने

सहायता दी। श्री धनंजय कांगले फोटोग्राफर निपाणी (बेलगांव) ने आचार्य महाराज के निवास स्थान भोजग्राम पहुँचकर सुन्दर चित्र निस्वार्थ भाव से खींचकर दिए। प्रोफेसर पी.सी.सेठी, एम.एस.सी., साइंस कॉलेज, नागपुर, श्रीमंत ऋषभ कुमार जी, बी.ए., खुरई, श्री वीरकुमार जी, बी.एस.सी., लोणंद श्री बाबूराव जी दोशी, वकील, फलटण तथा मास्टर नन्हेंलाल जी, सिवनी, नेमचन्द जी जैन, एम.ए., जबलपुर द्वारा महत्वपूर्ण सामग्री तथा सहयोग प्राप्त हुआ। सिंघई हेमचन्द जी तथा सिंघई नेमचंद जी, जबलपुर का सहयोग भी उपयोगी रहा। उपयोगी बातें बताने में सर्व प्रथम हमारे पूज्य पिता जी, संघ-भक्त शिरोमणि सेठ दाड़िमचन्द जी जवेरी बंबई, धर्मप्रेमी वकील श्री तलकचन्द शहा फलटण, गुरूभक्त सेठ चंदूलाल जी सर्राफ, श्री निरंजन लाल जी, बंबई आदि का नाम उल्लेखनीय है। प्रेस कापी तैयार करने में कामर्स कालेज के विद्यार्थी चुन्नीलाल जैन ने बहुत श्रम किया। महान तपस्वी मुनिराज वर्धमानसागर जी, मुनिराज नेमिसागर जी, मुनिराज पायसागर जी, मुनिराज वीरसागर जी , मुनि समन्तभद्र जी, श्री क्षुल्लक सुमतिसागरजी से (फलटण वाले) जिनका महाराज से *निकट परिचय रहा है, महत्वास्पद बातें ज्ञात हुई थीं। इन पूजनीय तपस्वियों ने अपने मंगलमय* आशीर्वाद द्वारा हमें कृतार्थ भी किया था।

समाज के प्रमुख नेता तथा उच्चकोटि के धर्मज्ञ एवं शास्त्रज्ञ हमारे पूज्य पिता जी सिंघई कुंवरसेन जीके कारण हमारे लेखन कार्य के सर्व विघ्न दूर हुए हैं तथा सब प्रकार की अनुकूलता उनके पुण्य प्रसाद से मिली है।

उनकी अवस्था इस समय ८० वर्ष के समीप है और उन्होंने लौकिक कार्यों को छोड़कर आत्मकल्याण करने को ही अब अपना सच्चा परिवार मान उस ओर प्रवृत्ति की है। वे अपना अधिक समय जिननाम-स्मरण तथा तत्वचिंतन में व्यतीत करते हैं। उनकी आचार्य महाराज में अपार भक्ति है। यदि उन्होंने हमें सर्व प्रकार की स्वाधीनता न दी होती तो ऐसा चरित्र बनाना स्वप्न में भी संभव न होता।

और भी अनेक सत्पुरूषों द्वारा सहायता प्राप्त हुई है, जिससे इस ग्रंथ निर्माण का कठिन कार्य सम्पन्न हो सका है। इन सभी सहायकों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए एक **'आभारी'** शब्द ही हमारे पास है। इतने बड़े ग्रंथ का अल्प समय में प्रकाशन होने के कारण प्रूफ शोधन का कार्य जितना निर्दोष बनना चाहिए था, न हो पाया। फिर भी अत्यधिक श्रम द्वारा जितनी सावधानी संभव थी, उसमें तनिक भी प्रमाद नहीं किया गया।

जिनेन्द्र भगवान की भक्ति तथा आचार्य शान्तिसागर महाराज के पुण्य-स्मरण द्वारा हमारी आत्मा को पर्याप्त प्रकाश तथा बल प्राप्त होता रहा है, उनके चरण कमलों को हमारी प्रणामांजलि है।

पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर

२६ जनवरी, १९५३ — दिवाकर-सदन, सिवनी(म.प्र.)

"आचार्य महाराज के पैरों में ध्वजा का चिन्ह था। उन्होंने धर्म की ध्वजा फहराकर इस चिन्ह की सार्थकता द्योतित की। उनके शरीर में अनेक शुभ चिन्ह सामुद्रिक शास्त्रानुसार थे। उनके हाथ में दिव्यदर्शन की रेखा देखकर हस्तरेखा विशेषज्ञ आश्चर्यान्वित होते थे।"
- आचार्य नेमिसागरजी
आमुख

आमुख

भौतिक विकास को ध्यान में रखने वाले लोग इस बीसवी शताब्दी को मानव के बौद्धिक विकास का महान् युग मानते हैं। वे सोचते हैं कि आज स्पर्शन, रसना, घ्राण, नेत्र तथा कर्ण इन पाँचों इन्द्रियों को परितृप्ति प्रदान करने के साधनों की अद्भुत वृद्धि हुई है। आध्यात्मिक दृष्टि वाला व्यक्ति सोचता है कि वर्तमान युग ने मनुष्य की वासनाओं को जगाकर उसे भयंकर बन्दी बना लिया है। कोई व्यक्ति कैदी बनाया जाता है, उसमें उसकी मजबूरी कारण पड़ती है। कोई जबरदस्त शक्ति सिर पर सवार रहती है, इससे मनुष्य कारावास का कष्ट भोगता है। यदि उसका वश चले, तो उसे उस बन्धन को दूर करते तनिक भी देर न लगेगी। यह वासना की दासता अद्भुत है। इसमें मनुष्य स्वयं अपने को बन्धनबद्ध बनाकर दुःखी होता है।

एक कवि एक भ्रमर के रूप में विषयासक्त जीव का चित्रण करता है।[1] सौरभ पान का लोलुपी एक भ्रमर सरोज की सुगन्ध में मस्त होता हुआ सूर्यास्त के समय कमल से बाहर नहीं आता है। सूर्य के अस्तंगत होने पर भ्रमर कमल के भीतर बैठा हुआ आनन्द का अनुभव करता है और मन में सोचता है-'अरे ! रात्रि शीघ्र ही व्यतीत होगी। पुनः सुप्रभात आयगा। प्रिय प्रभाकर का पुनः दर्शन होगा, उस समय इस कमल का मुख खिल जायेगा।' इतने में कोई गजराज उस सरोवर में घुसकर उस कमल को तोड़कर उदरस्थ करता है और स्वर्णिल स्वप्नों के सौन्दर्य में निमग्न भ्रमर की जीवन-लीला समाप्त हो जाती है। उस भ्रमर के समान ही मनुष्य का जीवन-प्रदीप अकस्मात् बुझ जाता है और उसका मनुष्य जन्म समाप्त हो जाता है। मोह के बन्धन से क्रियाविहीन बने भ्रमर के विषय में कवि के ये शब्द अत्यन्त मार्मिक हैं :-

बन्धनानि किल संति बहूनि,स्नेह - रज्जुकृत - बंधनमन्यत्।
दारुभेद निपुणोपि षडंध्रिः,निष्क्रियो भवति पंकजबद्धः ॥

अर्थ : बन्धन तो अनेक प्रकार के होते है, किन्तु प्रेम की रज्जु द्वारा निर्मित बन्धन सबसे निराला है। कमल के प्रेमबन्धन में बद्ध भ्रमर, यद्यपि काष्ठ में छेद करने की क्षमता से सम्पन्न रहता है, पंकज के मध्य में निष्क्रिय बन जाता है।

---

१. रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं, भास्वानुदेष्यति हसस्यति पंकजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे, हा हन्त हन्त नलिनीं गजमुज्जहार ॥

पंचाध्यायी में लिखा है- "प्राणी यथार्थ में विश्व से भिन्न है, किन्तु समस्त विश्व को मोहवश अपनाता हुआ देखा जाता है।" मोह के कारण जब यह विविधि पदार्थ-मालिका के साथ ममता के माध्यम से आत्मरूपता स्थापित करता है, तब उन पदार्थों के अनुकूल परिणमन पर यह आनन्द की कल्पना करता है और उनके विपरीत परिणमन पर दुःखी होता है। तत्वज्ञान के प्रकाश में ममता के केन्द्र इस जीव के समान उन सचेतन-अचेतन पदार्थों का स्वतन्त्र अस्तित्व है, अतः उनके अनुकूल-प्रतिकूल परिणमन पर इस ज्ञानी आत्मा को अपना सन्तुलन नहीं खोना था, किन्तु क्या किया जाय, यह मोह की वारुणी पान करने से विवेकरहित स्थिति को प्राप्त करता है। फलतः 'मेरा', 'मेरा' (मे-मे) कहने वाले 'अज' (बकरे) के समान कालरूप 'वृक' (भेड़िया) इसको मार डालता है। कवि कहता है -

अशनं मे वसनं मे जाया मे बन्धुवर्गो मे।
इति मे मे कुर्वाणं कालवृको हंति पुरुषाजम्॥

व्यावहारिक दृष्टि से सोचा जाय, तो प्रतीत होगा कि यह मानव संग्रह की दूषित भावना से प्रेरित हो, इतना धन-वैभव एकत्रित करने में संलग्न रहता है, जितना यह सैकड़ों भवों में भी नहीं भोग सकेगा। इसे प्रारम्भ में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का ध्यान रहता है, किन्तु जहाँ, आवश्यकता की पूर्तियोग्य परिस्थिति आई, वहाँ तृष्णा की बीमारी उसे घेर लेती है तथा अनिश्चित भविष्य की भीतिवश यह संग्रह-मूर्ति बनता चला जाता है। उस स्वार्थ के नशे में यह दूसरों के कष्टों की ओर तनिक भी दृष्टिपात नहीं करता है। दूसरों को अपने स्वार्थपूर्ति का साधन बनाने में इसे जरा भी संकोच नहीं होता है। यह सब होते हुए भी आकुलताओं की सीमातीत वृद्धि होने से इसका मन अशान्ति का केन्द्र बन जाता है। अविद्या के कारण यह जीव इस सत्य पर दृष्टिपात ही नहीं करता है कि परिग्रह की वृद्धि में इसकी अशांति बढ़ रही है तब फिर यह क्यों परिग्रह पिशाच से अपना पिण्ड छुटाने का उद्योग नहीं करता है ? पूज्यपादस्वामी ने इष्टोपदेश में लिखा है -

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्ति-प्रतिपादकान्।
अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेवते सुधीः ॥१७॥

अर्थ : विषयभोग प्रारम्भ में सन्ताप प्रदान करते है, क्योंकि उनकी उपलब्धि के लिए परिश्रम किया जाता है। अनुकूल सामग्री प्राप्त होने पर असन्तोष का भाव जागृत होता है, पश्चात् उन विषयों का नशा ऐसा चढ़ता है कि उनका त्याग करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। कौन विवेकी व्यक्ति होगा, जो इन विषयों को अधिक सेवन करेगा ?

कभी-कभी सत्पुरुषों का सुयोग प्राप्त होने पर यह मानव अपनी मलिन प्रवृत्तियों के दोषों को जान जाता है, किन्तु वे प्रवृत्तियाँ छूटती नहीं हैं। इस सम्बन्ध में वह शिथिलाचारी व्यक्ति कहता है-"मैं तो इन बुराइयों को छोड़ने को तैयार हूँ, किन्तु क्या करूँ, ये

प्रवृत्तियाँ मुझे नहीं छोड़ती।''ऐसे लोगों की बुद्धि को ठिकाने लगाना अत्यन्त कुशल व्यक्ति का काम है। कहते हैं, गुजरात में एक सहृदय साधु पहुँचे। उन्होंने काठियावाड़ के कुछ ठाकुरों को दारू (मद्य) त्यागने को कहा। एक ने कहा-''मैं तो दारू त्यागने को तैयार हूँ, किन्तु क्या किया जाय, यह दारू मुझे नहीं छोड़ती।'' साधु ने ठाकुर से कहा, ''कल आकर मिलो, फिर विचार करेंगे।'' दूसरे दिन प्रभात में ठाकुर वहाँ पहुँचा। ठाकुर ने आवाज लगाकर महाराज को बुलाया। वे स्वामीजी कहने लगे-''क्या बताऊँ, मैं तो आना चाहता हूँ, किन्तु इस घर के खम्भे ने मुझे पकड़ लिया है।''ऐसा कहते हुए वे दोनों हाथों से एक खम्भे को पकड़े हुए थे। ठाकुर ने कहा-''खम्भे से हाथ हटाइये।''हाथ हटाते ही स्वामीजी खम्भे से छूट गए। उन्होंने ठाकुर से पूछा, क्यों भाई ! खम्भे ने मुझे पकड़ा था, या मैंने उसे पकड़ा था।''ठाकुर महोदय ने तुरन्त कह दिया-''खम्भे ने आपको नहीं पकड़ा था। आपने ही स्वयं उसे पकड़ा था।''इस पर स्वामीजी ने समझाया कि इसी प्रकार दारू ने तुम्हें नहीं पकड़ा है, किन्तु तुमने उसको पकड़ लिया है। ठाकुर को अपनी भूल समझ में आ गई और उसने उस व्यसन को सदा के लिए छोड़ दिया। इसी प्रकार मनुष्य अपनी मानसिक दुर्बलता को दूर कर सत्संकल्प का आश्रय ले, तो सहज ही अनेक हानिप्रद प्रवृत्तियों को छोड़ सकता है। जैनधर्म इसी कारण जीव के सुख-दुःख, उत्थान-पतन का उत्तरदायित्व दूसरे पर न लादकर जीव को ही दोषी कहता है।

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते॥

वर्तमान युग का मानव लौकिक-जगत् में अलौकिक कार्य करता-सा दिखाई देता है, किन्तु विषयों की दासता के परित्याग के क्षेत्र में वह आगे बढ़ने के स्थान में पीछे हटता जा रहा है। एक सर्वजनसम्मत रात्रिभोजन की प्रवृत्ति की हानि पर विचार किया जाय, तो शास्त्रों से भी महान् अनुभव तथा प्रत्यक्ष बोध द्वारा इसकी हानि का सबको पता है, फिर भी साधनसम्पन्न व्यक्ति भी इस आदत से नहीं छूटता। एक बात भारत सरकार द्वारा मुद्रित बालभारती में छपी थी-''एक बार एक लड़की उस दूध को पी गई, जिसमें एक मक्खी गिर गई थी।''रात्रि को भोजन करने में ऐसी बातें अनेक बार हो जाती हैं, क्योंकि सूर्य-प्रकाश के अभाव से दीपक के उजेले में अनेक कीड़े स्वयं भोजन में आकर आत्मसमर्पण करते हैं। कभी-कभी उनका शरीर स्थूल रहा, तो दृष्टिगोचर हो गए और बहुधा छोटे शरीर वाले हुए, तो पता भी नहीं चलता कि रात्रिभोजन में उनका क्या हो गया।''उस लड़की ने बिना देखे दूध को पी लिया। मरी मक्खी पेट में चली गई। उससे उस लड़की का बुरा हाल हुआ। वह मर गई। डाक्टरों ने उसकी बीमारी समझने का प्रयत्न किया था, किन्तु प्रता नहीं चल पाया। जब उसके शव की परीक्षा की गई, तब पता चला कि मक्खी जहरीली थी। उसके साथ

जहरीले कीटाणुओं ने शरीर में प्रवेश किया था।"

हिन्दी जगत् के सुपरिचित विद्वान पं. रामनरेश त्रिपाठी ने **'नवनीत'** बम्बई में वैदिक मिशनरी **'रुचिराम की मक्का यात्रा'** एक लेख छपाया था, उसमें उन्होंने लिखा था, "अदन में दो माह रहने के बाद पंडित रुचिरामजी जुकार मुकाम में पहुँचे। वहाँ उन्होंने दो दिन का पानी भर लिया। बद्दुओं ने उनकी केटली में ऊटनी का दूध भर दिया। कुछ खजूर भी दिए। चलते-चलते वे रास्ता भूल गए और शाम को एक जंगल में जा निकले। उन्होंने लकड़ियाँ जमाकर आग जलायी, खाना पकाया। चाय पी और वहीं सो गए। आधा दूध सोते समय पी लिया और आधा रात्रि में जब प्यास लगी, तब पी लिया। सबेरे उनको जोर का बुखार चढ़ आया। केटली को देखा, तो सारी केटली चीटियों से भरो थी। बुखार का कारण समझ में आ गया। आधी रात के दूध में चीटियाँ भी थी, जिन्हें वे पी गये थे।" **(नवनीत-हिन्दी मासिक, नवम्बर १९६८)**

इन उदाहरणों के प्रकाश में विवेकी मानव अपना कर्त्तव्य सोच सकता है। धर्म के नाम पर न सही, अपने हित के नाम पर तो ऐसे बहुत-से नियमों को सहज ही अपना सकता है, किन्तु विषयासक्ति के कारण मनुष्य विकारों से विमुक्त होने का पुरूषार्थ नहीं करता है और दैव की गोद से बच्चे की तरह सोया करता है। आत्मविकास के लिये गीता का अध्याय ६, श्लोक ५ का यह उपदेश विश्व के लिये हितप्रद है -

उद्धेरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

अर्थ : अपने द्वारा अपनी आत्मा का उद्धार करे और अपनी आत्मा को अधोगति में न पहुँचावे, क्योंकि जीवात्मा आप ही अपना मित्र है, आप ही अपना शत्रु है। यह जीव आत्मशक्ति तथा कर्त्तव्य को भूलकर स्वयं का शत्रु बन रहा है। यह अपने अमूल्य नरजन्म को विषय भोग में व्यतीत करता है।

बालस्तावत् क्रीड़ासक्तः, तरुणस्तावत् तरूणीरक्तः।
वृद्धस्तावत् चिन्तामग्नः परमे ब्रह्मणि कोपि न लग्नः[1]॥

इसका भाव इस हिन्दी पद्य में दिया गया है -

खेलकूद में बीता बचपन, रमणी राग रङ्ग-रत यौवन।
शेष समय चिन्ता में डूबा, इससे हो कब ब्रह्माराधन॥

जिस प्रकार कुम्भकार का चक्र पूर्व संस्कार के प्रभाव से पुनः गमन हेतु प्रेरणा न मिलने पर भी भ्रमण करता रहता है, इसी प्रकार जिनके पास आत्मशोधन तथा जीवन को

---

१. "भजगोविन्दम् स्तोत्र" -चक्रवर्ती राजगोपालाचारी (पृ.७)

विशुद्ध बनाने योग्य सर्व प्रकार की अनुकूलता रहती है, वे कीर्ति की लालसा से बाहर से आकुलताओं को खरीदने का प्रयत्न करते हैं और दोष कर्मों को देते फिरते हैं।

कवि भूधरदासजी ने लिखा है -''सुबुद्धि रानी से उसकी एक सखी कहती है, कि तेरा पति आत्मदेव दुःखी हो रहा है। वह तो बहुत अच्छा है, किन्तु इस पुद्गल (जड़ तत्त्व) ने उसे कष्ट में डाल दिया है।'' कवि के शब्दों में -

कहै एक सखी सुन री सुबुद्धि रानी।
तेरा पति दुःखी देख लागे उर आर है॥
महा अपराधी एक पुद्गल है छहों माँहि।
सोई दुःख देत दीखे नाना परकार है॥

अपने पति की दूषित वृत्ति की आलोचना करती हुई सुबुद्धि देवी न्यायपूर्ण बात कहती है, कि मेरा पति ही अपने दुःख का बीज बोता है। उसका दोष दूसरे के ऊपर लादना ठीक नहीं है। सुबुद्धि की अपनी प्रिय सखी से अपने पति की कटु समालोचना कितनी सत्य है, यह प्रत्येक तत्वज्ञ सोच सकता है -

कहत सुबुद्धि आली कहा दोष पुद्गल को,
अपनी ही भूल लाल होत आप ख्वार है।
खोटो दाम आपनी सराफै कहा लगे वीर,
कोउ को न दोष मेरो भोंदू भरतार है॥

अविद्या के कारण इस जीव की रुचि इतनी विकृत हो गई है कि यह आत्मा के अहितकारी कार्यों में आनन्द की कल्पना करता है। यह बालू को पेर तेल पाने को महाकष्ट उठाता है, किन्तु बालू के भीतर तेल का अभाव होने से वह उद्योग व्यर्थ जाता है, इसी प्रकार बाह्य पदार्थ में आनन्द न होने से उसकी वहाँ खोज सर्वदा निराशा रूप में ही परिणित होती है।

दार्शनिक इमरसन ने कहा है-'एक समय अनेक लोगों ने बहुत शस्य-श्यामला भूमि पर अधिकार जमाया। वे अपनी जागीर में घूमते हुए गर्व का अनुभव कर रहे थे। वे कहते थे यह भूमि तो हमारी है।' उस समय पृथ्वी से प्रतिध्वनि उत्पन्न हुई -

They call me theirs
Who so controlled me;
Yet everyone
Wished to stay, and is gone,
How am I theirs
If they cannot hold me
But I hold them ?

अर्थ : जिन्होंने मुझ पर अधिकार जमाया, उन्होंने कहा कि यह पृथ्वी हमारी है।

प्रत्येक ने चाहा कि वह यहाँ निवास करे, किन्तु वह चला गया। बताओ ! मैं उनकी किस प्रकार हूँ, जबकि वे मुझे पकड़ नहीं सकते, किन्तु मैं ही उनको अपने आधीन करती हूँ।

विश्व का सर्वोच्च प्रहरी हिमालय बता सकेगा, कि इस भारत देश पर तथा दूसरी जगह अपना प्रभुत्व जमाने कितने व्यक्ति, जातियों आदि का पदार्पण नहीं हुआ और अब उनका नाम भी ज्ञात नहीं है। इतिहास के पृष्ठों में जिन देशों की पुरातन युग में वैभवपूर्ण स्थिति बताई जाती है, वहाँ विनाश तथा शून्यता का अखण्ड साम्राज्य है।

महाकवि जिनसेन ने महापुराण में बताया है कि चक्रवर्ती भरतेश्वर विविध देशों पर विजय-प्राप्ति के उपरान्त वृषभाँचल नामक एक सुन्दर पर्वत के समीप पहुँचे। उस समय तक भरतराज अपने को विश्व में अप्रतिम पृथ्वीपति सोचते थे, किन्तु उस पर्वत के पास पहुँचने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि असंख्य शासक इस पृथ्वी के स्वामी बने थे और वे सब चले गए। उस पर्वत पर परम्परा के अनुसार प्रतापी नरेश चक्रवर्ती का नाम उत्कीर्ण रहता है, उस क्रम के अनुसार पर्वत पर अपने नाम की प्रशस्ति अंकित करने को भरतेश्वर तैयार हुए। महाकवि कहते हैं- "चक्रवर्ती भरत ने काकिणी रत्न लेकर ज्योंही वहाँ लिखने की इच्छा की, त्योंही उन्होंने वहाँ हजारों चक्रवर्ती राजाओं के नाम अंकित देखे। असंख्यात करोड़ कल्पों में जो चक्रवर्ती हुए थे, उन सबके नामों से भरे हुए उस वृषभाचल को देखकर भरत को बहुत ही विस्मय हुआ। तदनन्तर जिसका गर्व कुछ दूर हुआ है, ऐसे चक्रवर्ती ने आश्चर्ययुक्त होकर इस भरतक्षेत्र की भूमि को अनन्य-शासन (अन्य के शासन) रहित नहीं माना।"[१] उस समय चक्रवर्ती भरतेश्वर के अन्तःकरण में यह बात अंकित हुई कि विश्व के मध्य उसकी असाधारण स्थिति नहीं है। जब तक मोह का नशा नहीं उतरता, तब मनुष्य अद्भुत कल्पना-जाल में स्वयं को कैदी बनाया करता है।

मोह पिशाच के द्वारा छला गया जीव प्रभुता पाकर स्वयं का पतन करते हुए दूसरों की दुर्गति का भी कारण बनता है। उदाहरणार्थ वाममार्गियों का प्रश्रय पाकर धर्म का कितना विकृत रूप बनाया गया कि उसका विचार करते ही सच्चे धर्मवालों के हृदय पर वज्रपात-सा होता है। इस वाममार्ग के मुख्य केन्द्र विक्रमशिला, काश्मीर तथा बंगाल

---

१. काकिणी रत्नमादाय यदा लिलिखिषत्ययम्।
तदा राजसहस्राणां नामान्यत्रैक्षताधिराट्॥ १४१॥
असंख्यकल्पकोटीषु येऽतिक्रान्ता धराभुजः।
तेषां नामभिराकीर्णं तं पश्यन् विसिष्मये ॥१४२॥
ततः किंचित् स्खलद्गर्वो विलक्षीभ चक्रिराट्।
अनन्यशासनामेनां स मेने भरतावनीम् ॥ १४३॥

-आदिपुराण, पर्व ३२

थे। श्री के.एम. पनिक्कर ने लिखा है कि वाममार्ग के केन्द्रस्थलों की बड़ी दयनीय स्थिति थी-"एक साधु शराब की बोतल सहित विक्रमशिला के विश्वविद्यालय में पाया गया। इस संबंध में पूछे जाने पर उसने कहा कि वह मदिरा उसे उसकी प्रेयसी भिक्षुणी ने दी थी। विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने उसके विरुद्ध अनुशासन की कार्यवाही करने का जब विचार किया, तब विश्वविद्यालय के सदस्यों में दो पक्ष हो गए। इस प्रकार काफी झगड़ा बढ़ गया। इन लोगों की आराधना में मांस, मीन, मदिरा तथा स्त्री-सेवन की अनुज्ञा थी। मनुष्य-बलि तक विधेय थी। इनके ग्रन्थ में यह उल्लेख आया है कि पूजा में नरमांस भो आवश्यक था, जिसे वे लोग महाप्रसाद कहकर उदरस्थ करते थे। मदिरा के साथ मानव-रक्त भी पिया जाता था।"[१]

आज भी कभी-कभी पत्रों में ऐसा वर्णन पढ़ने में आ जाता है-"अमुक साधु के वेषवाले व्यक्ति ने बच्चों को उड़ाकर उनका वध करके अपनी नररक्त प्रेमी देवी का आशीर्वाद प्राप्त किया।"ऐसे लोग भी अपने को महान् धर्म का अंग कहते हैं।

शान्तभाव से धर्मो के इतिहास का परिशीलन करने वाले को यह स्पष्ट हो जायगा कि ऐसी पतनकारी प्रवृत्तियों के कारण ही सच्चा धर्म भी लांछित किया जाने लगा और उसी का यह परिणाम हैं कि[२] जन-साधारण का हृदय धर्म के बन्धन से विमुक्त रहने में अपना कल्याण सोचता है। शुद्ध स्वर्ण सदृश धर्म एक रूप है। उसे लोग विविध नाम देते हैं। एक शायर ने कहा है :-

---

1. "In religion also this degeneration was apparent...The Left Hand Marge had taken deep roots and a nursery for it existed at Vikramasila, Kashmere and Bengal. The following incident, which took place in Vikramsila will show how deep was the cancer which had eaten into the vitals of national life.

   A priest studying at the university was discovered with a bottle of wine. When asked he stated that it was given to him by a nun, whom he used to meet. The authorities of the university decided to take disciplinary action, but on this the members of the university split into two factions and great trouble followed....

   Every thing was permitted in this worship - fish, flesh, wine, women.Even human-sacrifice was allowed. One passage would seem even to indicate that human flesh was also used in worship and consumed as Mahaprasad. Blood of men along with wine was also used."

   -A SURVEY OF INDIAN HISTORY". K.M. Pannikker, p.105

2. "There is only one religion, though there are a hundred versons of it"
   - Bernard Shaw

तुम राम कहो, वह रहीम कहे, दोनों की गरज अल्लाह से है।
तुम दीन कहो, वह धर्म कहें, मंशा तो उसी की राह से है॥

लोग अपनी भोगलिप्सा की पूर्ति के लिए धर्म तथा उसके आश्रयरूप देवी, देवताओं को उन बातों से अभिभूत बताते हैं, जिन दुर्बलताओं से मोही मानव व्यथित हो रहा है। उदाहरणार्थ, किसी तम्बाखू प्रेमी कविराज ने यह कविता बना दी कि कृष्णमहाराज भी तम्बाखू खाते थे -

कृष्ण चले वैकुंठ को, राधा पकड़ी बाँह।
यहाँ तमाखू खाय लो, वहाँ तमाखू नाँहि॥

ऐसा ही काल्पनिक चित्रण अनेक विलासी तथा व्यसनी लोग करते है। भगवान् के नाम पर लोग अपनी विषयलोलुपता की पूर्ति करते हैं। ऐसे कार्य का दुष्परिणाम क्या होगा, यह विलासी लोग नहीं सोचते हैं। गीता (अध्याय १६, श्लोक २१) में नरक अवस्था में जीवात्मा के पतन के त्रिविध तमोद्वारों का इन शब्दों में कथन किया गया है -

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
काम : क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

अर्थ : नरक के तीन द्वार कहे गये हैं- काम, क्रोध तथा लोभ। इनके द्वारा आत्मा का अधःपतन होता है, इससे इन तीनों का त्याग करना चाहिए।

यदि हम शान्त भाव से विचार करें, तो उपरोक्त उक्ति अक्षरशः सत्य प्रतीत होगी। इनमें सर्वोपरि स्थान लोभ का है। जैन पूजा में कहा है-"लोभ पाप का बाप बखाना"। अंग्रेजी में सूक्ति है -"**No vice like avarice**"। आज भारत राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो गया है, किन्तु वह लोभ के जाल में फँसकर भयंकर रूप से पराधीन हो गया है। अहिंसा का पुण्य नाम लेने वाला शासन मांसाहार तथा जीव-वध को प्रेरणा देता है। जीववध द्वारा वह धन-संचय करने के पथ में लग रहा है। जीवघात द्वारा धन कमाना धीवर, कसाई आदि का कार्य रहा है। अहिंसावादी शासन जीवघात द्वारा गरीबी दूरकर संपन्नता का स्वप्न देखता है। यह भयंकर भ्रम है। अहिंसावादी रहते हुए गरीबी वरदान है। शीलवती महिला फटे वस्त्रों में रहती हुई भी रत्नालंकृत वेश्या से अच्छी है। शासन अव्यवस्था के द्वारा धन का अपार अपव्यय करता है तथा धन-लाभ के लिए वह धर्म-अधर्म की तनिक खबर नहीं रखता है।

इस कमाई के नशे में इस देश के सारथीगण यह नहीं सोचते कि बड़े-बड़े राष्ट्र उन्नति के शिखर पर चढ़कर पापों के कारण पतन के गहरे गर्त में ऐसे गिरे हैं कि उनका पता भी नहीं चलता है। अतः यह जानना जरूरी है कि हिंसा, पापाचार और विलासिता से युक्त यह भौतिक उन्नति का भवन भी बहुत समय तक नहीं टिकेगा। बड़े-बड़े निरामिष परिवार में

जन्मधारण करने वाले व्यक्ति जब शासन के पदाधिकारी बन जाते हैं, तब वे मांसाहार, मत्स्याहार आदि को उचित बताने वाले भाषण देते है।[1] ये बन्दर बेचते हैं, मछली बेचते हैं और न जाने क्या-क्या बेचकर राष्ट्रकोष भरने की सोचते हैं तथा विलासिता की सामग्री बढ़ाकर देश को पश्चिमी सभ्यता के आदर्श के अनुसार समुन्नत देखना चाहते हैं।

ये गणतंत्र शासन के वाहक जिनको पिता, बापू कह कर देशवासियों के समक्ष अपने को गांधीभक्त सूचित करते हैं, उन गांधीजी के ही उपदेश पर यदि दृष्टि दें, जो उन्होंने सन् १९४६ में अमेरिकावासियों को दिया था, तो इनकी श्यामवृत्तियों में शुभ्रता का पदार्पण हो सकता है, "मेरा ख्याल है कि अमेरिका का भविष्य उज्ज्वल है। वह धन को उसके सिंहासन से हटाकर ईश्वर के लिए थोड़ी जगह खाली करे। लेकिन अगर वह धन की ही पूजा करता रहा, तो उसका भविष्य अन्धकारमय है, फिर लोग चाहे जो कहें। धन आखिर तक किसी का सगा नहीं रहा। वह हमेशा बेवफा (बेईमान) दोस्त साबित हुआ है।" (२१-१०-१९६० **नई दिल्ली प्रेस्टन ग्रोवर के साथ बातचीत में**)। भारत देश ने त्याग तथा त्यागी की पूजा की है। यदि उसका मार्गदर्शन करने वालों ने अपना रवैया न बदला, तो या तो वे देश को विनाश की स्थिति में पहुंचा देंगे अथवा जनता को अधर्म की ओर ले जाने वालों का साथ छोड़ना पड़ेगा।

मनुष्य जीवन अल्पकाल स्थायी है। शीघ्र ही सावधानीपूर्ण प्रवृत्ति का आश्रय करना श्रेयस्कर है। स्वामी विवेकानन्द उपनिषद् का यह वाक्य अपने श्रोताओं को सुनाया करते थे- "त्यागेन अमृतत्वं आनशुः" त्याग के द्वारा अमृतत्व (**Immortality**) की प्राप्ति होती

---

१. नागपुर दैनिक "नवभारत" २ अक्टूबर, १९५३ के नवभारत में कांग्रेसी सरकार की सूचना छपी थी, "बन्दर मारो, इनाम लो। प्रत्येक बन्दर मारने पर ५/- तथा ५ से अधिक बन्दर मारने पर १/- की दर से पुरस्कार दिया जावेगा। जो व्यक्ति ५ से कम बन्दर मारेगा, उसे कोई पुरस्कार नहीं दिया जायगा।"

सन् १९५५ के ६ फरवरी के "हितवाद" में लन्दन का समाचार छपा था कि भारत की हाईकमिश्नर श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित से दयाप्रेमी अंग्रेजों का शिष्टमण्डल मिला था। उसने निवेदन किया था कि लन्दन केबन्दरगाह पर से दो वर्षों में एक लाख बन्दर अमेरिका भेजे गये थे, "The deputation pointed out that in last two years hundred thousand monkeys have passed through London airport for the United States." दयाप्रेमी शिष्टमंडल ने बन्दरों को न भेजे जाने की प्रार्थना की थी। उन बन्दरों का नाश वैज्ञानिक कार्यों में किया जाता था।

बम्बई के मुख्य मंत्री ब्राह्मण जातीय स्व. खेर ने मछली के मांस की स्तुति करते हुए उसे खाने की प्रेरणा की थी। आरम्भ में धार्मिक परिवार में जन्म धारण करने वाले बंबई गवर्नर ने अण्डा खाने का उपदेश दिया था। मांसाहार का महत्व बताने का प्रचारकार्य भारत शासन का खाद्य विभाग करता ही है। स्वतंत्र भारत में भयंकर रूप से जीव-वध शासन के कारण बढ़ता जा रहा है, यह महान् दुःख की बात है। दया-प्रचार का जोरदार प्रयत्न राष्ट्रहितार्थ आवश्यक है, अन्यथा हिंसा, पतन का हेतु बनेगी।

है। समझ में नहीं आता कि गांधीवादी भारत के भाग्यविधाताओं का ध्यान सादगी की साकार मूर्ति सेवाग्राम की कुटी की ओर क्यों नहीं जाता ? लुई फिशर ने गांधीजी के विषय मे लिखा है-'**Gandhi is the symbol of lifelong renunciation and dedication.**' गांधीजी आजीवन त्याग तथा आत्मसमर्पण के प्रतीक के रूप थे। गांधजो ने कहा था मेरा जीवन ही तुम्हारे लिए मेरा संदेश है।(**My life is my message.**)

दो हजार वर्ष पूर्व ग्रीस देश सभ्यता तथा समृद्धि के शिखर पर था। उस देश की अप्रतिम विभूति सुकरात का जीवन सार्वजनिक शान्ति के मार्ग को सूचित करता हुआ प्रतीत होता है। जहाँ आज तरह-तरह की आवश्यकताओं को उत्पन्न करके उनकी पूर्ति हेतु कल, कारखानों तथा उनके लिए धन-संग्रह के लिए भारत लालायित है, वहाँ सुकरात कहता था कि-"जितनी जरूरतों को तुम कम करोगे, उतना ही तुम परमात्मा के सदृश बनोगे।"[१] सुकरात ने आवश्यकताओं को अल्पतम करते हुए जीवन व्यतीत करने का अभ्यास कर लिया था। सुकरात बाजार में जाकर विविध विक्रययोग्य वस्तुओं को देखकर सोचता था, इनमें से किन-किन पदार्थो के बिना मेरा काम चल सकता है?[१]

जब समाज में त्यागी पुरुषों की वृद्धि होती है तब राष्ट्र उन्नत होता है। भारत के स्वतंत्रता संग्राम में लोकमान्य तिलक, देशबन्धु चित्तरंजनदास, मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपतराय आदि महानीय विभूतियों के त्याग के फलस्वरूप गांधीजी ने भारत को विजयी बनाया था। आज त्यागियों का स्थान स्वार्थियों ने, "**Selfless**" की जगह पर "**Selfish**" लोगों ने ग्रहण किया और वे स्वार्थी (**Selfish**) लोग मछली बेचने का (**Sell Fish**) धन्धा करने लगे। इस हिंसा के कारण देश की जनता सुखी नहीं है, यद्यपि बहस द्वारा तथा कल्पित आँकड़ों के आधार पर अथवा अन्य लोगों की सम्मतियाँ बताकर हमें बच्चों की तरह समझाया जाता है कि अब तुम्हारी हालत बहुत अच्छी हो गई, तुम उन्नत हो रहे हैं। यह भी विनोदप्रद बात है। क्षीण शरीर व्यक्ति में यदि बल की वृद्धि होती है, उसका वजन बढ़ता है, तो क्या उसे मालूम नहीं पड़ता ? क्या उसे समझाया जाता है कि तुम अब स्वास्थ्य के क्षेत्र में प्रगति कर रहे हो ? यदि देश भौतिक विकास से सुखी हो रहा है, तो उसका अनुभव क्यों नहीं हो रहा है, दुःखों की वृद्धि क्यों हो रही हैं ?

वास्तव में शान्ति और उन्नति का मार्ग आत्मा के गुणों को विकसित करना तथा विलासिता से विमुख होना है। जब मनुष्य भोग-विलास की ओर कदम बढ़ाता है, तो वह कुछ काल के पश्चात् पतन को प्राप्त करता है। इतिहास इस बात का साक्षी है,

---

1. He trained himself to live in the most frzugal manner. "How many things I can do without ?" he would exclaim on looking at the goods exposed for sale in the market- places. -**'The Paths of Peace' by H. Bills.**

कि विषयों के दास दीपक के पास दौड़कर आने वाले पतंगा की दशा को प्राप्त करते हैं। विषयजनित आनंद कृत्रिम (artificial) है। उसमें स्थायीपन नहीं है। वह विपत्ति प्रचुर भी है। स्वावलम्बन तथा सदाचार द्वारा उपलब्ध आनन्द अपूर्व होता है।

समंतभद्र स्वामी ने सम्भवनाथ भगवान् के स्तवन में इंद्रियजनित सुख की मीमांसा करते हुए लिखा है -

शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यम्, तृष्णामयाप्यायनमात्र हेतुः।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रम् तापस्तदायासयतीत्यवादीः ॥ ३ ॥

अर्थ : भगवन् ! आपने कहा है कि इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला सुख बिजली की चमक के समान क्षणस्थायी है। वह सुख तृष्णारूपी रोग का एकमात्र हेतु है। उसके सेवन करने से विषयों की लालसा बढ़ती है। यह तृष्णा की वृद्धि निरन्तर संतप्त करती है। उसी कारण यह संताप जगत् को कृषि, वाणिज्यादि कार्यों में प्रवृत्त कराकर अनेक प्रकार के कष्टों से दुःखी बनाता है।

जिस ३० जनवरी १९४८ के दिन गोडसे ने गोली मारकर गांधी जी की जीवनलीला समाप्त की थी, उस दिन प्रभातकाल में वे शायर के इस गीत को ध्यान से सुन रहे थे :

है बहारे बाग दुनिया चन्द रोज। देख लो इसका तमाशा चन्द रोज॥

अर्थ : यह जगत् एक बगीचे के समान है, जिसमें सौरभ तथा सौन्दर्य थोड़ी देर निवास करते हैं । यह स्थायी आनन्द का स्थल नहीं है। इसका तमाशा कुछ समय पर्यन्त रहता है, उसे देख लो। वह आसक्ति के योग्य नहीं है।

इस क्षणिक आनन्द तथा वैभव के पीछे मनुष्य तो क्या, सांस्कृतिक संपत्ति का उत्तराधिकारी यह देश भी आँख बन्दकर सुख-प्राप्ति के मार्ग पर दौड़ लगा रहा है। भारतवासियों को, शासकों तथा शासितों को महाभारत के शान्तिपर्व में प्रतिपादित भीष्म की पुण्यवाणी को ध्यान में रखना चाहिए -

"धर्मेण निधनं श्रेयः, न जयः पापकर्मणा।"

अर्थ : धर्म (अहिंसात्मक जीवन) के साथ मृत्यु अच्छी है, पाप कार्यों के द्वारा विजय भी बुरी है।[1] पाप की आधारशिला पर अवस्थित अभ्युदय वास्तविक आनन्द और शान्ति से दूर रहता है। किसी भवन की नींव में यदि मुर्दा डाल दिया जाय और उस पर दया के देवता का मंदिर बनाया जाय, तो क्या उस स्थान पर भगवती अहिंसा का निवास होगा ? दया के देवता के मंदिर की नींव में रक्त नहीं, प्रेम का अमृत सींचा जाना चाहिए। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपना 'स्व' अपने शरीर तथा परिवार को ही नहीं मानकर प्राणीमात्र को अपना

1. "Death through Dharma is better than victory through a sinful act"
- The Mahabharata Condensed, Madras, P. 401

सोचे तथा माने। सच्ची करूणा की सृष्टि में संपूर्ण जीव समान दिखते हैं। माता को सुस्वादु वस्तु अपने बच्चों को खिलाने में जितना आनन्द आता है, उतना आनन्द अकेले अपना पेट भरने में नहीं आता। जो व्यक्ति नकली नहीं, असली आनन्द चाहता है, उसे अपने आपको समुद्र की तरह गम्भीर तथा विशाल बनाना चाहिये।

रवि बाबू ने अपने विश्वकवि की प्रतिष्ठा के अनुरूप ये शब्द कहे थे- '**महाशान्ति महाप्रेम, महापुण्य महाप्रेम।**' महान् प्रेम ही महान् पुण्य है, उसके समीप ही महा शान्ति का निवास रहता है। योगसूत्र में लिखा है(**सूत्र ३५, द्वितीय पादः**)-

अहिंसा प्रतिष्ठायां, तत्सन्निधौ वैर त्यागः।
सहजविरोधी-नामहिनकुलादीनां वैरत्यागः॥

अर्थ : अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर उसके सन्निधान होने पर निसर्ग से विरोधी सर्प-नकुलादि जीवों में वैरभाव छूट जाता है।

अहिंसा की सुव्यवस्थित रीति से श्रेष्ठ साधना का मार्गदर्शन जैनग्रंथों में किया गया है। अहिंसा की सफल साधना करने वालों में चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् मगधदेश की राजधानी राजगृह के विपुलाचल पर आये थे। उस समय भगवान् के समवशरण (धर्मसभा) में विद्यमान पशुओं में अद्भुत मैत्री की ज्योति जगी थी। जिनसेन स्वामी ने महापुराण में उस मैत्री की एक मधुर झाँकी इस प्रकार दी है। सम्राट् श्रेणिक (बिम्बसार) ऋषिराज गौतम गणधर से कहते हैं -

सिंह-स्तनन्धयानत्र करिण्यः पाययन्यमूः।
सिंहधेनुस्तनं स्वैरं स्पृशन्ति कलभा इमे॥ २-१३॥

अर्थ : प्रभो! इधर ये हथनियाँ सिंह के बच्चो को अपना दूध पिला रही हैं तथा सिंहनो के स्तनों का दूध हाथी के बच्चे स्वेच्छा से पी रहे हैं। सम्राट् श्रेणिक पुनः कहते हैं -

तपोवनमिदं रम्यं परितो विपुलाचलम्।
दयावनमिवोद्भूतं प्रसादयति मे मनः॥ २-१७॥

अर्थ : नाथ! विपुलाचल के चारों ओर का यह तपोवन बड़ा रमणीय है। यह मुझे दयावन के रूप में उत्पन्न हुआ अत्यन्त प्रिय लगता है।

अहिंसा आध्यात्मिक तथा लौकिक उन्नति की जननी सदृश है। जिनेन्द्र भगवान् के एक हजार आठ नामों में महादयः शब्द आया है उसका भाव है कि भगवान महादया युक्त हैं, उनको 'महोदय' भी कहा है, क्योंकि उनका उदय अर्थात् उनकी उन्नति भो महान् है। 'महान-दया' का 'महान-उदय' के साथ सम्बन्ध है। भगवान को 'महादमः', महाइन्द्रिय विजेता भी कहा है, क्योंकि उन्नति का आरम्भ इन्द्रिय विजय तथा आत्मनिर्मलता द्वारा सम्पादित होता है। डॉ. राधाकृष्णन् ने देहली में महावीर जयन्तो

१९६३ पर कहा था-"आज के संकट के समय महावीर भगवान् का इंद्रियजय तथा संयम, वीरता आदि गुणों की बड़ी आवश्यकता है।"

काम क्रोध, लोभ, मान, माया आदि विकारों के कारण ही यह जीव अविनाशी आनन्द को नहीं प्राप्त कर पाता। अबोध बालक मिट्टी के ढेर में अवर्णनीय सौन्दर्य तथा विभूति की कल्पना करके प्रसन्न होता है, पश्चात् ज्ञान के विकास होने पर उसे अपनी भूल तथा भोलेपन का पता चलता है, इसी प्रकार मोहरूपी अन्धकार के दूर होने पर मनुष्य को वस्तुस्थिति का सम्यक् अवबोध होता है। इस मोह के कारण लौकिक विद्या के महान् विद्वान तथा सर्व प्रकार के वैभवादि सम्पन्न प्राणी अज्ञवत् चेष्टा करते हैं। जब यह जीव चिंतन अवस्था में पदार्थों के तथा अपने स्वरूप पर विचार करता है, तब यह सोचता है कि मैं अब तक गहरे अन्धकार में था, जो मैंने अपने आत्मस्वरूप को नहीं जाना।

विश्व के महापुरूष आत्मा के ज्ञान को सुख का मूल बीज बताते हैं।"आत्मानं विद्धि (**Know Thyself**) आदि शब्द उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालते हैं। *सर्वथा एकाकी जीवन बिताने वाला कन्फ्यूशस कहता था-"मैं पहले अपने को भलीभाँति* जानना चाहता हूँ। मेरा अनुभव है कि अपने को जानना बड़ा कठिन कार्य है।"

महर्षि कुन्दकुन्द ने लिखा है (मोक्षप्राभृत-६५)-

दुक्खे णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणा दुक्खं।
भविय-सहावपुरिसो विसएसु विरज्जए दुक्खं॥

अर्थ : इस आत्मा का ज्ञान बहुत कठिनता से होता है। आत्म-बोध होने पर उसकी भावना कठिन कार्य है। आत्मा की भावना करने वाला पुरूष बड़ी कठिनता से विषयों से विरक्त होता है। भोगासक्ति त्यागना आत्मविकास का प्राण है।

जवाहरलाल नेहरू ने कहा है-"त्याग, अनुशासन, संयम के बिना कोई भी मुक्ति की आशा नहीं है। गांधीजी सारा बल चरित्र पर देते थे।"आत्मस्वरूप की उपलब्धि के लिए विशेष ज्ञान भी आवश्यक है। ऐसे जीव जिनके मन नहीं है, आत्मोपलब्धि के उद्योग से वंचित हो जाते हैं। मनुष्य जीवन में सहज ही सर्वप्रकार की अनुकूल सामग्री है, किन्तु यह जीव भूल जाता है कि यदि मैंने शीघ्र हित-सम्पादन नहीं किया, तो मेरा जीवन सूर्य अस्तंगत हो जायगा। इमरसन ने लिखा है- **Life is too short to waste** (जीवन इतना थोड़ा है कि उसमें से क्षणभर भी बरबाद नहीं किया जा सकता।) अतःआत्मविकास की ओर ध्यान जाना चाहिए। [1]असली आनन्द का भण्डार बड़े भवनों तथा भौतिक विकास-

---

1. "you will do the greatest services to the state if instead of raising the roofs of the houses, you will raise the souls of the Citizens, for it is better that great souls should dwell in small houses than that mean slaves should lurk in great ones."

केन्द्रों में नहीं है, आत्मा को महान् बनाने में व्यक्ति तथा राष्ट्र का हित है।

पश्चिम के एक विद्वान ने यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि शासन के नागरिकों के घरों के छतों को ऊँचा करने में राष्ट्र की उतनी सेवा तुम नहीं कर सकते, जितनी कि उनको आत्मा को विशाल बनाकर कर सकते हो। भौतिक विकास द्वारा प्राप्त सुख कृत्रिम है तथा अल्पकाल तक टिकता है। सारा जगत् अज्ञानवश उस सुख में ही मस्त हो रहा है।

पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है -

वपुः गृहं धनं दाराः पुत्र मित्राणि शत्रवः।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ॥

अर्थ : शरीर, घर, धन, स्त्री, मित्र, शत्रु ये सब जीव से भिन्न स्वभावयुक्त हैं, किन्तु अज्ञानी जीव इन सब को अपना मानता है।

जिसने वास्तविक तत्वज्ञान को प्राप्त कर लिया है, वह विवेकी व्यक्ति भोग तथा मोह के मार्ग से विमुख होकर श्रेष्ठ त्याग को अङ्गीकार करता है। एक सत्पुरूष कहते हैं-

Chastise your passions so that they may not Chastise you.

(तुम्हें अपनी वासनाओं पर नियंत्रण रखना चाहिए, ताकि वे तुम्हें दण्डित न करें।)

इस युग में आत्मविद्यारूप श्रेयोमार्ग का प्रदर्शन प्रथम जैन तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने किया था। उन्होंने प्रजापति के रूप में लोगों को लौकिक सुख और शांति के मार्ग पर लगाया था। जब उनकी दृष्टि मोह के अन्धकार की न्यूनता होने पर विशेष विशुद्ध बनी तब उन्होंने महान् राज्य का परित्याग कर दिगम्बर मुद्रा धारण की थी। उनका श्रेष्ठ व्यक्तित्व वैदिक साहित्य में भी निरूपित किया गया है। भागवत में भगवान् ऋषभदेव को वासुदेव का अंश कहते हुए उन्हें आत्मविद्या का पारगामी बताया है। भागवत में उनके लिए 'वासुदेवांशम्' शब्द आया है। उनके नौ पुत्र आत्मविद्या में निपुण दिगम्बर श्रमण हो गये थे। भागवत के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं (२०, अ. २, स्क. ११॥)-

नवाभवन्महाभागाः मुनयो ह्यर्थशंसिनः।
श्रमणा वातरशना आत्मविद्या-विशारदा ॥

वे दिगम्बर साधु सर्वत्र अव्याहतगति से विचरण करते थे (२३)-

अव्याहतेष्टगतयः सुरसिध्यसाध्यगन्धर्व यक्ष नर-किन्नर-नाग-लोकान्।
मुक्ताश्चरन्ति मुनि-चारण-भूतनाथविद्याधर-द्विजगवाँ भुवनानि कामम् ॥

एक समय महाराज निमि ने बड़े-बड़े ऋषियों के द्वारा एक महान् यज्ञ कराया था, तब यहाँ नव दिगम्बर श्रमण पहुँचे थे। उन्हें देखकर राजा निमि तथा अन्य महान् विप्र लोग खड़े हो गए थे, उन दिगम्बर साधुओं का महान् सन्मान किया था तथा उनकी पूजा की थी (**श्लोक २४, २५, २६, अ. २**)। भागवत(**४२, अध्याय १८, स्कन्ध ११**) में लिखा है

कि "भिक्षोर्धर्मःशमोऽहिंसा (साधु का धर्म शान्ति तथा अहिंसा है।)"

इस श्रेष्ठ अहिंसा धर्म की चर्चा करना सरल है, उस पर निर्दोष रूप से आचरण करना महान् आत्माओं का काम है। इस अहिंसा की साधना के लिए दिगम्बर वृत्ति तथा निःसङ्ग अवस्था आवश्यक है। जैसे सरोवर में एक छोटा-सा पाषाण-खण्ड फेंकने पर लहरें उठती हैं, इसी प्रकार बाह्य कामिनी, कंचनादि का जरा भी सम्बन्ध मन को वीतरागता से गिराकर रागी, द्वेषी, मोही आदि विकार भाव सम्पन्न कराता है। इन्द्रियों के कारण ही जीव का मन चंचल होता है। गीता में कहा है (६०, अध्याय २) - "इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरंति प्रसभं मनः (इन्द्रियाँ प्रमथन स्वभाव वाली है, वे बलपूर्वक मन को अपनी ओर खींचती हैं।)"

बाह्य पदार्थों का आश्रय पाकर आसक्ति उत्पनन्न होती है, उससे कामना जागती है, इसके निमित्त से क्रोध पैदा होता है। क्रोध से अविवेक, उससे स्मृति का नाश होता है, इसके द्वारा बुद्धि-विवेक का नाश होता है, इससे यह श्रेयोमार्ग से गिर जाता है (गीता, श्लोक ६१, ६२, अध्याय २)-

> ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
> सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते॥
> क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः।
> स्मृति-भ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

वास्तविक आनन्द की उपलब्धि जड़ पदार्थों में नहीं है। सच्चा सुख सदाचारी आत्मा को उपलब्ध होता है। दैवी सम्पत्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है, 'दैवी संपद्विमोक्षाय' (५, १६)। जैन शास्त्रों में उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य तथा ब्रह्मचर्य ये दस धर्म कहे गए हैं।[1] दिगम्बर जैन साधु में ये दस गुण पाये जाते हैं। इन्हीं गुणों का उल्लेख दैवी सम्पत्ति के रूप में गीता में पाया जाता है। वास्तव में ये गुण ही नर को नारायण रुपता प्रदान करते हैं। पहिले पावन-प्रवृत्ति के पथ में संलग्न मानव आत्मोत्कर्ष करता चला आया है, आज का भ्रान्त व्यक्ति जड़ तत्व के उद्धार में दीवाना बन अपने दिव्य वैभव को भूला हुआ है। प्रत्येक सत्पुरुष का ध्यान गीता के इन पद्यों पर जाना चाहिए (अध्याय ६, श्लोक १,२,३)-

> अभयं सत्व - संशुद्धिर्ज्ञान - योग - व्यवस्थितिः।
> दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
> अहिंसा - सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
> दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥

---

१. उत्तमक्षमा-मार्दवार्जव-सत्य-शौच-संयम-तपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः॥

- तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९, सूत्र ६.

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवंति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ।।

अर्थ : हे अर्जुन ! अभय, अन्तःकरण की शुद्धता, ज्ञानयोग में दृढ़स्थिति, दान, इन्द्रियों के दमन, पूजा, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शांति, निन्दा न करना, सर्वजीवों में दया, इन्द्रियों की लोलुपता का त्याग, कोमलता, लज्जा, चंचलता का त्याग, तेज, क्षमा, धैर्य, अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग पवित्रता, शत्रुभाव का त्याग, अभिमान का अभाव, ये दैवी सम्पत्ति प्राप्त पुरुष के लक्षण कहे गए हैं।

आत्मा का पतन कराने वाली सामग्री आसुरी सम्पत्ति कही गई है। कोई भी व्यक्ति हो, कितना भी बड़ा, लोकमान्य हो, धर्म के क्षेत्र में भी जिसने अपना आसन जमाया हो, यदि उसमें आसुरी सम्पत्ति का विष है, तो उसकी कोई भी रक्षा नहीं कर सकता है। बड़े-बड़े धर्मों के सत्ताधीश बनने वालों में ये विकार पाए जाते हैं। आत्महितार्थ इस गीतोक्त सत्य को सभी धर्मवालों को हृदय में स्थान देना चाहिए।

गीता में कहा है (**अध्याय १६, श्लोक ४**)-

दंभो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ।।

अर्थ : हे अर्जुन ! दम्भ (पाखण्ड), घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोर वाणी तथा अज्ञान ये आसुरी सम्पत्ति प्राप्त व्यक्ति के चिन्ह हैं।

यदि धार्मिकों के हृदयों में दैवी तथा आसुरी सम्पत्ति का स्वरूप अंकित हो, तो जैसे लोमहर्षक धार्मिक अत्याचार पूर्व में हुए हैं, उनकी पुनरावृत्ति न हो। यह भ्रम है कि धर्म के नाम पर किए गए क्रूर कर्म तथा आसुरी आचरण उन्नति प्रदान करेंगे।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था (**अध्याय १६, श्लोक २०**)-

आसुरीं योनिमापन्नामूढ़ा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ।।

अर्थ : हे कौन्तेय ! मूढ़ प्राणी जन्म-जन्मांतरों में आसुरी योनि को प्राप्त हुए। वे मुझको न प्राप्त कर अत्यन्त अधम नरकादि गतियों को प्राप्त होते हैं।

इस ज्ञान-ज्योति के उज्ज्वल प्रकाश में उन लोगों का जीवन देखा जा सकता है, समझा जा सकता है, जो अहिंसा की शरण ग्रहण करते हैं। अथवा जो हिंसादि पापाचरण तथा दम्भादि विकारों के कारण निर्विचार हो कार्य करते हैं। जो लोग अपने को गीताभक्त कहते हुए अहिंसादि दैवी संपत्ति से समलंकृत दिगम्बर श्रमणों अथवा अन्य शान्ति के उपासकों पर तामसी भावों से प्रेरित हो अपने में आसुरी वृत्ति को स्थान देते हैं, उनको क्या गति होगी, यह उपरोक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है ? सात्विक शिक्षा के प्रचार से

धार्मिक मैत्री उत्पन्न होती है। जैनशास्त्रों में कहा है, जो हीनाचरण करता है, वह कुगति में जाता है। अपने को जैन कहनेवाला यदि पापाचरणी है, तो वह आत्मा उन्नतिपूर्ण स्थिति को प्राप्त नहीं करेगी, क्योंकि व्यक्ति का भविष्य उसके उज्ज्वल अथवा मलिन भावों पर आश्रित है। एक जैन महर्षि कहते हैं -

इंद्रियाणि वशे यस्य यस्य दुष्टं न मानसम्।
आत्मा धर्मरतो यस्य सफलं तस्य जीवितम्॥

उस जीव का जीवन सफल है, जिसके वश में इन्द्रियां हैं, जिसका हृदय दुष्ट नहीं है तथा जो सदा धर्म-कार्यो में संलग्न रहता है।

यदि शान्त भाव से वैदिक विद्वान् अपने साहित्य को देखें, तो उनके हृदय में जैनधर्म, जैन देवता तथा जैन साधुओं के प्रति आदर तथा प्रेम-भाव सहज ही उत्पन्न होगा। जैन दिगम्बर मूर्तियाँ काम, क्रोध तथा लोभ रूप नरक के कारण त्रिविधि दोषों से रहित हो, अकाम, अक्रोध तथा अलोभ वृत्ति की स्पष्ट प्रतीक हैं। जैन साधु जब दिगम्बर स्थिति को प्राप्त करते हैं, तब वे गीता की परिभाषा के अनुसार ब्राह्मी स्थिति सम्पन्न "स्थितप्रज्ञ" सत्पुरूष के रूप में सम्मान के योग्य हो जाते हैं। उनका आदर न करके उनके अभद्र भावों को व्यक्त करना स्वधर्म की पवित्र आज्ञा का उल्लंघन करना क्या नहीं है ? दिगम्बर जैन मुनि परमशान्ति स्वरूप, सर्वकामनाओं से मुक्त तथा पाणिपात्र महातपस्वी होते हैं। उन परम ब्रह्मचर्य से समलंकृत साधुओं का विहार सुभिक्ष तथा समृद्धि का कारण कहा गया है।

स्थितप्रज्ञ का स्वरूप गीता में इन शब्दों में कहा गया है **(अध्याय २, श्लोक ५५)** -

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

अर्थ : हे अर्जुन ! यह पुरूष मनोगत सर्व कामनाओं का त्याग करता है, उस काल में आत्मा के द्वारा ही आत्मा में सन्तुष्ट हुआ स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

शीत, उष्ण, क्षुधा, प्यास, दंश, मशक, दिगम्बरत्व आदि की कठिनाइयों को सहन करने वाले जैन मुनिराज के विषय में यह गीता की उक्ति कितनी सत्य तथा उपयुक्त है, यह विचारवान् व्यक्ति सोच सकता है **(गीता, अध्याय २, श्लोक ५६)** -

दुखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतराग-भय-क्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

अर्थ : जो दुःखों से घबराते नहीं, सुखों में जिनकी तनिक भी इच्छा नहीं है, जो राग, भय तथा क्रोध से विमुक्त है, वह स्थितप्रज्ञ मुनि कहा गया है -

सामान्य श्रेणी का मानव तो श्रेयोमार्ग में संलग्न साधुओं तथा तपस्वियों के जीवन से प्रकाश पाता हुआ गृहस्थ जीवन व्यतीत करता है, किन्तु उसकी आकांक्षा भर्तृहरि

(वैराग्यशतक) के शब्दों में इस प्रकार रहती है -

एकाकी निस्पृहो शान्तः पाणिपात्रों दिगम्बरः ।
[1] कदाऽहं संभविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः ।। ८६ ।।

अर्थ : भगवन् ! मैं अकेला, स्पृहारहित, शान्त, करपात्र में भोजन करने वाला तथा कर्मो का मूलोच्छेद करने में समर्थ दिगम्बर मुनि कब बनूंगा ?

इस दिगम्बर अवस्था के प्राप्त होने पर मनुष्य अगणित चिन्ताओं तथा मनोव्यथाओं से मुक्त होकर उस उच्च शांति को प्राप्त करता है, जिसकी बड़े से बड़े नरेश, वैभवशाली गृहस्थ, श्रेष्ठ गौरवशील राजनीतिज्ञ आदि स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकते। दुनिया की उलझनों में फँसे व्यक्ति को क्षण भर भी चैन नही मिलती है। लोकोपकार, लोकसेवा आदि सत्कार्यो के द्वारा आनन्द और अभ्युदय मिलते हैं, किन्तु निःश्रेयस, निर्वाण-मुक्ति, अविनाशी सुख का उपाय विश्व से विमुख होकर आत्मा की ओर उन्मुख होकर जीवन को वीतराग, वीतमोह बनाना है। अध्यात्मविद्या के रसिक विद्वान् महाकवि बनारसीदासजी का आत्मोन्मुखता की ओर प्रेरणा देने वाला भजन मनन योग्य है। अध्यात्म का महत्व न आँकने के कारण कोई-कोई विदेशी आध्यात्मिकता में **'World Flight'**-दुनियाँ से दूर भागने की कल्पना करके अकर्मण्यता का दर्शन करते हैं, किन्तु यदि उन्हें यह पता चल जाय कि साधु तपोवन में जाकर चुपचाप अकर्मण्य नहीं बैठता है, वह क्रोध, मान, माया आदि अन्तरंग शत्रुओं से घोर संग्राम करता है, तब वे यह समझेंगे कि उस अवस्था को **'Spiritual Flight'** आध्यात्मिक-संग्राम कहना सुसंगत होगा। बनारसीदासजी कहते हैं -

दुविधा कब जै हे या मन की ।।टेक।।
कब निजनाथ निरंजन सुमिरौं, तज सेवा जन जन की ।।१।।
कब रुचि सौं पीवै दृग चातक, बूँद अखय पद धन की।
कब शुभ ध्यान धरौं समता गहि, करूँ न ममता तन की ।।२।।
कब घट अन्तर रहै निरन्तर, दिढ़ता सुगुरु वचन की।
कब सुख लहौं भेद परमारथ, मिटै धारना धन की ।।३।।
कब घर छाँड़ि होहु एकाकी, लिये लालसा वन की।
ऐसी दशा होय कब मेरी, हौं बलि बलि वा छन की ।।४।।

गांधीजी राजनैतिक नेता होते हुए भी गहरी आध्यात्मिक रुचि वाले सत्पुरूष थे, इसी से उन्होंने इग्लैंड के तत्कालीन प्रधानमंत्री चर्चिल को एक पत्र लिखकर कहा था -"मेरी तीव्र इच्छा है कि मैं दिगम्बर साधु बनूँ, यद्यपि मैं अभी उस अवस्था को प्राप्त नहीं कर सका हूँ।" वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत करने के स्थान में जो व्यक्ति एक झोपड़ी में रहकर

---

१. कहीं-कहीं, "कदाशंभो" भी पाठ मिलता है।

अपनी आवश्यकताओं को न्यून करते हुए अपना जीवन व्यतीत करता था, उस पुरूष की दृष्टि भौतिकता मोतियाबिन्दु के रोग से विमुक्त होने से स्वच्छ थी। देशवासियों को स्वेदशी सामग्री का उपयोग करने का उपदेश देने वाले गांधीजी आत्मा के लिए देह को भी परदेशी सोचते थे। जहाँ 'स्व' शब्द आत्मा का वाचक बनता है, वहाँ जड़ देह उस चैतन्य ज्योतिर्मयी आत्मा से भिन्न ही ठहरी, अतः उससे मुक्ति प्राप्त करना ही सच्चे अर्थ में स्वदेशी बनना कहा जायगा। उसी विशुद्ध प्रकाश में अपने देश पर अपना शासन 'स्वराज्य' न होकर अपनी आत्मा को भोग तथा विषयों के कुचक्र से छुड़ाकर आत्मा में अवस्थित होना 'स्वराज्य' है। उस स्वराज्य को स्वामी महापुराणकार के शब्दों में 'धर्म-साम्राज्य-नायक' भी कहा जाता है। यरवदा जेल में बैठे हुए कैदी शरीरवाले गांधीजी ने सन् १९३० में वे अनमोल शब्द लिखे थे- ''आत्मा के लिए स्वदेशी का अंतिम अर्थ सारे सम्बन्धों से आत्यंतिक मुक्ति है। देह भी उसके लिए परदेशी है।'' ऐसी स्थिति को प्राप्त कराने की क्षमता अपने हाथ से काते गए सूत से बने खादी के वस्त्र में नहीं है। वह वस्त्र भी परदेशी है। उसके लिए दिशारूपी वस्त्र धारणकर या तो दिगम्बर होना पड़ेगा अथवा वस्त्रमात्ररहित निरम्बर होना आवश्यक होगा। सहस्रनाम पाठ में परमात्मा के वाचक शब्दों मे यह कहा है -

''दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रंथेशो निरम्बरः''

अर्थ : भगवान दिशारूपी वस्त्रों को धारण् करने से दिग्वासः हैं, पवनरूपी करधनी से समलंकृत होने से वातरशनः हैं, मोह की ग्रन्थि (गाँठ) रहित होने के कारण निर्ग्रंथों के ईश्वर हैं तथा अम्बर अर्थात् वस्त्ररहित होने से निरम्बर हैं।

इस प्रसङ्ग में गांधीजी के ये उद्‌गार बड़े अनुभवपूर्ण प्रतीत होंगे-''आदर्श आत्यन्तिक अपरिग्रह तो उसी का होगा, जो मन से और कर्म से दिगम्बर है। मतलब, वह पक्षी की भाँति बिना घर के, बिना वस्त्रों के और बिना अन्नके विचरण करेगा। इस अवस्था को तो बिरले ही पहुँच सकते हैं।''आज जो लोग भौतिक अभ्युदय को अपने जीवन का लक्ष्य बनाए हुए हैं, तथा उस लक्ष्य की प्राप्ति में कृतार्थता की कल्पना किए हुए हैं, उन भारत के कर्णधारों को अपने पूज्य बापू के इन शब्दों की गहराई हृदयंगम करने का कष्ट करना चाहिये -''सच्चे सुधार का, सच्ची सभ्यता का लक्षण परिग्रह बढ़ाना नहीं है, बल्कि उसका विचार और इच्छापूर्वक घटाना है। ज्यों-ज्यों परिग्रह घटाइये, त्यों-त्यों सच्चा सुख और सच्चा सन्तोष बढ़ता है।'' **(गांधीवाणी, पृ. २५६)**

जैन कवि की यह वाणी सप्राण, विशुद्ध तथा वास्तविक है -

चाह घटी चिन्ता हटी मनुआ बेपरवाह।
जिन्हें कछू नहिं चाहिए वे शाहनपति शाह॥

ऐसी पवित्र तथा परिशुद्ध स्थिति प्राप्त करने के लिए इस जीव को जड़तत्व को

आराधना को छोड़कर अनंतशक्ति के अक्षयभण्डार आनंदमय आत्मा का आश्रय लेना होगा। जड़ पदार्थ की संगति से ही जीव की दुर्दशा होती है। अग्नि जब लोहे की संगति करती है, तब वह लुहार के द्वारा घनों की मार सहन करती है। परमानंद स्तोत्र में लिखा है -

सदानंदमयं जीवं यो जानाति स पण्डितः।
स सेवते निजात्मानं परमानन्द-कारणम्॥

अर्थ : जो जीव को सदा आनन्दमय जानता है, परमार्थ दृष्टि से वह ज्ञानी है, पंडित है। वह श्रेष्ठ आनन्द के कारणस्वरूप अपनी आत्मा की आराधना करता है।

सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव ने इस आत्मा को ज्ञानस्वरूप कहा है। यह आत्मा स्वशरीर प्रमाण है। संसारी जीव कर्मों द्वारा बद्ध है, इससे कर्मों के अनुसार जितना छोटा-बड़ा शरीर प्राप्त होता है, जीव भी उसी प्रकार संकोच विस्ताररूप होता है। आत्मा शरीर के बाहर नहीं है तथा वह शरीर व्यापी है, वह विश्वव्यापी नहीं है, यह जैनागम का कथन अनुभव तथा विज्ञानसम्मत है। अतः आत्मा का चिंतवन करने वाले मानव को अपने शरीर प्रमाण ज्ञानस्वरूप आत्मा का विचार करना चाहिए। महान् योगी पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में आत्मा का स्वरूप इस प्रकार कहा है -

स्व-संवेदन-सुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यन्त-सौख्यवान् आत्मा लोकालोकविलोकनः॥

अर्थ : यह आत्मा स्व का अर्थात् अपने आपको संवेदन (ज्ञान) के द्वारा भली प्रकार जाना जाता है। यह शरीर प्रमाण है। इस आत्मतत्व का क्षय नहीं होता, यह अविनाशी आनन्द वाला है। यह लोक तथा अलोक का दर्शन करने की सामर्थ्य सम्पन्न है।

शुभचंद्राचार्य ने लिखा है कि यह जीव पशु, मनुष्यादि की पर्यायों में पाया जाता है। उसका कारण यह कर्मोदय है-'सर्वोयं कर्मविक्रमः'। मैं अनंतज्ञानादि सम्पन्न हूँ, इससे विपक्षी कर्म रूप विषवृक्ष को क्यों न जड़मूल से उखाड़ूँ ? किन्तु'प्रोन्मूलयाम्यद्य प्रतिपक्षविषद्रुमम्।' इस अध्यात्म विद्या के यथार्थ रहस्य से अपरिचित अविवेकी अपने को वर्तमान पर्याय में ही पूर्णशुद्ध मानते हैं और सदाचार में अकर्मण्यता दिखाकर पाप-प्रवृत्तियों में प्रगति करते हैं। अतः मुमुक्षु का कर्त्तव्य है कि वह वैराग्य भाव को जगाकर आत्मा में प्रवृत्ति करे।

पंचाध्यायी (श्लोक २३२, उत्तरार्ध) में सम्यग्दृष्टि का लक्षण कहा है -

वैराग्यं परमोपेक्षाज्ञानं स्वानुभवः स्वयं।
तद्द्वयं ज्ञानिनो लक्ष्य जीवन्मुक्तः स एव च ॥

अर्थ : वैराग्य भाव-श्रेष्ठ उपेक्षा (अनासक्ति रूप) ज्ञान तथा स्वयं अपनी आत्मा का अनुभव करना, ये दो लक्षण सम्यक्ज्ञानी जीव के हैं। वह मानव जीवन्मुक्त कहा गया है।

आत्मज्ञानी में वैराग्य का दिव्यप्रकाश पाया जाता है। उसका अन्तःकरण वैराग्यरूप अमृत से परिपूर्ण रहता है। अन्य धर्मों में भी आत्मतत्व के अभ्यासी के लिए वैराग्य की महत्ता स्वीकार की गई है।

योगसूत्र में लिखा है -"योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥ अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥(**चित्त वृत्ति का निरोध योग है। चित्तवृत्ति की चंचलता का निवारण अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा साध्य है।**) गीता में भी कहा है (**अध्याय ६, श्लोक ३५**)-

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

अर्थ : हे अर्जुन ! इसमें सन्देह नहीं है कि मन चंचल है और उसे वश में करना कठिन है, किन्तु अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा वह वश में किया जाता है।

मनोजय के द्वारा ध्यान की सामर्थ्य प्राप्त होती हे, जिससे अनादिकालीन कर्मों की पर्वतसदृश राशि अंतर्मुहूर्त काल में नष्ट हो जाती है। आत्मविकास के प्रेमी भद्र पुरूषों को जैनाचार्य का यह मार्मिक तथा अनुभवपूर्ण मार्गदर्शन ध्यान देने योग्य है -

सङ्गत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणम्।
मनोक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मनः ॥

अर्थ : परिग्रह का त्याग करके दिगम्बर मुद्रा स्वीकार करना, राग-द्वेषादि मनोविकारों का दमन करना, व्रतों का पालन करना, मन तथा इन्द्रियों को जीतना यह ध्यान की कारणरूप सामग्री है। बाह्य धन-धान्यादि सामग्री के होने पर उस ओर सदा आसक्त होता है। उज्ज्वल महापुरुष आसक्तिमूल बाह्यसामग्री को किस हेतु पास रखेगा ? जड़ के त्याग से चैतन्य निखर उठता है।

कोई-कोई विषयासक्त व्यक्ति त्यागी जीवन की बुराई बताते हुए कहते हैं, जब भगवान् के ज्ञान में हमारा चारित्ररूप परिणमन आया होगा, तब हम चारित्र धारण करेंगे, मानो इन्होंने भगवान् के साथ इतनी निकटता प्राप्त कर ली है कि भगवान् इनके पास आकर इनको यह कहेंगे-"श्रीमान्जी, उठिये, अब आपका दीक्षाकल्याणक का समय आ गया है।" मानो भगवान् सर्वज्ञ को इन प्रमादियों ने अपना पहरेदार बना लिया है। ऐसे मोह के गुलाम प्रमादियों के प्रमुख को एक जैन कवि भजन में समझाते हैंः-

आवै न भोगन तैं तोहि गिलान॥ टेक॥
तीरथनाथ भोग तजि दीने तिन तैं भय मन आन।
तू तिनतैं कहुँ डरता नाँही, दीसत अति बलवान॥

इस प्रसंग में एक उर्दू के शायर की उक्ति स्मरण योग्य है, जो यह बताती है कि आचरण के द्वारा जीवन बनता है। उच्च पद या नीच अवस्था, मनुष्य के आचार पर

आश्रित है।

अमल से जिंदगी बनती है, जन्नत भी जहन्नुम भी।
ये खाकी अपनी फितरत में न नूरी है, न नारी है।।

मोह के कारण अंधा जीव विपरीत दृष्टि बन जाता है, उससे ही सब प्रकार के उपद्रव आरम्भ होते हैं। उस मोह को वश करने का उपाय यशोविजय उपाध्याय के ज्ञानसार में इस प्रकार कहा है -

अंह ममेति मंत्रोयं मोहस्य जगदांध्यकृत्।
अयमेव हि नञ्पूर्वः प्रतिमंत्रोपि मोहजित्।।

अर्थ : मोहरूपी जादूगर जिस मंत्र के द्वारा संसार को मूर्ख बनाता है, वह मंत्र है 'यह मेरा है'। इस मंत्र में निषेधवाचक शब्द "न" लगाकर जो यह विचार करता है कि यह जगत् मेरा नहीं है, मैं सुखी, दुःखी, धनवान्, गरीब आदि युक्त नहीं हूँ, तब (इस दृष्टि के द्वारा) मोह का जादू दूर हो जाता है।

जैसे सुवर्ण पीत वर्ण है, उसी प्रकार का पीलापन पीतल में भी पाया जाता है, इसी प्रकार सवर्ज्ञ शासन के द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक दृष्टि एवं इतर जनों द्वारा कहीं जाने वाली आत्मा की चर्चा में सामान्यतया आध्यात्मिकता का नाम मात्र से साम्य है। रत्नत्रय की ज्योति से समलंकृत आत्मदृष्टि मोक्षमार्ग है। उस आत्मा का क्या स्वरूप है यह मुमुक्षु को श्रद्धान में रखना चाहिए, इस सम्बन्ध में कुंदकुंदस्वामी ने प्रवचनसार में कहा है -

अरस-मरुव-मगंधं अव्वतं चेदणागुणमसद्दं।
जाणअलिंगग्गहणं जीव-मणिदिट्ठ-संठाणं।।१७२।।

अर्थ : जीव को रस रहित, रूप रहित, गंध रहित, स्पर्श रहित, शब्द रहित, किसी चिन्ह के द्वारा न ग्रहण करने योग्य व विशिष्ट आकार रहित जानो। नियमसार में कहा है -

एगो ये सासदों आदा णाण-दंसणलक्खणो।
ऐसा में बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।। १०२।।

अर्थ : तत्त्वदृष्टि से विचारने पर ज्ञात होगा कि मेरी आत्मा अकेली है। वह अविनाशी है तथा ज्ञान-दर्शन स्वरूप है। इसके सिवाय शेष पदार्थ मुझ से भिन्न हैं। वे संयोग लक्षण वाले हैं। बाह्य पदार्थों का मेरी आत्मा के साथ तादात्म्य भाव नहीं है।

जो जीव का ध्यान राग, द्वेष, मोहादि विषधरों से व्याप्त जगत् की ओर खींचते हैं, वे इस आत्मा को जन्म-जरा-मरण के संकटों से नहीं छुड़ा सकते ।

भैया भगवतीदासजी ने प्रेमभरी वाणी में जीव को समझाते हुए प्रार्थना की है, कि वह जड़ शरीर तथा धन-धान्य, कुटुम्बादि के मोह का त्याग करके अपना उद्धार करे। उनके उद्‌बोधक शब्द हैं -

अहो जगत के राय मानहु एती बीनती।
छोड़हु पर-परजाय, काहे भूले भरम में।।

इस आध्यात्मिक प्रकाश की उपलब्धि के लिए मनुष्य को अपना अन्तःकरण सम्यग्दर्शन से समलंकृत करना चाहिए। उसे सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी प्रभु का शरण ग्रहण करना होगा। यदि आराध्य विकारों का पुंज होगा, तो उसका आश्रय ग्रहण करने से कैसे कल्याण होगा ? सम्यग्दर्शन के साथ सम्यक्ज्ञान आवश्यक है। इनके साधारण जीवन-प्रवृत्ति आवश्यक है। जैन आगम में इसे रत्नत्रय का मार्ग कहा है। उसकी श्रेष्ठ साधना इस युग में अत्यन्त कठिन है। शारीरिक परिस्थिति, बाह्य वातावरण तथा श्रेष्ठ मनोजय इसके लिए आवश्यक है। आध्यात्मिक प्रकाशप्रद सामग्री दुर्लभ है।

चारित्र चक्रवर्ती श्रमणराज

यह भारत का सौभाग्य रहा, कि उसको चारित्र चक्रवर्ती श्रमणराज आचार्य शांतिसागर महाराज नाम के दिगम्बर जैन महर्षि के रूप में आध्यात्मिक ज्योति प्राप्त हुई थीं । उन्होंने श्रेष्ठ अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहादि की समाराधना की थी तथा ३६ दिन पर्यन्त आहार पान का परित्याग कर उच्च अहिंसा की साधना के हेतु कुन्थलगिरि की जैन तपोभूमि से १८ सितम्बर १९५५ के प्रभात में परलोक-यात्रा की थी। वे चन्द्रमा के समान अत्यन्त शीतल थे तथा सूर्य की भाँति तपस्या के तेज से अलंकृत थे। वह आध्यात्मिक ज्योति लोकोत्तर थी, जिसमें भानु तथा शशि की विशेषताएं केन्द्रित थी।

हमने इन श्रमणराज के समाधि लेने के पूर्व उनके पुण्य जीवन पर जो रचना बनाई थी, उसे 'चारित्र चक्रवर्ती' नाम से प्रगट किया था, क्योंकि वे चारित्ररूपी धर्मचक्र का प्रवर्तन कर रहे थे। उनका जीवन परोपकारपूर्ण समुज्ज्वल प्रवृत्तियों से समलंकृत था। इसके पश्चात् गुरूदेव ने आत्मशुद्धि तथा रत्नत्रय-साधना को अपने जीवन का केन्द्रबिन्दु बनाया था, इसलिए उन्होंने जनसम्पर्क को छोड़कर आत्माराधन के कल्याणपथ को अपनाया था। उन्होंने 'समाधिशतक' की इस उच्च शिक्षा द्वारा अपने जीवन को अनुशासित किया था

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः ।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ।। ७२ ।।

अर्थ : लोकसम्पर्क होने पर वचनालाप होता है, उससे मानसिक चंचलता होती है और चित्त में विभ्रम होता है, इसलिए योगी जनसम्पर्क का परित्याग करे।

वास्तव में वे परमयोगी हो गए थे, जिन्होंने शरीर पोषण से पूर्ण विमुखता धारण कर आत्मोन्मुखता प्राप्त की थी। उन गुरुदेव ने सल्लेखना के श्रेष्ठ क्षणों में एक बार यह रहस्यपूर्ण बात बताई, कि वे अनन्त सिद्धों की निवासभूमि सिद्धशिला पर चिन्तनशक्ति द्वारा पंहुचकर अपनी आत्मा का ही ध्यान करते थे। अतः उनका जीवन आध्यात्मिक

ज्योति रूप में रहा है। आचार्य शांतिसागर महाराज श्रेष्ठ आध्यात्मिक साधक थे, जिनका पूर्ण जीवन आत्मा में विद्यमान अनंत शक्तिसम्पन्न आत्मत्त्व की अभिव्यक्ति द्वारा परमपद की प्राप्ति रहा है। श्रेष्ठ संतजन उस परमपद के लिए ही आंतरिक जीवन-शोधन में निरंतर निरत रहा करते हैं। स्वामी विवेकानंद ने कहा था : "**Each Soul is potentially divine and the goal is to manifest the divinity that is within, by controlling nature external and internal**" - शक्ति की अपेक्षा प्रत्येक आत्मा दिव्यता समलंकृत है, जीवन का अंतिम ध्येय बाह्य तथा अंतरंग प्रकृति पर विजय प्राप्त करके उस आंतरिक दिव्यता की उपलब्धि करना है।

आज जो विश्व की नैतिक दृष्टि से अत्यन्त हीन परिस्थिति हो गई है, उस महारोग की औषधि सत्य, अहिंसा तथा अपरिग्रहत्व आदि से अलंकृत आचार्यश्री का पवित्र जीवन है। डॉक्टर राधाकृष्णन् के शब्दों में-"ये ही सच्चे तत्वज्ञानी हैं जो आत्मा के रोग को दूर करते है और हमें बंधन से बचाने में सहायक होते हैं।

आचार्य वीरसागरजी ने इन गुरूदेव के सम्बन्ध में एक चिरस्मरणीय महत्त्व की बात कही थी-"आचार्य महाराज का पुण्यप्रताप हमने मनुष्यों के सिवाय पशुओं पर भी देखा है। सन् १९२८ में आचार्य महाराज का संघ शिखरजी जा रहा था, रास्ते में बैलों के झुण्ड में से चार मस्त और उद्दण्ड बैल बंधन तोड़कर संघ की ओर भागे और आचार्य महाराज के पास पहुंचे। उनकी मुद्रा देखते ही वे एकदम शांत हो गये और उन शांति के सागर के चरणों के सन्मुख नतमस्तक हो गये। देखने वालों के नेत्रों में आँसू आ गये। लोग कहने लगे, इन जानवरों को इतना ज्ञान है कि साधुराज को प्रणाम करते हैं।" उनके ये शब्द बड़े मार्मिक थे- "तीर्थयात्रा करनी है, तो शिखरजी जाओ, अद्भुत मूर्ति के दर्शन करना हो, तो श्रवणबेलगोला में भगवान् गोमटेश्वर की दिव्य प्रतिमा के समीप पहुंचो और यदि साधुराज के दर्शन करना हो, तो आचार्य श्री शांतिसागर महाराज के समीप पहुँचो।"

अब वे साधुराज समाधि-मरण द्वारा जीवन को कृतार्थ कर स्वर्गीय निधि बन गये। उन क्षपकराज शांतिसागर महाराज के पुण्यचरणों को शतशत प्रणाम है। जिनेन्द्र से प्रार्थना है -

गुरुमूले यतिनिचिते-चैत्य-सिद्धान्त-वार्धि-सद्घोषे।
मम भवतु जन्म-जन्मनि सन्यसन-समन्वितं मरणम्॥

अर्थ : हे देव, जहाँ साधुओं का समुदाय विद्यमान हो, ऐसे आचार्य के समीप, जिन प्रतिमा के समीप अथवा जहाँ सिद्धान्तरूपी समुद्र की पुण्य घोषणा श्रवणगोचर होती हो, ऐसे स्थानों में जन्म-जन्म में मेरे समाधिसहित मरण हों।

२६ जनवरी, १९७२

पं.सुमेरुचंद्र दिवाकर
दिवाकर सदन, सिवनी (मध्यप्रदेश)

चारित्र चक्रवर्ती-
एक अध्ययन

भाषाशास्त्र की अपेक्षा यदि विचार किया जाये तो चारित्र-चक्रवर्ती यह विशेषण है ।। यह विशेषण किसी व्यक्ति विशेष का द्योतक नहीं है।। किसी व्यक्ति विशेष का द्योतक न होते हुए चक्रवर्ती के गुणों से युक्त किसी भी पुरुष के साथ प्रयुक्त किया जा सकता है/ किया जाता है, किंतु यह विशेषण ही जिसका पर्यायवाची बन जाये ऐसा भो एक महामानव/महापुरुष इस पृथ्वी तल पर १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ व उसने बीसवीं सदी के मध्य तक इस धराधाम को पवित्र किया।।

जी हाँ !! यह महामना, महामानव और कोई नहीं, अपितु थे युग श्रेष्ठ परम पूज्य १०८ आचार्य शांति सागरजी महाराज, जिन्हें युग चारित्र चक्रवर्ती कह कर पुकारता था।।

इस महामना महामानव ने मात्र बुधजनों के मध्य नहीं और न ही मात्र सामान्य जनों के मध्य, अपितु बुधजनों व सामान्य, दोनों जनों के मध्य दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, संवेग व वैराग्य रूपी षट्खण्डों पर न सिर्फ अपना अधिपत्य सिद्ध किया, अपितु इसकी सिद्धि के मार्ग में आने वाले समस्त सचित्त, अचित्त व मिश्र बाधकों को भी अपने अनुकुल किया।।

मैं इन्हीं चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर जी के श्री चरणों में नतमस्तक होता हुआ उनके चक्रवर्तीत्व को सिद्ध करने वाला आख्यान कहने जा रहा हूँ, भविजनों से विनती करता हूँ कि वे एकाग्रचित्त हो इस आख्यान को न सिर्फ सुनें, अपितु सुनकर गुनें भी, क्योंकि ऐसे महापुरुष का आख्यान सुनना व सुनकर गुनना निकट भव्यता को प्राप्त करने का अत्यंत सरल व सुगम मार्ग है।।

मेरा जन्म आचार्य श्री के समाधिमरण के ४ वर्ष पश्चात् हुआ।। यह सत्य इस तथ्य को उजागर करने को पर्याप्त है कि मेरा आचार्य श्री से प्रत्यक्षी करण नहीं हुआ, आचार्य श्री से मेरा परिचय परोक्ष रहा।।

किंतु नहीं, इस तथ्य को भी सर्वदेश समीचीन नहीं कहा जा सकता।। इसे सर्वदेश समीचीन वही कहेगा जिसे आयु के दो भेदों का ज्ञान नहीं होगा।। आयु दो प्रकार की होती है।। प्रथम वह जिसे कि जीव अपने साथ बांधकर लाता है, जो कि नाशवान है, चिर्-स्थायी नहीं है और दूसरी वह जो कि व्यक्ति को अपने कृत्यों से मिलती है।। श्रुत के माध्यम से उसके कृत्य पीढ़ी दर पीढ़ी होते हुए, गुण ग्राह्यों का वास जिस काल तक रहता

है, तब तक उसे जीवित रखते हैं, मरने नहीं देते।। इस विवक्षा से श्रुत से जाना हुआ परोक्ष होकर भी, परोक्ष नहीं प्रत्यक्ष ही है, क्योंकि जिसने प्रत्यक्ष जाना है, उससे भिन्न को जानने वाला यह नहीं है, अपितु उसी को जानने वाला है।।[1] अतः मैं भी आचार्य श्री को किसी न किसी अपेक्षा से प्रत्यक्ष जानने वालों में से ही हूँ, उनसे पृथक नहीं।

हाँ !! मैं आचार्य श्री को श्रुत से जानता हूँ।।

श्रुत, जो कि आचार्य श्री के काल में आचार्य श्री के कृत्यों से प्रभावित होकर उस काल के श्रुतज्ञानियों ने लिखा अथवा वे, जिन्होंने कि आचार्य श्री का प्रत्यक्षीकरण किया, व उस प्रत्यक्षीकरण को कहा।।

जिन्होंने आचार्य श्री का प्रत्यक्षीकरण किया व उसे कहा उनकी संख्या वर्तमान में अल्प है, किंतु हाँ !! आचार्य श्री के विषय में जो लिखा गया, वह साहित्य विपुल है।।

मेरे सम्मुख आचार्य श्री के समय में आचार्य श्री के विषय में सतत जानकारी देनेवाली पत्र-पत्रिकायें रखी हुई हैं, जिनमें मुख्य हैं शोलापुर से प्रकाशित होने वाला जैन बोधक, सूरत से प्रकाशित होने वाला जैन मित्र, जैन गजट, खण्डेलवाल हितेच्छु आदि-आदि।।

इन्हीं के साथ एक-दो आचार्य श्री के संबंध में लिखे जानेवाले चारित्र ग्रंथ भी हैं।। सन् १९३१ में सेठ जीवराज गौतमचंद जी ने मराठी में लिखा था।। उनके पश्चात् पंडित वंशीधर जी शास्त्री परवार (सोलापुर वाले) ने १९३३ में हिन्दी में लिखा।। इनमें से वंशीधर जी के द्वारा लिखित चारित्र विक्रम संवत् १९८८ तक हुए तेरह चातुर्मासों का सिलसिले वार ब्यौरा देनेवाला अद्‌भूत संकलन ग्रंथ है।। इसका प्रकाशन संवत् १९९० सन् १९३४ में किया गया था।। इनके अतिरिक्त आचार्य श्री के शिष्य मुनिवर्य कुंथुसागरजी[2] ने भी १९३६-३७ में आचार्य श्री का संस्कृत भाषा में छंदबद्ध चारित्र लिखा था।।

इनके अतिरिक्त और भी प्रकाशन हुए होंगे, नहीं ही हुए होंगे, ऐसा हम दावा नहीं कर सकते, किन्तु हाँ !! अभी वे मेरे सम्मुख नहीं है।।

मेरे इस आख्यान का आधार मुख्यता से उपर्युक्त उल्लेखित श्रुत ही हैं, इन श्रुतों से अन्य और कुछ नहीं।।

नहीं-नहीं, एक और श्रुत-ग्रंथ है चारित्र-चक्रवर्ती।। इसे पूर्व के प्रकाशित साहित्यों, कुछ साक्षात्कारों, कुछ स्मृति से व कुछ डायरी में स्वयं लेखक द्वारा लिखे गये आवश्यक

---

१. नाम निक्षेप से, स्थापना निक्षेप से व द्रव्य निक्षेप से

२. मुनिवर्य कुंथुसागर जी के विषय में स्वयं आचार्य भगवंत ने इस प्रकार कहा है (चारित्र चक्रवर्ती, संस्करण १९९७, पृष्ठ २२३, उपशीर्षक : कुंथुसागर, मूल शीर्षक : प्रभावना)- "जब यह पहले आया था, तब इसको कुछ शास्त्र का बोध नहीं था। धीरे-धीरे पढ़ने का योग लगाया। बुद्धि अच्छी थी। बहुत शीघ्र होशियार हो गया। संस्कृत में कविता करने लगा। भाषण देने लगा।"

नोट्स के आधार पर लिखा गया है।। इस चारित्र ग्रंथ के लेखन में पं. सुमेरुचंद्रजी दिवाकर को पुरुषार्थ की अपेक्षा दैव ही अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ।।[1]

आचार्य श्री उन्हीं युग श्रेष्ठ बिरले पुरुषों में से एक थे जिनके पास जीने को सिर्फ कर्मायु नहीं होती, अपितु श्रुतायु भी होती है।। वह श्रुतायु, जो उन्हें कालातीत बनाकर सतत जीवित रखती है गुण ग्राह्यों के मन व मानस में।।

जिन व जितने प्रमाणों में वे अपने अनुयाइयों/अनुगामियों के भीतर जीवित रहते हैं, उन व उतने ही प्रमाणों में वे जीवित रहते हैं अपने प्रतिपक्षियों/प्रतिद्वंदियों/ आलोचकों के भी मन व मानस में, क्योंकि इन्हें विस्मृत कर प्रतिपक्षियों/प्रतिद्वन्द्वियों के पास अपने इष्ट की सिद्धि का कोई उपाय ही नहीं है।। अतः आचार्य शांतिसागर जीवित हैं, अपने अनुयाइयों के चित्त में भी और अपने आलोचकों के चित्त में भी।।

यहाँ बहुमूल्य प्रश्न यह है कि कोई किसी का अनुयायी अथवा प्रशंसक होता भी है, तो क्यों होता है ? ऐसा अंततः क्या हो जाता है कि कोई किसी का अनुयायी अथवा प्रशंसक होने को बाध्य हो जाता है ?

इस प्रश्न का उत्तर मनोवैज्ञानिकों ने दिया है।। प्रत्येक व्यक्ति अपने चित्त में निश्चित आदर्शों का निर्धारण किये रहता है।। उन आदर्शों को जब स्वयं में नहीं पाता, तब अन्यों में टोहता है।। जिनमें वे आदर्श पाये जाते हैं अथवा जो इन आदर्शों के अनुरूप होते हैं, वे उस व्यक्ति के इष्ट हो जाते हैं।। इस विषय में जो तथ्य सर्व प्रथम देखा जाता है, वह यह कि वह व्यक्ति संत की परिभाषा के अंतर्गत आता है या नहीं ? संत की परिभाषा के अंतर्गत आते ही लोगों का उसकी ओर देखने का नजरिया बदल जाता है।। यह नजरिया अनुयायी होने का प्रारंभ है।। किंतु इतना ही पर्याप्त नहीं है, अनुयायी इससे अधिक की अपेक्षा करता है।।

वह अधिक ही उस संत को अन्यों से पृथक कर श्रुतायु देता है।।

यहाँ स्वाभिवक प्रश्न किया जा सकता है कि यह अधिक क्या है अथवा क्या इस अधिक ने ही आचार्य श्री को चक्रवर्ती बना दिया था ।।

जी हाँ !! इस अधिक ने ही आचार्य श्री को आचार्य श्री से चक्रवर्ती बना दिया था।। जैसे चक्रवर्ती ६ खण्ड को अपने अधीन करता है, ठीक वैसे ही चारित्र चक्रवर्ती ने अपने विशिष्ट चारित्र के बल से ६ भिन्न-भिन्न प्रकार के चित्तों/मानसों पर अपने रत्नत्रयमय जीवन का साम्राज्य स्थापित कर दिया था।। प्रभावित होने के ६ प्रकार के कारणों के

---

१. इस विषय में लेखक महोदय स्वयं ही लिखते हैं कि (चारित्र चक्रवर्ती, संस्करण १९९७, प्रस्तावना, पृष्ठ ६)-"...आचार्य श्री के जीवन की घटनाओं का अल्प परिचय हमें सचिन्त बनाता था। ..... परमात्मा का नाम-स्मरण और आचार्य श्री के चरणों को प्रणाम करते हुए मैं जब लिखने बैठता था तो विपुल सामग्री मिलती जाती थी।"

सद्भाव से, प्रभावित होने वाले मानस/चित्त भी ६ प्रकार के हो जाते हैं :-

१) परिषहजय से प्रभावित, २) तप से प्रभावित, ३) प्रज्ञा से प्रभावित, ४) जनोत्कर्ष/निर्बलोत्कर्ष प्रभावित, ५) दूरदर्शिता से प्रभावित, ६) सल्लेखनाकी साधना से प्रभावित.

आइये, आचार्य श्री से प्रभावित इन ६ प्रकार के चित्तों पर प्रभाव छोड़ने वाली ६ प्रकार की चारित्राध्यिकता का आचार्य श्री में अन्वेषण करें :-

१) परिषह जय से प्रभावित : संसार में संतों द्वारा किया गया परिषह जय, सभी को आकर्षित कर ही लेता है, ऐसा नहीं है।। कुछ लोग हैं, जिन्हें परिषह जय आकर्षित नहीं करता।। आकर्षित ही नहीं करता, ऐसा नहीं, आकर्षित तो करता है, किंतु श्रद्धा उत्पन्न नहीं कराता।। श्रद्धा इसलिए उत्पन्न नहीं कराता, क्योंकि यह परिषह जय अन्य मतियों में भी पाया जाता है।। किन्तु इस संसार में कुछ ऐसे भी हैं, जिन्हें परिषह जय श्रद्धानी बना देता है।।

इन्हीं श्रद्धनियों के लिए आचार्यश्री का जीवन महान आदर्श रूप है।।

कोन्नूर चातुर्मास के समय हुए सर्प के उपसर्ग ने जहाँ संपूर्ण दिगम्बर जैन समाज को चौंकाया, वहीं एक बहुत बड़े वर्ग को आचार्यश्री के चरणों की ओर दौड़ाया भी।।

इस घटना के कई प्रत्यक्षदर्शी भी थे।। उन प्रत्यक्षदर्शियों द्वारा जैसे-जैसे समाचार दूर-दराजों में फैलते गये, वैसे-वैसे आँखों में आश्चर्य व अचंभे के भाव लिये कई सौ श्रद्धानी आचार्य श्री के चरणों की ओर इस चिंतन के वशीभूत हो दौड़ पड़े कि क्या कलिकाल में भी ऐसी विभूति संभव है ? कई लोगों ने तो शंकास्पद हो आचार्य श्री को छू कर भी देखा कि यह हमारी ही तरह हाड़-मांस का ही पिण्ड है या किसी और मिट्टी का बना।।

इस घटना ने कई चित्रकारों को प्रभावित किया।। इन चित्रकारों ने इस घटना को चिरस्मृत बना दिया।। तीन प्रकार के चित्र आचार्य श्री के इस अलौकिक स्वरूप का बखान करते दिगदिगन्तों में पहुँच गये।। हुआ यहाँ तक कि चित्र दक्षिण में बने व छपे जबलपुर व कलकत्ता में ।। इस घटना का बखान करती तस्वीरें तो कई बनीं, किन्तु उन तस्वीरों में भी प्रसिद्ध सिर्फ तीन हुई :

१) इस तस्वीर में सर्प ने कुंडली मारकर आचार्य श्री की गर्दन को घेर लिया है व सर पर फन फैलाये नृत्य कर रहा है।।

२) इस तस्वीर में दृश्य तो उपर्युक्त ही है, अंतर सिर्फ इतना है कि फन फैलाया हुआ सर्प नृत्य नहीं कर रहा है, अपितु स्थिर है।।

३) इस तस्वीर में सर्प छाती तक चढ़ आया है।।

इन प्रसिद्ध हुई तस्वीरों में खोज का विषय यह नहीं है कि सर्प कहाँ तक चढ़ा, अपितु यह है कि सर्प यदि आचार्य श्री की गर्दन को घेर मस्तक पर फन फैला कर नृत्य भी कर रहा होता, तब भी यह महामना महामानव ऐसे ही निश्चल/निर्भय भाव से बैठा रहता व जैसे हम चित्र में

सर्प की लीला देख रहे थे, वैसे ही यह भी उस लीला का दृष्टा मात्र रहता, दृष्टा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं।। इसे ही सत्य के दस भेदों में से संभावना सत्य कहते हैं।।

इस संपूर्ण घटना क्रम में भी पुनः आश्चर्य यह था कि आचार्य श्री को इसके पूर्व सर्प संसर्ग के दो अनुभव तो थे, किन्तु अभ्यास नहीं।।अभ्यास नहीं होने पर भी आचार्य श्री ने इस घटना को ऐसे हो जाने दिया मानो कोई सामान्य सी घटना हो।। इस घटना ने आमोखास में एक बात तय कर दी कि यह महामना आम नहीं खास है, खास भी नहीं, खासों में भी खास है।।

इस घटना के पश्चात तो इस प्रकार की घटनाओं का एक क्रम ही प्रारंभ हो गया, जिसमें वे जो कि इस घटना से प्रभावित नहीं थे व इस घटना को मात्र एक संयोग भर नाम दे रहे थे, वे भी आचार्य श्री के अद्‌भूत व्यक्तित्व को लेकर सोचने को बाध्य हो गये।।

आदरणीय रावजी सखाराम दोशी, जो कि न सिर्फ एक सुप्रसिद्ध उद्योगपति थे, अपितु महान तत्ववेत्ता भी थे व उस समय के सुप्रसिद्ध मासिक जैन बोधक (मराठी)के संपादक भी थे, आचार्यश्री के संबंध में लिखते हैं **(आचार्य श्री शांतिसागर का चरित्र, संस्करण १९३४, आद्य वक्तव्य, पृष्ठ १) :-**

"निमित्त शास्त्र के जानने वालों को ऐसा अभिमत है कि जिस व्यक्ति के शरीर पर चढ़ कर सर्प लीला करे और उस व्यक्ति को बाल-बाल छोड़ दे, तो वह व्यक्ति संसार में महापुरुष होगा, महापराक्रमी होगा, अलौकिक कार्य कर संसार का उद्धार करेगा।। महर्षि शांतिसागर के शरीर पर भी (दीक्षा के बाद सन् १९३४ तक) ५ बार सर्प चढ़ने का उल्लेख व देखने का मौका मिला है।। कभी-कभी तो दो-दो घण्टे तक सर्प शरीर में अपनी लीला करता रहा, परंतु न तो तपोनिधि शांतिसागर विचलित हुए और न वह सर्प ही कुछ विक्षुब्ध हुआ।।वस्तुतः यह बात आचार्य शांतिसागर के अलौकिक महापुरुषत्व को प्रगट करती है।।"

यहाँ कोई शंका कर सकता है कि संभव है आचार्यश्री ने गृहस्थावस्था में सर्पवशीकरण मंत्र सिद्ध कर लिया हो, जिस कारण उन्हें ज्ञात ही हो कि सर्प उनका कुछ बिगाड़ नहीं कर पायेगा, मात्र लीला कर लौट जायेगा।। आचार्य श्री मंत्र विद् भी थे, इस विषय में शंका को स्थान ही नहीं, क्योंकि उनके क्षुल्लक अवस्था की प्रसिद्ध कथा है जिसमें उन्होंने एक सर्प विष निवारक को सर्प का विष उतारने हेतु प्रयुक्त किये जाने वाले जैन मंत्र व उसे सिद्ध करने की विधि बतलाई थी।।[1] यह कथा बतलाती है कि आचार्य श्री मांत्रिक भी थे।। चूँकि उन्हें सर्प वशीकरण मंत्र सिद्ध था, इसलिये सर्प आया, लीला की और लौट गया, विक्षुब्ध न हो पाया।। चूँकि यह सब आचार्य श्री की ही लीला थी, इसलिए उन्हें कोई भय भी नहीं हुआ।।

ऐसा चिंतन करने वालों के प्रत्युत्तर में आचार्य श्री के जीवन में घटनाक्रमों की कमी

---

१. चारित्र चक्रवर्ती, संस्करण १९९७, शीर्षक: संयम-पथ, उप शीर्षक: जैन मंत्र का अपूर्व प्रभाव, पृष्ठ: ६८.

नहीं है।। उपर्युक्त घटना में तो सर्प ने सिर्फ लीला की, आचार्य श्री को आहत नहीं किया, किन्तु कई उपसर्ग तो आचार्य श्री पर ऐसे भी हुए , जिसमें उपसर्ग कर्ता ने तो उनपर परिषहों की अति ही कर दी थी।। इन उपसर्गों में एक उपसर्ग मकोड़े द्वारा किया गया था।। सामायिक में बैठे आचार्य श्री के लिंग को वह मकोड़ा करीब-करीब दो घंटों तक कुरेदता रहा व लगातार रक्त वहाँ से रीसता रहा, किंतु इस योगी के चेहरे पर उफ् तक नहीं।। मानो साक्षात् भेद विज्ञान में स्थिर हो, जड़ की क्रिया जड़ में हो रही हो और चेतन की चेतन में, मैं तो मात्र ज्ञाता दृष्टा हूँ, ज्ञाता दृष्टा से अन्य कुछ भी नहीं।। यह उपसर्ग इतना भयावह था कि देखने वालों के मुख से उफ् निकल गई थी।।

इससे भी अधिक घातक उपसर्ग कागनोली में हुआ था।। जंगल में अकेले ध्यानमग्न आचार्य श्री से पागल ने रोटी माँगी।। ध्यान अवस्था में मग्न आचार्य श्री से जब कोई उत्तर नहीं आया, तब थक जाने की हद तक वह लकड़ी से आचार्य श्री को पीटता रहा।। लहुलुहान आचार्य श्री के चेहरे पर इस घटना की प्रतिक्रिया रूप कोई भाव नहीं थे, मानो राह चलते कोई कागज का टुकड़ उड़ा, लगा व गिर गया हो।।

एक अलौकिकता और थी आचार्य श्री में और वह यह कि इन उपसर्ग कर्ताओं को वे अपना उपकार कर्ता मानते थे, उनके प्रति वे द्वेष नहीं रखते थे, अपितु क्षमा भाव वर्तता था उनके भीतर।। राजाखेड़ा में छिद्दी ब्राह्मण अपने ५०० अनुयायियों के साथ आहत करने का भाव ले दौड़ा आया तलवार व लट्ठ ले, आचार्य श्री व संघ की ओर।। दैव प्रबल था।। अनहोनी कुछ नहीं हुई।। लोकन्याय वश कोतवाल ने आतताई को गिरफ्तार किया व आचार्य श्री से पूछा इसे क्या दंड दिया जाय।। आचार्य श्री ने कहा यदि मेरी मानो तो इसे क्षमा कर दो।। जिस कर्म का प्रेरा है यह, उसी कर्म के भरोसे इसे छोड़ दो।।

इन परिषहों व इन परिषहों के काल में आचार्य श्री की निर्भय, निराकुल व लोककल्याणकारी मुद्रा ने उनके मुख बंद कर दिये, जो उनके मंत्रविद् होने की शंकायें करते थे।। उपर्युक्त उदाहरणों ने इन आलोचकों को भी आचार्य श्री को लोकोत्तर महापुरुष मानने को विवश कर दिया।। मात्र इन आलोचकों व जैनियों को ही नहीं, अपितु जैनेतरों को भी चिंतन करने को विवश कर दिया कि यह व्यक्ति हम जैसा दिख अवश्य रहा है, किन्तु है नहीं, यह हमसे सर्वथा भिन्न, निराला व दैविक विभूतियों का पिण्ड ही है।। इसकी शरण हमारा भी कल्याण कर सकती है।।

२) तप से प्रभावित : जैसा कि हमने ऊपर कहा ही है कि इस संसार में ऐसे कई हैं, जिन्हें जीवन में कभी-कभार दिखने वाले परिषह जय प्रभावित नहीं करते, इन्हें तो संतों में पाया जाने वाला आचार व संकल्प पूर्वक तपे गये तप प्रभावित करते हैं।।

इस मानस के महानुभावों को भी प्रभावित व श्रद्धावान बनाने के लिये आचार्य श्री के

जीवन सामग्रियों की कमी नहीं, अपितु बहुलता ही है॥

बाल्यकाल से ही आचार्य श्री का जीवन कठोर स्वानुशासन में व्यतीत हुआ था॥ बाल ब्रह्मचारियों का सा जीवन और उस पर अनेकों प्रकार का त्याग॥ जीवन में कभी किसी के साथ न तो कठोर व्यवहार किया और न ही कठोर वचनों का प्रयोग किया॥ क्षमा और दया दोनों का सम्मिश्रण रहा जीवन॥ लौकिक कार्यों में कभी रूचि नहीं ली, किन्तु कौशल्य नैसर्गिक रहा॥ व्यापार में भी न तो चित्त लगा और न ही लगाने का प्रयास किया॥ स्वाभाविक निसर्ग प्रदत्त भव प्रत्ययिक वैराग्य था उनका॥ वैराग्य भी इतना गहरा कि कभी कथा कहानियाँ पढ़े आख्यान का उनके जीवन में साक्षात्कार ही हो गया॥

पिता ने कहा कि यदि मुनि ही बनना है तो मेरी मृत्यु के बाद बनना, उसके पूर्व नहीं॥ सहज स्वीकार कर लिया कि ठीक है॥ मन में किंचित् भी भय नहीं कि आज वैराग्य है, कल रहे, न रहे, कल आयु बचे, न बचे, जो उत्तम है, उसे कल पर न टालो, अभी कर लो॥ किन्तु नहीं, स्व के प्रति आश्वस्त॥ काल की ओर से निःश्चिंत॥ कितनों के भीतर पलती है यह आश्वस्तता/यह निश्चिंतता ? निश्चित ही बिरलों के भीतर ही॥

जिनको स्त्री का स्पर्श तो दूर, स्त्री की कल्पना भी स्खलित हो जाने को महान कारण भासती है, उनके लिये तो इस बाल ब्रह्मचारी का जीवन परीकथाओं के सदृश्य है॥ यह बाल ब्रह्मचारी अर्द्ध यात्रा में थक गई एक वृद्धा को अपने कांधे पर लाद शिखर जी की वंदना करवाता है॥ मात्र वृद्धा को ही नहीं, अपितु एक क्लांत पुरुष को राजगिरि की॥ मानो पीठ पर स्त्री हो या पुरुष इससे इसे कोई अंतर ही नहीं पड़ता॥ दोनों के प्रति एक ही भाव/एक से भाव॥ दोनों ही जीव और दोनों को ही आवश्यकता इस समय एक उपकारी की॥ ऐसा सहज, स्वाभाविक, निसर्गज ब्रह्मचर्य निश्चित ही संसार में दुर्लभ है॥

उनका गृहस्थ जीवन भी कठोर स्वानुशासन का उत्तम व दुर्लभ उदाहरण रहा॥

संयमी होने के पश्चात तो यह स्वानुशासन और अधिक कठोर होकर सम्मुख आया॥

अपने गृहस्थ जीवन में आचार्य श्री मुनि धर्म के ज्ञाता तो थे, किन्तु अपने काल में मुनिगणों में पायी जाने वाली शिथिलता के आलोचक नहीं थे॥ अपने गृहस्थ जीवन में उन्होंने शिथिल मुनि की कभी आलोचना नहीं की॥ मुनिगण आये, श्रद्धा पूर्वक उन्हें नमन किया, उनकी आहार चर्या पूर्ण करवाई, उनकी वैय्यावृत्ति की व विदा किया॥

उपगूहन अंग का पूरा-पूरा पालन किया और स्थितिकरण किया स्वयं दीक्षा लेने के पश्चात् और वह भी व्याख्यानों में व चर्चाओं में निंदा करके नहीं/मुनिगणों को अकेले में समझा करके नहीं, अपितु अपनी चर्या के माध्यम से लोकमानस की निर्मिति करके की॥ इस लोकमानस की निर्मिति ने आहार चर्या के दूषणों को दूर कर दिया, आहार चर्या का दूषण दूर होते ही शिथिलाचार स्वयं दूर हो गया, एक -एक का पृथक स्थितिकरण करने

की आवश्यकता ही नहीं रही।। आचार्य श्री का यह लोकोत्तर जीवन ही भव्य जनों को सहज ही चरणों में वंदन करने को बाध्य कर देता था।। उस काल के मुनियों में भी पाठको, चारित्रगत दोष नहीं थे और न ही तप में कोई कमी थी, दोनों से ओत प्रोत भव्य आत्मायें थीं वे, यदि दूषण था तो मात्र आहार चर्या का, वह भी मार्गदर्शक के अभाव में उत्पन्न हुआ हुआ।। वरना वैसे तपस्वी व आचारवान साधु दुर्लभ हैं।।

इसी प्रकार आचार्य श्री के जीवन में कठोर स्वानुशासन में जीते हुए लोक कल्याण सापेक्ष स्वकल्याण को दर्शाने वाले उपवासों व व्रतों की भी न्यूनता नहीं थी।। इन उपवासों व व्रतों में जो उनके द्वारा साधा गया व अन्यों को दुर्लभ ऐसा उत्कृष्ट सिंहनिःष्क्रिड़ित व्रत भी सम्मिलित है, जिसे कि उनके पश्चात अन्य कोई आज अर्थात् सन् २००६, जनवरो तक साध नहीं सका।। मेरी लेखनी इस सिंहनिःष्क्रिड़ित व्रत की मात्र विधि कह सकती है, किंतु इसे करने में निरंतर न्यून होते जा रहा शारीरिक बल व वृद्धिगत होती हुई अशक्तता के मंध्य चित्त को साधे रखना, वह भी परंपरा मोक्ष को साधने योग्य धर्म ध्यान से युक्त रहते हुए, का बखान नहीं कर सकती, इसकी सामर्थ्य तो आचार्य श्री में ही थी, आचार्य श्री के अतिरिक्त अन्य किसी में नहीं।। उनके पश्चात् तो उस क्षयोपक्षम व बल का अनुभवन व बखान कथा-कहानियों का ही विषय बन कर रह गया, प्रत्यक्ष नहीं हुआ।।

निश्चित ही दिगम्बर जैन आम्नायियों का एक बहुत बड़ा वर्ग आचार्य श्री के इस दुर्लभ चारित्र से न सिर्फ प्रभावित हुआ, अपितु श्रद्धावनत हो आचार्य श्री का अनुगामी भी बना।।

३) प्रज्ञा से प्रभावित : संसार में कई हैं, जिन्हें न तो चारित्र आकर्षित करता है, और न ही परिषह जय अथवा उग्र से उग्र तप।। ये वे हैं जो ज्ञान अर्थात् प्रज्ञा आराधक हैं।।

इन्हें हम परीक्षाप्रधानी भी कह सकते हैं।। इनमें विशेषता यह रहती है कि ये न तो मूढ़ ही होते हैं और न ही भावुक, अपितु प्रज्ञावान होते हैं।।

इन परीक्षाप्रधानियों में प्रथम पंक्ति में प्रारंभ के दो नाम अत्यंत महत्वपूर्ण है।। इन दोनों में प्रथम नाम है सेठ श्री रावजी सखाराम दोशी और दूसरा नाम है सोलापुर के सेठ ब्र. जीवराज गौतमचंद दोशी।। ये दोनों ही महानुभाव लक्ष्मी व सरस्वती, दोनों के ही पुंज थे व इन दोनों को ही आचार्य श्री की स्वकल्याण सापेक्ष लोक कल्याणकारी निर्दोष छवि ने चरणों में वंदन करने को बाध्य कर दिया था।।

पं. मक्खनलाल जी शास्त्री, मौरेना (म.प्र.), आचार्यश्री के विषय में लिखे अपने लेख में आचार्य श्री की प्रज्ञा की तुलना भगवन् जिनसेनाचार्य जी द्वारा श्री आदि पुराण के पर्व ४१ में भरतचक्रवर्ती की व्याख्यायित प्रज्ञा से करते हुए कहते हैं कि -

राजसिद्धांततत्त्वज्ञो धर्मशास्त्रार्थतत्त्ववित् ।
परिख्यातः कलाज्ञाने सोऽभून्मूर्ध्नि सुमेधसाम् ।।१५४।।

अर्थ : वह राजविद्या के सब तत्वों को जानता था, धर्मशास्त्रों के तत्वों का जानकार था और कलाओं के ज्ञान में वह प्रसिद्ध था, इस प्रकार वह बुद्धिमान् लोगों के मस्तकपर सुशोभित होता था अर्थात् सबमें मुख्य था ॥१५४॥

ऐसी ही विशाल प्रज्ञा श्री १०८ आचार्य शांतिसागर की है। इसमें जरा भी संदेह नहीं है॥ अनेकों ने अनेक बार आजमा लिया है॥ और अब भी यह सौ टंचका सुवर्ण परीक्षा के लिये प्रत्यक्ष सज्ज है। मध्य कलियुग में यह एक मनु ही अवतरा है, जो संपूर्ण धर्मसृष्टि को इस युग में फिर से निर्माण करेगा॥(**आ. श्री शांतिसागर महामुनि का चरित्र, सन् १९३४, पृष्ठ-११७.**)

ऐसा ही एक उदाहरण चारित्र चक्रवर्ती (संस्करण १९९७)के पृष्ठ १०० पर है-

"सन् १९५१ भाद्रपद के पश्चात पं. जगन्मोहनलाल जी शास्त्री, कटनी, पं. मक्खनलाल जी न्यायालंकार, मौरेना, पं. उल्फतराय जी, बंबई, तथा और भी बहुत से विद्वान महाराज के पास बारामती में पधारे थे और चर्चा के समय महाराज की प्रतिभा का वैभव देखकर चकित होते थे॥ इतना असाधारण क्षयोपशम सतत् श्रुत का अभ्यास तथा तपश्चर्या का सुपरिणाम है॥"

इसी प्रकार का एक और प्रसंग है जो कि आचार्यश्री के अद्‌भुत व अद्वितीय श्रुताभ्यास की सूचना देता है॥ देखिये -"एक दिन महाराज कहते थे-हम प्रतिदिन में कम से कम ४० या ५० पृष्ठों का स्वाध्याय करते हैं॥ धवलादि सिद्धांत ग्रंथों का बहुत सुंदर अभ्यास महाराज ने किया था॥ अपनी असाधारण स्मृति तथा तर्कणा के बल पर वे अनेक शंकाओं को उत्पन्न कर उनका सुंदर समाधान करते थे॥(**पृष्ठ १०१, चारित्र चक्रवर्ती, संस्करण १९९७**)"

यह तो आचार्य श्री के प्रज्ञाधन कीचर्चा हुई, किंतु परीक्षा प्रधानियों द्वारा की गई परीक्षा का एक और उदाहरण हम देना चाहेंगे॥ यह उदाहरण कटनी (म.प्र.)का है, सुनिये-

"कुछ शास्त्रज्ञों ने सूक्ष्माता से आचार्य श्री के जीवन को आगम की कसौटी पर कसते हुए समझने का प्रयत्न किया॥ उन्हें विश्वास था कि इस कलिकाल के प्रसाद से महाराज का आचरण भी अवश्य प्रभावित होगा, किन्तु अन्त में उनको ज्ञात हुआ कि आचार्य महाराज में सबसे बड़ी विशेषता सबसे बड़ी बात यही कही जा सकती है कि वे आगम के बंधन में बद्ध प्रवृत्ति करते हैं, अपने मन के अनुसार स्वछंद प्रवृत्ति नहीं करते। (**पृष्ठ १८७, चारित्र चक्रवर्ती, संस्करण १९९७, उपशीर्षक- आगमभक्त, मूल शीर्षक- प्रभावना**)"

इस प्रकार इतना विवेचन करके अब हम उन महान प्रज्ञावानों में से कुछ का नाम दे रहे हैं, जिन्होंने आचार्य श्री की चर्या व प्रज्ञा दोनों की परीक्षा की, परीक्षा कर उसे निर्दोष पाया व निर्दोष पाने के पश्चात अपना सर उनके श्री चरणों में नवा दिया :-

१) पं. खूबचंद जी शास्त्री, इन्दौर, २) पं. मक्खनलाल जी शास्त्री, मौरेना, ३) पं. उल्फतरायजी, बम्बई, ४) पं. बंशीधर जी शास्त्री परवार, सोलापुर, ५) पं. धन्नालाल जी

कासलीवाल, इन्दौर, ६)पं. श्रीलाल जी पाटनी, अलीगढ़, ७) पं. इन्द्रलाल जी शास्त्री, जयपुर, ८) पं. सुमेरुचंद्र जी दिवाकर, सिवनी, ९) पं. तनसुखलाल जी काला, नांदगांव, १०) पं. जगन्मोहनलाल जी शास्त्री, कटनी, आदि आदि आदि।।

उपर्युक्त नाम तो मात्र इशारे भर हैं, जबकि इनकी संख्या सैकड़े में है।। इसमें भी पुनः पाठकों की सुविधा के लिये उत्तर भारतीय विद्वानों के नाम ही दिये हैं, दक्षिण भारतीयों के नहीं।। दक्षिण भारतीय विद्वानों के नाम भी यदि इसमें सम्मिलित कर लिये जाएँ, तो संख्या सैकड़े में नहीं, अपितु सैंकड़ों में हो जायेगी।।

इन नामों को पाठक वृंद से भव तारणी प्रार्थना करते हुए हम कहना चाहते हैं कि हमारी ही तरह वे भी उपर्युक्त नामों को उपलक्षण न्याय से ग्रहण कर शेष प्रज्ञावानों के नामों की कल्पना करते हुए, जैसे ये परीक्षा प्रधानी आचार्य श्री की परीक्षा कर उन्हें निर्दोष पाते हुए उनके चरणों में श्रद्धावनत हुए, वैसे ही इन परीक्षा प्रधानियों को प्रमाण मानते हुए आचार्य श्री को प्रज्ञा व चर्या दोनों अपेक्षाओं से निर्दोष जानते हुए श्रद्धावनत होवें ।।

४) जनोत्कर्ष व निर्बलोत्थान से प्रभावित : हममें से ही कई हैं जिन्हें धर्म का पहला पाठ जनकल्याण व निर्बलोत्थान के लिये किये गये कर्म लगते हैं।। जिन साधुओं व सन्तों के जीवन में जन कल्याण व निर्बलोत्थान के भाव नहीं होते, उनका ज्ञान, चारित्र, तप, परिषह जय आदि गुण इन्हें अनुल्लेखनीय, निरस व अप्रभावी लगते हैं।।

यहाँ आश्चर्य उत्पन्न करने वाला विषय यह है कि जिनकी प्रतिष्ठा लोकोत्तर कार्यों के संपादक रूप ही प्रसिद्ध हुई, वैसे आचार्य श्री के पास लौकिक कृत्यों को ही उत्तम परिभाषित करने वाले इन महामनाओं को भी आकृष्ट करने वाला सशक्त चुम्बकीय व्यक्तित्व था।। इस संदर्भ में हम दो सशक्त उदाहरण चारित्र चक्रवर्ती, संस्करण १९९७,पृष्ठ १२०,१२१ व पृष्ठ ३९८ से लेकर दे रहे हैं।। इनमें से प्रथम पृष्ठ १२० व १२१ से :-

यह वो काल था जब हरिजनोद्धार के नाम पर कई अवैज्ञानिक व भावुकता प्रधान कार्य हो रहे थे।। इन अवैज्ञानिक व भावुकता प्रधान कार्यों में से एक उदाहरण एक हरिजन के ही मुख से ही हम सुनें तो संभवतः उत्तम होगा :"(जयपुर,सन् १९३२)उस समय अस्पृश्योद्धार के नाम पर अनेक लोगों ने मेहतरों के यहाँ का मैला एक दिन साफ किया था, उस समय जयपुर का एक चतुर मेहतर महाराज से कह रहा था-"महाराज ! ये लोग हमें कुछ लेते-देते नहीं है और अब हमारी रोजी छीनने को भी तैयार हो रहे हैं। यदि इन्होंने हमारा काम शुरु कर दिया, तो हमारा जीवन कठिन हो जायेगा।।"

अर्थात् समाजोद्धारकों का हरिजनोद्धार के नाम पर स्पर्शता निवारण ही लक्ष्य था, हरिजनों का धर्म, अर्थ व कामोत्कर्ष नहीं।। इसके विपरीत आचार्य श्री धर्म, अर्थ व कामोत्कर्षता को हरिजनों के जीवन में देखना चाहते थे।। आईये आचार्य श्री के वचनों

को हम इस संदर्भ में आचार्य श्री के ही श्री मुख से सुनें (पृष्ठ १२०,१२१)-

महाराज कहने लगे-"हमें हरिजनों को देखकर बहुत दया आती है॥ हमारा उन बेचारों पर रंचमात्र भी द्वेष नहीं है॥ गरीबी के कारण वे बेचारे अपार कष्ट भोगते हैं॥ हम उनका तिरस्कार नहीं करते हैं॥ हमारा तो कहना यह है कि उन दीनों का आर्थिक कष्ट दूर करो, भूखों को रोटी दो॥ उसका आर्थिक व नैतिक जीवन ऊँचा उठाओ॥ तुमने उनके साथ भोजन-पान कर लिया, तो इससे उन बेचारों का कष्ट कैसे दूर हो गया ?"

महाराज ने ये भी कहा-"बेचारे शुद्रों तथा गरीबों का उद्धार राजसत्ता कर सकती है॥ वह हमसे पूछे तो? वह यदि हमसे पूछे, तो हम उनके उद्धार का सच्चा मार्ग बतावें॥ "

परतंत्र भारत की कथा तो दूर करो, किंतु स्वतंत्र भारत के शासन ने भी हरिजनोद्धार के नाम पर हरिजनों से संबंधित अस्पर्शादि भावुक मसलों को ही तुल दिया, हरिजनों के आर्थिक व नैतिक उत्थान हेतु किये जाने वाले किसी मिशन को नहीं॥ इस संबंधि किसी कर्म को करना तो दूर, उसका चिंतन तक नहीं किया गया ॥ हरिजनोद्धार के लिये कार्य करने वाले शासन का लक्ष्य वोट बैंक व अखबारों की सुर्खियों तक ही सीमित रहा॥

आचार्य श्री का प्राण तो आगम था॥ आगम का लोप कर आचार्य श्री का अस्तित्व ही नहीं था॥ हरिजनोद्धार के पक्ष में तो आचार्य श्री थे, किंतु हरिजनों के साथ रोटी-बेटी के व्यवहार की वकालत करने वाले आंदोलनकारियों के पक्ष में नहीं ॥

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जिनागम में शुद्रों का समावेश कहाँ है अथवा शुद्रों के पर्यायवाची रूप में वह किन शब्दों का प्रयोग करता है ?

जिनागम में शुद्रों के लिये जिस शब्द का प्रयोग है, वह है दास-दासी, जिन्हें कि हम नौकर-चाकर कहते हैं, व इनका समावेश १० प्रकार के परिग्रहों में किया गया है॥

वे जो दास-दासी रखने की सामर्थ्य रखते हैं, वे इन्हें अपनी सुविधाओं के भोग के लिये रखते हैं॥ अर्थात् दास-दासी सुख के भोग के लिये होते हैं॥ निश्चित ही इस विवेचना में संसार के किसी भी मत वाले का विरोध नहीं होगा, फिर वो चाहे जिस पक्ष का हो, क्यों कि इस कारण से अन्य कारण के लिये दास-दासी पाले ही नहीं जाते हैं॥

परिग्रह के भी दो भेद हैं, एक सेवनीय व दूसरा असेवनीय अथवा किंचित् सेवनीय॥

इनमें से वह परिग्रह जो कि असेवनीय है, वह सर्व प्रकार से त्याज्य कहा है, किंतु जो किंचित् सेवनीय कहा गया है, वह किसी अपेक्षा से सेवनीय होता है, तो किसी अपेक्षा से असेवनीय॥ दासी-दासों के साथ किये जाने वाले व्यवहार के गर्भ में यही दर्शन मुख्य है, क्यों कि दासी-दास भी किसी अपेक्षा से सेवनीय होते हैं तो किसी अपेक्षा से असेवनीय॥ सर्वथा सर्व प्रकार के व्यवहार के वे योग्य नहीं होते॥

इसे नीति शास्त्र के नियमों के अनुसार भी समझा जा सकता है॥ नीतिशास्त्रगत् नियम

है कि व्यवहार बराबरी वालों के साथ होता है।। जो अपने से बड़े होते हैं, उनके चरण छुए जाते हैं।। उनके उपयोग में आने वाली वस्तुओं का संरक्षण व संस्कार किया जाता है, उनका सेवन नहीं किया जाता।। अथवा उनके द्वारा उपभोग कर छोड़ दी गई वस्तुओं का सेवन किया जाता है, उनके उपभोग के पूर्व अथवा अपने द्वारा भोगी गई वस्तुओं का सेवन उन्हें नहीं कराया जाता।। उनके पीछे-पीछे चला जाता है, उनके आगे-आगे नहीं, उनके बैठने के बाद बैठा जाता है, बैठने के पूर्व नहीं, उनके छोटे से छाटे कार्य को करने में भी हर्ष का अनुभवन होता है, उनकी सेवा में सतत उपस्थित रहा जाता है।।

सेवा भी प्रयोजन के अनुसार भिन्न-भिन्न हो जाती है व सेवा करने वाले भी।।इनमें भी पुनः कुछ स्पर्श अथवा सामीप्य विधानानुसार सेवा देते हैं, तो कुछ अन्तर अर्थात् दूरी के विधानानुसार।। इनमें से जो सामीप्य विधानानुसार सेवा देते हैं, वे स्पर्श्य के योग्य दासी-दास कहलाते हैं व जो अन्तर अर्थात् दूरी के विधानानुसार सेवा देते हैं, वे अस्पर्श्य दासी-दास कहलाते हैं।। चूँकि सेवा ग्रहण के सिवाय इन दासी-दासों के साथ स्वामियों का अन्य कोई प्रयोजन ही नहीं होता, अतः इनके साथ न तो रोटी का ही व्यवहार प्रसिद्ध है और न ही बेटी का।।इसी प्रकार दासी-दासों की भी अपेक्षा है कि उन्हें भी प्रयोजन अपनी सेवाओं को देने से रहता है,अन्य कोई नहीं, अतः दासी-दासों में भी स्वामियों के साथ न तो रोटी का ही व्यवहार प्रसिद्ध है और न ही बेटी।।

उपर्युक्त उल्लेखित अंतर चूँकि संस्कृति के उत्थान काल से ही था, है और रहेगा, अतः इसे संसार में हो रहे आंदोलन इनके स्वरूप मेंइ तो परिवर्तन कर सकते हैं, किंतु समाप्त नहीं कर सकते, अतः हरिजनोंद्धार रोटी-बेटी के व्यवहार से नहीं, अपितु हरिजनों के आर्थिक व नैतिक उत्थान से होगा आचार्य श्री का यह दर्शन सर्वांग व सर्व प्रकार से शुद्ध प्रतीत होता है।।

इसी दिशा में आचार्य श्री ने अद्भूत व अद्वितीय कार्य किये व हजारों हरिजनों व आदिवासियों के जीवन को संयम के धन से धन्य कर दिया।।

इस विषय में स्थिति इतनी विचित्र हुई कि कई उच्च गोत्रियों ने इन दासी-दासों में व्रतों का उत्साह देख कर व्रतों के प्रति उत्साह प्राप्त किया।।

आचार्य श्री के इसी कार्य ने जनोत्कर्ष से प्रभावित होने वालों को अचंभित कर दिया व उन्हें कहना पड़ा कि : सैकड़ों कर्मठ विद्वानों के सैकड़ों वर्षों तक रात-दिन परिश्रम करने पर जो समाजोत्थान व समाज कल्याण का कार्य अति कठिनता से हो सकता था, वह आचार्य शांतिसागर के विहार से कुछ ही दिनों में सरलतया हुआ (**आचार्य शांतिसागरजी का चरित्र, संस्करण सन् १९३४, पृष्ठ ४**)।।

यह तो मात्र एक उदाहरण हुआ किंतु इस विषय में और भी उदाहरण है, उन समस्त उदाहरणों में बाल-विवाह प्रतिबंधक कानून का है।। आचार्य श्री की ही सत्प्रेरणा से व

कोल्हापुर राज्य के दीवान बहादुर श्री लट्ठे जी द्वारा किये गये सत्प्रयत्नों के फल स्वरूप कोल्हापुर राज्य में बाल विवाह प्रतिबंधक कानून व्यवहार में आया था ॥[1]

इसी क्रम में आचार्य श्री ने अनाथोद्धार व बालिकोद्धार के कार्य हेतु भी न सिर्फ प्रेरणायें दी, अपितु तत् कार्य को करने हेतु आगम-परिवेश में मार्ग-दर्शन भी दिये, जिसके फलस्वरूप शेड़वाल अनाथाश्रम आदि शैक्षणिक संस्थायें उदय को प्राप्त हुई ॥

निश्चित ही इस विषय में इससे अधिक कहने को इस लेख में स्थान नहीं, बुधजनों के लिये इतना पर्याप्त है ॥ अंत में हम सिर्फ इतना ही कह सकते हैं कि आचार्य श्री का जीवन जैसे लोकोत्तर मंगल स्वरूप से परिणत था, वैसे ही लौकिक मंगल स्वरूप भी ॥ आचार्य श्री का यह मंगल स्वरूप ॐकार की तरह जहाँ धर्म व मोक्ष पुरुषार्थ की राह में आने वाली बाधाओं के लिये जहाँ वज्रपात रूप था, वहीं संसारी जनों के अर्थ व काम पुरुषार्थ की राह में आने वाली बाधाओं के लिये दिवार रूप ॥

५) **दूरदर्शिता से प्रभावित** : हममें से कई चिंतक ऐस भी हैं, जो कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र के प्रति श्रद्धा तो रखते हैं, किंतु हृदय से प्रभावित नहीं होते ॥ उनका कहना है कि व्यक्ति के निर्णयों में निहित दूरदर्शिता से ही उसकी मानसिक परिपक्वता का प्रतिबोध होता है ॥ यही मानसिक परिपक्वता तीर्थंकर के अनुज के रूप में नेतृत्व की योग्यता सिद्ध करतो है ॥ नेतृत्व की योग्यता के अभाव में आप अनुयायी हो सकते हैं, किन्तु प्रामाणिक नहीं हो सकते ॥ प्रामाणिकता तो नेतृत्व की योग्यता से ही आती है ॥

इस मानस के चिंतकों के प्रति भी आचार्य भगवंत के पास सामग्री का अभाव नहीं, अपितु विपुलता ही थी ॥

निर्णय की सामर्थ्य दो प्रकार की होती है, जिसमें से पहली है निसर्गज व दूसरी पूर्वापर संबंधों का मिलान कर किसी कार्य की इति हेतु वैचारिक व पुरुषार्थपरक ॥

आचार्य.श्री में दोनों प्रकार की बुद्धिमत्ता थी ॥

निसर्गज दूरदर्शिता के कई उदाहरणों में से दो उदाहरणों को हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं ॥

राजाखेड़ा में कुछ अनुतम होने वाला है, इसका आभास उन्हें निसर्गतः हो गयाऔर संघ को उन्होंने सामायिक कमरे में करने का आदेश दिया ॥ इस आदेश ने एक महान अनहोनी को टाल दिया ॥ ठीक ऐसा ही एक आदेश शिखरजी की यात्रा के मध्य कोपर गाँव (महाराष्ट्र)के समीप दिया ॥ अचानक आचार्य श्री आज्ञा हुई कि जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी ग्राम व नदी पार कर लो, व जितनी दूर हो सके उतनी दूर निकल चलो ॥

संघ बहुत दूर निकल गया ॥ उसी रात्रि में बारिश व नदी का ऐसा भयंकर तांडव हुआ

---

१. चारित्र-चक्रवर्ती, संस्करण १९९७, मूल शीर्षक : पावन स्मृति, उप शीर्षक : बाल प्रतिबंधक कानून के प्रेरक ॥

कि उसने उस गांव को ही लील लिया।।

ये तो निसर्ग प्रदत्त लिये गये निर्णयों के उदाहरण हुए, किन्तु अपने विशिष्ट क्षयोपशम के आश्रय से दूरगामी अंदेशों को भाँप, उनका अपनी विशिष्ट कार्य शैली द्वारा समाधान कर लेने का अद्वितीय गुण भी आचार्य श्री के पास था।।

इस विषय में आचार्य श्री द्वारा दिगम्बर जैन समाज को ही नहीं, अपितु श्वेताम्बर जैनसमाज को भी अपनी-अपनी धार्मिक स्वतंत्रता को निश्चिंतता के साथ भोगने की स्वतंत्रता का दिया गया उपहार है।। यदि आज आचार्य भगवंत नहीं होते तो नियमतः श्वेतांबर हो अथवा दिगम्बर, दोनों के ही आयतनों में हिन्दूत्व के अंश न सिर्फ प्रवेश कर जाते, अपितु उन आयतनों पर जैन धर्मावलम्बियों का एकाधिपत्य भी नहीं रहता।।

१९४७ में हरिजन टेंपल एन्ट्री एक्ट की धारा में स्वतंत्र भारत के स्वतंत्र शासकों ने जैनियों की गणना हिन्दुओं में गिननी प्रारंभ कर दी और कहा कि जैन हिन्दू ही हैं व चूंकि जैन हिंदू ही हैं, इसलिये जितने अधिकार हरिजनों को हिन्दू मंदिरों के लिये दिये जाते हैं, उतने ही अधिकारों का अधिकारी हरिजन जैन मंदिरों के लिये भी निसर्गतः हो जाता है, इसमें शंका को कोई स्थान ही नहीं।। निश्चित ही पाठक वर्ग कल्पना कर सकता है कि यदि यह संविधान लागू हो जाता तो जैनायतनों की आज स्थिति क्या होती ?

आज हम जो संवैधानिक रूप से धार्मिक स्वतंत्रता का भोग भोग रहे हैं, यह एक और मात्र एक आचार्य शांतिसागर जी महाराज द्वारा सम्पूर्ण जैन धर्मावलम्बियों को दिया गया अतुलनीय व अप्रतिम उपहार है।।

इस कार्य को सिद्ध करने उन्होंने ११०५ दिनों तक अन्न त्याग का तप तपा।। मंत्र आराधना की।। जाप दिये।। उपवास किये।। और इसी के साथ किया केन्द्र सरकार व प्रान्तिय मुम्बई (महाराष्ट्र) सरकार को अपने पक्ष में लेने का अप्रतिम उद्यम।। इस संपूर्ण कृत्य का विस्तार जैन बोधक के सन् १९५१ में छपे धर्म ध्वजांक विशेषांक व चारित्र चक्रवर्ती में है। अपनी दूरदर्शिता के आश्रय से सम्पूर्ण जैन समाज को आचार्य श्री द्वारा दिये गये उपर्युक्त उपहार ने समस्त आलोचकों की जिह्वा को पक्षपात की स्थिति वाला कर दिया।।

इस प्रकार आचार्य श्री द्वारा चक्रवर्ती पद के योग्य विजित पाँच खण्डों का विवेचन पूर्ण हुआ, अब छट्टे खण्ड की बारी थी।। वे जो कि भविष्यदृष्टा थे व आचार्य श्री की सामर्थ्य को पूर्व से ही जानते थे, उन्होंने पाँच खण्ड विजित आचार्य श्री को सन् १९३७ गजपंथा (महाराष्ट्र)से ही चारित्र-चक्रवर्ती कहना प्रारंभ कर दिया था।। उन्हें उनके षट्खण्डाधिपति होने में कोई शंका ही नहीं थी।।

६) सल्लेखना की साधना से प्रभावित : हममें से कई हैं जो कि जीवन में क्या किया गया अथवा क्या नहीं किया गया, इससे नहीं, अपितु समाधि की साधना/आराधना से

प्रभावित होते हैं।। उनकी धारणा है कि व्यक्ति की मृत्यु उसके कुल जीवन की चुगली खाती है कि इस व्यक्ति का जीवन सधा हुआ था या नहीं।। यदि व्यक्ति ने अपनी मृत्यु को साध लिया, तो कहा जा सकता है कि इस व्यक्ति का जीवन सधा हुआ था और यदि नहीं साधा, तो कहा जा सकता है कि इसने जीवन यश के संकलन व बातों की बादशाहत में बिताया।।

इस मानस के मनःस्वियों के लिये भी आचार्य श्री की संल्लेखना के ३६ दिन आचार्य श्री के चरणों की शरण स्वीकार करने हेतु सशक्त आधार हैं।।

इन ३६ दिनों में आचार्यश्री की उभरकर आई लौकिक व लोकोत्तर अद्वितीयता सल्लेखना के समीचीन दस्तावेज के रूप में जैन साधना को जैन व जैनेतरोंके मध्य स्थापित कर गई।। इस विषय में चारित्र चक्रवर्ती २००६ के संस्करण, जिसकी कि प्रकाशक महासभा है, में "इस युग के महानायक के महाप्रयाण की साधना के ३६ दिन" शीर्षक से संग्रहीत चित्रों की चलचित्र का आभास देनेवाली झाँकी अवलोकनीय है।। समाधि के साधक के विराट व्यक्तित्व का यह चित्रमय संकलन उनकी विराटता का आंशिक प्रस्तुतिकरण है, किन्तु आंशिक होने के पश्चात भी उस विराट व्यक्तित्व की विराटता की अनुभूति कराने वाला है।।

यहाँ हम उसी संकलन से लेकर **"अंततः आचार्य श्री ने इंगनिमरण साध ही लिया"** शीर्षक से इस संकलन कर्ता ने आचार्य श्री के अंतिम तीन दिनों का वर्णन करने वाली जो पंक्तियाँ लिखी है, उन्हीं पंक्तियों को यहाँ उद्धृत् कर रहे हैं, भविजन, एकाग्र चित्त हो इन पंक्तियों व उसके अर्थ को हृदयस्थ करें :-

अंततः आचार्य श्री ने इंगनिमरण साध ही लिया

मृत्यु के क्षण के तीन दिन पूर्व से ही आचार्य श्री के-

न मल था, न मूत्र, न स्वेद, न भूख, न प्यास, न रोग, न शोक, न पीड़ा, न क्रंदन, न कराह, न आक्रोश, न खीझ, न निराशा, न आशा, न किसी से सेवा ली और न ही स्वयं भी स्वयं की सेवा की, आयु कर्म पूर्ण होने तक लेटे रहे एक ही करवट, उनके न नींद थी, न प्रमाद, न प्रसन्नता, न खेद, न क्लेश, कुछ नहीं, कुछ भी नहीं था उनके पास, सिवाय सिद्धोऽहं व सिद्ध शरण के भावों के।। आयु कर्म पूर्ण हुआ और दीक्षा काल में जैसे निर्मम होकर त्यागे थे वस्त्र, ठीक उसी तरह अत्यंत निर्मम भाव से त्याग दी देह, मानो साक्षात् स्वयं अपनी देह का त्याग करते हुए स्वयं का साक्षात्कार किया हो।। ऐसा मृत्यु महोत्सव तो इस कलिकाल की इस सदी के भूतकाल में तो हुआ ही नहीं, किंतु संभवतः भविष्य में बिरलों को ही होगा।।

ॐ शांति, शांति, शांति।।

हम सभी, फिर वो जैन हो अथवा अजैन, क्या अपने लिये ऐसे ही किसी मृत्यु की कामना नहीं करता है ? करता है ना ? जैन व अजैनों की मृत्यु में अंतर सिर्फ सम्यक्त्व का होता है/ आस्था का होता है।। जिसकी आस्था समीचीन होती है, उसे यह मृत्यु स्वर्गादिक संपदा पूर्वक अधिक से अधिक ७ या ८ भवों में भव से पार लगा देती है, वहीं अजैनों को

मृत्यु स्वर्गादिक की संपदा ही देती है, मुक्ति नहीं ॥

उपर्युक्त आगम वचनों के आश्रय से हम निश्चित ही कह सकते हैं कि अधिक से अधिक आगामी ७या ८ भवों में हम इन्हीं चारित्र चक्रवर्ती की जिनकी की आज आचार्य परमेष्ठी के रूप मे पूजा कर रहे हैं, सिद्ध परमेष्ठी के रूप में पूजा करेंगे॥

हमने तो द्रव्य निक्षेप से आज से ही यह पूजा प्रारंभ कर दी है॥

सातवाँ खण्ड :- उपर्युक्त ६खण्डों पर जिनका आधिपत्य था ऐसे षट् खंडाधिपति चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर के व्यक्तित्व में एक सातवां खण्ड भी था॥

बाहुबली जैसे व्यक्तित्व चक्रवर्ती के षट्खण्डाधिपतित्व से न तो प्रभावित होते हैं और न ही उनकी अधीनता स्वीकार करते हैं॥ ठीक ऐसे ही व्यक्ति भी थे आचार्य श्री के काल में थे, जिन्हें उपर्युक्त ६ में से किसी भी कारण से सरोकार नहीं था॥ कोई सरोकार न होने पर भी अनायास/अकारण वे खींचे चले आये थे आचार्य श्री के श्री चरणों में व समर्पित कर दिये थे अपने मन, वचन व काय...

हम जान रहे हैं आपकी बलवती जिज्ञासा को, जो जानने को उत्सुक हैं कि वह सातवाँ खण्ड कौना सा था ? तो इसका समाधान हम नहीं कर रहे हैं इसे, सेठ रावजी सखाराम दोशी के शब्दों में आचार्य श्री शांतिसागर महामुनि का चारित्र पृष्ठ १ सुनिये :-"वस्तुतः एक महापुरुष का लक्षण जो चाहिये, वह सब तो श्री महर्षि शांतिसागर में है ही किन्तु साथ में ये एक अलौकिक प्रतिभा से युक्त तपोनिधि है, कारण कि जहाँ इनका पदार्पण होता है, वहाँ के जैन हो या जैनेतर, हिन्दू हो या मुसलमान, इनके तप प्रभाव से आकृष्ट होकर इनके चरणों में झुकने लगते हैं॥ यह एक अलौकिक शक्ति के बिना नहीं हो सकता है।"

अब इस अलौकिक शक्ति के कार्य भी सुन लीजिये :-"सौ बात की एक बात यह है कि सैंकड़ों कर्मठ विद्वानों के सैंकड़ों वर्ष तक रात दिन परिश्रम करने पर भी जो समाजोत्थान व समाजकल्याण का कार्य अति कठिनता से हो सकता था, वह त्यागमूर्ति आचार्य श्री शांतिसागर के विहार से कुछ ही दिनों में सरलतया हुआ॥"

प्रिय पाठकों क्या उपर्युक्त वक्तव्य के पश्चात इस सप्त खंडाधिपति चारित्र चक्रवर्ती के आख्यान में और कुछ कहने को शेष रहता है ? नहीं न ? अतः हम भी अब और अधिक कुछ न कहते हुए आचार्य श्री के दिवंगत चरणों में अपना परोक्ष नमस्कार अर्पित कर, संपूर्ण संसार के लिये लौकिक व लोकोत्तर मंगलों की कामना करते हैं॥

ॐ शांति, शांति, शांति॥

-हेमन्त काला,

इंदौर(म.प्र.)

दिनांक : १.२.२००६

अनुक्रमणिका

****

"आचार्य महाराज के शरीर पर सर्प लिपटा था, किंतु उसने कुछ उपद्रव नहीं किया, इसका कारण यह है कि यदि अंतरंग में निर्मलता है, तो बाहर वाले में भी निर्मलता आ ही जाती है, इसलिए वह सर्प अभिभूत हुआ।"

- आचार्य वीरसागरजी महाराज

वातावरण

वातावरण

आधुनिक परिस्थिति का चिन्तन

आत्मविशुद्धता को प्राप्त कर सिद्ध परमात्मा बनने के लिये जैन संस्कृति में सर्वज्ञ वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु तथा अनेकान्तमय जिनवाणी की आराधना प्राथमिक स्थिति में आवश्यक मानी गयी है। प्रतिदिन की पूजा में गृहस्थ "अरिहंत श्रुत सिद्धांत गुरू निर्ग्रन्थ नित पूजा रचूँ" यह पाठ पढ़ता है। वर्तमान युग में संहनन की हीनता के कारण सर्वज्ञता की उपलब्धि के हेतु शुक्लध्यान की समाराधना संभव नहीं है। अतएव सर्वज्ञ देव मनोमंदिर में वंदना के योग्य हो गये हैं अथवा स्थापना-निक्षेप द्वारा प्रतिमा के रूप में पूजनीय हैं। जिनेन्द्र की वाणी, जीवों का उपकार करती हुई, आज भी सर्वज्ञ-शासन का प्रकाश भव्य जीवों को प्रदान कर रही है। निर्ग्रन्थ गुरु का दर्शन परम कल्याणकारी माना गया है, किन्तु पाप-प्रचुर पंचम काल के प्रताप से साधारण संयम की साधना संकट संकुल बन रही है, अतः सम्पूर्ण पापों का पूर्णतया परित्याग कर, महाव्रती मुनिराज के दिगंबर स्वावलम्बी जीवन को व्यतीत करने वाले महामुनियों का प्रादुर्भाव आज के लोगों को असंभव सा दिखा करता था।

उत्तर भारत में दिगंबर जैन मुनियों का दर्शन करने का श्रावकों को सैकड़ों वर्षों से सौभाग्य लाभ नहीं हुआ, ऐसा प्रतीत होता है। शाहजहाँ बादशाह के समकालीन विद्वान् कवि बनारसीदासजी के आत्मचरित्र 'अर्द्ध कथानक' से ज्ञात होता है कि साक्षात् दिगंबर गुरु का दर्शन न होने के कारण वे अजानकारीवश विचित्र प्रवृत्ति में तत्पर थे। वे लिखते है[१] कि चंद्रभान, उदयकरण और थानसिंह नामक मित्रों के साथ अध्यात्म की चर्चा करते हुए, वे एक कमरे में नग्न होकर फिरते थे और समझते थे कि हम निर्ग्रन्थ मुनिराज बन गये हैं। यदि सकल संयमधारी दिगंबर मुनि का दर्शन उन्हें हुआ होता, तो वे

---

१. चंद्रभान बनारसी उदय करन अरु थान।
चारों खेलहिं खेल फिर, करहिं अध्यातम ज्ञान ॥ ६०२ ॥
नगन होहिं चारो जनें, फिरहि कोठरी मांहि।
कहहिं भए मुनिराज हम, कछु परिग्रह नाहिं ॥ ६०३ ॥
गनि गनि मारहिं हाथसों, मुखसों करहिं पुकार।
जो गुमान हम कर गहे, ताके सिर पैजार ॥ ६०४ ॥
गीत सुनै बातें सुनहिं ताकी बिंग बनाइ।
कहैं अध्यातम मय अरथ, रहैं मृषा लौ लाइ ॥ ६०५ ॥

- अर्द्ध कथानक

नग्नमुनि बनने का अद्‌भुत नाटक नहीं खेलते। मुनिपद में हिंसादि पापों का सार्वकालिक परित्याग होता है, यह बात उनकी समझ में आई होती, तो वे कुछ समय दिगंबर बन, पश्चात् क्रीड़ा कौतुक में कभी भी संलग्न न होते।

प्रत्यक्ष में मुनि दर्शन न होने से भाव द्वारा वंदना

जब मनुष्य को वास्तविक सत्य रूप का दर्शन नहीं होता है, तब वह काल्पनिक जगत में भ्रमण करता हुआ उपहास पूर्ण प्रवृत्ति करता है।

भूधरदास जी आदि प्राचीन हिन्दी के विद्वानों की रचनाओं के स्वाध्याय से यही बात झलकती है कि उन मुनि-भक्त नर रत्नों के नेत्र जिनमुद्रा धारी मुनि-दर्शन के लिए सदा प्यासे ही रहे आए, इसलिए वे अपनी रचना में चतुर्थ कालीन वज्रवृषभसंहननधारी दिगंबर गुरुओं की भक्ति करते हुए उनका ही इस काल में सद्‌भाव विचारा करते थे। अपनी मुनि-दर्शन की लालसा को वे गुरु स्तुति में इस प्रकार व्यक्त करते हैं :

वंदो दिगंबर गुरु चरण जग तरन-तारन जान ।
जे करम भारी रोग को है राज वैद्य समान ।
जिनके अनुग्रह बिन कभी नहिं कटे कर्म जंजीर ।
ते साधु मेरे उर बसहु मम हरहु पातक पीर ॥ १ ॥

वे यही सोचते थे कि पंचम काल में भी मुनिजन पर्वत के शिखर पर सदा कष्ट सहन किया करते हैं, इसलिए वे स्तुति में कहते हैं :

जे बाह्य पर्वत वन बसें, गिरि, गुफा, महल, मनोग ।
सिल-सेज, समता-सहचरी, शशि-किरण, दीपक जोग ।
मृग-मित्र, भोजन तप मयी, विज्ञान निर्मल नीर ।
ते साधु मेरे उर बसहु, मम हरहु पातक पीर ॥ ४ ॥

ऐसे मुनियों का जीवन में कभी दर्शन लाभ हो तो वह दिन धन्य होगा, यह विचारते हुए वे कहते हैं -

कर जोर 'भूधर' बीनवै कब मिलहिं वे मुनिराज।
यह आस मन की कब फलै, मम सरहिं सगरे काज ।
संसार विषम विदेश में जे बिना कारण वीर ।
ते साधु मेरे उर बसहु, मम हरहु पातक पीर ॥ ८ ॥

कविवर उपरोक्त दृष्टि को दूसरी मनोरम रचना में भी इस प्रकार व्यक्त करते हैं -

ते गुरु मेरे मन बसो, जो भव जलधि जिहाज ।
आप तिरहिं पर तारहिं, ऐसे श्री ऋषिराज ।

मोह महा रिपु जानके, छाँड्यो सब घर बार ।
होय दिगंबर वन बसै, आतम शुद्ध विचार ।। २ ।।

वे मुनियों को वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे रहने वाले ही सोचते हैं और उनकी दृष्टि में यह बात नहीं है कि आज के हीन संहनन में शरीर ऐसी तपश्चर्या को सहन भी कर सकेगा या नहीं ? इसलिये वे कहते हैं कि :

पावस रैन डरावनी, बरसै जल धर धार ।
तरु तल निवसें तब यती, बाजे झंझा वार ।। ८ ।।
वे गुरु चरण जहाँ धरें जग में तीरथ जेह ।
सो रज मम मस्तक चढ़ों, 'भूधर' मांगे येह ।। १४ ।।

पंचम काल में मुनियों की अल्प तपस्या द्वारा महान् निर्जरा

इन विद्वानों की दृष्टि में आगम का यह कथन नहीं आया कि पंचम काल में संहनन हीन होने के कारण मुनिराज पुर, नगर तथा ग्राम में भी निवास करते हैं। ऐसी आगम की आज्ञा इन धर्मात्मा विद्वानों के ध्यान में आयी होती तो वे अपनी रचना में इस बात को प्रतिबिंबित करने से न चूकते। आचार्य देवसेन ने "भावसंग्रह" में लिखा है- **"इस पंचम काल के प्रभाव से तथा हीन संहनन होने के कारण इस काल में मुनिराज पुर, नगर, ग्राम, में निवास करने लगे । अत्यन्त हीन संहनन, शारीरिक हीन शक्ति, दुःषमा काल तथा चित्त की अस्थिरता होते हुए भी धीर पुरुष महाव्रत के भार को धारण करने में उत्साहित होते है"**[१]। जो व्यक्ति यह सोचता हो कि आज चतुर्थ कालीन मुनियों के समान कठोर तपस्वी जीवन व्यतीत करना अशक्य होने के कारण कर्मों की निर्जरा कम होती होगी, उसे आचार्य देवसेन के ये शब्द बड़े ध्यान से पढ़ना चाहिये-**"पहले हजार वर्ष तप करने पर जितने कर्मों का नाश होता था आज हीन संहनन में एक वर्ष के तप द्वारा कर्मों का नाश होता है।"**[२] इसका कारण यह है कि हीन संहनन में तपस्या करने के लिये अलौकिक मनोबल लगता है। आज की शारीरिक स्थिति अद्भुत है। यदि एक दिन आहार नहीं मिला तो लोगों का मुख कमल मुरझा

---

१. संहणणस्स गुणेण य दुस्समकालस्स तवपहावेण।
पुर-णयर-गामवासी थाविरे कप्पे ठिया जाया ।। १२७ ।।
संहणणं अइणिच्चं कालो सो दुस्समो मणो चवलो।
तहविहु धीरा पुरिसा महव्वय-भरधरण उच्छहिया ।। १३० ।।

२. वरिस-सहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण काएण ।
तं संपहि वरिसेण हु णिज्जरयइ हीण संहणणे ।। १३१ ।।

-भावसंग्रह

जाता है। वज्रवृषभसंहनन धारी सहज ही अनेक उपवास और बड़े-बड़े कष्ट सहन करने में समर्थ होते थे। आज का अल्प संयम पुरातन कालीन बड़े संयम के समान आत्म दृढ़ता चाहता है। जैसे एक करोड़पति किसी कार्य के लिये एक लाख रुपये का दान करता है और दूसरा हजारपति नौ सौ रुपये उस कार्य के हेतु देता है, इन दोनों दानियों में अल्प द्रव्य देने वाला दानी असाधारण महत्व धारण करता है, क्योंकि उसका त्याग महान् मनोबल और उदारता का ज्ञापक है। इसी प्रकार आज के व्यक्ति का मुनि बनकर सकल संयम का धारण करना कम चमत्कार की बात नहीं है। आचार्य वामदेव ने लिखा है - **"आज संहनन हीन है, काल भयंकर है, मन चंचल है, फिर भी महाव्रत के भार को धारण करने वाले सकल संयमी सत्पुरुष पाये जाते हैं।"**[१]

यदि काल आदि की भीषणता को भूल, कोई शीत, उष्ण, वर्षा आदि के कष्ट को चतुर्थ काल के समान सहन करे, तो इस शरीर रूपी पिंजड़े के शीघ्र नष्ट होने से आत्मदेव को असमय में ही लोकान्तर को प्रयाण करना होगा।

उत्तर में मुनि-दर्शन का अभाव तथा संयम संबंधी विरुद्ध कल्पना

उत्तर भारत में मुनि-दर्शन होना असंभव सरीखा समझा जाता था। इतना ही नहीं, उच्च श्रावक का जीवन व्यतीत करने वाली आत्मायें भी दृष्टिगोचर नहीं होती थी। उस समय चरित्र के समान ज्ञान की ज्योति भी अत्यंत क्षीण सी दिखती थी। जो तत्त्वार्थ सूत्र तथा भक्तामर स्तोत्र का मूल पाठ कर लेता था, वह आज के प्रकाण्ड पंडितों से अधिक सम्मान और श्रद्धा का पात्र समझा जाता था। उस समय धार्मिकता के रस से भीगे अंत:करण वालों को भाई जी या भगत जी कहा जाता था। वे लोग सोचते थे कि आज का काल, व्रतादि, प्रतिमाओं का पूर्णतया पालन करने के भी प्रतिकूल है। इसलिये वे अपने पाप भीरु मन द्वारा शास्त्रों से चुनी गयी बातों का अद्भुत संग्रह करके उसे जीवन का पथ प्रदर्शक जानते थे।

उनमें अनेक बातें ऋषि-प्रणीत आगम से मेल नहीं खाती थी। उदाहरणार्थ दौलतरामजी ने अपने 'क्रिया-कोष' में रात्रि-भक्त-त्याग नामक छटवीं प्रतिमा में गृहस्थ को रात्रि में मौन धारण करने का वर्णन किया है। उस पर 'श्रावक धर्म संग्रह' में धर्मात्मा श्रावक सोधिया दरयावसिंह जी पृष्ठ २४७ लिखते हैं, "उसका भाव ऐसा भाषता है कि भोजन व्यापार आदि सम्बन्धी विकथा न करे, धर्म चर्चा का निषेध नहीं।" आगम के

---

१. संप्रति दु:षमेकाले नीच संहननाश्रयात् ।
संजाता नगरग्राम जिनावासवासिन: ।। २७२ ।।
नीच संहनन: कालो दुसहश्चपलं मन: ।
तथापि संयमोद्युक्ता महाव्रत धुरंधरा ।। २७६ ।।

प्रकाश में यह बात अतिरेक पूर्ण है। छटवीं प्रतिमा वाला स्वस्त्री सेवन द्वारा संतति तक उत्पन्न करता है, तब उसके विषय में रात्रि में मौन धारण करने का कथन आगम समर्थित नहीं है। दौलतराम जी के क्रिया कोष में पाँचवीं प्रतिमा में सचित्त भक्षण त्याग के स्थान में, सचित्त मात्र का त्याग मानकर गृहस्थ को सचित्त मिट्टी का स्पर्श न करने को कहा है। उसे मुनि तुल्य मान वे पंखा भी हिलाने की अनुमति नहीं देते। उन्होंने लिखा है :

माटी हाथ धोयवे काज, लेय अचित्त दया के काज ॥ १८७१॥
पवन करे न करावे सोय, षट् काया को पीहर होय ॥ १८७४ ॥

गृहस्थों में मूलाचार के समान पूज्य माने जाने वाले क्रिया-कोष में लिखा है कि छटवीं प्रतिमा में रात्रि के समय गमागमन नहीं करे :

गमनागमन सकल आरंभ, तजै रैन में नाँहि अचंभ ॥ १८८२ ॥

उसमें यह भी लिखा है :

छट्टी प्रतिमा धारक सोई, दिवस नारि को परसत होई ॥ १०४८ ॥
रात्रि विषै अनशन व्रत धरै, चउ आहार को है परिहरै ।
गमनागमन तजै निसि मांहि, मन वच तन दिन शील धराहिं ॥ १०४९ ॥

इस प्रकार आज से लगभग तीन चार सौ वर्ष पूर्व का वातावरण तथा लोक धारणा को ध्यान में रखने पर मुनि जीवन की तो कथा ही निराली, प्रतिमाधारी श्रावक का पद कोई धारण कर सकेगा, यह अशक्य सोचा जाता था। यदि किसी ने सप्तम श्रावक के व्रत धारण कर लिए, तो उस धर्ममूर्ति का दर्शन ऐसा ही धार्मिक लोगों को हर्ष प्रदान करता था, जैसा कि पूर्व काल में चारणादि ऋद्धिधारी मुनियों का दर्शन। ऐसे समय के प्रति प्रोत्साहन शून्य तथा कृत्रिम जटिलताओं के कंटकों से पूर्ण वातावरण में महाव्रती बनने की बात को सभी लोग असंभव सदृश सोचते थे। ऐसी स्थिति में गुरु भक्त गृहस्थ या तो विदेह भूमि में विराजमान साधु समुदाय को परोक्ष प्रणामांजलि अर्पित करता था या अपनी मनोभूमि में प्राचीन काल में हुए साधुओं को विराजमान करके बड़े भाव से पूजता था। इस समय संयम के प्रति भक्ति थी, ममता थी, किन्तु मन में भय का भाव भरा था, इससे संयम के पथ पर चलने की कल्पना भी कोई नहीं करता था।

विषय लंपटतापूर्ण वातावरण

इस काल के पश्चात् नवीन वैज्ञानिक युग का आविर्भाव हुआ। इसने अपने संमोहक अस्त्रों, जलकल, वायुयान, रेल, मोटरों आदि के द्वारा लोगों को बहुत आश्चर्यप्रद इंद्रिय पोषक सामग्री प्रदान की। लोग अधिक आमोद-प्रमोद प्रिय बन गए। अतः आचार विचारों में अद्‌भुत शिथिलता का आविर्भाव हो गया। अब संयम का अनुराग

भी नहीं दिखता है। संयमी को देखकर असंयमी समुदाय के मन में आदर का भाव नहीं जगता है। कारण उन असंयमी लोगों के आराध्य और वंदनीय लोग वे हैं जो भोग व विषय लम्पटता में (फिल्मी हस्तियों से) सर्वोपरि बन रहे हैं। इससे आदर्श सदाचार की बात चर्चा की वस्तु बन गई है। लोग यही कहने लगे हैं कि आचार में क्या धरा है, अपने विचार ठीक रखो, यही सार की बात है। आज शिथिलाचार में अपरिमित वृद्धि होने के कारण कौन सोच सकता था कि ऐसी भी कोई युगान्तर उत्पन्न करने वाली आत्मा होगी, जो इस पंचम काल में चतुर्थ कालीन महामुनि की उच्च तपस्या की स्मृति को साक्षात् रूप में दर्शन करायेगी।

अविचलित शांति के सागर परिषह विजेता की कीर्ति फैलना

पुद्गल के विकास का वैभव बताने वाले विज्ञान के चमत्कार पूर्ण इस युग में लगभग (सन् १९५३ से) ३० वर्ष पूर्व एक समाचार प्रकाश में आया था कि अपने आध्यात्मिक पवित्र जीवन से भव्यात्माओं के अंत:करण में अपरिमित आनंद की वर्षा करने वाली एक विलक्षण आत्मा दक्षिण प्रांत में दिगंबर जैन मुनिराज के रूप में विराजमान है। उनकी तपस्या सब को चकित करती है। वे मुनिराज किसी जंगल की गुफा में आत्मध्यान कर रहे थे कि एक नागराज ने उन पर उपसर्ग किया। वह उनके शरीर से ऐसे लिपट गया, मानो वे सचमुच में संतापहारी, शान्तिदायी, सुवास संपन्न चंदन का वृक्ष ही हो। वे मुनिराज सद्गुणों से अलंकृत थे। शांति के सागर थे। इससे उनकी आत्मा सर्पराज के लिपटने पर चंदन के समान अचल रही आयी। दो तीन घंटे के बाद वह विषधर चला गया।

यह दृश्य काल्पनिक अथवा पौराणिक नहीं है। इसे अनेकानेक गृहस्थों ने अपने चर्म चक्षुओं से देखा था। मृत्यु के अत्यंत विश्वस्त प्रतिनिधि सर्पराज की अग्नि परीक्षा में पूर्णतया उत्तीर्ण होने वाले, अविचलित धर्मधारी उन शांति के सागर महामुनि की कीर्ति और महिमा को साधर्मी समुदाय ने अवर्णनीय आनन्द, प्रेम, भक्ति तथा ममता पूर्वक सुनी। लोग चकित हो उठे। प्रत्येक सहृदय, इस भीषण पंचम काल में चतुर्थ कालीन दृश्य को नयन गोचर बनाने वाले, उन तपोनिधि की मनोमन्दिर में पूजा करने लगा।

चित्र-दर्शन

जब उन निर्ग्रन्थ गुरुदेव का वीतरागतापूर्ण दिगंबर मुद्रा मय चित्र प्रकाश में आया, तब सभी मानव अपने-अपने धर्म या सम्प्रदाय का मोह भुला, उन श्रमणराज को बड़ी ममता से प्रणाम करने लगे। उनकी मुद्रा में अपार शांति थी। उनके रोम-रोम में वीतरागता का रस छलकता सा लगता था। वे सर्वपरिग्रह मुक्त, पूर्णतया स्वावलम्बी बन, परिग्रह के पीछे पागल बनने वाले जनसमुदाय को अमर जीवन और सच्चे कल्याण का पथ बताते

थे कि वैभव के विलास में फँसने वाली आत्माएँ अपने विनाश की सामग्री एकत्रित करती हैं, अतः जिसे अविनाशी आनन्द चाहिये, उसे अपरिग्रहवाद के प्रकाश में अपने अन्तःकरण को संयम रूपी जल से धोना चाहिये। उनका जीवन अहिंसामय था।

मुनिराज के चित्र का प्रभाव

एक बार हमारे यहाँ उनके उक्त चित्र का दर्शन अनेक हिंदू, मुस्लिम, पारसी आदि साक्षरों/शिक्षितों ने किया, तो उनकी आत्मा आश्चर्य युक्त हो आनंद विभोर हो गई। एक सहृदय मुस्लिम जागीरदार कह उठे, 'धन्य है ऐसी आत्मा को।' उनके दिगम्बरत्व पर उन्होंने एक पद्य सुनाया कि **दिगम्बरत्व से बढ़कर और कोई दूसरा वेष नहीं है। यह वह पोषाक है, जिसमें सीधे या उल्टे का भेदभाव नहीं है।**[1]

एक दूसरे तत्त्व प्रेमी भाई बोल उठे कि श्रेष्ठ और उच्च जीवन तो इन महात्मा का है, जिन्होंने अपनी इंद्रियों को जीता है। जिनने व्याघ्र, सर्प आदि भीषण जन्तुओं को मारा है, उन्होंने कोई बड़ा काम नहीं किया। सबसे बड़ा शैतान इंद्रियों की लालसा है। जिसने इंद्रियों पर विजय प्राप्त की है, यथार्थ में वही व्यक्ति महान् है, उससे बड़ा और कौन हो सकता है ? पारे को मारकर सिद्ध रसायन बनाने वाले ने क्या बड़ा काम किया ! यथार्थ में अपने अहंकार को जिसने मारा श्रेष्ठ वही आत्मा है।[2]

ऋषिराज का दर्शन

कुछ वर्षो के पश्चात् उन ऋषिराज का साक्षात् दर्शन मिला, तब ज्ञात हुआ कि उनका असाधारण व्यक्तित्व पूर्णतया उनके निकट संपर्क में आने से ही समझा जा सकता है। उनकी समस्त क्रियाओं को देखकर प्रत्येक विवेकी विद्वान् यह अनुभव करता था कि वे इस पंचम काल में चतुर्थ कालीन महामुनियों के समान निर्दोष आचरण करते थे। वे ही आज चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर महाराज के नाम से श्रमण संघ के शिरोमणि के रूप में विख्यात हैं।

लोक-जिज्ञासा

उनके जीवन के विषय में ऐसा कौन है, जिसे कि जिज्ञासा नहीं होगी ? अतएव यह आवश्यक है कि उस सम्बन्ध में विवेचन किया जाय। उनके जीवन पर प्रकाश डालने

---

१. तन की उरयानी से बेहतर है नहीं कोई लिबास।
यह वह जामा है कि जिसका नहीं उल्टा सीधा॥

२. निहंगो अजदहाओ शेरो नर मारा तो क्या मारा,
बड़े मूँजी को मारा नफ्स अम्मारे को जो मारा।
न मारा आपको जो खाक हो अक्सीर बन जाता,
अगर पारे को अय अक्सीरगर मारा तो क्या मारा॥

का साहस हमसे नहीं हो सकता है, कारण उनका उज्ज्वल जीवन स्वयं सबको प्रकाश प्रदान करता है। वे प्रकाशक रहे हैं, दूसरों के द्वारा प्रकाश्य नहीं। उनके असाधारण जीवन की प्राय: सभी बातें महत्वास्पद होंगी, किन्तु उनके चारित्र की प्रामाणिक व पूर्ण सामग्री को प्राप्त करना असंभव सदृश हो गया था।

आचार्यश्री की स्वयं की अवस्था अषाढ़ कृष्ण षष्ठी को अस्सी वर्ष की हो गई, अतः उनके बाल्य तथा युवा काल की कथा बताने वाले साथी अब कैसे मिल सकते हैं ? वे स्वयं महानतत्त्वज्ञ मुनि शिरोमणि है, अत: उनसे सामग्री प्राप्त की आशा निराशा में परिणत हो गई।

लोकोत्तर-व्यक्तित्व

जब सन् १९५१ अक्टूबर में बारामती के उद्यान में हमने अपने अनुज प्रोफेसर सुशील कुमार दिवाकर के साथ बड़ी विनय के साथ, उनसे कुछ जीवन गाथा जानने की प्रार्थना की, तब उत्तर मिला कि हम संसार के साधुओं में सबसे छोटे हैं, हमारा लास्ट नंबर है, उससे तुम क्या लाभ ले सकोगे ? हमारे जीवन में कुछ भी महत्व की बात नहीं है।

हमने कहा कि महाराज ! आपका साधुओं में प्रथम स्थान है या अंतिम, यह बात देखने वाले ही जान सकते हैं। संसार जानता है कि आपका फर्स्ट नंबर है।

महाराज बोले कि लोग हमें क्या जानें ? हम अपने को जानते हैं कि तीन कम नव कोटि मुनियों में हमारा अंतिम नंबर है।

मैंने कहा कि अच्छा ! आपकी दृष्टि में वे साधुगण हैं। उनमें से आप हैं, तब तो आपके जीवन की बातें हम सबके लिये बड़ी कल्याणप्रद तथा बोधजनक होंगी।

महाराज बोले कि बड़े-बड़े ऋद्धिधारी मुनियों तथा महापुरुषों के जीवन-चरित्र का पता नहीं है, तब हमारे चरित्र से क्या होगा ? तुम हमें सबसे छोटा समझो। इतना हमने कह दिया, अधिक नहीं कहना है।

आदेश

कुछ क्षण पश्चात् वे बोल उठे कि तुम्हारे लिये हमारा आदेश है कि तुम हमारा जीवन-चरित्र मत लिखो।

मैं बोला कि महाराज ! यह तो आपकी बड़ी कड़ी आज्ञा है। मैं अपने गुरु के गौरव से जगत को परिचित कराकर गुरु की सेवा तथा लोकहित करना चाहता हूँ। उस विषय में आप क्यों प्रतिबंध उपस्थित करते हैं? आपकी अस्सी वर्ष की अवस्था पूर्ण होने को है। धार्मिक समाज उत्सव मनाकर धर्म प्रभावना करना चाहती है। उसकी इच्छानुसार एक अभिनंदन ग्रंथ भी प्रकाशित करने की आयोजना होने को है और वह भार मेरे ऊपर रखा गया है।

महाराज बोले कि हमें अभिनंदन ग्रंथ वगैरह कुछ नहीं चाहिए। उत्सव भी नहीं चाहिए। अब हमारी जीवन घड़ी में बारह घंटा पूर्ण होने में थोड़ा समय शेष है। सूरज डूबने को थोड़ा समय बाकी है, अब हमें चुपचाप आत्मा का ध्यान करना है। हमें और कोई चीज नहीं चाहिए।

मैने कहा-महाराज आप अपने समय पूर्ण होने की बात कहते हैं, तो क्या आपको इस विषय में भान सा हो गया है।

महाराज बोले कि अब हम अस्सी वर्ष के हो गये हैं, अब और कितने दिन जीवित रहेंगे ? इसलिये हमें अपनी कीर्ति आदि की झंझट नहीं चाहिए। सम्मान नहीं चाहिए। तुम हमारी स्तुति-प्रशंसा में ग्रंथ मत लिखना।

मैं बोला कि महाराज ! यदि ग्रंथ लिख लिया, तो इस दोष का प्रायश्चित आपके चरणों में आकर ले लूंगा। आपके जीवन का परिचय पाकर, जो जगत को सुख, शांति तथा प्रकाश मिलेगा, वह आपके दृष्टि पथ में नहीं है। आपकी महत्ता दूसरे अनुभव करते हैं।

महाराज बोले कि हम कह चुके, हमें कोई कीर्ति, मान, यश नहीं चाहिए।

मेरे पास उन महान् आत्मा के आगे और प्रार्थना करने को शब्द शेष नहीं थे। मैं असमंजस में पड़ गया। सुशील कुमार ने भी अनुज्ञा के लिये अभ्यर्थनाएँ की, किन्तु इन निष्प्रह वीतराग मूर्ति को यह राग की बात न जँची।

हमारा बंबई को प्रस्थान करना आवश्यक था, अत: हमने चुपचाप गुरु चरणों को प्रणाम किया और उनका अनंत आशीर्वाद प्राप्त कर वहाँ से चल दिये। मार्ग में विचार में निमग्न रहे आये। अब क्या किया जाय ? एक यात्री बंधु के पास एक धार्मिक पुस्तक थी, उसे देखने को ले लिया, उसमें लिखा था कि बड़ों की आज्ञा भी कभी-कभी नहीं मानने में कल्याण होता है। मैंने ध्यान से उस अंश को पढ़ा , लिखा था कि तुम पूज्य पुरुषों की वैयावृत्य कर रहे हो और वे तुम्हारे कष्ट का विचार कर कहे कि अब वैयावृत्ति न करो, इस स्थिति में यदि तुम सेवा करके उनके कष्टों को दूर करते हो, तो तुम शब्दशः उनके आदेश का पालन नहीं करते हो, किन्तु वास्तव में तुम उनकी सेवा ही कर रहे हो, इसका श्रेय तुमको मिलेगा ही। तुम्हे अलाभ नहीं होगा।

इसे पढ़ते ही मन में विचार आया कि लोकोत्तर श्रेष्ठ आत्मा की आज्ञा का उल्लंघन भी न हो और कार्य भी बन जाए, ऐसा कोई मध्यवर्ती मार्ग मिल जाए, तो बड़ा सुन्दर होगा। आचार्यश्री यथार्थ में असाधारण आध्यात्मिक विभूति हैं। उनका यश-अपयश की संकीर्णता से ऊपर उठ जाना, उनके आत्म विकास और विशुद्ध दृष्टि का द्योतक है। बड़े से बड़ा व्यक्ति भी इस यश लिप्सा से नहीं बच सका है। इसी से प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने कीर्ति की कामना को सत्पुरुष की अंतिम दुर्बलता कहा है। (Fame is the last infirmity of

noble mind.) जहाँ बड़े-बड़े महापुरुष इस रोग से नहीं बचे हैं, वहीं आचार्य महाराज में यह विकृति भी नहीं है। ऐसी पूज्यनीय आत्मा के विषय में जानने वाले व्यक्ति का मौन रहना जनहित की दृष्टि से अक्षम्य अपराध ही माना जायेगा।

आचार्यश्री की पवित्र जीवनी हमारे लिये श्रद्धा की वस्तु है, क्योंकि उनके पद पर चलने की क्षमता साधारण पुण्य की बात नहीं है। सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर अन्तः बाह्य निर्ग्रन्थ वृत्ति का पाना असामान्य सौभाग्य की बात है।

आत्मानुशासन में लिखा है :-

यदेतत्स्वछन्दं विहरणमकार्पण्यमशनम्
सहार्थ्येः संवासः श्रुतमुपशमैकश्रमफलम्।
मनो मन्दस्यन्दं वहिरपि चिरायाति विमृशन्।
न जाने कस्येयं परणति रुदारस्य तपसः ॥६७॥

अर्थ :- हम नहीं जानते कि यह किस महान् तप का विपाक है, जो मुनिजन स्वतंत्रता के साथ विहार करते हैं, आत्मगौरव पूर्वक आहार ग्रहण करते हैं, गुणी व्यक्तियों के सहवास में रहते हैं, शांत भाव ही है परिश्रम का फल जिनके ऐसे ज्ञान के धारक हैं तथा जिनका प्रशांत-चित्त अंतर्दृष्टि में निमग्न रहकर बहुत समय पश्चात् बहिर्मुखता धारण करता है। वहाँ यह भी कहा है :-

विरतिरतुला शास्त्रे चिन्ता तथा करुणा परा।
मतिरपि सदैकान्तध्वान्त प्रपंच विभेदिनी।
अनशन तपश्चर्या चान्ते यथोक्त विधानतो।
भवति महतां नाल्पस्येदं फलं तपसो विधेः ॥६८॥

महापुरुषों का विषय-त्याग अतुलनीय होता है। शास्त्र संबंधी चिन्ता उनके पास रहती है। सम्पूर्ण जीवों पर करुणा करने को वे तत्पर रहते हैं। उनकी बुद्धि सर्वदा एकांत दृष्टि के अंधकार के प्रसार को दूर करती है तथा अंत में वे आगम के अनुसार अनशन तप करते हैं। ऐसी वृत्ति अल्प तपश्चर्या का फल नहीं है।

श्रद्धांजलि

ऐसे पवित्र आत्म-पथ पर अवस्थित आचार्यश्री की अनुपम तथा असाधारण अवस्था की जब तक जीव को उपलब्धि न हो, तब तक उनके आलोकमयी जीवन के प्रति श्रद्धांजलि व्यक्त करना प्रत्येक मुमुक्षु का कर्तव्य हो जाता है। उन्निनीषु आत्मा का उत्थान इसी उपाय से होता है। यह सोच कर हमने अभिनंदन ग्रंथ का विचार छोड़कर श्रद्धांजलि स्वरूप इस ग्रंथ-निर्माण का निश्चय किया। यह कार्य मुनीन्द्र कुंदकुन्द स्वामी की धार्मिक देशना के पूर्णतया अनुरूप है, कारण जब तक प्रत्याख्यानावरणादि कषायों

का उदय दूर नहीं होता है, तब तक सकल संयम के सत्पथ पर चलने का सौभाग्य किसे प्राप्त हो सकता है ? अतः गुरु-चरणों के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करना आगम सम्मत तथा शिष्टाचार पद्धति के पूर्णतया अनुरूप है, यह विचार कर इस कार्य की पूर्ति निमित्त संलग्न हो गये।

उपरोक्त आचार्य श्री की अत्यंत वीतराग परिणति के कारण अब कुछ सामग्री पाना, जो उनके बाल्य जीवन, तारुण्य जीवन की विशिष्ट घटनाओं को बतावेगी, असंभव प्रायः हो गई। उनकी रुचि एकदम आत्मविचार, आत्मध्यान की ओर हो गयी थी। उन्होंने कार्तिक मास में यही भावना व्यक्त की थी और कहा था, तुम्हें जब चाहे, जितने दिन हमारे पास रहना हो, रहो और आत्मा, ध्यान, तत्त्व-चिंतन आदि के बारे चर्चा करनी हो, प्रश्न करना हो, तो हृदय खोलकर करो। इस स्थिति में पूज्यश्री के साथ, जीवन के पूर्व की अपूर्व घटनाओं का चित्रण करना हमारे हाथ की बात नहीं है। फिर भी भिन्न-भिन्न साधनों से जो कुछ उनके महामहिम जीवन को जानने की सामग्री उपलब्ध हुई, उसके आधार पर उद्देश्य सिद्धि के क्षेत्र में उद्योग किया जायेगा। वादीभसिंह सूरि ने लिखा है कि थोड़ा भी अमृत रस का पान, आनंद का कारण होता है, **पीयूषं नहि निःशेष पिवन्नेवसुखायते**। अतः जो भी सामग्री प्रस्तुत की जायेगी वह यथार्थ में अमृत होगी। जो मुमुक्षु के अमृत पथ प्रस्थान के लिए स्वादु व स्वास्थ्यप्रद पाथेय का कार्य करेगी।

******

वैराग्य का कारण

एक दिन मैंने (आचार्य श्री से)पूछा, "महाराज वैराग्य का आपको कोई निमित्त तो मिला होगा? साधुत्व के लिये आपको प्रेरणा कहाँ से प्राप्त हुई। पुराणों में वर्णन आता है कि आदिनाथ प्रभु को वैराग्य की प्रेरणा देवांगना नीलांजना का अपने समक्ष मरण देखने से प्राप्त हुई थी।"

महाराज ने कहा, "हमारा वैराग्य नैसर्गिक है। ऐसा लगता है कि जैसे यह हमारा पूर्व जन्म का संस्कार हो। गृह में, कुटुम्ब में, हमारा मन प्रारंभ से ही नहीं लगा। हमारे मन में सदा वैराग्य का भाव विद्यमान रहता था। हृदय बार-बार गृहवास के बंधन को छोड़ दीक्षा धारण के लिये स्वयं उत्कंठित होता था।"

पृष्ठ ६७, संयम-पथ

आचार्य श्री की आगम सम्मत प्रवृत्ति

दुर्भाग्य की बात यह है कि उत्तरप्रांत में बहुत समय से मुनियों की परंपरा का लोप सा हो गया था, अतः मुनि जीवन सम्बन्धी आगम का अभ्यास भी शून्य सम हो गया, ऐसी स्थिति में अपनी कल्पना के ताने बाने बुनने वाले करणानुयोग, द्रव्यानुयोग शास्त्रों का अभ्यास करने वाले श्रावक मुनि जीवन के विषय में अपनी विवेक-विहीन आलोचना का चाकू चलाया करते हैं। ऐसे ही आलोचक कुछ विद्वानों के सम्पर्क में आकर हमारा भी मन भ्रांत हो गया था, और हमने भी लगभग आठ माह तक आचार्य महाराज सदृश रत्नमूर्ति को काँचतुल्य सामान्य वस्तु समझा था। पुण्योदय से जब गुरुदेव के निकट संपर्क में आने का सुयोग मिला तब अज्ञान तथा अनुभव शून्यता जनित कुकल्पनाएं दूर हुई। दुःख तो इस बात का है कि तर्क व्याकरण आदि अन्य विषयों की पंडिताई प्राप्त व्यक्ति चरित्र के विषय में अपने को विशेषज्ञ मान उस चरित्र की आराधना में जीवन व्यतीत करने वाले श्रेष्ठ सन्तों के गुरु बनने का उपहास पूर्ण कार्य करते हैं।

मूलगुण-उत्तरगुण समाधान :- एक छोटा सा उदाहरण है। सन् १९४७ में पूज्यश्री का चतुर्मास सोलापुर में था। वहां वे चार माह से अधिक रहे, तब कुछ तर्कशास्त्रियों को आचार्यश्री की वृत्ति में आगम के अपलाप का खतरा नजर आया, अतः आगम के प्रमाणों का स्वपक्ष पोषक संग्रह, प्रकाशित किया गया। उसे देखकर मैंने सोलापुर के दशलक्षण पर्व में महाराज से उपरोक्त विषय की चर्चा की।

उत्तर में महाराज ने कहा-"हम सरीखे वृद्ध मुनियों के एक स्थान पर रहने के विषय में समय की कोई बाधा नहीं है।" फिर उन्होंने हमसे ही पूछा "यह चर्चा मूलगुण सम्बन्धी है या उत्तरगुण सम्बन्धी ?"

मैंने कहा-"महाराज यह तो उत्तरगुण की बात है।"

महाराज बोले-"मूलगुणों को निर्दोष पालना हमारा मुख्य कर्त्तव्य है। उत्तरगुणों की पूर्णता एकदम से नहीं होती है। उसमें दोष लगा करते हैं। पुलाक मुनि के क्वचित कदाचित मूलगुण तक में विराधना हो जाती है।" उत्तर सुनकर मैं चुप हो गया। उस समय समझ में आया कि कई अविवेकी लोग ऐसी कल्पनाएं वर्तमान मुनि पर लादते हैं और यह नहीं जानते कि आगम परंपरा क्या कहती है ?

-तीर्थाटन, महाराज की आगम सम्मत प्रवृत्ति, पृष्ठ- १४७-१४८

प्रभात

प्रभात

जन्मभूमि जननी जनक आदि का वर्णन

जैन संस्कृति के विकास तथा उन्नति के इतिहास पर दृष्टि डालने पर यह ज्ञात होता है कि कैवल्य-सूर्य की रश्मियों से विश्व का मोहान्धकार दूर करने वाले तीर्थंकरों ने अपने जन्म द्वारा उत्तर भारत की भूमि को पवित्र किया तथा निर्वाण द्वारा भी उसे तीर्थस्थल बनाया, किन्तु उनकी धर्ममयी देशना रूप अमृत को पीकर, महत्वपूर्ण वीतरागता के रस से भरे शास्त्रों का निर्माण करने वाले धुरंधर आचार्यों ने अपने जन्म से दक्षिण भारत की भूमि को श्रुति तीर्थ बनाया।

येलगुळ में जन्म

उसी ज्ञानधारा से पुनीत दक्षिण भारत के बेलगाँव जिले को नररत्न आचार्य शांतिसागर महाराज की जन्भूमि बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

भोजग्राम के समीप लगभग चार मील की दूरी पर विद्यमान ग्राम येलगुल में आषाढ़ कृष्णा ६, विक्रम संवत् १९२९, सन् १८७२ में बुधवार की रात्रि को उनका जन्म हुआ था। वह ग्राम भोजग्राम के अंतर्गत तथा सान्निध्य (समीप) में था, इससे भोज भूमि ही जन्म स्थान है, ऐसी सर्वत्र प्रसिद्धि हुई।

वस्तुतः उस ग्राम में महाराज के मामा का निवास था। वे वहाँ के ग्रामपति अर्थात् पाटिल थे। उनके जन्म द्वारा मातुल गृह पवित्र हुआ था। ये बातें हमें तारीख १३ सितम्बर सन् १९५२ को ज्ञात हुई थी, जब हम पूज्य श्री के जीवन वार्ता जानने हेतु भोजभूमि तथा कर्नाटक प्रांत के अनेक ग्राम आदि में गये थे।

सन् १९७० के पर्यूषण पर्व में हम महाराज के जन्मग्राम येलगुड गये थ। उनकी जन्मभूमि हमें तीर्थ रूप लगी। वहाँ के उद्यान में चन्दन का वृक्ष देखकर हर्ष हुआ कि चन्दन के समान गुणराशि महात्मा का जन्मस्थान चन्दन के वृक्ष से समलंकृत है।

क्षत्रिय वंश में जन्म

इनका जन्म क्षत्रिय वंश में हुआ था। पिताश्री भीमगौंडा पाटील थे। जननी कहलाने का पुण्य माता सत्यवती को प्राप्त हुआ था। इनकी जाति चतुर्थ जैन थी, जिसमें अनेक दीक्षाधारी महापुरुषों का जन्म हुआ था।

कोल्हापुर में भगवज्जिनसेनाचार्य (महापुराणकार) का मठ, जो आज भी विद्यमान है, उसके भट्टारक श्री जिनसेन स्वामी चतुर्थ जाति के सत्पुरुष हैं।

कुलीन पूर्वज परम्परा अर्थात सज्जति आदि अयत्न प्राप्त गुण

लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व एक विद्याधर नाम के पीठाधिकारी, दिगंबर, प्रभावशाली तथा प्रतिभा संपन्न निर्ग्रन्थ मुनिराज हुए थे। उनका समाधि स्थान बेलगाँव जिले के अंतर्गत चीकोड़ि तालुका का अक्कवाट ग्राम है। उस स्थान पर आज भी अमावस्या को वंदनार्थ जैन श्रावक व अन्य धर्म के लोग जाया करते हैं। उनके पश्चात् श्री नेमगौंडा, सातगौंडा प्रभावशाली मुनि हुए।

जिस चतुर्थ जाति में महाराज का जन्म हुआ, उसमें बड़े बड़े प्रभावशाली रत्नत्रय धारी तथा वीतरागशासन के प्रभावक नर रत्न हुए हैं। इनकी नौ पीढ़ियों का वंश वृक्ष बताता है कि सभी लोग भूमिपति पाटिल थे। उनके द्वारा धर्म तथा जनता को गौरवान्वित करने वाले महान् कार्य सम्पन्न हुए। इनके जनक तथा जननी का विशुद्ध वंश होने के कारण इनको सप्त परम स्थानों में से प्रथम स्थान 'सज्जातित्व' समलंकृत कहा जायेगा। ये सज्जातित्व, सद्गृहित्व, परिव्राजक पद, सुरेन्द्र पद, साम्राज्य पद, अर्हंत पद, तथा निर्वाण पद, इन सप्त परम स्थानों/श्रेष्ठ पदों में से, पदत्रय विभूषित महापुरुष हैं।[1]

महापुराण में बताया है कि मनुष्य जन्म के प्राप्त होने पर मुनि दीक्षा धारण के योग्य पवित्र वंश में विशुद्ध जन्म धारण करना सज्जाति है। पिता के वंश की शुद्धता को कुल कहते है तथा माता के वंश की निर्मलता को जाति कहते हैं। माता तथा पिता के वंशों की शुद्धता को सज्जाति कहते हैं। इसके होने पर अयत्न प्राप्त गुणों के कारण रत्नत्रय की प्राप्ति सुलभ होती है।[2]

परिवार व नाम संस्कार (शांति की मूर्ति होने से नाम सात)

इनके आदिगौंडा और देवगौंडा नाम के दो ज्येष्ठ बंधु थे। कुंमगौंडा नाम के अनुज थे। बहिन का नाम कृष्णा बाई था। इनके शांत भाव के अनुरूप उन्हें सातगौंडा कहते थे। गौंडा शब्द भूमिपति-पाटिल का घोतक है। ये तृतीय पुत्र थे। इसीसे मानव प्रकृति ने इन्हें रत्नत्रय और तृतीय रत्न सम्यक्चारित्र का अनुपम आराधक बनाया।

---

१. सज्जातिः सद्गृहित्वं च पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं परं निर्वाणमित्यपि ॥ ६७, पर्व ३८, महापुराण॥

२. स नृजन्म परिप्राप्तौ दीक्षायोग्ये सदन्वये।
विशुद्धं लभते जन्म सैषा सज्जाति रिष्यते ॥ ८३, पर्व ३९, महापुराण ॥
पितुरन्वयशुद्धिर्या तत्कुलं परिभाष्यते।
मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिलप्यते ॥ ८५, पर्व ३९, महापुराण॥
विशुद्धिरुभयस्यास्य सज्जातिरनुवर्णिता।
यत्प्राप्तौ सुलभा बोधिरयत्नोपनतैर्गुणैः ॥ ८६, पर्व ३९, महापुराण॥

राजवंश

इनकी वंश परम्परा का उस प्रान्त में बड़ा प्रभाव रहा है। यथार्थ में इनके पूर्वज राजा सदृश थे। पहले इनके पूर्वज श्री पद्मगौंडा देसाई बीजापुर जिले में शालबिद्री स्थल के अधिपति थे। ब्रिटिश शासनकाल में भी अन्य नरेशों के समान इनके पूर्वजों की बातों का बड़ा सम्मान किया जाता था।

दिगंबर पद के लिये कुलीनता की आवश्यकता

कुछ समय से चतुर्थ जाति में (छोड़ी गई विवाहिता व विधवा स्त्रियों के) पुनर्लग्न की कुप्रथा प्रचलित हो गई थी, इसलिए भ्रम वश कोई-कोई यह सोचते हैं कि आचार्यश्री के वंश में भी यह दोष रहा होगा। इसका आश्रय ले वे जघन्य प्रवृत्तियों के प्रचारक पुनर्विवाह को प्रोत्साहन देना चाहते थे, किन्तु जब यह सत्य प्रकाश में आया कि आचार्यश्री के मातृपक्ष और पितृपक्ष परम्परा में कहीं भी पुनर्लग्न की कालिमा नहीं है, तब भ्रांत लोगों को चुप होना पड़ा।

एक बार महाराज के समक्ष इस संबंध में प्रश्न आया था, तब उन्होंने कहा था कि हमारे घराने में पहले कभी भी पुनर्विवाह नहीं हुआ है। यदि कोई यह सिद्ध कर दे, तो हम इस पद को छोड़कर अन्य छोटे पद को ग्रहण कर लेंगे। यह मुनि दीक्षा हमने आत्मकल्याण के लिये ली है, अहंकार पूर्ति के लिये नहीं। दिगंबर जैन शास्त्रों में कहा है कि विशुद्ध वंश वाला त्रैवर्णिक ही निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर सकता है।

संगम भूमि

भोज भूमि में दो सुन्दर नदियाँ, दूध गंगा और वेद गंगा, मिलकर उसे अपना संगम स्थल बनाए हुए हैं। जब हम उन नदियों के संगम पर पहुँचे, तब वहाँ के प्रशांत और रम्य वातावरण में यह विचार उत्पन्न हुआ कि ये दोनों नदियाँ एक विशेष बात की प्रतीक है। वेदगंगा ज्ञान की और दूधगंगा पवित्र प्रेम रस भरे उज्ज्वल चरित्र की सूचिका है। हमें प्रतीत होता है कि शांतिसागर महाराज का जीवन भी सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र के संगम रूप प्रयागराज के समान आध्यात्मिक तीर्थ बन गया है, जिसके द्वारा विश्व के सभी प्राणधारियों को अत्यंत मधुर और रसमय आध्यात्मिक भोजन प्राप्त होता रहा है। आध्यात्मिक भोजन दान करने वाले भी श्री भीम के आत्मज की निवास भूमि का भोज नाम बड़ा अर्थपूर्ण लगता है। यही बात हमने आचार्यश्री के पूर्वजों के द्वारा बनाये गये जिनमंदिर की पार्श्व-भूमि में एकत्रित समाज के समक्ष अपने भाषण में कही थी। हमने तो यह भी कहा था कि विश्व के अनुपम आध्यात्मिक संतराज शांतिसागर महाराज की निवासभूमि, उनके गुणानुरागी लोगों के लिये तीर्थ स्वरूप लगती है।

गुणराशि

वहाँ कुछ वृद्धों से इनके बाल्य जीवन आदि के विषय में परिचय प्राप्त किया, तो ज्ञात हुआ कि ये पुण्यात्मा महापुरुष प्रारंभ से ही असाधारण गुणों के भंडार थे। इनका परिवार बड़ा सुखी, समृद्ध, वैभवपूर्ण तथा जिनेन्द्र का अप्रतिम भक्त था। इनकी स्मरण शक्ति जन साधारण में प्रख्यात थी। इन्होंने माता सत्यवती से सत्य के प्रति अनन्य निष्ठा और सत्य धर्म के प्रति प्राणाधिक श्रद्धा का भाव प्राप्त किया था, ऐसा प्रतीत होता है। अपने प्रभावशाली, पराक्रमी, अत्यंत उदार तथा प्रमाणिक जीवन वाले पूज्य पिता श्री भीमगौंडा से इन्होंने वह दृढ़ता और गंभीरता प्राप्त की थी, जो इन्हें विपत्ति और संकटके समय भीम के समान साहस सम्पन्न रखती आयी है। इन लोगों ने बताया कि इनमें बच्चों जैसी विवेक विहीन जघन्य प्रवृत्तियाँ नहीं पायी जाती थी। बचपन से ही इनके चिह्न इस प्रकार के थे कि ये लोकोत्तर महापुरुष बनेंगे इसलिये ये अलौकिक बालक के रूप में प्रत्येक नर-नारी के मन को अपनी ओर आकर्षित करते थे। जो भी इन्हें देखता था वह इन्हें गंभीरता, करुणा, पराक्रम और प्रतिभा का पुँज पाता था। इनका शरीर अत्यंत निरोग, सुदृढ़ व शक्ति सम्पन्न था। इनकी ऐसी कोइ चेष्टा ही नहीं थी, जिसे बाल कह कर क्षमा किया जाय। बाल्यकाल में ही इनके जीवन में वृद्धों सदृश गंभीरता और विवेक पाया जाता था। इससे यह प्रतीत होता था कि ये जन्मान्तर के महापुरुष इस भरतखंड के लोगों को धर्मामृत पान कराने के लिये ही बाल शरीर धारण कर भव्य भोज भूमि में आविर्भूत हुये हैं और संपूर्ण भव्यों का कल्याण करने वाले वीरशासन के धर्मचक्रधारी सत्पुरुष हैं।

प्रज्ञापुंज

लोगों से ज्ञात हुआ कि इनकी प्रवृत्ति असाधारण थी। ये विवेक के पुँज थे। बाल्यकाल में बाल-सूर्य सदृश प्रकाशक और सबके नेत्रों को प्यारे लगते थे। ये जिस कार्य में भी हाथ डालते थे, उसमें प्रथम श्रेणी की सफलता प्राप्त करते थे। इनका प्रत्येक पवित्र कलात्मक कार्य में प्रथम श्रेणी में भी प्रथम स्थान रहा है। अध्ययन के अल्पतम साधन उपलब्ध होते हुये भी, इनका असाधारण क्षयोपशम और लोकोत्तर प्रतिभा बड़े बड़े विद्वानों और भिन्न-भिन्न धर्मों के प्रमुख पुरुषों को चकित करती थी। यद्यपि ये विद्या के उपाधिधारी विद्वान् नहीं थे, फिर भी बड़े-बड़े उपाधिधारी ज्ञानी लोग इनके चरणों के पास आत्मप्रकाश प्राप्त करते थे। सदाचार समन्वित और प्रतिभा अलंकृत इनका जीवन यथार्थ में सौरभ सम्पन्न सरोज के समान था और उसके समान ही ये जलतुल्य वैभव से अपने अन्तःकरण को पूर्णतया अलिप्त रखते थे।

भोजग्राम के वृद्धों से महाराज की जीवन सामग्री

भोज के वृद्धजनों से तर्क-वितर्क द्वारा जो सामग्री मिली, उससे हम इस निष्कर्ष पर

पहुँचे कि ये प्रकृति के विश्व विद्यालय की सर्वश्रेष्ठ परीक्षा में उत्तीर्ण सत्पुरुष थे, इसलिये इनके जीवन में पूर्णतया प्राकृतिकता का अधिष्ठान रहा है और उसमें किसी प्रकार की विकृति की कालिमा नहीं दिखाई पड़ती। सत्पुरुषों की जननी और जनक जिस प्रकार अपूर्व गुण सम्पन्न होते हैं, वही विशेषता पुण्यशीला माता सत्यवती और भव्य शिरोमणि श्री भीमगौंडा पाटील के जीवन में थी। उनका गृह सदा बड़े-बड़े महात्माओं, सत्पुरुषों और उज्ज्वल त्यागियों की चरण-रज से पवित्र हुआ करता था। जब भी कोई निर्ग्रन्थ दिगंबर मुनिराज या अन्य महात्मा भोजग्राम में आते तो अतिथि-संविभाग कार्य में अत्यंत प्रवीण पुण्यशील माता सत्यवती के भवन को अवश्य पवित्र करते थे। वहां श्रद्धा, भक्ति, विवेक, विनय, आदि सब प्रकार के आंतरिक साधन तथा वैभवशाली होने के कारण बाह्य सामग्री सदा संतों के लिये उपस्थित रहती थी। बड़े-बड़े मुनिराज तथा तपस्वी लोग भोजग्राम के भूपति तुल्य श्री भीमगौंडा पाटील के यहाँ पधारते थे, जहाँ बालक सातगौंडा उनकी सेवा में तत्पर रह, उनके जीवन में धर्म के विकसित तथा परिपक्व स्वरूप को देखा करता था तथा उनके जीवन से उज्ज्वल जीवन बनाने की श्रेष्ठ कला सीखा करता था। यही बड़ी शिक्षा भाग्यशाली भव्य बालक को दिगंबर श्रमणों के निकट संपर्क से मिलती रही, जिसके कारण कुमार-काल में ही भोगों की दासता को छोड़ तपस्वी, मुनि बनने की प्रबल लालसा मन में उत्पन्न हो गयी थी। विदुषी धर्मवती माता से तीर्थंकरों का चरित्र, मोक्षगामी पुरुषों की बातें तथा रत्नत्रय को पुष्ट करने वाली शिक्षा प्राप्त हुआ करती थी। वातावरण भी अलौकिक धार्मिक मनोवृति को विकासप्रद सामग्री प्रदान करता था। परिवार का उज्ज्वल वातावरण जीवन पर कैसा प्रभाव डालता है, यह बात भोज-भूमि में हमारे स्वयं दृष्टिगोचर हुई।

महाराज के परिवार में उच्च संस्कार

इस वर्ष सन् १९५२ के ११ सितंबर को अष्टमी के दिन हमें उस पवित्र घर में भोजन मिला, जहाँ आचार्य महाराज रहा करते थे। उस दिन हमारे लिये लवण आदि षट्रस विहीन भोजन बना था। मैं भोजन करने बैठा। पास में महाराज के भाई का नाती भीमकुमार भोजन कर रहा था।

बालक भीम की थाली में बिना नमक का भोजन आया, इसलिये उसने अपनी माता से कहा कि माता मुझे नमक चाहिये।

पास में बैठी लगभग १० वर्ष की वय वाली बालिका बहन सुशीला बोल उठी कि भैया, जब तुम स्वामी (मुनि) बनोगे, तब तो बिना नमक का आहार लेना होगा, उस समय नमक कैसे मांगोगे?

उस समय भाई-बहन की स्वाभाविक बातचीत सुनकर मेरी समझ में आया कि

परिवार की पवित्रता का पुत्रादि के जीवन पर कैसा प्रभाव पड़ा करता है। उस घर ने आचार्य शांतिसागर महाराज सदृश महापुरुष को जन्म दिया, उसी में श्री देवगौंडा नाम के महाराज के ज्येष्ठ बन्धु ने निवास किया, जो आज दिगंबर मुनि श्री वर्धमान सागर जी के रूप में ६२ वर्ष की अवस्था में निर्दोष रीति से रत्नत्रय धर्म का पालन कर रहे हैं।(जो कि ६७ वर्ष की आयु में समाधिमरण पूर्वक स्वर्गीय विभूति बन गये।)

जब हमने कोल्हापुर के समीप जाकर किनी ग्राम में उनके दर्शन ८ सितंबर को किये, तब अवर्णनीय आनंद प्राप्त हुआ। उनकी शांति, तपस्या, मार्मिकता, ध्यान निमग्नता तथा वीतरागता, वंदक के अन्तःकरण को अत्यंत आनंदित करती है। वे आचार्य महाराज से दस वर्ष ज्येष्ठ हैं। जिस घर में ऐसे दो पवित्र जीवन वाले सचमुच में महान् आत्माओं का निवास रहा, उसका जीवित प्रभाव उपरोक्त भाई बहनों की बातचीत में स्पष्ट हुआ। हमें स्मरण आया कि मीमांसाशास्त्र का महान् विद्वान् मंडन मिश्र के विषय में कि वह कहाँ रहता है, ऐसा प्रश्न उपस्थित हुआ ? तब किसी व्यक्ति ने जिज्ञासु से कहा था कि, "जिस स्थल पर तोता आदि पक्षीगण न्यायशास्त्र की पंक्तियों का इस प्रकार उच्चारण कर रहे हों कि **स्वतः प्रमाणं, परतः प्रमाणं कीरांगनाः यत्र गिरः गिरन्ति,**" वहाँ ही मीमांसशास्त्री मंडनमिश्र का निवास है, यह जानना चाहिए। इसी प्रकार यदि किसी के चित्त में इस बात को जानने की इच्छा हो कि भोज भूमि में किस जगह आचार्य शांतिसागर महाराज ने रहकर अपना पुण्य जीवन व्यतीत किया था, तो हम उससे यही कहेंगे कि उनका घर उसी भूमि को जानना चाहिये, जहाँ भाई-बहन के बीच में मुनि जीवन की पूर्ववत् चर्चा चला करती है। सचमुच में जो शिक्षा बड़े-बड़े विश्व-विद्यालयों के द्वारा नहीं हो पाती, वह उत्तम संस्कारों से संस्कारित परिवार के लोगों से प्राप्त होती है। बाल्य जीवन में माता-पिता के संस्कार शिशु के अंतःकरण पर बीज रूप में अंकित हो जाते हैं, जो आगामी जीवन में सहस्र गुणित वृद्धि को प्राप्त हो बालक को लोकोत्तर महापुरुष बनाते हैं।

बाल्य जीवन पर परिवार का प्रभाव

गान्धीजी के जीवन पर गुजरात में विद्यमान अहिंसात्मक जीवन का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। गान्धीजी ने अपनी आत्मकथा में बताया है कि उनके जीवन पर उनके माता पिता का बड़ा प्रभाव पड़ा था। अपनी आत्मकथा में उन्होंने लिखा है कि **"मेरे पिताजी सत्यप्रिय और उदार थे। धनसंचय करने का लोभ पिताजी को कभी नहीं हुआ था। माताजी बड़ी साध्वी स्त्री थी। इस बात की याद मेरे हृदय में गहरी छाप की तरह अंकित है। जब से मैंने होश सम्हाला, तब से कभी भी उन्होंने चातुर्मास व्रत भंग किया हो, ऐसा मुझे स्मरण नहीं है। वे कड़े से कड़े व्रत को ग्रहण कर लेती थी और उसे अंत तक**

निबाह ले जाती थी। जो व्रत वे एक बार ले लेती, उसके लिये यदि वे बीमार भी पड़ जाती, तो भी छोड़ती नहीं थी।"(पृष्ठ १३-आत्मकथा)

गान्धीजी के धार्मिक विचारों पर उनकी माता तथा पिता का कितना अधिक प्रभाव पड़ा यह निम्नलिखित कथन से स्पष्ट होता है, "राजकोट में यह शिक्षा मिली कि सब सम्प्रदायों के प्रति सम्मान का भाव रखना चाहिये। हिन्दू धर्म के सब सम्प्रदायों के प्रति सम्मान का भाव रखना मैंने वहीं सीखा था, क्योंकि माताजी और पिताजी विष्णु मंदिर जाते थे, शिवालय में जाते और राम मंदिर में भी जाते थे। हम लोगों को भी, कभी तो वे अपने साथ ले जाते और कभी हमें भेज दिया करते थे। इसके सिवाय पिताजी के पास बीच-बीच में कोई (श्वेतांबर) जैन धर्माचार्य आया ही करते थे। पिताजी उन्हें सम्मान से रखते व भोजनादि कराते थे। वे लोग सांसारिक और धार्मिक विषयों की चर्चा किया करते थे। इनके सिवा पिताजी के कई पारसी और मुसलमान मित्र भी थे। जब वे लोग आपस में बातें करते तब सेवा-शुश्रूसा में लगे रहने के कारण मैं भी वहाँ मौजूद रहा करता था। इस वातावरण में रहने का जो प्रभाव मेरे ऊपर पड़ा उसका फल यह हुआ कि सब धर्मों के प्रति मेरे हृदय में समान सम्मान का भाव जम गया।"(पृष्ठ ५७-आत्मकथा)

छत्रपति शिवाजी पर उनकी माता जीजाबाई का गहरा असर पड़ा था। सब प्रवृत्तियाँ जब मोम की तरह मुलायम रहती हैं, उस समय जीवन पर माता पिता के अमिट संस्कार पड़ा करते हैं।

भारतीय गणतंत्र के अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्रप्रसाद अपनी आत्मकथा में अपनी माता के प्रभाव के विषय में लिखते हैं - 'माता और दादी मुझे बहुत प्यार करती। बचपन से ही मेरी आदत थी कि मैं संध्या को बहुत जल्द सो जाया करता था और उधर कुछ रात रहते ही बहुत सवेरे जाग जाता था। जाड़ों में खास कर लम्बी रात होने के कारण रात रहते ही नींद टूट जाती और उसी समय से माँ को भी नहीं सोने देता। रजाई के भीतर ही भीतर उनको जगाता। वह जाग कर पराती (प्रभाती) भजन सुनाया करती। उन भजनों और कथाओं का असर मेरे दिल पर बहुत पड़ता।' सरदार वल्लभभाई पटेल ने राजेन्द्रबाबू के सम्बन्ध में पुस्तक के प्राक्कथन में लिखा है कि श्री राजेन्द्रबाबू को देखते ही उनकी सरलता और नम्रता की छाप हमारे दिल पर पड़ती है। ये नैसर्गिक गुण माता की सत्प्रवृत्तियों के फलस्वरूप ही प्राप्त हुए।

माता की धर्मपरायणता

आचार्यश्री के जीवन पर उनके माता-पिता की धार्मिकता का बड़ा प्रभाव था। सन् १९४८ के दशलक्षण पर्व में फलटन नगर में उन्होंने बताया था कि, "हमारी माता अत्यधिक धार्मिक थी, वह अष्टमी-चतुर्दशी को उपवास करती तथा साधुओं को आहार

देती थी। हम भी बचपन से ही साधुओं को आहार देने में योग दिया करते थे, उनके कमण्डलु को हाथ में रखकर उनके साथ जाया करते थे। छोटी अवस्था से ही हमारे मन में मुनि बनने की लालसा जाग गई थी।''

पिताजी

अपने पिताजी के विषय में उन्होंने बताया था कि वे प्रभावशाली, बलवान, रूपवान, प्रतिभाशाली, ऊंचे पूरे क्षत्रिय थे। वे शिवाजी महाराज सरीखे दिखते थे। उन्होंने १६ वर्ष पर्यन्त दिन में एकबार ही भोजन पानी लेने के नियम का निर्वाह किया था, १६ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत रखा था। उन जैसा धर्माराधनापूर्वक सावधानी सहित समाधिमरण मुनियों के लिये भी कठिन है।

समाधि

एक दिन पिताजी ने हमसे कहा, ''उपाध्याय को बुलाओ, उसे दान देकर अब हम यम समाधि लेना चाहते हैं।''

हमने पूछा, ''आप मर्यादित काल वाली नियम समाधि क्यों नहीं लेते ?''

पिताजी ने उत्तर दिया, ''हमें अधिक समय तक नहीं रहना है, इसलिये हम यम समाधि लेते हैं।''

उस समय हमलोगों ने उनको धर्म की बात सुनाने का कार्य निरंतर किया, दिन के समान सारी रात भी धर्माराधना का क्रम चलता रहा। प्रभात-काल में पिताजी के प्राण सूर्य उदय से पूर्व ही पंच परमेष्ठी का नाम स्मरण करते करते निकल गये। उस समय वे लगभग ६५ वर्ष के थे। अपनी माता के विषय में आचार्य श्री ने बताया था कि हमारी माता का समाधिमरण १२ घंटे में हो गया था। ऐसे धार्मिक परिवार में ऐसे विश्व- दीपक, अनुपम नररत्न का जन्म, संवर्धन तथा पोषण हुआ था।

यह कहावत सत्य है कि पूत के ढंग (लक्षण) पालने में दिख जाते हैं। क्रूर बनने वाला व्यक्ति अपने बचपन में ही सर्प के समान कुटिल, क्रूरवृत्ति को दिखाया करता है। कहते हैं कि शाहजहाँ ने औरंगजेब को तत्त्वज्ञान की शिक्षा देने के लिये एक अच्छे विद्वान् को नियुक्त किया था, किन्तु अत्याचारी शासक बनने वाले औरंगजेब को बाल्यकाल में तत्त्वज्ञान की बातें नीरस और सारशून्य लगती थी।

औरंगजेब ने अपने शिक्षक मौलवी को पत्र में लिखा था, ''आपने मेरे पिता शाहजहाँ से कहा था कि आप मुझे तत्त्वज्ञान की शिक्षा देंगे। यह सत्य है, मुझे यह अच्छी तरह स्मरण है कि आपने मुझे ख्याली बातें बरसों तक बताई, जिनके द्वारा मन को जरा भी संतोष नहीं होता था और उनकी मानव समाज को आवश्यकता भी नहीं है। कोरे विचार और सारशून्य कल्पनायें थी वे। उनमें केवल इतनी बात थी कि वे कठिनता से समझ में

आती थी और सरलता पूर्वक विस्मृत हो जाती थी। क्या आपने कभी यह सिखाना भी सोचा कि किस प्रकार किसी नगर का घेरा डाला जाता है या किस प्रकार किसी सेना को संग्रामार्थ सन्नद्ध किया जाता है। इन बातों के विषय में तो मुझे आपके स्थान पर दूसरों का आभार मानना पड़ेगा।"[१]

बालयोगी का जीवन

आचार्यश्री को चरित्र का चक्रवर्ती बनना था, इसलिये इनके बाल्य जीवन में विकृतियों पर विजय की तैयारी दिखती थी। ये बालयोगी सरीखे दिखते थे। भोज ग्राम में जो शिक्षण उपलब्ध हो सकता था, वह इन्होंने प्राप्त किया था। इनकी मुख्य शिक्षा वीतराग महर्षियों द्वारा रचे गये, रत्नत्रय का वैभव बताने वाले शास्त्रों के स्वाध्याय के रूप में थी। अनुभवजन्य शिक्षा का इनके जीवन में प्रमुख स्थान था। गांधीजी के पिता को भी यही शिक्षा मिली थी। उन्होंने लिखा है, **"पिताजी को जो कुछ भी शिक्षा मिली थी, वह अनुभवजन्य थी। इतिहास या भूगोल की शिक्षा तो उन्हें बिल्कुल ही नहीं मिली थी, पर उनका व्यवहारिक ज्ञान इतना अधिक और उत्तम था कि सूक्ष्म विषयों या प्रश्नों का समाधान करना अथवा हजारों आदमियों से काम निकाल लेना, उनके लिये बायें हाथ का खेल था। इन कामों के लिये उन्हें तनिक भी कठिनाई नहीं होती थी।"** (पृष्ठ १३-आत्मकथा)

अनुभवजन्य ज्ञान [२]

अनुभव के आधार पर प्राप्त ज्ञान बड़ा खरा, सच्चा और मार्मिक होता है। अनेक प्रतापी नरेशों के विषय में कहा जाता है कि उनका ज्ञान और अनुभव सत्संगति के निमित्त से विकसित हुआ था। विश्व के विद्वानों द्वारा अपनी अपूर्व उक्ति और सूझ के

---

1. Aurangzeb in a letter to his tutor writes,"You told my father Shahjahan that you would teach me philosophy ...It's true, I remember only well that you have entertained me many years with airy question of things, that afford no satisfaction to the mind and are of no use in human society, empty notions and mere fancies that have only this in them that they are very hard to understand and very easy to forget.

Have you ever taken care to make me learn what it's to besiege a town or to set an army in array. For these things I am obliged to others and not at all to you."

A treasury of the world's great letters Ed. by M.Lincoln SCHUSTER 1941, pp. 90-91.

२. पूर्व कृत कर्मों के क्षयोपशम के कारण प्राप्त विशिष्ट ज्ञान अथवा वर्तमान में परिस्थितियों के द्वारा सिखलाया गया ज्ञान॥

लिये पूजित कबिरा-कबीरदास ने किसी को अपना गुरु बनाने का कष्ट नहीं दिया था। इस प्रकार प्राय: महापुरुष अनुभव की शाला में शिक्षण लाभ करते हुये देखे जाते हैं।

आचार्यश्री की धारणा-शक्ति अद्भुत रही है। ऐसे क्षयोपशम के कारण सत्संग और शास्त्र चिंतन से उन्हें अपार लाभ पहुंचा है। आचार्य सोमदेव कहते हैं, "नरेश, अध्ययन के अभाव में भी, विशिष्ट व्यक्तियों के संपर्क द्वारा उत्कृष्ट प्रवीणता को प्राप्त करते हैं"।[1]

सर्वप्रियता

अपने सद्गुणों के कारण चरित्र नायक सर्वप्रिय थे। जब वे नौ वर्ष के हुये, तब माता-पिता ने ६ वर्ष की बालिका के साथ इनका विवाह कर दिया। दैवयोग से उस लड़की का छह माह के बाद मरण भी हो गया। महाराज ने बताया था कि हमने उसे अपनी स्त्री के रूप में कभी नहीं जाना। पहले माता पिता अपने मनोविनोद को प्रमुख बना घर में पुत्रवधु लाने की ममता, मोह के कारण छोटी सी अवस्था में, जबकि सचमुच दूध के दाँत नहीं टूटते थे, विवाह कर दिया करते थे। गांधीजी का विवाह तेरह वर्ष की आयु में हो गया था। गांधीजी लिखते हैं कि तेरह वर्ष की आयु में मेरी शादी हुई थी, यह कहते हुए मुझे खेद होता है। आज के दिन मेरे समक्ष बारह तेरह वर्ष के जो लड़के मौजूद हैं, उन्हें देखकर और अपने विवाह की बात सोचकर, मुझे अपनी उस अवस्था पर दया आती है और जिन्होंने इस उम्र में शादी नहीं की, उन्हें बधाई देने को जी चाहता है।[2] (पृष्ठ १८-१९ आत्मकथा)

बाल ब्रह्मचारी का जीवन

जब चरित्रनायक अठारह वर्ष के हुए तब माता-पिता ने फिर इनसे विवाह की चर्चा चलाई। इन्होंने अपनी अनिच्छा प्रगट की। इस पर पुन: आग्रह होने लगा, तब इन्होंने कहा, "यदि आपने पुन: हमें गृहजाल में फंसने को दबाया, तो हम मुनि दीक्षा ग्रहण कर लेंगे।" इस भय से पुन:विवाह के लिये आग्रह नहीं किया गया। इस प्रकार पूज्यश्री बाल्य जीवन से ही निर्दोष ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते चले आ रहे थे, अत: शरीर बड़ा बल सम्पन्न रहा।

शरीर बल

व्यायाम में चार छह आदमियों को जरा में गिरा देते थे। जिसका पंजा इन्होंने पकड़

---

१. अनाधियानोपि विशिष्टजनसंपर्कात्परां व्युत्पत्तिमवाप्नोति॥ ६३ ॥

-नीतिवाक्यामृत, विद्यावृद्ध समुद्देश

2. . Mohandas Karamchand Gandhi married when he was a High School pupil aged 13. He had been engaged three times, ofcourse without his knowledge "I have faint recollection" he reports "that the third betrothal took place in my sebenth year" but he was not informed. He was told six years later, a short time before the wedding.

लिया, उसे छुड़ाना उसके लिये असंभव था। अच्छे हृष्ट-पुष्ट बैलों की जोड़ी द्वारा जो पानी की मोट खींची जाती थी, उसे ये अकेले खेंच लेते थे। दूर तक कूदने में इनके समकक्ष खोजने पर भी नहीं मिलेगा। शरीर वज्र की तरह कड़ा था। जब महाराज का संघ शिखरजी को गया था, तब वैयावृत्त करने वाले व्यक्ति कहते थे कि महाराज का पैर दबाने पर जरा भी नहीं दबता था। विशुद्ध ब्रह्मचर्य तथा वीर्यान्तराय कर्म का विशेष क्षयोपशम होने के कारण ही आज घोर तपश्चर्या और अनशन करने के पश्चात् भी अस्सी वर्ष की अवस्था में उनमें आसन का स्थैर्य है, गमनागमन की शक्ति है, जिसे देखकर अच्छे-अच्छे शक्तिशाली भी दाँतों तले अंगुली दबाते हैं।

त्याग भाव

एक दिन मैंने पूछा, "महाराज आपके वैराग्य परिणाम कब से थे ?"

महाराज, "छोटी अवस्था से ही हमारे त्याग के भाव थे। १७ या १८ वर्ष की अवस्था में ही हमारे निर्ग्रन्थ दीक्षा लेने के परिणाम थे। जो पहले बड़े-बड़े मुनि हुए हैं, वे सब छोटी ही अवस्था में निर्ग्रन्थ बने थे।"

पिता की आज्ञा

मैने पूछा, "फिर कौनसी बात थी, जो आप उस समय मुनि न बन सके ?"

महाराज, "हमारे पिता का हम पर बड़ा अनुराग था। पिताजी ने आग्रह किया कि जब तक हमारा जीवन है, तब तक तुम घर में ही रहकर धर्म साधन करो। तुम्हारे घर से बाहर चले जाने से हमें बड़ा संक्लेश होगा। योग्य पुत्र का कार्य पिता को क्लेश उत्पन्न करने का नहीं है। अत: पिताजी के आग्रहवश हमें घर में ही रहना पड़ा। घर पर भी हम अत्यंत उदास रहते थे। हमारी किसी भी लौकिक कार्य में रुचि नहीं थी।"

कर्नाटक पूर्वज भूमि

एक दिन महाराज से उनके धार्मिक परिवार के विषय में चर्चा चलाई। सौभाग्य की बात है कि उस समय उनके पूर्वजों के बारे में भी कुछ बातें विदित हुई।

महाराज ने बताया था कि हमारे आजा का नाम गिरिगौड़ा था। हमारे यहाँ सात पीढ़ी से पाटिल का अधिकार चला आता है। पाटिल गाँव का मालिक/रक्षक होता है। उसे एक माह पर्यन्त अपराधी को दण्ड देने तक का अधिकार रहता है। महाराज ने यह भी बताया था कि हमारे पूर्वज सभी धार्मिक जमींदार थे। मुनितुल्य उनकी धर्म में निष्ठा रहती थी। चार ग्राम की पाटिली थी। पहले हमारे पूर्वज कर्णाटक में रहते थे। वहां से टीपू के कारण भोज ग्राम में आये थे।

मैने पूछा-"महाराज ! व्यापार का कार्य आप कैसे चलाते थे।"

महाराज- "हम कपड़े की दुकान पर बैठते थे। सब काम पूर्ण सत्यता के साथ करते थे। बचपन से ही हमारी सच बोलने की आदत थी। अन्याय तथा अनीति से घृणा रहती थी।"

मैंने पूछा-"महाराज ! व्यापार में आपका मन तो लगता होगा ?"

महाराज-"हमारा मन सिवाय धर्म ध्यान के दूसरे कामों में नहीं लगता था। हम व्यापार को निरपेक्ष भाव से करते थे।"

मैंने पूछा-"इसका क्या कारण ?"

महाराज-"जब हमारा निश्चय था कि घर छोड़कर हमें वन में जाना है, तब उसमें तल्लीनता और आसक्ति करने का क्या प्रयोजन ? इससे हम उदास भाव से काम करते थे।"

******

आचार्य श्री व समाजोत्थान

कोई व्यक्ति यह कहे कि उनको तो आत्मा की चर्चा करनी चाहिए थी, इन सामाजिक विषयों में साधुओं को पड़ने की क्या जरूरत है ? कोई-कोई साधु अपने को उच्च स्तर का बताने के उद्देश्य से सामाजिक हीनाचार (जैसे विधवा विवाहादि) का विरोध नहीं करते हैं और जनता की प्रशंसा की अपेक्षा करते पाये जाते हैं। आचार्य महाराज का इस प्रवृत्ति को समर्थन नहीं प्राप्त था। उनका चिंतन इस प्रकार था, जिन समाज-हित की बातों का धर्म से सम्बन्ध है, उनके विषय में यदि प्रभावशाली साधु सन्मार्ग का दर्शन न करें, तो स्वच्छंदाचरणरूपी व्याघ्र धर्मरूपी वत्स का भक्षण किए बिना न रहेगा। इन सन्मार्ग के प्रभावक प्रहरियों के कारण ही समाज का शील और संयमरूपी रत्न कुशिक्षा तथा पाप-प्रचाररूपी डाकुओं द्वारा लुटे जाने से बच गया।

-प्रभावना, पृष्ठ २०१

आचार्य श्री व गृहस्थ धर्म

मैंने पूछा-"महाराज ! व्यापार में आपका मन तो लगता होगा ?"

महाराज-"हमारा मन सिवाय धर्म ध्यान के दूसरे कामों में नहीं लगता था। हम व्यापार को निरपेक्ष भाव से करते थे।"

मैंने पूछा-"इसका क्या कारण ?"

महाराज-"जब हमारा निश्चय था कि घर छोड़कर हमें वन में जाना है, तब उसमें तल्लीनता और आसक्ति करने का क्या प्रयोजन ? इससे हम उदास भाव से काम करते थे।"

-प्रभात, पृष्ठ २३
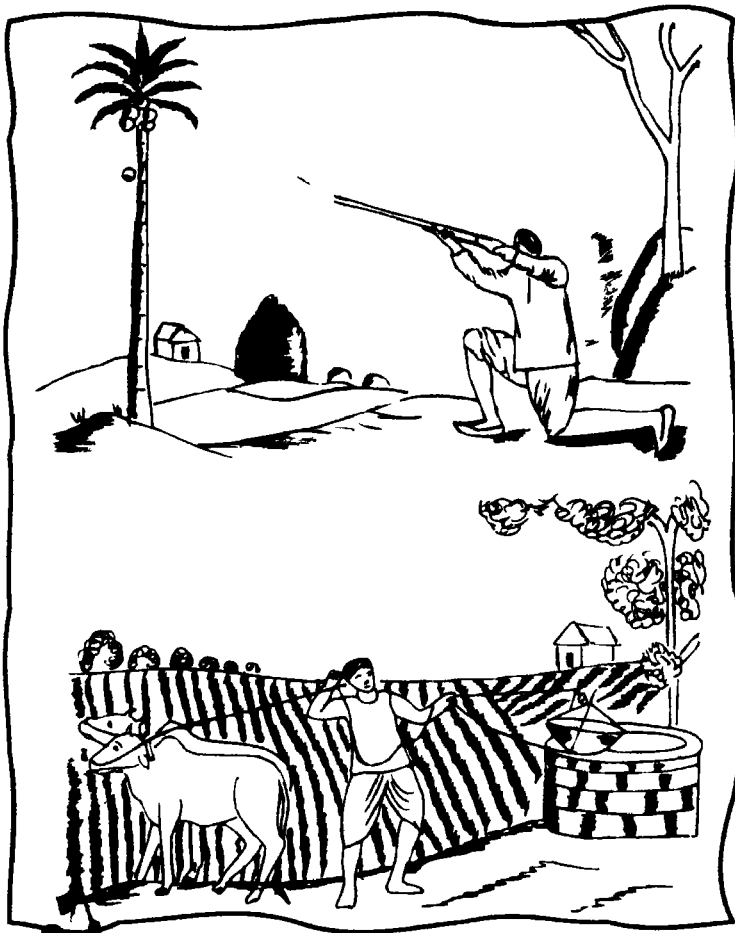
लोक स्मृति

लोकस्मृति

आचार्य शांतिसागर महाराज के साधु बनने के पूर्व का जीवन किस प्रकार का रहा, इस विषय में उन निस्पृह तथा तत्त्वदर्शी महान् आत्मा से विषय सामग्री प्राप्त करना असंभव देख, हमने उनकी निवास-भूमि आदि में विद्यमान व्यक्तियों के पास पहुँचकर सन् १९५२ में पहुँचकर प्रत्यक्ष चर्चा की एवं विविध प्रश्नों के फलस्वरूप कुछ महत्वपूर्ण बातें अवगत की। उनमें प्रमुख स्थान आचार्य महाराज के ज्येष्ठ बंधु मुनि १०८ श्री वर्धमान सागर महाराज से प्राप्त सामग्री का है, जो बड़ी कठिनता तथा सत्प्रयत्न से प्राप्त हुई। भोजग्राम के वृद्ध लोगों से वर्धमान स्वामी के सौरभ सम्पन्न जीवन की वार्ता विदित हुई। प्रामाणिकता, लोकोपकार, दीन-दु:खी एवं सत्पात्रों की सेवा-परायणता आदि उनके विशेष गुण थे। उनका स्वभाव बड़ा मधुर था। उनके सम्पर्क में आते ही हमें ऐसा लगा मानो हम हिमालय के समीप में आ गये हों। दो दिन उनके पास रहकर, जो कुछ सामग्री एकत्रित की जा सकी, वह इस प्रकार है। वे तत्त्वदर्शी, वीतरागी, महामुनि थे, अत: कुटुम्ब की चर्चा करना उनकी आत्मा को अनुकुल नहीं लगता था, फिर भी सौभाग्य से जो कुछ भी अल्प सामग्री ज्ञात हुई, वह अत्यंत महत्व की है।

वर्धमान स्वामी ने बताया, "हमारे माता-पिता महान् धार्मिक थे। धार्मिक पुत्र अर्थात् महाराज पर उनकी अपार प्रीति थी। महाराज जब छोटे शिशु थे, तब सभी लोगों का उन पर बड़ा स्नेह था। वे उनको हाथों-हाथ लिये रहते थे। वे घर में रह ही नहीं पाते थे। बस्तीभर के वे ममत्व पात्र थे।"

मैंने पूछा, "स्वामिन् संसार के उद्धार करने वाले महापुरुष जब माता के गर्भ में आते हैं, तब कुछ शुभ- शगुन कुटम्बियों आदि को दिखते हैं। माता को भी मंगल स्वप्न आदि का दर्शन होता है। आचार्य महाराज सदृश रत्नत्रय धारकों की चूड़ामणि रूप महान् विभूति का जन्म कोई साधारण घटना नहीं है। कुछ ना कुछ अपूर्व बात अवश्य हुई होगी?" महापुराण में कहा है कि जब भरतेश्वर माता यशस्वती के गर्भ में आए थे, तब उस माता की इच्छा तलवाररूप दर्पण में मुख की शोभा देखने की होती थी।[1]

शुभ दोहला

उन्होंने कुछ काल तक चुप रहकर पश्चात् बताया, "उनके गर्भ में आने पर माता को

---

१. साऽपश्यत्स्वमुखच्छायां वीरसूरसिदर्पणे (१५-१३० महापुराण)

दोहला हुआ था कि एक सहस्त्र दल वाले एक सौ आठ कमलों से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करूँ। इस समय पता लगाया गया की कहाँ ऐसे कमल मिलेंगे! कोल्हापुर के समीप के तालाब से वे कमल विशेष प्रबंध तथा व्यय द्वारा लाये गये और भगवान की बड़ी भक्ति पूर्वक पूजा की गई थी। उन्होंने कहा-"उस समय मेरी अवस्था लगभग १० वर्ष थी।"

येलगुळ में जन्म

आचार्यश्री के जन्म के विषय में उन्होंने बताया था कि भोज ग्राम से लगभग तीन मील की दूरी पर येलगुळ ग्राम है। वहाँ हमारे नाना रहते थे। उनके यहाँ ही महाराज का जन्म हुआ था। महाराज के जन्म की वार्ता ज्ञात होते ही सबको बड़ा आनंद हुआ था। ज्योतिष से जन्म पत्रिका बनवाई गई। उसने बताया था कि यह बालक अत्यंत धार्मिक होगा। जगतभर में प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा तथा संसार के प्रपंच में नहीं फँसेगा।

महाराज ने यह भी बतलाया था कि आचार्य महाराज का शरीर अत्यंत निरोग था। कभी भी इनका मस्तक तक नहीं दुखता था। हाँ, एक बार तीन वर्ष की अवस्था में ये बहुत बीमार हो गये थे। रक्त के दस्त होते थे। उस समय इनका जीवन रहता है या नहीं,ऐसी चिन्ता पैदा हो गई थी। किन्तु एक बाई ने दवा दी, उससे ये अच्छे हो गए। इसके सिवाय और कोई रोग नहीं हुआ।

असाधारण शक्ति

आचार्य महाराज का शरीर बाल्य-काल में असाधारण शक्ति सम्पन्न रहा है। चावल के लगभग चार मन के बोरों को सहज ही वे उठा लेते थे। उनके समान कुश्ती खेलने वाला कोई नहीं था। उनका शरीर पत्थर की तरह कड़ा था। वे बैल को अलग कर स्वयं उसके स्थान में लगकर, अपने हाथों से कुएँ से मोट द्वारा पानी खेंच लेते थे। वे दोनों पैरों को जोड़कर १२ हाथ लम्बी जगह को लांघ जाते थे। उनके अपार बल के कारण जनता उन्हें बहुत चाहती थी। वे बच्चों के साथ बाल क्रीड़ा नहीं करते थे। व्यर्थ की बात नहीं करते थे। किसी बात के पूछने पर संक्षेप में उत्तर देते थे। वे लड़ाई झगड़े में नहीं पड़ते थे। बच्चों के समान गंदे खेलों में उनका तनिक भी अनुराग न था। वे लौकिक आमोद-प्रमोद से दूर रहते थे। धार्मिक उत्सवों में जाते थे।

वीतराग-प्रवृत्ति

वे प्रारंभ से ही वीतराग प्रवृत्ति वाले थे। घर में बहन की शादी में या कुंमगौड़ा की शादी में शामिल नहीं हुए थे। उनकी स्मरणशक्ति सबको चकित करती थी। कभी उन्हें प्रमाद या भूल के कारण शिक्षकों ने दण्ड नहीं दिया। अध्यापक इनके क्षयोपशम की सदा प्रशंसा करते थे।

मधुर तथा संयत जीवन

इनका गरीब-अमीर सभी बालकों पर समान प्रेम रहता था। साथ के बालकों के साथ कभी भी लड़ाई झगड़ा नहीं होता था। उन्होंने कभी भी किसी से झगड़ा नहीं किया। उनके मुख से कभी कठोर वचन नहीं निकले। बाल्य-काल से ही वे शांति के सागर थे, मितभाषी थे।

उनकी खानपान में बालकों के समान स्वच्छंद प्रवृत्ति नहीं थी। जो मिलता उसे वे शांत भाव से खा लिया करते थे। बाल्यकाल में बहुत घी दूध खाते थे। पाव-डेढ़ पाव घी वे हजम कर लेते थे। आज की महान् तपश्चर्या में वही संचित बल काम करता है। सब लोग उनको अप्पा (दादा) कहते थे। वे सादे वस्त्र पहनते थे। खादी का बना १२ बंदी वाला अंगरखा पहनते थे। माता सत्यवती सूत कातती थी। इससे यह खादी बनती थी। वे सदा फैटा बाँधते थे। वे तकिये से टिक कर नहीं बैठते थे। तकिये से दूर आश्रय विहीन बैठा करते थे।

अश्व परीक्षा आदि में पारंगत

वे अश्व परीक्षा में प्रथम कोटि के थे। वे अपनी निपुणता किसी को बताते नहीं थे, केवल गुणदोष का ज्ञान रखते थे। वे घर के गाय बैल आदि को खूब खिलाते थे और लोगों को कहते थे कि इनको खिलाने में कभी भी कमी नहीं करना चाहिए। आज उनके सुविकसित जीवन में जो गुण दिखते हैं, वे बाल्यकाल में वट के बीज समान विद्यमान थे। बचपन में वे माता के साथ प्रतिदिन मंदिर जाया करते थे।

आत्मध्यान की रुचि

बच्चों के समान बारबार खाने की आदत उनकी नहीं थी। वे अपनी निपुणता को सदा शास्त्र पढ़ते हुए पाये जाते थे। ध्यान करने में उनकी पहले से रुचि थी। वेदांती लोग उनके पास आकर चर्चा करते थे। वेदांत प्रेमी रुद्रप्पा से उनकी बड़ी घनिष्टता थी। इनके उपदेश के प्रभाव से वह छानकर पानी पीता था, रात्रि को भोजन नहीं करता था। रात्रि को भोजन करते समय महाराज ने उसे प्रत्यक्ष में पतंगे आदि जीवों को भोजन में गिरते बताया था। इससे रात्रि-भोजन से उसके मन में विरक्ति पैदा हुई। उसको महाराज के उपदेश से यह प्रतीत होने लगा था कि जैन धर्म ही यथार्थ है। उनके प्रभाव से वह उपवास करने लगा था। जब वह प्लेग से बीमार हुआ, तब महाराज ने उसकी आत्मा के लिये कल्याणकारी जिन धर्म का उपदेश दिया था।

मुनिभक्ति व निस्प्रह जीवन

"मुनियों पर महाराज की बड़ी भक्ति रहती थी। एक मुनिराज को वे अपने कंधे पर बैठा कर वेद गंगा तथा दूध गंगा के संगम के पार ले जाते थे। वे रात्रि-दिवस शास्त्र पढ़ने

में तत्पर रहते थे। एक बार बांच लेने पर अमुक ग्रंथ में अमुक बात लिखी है, ऐसा वे अपनी स्मृति के बल पर बोलते थे। लेन-देन, व्यापार आदि में वे पूर्ण विरक्त थे। छोटा भाई कुंमगौड़ा कपड़े की दुकान पर बैठता था। जब वह बाहर चला जाता था, तब वह (अप्पा) तकिया छोड़कर बैठे रहते थे। लोग आकर पूछते कुंमगौड़ा कुठे गेला, सातगौड़ा? तब वे कहते थे कि वह बाहर गया है। यदि कपड़ा लेना है तो अपने मन से चुन लो, अपने हाथ से नापकर कपड़ा फाड लो और बही में अपने हाथ से लिख दो। इस प्रकार की उनकी निस्पृहता थी। वे कुटुम्ब की झंझटों में नहीं पड़ते थे।''

पिता का अपार पराक्रम तथा तपस्वी जीवन

''वे सबको शास्त्र समझाते थे तथा लोगों की शंका का समाधान करते थे। उन्होंने बताया था कि हमारे पिता ने लगभग १६ वर्ष तक एक आसन से बैठकर एक ही बार भोजन किया। उन्होंने भारत वर्ष के तीर्थो की वंदना की थी। उन्होंने श्रवणवेलगोला के दर्शन के बाद एकभुक्ति का नियम लिया था तथा घी, दूध, दही आदि सब छोड़ दिये थे। सेठ हीराचंद नेमचंद के द्वारा प्रकाशित जैनतत्त्व दर्शन पुस्तक के बाँचने से हमारे पिताजी की धार्मिक श्रद्धा स्वच्छ हुई थी। पिताजी बडे पराक्रमी, प्रभावशाली और महान् तेजस्वी थे। सौ व्यक्ति भी उन पर आक्रमण नहीं कर सकते थे। हमारे पूर्वज बीजापुर जिले के सारबिद्री ग्राम से 'भोज' आये थे। वे आठ बैलों से खींचने वाली गाडियों पर अपनी सम्पत्ति लादकर वहाँ आए थे, कारण बीजापुर की ओर यवनों ने भयंकर अत्याचार मचा रखा था।''

उन्होंने यह भी बताया कि सब रस छोड़ने से हमारे पिता का बलवान शरीर कृश होता जा रहा था, उस समय हम उनको नारियल का दूध निकालकर भोजन में मिलाकर देते थे, ताकि उस स्निग्ध पदार्थ से उनका शरीर टिका रहे। पीछे उन्होंने आहार तक अत्यंत न्यून कर लिया था। वे एक वर्ष पर्यन्त एक कटोरी प्रमाण भोजन लेते रहे। उनकी समाधि बड़ी महत्वपूर्ण थी। हम और महाराज उनके दोनों तरफ बैठे थे। उन्होंने लोगों को रोते देखकर कहा, हमें आत्मकल्याण करना है। यदि तुम हल्ला करोगे, तो हम इस घर में नहीं रहेंगे । उन्होनें अपने हाथ से केशों को उखाड़ दिया था व बैठने की गद्दी अलग कर दी थी। निरन्तर धर्म ध्यान में लीन हो, बडी सावधानी से शरीर का परित्याग किया था। पिता की मृत्यु होने पर महाराज ने दुःख नहीं किया था, वैराग्य मूर्ति बने रहे थे।

वंश में जिन-भक्ति की परम्परा

उन्होंने यह भी बताया, ''आचार्य महाराज के १८ वर्ष की अवस्था में मुनि बनने के परिणाम थे। उस समय हमारी धार्मिक रु चि थी, किन्तु उनकी दीक्षा के बाद हमारे भावों में परिवर्तन हुआ। हमारे घराने में बहुत पहले से जिन भगवान् की भक्ति

चली आ रही है, इसलिये सारा परिवार धर्म की भक्ति में तत्पर रहता था। हमारी माता व्रत-संयम पालन तथा साधु सेवा में सदा तत्पर रहती थी।''

''हमारे यहाँ मुनियों को आहार देने योग्य भोजन सदा बनता था। बस्ती में मुनिराज के आने पर उपाध्याय आकर माता से कहता था, ''आजीबाई महाराज आले (महाराज आ गये।), वे कहती थी-''इथे घेऊन या बाबा (उन्हें यहाँ ले आओ)।''

जब माता-पिता ने महाराज से विवाह करने को कहा तब महाराज ने कहा-''मी ब्रह्मचारी राहणार'' (मैं ब्रह्मचारी रहूँगा)। उनके शब्दों को सुनते ही मातापिता के नेत्रों में पानी आ गया और वे बोले-''माझा जन्म तुम्हीं सार्थक केला बेटा''(तुमने हमारा जन्म कृतार्थ कर दिया बेटा)। उन्होंने बताया हमारी माता हम लोगों को धर्म और सदाचार का उपदेश दिया करती थी कि ''**पाप करु नका, चोरी करु नका, जीवहिंसा करु नका**'' इत्यादि कहती थी।

हमने पूछा, ''क्या कभी माता-पिता आपको तथा महाराज को दण्ड देते थे ?'' उस पर उन्होंने कहा कि हमने तथा महाराज ने दण्ड पाने योग्य अन्याय किया ही नहीं, तो फिर दण्ड की बात क्या ? माता की वाणी कठोर नहीं थी, प्रेम तथा शांत भाव पूर्ण थी। उन पर सब प्रीति करते थे। हमारे पिता बलवान, धनवान तथा ऐश्वर्यवान थे। बड़े बड़े लोग उनके अधीन रहते थे। उन्होंने अपने व्यवहार में बेईमानी को कभी भी स्थान नहीं दिया। पाटिल होते हुए किसी की तनिक भी जमीन अन्याय पूर्वक नहीं ली। अधिकारियों के मुख से यही वाक्य निकलता था-''खरा माणुस आहे''। न्याय के साथ परिवार के गौरव का भी उन्हें बड़ा ज्ञान था। एक बार किसी कुटुम्बी को राज्यअधिकारी ने तीन सौ रुपये दण्ड अथवा जेल की सजा दी थी। उस समय अपने गोत्र के गौरव को धक्का लगेगा, ऐसा सोचकर उन्होंने अपने पास से रुपया देकर उसे छुड़ाया।

बंदूक द्वारा सफल लक्ष्यबेध

हम सब लोग भोज में प्लेग होने के कारण अपने मामा के यहाँ थे। उस समय हमारे मामा बड़े प्रतापी थे। उनके आतंक से डाकू वगैरह उपद्रव नहीं कर पाते थे। सरकार ने उनके पास बंदूक आदि हथियार दिये थे। वहाँ हम सब लोग विनोद पूर्वक बैठे थे। नारियल के वृक्ष में लगे हुए नारियल को छेदने की चर्चा चली। महाराज ने अपने जीवन में कभी भी बंदूक हाथ में नहीं ली थी। उस समय उन्होंने बंदूक हाथ में ली और एकाग्र बंदूक का निशाना लगाया और क्षणभर में बंदूक छोड़ दी। गोली ने नारियल को छेद दिया। सब लोग चकित हो गये। इसके पश्चात् कभी उन्होंने बंदूक हाथ में नहीं ली। इस प्रकार की उनकी एकाग्रता तथा कर-कौशल था।

जब महाराज ने दीक्षा ली और हम लोग उनके दर्शनों को जाते थे, तो वे हमसे

विशेष अनुराग युक्त बात नहीं करते थे।

इस प्रकार हम वर्धमान स्वामी से प्रश्न करके आचार्यश्री के जीवन संबंधी बातों को पूछ रहे थे कि उन्होंने पूछा कि अब और क्या पूंछना है ? मैंने कहा-"महाराज आमचे पोट नाहिं भरले" (हमारा पेट अभी नहीं भरा है)।

वे बोले-"तुमचें पोट [1] प्रद्युम्नसारखें आहे (तुम्हारा पेट श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न कुमार के समान है)।"

अनुभव

उनमें विराग भाव की वृद्धि देखकर मैंने यों ही कुछ उपयोगी अध्यात्मिक प्रश्न उनसे किये, उनका उत्तर देने में उनमें स्फूर्ति आ गई। मैंने पूछा, "महाराज ! आत्मा का अनुभव कैसा है ?"

उन्होंने कहा,"शक्कर मधुर है, अत्यंत मधुर है, इससे उसकी मधुरता का वर्णन नहीं होता है। यह अनुभवगम्य है। "गोड़ कसी सांगा ?"(शक्कर मिठी तो है, लेकिन कैसी ? इसे कैसे कहोगे ?) इतने में एक दूसरा मनुष्य आ गया, जिसने कि सर्करा का रसास्वाद लिया था, वह तुरन्त उसकी मधुरता का स्मरण करेगा और उसके मुख में रसोद्रेग के स्मरण द्वारा समान रूप से पानी आ जायेगा। इसी प्रकार आत्मा का अनुभव वाणी के अगोचर है। उसका अनुभव करने वाले व्यक्ति, तुलना द्वारा उसका बोध प्राप्त करते हैं।"

मैंने पूछा,"महाराज ! व्यवहार क्रिया क्या सर्वथा मिथ्या है ?" मेरा भाव था कि यदि व्यवहार धर्म मिथ्या है तो आप २८ मूलगुणादि व्यवहार धर्म का क्यों आश्रय लिये हुए हैं ?

उन्होंने मेरा मनोभाव समझते हुये तुरन्त कहा,"व्यवहार खरा, निश्चय खरा, लवार कौन को कहना।"(व्यवहार ठीक है, निश्चय भी सत्य है, मिथ्या किसको कहना ?)

मैं चुप हो गया। कुछ क्षण के पश्चात् मैंने पूछा- "महाराज आप ९२ वर्ष के हो गये, आपको दीक्षा लिये कितने वर्ष हो चुके ?"

उन्होंने कहा,"हमने बारामती में आचार्य महाराज से दिगंबर दीक्षा ली थी। इसे १३ वर्ष हो गये।"

सदानंद

मैंने कहा,"महाराज ! वृद्ध अवस्था में यह दीक्षा दुखःप्रद तो नहीं है।"

उन्होंने सस्मित वदन से कहा,"इसमें कष्ट किस बात का है ? हमारा आत्मा तो सदानंद है।"

---

१. जैसे प्रद्युम्न कुमारने अपने विक्रिया के द्वारा बनाये गये शरीर द्वारा माता सत्यभामा के यहाँ के सब भोज्य पदार्थों को खा लिया था, फिर भी वह भूखा का भूखा दिखाई पड़ता था।-हरिवंश पुराण

इस उत्तर को सुनते ही मैंने कहा, "महाराज ! आमचे पोट भरले. (मेरा पेट भर गया।) केवल एक ही बात आपसे पूछना है कि आप सदृश महामुनिराज का पवित्र समय व्यवहारिक चर्चा में लिया और बहुत समय तक आपको कष्ट दिया, इसका क्या प्रायश्चित्त है ?"

आशीर्वाद

मधुर स्मितपूर्वक उन्होंने कहा, "तुम आचार्य महाराज द्वारा सौंपे गये धवल ग्रंथादि का काम बराबर करो तथा ऐसे ही अन्य धार्मिक कार्य करो यही प्रायश्चित है और यही हमारा आशीर्वाद भी है।"

मैंने उनको प्रणाम किया और प्रभु से प्रार्थना की कि मैं अधिक से अधिक वर्धमान शासन की सेवा में योग्य, सफल, सम्पन्न बनूं, ऐसी क्षमता प्राप्त हो।

माता पिता की महत्ता

श्री भाऊसाहब देवगौड़ा पाटिल की अवस्था ६५ वर्ष की है। ये महाराज के चचेरे भाई हैं। धार्मिक रुचि सम्पन्न हैं। उनने बताया कि महाराज के पिता श्री भीमगौड़ा पाटील खूब ऊंचे पूरे, अत्यंत बलवान, प्रभावशाली, तथा बुद्धिमान सत्पुरुष थे। वे विनोद में भी मिथ्याबात नहीं बोलते थे। उनकी प्रकृति सौम्य थी, स्वभाव मधुर तथा सर्वप्रिय था। वे नीतिसम्पन्न तथा उदारचेता मानव थे। उनके तेज के समक्ष बड़े-बड़े लोग झुक जाया करते थे।

माता सत्यवती बड़ी बुद्धिमती, धर्मपरायण, सर्वप्रिय, पति-सेवा तत्पर तथा पुण्यशीला थी। वे बहुत व्रत उपवास करती थी। अन्य महिलाओं के प्रति उनमें सखी भाव पाया जाता था। उनका हमारी माता ताराबाई से बड़ा प्रेम रहता था। वे सभी बालकों का सावधानी तथा प्रेम पूर्वक पोषण करती थी। महाराज (सातगौड़ा) की विरक्त प्रकृति देख माता का अधिक लक्ष्य उनकी ओर रहा करता था।

महाराज के बड़े भाई, जो आज वर्धमान सागर मुनिराज के रूप में वंदित हैं, पहले से ही संन्यासी सदृश थे। वे गृहस्थ होते हुए भी मोक्ष मार्गस्थ थे। वे सेवा भावी तथा परोपकारी थे। वे अपने से छोटों तक की बात को प्रेम पूर्वक मानते थे।

शांत तथा एकांत प्रिय

महाराज सदा शांतभाव सम्पन्न रहते थे। ये एकांत प्रिय थे। व्यर्थ की बातें नहीं करते थे। शास्त्र चर्चा के हेतु लोगों के पास बैठते थे। विकथा कभी नहीं करते थे। इनके वचनों पर सभी को अपार विश्वास रहता था। लोग उन पर बड़ी श्रद्धा रखते थे। उनकी वाणी में विशेष आकर्षण तथा मार्मिकता पायी जाती थी। वे ऐसी न्यायपूर्ण बात कहते थे कि उसे सभी लोग मान्य करते थे।

अजातशत्रु

सब लोग उन पर प्रेम करते थे। वे अजातशत्रु थे। अत्यंत सादे ढंग से रहते थे। खादी की धोती, वाराबंदी, फेंटा उनके वस्त्र थे। वे अश्व परीक्षा में अनुपम थे। घोड़े के शरीरस्थ चिन्हों को देखते ही उसके गुण दोषों को जान लेते थे। वृषभ-परीक्षा में भी वे प्रवीण थे। प्रत्येक बौद्धिक कार्य में उनका प्रथम स्थान था। कृषि कार्य में उनका अनुभव दूसरों का मार्गदर्शक था। तम्बाखू, धान्य, इक्षु आदि फसलों के वे विशेषज्ञ थे। ऐसा कोई काम नहीं था, जिसमें उनका दूर-दूर तक के लोगों में दूसरा नम्बर हो।

उनकी प्रत्येक चेष्टा से यह अनुमान होता था कि वे लोकोत्तर महापुरूष हैं।

जब महाराज ने मुनि दीक्षा ली, तब जैन-अजैन सभी कहते थे-"हे घरांत साधू प्रमाणेंच होते, आज प्रत्यक्ष साधू बनले, असा प्रत्येकाला भाव झाला"- प्रत्येक व्यक्ति उस समय यही परिणाम हुए कि ये घर में साधु सदृश ही थे, आज ये साक्षात साधु बन गये। उनके दीक्षा लेने पर प्राय: सभी लोगों के नेत्रों में अश्रु आ गये थे।

सबके उपकारी

ये अकारण बंधु तथा सबके उपकारी थे। उनको धर्म तथा नीति के मार्ग में लगाते थे। वे भोज भूमि के पिता तुल्य प्रतीत होते थे। उनके साधु बनने पर ऐसा लगा कि नगर के पिता अब हमेशा के लिये नगर को छोड़कर चले गये। उस समय घर-घर में उनके पुण्य गुणों की चर्चा थी। आज भी पुराने लोगों की आँखों में उनकी चर्चा होते ही आँसू आ जाते हैं कि उन जैसी विश्वपूज्य विभूति के ग्राम में हम लोगों का जन्म हुआ है।

अत्यंत मधुर जीवन

हमारे घर के अत्यंत सन्निकट उनकी दुकान थी, जहाँ वे पुण्यपुरुष सदा बैठा करते थे, इससे हमें उनका पूरा-पूरा हाल ज्ञात है। हमें वे घर में ही योगी सदृश लगते थे। उनके जीवन में एक भी दोष हमारे देखने में नहीं आया। दोष शून्यता को ही उनका दोष कहा आ सकता है। उनके जीवन में एक अपूर्व मधुरता थी। उनके पास बैठने में, उनकी बोली सुनने में बड़ा अच्छा लगता था। उनका सदृष्टांत तथा कथा सन्दर्भ संयुक्त शास्त्र विवेचन हृदय के द्वार खोल देता था। वे पराई निंदा तथा कटु भाषण से दूर रहते थे। उनका ब्रह्मचर्य अत्यंत निर्दोष था। वे बड़े भारी प्रतिभा सम्पन्न थे। कैसा भी कठिन प्रश्न उपस्थित किये जाने पर वे अपनी अद्भुत प्रज्ञा शक्ति द्वारा उसका समाधान करते थे।

असाधारण धैर्य

हमने उनको दु:ख तथा सुख में समान वृत्ति वाला देखा है। माता पिता की मृत्यु होने पर, हमने उनमें साधारण लोगों की भाँति शोकाकुलता नहीं देखी। उस समय उनके भावों में वैराग्य की वृद्धि दिखाई पड़ती थी।

उनका धैर्य असाधारण था। माता-पिता का समाधिमरण होने से उन्हें संतोष हुआ था। उनके पास आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान को स्थान न था। वे धर्मध्यान की मूर्ति थे। वे दया, शांति, वैराग्य, नीति तथा सत्य जीवन के सिन्धु थे।

उनकी आत्मा बालक के समान पवित्र थी। इससे उनका बच्चों पर उत्तम वात्सल्य भाव पाया जाता था। उनमें किसी प्रकार का व्यसन नहीं था। उनमें चंचलता या क्षुद्रता नहीं थी। वे सागर के समान सर्वदा गंभीर रहते थे। उनकी स्मृति असाधारण थी। वे जिस बात की परीक्षा करते थे, वह सदा ठीक ही निकलती थी। तम्बाखू की फसल आने पर उसकी पेड़ी बाँधने में उनकी कुशलता की सभी सराहना करते थे। उन्होंने तम्बाखू को सुवास सम्पन्न करने में लवंग लगाने का विशेष प्रयोग किया था। उससे उनकी सृजन शक्ति की सभी व्यापारी तथा किसान लोग प्रशंसा करते थे। वे किसी की नकल नहीं करते थे। सभी लोग उनका अनुकरण करते थे।

न्यायपूर्ण जीवन

उनकी न्यायसिद्ध भाषा सर्वत्र अकाट्य थी। उनके तर्क के आगे सबका सिर झुक जाता था। बड़े-बड़े शास्त्री, श्रीमन्त, वकील, जज आदि उनकी प्रतिभा प्रसूत बातों को सुनकर चकित होते थे, उनका यह सामर्थ्य भी हम लोगों के नयन गोचर होता रहता था।

दयासागर

उनका दयामय जीवन प्रत्येक के देखने में आता था। दीन-दु:खी, पशु-पक्षी आदि पर उनकी करुणा की धारा बहती थी। जहाँ-जहाँ देवी आदि के आगे हजारों बकरे, भैंसे आदि मारे जाते थे, वहाँ पहुँचकर अपने प्रभावशाली उपदेश द्वारा जीव वध को ये बंद कराते थे। इससे लोग इनको 'अहिंसावीर' कहते थे। ये दयामूर्ति के साथ ही साथ प्रेम मूर्ति भी थे। इस कारण ये सर्प आदि भीषण जीवों पर भी प्रेम करते थे। उनसे तनिक भी नहीं डरते थे। इनका विश्वास था कि ये प्राणी बिना सताये कभी भी कष्ट नहीं देते हैं।

संसार से विरक्ति

हम पर महाराज की बड़ी दया थी। हम उनके यहाँ सदा जाया करते थे। वे हमारे यहाँ अथवा दूसरों के यहाँ बिना कार्य के नहीं जाते थे। कोर्ट कचहरी आदि का काम ये नहीं करते थे। उनसे वे पृथक् रहते थे। वह काम छोटे भाई कुंमगौड़ा देखा करते थे। महाराज

में अतिलोभ या कुटुम्ब के प्रति अत्यासक्ति नहीं पायी जाती थी। वे अल्प आरंभ तथा अल्प परिग्रह वाले सत्पुरुष थे। विषयासक्त संसार और उनमें जमीन- आसमान का अंतर था। वे कठोर भूमि पर शयन करते थे। गद्दी का उपयोग नहीं करते थे।

उनका शरीर अत्यंत निरोग तथा सशक्त था। उनके शरीर के समान उनकी आत्मा भी पूर्ण स्वस्थ थी। उनके स्वभाव में तनिक भी गर्मी नहीं थी। "क्रोध, चंचलता आणि अतिवेगाने कोणतेहिं काम ना करीता; धैर्य आणि विचारपूर्वक ते कार्य करित होते (वे क्रोध, चंचलता तथा अत्यंत वेग से कोई काम नहीं करते थे। धैर्य तथा विचारपूर्वक ही कार्य करते थे।))।"

इन्होंने मिथ्यात्व का त्याग कराया

यहाँ पाटिलों का सदा प्रभाव रहा है, किन्तु भेदनीति के कारण ब्राह्मणों ने अपना विशेष स्थान बनाया है। लोग मिथ्यादेवों की आराधना करते थे। यहाँ के मारुति के मंदिर में जाते थे। लिंगायतों तथा ब्राह्मणों के धर्मगुरुओं की भक्ति-पूजा करते थे। उनका उपदेश सुनते थे। उनको भेंट चढ़ाते थे। इस प्रकार के गाढ़ मिथ्यान्धकार में निमग्न लोगों को सत्पथ में लगाने का सामर्थ्य किसमें था ? महाराज के उज्ज्वल व्यक्तित्व तथा पवित्र उपदेश के प्रभाव से लोगो ने गृहीतमिथ्यात्व का त्याग करके सम्यक्त्व के मार्ग को ग्रहण किया। महाराज के प्रभाव से जैनियों को बौद्धिक तथा मानसिक स्वातंत्र्य मिला और समाज का परित्राण हुआ।

महाराज की सभी प्रवृत्तियाँ धैर्य के उन्मुख तथा धर्मानुकुल होती थीं। वे धैर्य-नीति, मिथ्यात्व-निराकरण तथा अहिंसा-प्रचार के सिवाय लौकिक व्यवहार अथवा राजनीति के पंक में लिप्त नहीं होते थे।

प्रकृति सिद्ध महापुरुष

हमारे पूर्वज बताते थे कि पूना के समान इस भोजभूमि में अनेक ख्याति प्राप्त कलाकार, विद्वान् तथा मर्मज्ञ लोगों ने जन्म धारण किया है। रुद्रप्पा सदृश ध्यानी तथा सत्यव्रती वसप्पा लिंगायत सदृश ज्योतिषी तथा व्यायाम में श्रेष्ठ, सर्कस में श्रेष्ठ गायन विद्या में अतीव निपुण अनेक कलाकार यहाँ ही हुए हैं। बाहर इस प्रकार की प्रसिद्धी रही है कि जो व्यक्ति भोज वासियों के परीक्षण में उत्तीर्ण हुआ है, उसकी सर्वत्र जयजयकार हुई है। आचार्य महाराज के प्रति सभी भोजवासियों की श्रद्धा, भक्ति तथा आदर की भावना, इस बात को पहले से ही सूचित करती थी कि इस महापुरुष का सारे संसार में सर्वोपरि स्थान रहेगा। कोई भी मर्मज्ञ यदि महाराज के जीवन का सन्निकट रूप से निरीक्षण करता, तो वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रहता कि ये प्रकृतिसिद्ध महापुरुष प्रत्येक कार्य में सर्वश्रेष्ठ रहे हैं। दीक्षा लेने के बाद महाराज एक बार भोज पधारे थे। मंदिर में भगवान का

दर्शन करके उन्होंने सामायिक की तथा वे बाहर चले गये थे, ताकि किसी प्रकार का मोह उत्पन्न न हो। हजारों लोगों ने एकत्रित होकर भोज की विभूति का ही नहीं, विश्व की अनुपम निधि का दर्शन किया था। उनके जाने के बाद भोज भूमि प्राण शून्य सी लगती थी। हम लोग अपने को इसी बात में कृतार्थ मानते हैं कि हम लोगों का जन्म आचार्य शांतिसागर महाराज जैसे श्रेष्ठ नर-रत्न एवं श्रमण शिरोमणि की निवास भूमि में हुआ।

वृद्ध मराठा का कथन

भोज ग्राम में गणु ज्योति दमाले नाम का एक मराठा किसान ८० वर्ष की अवस्था का था। वह एक ब्राह्मण के खेत में मजदूरी करता रहा है। उस खेत से लगा हुआ एक खेत है, जहाँ महाराज का प्रतिदिन आना जाना होता था। उस वृद्ध मराठा को जब यह समाचार पहुँचा कि महाराज के जीवन के सम्बन्ध में परिचय पाने को कोई व्यक्ति बाहर से आया है, तो वह महराज का भक्त मध्याह्न में दो मील की दूरी से भूखा ही समाचार देने को हमारे पास आया। उस कृषक बाबा से इस प्रकार की महत्व की सामग्री ज्ञात हुई :

अपूर्व दयालुता

उसने बताया, "हम जिस खेत में काम करते थे उससे लगा हुआ महाराज का खेत था। हम उनको पाटिल कहते थे। हमारा उनसे निकट परिचय था। उनकी बोली बड़ी प्यारी लगती थी। मैं गरीब हूँ और वे श्रीमन् हैं, इस प्रकार का अहंकार उनमें नहीं था।

हमारे खेत में अनाज खाने को सैकड़ो हजारों पक्षी आ जाते थे, मैं उनको उड़ाता था, तो वे उनके खेत में बैठ जाते थे। वे उन पक्षियों को उड़ाते नहीं थे। पक्षियों के झुंड के झुंड उनके खेत में अनाज खाया करते थे।"

एक दिन मैंने कहा कि पाटिल हम अपने खेत के सब पक्षियों को तुम्हारे खेत में भेजेंगे।

वे बोले कि तुम भेजो, वे हमारे खेत का सब अनाज खा लेंगे, तो भी कमी नहीं होगी।

इसके बाद उन्होंने पक्षियों के पीने का पानी रखने की व्यवस्था खेत में कर दी। पक्षी मस्त होकर अनाज खाते थे और जी भर कर पानी पीते थे और महाराज चुपचाप यह दृश्य देखते, मानो वह खेत उनका न हो। मैंने कहा कि पाटिल तुम्हारे मन में इन पक्षियों के लिये इतनी दया है, तो झाड़ पर ही पानी क्यों नहीं रख देते हो ? उन्होंने कहा कि ऊपर पानी रख देने से पक्षियों को नहीं दिखेगा, इसलिये नीचे रखते हैं। उनको देखकर कभी-कभी मैं कहता था- "तुम ऐसा क्यों करते हो ? क्या बड़े साधु बनोगे ?" तब वे चुप रहते थे, क्योंकि व्यर्थ की बातें करना उन्हें पसंद नहीं था। कुछ समय के बाद जब पूरी फसल आई, तब उनके खेत में हमारी अपेक्षा अधिक अनाज उत्पन्न हुआ था।

शूद्रों पर प्रेमभाव

उनकी अस्पृश्य शूद्रों पर बड़ी दया रहती थी। हमारे कुएँ का पानी जब खेत में सींचा जाता था, तब उसमें से शूद्र लोग यदि पानी लेते थे, तब हम उनको धमकाते थे और पानी लेने से रोकते थे, किन्तु महाराज को उन पर बड़ी दया थी। वे हमें समझाते थे और उन गरीबों को पानी लेने देते थे। खेतों के काम में उनके समान कुशल आदमी हमने दूर-दूर तक नहीं देखा। खेत में गन्ने बोते समय उनका हल पूर्णतया सीधी लाईन में चलता था। उनके द्वारा बनाई गई तम्बाखू की पेढ़ी सर्व श्रेष्ठ रहती थी। वे सबसे बड़े प्रेम से बोलते थे। पशुओं पर भी उनका बड़ा भारी प्रेम था। उनको ये दिल खोलकर खिलाते-पिलाते थे। इनके बैल हाथी सरीखे मस्त रहते थे। इनके सामने जो गरीब जाता था, उसको मुक्तहस्त होकर ये अनाज दिया करते थे। बस्ती में छोटे बड़े सभी लोग इनके विरुद्ध जरा भी नहीं थे। वे भगवान के यहाँ से ही साधु बनकर आये थे। वे हमको अच्छी बातें समझाया करते थे।

सर्प पर प्रेम

एक दिन हमारे खेत में दो गज लम्बा साँप निकला। मैंने उसे मार डाला। यह बात उन्हें अच्छी नहीं लगी। उन्होंने मुझसे कहा कि तुमने अच्छा नहीं किया। यह कुलीन आदमी का काम नहीं। अपने जीवन में बस इतने ही कड़े शब्द इनके मुँह से सुने। इससे उनको इतना बुरा लगा कि वे तुरन्त वहाँ से अन्यत्र चले गए। इतना होते हुए भी उनकी हम पर दया थी।

गुड़ तथा शक्कर तैयार करने में वे श्रेष्ठ थे। एक दिन हमने उनसे बिना पूछे गुड़ बनाने में उनकी नकल की तो हमारी चासनी बिगड़ गई। वे सभी कामों में बहुत चतुर थे। जब हमने सुना कि वे 'स्वामी' बन गये, तब मेरे हृदय में बड़ा दुःख हुआ। आंखों में आंसू आ गये। उस समय मुझे पश्चाताप होता था, कि मैं इतने बड़े महात्मा से किस प्रकार कठोर बातें कह देता था और वे महात्मा चुप रहते थे। उनके साधु बनने से सारे गांवें को बड़ा दुःख हुआ।

गरीबों के उद्धारक

गांव में पुराने लोगों में जब चर्चा चलती थी, तब लोग यही कहते थे कि हमारे गाँव का रत्न चला गया, एक अच्छे सत्पुरुष चले गये। गरीब लोग आँखों से आँसू बहाकर यह कहकर रोते थे कि हमारा जीवन दाता चला गया। शूद्र लोग उनके वियोग से अधिक दुःखी हुए थे, क्योंकि उन दीनों के लिये वे करुणा सागर थे। अभी तक हममें जो कुछ अच्छी बातें हैं, उसका कारण वे स्वामी जी ही हैं। हमने कभी चोरी नहीं की, मिथ्या भाषण भी नहीं किया, कुशील सेवन भी नहीं किया तथा दूसरे की बहु-बेटियों को माता और बहिन की दृष्टि से देखा, इसका कारण महाराज का पवित्र उपदेश है। वे कभी भी व्यर्थ बातें नहीं करते थे। गप्पें भी नहीं लगाया करते थे। हम सबको व्यर्थ की बाते करने से रोकते थे। स्वामी

ने स्वप्न में दो तीन बार दर्शन दिये। अब जीवन में उनका दर्शन कहाँ होगा ?

निकटवर्ती वृद्ध का वर्णन

आचार्य महाराज के बाल्य जीवन से निकट परिचय **रामाभीमा, सांगावे ग्रामवासी, पंचम जैन** का था, जो उनके ज्येष्ठ बंधु देवगौंडा (वर्धमान स्वामी) के समान ६२ वर्ष के थे। **श्री भीमगौंडा पाटिल** की अवस्था ८५ वर्ष की थी। इन दोनों वृद्ध पुरुषों से आचार्यश्री के सम्बन्ध में ये बातें ज्ञात हुई थी :

शांत प्रकृति

हम बाल्यकाल से इनके साथ रहे हैं। ये सदा शांत प्रकृति के रहे हैं। खेल में तथा अन्य बातों में इनका प्रथम स्थान था। ये किसी से झगड़ते नहीं थे, प्रत्युत झगड़ने वाले को प्रेम से समझाते थे। ये बाल मंडली में बैठकर सबको यह बताते थे कि बुरा काम कभी नहीं करना चाहिए। वे नदी में तैरना जानते थे। उनका शारीरिक बल आश्चर्य-प्रद था।

उनका जीवन बड़ा पवित्र और निरुपद्रवी रहा है। वे कभी भी किसी को कष्ट नहीं देते थे। वे करुणा भाव पूर्वक पक्षियों को अनाज खिलाते थे। वे मेला, ठेला तथा तमाशों में नहीं आते थे। केवल धार्मिक उत्सवों में भाग लेते थे। हम लोगों को उपदेश देते थे कि अपना काम ठीक से करना चाहिये व व्यर्थ की बातों में नहीं पड़ना चाहिये।

मुनि भक्त

मुनिराज के आने पर वे उनका कमण्डलु लेकर चलते थे और उनकी खूब सेवा करते थे। मुनिराज उनसे बहुत चर्चा करते थे। हजारों आदमियों के बीच में स्वामी (मुनिराज) का इन पर अधिक प्रेम रहा करता था। वे भोजन को घर में आते थे तथा शेष समय दुकान पर व्यतीत करते थे। वहाँ वे पुस्तक बाँचने में संलग्न रहते थे। उनकी माता का स्वभाव बड़ा मधुर था। वे हम सब लड़कों को अपने बेटे के समान मानती थी। वे हमें कहती थी, "कभी चोरी नहीं करना, झूठ नहीं बोलना, अधर्म नहीं करना। उनके घर में घी दूध का विपुल भंडार रहता था।"

रामा सांगावे ने कहा-"मैं महाराज के साथ २४ वर्ष तक रहा। उनके परिवार में काम करता था। मैं उनके साथ उठता बैठता तथा सोता था। उनके साथ खेत को जाता था। उनका खाना मर्यादित रहता था। वे अभक्ष्य पदार्थ नहीं खाते थे। उनके हृदय में वैराग्य का भाव छुपा रहता था। स्वामी बनने के विचार उन्होंने कभी प्रगट नहीं किये। जब उन्होंने दीक्षा ली, तब हमें अपार दुःख हुआ। इस बात का स्मरण करते ही उस वृद्ध की आँखों से अश्रुधारा बह चली तथा कंठ से स्पष्ट शब्द निकलना बंद हो गया।

रामा ने बताया कि दीक्षा लेने के बाद जब हमें कोगनोली में उनके दर्शन हुए, तब हमने

उनसे कहा कि स्वामी आप संसार से पार हो गये और हम अभी वहीं के वहीं हैं। इसके बाद हमारा गला भर आया।

तब महाराज ने कहा कि आत्मा का कल्याण करो। वे हमें कहते थे कि जिनेन्द्र की वाणी पर पूर्ण श्रद्धा रखो। वे अन्य धर्मों की निंदा नहीं करते थे। वे खेल तमाशों में भाग नहीं लेते थे। वे दीक्षा लेने के पूर्व अपनी बहन कृष्णाबाई के साथ शिखरजी गये थे। वहाँ से आने के बाद एकासन आदि का नियम लिया था। अप्पाजी मकदूम, तात्या शिवगौंडा पाटिल, रलप्पा चौगले (आदिसागर स्वामी) और सातगौंडा (आचार्य महाराज) मिलकर शास्त्र चर्चा करते थे। ये लोग सदा धर्म ध्यान करते थे। इनके छोटे भाई कुंमगोंडा का मधुर स्वर में ग्रंथ वाचन सुनकर महाराज के मन का वैराग्य बढ़ता था। वैराग्य उत्पन्न करने का कारण कुंमगोंडा पाटिल का मधुर प्रवचन था, ऐसा हमें प्रतीत होता है।

महाराज खादी के वस्त्र पहनते थे। उनकी माता सत्यवती चरखा चलाती थी। अब महाराज हमारे पास से दूर हो गये। हम उनका स्वप्न में दर्शन करते हैं। हम रोज उनका नाम जपते हैं। रामा ने कहा कि आमचा तीर्थंकर सातगोंडा स्वामी आहे (शांतिसागर महाराज हमारे तीर्थंकर हैं)। उनकी वाणी प्रत्येक व्यक्ति को शांति तथा आनंद प्रदान करती थी, इसलिये उन गुरुदेव को हमारा शतशः प्रणाम है।

वृद्धा का कथन

रुक्मणी बाई (धर्मपत्नी शिवगोंडा पाटिल) वय ७० वर्ष से आचार्य महाराज और उनकी माता के विषय में परिचय प्राप्त करने का प्रयत्न किया :

माता की धार्मिकता

उस वृद्धा ने कहा कि महाराज की माता सत्यवती बाई को मैं अच्छी तरह जानती थी। वे बहुत शांत और सरल थी। उनका स्वभाव बड़ा मधुर था। वे देवता प्रकृति की थी। व्रताचरण, धर्मध्यान, परोपकार उनके जीवन के मुख्य अंग थे।

मितभाषी-सत्यनिष्ठ

उस वृद्धा माता ने महाराज के विषय में कहा कि वे बड़े शांत, सरल और निरुपद्रवी थे। वे हठी प्रकृति के नहीं थे। वे सत्यनिष्ठ और मितभाषी थे। वे दुनिया की झंझटों से दूर रहते थे। उनकी बोली सुनकर सबको प्रेम उत्पन्न होता था। उनका चरित्र बड़ा पवित्र था। वे बड़े दयालु थे। उनके खेत में जब पक्षी आकर अनाज खाते थे, तो वे पीठ करके बैठ जाते थे, जिससे पक्षीगण निर्भय होकर अनाज खाते रहें।

मुनि भक्ति

जब कभी कोई जैन निर्ग्रन्थ गुरु बस्ती में आते, तो ये उनकी बड़ी सेवा किया करते

थे। वे अपनी माता से कहा करते थे कि हम मुनि बनेंगे, हम यहाँ नहीं रहेंगे। वास्तव में वे महापुरुष थे। उनका उपदेश सर्वप्रिय तथा कल्याणकारी होता था।

मधुर जीवन

आचार्य महाराज के सबसे छोटे भाई श्री कुंमगौडा पाटिल के चिरंजीव श्री जिनगोंडा के पास जयसिंहपुर ग्राम में पहुँचकर ता. १३-०६-५२ को हमने उनके परिवार के सम्बंध में चर्चा चलाई। श्री पाटिल से उनकी आजी के विषय में महत्वपूर्ण बातें विदित हुई। उन्होंने बताया "इस समय मेरी अवस्था ४८ वर्ष की है मुझे अपनी आजी माँ की थोड़ी-थोड़ी स्मृति है। जब मैं भोजन के समय हठ करता था, तब वे करुणामयी माता मनोवांछित पकवान बना मुझे मनाया करती थी।" वे मुझे अपने साथ सवेरे तथा संध्या को भोज के जिन मंदिर में ले जाती थी। वे मुझे कनड़ी भाषा में कहा करती थी- "बेटा हमेशा भगवान का दर्शन करना चाहिए, इससे सब सुख मिलते हैं।" वे मुझे अपनी गोद में लिये-लिये फिरती थी। मैं कितना भी उपद्रव करता था, वे कभी भी नाराज नहीं होती थी। यदि कोई घर का आदमी मुझे डाँटता था, तो आजी माँ कहती थी "बच्चे को प्रेम से समझाना चाहिए, उसे मारना पीटना नहीं चाहिए और न उस पर क्रोध ही करना चाहिए।"

हमारे घर में मुनिराज आदिसागर अंकलीकर, देवेन्द्रकीर्ति स्वामी आदि साधु लोग प्राय: पधारा करते थे। उस समय आजी माता उनकी सेवा, भक्ति तथा दानादि बड़ी खुशी से करती थी।

शिक्षा

आजी माँ के चार पुत्र और एक पुत्री के बीच में एक मैं ही उनका नाती था। इस कारण आजी माँ की मेरे प्रति ममता होना स्वाभाविक बात थी। वे मुझे समझाती थी "बेटा कभी झूठ नहीं बोलना, चोरी नहीं करना, दूसरे का उपद्रव नहीं करना इत्यादि।" उनकी वाणी बड़ी मधुर रहती थी। दु:खी व्यक्ति तथा निर्धन परिवार को वे संकट के समय सहायता देती थी। अतिथियों के सत्कार में उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती थी। मेहमानों को बढ़िया भोजन कराना तथा वस्त्रादि से उनका सत्कार करना आजी माँ का प्रिय विषय था। घर में आजी माँ की बात को सब भाई बहन मानते थे। प्रभात में मेरे पिता आदि आजी माँ को प्रणाम करते थे तथा उनका आशीर्वाद प्राप्त करते थे। वे अतिशय बुद्धिमती थी। इससे अनेक महिलाएँ उनके पास आकर बैठती थी तथा उनसे सलाह लिया करती थी। आजी माँ बड़ी उदार प्रकृति की थी। मेरे साथ खेलने वाले बच्चों को भी मेरे ही समान खिलाती थी। जब कभी बच्चों में झगड़ा होता, तो वे बिना धमकाये प्रेम से

समझाती थी और कुछ प्रिय पदार्थ खिलाकर सबको शांत कर देती थी।

महाराज का पुण्य जीवन

हमारे घर में शास्त्र-चर्चा सतत चला करती थी। आचार्य महाराज व्रती थे, इससे आजी माँ उनका विशेष ध्यान रखती थी।श्री पाटिल ने यह भी बताया "जब मैं ५-६ वर्ष का था, तब मुझे वे (महाराज) दुकान के भीतर अपने पास सुलाते थे। वे काष्ठासन पर सोते थे। किन्तु मुझे गद्दे पर सुलाते थे। प्रभात में वे सामायिक करते थे व पश्चात् मुझे जगाकर पंचणमोकार मंत्र पढ़ने को कहते थे। वे मुझे रत्नकण्ड श्रावकाचार के श्लोक कंठस्थ कराते थे। वे अनेक प्रकार के सदोपदेश मुझे देते थे। प्रभात में मैं स्कूल चला जाता था। मध्याह्न में लौटकर आता था। उस समय महाराज अपने पास बैठाकर मुझे भोजन कराते थे, वे दूसरी थाली में मौन से एक ही बार भोजन करते थे। जब तक उनका आहार पूरा नहीं होता था, तब तक मैं उनके पास ही बैठा रहता था। दोपहर को वे मुझे कुछ देर पढ़ाते थे। पश्चात् वे मुझे किशमिश, बादाम, खोपरा, मिश्री आदि खिलाते थे। आम की ऋतु में निपाणी से हापुस आम मंगाकर खिलाते थे, किन्तु वे खुद कुछ भी नहीं खाते थे। मेरी माता को शास्त्र बताते थे। इससे मेरी माँ शास्त्र में प्रवीण हो गई थी। महाराज की दीक्षा के बाद मेरी माँ स्त्रियों को शास्त्र सुनाती थी। संध्या के समय महाराज मुझे खेत की ओर, तो कभी-कभी मैदान की तरफ घुमाने ले जाते थे। आजी माँ की मृत्यु के बाद महाराज दुकान में रात्रि को शास्त्र पढ़ते थे। उसी समय उनका मित्र रुद्रप्पा आया करता था। वह भी मुझ पर प्रेम करता था।

प्राणरक्षा

महाराज की बात का हमारे घर में बड़ा मान था। महाराज की दुकान पर १५-२० लोग शास्त्र सुनते थे। मलगोंडा पाटिल उनके पास शास्त्र सुनने रोज आता था। एक रात वह शास्त्र सुनने नहीं आया, तब शास्त्र चर्चा के पश्चात् महाराज उनके घर गये, वहाँ नहीं मिलने से रात में ही उसके खेत पर पहुँचे, वहाँ वे क्या देखते हैं कि मलगोंडा ने गले में फाँसी का फंदा लगा लिया है और वह मरने के लिये तत्पर है। यदि कुछ देर और हो जाती, तो उसकी जीवन लीला समाप्त हो गई होती। सौभाग्य से वह उस समय जीवित था। महाराज ने उसका फंदा खोला व अपनी दुकान में लाकर उसे खूब समझाया। उसकी अंतर्वेदना दूर की, जिससे उसने आत्महत्या का विचार बदल दिया।

हमारे घर में अखण्ड शांति रहती थी। सब लोग महाराज के कंट्रोल में रहते थे। वे, मेरी माता तथा आजी एक बार ही भोजन करते थे। जब महाराज मेरी माता के समक्ष अपनी दीक्षा लेने की बात कहते थे, तब मैं आकर उनके पैरों से लिपट जाता था और कहता था-

"अप्पा ! अभी आपको नहीं जाने दूँगा। अभी मैं छोटा हूँ। बड़े होने के बाद आप मुझे समझाकर जावें।" इस पर वे मुझे संतोषित करते थे।

मेंढ़क की प्राणरक्षा

एक दिन की बात है कि महाराज शौच को बाहर गये हुए थे। वापिस आने पर उनके हाथ में टुटे हुये लोटे को देखकर घर में पूछा गया कि यह लोटा कैसे टूटा ? तब उन्होंने बताया कि एक सर्प एक मेंढक को खाने जा रहा था। उसी समय उस मेंढक की प्राणरक्षा के लिये तत्काल इस लोटे को पत्थर पर जोर से पटका जिससे वह साँप भाग गया। श्री पाटिल ने वह लोटा हमें दिखाया था।

उन्होंने कहा-"आजी माँ की मरण बेला पर महाराज उन्हें शास्त्र सुनाकर सेवा करते थे।"

बहिन

महाराज की बहिन कृष्णा बाई के विषय में उन्होंने कहा कि वे बाल विधवा थी। हमारे घर में ही रहकर व्रत-उपवास पूर्ण धार्मिक जीवन व्यतीत करती थी। वे अतिथि सेवा तत्पर थी। उनका मुझ पर बड़ा प्रेम था।

बाबा का जीवन

मुनि वर्धमान सागर महाराज के विषय में पाटिल ने कहा, " वे बड़े परोपकारी सेवा परायण तथा अत्यंत दयालु थे। वे भोले स्वभाव के सत्पुरुष थे। मैं उनको बाबा कहता था और महाराज को अप्पा। इससे सभी लोग उनको अप्पा कहने लगे थे। वे जयसिंहपुर के बाहर खेत में जाकर एकान्त स्थान में दो या तीन घंटे पर्यन्त धूप में कायोत्सर्ग पूर्वक ध्यान करते थे।"

अपने पिता श्री कुंमगोंडा के विषय में उन्होंने कहा, "वे लोक व्यवहार में प्रवीण थे। गृहस्थी का सारा काम वे देखते थे तथा व्यवस्था करते थे। शास्त्र चर्चा में मेरे पिता का महाराज के साथ खूब बाद-विवाद हुआ करता था।" तत्त्व का मन्थन कार्य बड़ी सूक्ष्मता के साथ होता था। मेरे पिता जब शास्त्र पढ़ते थे, तब महाराज को बड़ा संतोष होता था। इससे वे उनको ही शास्त्र बांचने को कहते थे। मेरे पिताजी तथा माता ने सन् १९१९ में आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत लिया था। उनका महाराज के प्रति अगाध प्रेम था। यदि महाराज राम थे तो वे लक्ष्मण तुल्य उनके परम भक्त थे। महाराज की आज्ञा अथवा इच्छा के विरुद्ध कोई काम नहीं करते थे। मेरे पिता ने ब्रह्मचर्य प्रतिमा ले ली थी। उनके भी भाव मुनि बनने के थे, किन्तु दुर्भाग्य से उनकी असमय में मृत्यु हो गई।

जब महाराज ने भोज से लगभग २० मील की दूरी पर उत्तर में स्थित उत्तूर ग्राम में

क्षुल्लक दीक्षा ली, तब दूसरे दिन लोगों ने जाकर कहा- "महाराज आपने तो हमसे दीक्षा की कोई भी चर्चा नहीं की ?" इस पर उन्होंने कहा- "दीक्षा लेने की बात बोलना ही चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है। हमारे वैराग्य के परिणाम पहले से ही थे, ये बात आप लोग जानते ही हैं।" इसके पश्चात् उन्होंने थोड़ा सा वैराग्य का उपदेश दिया, जो कि अपूर्व था।

क्षुल्लक सुमति सागरजी फलटण वाले संपन्न तथा लोकविज्ञ व्यक्ति थे। उन्होंने संवत् १९९६ में नादरे में आचार्य शान्तिसागर महाराज के पास से क्षुल्लक दीक्षा ली थी। उनकी अवस्था ६४ वर्ष के लगभग थी। उनसे जब हमने आचार्य महाराज के विषय में प्रश्न किए, तब उन्होंने इन शब्दों में प्रकाश डाला, "मेरी रुचि अध्यात्म शास्त्र में अधिक थी। इससे अध्यात्म चर्चा करने हेतु प्रसिद्ध कारंजा के भट्टारक वीरसेन स्वामी के पास बहुधा जाया करता था। उनका मुझ पर बहुत प्रभाव था।" आज से लगभग ३० वर्ष पूर्व समडोली ग्राम में मुझे आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

आध्यात्मविद्या के महान् ज्ञाता

इनके संपर्क में आते ही, मेरे मन में यह बात आई कि आज हमें सच्चे आध्यात्मविद्या के महान् ज्ञानी गुरुदेव का समागम मिला है। मैं इनसे आत्मा संबंधी बहुत चर्चा किया करता था, जिसका उत्तर सुनते ही मेरे हृदय के कपाट खुल जाते थे। इनके तत्त्व प्रतिपादन में एकान्त पक्ष का पोषण नहीं रहता था। ये स्याद्वाद की सुमधुर शैली का आश्रय लेकर आत्मस्वरूप का प्रतिपादन करते थे। इनके कथन में अनुभूति की अपूर्व छटा पाई जाती थी।

समडोली से चलकर महाराज ने कोन्नूर में चातुर्मास किया। वहाँ मैंने देखा कि महाराज जिस आसन से बैठते थे, उसमें परिवर्तन नहीं किया करते थे। एक आसन पर बैठे हुए वे घंटो तत्त्वचर्चा करते थे। उनकी वाणी में ओज, माधुर्य, सरलता का अपूर्व समन्वय रहता था। उनके कथन में अपूर्व आकर्षण पाया जाता है, इससे उनके मुख से निकले वाक्यों को सदा सुनते रहने की लालसा लगी रहती थी।

व्यवहार कुशलता

आचार्य महाराज की व्यवहार कुशलता महत्वपूर्ण थी। सन् १९३७ में आचार्यश्री ने सम्मेदशिखर जी की संघ सहित यात्रा की थी, उस समय मैं उनके साथ-साथ सदा रहता था। सर्वप्रकार की व्यवस्था तथा वैयावृत्य आदि का कार्य मेरे ऊपर रखा गया था। उस अवसर पर मैंने आचार्यश्री के जीवन का पूर्णतया निरीक्षण किया और मेरे मन पर यह प्रभाव पड़ा कि श्रेष्ठ आत्मा में पाये जाने वाले सभी शास्त्रोक्त गुण उनमें विद्यमान हैं। प्रवास करते हुये मार्ग में कई बार जंगली जानवरों का मिलना हो जाता था, किन्तु महाराज में रंचमात्र भी भय या चिन्ता का दर्शन नहीं होता था। उन जैसी निर्भीक आत्मा के आश्रय से सभी यात्री

पूर्णतया भय विमुक्त रहे आते थे। जब-जब मार्ग में बड़ी से बड़ी विपत्ति आई, तब-तब हम आचार्य महाराज का नाम स्मरण करके कार्य में उद्यत हो जाते थे और उनकी जय बोलते हुए काम करते थे, जिससे विघ्न की घटा शीघ्र ही दूर हो जाती थी। प्रवास में अपार कष्ट होते हैं, किन्तु इन महान् योगी के प्रताप से शूलों का फूलों में परिणमन हो जाता था।

दयाधर्म का महान् प्रचार

मार्ग में हजारों लोग आ आकर इस मुनिनाथ को प्रणाम करते थे, इनने उन लोगों को मांस, मदिरा का त्याग कराया है। शिकार न करने का नियम दिया है। इनकी तपोमय वाणी से अगणित लोगों ने दया धर्म के पथ में प्रवृत्ति की थी।

आध्यात्मिक आकर्षण

आचार्य महाराज का आकर्षण अदभुत थी। इसी से उनके पास से घर आने पर चित्त उनके पुनर्दर्शन को तत्काल लालायित हो जाता था। मैं संत समागम का अधिक लाभ लिया करता था।

मेरा व्रतों की ओर विशेष ध्यान नहीं था। एक दिन की बात है कि अकलूज आदि स्थानों की बात करते-करते, अचानक मेरे मुख से यह बात निकली की यदि अतिशय क्षेत्र दहीगांव में पंचकल्याणक महोत्सव होगा, तो मैं क्षुल्लक दीक्षा ले लूंगा। मेरे शब्द पूज्य आचार्य महाराज के कर्ण गोचर हो गए। उन्होंने मेरे अन्त:करण को समझ लिया। इसके पश्चात् गुरुदेव का अकलूज में चातुर्मास हुआ। वहाँ उनके मर्मस्पर्शी उपदेश सुन-सुनकर मेरी आत्मा में वैराग्य के भाव जग गये। हमने दीक्षा लेने का निश्चय किया। दहीगांव में पंचकल्याणक महोत्सव हो चुका था। सर्वव्यवस्था करने के उपरांत हमने नांदरे में क्षुल्लक की दीक्षा ग्रहण की। यह मेरा पक्का अनुभव है कि आचार्य महाराज के चरणों में निवास करने से जो शांति प्राप्त होती है, वह अन्यत्र नहीं मिलती है। पहले मेरे स्नेही लोग विनोद तथा उपहास करते हुए कहा करते थे कि मैं क्या दीक्षा लूँगा ? किन्तु आचार्य महाराज की वीतराग वाणी ने मेरा मोह ज्वर दूर करके मेरी आत्मा का उद्धार कर दिया। उनके निमित्त से हम कृतार्थ हो गये।

भट्टारक जिनसेन स्वामी महाकवि भगवत् जिनसेन की गद्दी पर उत्तराधिकारी त्यागी सत्पुरुष थे। हम १३-९-५२ को महिसाल जिला सांगली में उनके पास पहुँचे तथा आचार्यश्री के विषय में उनसे पूछा। तब उन्होंने अपना अनुभव इस प्रकार सुनाया :

अपार तेज पुंज

सन् १९१९ की बात है, आचार्य शांतिसागर महाराज हमारे नांदणी मठ में पधारे थे। वे यहाँ की गुफा में ठहरे थे। उस समय वे ऐलक थे। उनके मुख पर अपार

तेज था। पूर्ण शांति भी थी। वे धर्म कथा के सिवाय अन्य पापाचार की बातों में तनिक भी नहीं पड़ते थे। मैं उनके चरणों के समीप पहुंचा, बडे ध्यान से उनकी शांत मुद्रा का दर्शन किया। **उन्होंने मेरे अंत:करण को बलवान चुम्बक की भांति अपनी ओर आकर्षित किया था।** नान्दणी में हजारों जैन अजैन नर- नारियों ने आ-आकर उन महापुरुष के दर्शन किये थे। सभी लोग उनके असाधारण व्यक्तित्व, अखंड शांति, तेजोमय मुद्रा से अत्यंत प्रभावित हुए थे। उनका तत्त्व प्रतिपादन अनुभव की कसौटी पर कसा, अत्यंत मार्मिक तथा अंतःस्थल को स्पर्श करने वाला होता था। लोग गम्भीर प्रश्न करते थे, किन्तु उनके तर्क संगत समाधान से प्रत्येक शंकाशील मन को शांति का लाभ हो जाता था। उनकी वाणी में उग्रता या कठोरता अथवा चिड़चिड़ापन रंचमात्र भी नहीं था। वे बड़े प्रेम से प्रसन्नता पूर्वक सयुक्तिक उत्तर देते थे। **उस समय मेरे मन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि इन समागत साधू चूडामणि को ही अपने जीवन का आराध्य गुरु बनाऊँ और इनके चरणों की निरन्तर समाराधना करूँ।** उनकी आलौकिक मुद्रा के दर्शन से मुझे कितना आनन्द हुआ, कितनी शांति मिली और कितना आत्मप्रकाश मिला उसका मैं वर्णन करने में असमर्थ हूँ। इन मनस्वी नर रत्न के आज दर्शन की जब भी मधुर स्मृति जग जाती है, तब मैं आनन्द विभोर हो जाता हूँ। उनका तपस्वी जीवन चित्त को चकित करता था। उस समय वे एक दिन के अंतराल से एक बार केवल दूध चावल लिया करते थे। वे सदा-आत्म चिंतन, शास्त्र-स्वाध्याय तथा तत्त्वोपदेश में संलग्न पाये जाते थे। लोककथा, भोजनकथा, राष्ट्रकथा, आदि से वे अलिप्त रहते थे। उनके उपदेश से आत्मा का पोषण होता था। उनका विषय प्रतिपादन इतना सरस और स्पष्ट होता था कि छोटे-बड़े, सभी के हृदय में उनकी बात जम जाती थी। उनके दिव्य जीवन को देखकर मैंने उनको अपना आराध्य गुरु मान लिया था। मैं उनके अनुशासन तथा आदेश में रहना अपना परम सौभाग्य मानता हूँ। मेरे ऊपर उनकी बड़ी दयादृष्टि थी।

एक धार्मिक संस्थान के मुख्य मठाधीश होने के कारण मेरे समक्ष अनेक बार भीषण जटिल समस्याएँ उपस्थित हो जाया करती थी। उस स्थिति में गुरुराज स्वप्न में दर्शन दे मुझे प्रकाश प्रदान करते थे। उनके मार्गदर्शन से मेरा कंटकाकीर्ण पथ सर्वदा सुगम बना है। अनेक बार स्वप्न में दर्शन देकर उन्होनें मुझे श्रेष्ठ सयंम पथ पर प्रवृत्त होने को प्रेरणापूर्ण उपदेश दिया। मेरे जीवन का ऐसा दिन अब तक नही बीता है, जिस दिन उन साधुराज का मंगल स्मरण नहीं आया हो। उनकी पावन स्मृति मेरे जीवन की पवित्र निधि हो गयी है। उससे बड़ी शांति और अवर्णनीय आह्लाद प्राप्त होता है। इस समय मठ की सम्पत्ति तथा उसकी आय के उपयोग के विषय में मैंने उनसे प्रश्न किया, तब महाराज ने

कहा कि धार्मिक सम्पत्ति का लौकिक कार्यों में व्यय करना दुर्गति तथा पाप का कारण है। इन सप्त क्षेत्रों में धार्मिक द्रव्य का उपयोग करना हितकारी है :

जिन बिम्बं जिनागारं जिन यात्रा प्रतिष्ठितम्।
दानं-पूजां च सिद्धांतलेखनं सप्त क्षेत्रकम् ॥

मेरे मार्ग में विघ्नों की राशि सदा आई, किन्तु गुरुदेव के आदेशानुसार प्रवृत्ति करने से मेरा काम शांतिपूर्वक होता रहा। शास्त्रसंरक्षण में उनका विश्वास था कि इस कलिकाल में भगवान की वाणी के संरक्षण द्वारा ही जीव का हित होगा, इसलिये वे शास्त्र संरक्षण के विषय में विशेष ध्यान देते थे।

आगम के भक्त

उन्होंने बतलाया कि एक बार मैंने(लेखक ने)आचार्यश्री को लिखा था कि भगवान भूतबली स्वामी रचित महाधवल ग्रन्थ के चार-पाँच हजार श्लोक नष्ट हो गये हैं, उस समय उनको शास्त्र संरक्षण की गहरी चिंता हो गई थी। उस समय मैं सांगली में था और वर्षाकाल में ही मैं उनकी सेवा में कुन्थलगिरि पहुंचा। बम्बई से संघपति गेंदनमल जी, बारामती से चंदूलाल जी सराफ तथा नातेपूते से रामचन्द्र धनजी दावड़ा वहाँ आये थे। सबके समक्ष आचार्य महाराज ने अपनी अंतर्वेदना व्यक्त करते हुए कहा- ''धवल महाधवल ग्रंथ महावीर भगवान की वाणी है। उसके चार-पाँच हजार श्लोक नष्ट हो गये हैं, ऐसा पत्र प. सुमेरुचंद्र शास्त्री का मिला, इसलिये आगामी उपाय ऐसा करना चाहिए जिससे कि ग्रंथों को बहुत समय तक कोई भी क्षति प्राप्त न हो। इसलिए इनको ताम्रपत्र में लिखाने की योजना करना चाहिये, जिससे वे हजारों वर्षों पर्यंत सुरक्षित रहें। इस पवित्र कार्य में लाख रुपये से भी अधिक लग जाए, तो भी उसकी परवाह नहीं करनी चाहिये।''

श्रुत संरक्षण का महान् कार्य

उनके प्रत्येक शब्द में पवित्र साहित्य संरक्षण के प्रति उत्कृष्ट अनुराग भरा हुआ था। मुझ पर उनकी वाणी का बड़ा प्रभाव हुआ। मैंने ११११९/- रुपये उस शास्त्र संरक्षण के निमित्त अर्पण किये। आज वह फण्ड लगभग तीन लाख रुपये का हो गया है। इस चिरस्मरणीय एवं महनीय शास्त्र संरक्षण का श्रेय पूज्य महाराज को है।

प्रगाढ़ श्रद्धा

कलिकाल की कृपा से धर्म पर बड़े-बड़े संकट आये। बड़े-बड़े समझदार लोग तक धर्म को भूल अधर्म का पक्ष लेने लगे, ऐसी विकट स्थिति में भी महाराज की दृष्टि पूर्ण निर्मल रही और उनने अपनी सिन्धु तुल्य गम्भीरता को नहीं छोड़ा। वे सदा यही कहते रहे कि जिनवाणी सर्वज्ञ भगवान की वाणी है। वह पूर्ण सत्य है। उसके विरुद्ध यदि सारा

संसार हो, तो भी हमें कोई डर नहीं है। उनकी ईश्वर भक्ति और पवित्र तपश्चर्या से बडे-बड़े संकट नष्ट हुए हैं।

मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि उनके पुण्य चरणों की सच्ची भक्ति तथा उनके आदेश - उपदेश के अनुसार प्रवृत्ति करने से आत्मिक शांति तथा लौकिक समृद्धि मिलती है। यह अतिशयोक्ति नहीं है। इस सत्य को मैंने अनेक गुरुभक्तों के जीवन में चरितार्थ होते हुये देखा है। उनका महान् व्यक्तित्व तथा पुण्यजीवन इस पापपूर्ण पंचमकाल में धर्मप्रचुर चतुर्थकाल की पुनरावृत्ति सा करता हुआ प्रतीत होता था। आज के युग में वे धर्म के सूर्य हैं, दया के अवतार हैं, मैं उनके चरणों को सदा प्रणाम करता हूँ।

दिव्य दृष्टि

महिसाल ग्राम के पाटील श्री मलगोंडा केसगोंडा आचार्य महाराज के निकट परिचय में रहे हैं। वृद्ध पाटील महोदय ने बताया, "महाराज १९२२ के लगभग हमारे यहाँ पधारे थे। उस समय उनका अपूर्व प्रभाव दिखाई पड़ा था। उनकी शांत और तपोमयमूर्ति प्रत्येक के मन को प्रभावित करती थी। उस समय की एक बात मुझे याद है। एक दिन आचार्य महाराज ने अपने साथ में रहने वाले ब्रह्मचारी जिनगोंडा (जिनदास समडोलीकर) को अकस्मात् आदेश दिया कि तुम तुरंत यहाँ से समडोली चले जाओ। वे ब्रह्मचारी जी गुरुदेव के आदेश को सुनते ही चकित हो गये। उनका मन गुरुचरणों के निकट रहने को लालायित था, फिर भी उन्हें यही आदेश मिला कि यहाँ एक मिनट भी बिना रुके अपने घर चले जाओ। इस आदेश का कारण अज्ञात था। नेत्रों से अश्रुधारा बहाते हुए उक्त ब्रह्मचारी जी ने प्रस्थान किया। जब वे समडोली पहुंचे, तो उन्हें ज्ञात हुआ कि कुछ बदमाशों ने उनकी भनेजन के पति का खेत में कत्ल कर दिया है। उस समय यह बात ज्ञात हुई कि महाराज के दिव्य ज्ञान में इस भविष्यत् कालीन घटना का कुछ संकेत आ गया था। ऐसे योगियों की महिमा का कौन वर्णन कर सकता है ? उनके दर्शन से आत्मा पवित्र होती थी।"

ब्रह्मचारी जिनदास समडोली वाले उस समय से महाराज के निकट सम्पर्क में हैं, जबसे महाराज ब्रह्मचारी के रूप में अपने घर में रहा करते थे, अत: इनके संस्मरण महत्वपूर्ण है :

महत्वपूर्ण संस्मरण

मैं महाराज के निकट परिचय में उस समय से हूँ, जब वे अपने घर में त्यागी के वेष में रहते थे तथा ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी थे। वे सदा खादी का ही उपयोग करते थे। वे अपना समय ध्यान तथा अध्ययन में लगाते थे। गृह में निवास करते हुए भी वे वास्तव में सन्यासी सदृश्य गृहस्थ-सन्यासी थे। उनकी भाषा मित होती थी, किन्तु उसका अमिट प्रभाव पड़ता था।

उनका खान पान सादा तथा सात्विक था। उनकी बात समाज में तथा जनता में बड़ी

विश्वसनीय मानी जाती थी। प्रत्येक के हृदय में उनके पवित्र व्यक्तित्व के प्रति अपार आदर तथा श्रद्धा का भाव पाया जाता था। वे स्वभाव से उदार, दयालु तथा तेजस्वी थे। उनका गृहवास जल से भिन्न कमल की वृत्ति का स्मरण कराता था। उनका शास्त्र प्रवचन तथा शंका-समाधान बहुत ही आकर्षक तथा मार्मिक था, इस कारण मेरा हृदय उनकी ओर अधिक आकर्षित हुआ। उनके परिवार के सभी व्यक्तियों के साथ मेरा निकट संबंध रहा है। वे सभी धार्मिक रहे हैं।

सर्पराज का शरीर पर लिपटना

महाराज की तपस्चर्या अद्भुत थी। कोगनोली में लगभग आठ फुट लम्बा स्थूलकाय सर्पराज उनके शरीर से दो घंटे पर्यंत लिपटा रहा। वह सर्प भीषण होने के साथ ही वजनदार भी था। महाराज का शरीर अधिक बलशाली था, इससे वे उसके भारी बोझ को धारण कर सके। दो घंटे बाद मैं उनके पास पहुंचा। उस समय वे अत्यंत प्रसन्न मुद्रा में थे। किसी प्रकार की खेद, चिंता या मलिनता उनके मुख मंडल पर नहीं थी। उनकी स्थिरता सबको चकित करती थी।

शेर आदि का उनके पास प्रेमभाव से निवास व ध्यान कौशल्य

महाराज गोकाक के पास एक गुफा में प्रायः ध्यान किया करते थे। उस निर्जन स्थान में शेर आदि भयंकर जंतु विचरण करते थे। प्रत्येक अष्टमी तथा चतुर्दशी को उपवास तथा अखंड मौन धारण कर ये गिरि-कन्दरा में रहते थे। वहाँ अनेक बार व्याघ्र आदि हिसंक जंतु इनके पास आ जाया करते थे, किन्तु साम्यभाव भूषित ये मुनिराज निर्भीक हो आत्मध्यान में संलग्न रहते थे। गोकाक के पास कोन्नूर की गुफा में भी सर्प ने आकर इन पर उपसर्ग किया था, किन्तु ये मुनिराज अपने साम्य भाव से विचलित नहीं हुए। महाराज जब ध्यान में निमग्न होते थे, तब उनकी तल्लीनता को वज्रपात द्वारा भी भंग नहीं किया जा सकता था। एक समय वे अषाढ़ बदी अष्टमी को समडोली में अष्टमी की संध्या से जो ध्यान में बैठे, तो नवमी की प्रभात तक नहीं उठे। दस बजे तक लोगों ने प्रतीक्षा की, पश्चात् चिन्तातुर भक्तों ने दरवाजा तोड़कर भीतर घुसकर देखा तो महाराज ध्यान में ही मग्न पाये गये। उस समय हल्ला होने पर भी उनकी समाधि भंग नहीं हुई थी।

अन्य साधुओं व जनता पर अपूर्व प्रभाव

अन्य साम्प्रदाय के बडे-बडे साधु और मठाधीश इनके चरित्र और तपस्या के वैभव के आगे सदा झुकते रहे हैं। एक बार जब महाराज हुबली पधारे, उस समय लिंगायत सम्प्रदाय के श्रेष्ठ आचार्य सिद्धारूढ स्वामी ने इनके दर्शन किये और वह इनके भक्त बन गये। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा था कि जीवन में ऐसे ही महापुरुष को अपना गुरु बनाना चाहिए।

एक समय कोल्हापुर के समीपवर्ती इस्लामपुर में मुस्लिम अधिकारी ने महाराज के आम सड़क से निकलने के विषय में आपत्ति उपस्थित की थी। क्षण भर में आस पास के ग्रामों में यह समाचार फैल गया कि इस्लामपुर के मुस्लिम आचार्य महाराज के प्रति दुष्ट व्यवहार करना चाहते हैं। थोड़े समय में दस हजार से अधिक ग्रामीण जैनी चारों ओर से लाठी आदि लेकर आ गये। उस समय वह इस्लामपुर जैनपुर सा दिखता था। मुस्लिम लोग अपने अपने घरों में घुस गये। उन्हें अपनी जान बचाना कठिन पड़ गया। तत्काल मुस्लिम अधिकारी ने अपने नादिरशाही आर्डर को वापिस लिया। आचार्य शांतिसागरजी की जय जयकार करते हुए उस स्थान से विहार हुआ। महाराज का पुण्य-प्रताप ऐसा है कि बड़ी से बड़ी विपत्ति शीघ्र ही दूर होकर गौरव को वृद्धि करने वाली बन जाती थी।

जीवन रक्षा

उनकी अपार सामर्थ्य को मैंने अपने जीवन में अनुभव किया। उन्होंने मेरे प्राण बचाये, मुझे जीवनदान दिया, अन्यथा मैं आत्महत्या के दुष्परिणाम स्वरूप ना जाने किस योनि में जाकर कष्ट भोगता। बात इस प्रकार है कि मेरे पापोदय से मेरे मस्तक के मध्यभाग में कुष्ठ का चिह्न दिखाई पड़ने लगा। धीरे धीरे उसने मेरे मस्तक को घेरना शुरू किया। मेरी चिंता की सीमा नही थी, मेरी मनोवेदना का पार न था। लोगों के सामने आने में मुझे बड़ा संकोच होता था। अवर्णनीय लज्जा आती थी। निर्दोष होते हुए भी लोग मुझे हीनाचरणवाला सोचेंगे, इससे मैं मन ही मन दुःखी हो रहा था। एक दिन मैं आचार्य महाराज के चरणों में पहुँचा। आंखों से अश्रुधारा बहाते हुए मैंने अपने अंतःकरण की सारी वेदना व्यक्त कर दी। उन्होंने मुझे बड़ी हिम्मत दी और आत्मघात करने को महान् पातक बता उससे मुझे रोका।

एकीभाव का प्रभाव

उन्होंने मुझसे कहा-"घबराओ मत तुम्हारा रोग जल्दी दूर हो जावेगा। तुम प्रभात, मध्याह्न तथा सायंकाल के समय शुद्धतापूर्वक एकीभाव स्तोत्र का पाठ करो। तीन चार सप्ताह के बाद वह रोग दूर हो गया। एक विशेष उल्लेखनीय बात यह थी कि मेरे मस्तक में एक छोटा सफेद दाग शेष बचा था। मैंने कहा-"महाराज, यह दाग अभी बाकी है।" सुनकर पूज्यश्री ने अपना हाथ मस्तक पर लगाया, तत्काल ही वह सफेद दाग दूर हो गया। मैं गुरुप्रसाद से न केवल उस रोग से मुक्त हुआ बल्कि आत्मघात की विपत्ति से बचा। यह हाल बहुत लोगों को मालूम है। स्तवनिधि क्षेत्र में पायसागर महाराज ने आचार्य महाराज की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए बताया था कि गुरुप्रसाद से ब्रह्मचारी जिनदास का यह रोग दूर हुआ था।

****

वार्तालाप

वार्तालाप

आचार्य श्री के दीक्षा गुरु देवेन्द्रकीर्ति मुनि का वर्णन

एक बार मैंने महाराज से उनके गुरु के बारे में पूछा था तब उन्होंने बतलाया था कि **"देवेन्द्रकीर्ति स्वामी से हमने जेठ सुदी १३ शक संवत् १८३७ में क्षुल्लक दीक्षा ली थी तथा फाल्गुन सुदी एकादशी शक संवत् १८४१ में मुनि दीक्षा ली थी।** वे बाल ब्रह्मचारी थे, सोलह वर्ष की अवस्था में सेनगण की गद्दी पर भट्टारक बने थे। उस समय उन्होंने सोचा था कि गद्दी पर बैठे रहने से मेरी आत्मा का क्या हित सिद्ध होगा, मुझे तो झंझटों से मुक्त होना है, इसलिये दो वर्ष बाद उन्होंने निर्ग्रन्थ वृत्ति धारण की थी। उन्होंने जीवन भर आहार के बाद उपवास और उपवास के बाद आहार रूप पारणा-धारणा का व्रत पालन किया था।"

आचार्य श्री जिनसे प्रभावित थे ऐसे आदिसागर मुनि का वर्णन

आचार्य महाराज ने एक आदिसागर(बोरगाँवकर) मुनिराज के विषय में बताया था कि वे बड़े तपस्वी थे और सात दिन के बाद आहार लेते थे। शेष दिन उपवास में व्यतीत करते थे। यह क्रम उनका जीवन भर रहा।

आहार में वे एक ही वस्तु ग्रहण करते थे। वे प्राय: जंगल में रहा करते थे। जब वे गन्ने का रस लेते थे, तब गन्ने के रस के सिवाय अन्य पदार्थ ग्रहण नहीं करते थे। उनमें बड़ी शक्ति थी। आम की ऋतु में यदि आम का आहार मिला, तो उस पर ही वे निर्भर रहते थे। उनकी आध्यात्मिक पदों को गाने की आदत थी। वे कन्नड़ी भाषा में पदों को गाया करते थे। जब वे भोज में आते थे और हमारे घर में उनका आहार होता था, तब वे उस दिन हमारी दुकान में रहते थे। वहाँ ही वे रात्रि को सोते थे। हम भी उनके पास में सो जाते थे। हम उनकी निरंतर वैयावृत्ति तथा सेवा करते थे। दूसरे दिन हम उनको दूधगंगा, वेदगंगा नदी के संगम के पास तक पहुँचाते थे। बाद में हम उन्हें अपने कंधे पर रखकर नदी के पार ले जाते थे।

मैंने पूछा, "महाराज ! एक उन्नत काय वाले पुरुष को अपने कंधे पर रखकर ले जाने में आपके शरीर को बड़ा कष्ट होता होगा ?"

महाराज ने कहा, "हमें रंच मात्र भी पीड़ा नहीं होती थी।"

वास्तव में आचार्य श्री की शारीरिक शक्तिअपूर्व थी। उतना बड़ा भार उन्हें ऐसा मालूम होता था जैसे कोई गृहस्थ एक बालक को कंधे पर रखकर नदी के पार ले जाता हो।

महाराज ने बताया था, "हम आदिसागर महाराज की तपस्या से बहुत प्रभावित थे।

उनके कमण्डलु में हम जल भरते थे। उनके साथ रहा करते थे।"

कोन्नूर की गुफा, शेर, आचार्य श्री व जैन दर्शन

"आदिसागर स्वामी कोन्नूर के पास की गुफा में रहा करते थे। वहाँ मुनियों के निवास योग्य सैकड़ों गुफाएँ है। एक बार वे ध्यान कर रहे थे, तब शेर आया था।"

मैंने पूछा, "महाराज! शेर के आने पर भय का संचार तो हुआ होगा?"

महाराज ने कहा, "नहीं। कुछ देर के बाद शेर वहाँ से चला गया।"

मैंने पूछा, "महाराज! निर्ग्रन्थ दीक्षा लेने के बाद विहार करते हुए कभी शेर आपके पास आया था?"

महाराज ने कहा, "हम मुक्तागिरि के पर्वत पर रहते थे, वहाँ शेर आया करता था और प्रतिदिन पास में बहने वाले झरने का पानी पीकर चला जाता था। श्रमणबेलगोला की यात्रा में भी शेर मिला था। सोनागिरि क्षेत्र पर भी वह आया था। इस तरह शेर आदि बहुत जगह आते रहे, किंतु इसमें महत्व की कौन सी बात है?"

मैंने कहा, "महाराज! साक्षात् यमराज की मूर्ति व्याघ्रराज के आने पर घबड़ाहट होना तो साधारण बात है।"

महाराज ने कहा, "डर किस बात का किया जाय? जीवन भर हमें कभी किसी वस्तु का डर नहीं लगा। जब तक कोई पूर्व का बैर न हो अथवा उस जानवर को बाधा न दो, तब तक वह नहीं सताता है।"

महाराज ने मुक्तागिरी से बड़वानी जाते हुए सतपुड़ा के निर्जन वन की एक घटना बताई कि, "विहार करते समय उस निर्जन वन में संध्या हो गयी। हम ध्यान करने को बैठ गए। साथ के श्रावक वहाँ डेरा लगाकर ठहर गये। उस समय जब शेर आया, तब श्रावक घबड़ा गये। एक शेर तो हमारी कुटी के भीतर घुस गया था। कुछ काल के पश्चात् वह बिना हानि पहुँचाये जंगल में चला गया।"

लौकिक जीवन भी प्रामाणिक जीवन था

महाराज का लौकिक जीवन वास्तव में अलौकिक था। लोग लेनदेन के व्यवहार में इनके वचनों को अत्यधिक प्रामाणिक मानते थे। इनकी वाणी रजिस्ट्री किये गये सरकारी कागजातों के समान विश्वसनीय मानी जाती थी। इनके सच्चे व्यवहार पर वहाँ के तथा दूर-दूर के लोग अत्यंत मुग्ध थे।

खेती के विषय में चर्चा

मैंने पूछा "महाराज! हिन्दी भाषा के प्राचीन पंडितों ने लिखा है कि श्रावक को खेती नहीं करना चाहिये, उसे सोना, चाँदी, माणिक, मोती आदि का व्यापार करना चाहिये। क्या

जैन धर्म में गरीबों का कोई ठिकाना नहीं है ? खेती आदि का व्यवसाय तो राष्ट्र का जीवन है।

महाराज बोले "खेती का हमें स्वयं अनुभव है, उसमें परिणाम जितने सरल रहते हैं, उतने अन्य व्यवसाय में नहीं रहते हैं। अन्य धंधों में बगुले की तरह ध्यान रहता है, दुकानदार चुपचाप बैठा रहता है, किन्तु उसका ध्यान सदा ग्राहक की ओर लगा रहता है। ग्राहक दिखा कि वह उसके पीछे लगा। इन धंधों में हजारों प्रकार का मायाचार होता है। गृहस्थ गद्दी पर चुपचाप बैठे हुए ग्राहक का ध्यान करता है। बड़ी बड़ी गद्दी वाले हजारों लोग मायाचार पूर्वक धन को लेते हैं। सोना चाँदी के व्यापार में भी ऐसे ही भाव रहते हैं।"

खेती के विषय में कुंदकुंद स्वामी रचित कुरल काव्य का कथन बड़ा महत्वपूर्ण है, उसमें कृषि के महत्व पर बड़ी मार्मिक बात कही गई है -

उनका जीवन सत्य जो, करते कृषि उद्योग।
और कमाई अन्य की खातेबाकी लोग।।
निज कर को यदि खींच ले, कृषि से कृषक समाज।
गृह त्यागी अरु साधु के टूटे सिर पर गाज।।
जोतो नांदो खेत को, खाद बड़ा परतत्त्व।
सींचे से रक्षा उचित, रखती अधिक महत्व।।
नहीं देखता भालता, कृषि को रहकर गेह।
गृहणी सम तब रूठती, कृषि भी कृश कर देह।।

पाप का कारण मनोवृत्ति है, न कि द्रव्य हिंसा। आचार्य सोमदेव ने अपने यशस्तिलक महाकाव्य में लिखा है, "परिणाम विशेष वश जीव घात न करता हुआ धीवर पाप का बंध करता है, किन्तु किसान कृषि में जीव घात होते हुए भी प्राणघाती मनोवृति ना धारण करने के कारण धीवर के समान पाप को नहीं प्राप्त करता है।"[१]

स्वयम्भू स्तोत्र में स्वामी समंतभद्र ने लिखा है, "शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः (प्रजा को आदिनाथ भगवान ने कृषि आदि षट्कर्म का उपदेश दिया था)।"

अपूर्व तीर्थ भक्ति

महाराज की तीर्थ भक्ति अपूर्व थी। तीर्थस्थान के दर्शन करना तथा वहाँ निर्वाणप्राप्त आत्माओं का स्तवन करना तो प्रत्येक भक्ति की कृति में दृष्टिगोचर होता है, किन्तु तीर्थ स्थान जाकर अपार विशुद्धि प्राप्त कर आत्मा को समुन्नत बनाने के लिये संयम भाव की शरण कितने व्यक्ति लिया करते हैं ?

---

१. अघ्नन्नपि भवेत्पापी, निघ्नन्नपि न पापभाक् ।
अभिध्यानविशेषेण यथा धीवरकर्षकौ ।। - अध्याय ७, पृ. ३३५ ।।

शिखरजी की वंदना से त्याग और नियम

आचार्य महाराज जब शिखरजी की वंदना को लगभग बत्तीस वर्ष की अवस्था में पहुँचे थे, तब उन्होंने नित्य-निर्वाण भूमि की स्मृति में विशेष प्रतिज्ञा लेने का विचार किया और जीवन भर के लिए घी तथा तेल भक्षण का त्याग कर दिया। घर आते ही इन भावि-मुनिनाथ ने एक-बार भोजन की प्रतिज्ञा ले ली। रोगी व्यक्ति भी अपने शरीर रक्षण के हेतु कड़ा संयम पालने में असमर्थ होता है, किन्तु इन प्रचंड-बली सत्पुरुष का रसना इंद्रिय पर अंकुश लगाने वाला महान् त्याग वास्तव में अपूर्व था। शास्त्र में रसना इंद्रिय तथा स्पर्शन इंद्रिय को जीतना बड़ा कठिन कहा गया है। उपरोक्त प्रकार के अनेक आहार की लोलुपता त्याग कराने वाले नियमों द्वारा इन्होंने रसना इंद्रिय को अपने अधीन कर लिया तथा आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत द्वारा स्पर्शन इंद्रिय पर विजय प्राप्त की। वे यथार्थत: पूर्ण बालब्रह्मचारी थे, जिन्होंने कभी भी स्त्री-संबंध नहीं किया।

रसना इंद्रिय की लालसा को छोड़कर कठोर संयम पालन करना साधारण कार्य नहीं है। लौकिक श्रेष्ठ ज्ञान संपादन करने वाला प्रकांड विद्वान् भी संयम की साधारण परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो पाता है। यथार्थ में वासनाओं पर विजय सरल नहीं है। निकटसंसारी जीवों की ऐसे कार्यों में स्वत: प्रवृत्ति हुआ करती है। वास्तव में बात यह है कि जब जीव को आत्मा का रस आने लगता है, तब जीभ का रस स्वयं दूर होने लगता है। शिखरजी की वंदना ने महाराज को संयम के शिखर पर चढ़ने के लिए त्यागी बनने की प्रबल प्रेरणा तथा महान् विशुद्धता प्रदान की थी।

शिखरजी की मधुर घटना

शिखरजी की मधुर घटना का महाराज के जीवन से सम्बन्ध है, उससे उनके अहंकार विहीन उज्ज्वल जीवन का अवबोध जगजाल में जकड़े हुए मानव को भी हुए बिना न रहेगा। पर्वत दूर से प्रिय और रमणीय लगते हैं, किन्तु उनपर आरोहण करते समय उनकी भीषणता का परिचय मिलता है। सम्मेदशिखर का पर्वत २५ वर्ग मील विस्तार वाला है। यहाँ का सर्वोन्नत शिखर ४,५०० फुट ऊंचाई पर है। शरीर में अल्पशक्ति होने पर या बुढ़ापा आने पर वंदना पैदल करना असंभव सा दिखता है, किन्तु दृढ़ निश्चय, अपार जिन-भक्ति के कारण वे महिलाएं तक पैदल वंदना कर लिया करती हैं, जिनको एक मील जाने के लिए सवारी का आश्रय लेना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। पर्वत पर चढ़ते समय अत्यन्त अल्प सामान ले जाते हैं, जो संभवत: इस बात को सूचित करता है कि उन्नति के शिखर पर जाने के लिए अल्प परिग्रह रखना आवश्यक है। पर्वत पर जाते समय श्रान्त आदमी को शरीर का भार भी असह्य लगता है। मोटा आदमी जल्दी थककर अपने फूले शरीर के कारण कष्ट का अनुभव

करता है और दुबले पतले लोग फूल की तरह हल्के मन की अनुभूति करते हुए शैलशिखर पर चढ़ जाते हैं। पर्वत की वंदना के हेतु जाती हुई मातायें अपने शिशुओं का भार उठाने में भी अपार कष्ट का अनुभव करती हुई नौकरों का सहारा ढुँढा करती हैं। उस वंदना में प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी चिन्ता में व्यस्त रहा करता है।

करुणा भाव-१ (क्लांत वृद्धा को पीठ पर लाद शिखरजी की वंदना)

आचार्यश्री पर्वत पर चढ़ रहे थे। उनकी करुणापूर्ण दृष्टि एक वृद्ध माता पर पड़ी, जो प्रयत्न करने पर भी आगे बढ़ने में असमर्थ हो गई थी। थोड़ा चलती थी, किन्तु फिर ठहर जाती थी। पैसा इतना न था कि पहले से ही डोली का प्रबन्ध करती। उस माता को देखकर इन महामना के हृदय में वात्सल्य भाव उत्पन्न हुआ। इन्होंने माता को आश्वासन देते हुए धैर्य बंधाया और अपनी पीठ पर उनको बैठाकर पर्वतराज की कठिन वंदना करा दी। हमें तो यह प्रतीत होता है कि उस समय पर्वतराज पर उस माता का भार ही इन्होंने नहीं उठाया, किन्तु आगामी मानवता के उद्धार का पवित्र भार उठाने की शक्ति की परीक्षा भी की थी। आज प्रतिष्ठा का रोगी निर्धन भी थोड़े से भार को उठाने में असमर्थ बन नौकर या वाहन को खोजा करता है, किन्तु ये श्रीमंत भीमगौंडा पाटील के अनन्य स्नेह के पात्र आत्मज अपनी प्रतिष्ठा, एक जिन चरण भक्त निर्धन माता को पीठ पर लादकर पर्वत की वंदना कराना मानते थे। ऐसी ही घटनाओं से अंतःकरण की पवित्रता और महत्ता का अनुमान होता है।

करुणा भाव-२ (क्लांत पुरुष को पीठ पर लाद राजगिरिजी की वंदना)

ऐसी ही घटना राजगिरि की पंच पहाड़ियों की यात्रा में हुई। वहां की वन्दना बड़ी कठिन लगती है। कारण वहां का मार्ग पत्थरों के चुभने से पीड़ाप्रद होता है। जैसे यात्री शिखरजी आदि की अनेक बार वन्दना करते हुए भी नहीं थकता है, वैसी स्थिति राजगिरि में नही होती है। यहाँ पाँचों पर्वतों की वन्दना एक दिन में करने वाला अपने को धन्यवाद देता है। महाराज ने देखा कि एक पुरुष अत्यधिक थक गया है और उसके पैर आगे नहीं बढ़ रहे हैं। उस पहाड़ी पर चढ़ते समय बलवान आदमी भी थकान तथा कठिनता का अनुभव करता है, किन्तु इन बली महात्मा ने उस पुरुष को पीठ पर रखकर वन्दना करा दी। इससे बाह्य दृष्टि वाले इनके शारीरिक बल की महत्ता आंकते हैं, किन्तु हमें तो इनके अन्तःकरण तथा आत्मा की अपूर्वता एवं विशालता का परिज्ञान होता है।

आज भी निर्वाण स्थल की ओर उनकी आत्मा विशेष आकर्षित हो रही है। उन्होंने सन् १९४५ में फलटण के चातुर्मास के समय हमसे पूछा था कि समाधि के योग्य कौनसा स्थान अच्छा होगा ?

मैंने कहा, "महाराज मेरे ध्यान में श्रवणवेलगोला का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है,

जहाँ भगवान बाहुबलि की त्रिभुवन मोहिनी मूर्ति विराजमान है।"

महाराज ने कहा, "हमारा ध्यान निर्वाणभूमि का है।"

मैंने कहा, " इस दृष्टि से वीर भगवान का निर्वाण स्थान पावापुरी अधिक अनुकूल रहेगा।"

महाराज ने कहा, "वह स्थान बहुत दूर है, अब हमारा वहाँ पहुंचना संभव नहीं दिखता। इसका विशेष कारण यह है कि हमारे नेत्रों में कांच बिंदु (Glocoma) नाम का रोग हो गया है, जो अधिक चलने से बढ़ता है। उससे नेत्रों की ज्योति मन्द होती जा रही है। यदि दृष्टि की शक्ति अत्यन्त क्षीण हो गई, तो हमें समाधिमरण लेना होगा।"

इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने कहा, "देखने की शक्ति नष्ट होने पर ईर्यासमिति नहीं बनेगी, भोजन की शुद्धता का पालन नहीं हो सकेगा, पूर्ण अहिंसा धर्म का रक्षण असम्भव हो जायेगा। इससे चतुर्विध आहार का त्याग करना आवश्यक होगा।"

समाधि के विषय में सावधानी

अब सात वर्ष व्यतीत होने के बाद इस वर्ष अगस्त सन् १९५२ में लोणंद चातुर्मास के समय उन्होंने पयूर्षण पर्व में हमसे कहा, "हमारा विचार अब चातुर्मास पूर्ण होने के अनन्तर निर्वाण भूमि की ओर जाने का हो रहा है। हमने दो वर्ष पूर्व गजपंथा में विजयादशमी के दिन १२ वर्ष के भीतर समाधिमरण का उत्कृष्ट नियम लिया था, ऐसा ही नियम हमने वर्धमानसागर को भी दिया है। इस काल से अधिक हमारा शरीर नहीं टिकेगा। उसकी भी अवस्था ९२ वर्ष की हो गई है। वह भी अधिक समय तक नहीं रहेगा, इससे हमने उसे भी उक्त संदेशा भिजवाया था।"

व्यवहार धर्म पालते हुए निश्चय पर दृष्टि

अपने नेत्र रोग के विषय में उन्होंने कहा, "हमें अपना कल्याग करना है। हम व्यवहार क्रियाओं को पालते हैं, किन्तु हमारा ध्यान निश्चय पर अधिक है। भगवान के ज्ञान में जो हमारा भवितव्य है, वह होगा। उस पर अटल श्रद्धा है। अपने अंतिम दिनों में हम निर्वाण भूमि में जाने का निश्चय कर रहे हैं। निर्वाण भूमि में रहकर जीवन व्यतीत करना और अंत में वहीं समाधि करने का हमारा इरादा है।" इस उदाहरण से उनकी अपार तीर्थ-भक्ति स्पष्ट होती है।

मित्र के जीवन पर प्रकाश

एक दिन आचार्यश्री, सेठ चंदूलाल सराफ के वस्ती से दूर बारामती के सुन्दर उद्यान में सन् १९५१ के ग्रीष्म काल में विराजमान थे। वहाँ का प्रशान्त और पवित्र वातावरण

बड़ा प्रिय लगता था। एक दिन मैंने पूछा, "महाराज, गृहस्थ जीवन में आपके निकट संपर्क में आने वाले अनेक व्यक्ति रहे होंगे, उनमें उल्लेखनीय स्थान किसका था ?"

महाराज ने कहा, "हमारा एक मित्र था। उसका नाम रुद्रप्पा था। वह लिंगायत जाति का था। बड़ा श्रीमंत था। उसके यहां तंबाखू का व्यापार होता था। भोज में तंबाखू का मुख्य व्यापार है। रुद्रप्पा उत्कृष्ट सत्यभाषी था। वह भोजन के उपरांत अपने घर के कमरे में चुपचाप बैठा रहता था। किसी से व्यर्थ का वचनालाप नहीं करता था। प्राय: जंगल में जाता था और ध्यान करता था। वह हमसे हृदय खोलकर बातें करता था। उससे हमारी खूब चर्चा चलती थी।" नीतिकार कहता है, "**समान शील-व्यसनेषु मैत्री**" (समान शील व स्वभाव वालों से मित्रता होती है) पूर्णतया चरितार्थ होती है, कारण कि दोनों ही सत्य निष्ठ और दोनों ही ईश्वर के भक्त, उनमें घनिष्ठता होना स्वाभाविक तथा उचित भी है।

सत्य की आदत

महाराज ने कहा, "बचपन से ही हमारी सत्य का पक्ष लेने की आदत रही है। हमने कभी भी असत्य का पक्ष नहीं लिया। अब तो हम महाव्रती मुनि हैं। हम अपने भाइयों अथवा कुटुम्बियों का पक्ष लेकर बात नहीं करते थे। सदा न्याय का पक्ष लेते थे, चाहे उसमें हानि हो। इस कारण जब कभी व्यापार में, लेनदेन में वस्तुओं के भाव आदि में झगड़ा पड़ जाता था, तब लोग हमारे कहे अनुसार काम करते थे। रूद्रप्पा हमारे पास आया करता था। हमारी धर्म की चर्चा होती थी। हम कभी लौकिक चर्चा या विचार नहीं करते थे।"

जन्म भूमि में भी वंदित

इस सत्यनिष्ठा, पुण्य-जीवन आदि के कारण भोजवासी इनको अपने अंत:करण का देवता सा समझा करते थे। इनके प्रति जनता का अपार अनुराग तब ज्ञात हुआ, जब इस मनस्वी सत्यपुरुष ने मुनि बनने की भावना से भोज भूमि की जनता को छोड़ा था।

आज भी भोज के पुराने लोग इनकी गौरव गाथा को कहते हुए बताते हैं, "हमारे यहाँ का सूर्य चला गया।" जगत पूज्य व्यक्ति भी अपने स्थान में वंदित नहीं होता, ऐसी सूक्ति है। किन्तु सर्वत्र यह नियम नहीं देखा जाता। ये प्रकृतिसिद्ध महात्मा उस लोकोक्ति के बंधन से विमुक्त थे, कारण इनकी जन्मभूमि की जनता इनको देवता तुल्य, पूज्य तथा वंदनीय मानती थी।

अंग्रेजी की प्रसिद्ध कहावत है कि [१] **अपनी जन्म भूमि तथा अपने घर को छोड़कर**

---

1. "A Prophet is not without honour, save in his own country and in his own house."- New Testament, Matthew XIII, 57.

सर्वत्र पैगम्बर पूजा जाता है। आचार्य श्री के जीवन में यह बात नहीं है। वे छोटे से कुटुम्ब तथा स्नेही जनों का साथ छोड़कर जगत भर के प्रति मैत्री की भावना धारण कर, जब विश्वबंधु बनने गए, उस समय भोजग्राम तथा आसपास के हजारों व्यक्ति इस प्रकार रोये थे, मानो उनका सगा बंधु ही जा रहा है। यह इस बात का द्योतक है कि पूज्य श्री का जीवन प्रारंभ से ही असाधारण तथा सद्गुणों का निकेतन रहा है।

लोक के विषय में अनुभव

पूज्यश्री का लोक का अनुभव भी महान् था। वे लोकानुभव तथा न्यायोचित सद्व्यवहार के विषय में एक बार कहने लगे, "मनुष्य सर्वथा खराब नहीं होता। दुष्ट के पास भी एकाध गुण रहता है। अत: उसे भी अपना बनाकर सत्कार्य का संपादन करना चाहिए। व्यसनी के पास भी यदि महत्व की बात है तो उससे भी काम लेना चाहिए।" उन्होंने यह भी कहा था, "ऐसी नीति है कि मनुष्य को देखकर काम कहना और वृक्ष को देखकर आराम करना चाहिए।" उनके निकट संपर्क में आने वाले जानते हैं कि आध्यात्मिक जगत के अप्रतिम महापुरुष होते हुए भी यथोचित लोकव्यवहार तथा सज्जन धर्मात्माओं को यथायोग्य सम्मानित करने में वे अतीव दक्ष थे। अन्य धर्मवाला व्यक्ति भी आकर उनके चरणों का दास बन जाता था।

मधुर व्यवहार

एक बार महाराज अहमदनगर (महाराष्ट्र प्रांत) के पास से निकले। वहाँ कुछ श्वेताम्बर भाइयों के साथ एक श्वेताम्बर साधु भी थे। वे जानते थे कि महाराज दिगम्बर जैनधर्म के खूंटी के सदृश पक्के श्रद्धानी हैं। वे हम लोगों को मिथ्यात्वी कहे बिना नहीं रहेंगे, कारण कि नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने हमें संशय मिथ्यात्वी कहा है। उस श्वेताम्बर साधु ने मन में अशुद्ध भावना रखकर प्रश्न किया, "महाराज आप हमको क्या समझते हैं?" उस समय महाराज ने कहा, "हम तुम्हें अपना छोटा भाई समझते हैं।" इस मधुर रसपूर्ण उत्तर से उन्होंने अपने को कृतार्थ अनुभव किया। महाराज ने कहा, "पहले हममें तुममें अन्तर नहीं था, पश्चात् कारण विशेष से पृथकपना हो गया, अत: तुम भाई ही तो हो।"

यदि आचार्यश्री के स्थान पर कोई दूसरा व्यक्ति विवेकपूर्ण ऐसी बात न कहता, तो कलह, विद्वेष और संक्लेश जनक वातावरण सहज ही हो जाता। वाणी का संयम महाराज में अद्भुत था। जब वे बोलते थे, तब श्रोताओं की इच्छा यही होती थी कि इनके मुख से अमृतवाणी का प्रवाह बहता ही जावे और उसे कर्णपात्र द्वारा पीते चले जावें।

१९४६ अगस्त की बात है, एक दिन महाराज कवलाना में विराजमान थे। एक

ब्रह्मचारी बन्धु पधारे। उनके मुख से मधुर-मधुर बातों को सुनकर मैं महाराज से दूसरे दिन बोल उठा, "महाराज ब्रह्मचारीजी बड़े सज्जन धर्मात्मा हैं।"

महाराज ने कहा, "मराठी भाषा में कहावत है, 'जैसा बोले तैसा चाले, त्यांची वंदावी पाउले' (जैसा बोले वैसा यदि चले, तो उसके चरणों की वंदना करना चाहिए)।" इस मधुर उत्तर से सब बात समझ में आ गई।

इसी प्रकार एकबार एक सज्जन आए और बड़ी-बड़ी लच्छेदार जमीन-आसमान एक करने वाली बातें कहने लगे। उस समय मैंने महाराज से कहा, "महाराज ये बड़े प्रभावशाली व्यक्ति मालूम पड़ते हैं।"

महाराज बोले, "तुम नहीं जानते बड़ी बातें करने से ही आदमी बड़ा नहीं बन जाता है।" उनकी लोक प्रवीणता को देखकर चित्त में यही आता था कि वे विशाल जैनसंघ के संरक्षक वृद्ध पितामह ही हैं।

महाराज की वाणी में मार्मिकता, मधुरता, तथा उज्ज्वल विनोद का भी सम्मिश्रण रहता था। इसी से उनके पास शुष्क जीवन नहीं दिखता। ऐसा लगता था मानों हम शांति और करुणा के सिंधु के समीप ही बैठे हैं। सन् १९४६ के भादों के पर्व में मैं कवलाना गया था। वहाँ पूज्यश्री का चातुर्मास था। वहाँ महाराजा बड़ौदा गायकवाड के द्वारा बनवाए गए बड़े बड़े भवन हैं। पहले बाल्यकाल में स्वर्गीय सयाजीराव गायकवाड़ एक जैन परिवार के यहाँ नौकरी करते थे। पश्चात् पुण्योदय से वे बड़ौदा सरकार के वंशज निकले। अनेक शुभचिह्नों को देखकर उनको बड़ौदा का राज्यशासन प्राप्त हुआ। उन्होंने अपने जन्म स्थान में बड़े-बड़े विशाल सुन्दर भवन निर्माण करवाए। अत: कवलाना छोटासा ग्राम होते हुए भी, अनेक बड़े-बड़े भवनों से समन्वित है। यह, उस कवलाना की असाधारणता ही है, जो वहाँ का एक बालक एक बड़े राज्य का शासक बना। उस कवलाना में आचार्य महाराज ने जैनियों की विशेष संख्या न होते हुए भी, अपने दो चातुर्मास व्यतीत किये, इसे उस भूमि की विशेष आकर्षकता ही कहना चाहिए। वहाँ के एक बड़े भवन में जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाजी विराजमान की गई थी। अब पूज्य महाराज के पुण्य प्रभाव से एक भव्य जिनालय वहाँ बन गया है।

मार्मिक विनोद

१) चंदेवा : वहाँ व्रतों में शास्त्र वाचन का आदेश गरुदेव ने मुझे दिया था। एकदिन मैं शास्त्र पढ़ रहा था। जिस गद्दी पर मैं बैठा था उसके ऊपर चंदेवा लगा हुआ था। पास में एक ओर पूज्य आचार्य महाराज और दूसरी ओर मुनि नेमिसागर महाराज विराजमान थे। इतने में वर्षा प्रारंभ हो गई और मकान के छप्पर में से कुछ जलकण महाराज के ऊपर गिरने लगे।

उस समय महाराज ने मुझे देखकर कहा, "पंडित जी ! तुम कैसे आनंद से सुन्दर आसन पर बैठे हो ! हमारा आसन देखो ?" इतना कहते उनके चेहरे पर मधुर स्मित आया, वे चुप हो गए ।

मैंने कहा, "महाराज ! आपके उपस्थित रहते इस शास्त्र की गद्दी पर बैठने का हमारा अधिकार नहीं है, यह तो आपकी आज्ञा ही है, जो मुझे यहाँ बैठने का अवसर मिला है।"

२) **संयम** : दूसरे वर्ष सन् १९५० में गजपंथा में दशलक्षण पर्व मे मैं शास्त्र पढ़ रहा था। भादों सुदी दशमी थी। संयम का वर्णन चल रहा था। रइधु कवि रचित दशलक्षण अपभ्रंश भाषा की पूजा का अर्थ मैं करता था, फिर उस पर ही विवेचन चलता था।

मैंने पढ़ा-"संयम बिन जीवन सयल सुण्ण-संयम बिन घडिय म इक्क जाहु", व उसका अर्थ किया, "संयम के बिना सारा जीवन शून्य हो जाता है, अतः संयम के बिना एक क्षण भी न जाने दो।"

आचार्यश्री बोले-"पंडितजी एक बार फिर से कहो।"

गुरुदेव की आज्ञा सुन मैने पुनः पढ़ दिया कि संयम के बिना सारा जीवन शून्य रहता है। इतने में मेरी दृष्टि पूज्यश्री के स्मित और कारुण्य भाव भूषित मुख मंडल पर पड़ी। मैं तत्काल समझ गया कि इस वाक्य को पुनः पढ़वाने का भाव महाराज का हम सरीखे पढ़े लिखे लोगों का ध्यान संयम की महत्ता को समझकर उस पुण्य पथ पर चलने को प्रेरणा करने का था। मैं उनके गंभीर भाव को विचार कर उनके समक्ष नतमस्तक हो गया और कहा,"महाराज ! जब तक सौभाग्य का सूर्य नहीं उगता, संयम घातक कर्म पटल नहीं हटता, तब तक यह सौभाग्य कहाँ ? आपके चरणों के समीप इसीलिये आते हैं कि आत्मा की मलीनता दूर होकर जीवन उज्ज्वल बन जावे।"महाराज का यह कहना,"एक बार फिर से पढ़ो", रह-रह कर याद आता है कि उन महान् आत्मा ने कितना मार्मिक, मधुर इंगित संयम पथ पर चलने का किया था।"

पक्षी पर करुणा

मुनिवृत्ति द्वारा संयमी का सर्व जीवों के साथ मैत्री का सुमधुर संबंध स्थापित हो जाता है। उसका प्रत्यक्षीकरण १९५१ के पर्यूषण पर्व के समय आचा श्री के बारामती चातुर्मास में हुआ, जबकि मुझे वहाँ लगभग एक माह रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

पूज्यश्री की मध्याह्न सामायिक पूर्ण हुई। उसके बाद मैंने देखा कि महाराज एक पक्षी के छोटे बच्चे के विषय में बड़ा ध्यान लगा पार्श्ववर्ती एक ग्रामीण कर्मचारी से बातें कर रहे थे। पूछने पर ज्ञात हुआ कि महाराज उस पक्षी के रक्षण की भावना से युक्त थे। जब शास्त्र पढ़ने मैं आया, तब मैंने पूछा, "महाराज, यह क्या है ?"

महाराज ने कहा,"यह पक्षी का बच्चा इस भवन के ऊपर से नीचे आ गया। यहाँ-वहाँ

अपनी माता से वियुक्त हो भटक रहा था। यदि इसकी रक्षा न की जाएगी तो कौवा वगैरा पक्षी इसको मार डालेंगे।"

मैने पूछा, "महाराजजी, तो आप क्या करते हैं ?"

महाराज ने कहा, "हम उस पक्षी को उसी जगह रखवा रहे हैं, जहाँ से वह नीचे आया है। वहाँ आड़ लगवा दी है, जिससे वह इधर न गिरे।" थोड़ी देर में नसैनी द्वारा व्यवस्था की गई वह पक्षी सकुशल रखा गया। इतने में पक्षी की माता आई और उसे उठा कर ले गयी।

यह दृश्य देख कर महाराज बोले, "देखो ! पक्षी की माँ आ गई और अब उसके जीवन की चिंता नहीं रही।"

महान आत्मा

यह घटना देखकर मेरी समझ में आया की इन पूज्य पुरुषों की आत्मा यथार्थ में विशाल और महान् हो जाती है, जो छोटे-छोटे प्राणियों की पीड़ा देखकर अनुकम्पा भाव युक्त हो सदय हो जाती है। विशाल आत्मा (Enlarged Self) इसी का नाम है। जीवों का घात करने वाले मांस भक्षी, शिकारी, सुरापायी लेखकों द्वारा लेखनी के बल पर एक दूसरे को बड़ी और श्रेष्ठ आत्मा लिखते हैं, यह तो आँखों के अंधे का नयन सुख नामकरण सदृश्य है। सच्ची करुणा ऐसे ही महापुरुषों के अंत:करण में व्याप्त रहती है। जो स्वार्थी आत्मा रहती है, वह अपने सीमित स्वार्थ तथा आनंद के सिवाय दूसरे जीवों की व्यथा और वेदना की ओर तनिक भी संवेदन शील नहीं होती है। ऐसे स्वार्थी जीव ही अपनी विद्वत्ता का जाल बिछाकर भोले लोगों को भ्रांत करते हैं। गौ भक्षण की लालसा जब जगती है, तब ये विश्व के शांतिविधायक लोग कह बैठते हैं कि गाय में आत्मा नहीं है। जब यह स्वार्थवृत्ति और बढ़ती है, तब अपने राष्ट्र के मानव के सिवाय राष्ट्रांतर के मनुष्यों में भी प्राण का सद्भाव न मान, मनमानी क्रूरता का व्यवहार करना अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय में अपराध नहीं माना जाता है। आचार्य श्री सदृश सच्चे नि:स्वार्थी महापुरुष विरले हुए हैं, जिनकी आत्मा स्वयं के कष्टों को सहन करने के लिये वज्र समान कठोर रहती है, किन्तु दूसरे जीवों की व्यथा के लिये कुसुमादि पुष्प से भी मृदुतर वृत्ति वाली हो जाती है। [1]विलियम है जिलिट ने लिखा है, **"हमारी सबसे छोटी अंगुली में थोड़ी भी पीड़ा होने पर वह इतनी अधिक चिंता तथा आकुलता**

---

1. "The least pain in our little finger gives us more concern and uneasiness than the destruction of millions of our fellow beings".

उत्पन्न करती है, जितनी कि हमारे मानव समाज के कोट्यावधि मानवों का ध्वंस उत्पन्न नहीं करता है।" जब तक जीवन में अहिंसा की शुभ्र ज्योति आलोक नहीं पहुँचाती, तब तक ऐसी संकीर्ण स्वार्थ की कोठरी से निकलकर विशाल विश्व के प्रागण में आने का न तो साहस ही होता है और न ही मनोबल उत्पन्न होता है।

इस घटना को देखकर समझ में आया की करुणा के परमाणु पुंज से सर्वांग पूर्ण होने के कारण ही मुनि को मंगल रुप मानना तो ठीक है ही, किंतु उनके द्रव्य शरीर को भी मंगल रूप क्यों माना है? **'तिलोयपण्णत्ति' में आचार्य यतिवृषभ ने लिखा है, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु की देह द्रव्य मंगल है।** जिस शरीर के कण-कण में करुणा का रस भरा हुआ हो, वह शरीर अमंगल कैसे माना जायेगा?

साधु के विषय में भ्राँति

कोई-कोई भ्रांत भाई साधु शब्द का प्रयोग स्वेच्छा वश जिस किसी के लिये लगा उसे वंदनीय तथा मंगल मूर्ति मानकर णमो लोए सव्वसाहूणं का अर्थ रागी द्वेषी देवों के आराधक, हिंसामय धर्म के उपासक तथा लोक मूढ़ताओं आदि के जाल में जकड़ी जघन्य वृत्ति वाली गृहीत मिथ्यात्वीआत्मा से करते हैं क्योंकि उनके नाम के आगे साधु का पुछल्का लगा है। परमार्थ दृष्टि से जो वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न श्रेष्ठ अहिंसा धर्म के परिपालक, करुणामूर्ति, वीतरागता के आराधक तथा अट्ठाईस मूलगुण संपन्न निर्ग्रन्थ होंगे, वे ही यथार्थ में साधु पद के वाच्य होंगे। व्यवहारवश तो नरराज को गजराज कहने में भी आपत्ति नहीं की जाती है।

करुणा का छत्र

मुनियों की करुणावृत्ति द्वारा परार्थ के साथ स्वार्थ की सिद्धि भी हुआ करती है। दूसरे जीव की व्यथा दूर होती ही है, किंतु करुणा का छत्र तानने वाले को भी स्वतः सुखद शीतल छाया प्राप्त होती है। शेक्सपियर ने लिखा है, **"यह करुणा, पात्र तथा दाता दोनों को आनंद प्रदान करती है।"**[1] अज्ञानवश बड़े-बड़े पढ़े लिखे लोग तक ऐसी भूल कर जाते हैं जो इन परम करुणा मूर्ति प्राणियों को अभय और आनंद दान करने वाली विभूतियों को स्वार्थी (Selfish) सोचते हैं। प्रतीत होता है कि उनके आदर्शवत जीवन में वे स्वयं अपना प्रतिबिंब देखकर विवेचन करने बैठ जाते हैं। ये महर्षि करुणामय प्रवृत्ति करते हैं, सदा सबके कल्याण की कामना करते हुए यही भावना करते हैं : **"क्षेमं सर्व प्रजानां प्रभवतु"** (सब जीवों का कल्याण हो)। हिंसा की वैतरिणी में डुबकी लगाने वाले, परम अहिंसकों के

---

1. " It is twice blest; it blesseth him that gives and him that takes" -
'Merchant of venice.' IV, I.

सम्यक् स्वरूप को नहीं समझ पाते हैं, जैसे अनेक दिशाओं में विचरण करने वाले निशाचर पक्षी सूर्य की विश्व प्रकाशन करने वाले सामर्थ्य को समझने में अक्षम रहते हैं।

अहिंसात्मक प्रहरी

एक दिन बारामती में नीरा नदी की नहर के तट पर से आचार्य महाराज जा रहे थे। हम तथा प्रो.सुशील भी साथ थे। चलते-चलते महाराज वहाँ कुछ बालकों को स्नान में तत्पर देखकर रुक गये और प्रेम भरी बोली में कहने लगे कि यहाँ तुम लोगों को संभल कर रहना चाहिये। एक बार एक आदमी की मौत हो चुकी है। उनको जगाते हुए इन अहिंसात्मक प्रहरी ने आगे प्रस्थान किया। मार्ग में काँटा पड़ा था, उसे वहाँ से अलग करते हुए ये आगे बढ़े, ताकि वह कंटक दूसरों को पीड़ा दायक न बन जाये।

व्रती बनाने के मूल में करुणा की भावना

यदि कोई निरंतर इनके पास रहकर इनकी करुणामयी प्रवृत्ति को देखकर पुस्तक लिखे, तो एक महाभारत सम विशाल ग्रंथ इनकी कारुण्यपूर्ण जीवनगाथा से पूर्ण होना असंभव नहीं है। प्रयत्न करने पर भी कठोरता, क्रूरता, निर्दयता का दर्शन इनमें नहीं मिलेगा। हाँ ! दुर्भावनाओं, पापप्रवृत्तियों तथा कषायों के संहार करने में ये अवश्य अत्यंत निर्दयता पूर्वक प्रवृत्ति करते हुए, अरहंत की शरण में जाते हैं। वे अरहंत भगवान, जो कि उत्कृष्ट अहिंसा के अधिपति होते हुए, क्रोध, माया, मान, लोभ,मोहादि विकारों के विनाशक हैं। महाराज जीवों को जो व्रतादि का उपदेश देते हैं, प्रेरणा करते हैं, उसके मूल में यही करुणा तथा कल्याण करने की कामना है।

मूल्यवान मनुष्य भव

एक दिन बारामती में सेठ गुलाबचंद खेमचंदजी सांगली ने पर्यूषण पर्व में आचार्यश्री के उपदेश तथा प्रेरणा से व्रत प्रतिमा ग्रहण करने का निश्चय किया। उस दिन के उपदेश में अनेक मार्मिक एवं महत्वपूर्ण बातें कहते हुए महाराज ने कहा था कि तुम लोगों की असंयमी वृत्ति देखकर हमारे मन में बड़ी दया आती है कि तुम लोग जीवन के इतने दिन व्यतीत हो जाने पर भी अपने कल्याण के विषय में जाग्रत नहीं होते हो। मनुष्य भव और उसका एक-एक क्षण कितना मूल्यवान है, यह नहीं विचारते। शास्त्रों में लिखा है कि **जो विषयों का उपभोग किये बिना उनको त्यागते हैं, वे श्रेष्ठ हैं और जो भोगने के पश्चात् त्यागते हैं, वे मध्यम हैं, किन्तु जो विषयों को भोगते ही रहते हैं और छोड़ने का नाम नहीं लेते, वे अधम हैं।** व्रती बनने में डरना नहीं चाहिये। व्रत में त्रुटि आने पर प्रायश्चित्त लेना चाहिये। मुनियों तक को प्रायश्चित्त कहा गया है। बड़ा दोष हो जाने पर भी उसका प्रायश्चित्त किया जाता है।

व्रत के समर्थन में समर्थ वाणी

व्रत ग्रहण करने में जो भी भयभीत होते हैं, उनको साहस प्रदान करते हुए महाराज बोले, ''जरा धैर्य से काम लो और व्रत धारण करो। डर कर बैठना ठीक नहीं है। ऐसा सुयोग अब फिर कब आएगा ? कई लोगों ने व्रतों का विकराल रूप बता-बता कर लोगों को डरा दिया है और भीषणता की कल्पनावश लोग अव्रती रहे आते हैं, यह ठीक नहीं है।'' उन्होंने यह भी कहा, ''हमारे भक्त, शत्रु, मित्र, सुधारक अथवा अन्य कोई भी हो, हम सबको व्रत ग्रहण करने का उपदेश देते हैं। व्रत ग्रहण करने वाला आगामी देवायु का नियम से बंध करता है। जिन्होंने इससे अन्य अर्थात् नरक, तिर्यंच अथवा मनुष्य आयु का बंध कर लिया है, उसके व्रती बनने के भाव नहीं होते हैं।''

संयम में कष्ट नहीं है

जो लोग सोचते हैं कि संयम पालन करने में कष्ट होता है, उनके संदेह को दूर करते हुए पूज्यश्री ने अपनी मार्मिक देशना में कहा, ''संसार के कामों में जितना श्रम, जितना कष्ट उठाया जाता है, उसकी तुलना में व्रती बनने का कष्ट नगण्य है। लेन-देन, व्यापार, व्यवसाय आदि में, द्रव्य के अर्जन करने में कितना श्रम किया जाता है और इसका फल कितना थोड़ा सा मिलता है ? इतने दिन सुख भोगते-भोगते संतोष नहीं हो पाया, तो शेष थोड़ी सी जिंदगी में, जिसका जरा भी भरोसा नहीं है, तुम कितना सुख भोगोगे ? कितना संचय करोगे ? व्रती बनकर देवपर्याय में तुम्हें इतना सुख मिलेगा, जिसकी कल्पना भी नहीं कर सकते हो। देवों को दशाँग कल्पवृक्षों के द्वारा मनोवांछित सुख की मनोज्ञतम सामग्री प्राप्त होती है, वहाँ निरन्तर सुख रहता है। दिन और रात्रि का भेद नहीं रहता है। वहाँ बालपना बुढ़ापा न रह, सदा यौवन का सुख रहता है। वहाँ पाँचवे-छट्ठे काल का संकट नहीं है। वहाँ खाने पीने का कष्ट नहीं है। अपने समय पर कंठ में अमृत का आहार हो जाता है।''

देवपर्याय में लाभ

देवपर्याय में धार्मिक लाभ भी होगा, इस विषय पर प्रकाश डालते हुए महाराज ने कहा, ''वहाँ से तुम विदेह में जाकर भगवान सीमंधर स्वामी आदि तीर्थंकरों के समवशरण का दर्शन कर, सम्यक्त्व व का लाभ कर सकोगे। नंदीश्वरद्वीप के बावन जिनालयों में जाकर अकृत्रिम जिनबिम्बों के दर्शन के आनंद का लाभ ले सकोगे, जिनके दर्शन से मिथ्यात्व छिन्न भिन्न हो जाता है । वहाँ से विदेह क्षेत्र में जन्म लेकर वज्रवृषभनाराचसंहनन को पाकर तुम मोक्ष पहुंच सकते हो। अतएव व्रती बनना महत्व का है। इसके सिवाय कल्याण का दूसरा मार्ग नहीं है।'' महाराज ने करुणाभाव में निमग्न होकर अपनी प्राणदायिनी वाणी में उपसंहार करते हुए कहा, ''तुम्हारे हित की हम बात कहते हैं। तुम्हारे लिये खोटा बोलने का

हमें क्या कारण है ? तुम लोग हमारी भक्ति करते हो। बार बार दर्शन को आते हो। तुम्हें देखकर हृदय में दया आती है, इससे तुमसे हम आग्रह करते हैं कि स्वर्ग के जाने के रास्ते को क्यों छोड़ते हो ?''

जन कल्याण

उन्होंने अपना लोककल्याण का उदार दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए अंत में कहा, ''हमें अपनी तनिक भी चिन्ता नहीं है। जगत के जीवों का कैसे हित हो, यह विचार बार बार मन में आया करता है। जगत के कल्याण का चिन्तवन करने से तीर्थंकर का पद प्राप्त होता है।'' यदि करुणा का भाव नहीं तो क्षायिकसम्यक्त्व के होते हुए भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होता है। उपशम, क्षयोपशम सम्यक्त्व में भी वह नहीं होगा। अंत में व्रत प्रतिमा का स्वरूप बताते हुए आचार्य महाराज ने अपनी प्राणपूर्ण मंगलवाणी को विराम देते हुए कहा, '' केलं पाहिजे, व्रत बरोबर टिकणार (व्रताचरण करना चाहिये, व्रत अवश्य बने रहेंगे)।''

गृहस्थी की झंझट

कितनी उत्साह और पौरुषभरी ओजपूर्ण वाणी थी वह। आज भी उस दिन का उपदेश स्मरण आता है। महाराज का कथन कितना यथार्थ है कि लौकिक कार्यों में कितना कष्ट नहीं उठाना पड़ता है ? क्षुधा तृषा की व्यथा सहनी पड़ती है ? और भी कितने शारीरिक मानसिक कष्ट नहीं होते ? धन के लिए, कुटुम्ब के लिये गृहस्थ को क्या-क्या कष्ट नहीं उठाने पड़ते ? क्या-क्या प्रपंच नहीं करने पड़ते ? अंत में कुछ वस्तु हाथ में नहीं लगती है। किन्तु थोड़ा सा व्रत जीव का कितना उद्धार करता है, इसके प्रमाण प्रथमानुयोग रूप आगम में भरे हुए हैं। उस दिन के विवेचन को सुनकर ज्ञात हुआ कि व्रत-दान की प्रेरणा के पीछे कितना प्रेम, कितना ममत्व, कितनी उज्ज्वल करुणा की भावना गुरुदेव के अंत:करण में भरी हुई है। सुनकर ऐसा लगा मानो कोई पिता विषपान करने वाले अपने पुत्र से आग्रह कर यह कह रहा हो कि बेटा ! विषपान मत करो, मेरे पास आओ, मैं तुम्हें अमृत पिलाऊंगा।

आगम की आज्ञा रूढ़ि से बड़ी है

व्रताचरण के विषय में गुरुदेव से किसी ने पूछा था ''महाराज ! रूढ़िवश लोग तरह-तरह के प्रतिबंध व्रतों में उपस्थित करते हैं, ऐसी स्थिति में क्या किया जाय ?'' आचार्य महाराज ने कहा था,''व्रतों के विषय में शास्त्राज्ञा को देखकर चलो, रूढ़ि को नहीं। शास्त्राज्ञा ही जिनेन्द्राज्ञा है। लोक-आज्ञा रूढ़ि है। धर्मात्मा जीव सर्वज्ञ जिनेन्द्र की आज्ञा को बताने वाले शास्त्र को अपना मार्ग दर्शक मानेगा, दूसरे शास्त्रों को मोक्ष मार्ग के लिये

कैसे पथप्रदर्शक मानेगा ?" इस वषय में सोमदेवसूरि का यह आदेश भी ध्यान में रखना श्रेयस्कर है कि उन लौकिक विधि विधानों का तुम सादर स्वागत कर सकते हो, जो तुम्हारी पवित्र श्रद्धा तथा व्रताचरण में बाधा नहीं डालते।

'यशस्तिलक' में लिखा है कि गृहस्थ को भोगशून्य समय व्रतरहित नहीं बिताना चाहिए। जब तक विषयों का उपभोग नहीं होता है, तब तक भी गृहस्थ को उपभोगों का पुन: प्रवृत्ति पर्यन्त त्याग देना हितकारी है। कारण देववश यदि सहसा प्राणान्त हो जाय तो यह त्याग देवगति का कारण हो जायेगा।

आशाधरजी ने कहा है, "गृहस्थ का कर्तव्य है कि जब तक विषयादिक के सेवनार्थ प्रवृत्ति नहीं होती है, तब तक के लिए मैं उनका त्याग करता हूँ, ऐसा संकल्प करें। इस प्रकार का संकल्प लेने वाला गुरु का नाम स्मरण पूर्वक निद्रा लेना आदि काम करें। दैववश यदि आयु का क्षय हो गया, तो यह त्याग भी महान् फल का दाता हो जायेगा। अत: भोगरहित समय को व्रत के बिना व्यतीत न करें।"

प्रमाद का रोग

सत्कार्यों के करने में प्राय: दीर्घसूत्रता का दोष चिपका रहता है। आदमी सहज सरल भाव से सोचा करता है कि 'आज नहीं कल, कल नहीं परसों उस काम को कर लेंगे।' जब 'कल', 'आज' के रूप में आता है, तो यह आगामी कल के ऊपर अपने निश्चय का भार लाद दिया करता है। धर्म के काम को शीघ्र करने की इच्छा दुर्दैववश नहीं होती, क्योंकि यह जैसे दूसरे कार्यों को आवश्यक मानता है, वैसा आत्मकल्याण की वार्ता को नहीं सोचता है। इसी से सुभाषितकार इस आत्मा को समझाते हैं कि विद्या और धन का संपादन करते समय अपने आपको अजर-अमर सदृश समझकर ज्ञानलाभ और धनसंचय को करो, किन्तु धर्म के विषय में बिल्कुल ही भिन्न नीति का आश्रय लो। यह समझो कि मृत्यु ने मेरी चोटी पकड़ ही ली, अत: एक क्षण भी धर्म विहीन, व्रताचरण शून्य नहीं जाने दो।

आत्महित में शीघ्रता करनी चाहिए

आचार्यश्री भी कह रहे थे, "भविष्य का क्या भरोसा, अत: शीघ्र आत्मा के कल्याण के लिए व्रत ग्रहण कर लो।" इस प्रसंग में पद्मपुराण का एक वर्णन बड़ा मार्मिक है- सीता के भाई भामंडल अपने कुटुम्ब परिवार में उलझते हुए यह सोचते थे कि यदि मैंने जिनदीक्षा ले ली, तो मेरे वियोग में मेरी रानियों आदि का प्राणान्त हुए बिना नहीं रहेगा, अत: कठिनता से त्यागे जाने योग्य, कठिनाई से प्राप्तव्य सुखों को भोग, पश्चात् आगे कल्याणपथ में प्रवृत्ति करूंगा। मैं भोगों से उपार्जित अत्यन्त घोर पाप को भी सुध्यान रूपी अग्नि के द्वारा क्षणभर में ही भस्म कर डालूंगा। मैंने अब यह कर लिया, अब यह कर रहा हूँ तथा आगामी यह

करूंगा, ऐसा सोचते हुए उसने संहारार्थ आगत यम की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। एक दिन वह अपने सात मंजिल महल में विराजमान था कि अचानक ऊपर से वज्रपात हुआ/बिजली गिरी और भामंडल मृत्यु की गोद में सो गया। दीर्घसूत्रीप्राणी आगामी होने वाली चेष्टाओं को भलीभांति जानते हुए भी आत्मा के उद्धार के कार्य में नहीं लगता है।

इस क्षणभर में विनष्ट होने वाले दग्ध शरीर के लिये विषयवासना में उलझा जीव हताश होकर क्या नहीं करता है ? जो जीव सम्मान आदि सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करता है और अपने हित में लगता है वह असफल होकर नष्ट नहीं होता। ऐसा हजारों शास्त्रों का ज्ञान किस काम का, जिनसे कि आत्मा को शांति न मिले ? जिस एक पद के द्वारा आत्मा शांति को प्राप्त करता है, वही संतोष का कारण है। प्रतिदिन विविध अनेक कार्यों से आकुलित चित्तवाले दुःखी प्राणी का जीवन प्रमाद से हाथ में रखे हुए रत्न के समान नष्ट होता है।(पद्म चरित्र पर्व १११, पद्य २१)

असली व्यापार संयम की आराधना

प्रतीत होता है ऐसी ही कोई पवित्र विद्या गुरुदेव के हृदय को प्रकाशित कर चुकी थी, जिसके कारण वे शिखरजी की वंदना के बाद धारणा-पारणा रूपी व्रत, उपवास करने में संलग्न हो गये थे। उनका असली व्यापार संयम की साधना था, घर का व्यापार तो नाममात्र का था। महाराज ने बताया था कि "हमारे पूर्वजों ने क्षत्रिय वृत्ति तथा पाटीलगिरी के सिवाय कभी व्यापार नहीं किया था। यह तो पीछे से व्यापार का कार्य हमारे भाई ने प्रारम्भ किया था।"

मैंने पूछा, "महाराज ! जब आप घर में एक पारणा रूप व्रत करते थे तब कुटुम्बी लोग रोकते नहीं थे ?"

महाराज ने कहा, "हमने कह दिया था यदि तुमने हमें रोका तो हम बाहर चले जायेंगे, इसलिए हमारे कार्य में कोई अंतराय नहीं बनता था।"

सैतीस वर्ष की अवस्था में उनके परिणाम विशेष संयम की ओर लगे, पिताजी की मृत्यु हो चुकी थी इसलिए वैराग्य का वेग वृद्धि को प्राप्त हो गया था। पिताजी ने कहा था तुम मेरे प्राणों के आधार हो। तुम्हारी धार्मिक प्रवृत्ति देख मुझे बड़ा संतोष होता है। मेरी यही इच्छा है कि मेरे जीवन भर तुम घर में रहो, मेरे बाद जैसा दिखे वैसा करना। इन्होंने राम की भांति पिता के आदेश का पालन किया। वनवासी राम का मन अयोध्या को देखता था क्योंकि वे पूर्ण विरागी न थे, महाराज वैरागी थे, इसलिए गृहवास करते हुए भी इनका हृदय तपोवन की ओर जाता था। राम वन निवास करते हुए गृहवासी सदृश थे और महाराज विरक्त गृहवासी होने के कारण वनवासी जैसे लगते थे।

****

शिथिलाचारी साधु के प्रति आचार्य श्री का अभिमत

इसे ध्यान में रखकर मैंने एक बार आचार्यश्री से पूछा-"शिथिलाचरण वाले साधु के प्रति समाज को या समझदार व्यक्ति को कैसा व्यवहार रखना चाहिए ?"

महाराज ने कहा-"ऐसे साधु को एकान्त में समझाना चाहिए। उसका स्थितिकरण करना चाहिए।"

मैंने पूछा-"समझाने पर भी यदि उस व्यक्ति की प्रवृत्ति न बदले तब क्या कर्त्तव्य है ? पत्रों में उसके सम्बन्ध में समाचार छपाना चाहिए या नहीं ?

महाराज ने कहा-"समझाने से भी काम न चले, तो उसकी उपेक्षा करो, उपगूहन अंग का पालन करो, पत्रों में चर्चा चलने से धर्म की हंसी होने के साथ-साथ मार्गस्थ साधुओं के लिए भी अज्ञानी लोगों द्वारा बाधा उपस्थित की जाती है।"

महाराज ने यह भी कहा कि "मुनि अत्यन्त निरपराधी है। मुनि के विरुद्ध दोष लगाने का भयंकर दुष्परिणाम होता है, श्रेणिक की नरकायु का कारण निरपराध मुनि के गले में सर्प डाला जाना था। अतः सम्यक्दृष्टि श्रावक विवेक पूर्वक स्थितिकरण उपगूहन, वात्सल्य अंग का विशेष ध्यान कर सार्वजनिक पत्रों में चर्चा नहीं चलाएगा।"

आचार्यश्री का उपरोक्त मार्ग दर्शन सत्पुरुषों के लिए चिरस्मरणीय है। उच्छृंखल तथा दुर्गतिगामी जीव की निन्दा की ओट में सच्चे साधु के मार्ग में भी कंटक बिछ जाते हैं। अतः सार्वजनिक पत्रों में उत्सूत्र चलने वाले की भी चर्चा छापना उचित नहीं है। उसका स्वच्छनदवृत्ति वाले पर तो क्या असर पड़ेगा, सच्ची आत्माओं को कष्ट होगा। मिथ्यादृष्टि विधर्मी भी सत्साधु की निन्दा पर उतर आते हैं। सम्यक्त्वी जिनेन्द्र भक्त श्रेष्ठिवर का कथानक इस तत्त्व को हृदयंगम करने में सहायक है। अतः गुरुदेव का आदेश पालन करना प्रत्येक सज्जन धर्मात्मा श्रावक का पावन कर्तव्य है। वह आदेश दूरदर्शितापूर्ण है।

- तीर्थाटन,शिथिलाचारी साधु के प्रति क्या किया जाये ? पृष्ठ १४९-१५०

संयम पथ

संयम-पथ

पिता का स्वर्गवास होने पर चार वर्ष पर्यन्त घर में रहकर इन्होंने अपनी आत्मा को निर्ग्रन्थ मुनि बनाने के योग्य परिपुष्ट कर लिया था। जब ये महाराज लगभग ४१ वर्ष के हुए, तब कर्नाटक प्रांत के दिगंबर मुनिराज देवप्पा स्वामी देवेन्द्रकीर्ति महाराज उत्तूरग्राम में पधारे। उनके समीप पहुँचकर महाराज ने कहा, "स्वामिन् ! मुझे निर्ग्रन्थ दीक्षा देकर कृतार्थ कीजिए।"

उन्होंने कहा, "वत्स ! यह पद बड़ा कठिन है। इसको धारण करने के बाद महान् संकट आते हैं, उनसे मन विचलित हो जाता है।"

महाराज ने कहा, "भगवन् ! आपके आशीर्वाद से और जिन धर्म के प्रसाद से इस व्रत का निर्दोष पालन करूँगा। प्राणों को छोड़ दूँगा, किन्तु प्रतिज्ञा में दोष नहीं आने दूँगा। मुझे महाव्रत देकर कृतार्थ कीजिए।"

उत्तूर ग्राम में क्षुल्लक दीक्षा

जब गुरुदेव ने देखा कि यह श्मशान वैराग्य नहीं है, किन्तु संसार से विरक्त शुद्ध आत्मा की मार्मिक आवाज है। उन्हें विश्वास हुआ कि यह महाव्रत की प्रतिष्ठा को कभी लांछित नहीं करेगा, फिर भी उन्होंने दूर तक सोचा, यह विरक्त व्यक्ति सुखी श्रीमंत परिवार का है और महाव्रती बनने पर अपरिमित कष्ट सहन करने पड़ते हैं, इसलिए कुछ समय के लिए क्षुल्लक के व्रत देना उचित है, इसके पश्चात् यदि पूर्ण पात्रता दिखी, तो निर्ग्रथ दीक्षा दे दी जायेगी। यही बात गुरुदेव ने इस विरक्त शिष्य को कही। उन्होंने यह भी कहा कि क्रम पूर्वक आरोहण करने से आत्मा के पतन का भय नहीं रहता है। इस प्रकार गुरुदेव की आज्ञानुसार श्री सातगौड़ा पाटील ने उत्तूरग्राम में जेठ सुदी त्रयोदशी शक संवत् १८३७, विक्रम संवत् १९७२, सन् १९१५ में क्षुल्लक दीक्षा लेकर लघुमुनित्व का पद प्राप्त किया। यहां यह बात ज्ञातव्य है कि देवप्पा स्वामी से दो-तीन दिन तक चंपाबाई आत्माराम हजारे, उत्तूर के घर में सातगौंडा पाटील की दीक्षा के बारे में चर्चा चली थी। उस घर में देवप्पा स्वामी २ वर्ष रहे थे। हम उस ग्राम में गए थे।

चंपाबाई ने बताया दीक्षा का निश्चय हमारे घर पर हुआ था। दीक्षा का संस्कार घर से लगे छोटे मंदिर में हुआ था। उस गांव में १३ घर जैनों के हैं। अप्पा जयप्पा वणकुदरे ने कहा मेरे समक्ष दीक्षा का जुलूस निकला था। भगवान पार्श्वनाथ की मूर्ति का अभिषेक भी हुआ था। महाराज ने गुरु से कहा था, "मला दीक्षा द्या" (मुझे दीक्षा दीजिए)। गुरु ने दीक्षा दी।

सातगौड़ा क्षुल्लक शांतिसागर हो गए। उनमें गुरु की अपेक्षा अधिक तेज तथा कांति थी। दीक्षा के पूर्व वे वर्धमानसागर जी के समान वस्त्र पहिनते थे।

आध्यात्मिक सिंह सदृश विहार

उसी पवित्र त्रयोदशी को श्री सातगौड़ा पाटील ने सदा के लिये अपने घर परिवार का मोह छोड़ा और भोज भूमि की ममता को सदा के लिये त्याग दिया। लोग जननी और जन्मभूमि को स्वर्ग से बड़ा मानते हैं, किन्तु आत्मस्वराज्य स्थापन निमित्त इन महामना महापुरुष के मन में वह पौद्गलिकभूमि ममत्व को न जगा सकी।

परम विशुद्धता और उत्कृष्ट वैराग्य अलौकिक अंत:करण वाले महाराज ने भोजभूमि के पिंजरे से अपने को उन्मुक्त कर दिया और अब ये अध्यात्मिक सिंह के रूप में इस वसुंधरा पर विहार करने लगे। अब इनकी आत्मा को पूर्ण शांति मिली कारण बाल्य जीवन की मनोकामना को पूर्ण करने का पवित्र पथ प्राप्त हुआ।

वैराग्य का कारण

एक दिन मैंने पूछा, ''महाराज वैराग्य का आपको कोई निमित्त तो मिला होगा? साधुत्व के लिये आपको प्रेरणा कहाँ से प्राप्त हुई। पुराणों में वर्णन आता है कि आदिनाथ प्रभु को वैराग्य की प्रेरणा देवांगना नीलांजना का अपने समक्ष मरण देखने से प्राप्त हुई थी।''

महाराज ने कहा, ''हमारा वैराग्य नैसर्गिक है। ऐसा लगता है कि जैसे यह हमारा पूर्व जन्म का संस्कार हो। गृह में, कुटुम्ब में, हमारा मन प्रारंभ से ही नहीं लगा। हमारे मन में सदा वैराग्य का भाव विद्यमान रहता था। हृदय बार-बार गृहवास के बंधन को छोड़ दीक्षा धारण के लिये स्वयं उत्कंठित होता था।''

भगवान महावीर के संबंध में अशग कवि ने लिखा है, **''सुकुमार सरोज सदृश कोमल चरण युगल वाले तथा संसार का नाश करने वाले महावीर भगवान का तीस वर्ष प्रमाण कुमारकाल देवों के द्वारा लाये गये भोगों को भोगते हुए व्यतीत हो गया। एक दिन बिना किसी निमित्त के वे भगवान भोगों से विरक्त हो गये, यही उचित है, क्योंकि तत्त्वज्ञानी मोक्षाभिलाषी आत्मशांति के लिये बाह्य कारणों की प्रतीक्षा नहीं करते रहते।''**

अब सब श्रीमती का वैभव भोजभूमि में रहा आया और ये लंगोटी पिच्छि तथा स्वल्प सामग्री साथ ले स्वामी जी के पास रहने लगे। जिस प्रकार इनकी बाह्य सामग्री उपलब्ध हुई, उस प्रकार आत्मिक ज्ञान का भंडार कम नहीं हुआ, वह तो कई गुना बढ़ गया। कर्मों की निर्जरा भी बडे वेग से होने लगी। विशुद्धता निरन्तर वृद्धिंगत हो रही थी। इससे पूर्वबद्ध

कर्मराशि भी विनष्ट होती जा रही थी। एक माह व्यतीत होने पर चातुर्मास के निश्चय करने का अवसर आया। उत्तूर ग्राम बहुत छोटा था। अत: गुरुदेव की आज्ञा से चरित्र नायक क्षुल्लक महाराज कार्गल आ गए। वहाँ एक भक्त श्रावक ने इनको कमंडलु भेंट दिया इससे इन्होंने लोटे को दूर कर दिया।

प्रथम चातुर्मास कोगनोली में

पाटील श्री भीमगौड़ा के धार्मिक श्रीमंत घराने के भूषण श्री सातगौड़ा ने क्षुल्लक दीक्षा ली, इस शुभ समाचार ने सर्वत्र धार्मिक समाज को आनंदित किया। सभी लोग इस पुण्य निश्चय की सराहना करते हुए उनको धन्य-धन्य कह उठे। इनकी निस्पृहवृत्ति, सच्ची विरक्ति तथा रत्नत्रय धर्म की निष्कलंक साधना देखकर ऐसा कौन है, जो प्रभावित न होता हो, प्रणामांजलि अर्पित न करता हो ? इनके कार्गल पहुँचते ही कोगनोली ग्राम के श्रावकों के समुदाय ने आकर अनुनय विनय की और कोगनोली में वर्षायोग व्यतीत करने का सादर अनुरोध किया। कोगनोली की जनता का बड़ा पुण्य था, जो नवीन क्षुल्लक महाराज ने वहाँ प्रथम चातुर्मास व्यतीत करने की स्वीकृति प्रदान कर दी।

सच्चा रत्न छोटा होते हुए भी, अपनी असाधारण दीप्ति द्वारा घोर अंधकार को दूर करता है, उसी प्रकार क्षुल्लक होते हुए भी इन्होंने सम्यक्श्रद्धा तथा सम्यक्चारित्र का महान् प्रसार कार्य प्रारंभ कर दिया और इनके प्रचार का जादू जैसा असर देखा जाता था।

गृहीत मिथात्व त्याग का महान प्रचार

इन्होंने देखा कि लोगों में कुदेवों (अन्यमतियों के रागी द्वेषी मिथ्यादेवों)की भक्ति विद्यमान है। लोग जिनेन्द्र देव को भूलकर चतुर्गति रूपी संसार में डुबाने वालों की आराधना में संलग्न हैं। इससे इनके अंत:करण में समाज की मिथ्यात्व रोग के दूर करने की भावना उत्पन्न हुई। कुल परंम्परा से आगत प्रवृत्तियों, रूढ़ि को बदलना नदी की धारा का मुँह फेरने सदृश कठिन काम होता है, कारण जो काम पहले से पीढ़ियों से पीछे लग जाते हैं, वे असत्य होते हुए भी, दूर नहीं होते। मनोविज्ञान शास्त्र में इसे अत्यंत स्थितिपालक (Most Conservative Agent) कहा गया है। आदत वश आदमी यही सोचता है कि वह ठीक कार्य होगा, कारण मैं इसे बचपन से करता आ रहा हूँ। पुरातन संस्कार वश दोष को देखने की दृष्टि क्षीणप्राय हो जाती है।

महाराज का असाधारण व्यक्तित्व था, अत: उनके समक्ष जो भी कुदेव सेवी आता, वह तत्काल मिथ्यात्व का परित्याग कर व्यवहार सम्यक्त्व को धारण करता था। हजारों घरों में इन्होंने जिनेन्द्र भक्ति की ज्योति जगा दी। इनके मुख से शब्द निकलते ही भक्त मिथ्यात्व के त्याग का नियम ग्रहण कर लिया करते थे। संसार में सबसे बड़ा आत्म-शत्रु

यही मिथ्यात्व है। यही सब पापों में प्रमुख है। आज मिथ्यात्व के प्रचार का सर्वत्र जोर देखा जाता है। सत्पथ का प्रतिपादन करने वाले समर्थ पुरुष मिलते भी कहाँ हैं ?

'सागारधर्मामृत' में लिखा है कि **आजकल पंचमकालरूपी भीषण वर्षाकाल में मिथ्यात्वरूपी मेघों से सम्यक्ज्ञानरूपी दिशाएँ आक्रान्त हो गई हैं। इस अवसर पर सूर्य चंद्रमा के समान प्रकाशदाता महान् ज्ञानियों, तीर्थंकरों, ऋद्धिधारी-अवधि ज्ञानधारी मुनियों के दर्शन नहीं होते हैं। ऐसे आध्यात्मिक प्रकाशविहीन वातावरण में दुःख है कि तत्त्वमार्ग के उपदेशक जुगनू की भांति प्रकाश देते हैं।**

बड़े दुःख की बात है कि जिस भरतक्षेत्र में तीर्थंकरों ने, श्रुतकेवलियों ने सूर्य के समान सम्यक्ज्ञान तथा मुक्ति मार्ग का उपदेश दिया था, वहाँ कलिकाल रूपी वर्षाकाल आ जाने से दिशाएँ मिथ्या उपदेश रूपी मेघों से ढक गई हैं, अतः सच्चा मार्ग नहीं सूझता है, ऐसी स्थिति में सच्चे गुरु जुगनूं की तरह कहीं-कहीं प्रकाशित होते हैं तथा प्रकाश प्रदान करते हैं।

आज लौकिक विद्या में प्रवीण व्यक्ति सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। वे प्रत्येक घर की शोभा बढ़ाते हैं, किन्तु आत्म कल्याणकारी ज्ञान युक्त पुरुष का दर्शन दुर्लभ हो गया है। सम्यक्ज्ञान की चर्चा करने वाले पुण्यपुरुष कहाँ मिलते हैं ? आचार्य पद्मनंदि ने लिखा है, **"आजकल अपने को विद्वान् समझकर महान् वाणी का वैभव दिखाते हुए सभाओं में श्रृंगार आदि रसों से युक्त प्रमोद प्रदान करने वाले तथा मोह-जाल में फँसाने वाले वक्ता घर-घर में विराजमान है, किन्तु जिनसे परमात्मा तथा जीवादि तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त होता है वे उपदेष्टा दुर्लभ हैं।"**

ऐसे मोह-संकुल वातावरण में आत्म-तत्त्व की सम्यक्देशना निःस्पृह, निर्भय भाव से देने वाले सत्पुरुष ऐसे काल में बिरले हैं। हमारे चरित्रनायक ऐसे ही लोकोत्तर दुर्लभ पुरुषों में चूड़ामणि थे। **कितनी भी सुन्दर मजबूत सर्वसाधन संपन्न नौका हो, उसमें यदि छिद्र है, तो वह डूबे बिना नहीं रहती। इसी प्रकार सर्व प्रकार का लौकिक ज्ञान हो अथवा अनेक प्रकार की अभ्युदय की सामग्री हो, फिर भी मिथ्यात्व का त्याग जब तक नहीं होता, तब तक यही सर्व वैभव अल्पकालस्थायी है। कुछ समय के बाद वह मिथ्यात्व राक्षस इनके जीवन का सर्वनाश करके, इन्हें नरक तिर्यंचादि योनियों में त्रास दिये बिना न रहेगा।** अतः विश्व की विभूति और पूर्ण सुखों का दान एक तरफ और दूसरी तरफ मिथ्याज्ञान को दूर कर सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्त्व की प्राप्ति करना, इनमें सम्यक्त्व लाभ करने के समान हितप्रद कोई वस्तु नहीं है, इससे भव-भव में जीव सुख पाता है तथा मिथ्यात्व के कारण अनंत संसार में भटकता हुआ अनंत दुःखों को भोगता रहता है।

समन्तभद्र स्वामी ने भी कहा है (रत्नकरण्ड. ३४) :

न सम्यक्त्वसमं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत् तनूभृताम् ॥

यही बात विचार कर पूज्यश्री ने पहले गृहीत मिथ्यात्व रूपी ग्रहराक्षस से, भोले तथा भूले जैन बंधुओं की मुक्ति का मंगलमय सुधार-कार्य प्रारम्भ किया। लोग प्राय: शिथिलाचार के पोषण तथा भ्रष्ट स्वछंद प्रवृत्ति को 'सुधार' कहा करते हैं, किन्तु सच्चा सुधार वह है जिससे जीव का संसारपरिभ्रमण दूर होता है। वह पाप प्रवृत्तियों का परित्याग कर संयमशील हो सदाचार के पथ पर लगता है। समाज में विद्यमान सत्वृत्तियों को उखाड़कर, पाप मूलक प्रवृत्तियों तथा व्यसनों को पुष्टि प्रदान करने वाली कल्मषमय वृत्तियों को सुधार का नाम देकर, मोह तथा मिथ्यात्व के चक्कर में फँसे हुए जीव जनसाधारण को कुमार्ग पर पहुँचाते हैं। ऐसे अवसर पर कुछ यश-लिप्सु लोग सत्य कहने का साहस न होने से, जानते हुए भी कुपथ में जाने वालों को प्रोत्साहन देने में संकोच नहीं करते हैं। ऐसे काल में जिनागम पर दृढ़प्रतीति धारण कर निर्भय हो जीव के परमार्थ कल्याण का उपदेश दे, मिथ्यामार्ग से बचाने वाले पूज्य श्री सदृश सत्पुरुषों का दर्शन तक दुर्लभ है।

मिथ्यात्व त्याग करने का कारण

आज-कल कुछ लोग अपने सम्प्रदाय के कट्टर भक्त होते हुए, जनता के समक्ष अपने आपको सर्व-धर्म समभाववाले बता सबसे आदर, गौरव तथा प्रशंसा प्राप्त करने की चतुरता दिखलाते हैं। ऐसे लोग शंका कर सकते हैं कि आपके गुरुदेव ने मिथ्यात्व का प्रसार रोकने का श्रम क्यों किया ? इसमें क्या सार है ? उनके ऐहिक सुख व लाभ के लिए या शिक्षा-प्राप्ति के हेतु यदि वे उद्योग करते तो कहीं अच्छा होता, इससे राष्ट्र का भी अभ्युदय होता।

यह प्रश्न स्थूल दृष्टि से बड़ा मोहक दिखता है, किन्तु परमार्थ के विचार से उचित नहीं ज्ञात होता। मिथ्यात्व की आराधना से यह जीव मोक्षमार्ग से वंचित हो जाता है। इसकी विवेक शक्तिहीनता से प्राण हरण हो जाता है और विवेक की मृत्यु होने से विज्ञ व्यक्तित्व के समक्ष समस्त जीवन ही सार-शून्य विदित होता है। जैन धर्म वैज्ञानिक विचारपूर्ण है। वह वैज्ञानिकदृष्टि को मोक्ष का मूल मानता है। यह मिथ्या धारणाओं तथा अवैज्ञानिक मान्यताओं को आश्रय देना सर्प को दूध पिलाने के तुल्य समझता है।

जिस तरह रोगी के शरीर में फोड़ा होने पर उसके प्रति ममत्व दिखा शल्य क्रिया (ऑपरेशन) का जो विरोध करता है, वह परमार्थत: उसका हित चिन्तक नहीं, अपितु शत्रु है। किन्तु डॉक्टर भयंकर शस्त्र का उपयोग कर उसे असहाय वेदना देते हुए भी हितैषी, मित्र तथा सद्बंधु माना जाता है, क्योंकि वह उस रोगी के रोग की जड़ से दूर कर

उसे सुख प्रदान करता है।

इसी प्रकार सद्गुरु मिथ्या मार्ग का पालन कर अपनी मृत्यु का गड्ढा खोदने वाले जीवों को सदुपदेश द्वारा सच्चा जीवन और आनंद प्रदान करते हैं। मिथ्यात्व और सम्यक्त्व में आलोक और अन्धकार सदृश एक्य का स्थापन त्रिकाल में भी शक्य नहीं है। सत्य और असत्य, अहिंसा और हिंसा, शील और कुशील में कैसे मैत्री उत्पन्न की जा सकती है ? इसी प्रकार मोक्षमार्ग के निरूपण में जैन शासन सत्यानुरोध से तथा जीव के कल्याण की कामना से मिथ्यात्व का मूलोच्छेद करना आवश्यक बताता है। इस विषय में तनिक भी शैथिल्य रहा तो मिथ्यात्व का काला नाग डसे बिना नहीं रहेगा।

विचारवान व्यक्ति सरलता से इस तत्त्व को हृदयंगम कर लेगा कि जैन दृष्टि क्यों मिथ्यात्व का निषेध करती है ? भोले लोग न जाने कितनी मिथ्या वस्तुओं को देवी देवता का नाम दे उनकी भक्ति करते हुए अपने अमूल्य नर जन्म को नष्ट करते हैं। पहले जब रेल चली थी, तब रेल का इंजन ग्रामीणों को भगवान सदृस था। अभी १९५२ का जो स्वतंत्र गणतंत्र भारत का चुनाव हुआ इसमें मतदान पेटी का (बेलेट बाक्स) भी भगवान बन गया था। कई ग्रामीणों ने उस पेटी की पूजा की, उसका ध्यान किया। वोट भगवान का शांत भाव से स्मरण किया। ऐसी भ्रांत धारणाओं पर वैज्ञानिक दृष्टि का जब तक चाकू नहीं चलता है, तब तक दृष्टि शुद्ध नहीं होती है। अतः विवेकी व्यक्ति का कर्तव्य है कि विज्ञान, विचार तथा अनुभूति की कसौटी पर सत्य प्रमाणित होने वाली दृष्टि को स्वीकार करें, न कि मानसिक दुर्बलता वश दूध और चूने को, काक और कोकिल को वर्ण साम्य होने से एक मानने का, सत्य के शासन के विरुद्ध अपराध करें।

इसी कारण जिनेन्द्र के शासन की छत्रछाया में भूले भाईयों को लाकर पूज्यश्री ने अवर्णनीय उपकार किया। महाराज ने तो यह नियम कर लिया था कि जिसके यहाँ मिथ्यात्व की आराधना होती होगी और जो अपने यहाँ कुदेवों को विराजमान किए होगा उसके यहाँ आहार नहीं लेंगे। उनकी इसी प्रतिज्ञा रूपी औषधि ने बहुत शीघ्र मिथ्यात्व की बीमारी को दूर कर दिया। इसी सम्यक्त्व प्रसार के कार्य से पूज्यश्री के वात्सल्य, स्थितिकरण, उपगूहन तथा प्रभावना रूपी सम्यक्त्व के अंगों की विशुद्धता प्रकाशित होती है। यह इस तथ्य को सूचित करता है कि महाराज के चित्त में लोक कल्याण की कितनी उज्ज्वल तथा पवित्र भावना वेग से काम कर रही थी। उन्हें निरन्तर यही दिखता था कि इन अज्ञ जीवों का भ्रमभाव भगाकर कैसे उनको सत्यमार्ग पर लगाया जाए, जिससे वे संसार के दुःखों से व्यथित न होवें। कोगनोली में वर्षायोग व्यतीत कर क्षुल्लक महाराज ने अपने विहार द्वारा सम्यक्त्व का प्रकाश फैलाने का कार्य बड़ी तत्परता से किया।

उन्होंने अपना दूसरा चातुर्मास कुंभोज में किया था। यहाँ आदिसागर मुनिराज के

सत्संग का लाभ रहा। वर्षा योग के अनंतर वे निरंतर विहार द्वारा भव्य जीवों का कल्याण करते रहे। उनका तीसरा चातुर्मास पुनः कोगनोली में हुआ।

इसके बाद महाराज ने कर्नाटक प्रांत की ओर विहार कर सन्मार्ग की प्रभावना की।

जैनवाड़ी में सम्यक्त्व की धारा

जैनवाड़ी में आकर उन्होंने वर्षायोग का निश्चय किया। इस जैनवाड़ी को जैनियों की बस्ती ही समझनी चाहिये। वहाँ प्रायः सभी जैनी थे। किन्तु वे प्रायः भयंकर अज्ञान में डूबे हुए थे। सभी कुदेवों की पूजा करते थे। महाराज की पुण्यदेशना से सब श्रावकों ने मिथ्यात्व का त्याग किया और अपने घर से कुदेवों को अलग कर कई गाड़ियों में भरकर उन्हें नदी में सिरा दिया।

उस समय वहाँ के जो राजा थे, यह जानकर आश्चर्य में पड़े कि क्षुल्लक महाराज (आचार्य महाराज) तो स्वयं ही बड़े पुण्यचरित्र महापुरुष हैं, वे भला हम लोगों के द्वारा पूज्य माने गए देवों को गाड़ी में भरवाकर नदी में डुबोने का कार्य क्यों कराते हैं ? राजा और रानी, दोनों ही महाराज की तपश्चर्या से पहले ही खूब प्रभावित थे। उनके प्रति बहुत आदरभाव भी रखते थे।

एक दिन राजा पूज्यश्री की सेवा में स्वयं उपस्थित हुए और बोले-"महाराज ! आप यह क्या करवाते हैं, जो गाड़ियों में देवों को भरवाकर नदी में पहुँचा देते हैं ?"

महाराज ने कहा-"राजन् ! आप एक प्रश्न का उत्तर दो कि आप के यहाँ भाद्रपद में गणपति की स्थापना होती है या नहीं ?"

राजा ने कहा-"हाँ महाराज ! हम लोग गणपति को विराजमान करते हैं।"

महाराज ने कहा-"उनकी स्थापना के बाद आप क्या करते हैं ?"

राजा ने कहा-"महाराज हम उनकी पूजा करते हैं, भक्ति करते हैं।"

महाराज ने पूछा-"उस उत्सव के बाद क्या करते हो ?"

राजा ने उत्तर दिया- "महाराज बाद में हम उनको पानी में सिरा देते हैं।"

महाराज ने पूछा-"जिनकी आपने भक्ति से पूजा की, आराधना की उनको पानी में क्यों डूबो दिया ?"

राजा ने कहा-"महाराज, पर्व पर्यन्त ही गणपति की पूजा का काल था। उसका काल पूर्ण होने पर उनको सिराना ही कर्तव्य है।"

महाराज ने पूछा-"उनके सिराने के बाद आप फिर किनकी पूजा करते हैं ?"

राजा ने कहा-"महाराज हम इसके पश्चात् राम, हनुमान आदि की मूर्तियों की पूजा करते हैं।"

महाराज ने कहा-"राजन् ! जैसे पर्व पूर्ण होने के पश्चात् गणपति को आप सिरा

देते हैं और रामचन्द्र जी आदि की पूजा करते हैं, इसी प्रकार इन देवों की पूजा का पर्व समाप्त हो गया। जब तक हमारा आना नहीं हुआ था, इनकी पूजा का काल था। अब जैन गुरु के आ जाने के बाद उनका काम पूरा हो गया, इससे उनको सिरा देना ही कर्तव्य है। जिस तरह आप राम, हनुमान आदि की पूजा करते हैं, इसी प्रकार हमारे मंदिर में स्थायी मूर्ति तीर्थंकरों की, अरहंतों की रहती है, उनकी पूजा करते हैं।''

पूज्यश्री के युक्ति पूर्ण विवेचन से राजा का संदेह दूर हो गया। वे महाराज को प्रणाम कर संतुष्ट हो अपने राजभवन को वापिस लौट गए।

मिथ्यादेवों की उपासना का निषेध

जैनवाड़ी में एक और महत्वपूर्ण बात हुई। वहाँ जब महाराज जैनियों को मिथ्यादेवों की पूजा के त्याग की प्रतिज्ञा करा रहे थे, तब ग्राम के मुख्य जैनियों ने पूज्यश्री से प्रार्थना की, ''महाराज ! आपकी सेवा में एक नम्र विनती है।''

महाराज ने बड़े प्रेम से पूछा- ''क्या कहना है कहो ?''

जैन बंधु बोले- ''महाराज इस ग्राम में सर्प का बहुत उपद्रव है। सर्प का विष उतारने में निपुण एक जैनी भाई है। वह मिथ्यादेवों की भक्ति करके, उनके मंत्रों को पढ़कर सर्प का विष उतारता है। उसने यदि आपसे मिथ्यात्व त्याग की प्रतिज्ञा ले ली तो हम सबको बड़ी विपत्ति उठानी पड़ेगी। इसलिए उसे छोड शेष सबको आप नियम देवें, इसमें हमारा विरोध नहीं है। आगे आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।''

अब तो विकट प्रश्न आ गया, जो आज बडे-बड़े लोगों को भी विचलित किए बिना न रहेगा। तार्किक व्यक्ति तो लोकोपकार, सार्वजनिक हित, जीवदया, प्राणरक्षण के नाम पर अथवा अन्य भी युक्तिवाद की ओट में उस मांत्रिक जैन को नियम के बंधन से मुक्ति देने के विषय में पूज्य महाराज से प्रार्थना करेगा कि इस विषय में आपको विशेष विचार करना होगा और सार्वजनिक हित के हेतु केवल एक व्यक्ति को पूजा के लिये छुट्टी देनी होगी।

जैन मंत्र का अपूर्व प्रभाव

पूज्य महाराज ने गम्भीरता पूर्वक इस समस्या पर विचार किया और उस जैन बंधु से कहा-''जैन मंत्रों में अचिन्त्य सामर्थ पाई जाती है। हम तुम्हें एक मंत्र बताते हैं। उसका विधिपूर्वक प्रयोग करो यदि दो माह के भीतर यह मंत्र तुम्हारा कार्य न करे तो तुम बंधन में नहीं रहोगे। अत: तुम दो माह के लिये मिथ्यात्व का त्याग करो।'' महाराज ने उस मांत्रिक बंधु को मिथ्यात्व का दो माह का त्याग कराकर मंत्र दिया तथा विधि भी कह दी। इतने में कोई आदमी समाचार लाया और बोला कि मेरे बैल को सर्प ने काट

लिया है। वह तुरन्त पंच परमेष्ठी का स्मरण करता हुआ वहाँ पहुँचा और जैन मंत्र का प्रयोग किया, तत्काल विष बाधा दूर हो गई। इसके पश्चात् मंत्र का सफल प्रयोग देखकर वह महाराज के पास आया और बोला- "महाराज अब मुझे जीवन भर के लिए मिथ्यात्व के त्याग का नियम दे दीजिए।" महाराज ने उसे जीवन भर के लिये नियम दे दिया।

इससे महाराज की जिनागम पर प्रगाढ़ श्रद्धा तो स्पष्ट ज्ञात होती ही है, किंतु साथ ही साथ विकट स्थिति में भी धर्मपथ से नहीं डिगने की मेरुवत् अचलवृत्ति भी ज्ञात होती है।

इस प्रसंग में यह बात ज्ञातव्य है कि जिनेन्द्र की वाणी में मंत्र की महत्ता पर बहुत प्रकाश डाला गया है। द्वादशांगरूप जिनवाणी में विद्या-साधनादि का वर्णन है।

'धवला' टीका में लिखा है, कि 'विद्यानुवाद' नाम का दसवां पूर्व है, उसमें पन्द्रह वस्तुगत, तीन सौ प्राभृतों में एक करोड़ दस लाख पदों द्वारा अंगुष्ट प्रसेना आदि सात सौ अल्प विद्याओं का, रोहिणी आदि पांच सौ महाविद्याओं का और अंतरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, क्षण, व्यंजन, चिह्न इन आठ महानिमित्तों का वर्णन मिलता है। मंत्रविद्या में पारंगत हुए बिना श्रुतकेवली नहीं होते। श्रुतकेवली भद्रबाहु मंत्रविद्या में पूर्ण निपुण थे। अज्ञानवश कहा जाता है कि मंत्रशास्त्र का जैनधर्म में कोई स्थान नहीं है। भरत चक्रवर्ती ने मंत्र की आराधना द्वारा मागध देव को वश में किया था (महापुराण पर्व २८)। आज मंत्र विद्या के ज्ञाताओं का जैन समाज में दर्शन दुर्लभ हो जाने से दुःखी व्यक्ति जिनेन्द्र भगवान को भूल, कुदेव तथा कुगुरु की आराधना करता फिरता है। पहले जैन समाज में बड़े बड़े समर्थ मांत्रिक व्यक्ति हो चुके हैं।

सन् १९५० में ग्वालियर जाने पर हमें विदित हुआ कि वहाँ तीन-चार सौ वर्ष पूर्व जो भट्टारक जी थे उनकी ग्वालियर तथा दिल्ली के दरबार में बड़ी प्रतिष्ठा थी। दिल्ली के लाल किले के सामने अवस्थित लालमन्दिर नाम से ख्यात जिनालय मंत्रविद्या के प्रभाववश अत्याचारी शासकों तथा धर्मान्धों द्वारा नहीं हड़पा जा सका। जैन मंत्रों की अपार सामर्थ्य आज भी विद्यमान है। सदाचार, श्रद्धा तथा दृढ़तापूर्वक आराधना करने वाले के लिए वे मंत्र कल्पवृक्ष के समान कामना पूर्ण करते हैं। आचार्य महाराज ने मंत्रसाधक जैन बंधु को सर्प का विष उतारने वाला सविधि जैनमंत्र सिखाया था। जैनमंत्र के महान् सामर्थ्य का प्रत्यक्ष अनुभव लाभ के उपरान्त वह जैन बंधु महाराज के पास आकर बोला कि महाराज जैन मंत्रो में एक और महत्व की बात ज्ञात हुई कि इसमें सर्प का विष अत्यंत शीघ्र दूर होता है तथा भीषण रोगों की शीघ्र उपशांति होती है।

पंचनमस्कार मंत्र की श्रेष्ठता

सोमदेव सूरि ने लिखा है, "सर्वज्ञ जिनेन्द्र से सर्व विद्याओं की उत्पत्ति हुई है। पंच परमेष्ठी के वाचक शब्दों का ध्यान करना अविनाशी तथा सर्वविद्याओं का आधार है।

सर्वशास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करके श्रेष्ठ तप करते हुए भी मुनिराज अंत में एकचित्त हो इस पंचगुरु नाम स्मरण रूप मंत्र की ही आराधना करते हैं। यह पंच परमेष्ठी वाचक मंत्र स्मृतिधारा द्वारा जिसके चित्त में वर्षा करता है अर्थात् जो इसका निरंतर स्मरण करता है उसके क्षुद्र उपद्रव रूपी धूल शांत हो जाया करती है।" जिनसेन स्वामी ने भगवान् को मंत्रवेत्ता, मंत्रनिर्माता, मंत्रधारक तथा मंत्रमूर्ति कहा है।

कवि धनंजय कहते हैं कि विष को दूर करने वाली मणि, औषधि, मंत्र, रसायन आदि के उद्देश्य से जगत के जीव भटकते फिरते हैं, किन्तु आश्चर्य है कि वे आपका स्मरण नहीं करते। यथार्थ में ये जिन भगवान के ही नामान्तर हैं। जिनेन्द्र भगवान का एकाग्रता और श्रद्धापूर्वक स्मरण करने से क्या नहीं होता है ? इस सम्बन्ध में आचार्य वीरसेन ने धवल ग्रंथ में लिखा है-"जिनेन्द्रदेव के गुणों का कीर्तन करने से विघ्न नष्ट हो जाते हैं, भय दूर होता है, दुष्ट देवता आक्रमण नहीं करते हैं तथा इच्छानुसार वस्तुओं का निरन्तर लाभ होता है।"

सर्प विष निवारण

हमने सितंबर सन् १९५२ मे भोज के जिनमन्दिर की कुटी में सुबल महाराज नाम के ७६ वर्ष की अवस्था वाले शांतमूर्ति ऐलक का दर्शन किया था। पहले वे सांगली (कोल्हापुर) ग्राम के पाटील थे। उनका नाम उस समय पायगौडा सत्यगौडा पाटील था। उन्हें दीक्षा लिए हुए ७ वर्ष हो गये थे। उन्होंने अपनी दीक्षा लेने के कारण पर इस प्रकार प्रकाश डाला था, "सात वर्ष हुए एक भयंकर सर्पराज ने हमें काट लिया। उससे जीवन की रक्षा असम्भव प्रतीत होती थी। उस समय हमारे शरीर में अपार दाह हो रहा था। प्यास की भी वेदना हो रही थी। उस समय हमने सोचा कि इस विकराल सर्प के काटने से बच गये तो दीक्षा ले लेंगे और यदि न बचे तो समाधि पूर्वक प्राण विसर्जन करेंगे।"

"सुयोग की बात थी, उस समय क्षुल्लक समंतभद्रजी तथा कीर्तनकार जिनगौड़ा पाटील मांगूरकर ने भक्तिपूर्वक विषापहार स्त्रोत का पाठ पढना प्रारंभ किया। इस समय जिन भगवान का पंचामृत अभिषेक भी किया गया था। ऋषिमंडलमंत्र का जाप भी चल रहा था। उस समय हमारे शरीर में अवर्णनीय पीडा हो रही थी। अभिषेक तथा शांतिधारा पूर्ण होने पर अभिषेक का सारा जल हम पर डाल दिया गया। उसका जल शरीर पर पडते ही तत्काल सारी वेदना दूर हो गयी। हमारा शरीर विष रहित हो गया।"

"अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार हम मुनिराज पायसागर जी के पास बोरगांव पहुंचे जहां आठवें दिन आहार लेने वाले आदिसागर मुनिराज हुए हैं। पायसागर जी महाराज के पास हमने क्षुल्लक दीक्षा ली। दीक्षा लेने के बाद १८ नवंबर सन् १९४६ को हमने शिरगुप्पी में ऐलक दीक्षा ली।"

गंधोदक से सर्पविष निवारण

इस प्रकार और लोग भी जिनेन्द्र के मंत्र की अपूर्वता बताते हैं। बरार प्रान्त के अमरावती जिले में हिवरखेड़ा ग्राम है। वहाँ के जैन मंदिर के एक कर्मचारी को भयंकर सर्पराज ने काट दिया। उस मंदिर का माली जिनभगवान की सेवा करता था। उसके मन में पारसनाथ भगवान के प्रति गहरी श्रद्धा थी। उसकी प्रार्थना पर जैन बंधुओं ने भगवान पार्श्वनाथ का अभिषेक करना आरंभ किया। सभी जैन बंधु प्रभु की पूजा में तन्मय हो रहे थे। उस समय विष का वेग चढ़ता जा रहा था। मंदिर के पास अन्य वर्ग वालों की भीड़ इकट्ठी हो गयी और वे कहने लगे कि ये जैन लोग आज इस गरीब को मार डाल रहे हैं। व्यर्थ में भगवान की पूजा का ढोंग रच रहे हैं। इतने में विष का गहरा असर होने से उसे चक्कर आया जिसे देख ऐसा लगा कि अब यह नहीं बचेगा। कुछ क्षण बाद दूसरा चक्कर आया। उस समय अभिषेक के गंधोदक उसके शरीर में लगाया, उसके कुछ क्षण पूर्व तीसरा चक्कर आ रहा था, जिसे लोग मृत्यु का चक्कर ही समझ रहे थे। इतने में जिनेन्द्र भगवान के अभिषेक का गंधोदक का शरीर से स्पर्श होते ही तत्काल उसका विष उतर गया। अन्य धर्म वाले बहुत प्रभावित हुये। आज भी लोग जिन भगवान की उस महिमा का बड़े आदर भाव से स्मरण करते हैं। वास्तव में जिनेन्द्र भगवान की श्रद्धा हृदय में धारण करने से संसार में कोई विपत्ति नहीं रह सकती।

सन् १६८० के लगभग की बात है।

जबलपुर के समीपवर्ती तिवरी ग्राम में आचार्य १०८ सुबलसागर जी महाराज का चातुर्मास था। उस स्थान के निकटवर्ती गांव में एक तरुण को नाग ने डस लिया। उसकी अत्यंत शोचनीय स्थिति हो गई। सब प्रयोग जीवनरक्षा के विफल हुए। उस समय लोगों ने जैन साधुराज के समीप आकर कृपा हेतु प्रार्थना की। संघ सहित साधुराज ने जैन मंत्र स्तोत्र का प्रयोग किया। अल्पकाल में वह पूर्ण स्वस्थ हो गया। जन मानस में जैनधर्म का महत्व प्रतिपादित हुआ। आज हमारी श्रद्धा भगवान से दूर होकर लक्ष्मी के प्रति हो गयी है। इसलिये जिनशासन की शरण में रहते हुए भी हमारी हीन अवस्था हो रही है। आज अनेक उच्च्व विद्वानों में भी श्रद्धा का दिवाला निकला हुआ दिखाई देता है। वे अपने स्वामियों के प्रति श्रद्धा रखते हैं, उनका गुणगान करते हुए नहीं थकते, उनके पापकर्मों का समर्थन करते हैं, किन्तु जिनेन्द्र की भक्ति करते समय उनकी आत्मा को अद्‌भुत पीड़ा हो जाती है। इसका कारण यही है कि मिथ्यात्व प्रकृति ने उनकी आत्मा को डस लिया है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है-

सर्प डस्यो तब जानिये, रुचिकर नीम चबाय।
कर्म डस्यो तब जानिये, जिनवाणी न सुहाय॥

सम्यक्त्वी मिथ्या मंत्रों से अपनी श्रद्धा को मलिन नहीं करेगा

बारामती में महाराज से एक प्रश्न पूछा गया था, "सम्यक्त्वी रोग निवारण के लिये मिथ्या मंत्रों द्वारा लाभ लेने का प्रयत्न करेगा या नहीं ?" पास में बैठे हुये एक विद्वान् बोल उठे, "जैसे सम्यक्त्वी औषधि लेता है, उसी प्रकार औषधि के रूप में मिथ्या मंत्र से लाभ लेगा।"

इस पर महाराज ने कहा, "औषधि लेने में बाधा नहीं है, कारण कि औषधि में न सम्यक्त्व है, न मिथ्यात्व, किन्तु मिथ्यादेवों की आराधनायुक्त मंत्रों से स्वार्थ सिद्धि करने पर उसकी श्रद्धा में मलिनता आयेगी।"

वास्तव में कुदेव आदि सम्यक्त्व के अनायतन हैं, इसलिये उनसे बचना सच्चे तत्त्वज्ञ का कर्तव्य है। आचार्य महाराज ने मिथ्यात्व का त्याग कराकर, जो लोकहित में उद्योग किया है, उसकी तुलना में बड़े से बड़ा लौकिक उद्धार कार्य नगण्य है। सच्चा कल्याण सम्यक्त्व के प्रचार में है, जिससे भव-भव के दुःख दूर होते हैं।

जिसने आत्मा में लगे हुए मिथ्यात्व को दूर करा दिया, उसने जीव का अनन्त कल्याण कर दिया। शरीर के क्षय रोग की चिकित्सा लोक में वैद्यलोग करते हैं, किन्तु आत्मा में लगे हुए मिथ्यात्व रूपी क्षय के निवारण का सामर्थ्य देवाधिदेव जिन भगवान की वाणी तथा उसके अनुसार आचरण करने में है। कोई भी रोगी औषधि की श्रद्धा मात्र से रोगमुक्त नहीं होता। उसे औषधि के सेवन करने के साथ युक्त आहार -विहार करना आवश्यक है। इसी प्रकार जो भगवान की वाणी में श्रद्धा मात्र बताकर ठीक उसके विपरीत आचरण करते हुए अपनी कालिमा पूर्ण प्रवृत्तियों को कल्याणकारी सोचते हैं, उनके नेत्रों से मिथ्यात्व रूपी पीलिया रोग अभी दूर होना बाकी है, ऐसा मानना योग्य जँचता है।

आज लोग जिनेन्द्र के शासन में जन्म लेते हुए भी प्राय: मिथ्यात्वी बन रहे हैं और उसे सर्वधर्म समभाव का मधुर नाम देकर आत्म वंचना करते हैं। काँच और कंचन, काग और कोकिल में एकान्त समता का भाव रखनेवाला कैसे तत्त्वज्ञ माना जायेगा ? तत्त्वज्ञानी न्याय दृष्टि को अपनाता है।

विश्व के उद्धार कर्ता वीतरागरसपूर्ण स्याद्वाद शासन के समान एकान्तवाद की नींव पर स्थित सरागता के आराधक सिद्धांतों में तत्त्वज्ञ कैसे एकता स्वीकार कर सकता है ? यह परमार्थ की बात है। इसमें लोक व्यवहार की लुभावनी नीति के अनुसार समझौता करने वाला जीव का सम्यक्त्व अस्तंगत हो जाता है।

यह सम्यक्त्व का अद्‌भुत सामर्थ्य है कि इसके प्रसाद से अनंत संकट क्षण में नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए महाज्ञानी मुनि समंतभद्र स्वामी ने लिखा है कि इस जीव का त्रिकाल और त्रिलोक में सम्यक्त्व सदृश कोई हितकारी नहीं है और मिथ्यात्व

के समान कोई दु:खदाता नहीं है। सम्यक्त्व का प्राण वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी जिनेन्द्र भगवान के प्रति पवित्र श्रद्धा धारण करना है। निर्ग्रन्थ गुरु और जिनेन्द्र की वाणी को शिराधार्य करना सम्यक्त्व है, इसी मर्म को ध्यान में रख महाराज ने गृह त्याग करते ही लोगों के सिर पर सवार मिथ्यात्व गृह के त्याग कराने का शाश्वतिक शांतिप्रद कार्य किया था। उनके तपोमयी जीवन से यह कठिन और असंभव कार्य अत्यन्त सरल हो गया था। जैनवाड़ी की आंतरिक शुद्धि करके महाराज ने उसे यथार्थ में जैनवाड़ी बना दिया था। अब वहाँ कोई भी कुदेव की आराधना नहीं करता है। चातुर्मास के बाद वे जहाँ-जहाँ गए, वहाँ-वहाँ उन्होंने मिथ्यात्व रूपी राक्षस को भगा, जिन भक्ति का मंगलदीप जलाया।

बाहुबली कुंभोज क्षेत्र

पर्यटन करते हुए वे कुंभोज के निकटवर्तीय बाहुबली क्षेत्र में पधारे। यह स्थान अतिशय क्षेत्र सदृश माना जाता है। लगभग दो सौ वर्ष पूर्व बाहुबली नाम के उच्च तपस्वी मुनिराज यहाँ रहते थे। उनकी तपस्या महान् थी। कभी-कभी उनके पास शेर आकर प्रेमभाव से बैठा करता था। ऐसे प्रभावशाली दिगंबर मुनि के कारण इस क्षेत्र को बाहुबली नाम प्राप्त हुआ।

गिरनार की यात्रा

जब महाराज यहाँ विराजमान थे, तब कुछ समडोली आदि के धर्मात्मा भाई गिरनार जी की यात्रा के लिये निकले और बाहुबली क्षेत्र के दर्शनार्थ वहाँ आये और महाराज का दर्शन कर अपना जन्म सफल माना। उन्होंने महाराज से प्रार्थना की कि नेमिनाथ भगवान के निर्वाण से पवित्र भूमि गिरनारजी चलने की कृपा कीजिए। महाराज की तीर्थ भक्ति असाधारण रही आयी है, इसलिये महाराज ने चलने का निश्चय कर लिया। उस समय वे रेल में बैठकर गिरनारजी गए थे।

यहाँ प्रत्येक धार्मिक के मन में यह शंका अवश्य उत्पन्न होगी कि इतने बड़े तपस्वी महात्मा ने स्वावलंबन पूर्वक गिरनार की पैदल यात्रा क्यों नहीं की ? इस विषय में कुछ महत्वपूर्ण बातों पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है।

महाराज की दीक्षा के समय व्यापक शिथिलाचरण

एक दिन महाराज से ज्ञात हुआ था कि जब उन्होंने गृह त्याग किया था, तब निर्दोष रीति से संयमी जीवन नहीं पलता था। प्राय: मुनि बस्ती में वस्त्र लपेट कर जाते थे और आहार के समय दिगंबर होते थे। आहार के लिये पहले से ही उपाध्याय (जैन पुजारी) गृहस्थ के यहाँ स्थान निश्चित कर लिया करता था, जहाँ दूसरे दिन साधु जाकर आहार किया करते थे।

ऐसी विकट स्थिति जब मुनियों तक की थी, तब क्षुल्लकों की कथा निराली है।

क्षुल्लक जीवन में परम्परा वश अपार विघ्न

महाराज बचपन से ही महान् स्वाध्यायशील व्यक्ति थे। वे सर्वदा शास्त्रों का चिंतन किया करते थे। विशेष स्मृति के धनी होने के कारण पूर्वापर विचार कर वे शास्त्र के मर्म को बिना सहायक के स्वयं समझ जाते थे। इसलिए उन्हें प्रचलित सदाचार की प्रवृत्ति में पायी जाने वाली त्रुटियों का धीरे-धीरे शास्त्रों के प्रकाश में परिज्ञान होता था। एक दिन महाराज ने कहा था, "हमने सोचा कि उपाध्याय के द्वारा पूर्व में निश्चय किये घर में जाकर भोजन करना योग्य नहीं है, इसलिये हमने वैसा आहार नहीं लिया, इससे हमारे मार्ग में अपरिमित कष्ट आये। लोगों को इस बात का पता नहीं था कि बिना पूर्व निश्चय के त्यागी लोग आहार के लिये निकलते हैं, इमलिये दातार गृहस्थ को अपने यहाँ आहार दान के लिये पड़गाहना चाहिये।" उस समय की प्रणाली के अनुसार ही लोग आहार की व्यवस्था किया करते थे। यह बात महाराज को आगम के विपरीत दिखी अतएव उन्होंने किसी का भी ध्यान न कर उसी घर में आहार लेने की प्रतिज्ञा की जहाँ शास्त्रानुसार आहार प्राप्त होगा।

इसका फल यह हुआ कि इनको बहुधा कई दिन तक आहार नहीं मिलता था। प्रभात में मंदिर के दर्शन कर चर्या को निकले, उस समय यदि किसी गृहस्थ ने कह दिया, "महाराज ! आज हमारे गृह में भोजन कीजिए, तो उसके यहाँ चले गए, अन्यथा दूसरों के घर के समक्ष अपने रूप को दिखाते हुए चले। यदि पड़गाहे गए तो आहार किया, अन्यथा वह दिन निराहार ही व्यतीत होता था। इस प्रकार कभी कभी चार-चार, पाँच-पाँच दिन तक भी निराहार रहना पड़ता था। ऐसे अवसर पर उपाध्याय भी प्रतिकूल हो गए थे। कारण इस अनुद्दिष्ट आहार की पद्धति के कारण उनको गृहस्थ के यहाँ जो अनायास आहार मिल जाता था, वह लाभ बंद हो गया।"

उस समय के मुनि लोग भी कहने लगे कि ऐसा करने से काम नहीं होगा। ये पंचम काल है। इसे देखकर ही आचरण करना चाहिए। ऐसी बात सुनकर आगम भक्त महाराज कहा करते थे, "यदि शास्त्रानुसार जीवन नहीं बनेगा, तो हम उपवास करते हुए समाधिमरण को ग्रहण करेंगे, किन्तु आगम की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करेंगे।" उस समय की परिस्थिति ऐसी ही विकट थी, जैसी कि हम पुराणों में, आदिनाथ भगवान के समय में विद्यमान पढ़ते हैं। जहाँ श्रावकों को अपने कर्तव्य का ज्ञान नहीं है, जानकार उपाध्याय लालच वश विघ्नकारी बन रहे हैं तथा बड़े-बड़े मुनि कालदोष के नाम पर शास्त्र की आज्ञा को भुला रहे हैं, वहाँ हमारा भविष्य का जीवन कैसे चलेगा, इस बात की महाराज को तनिक भी चिन्ता नहीं थी। उन्हें एक मात्र चिन्ता थी तो जिनवाणी के अनुसार प्रवृत्ति

करने की। जिनेन्द्र की आज्ञानुसार प्रवृत्ति करते हुए मृत्यु उन्हें बड़ी प्रिय मालूम पड़ती थी और आगम के विरुद्ध जीवन को वे आत्मा की मृत्यु सोचते थे। उस कठिन परिस्थिति में उनकी उग्र तपश्चर्या का कौन अनुमान कर सकता है ? अत्यंत बलशाली शरीर को स्थिर रखने के लिए योग्य काल में आहार देना आवश्यक है। भोजन न मिलने से बड़े-बड़े भक्त भगवान को भुला दिया करते हैं। एक हिन्दू संत कहते हैं, "भूखे भजन न होय गोपाला, यह लो अपनी कंठी माला।" क्षुधा की असह्य वेदना में मनुष्य पत्ते और घास तक खाकर इन प्राणों के रक्षण के लिए तत्पर होता है। संसार में ऐसा कोई अनर्थ नहीं है, जिसे पेट की ज्वाला से पीड़ित व्यक्ति न करे। ऐसी लोकस्थिति होते हुए भी महाराज वज्र की तरह अचल रहे। चर्या के लिए वे बराबर निकलते थे। आहार नहीं मिलता था, तो लाभांतराय कर्म का उदय तीव्र है, ऐसा जानते हुए शांत भाव से मंदिर में आकर धर्म ध्यान में अपना समय व्यतीत करते थे।

मैंने पूछा, "महाराज ऐसी स्थिति में लोगों के अज्ञान आदि पर तो आपको रोष आता होगा ? ऐसा होना पूर्णतया स्वाभाविक है।"

महाराज ने कहा, "हमने कभी भी ऐसा रोष नहीं किया। उस समय हमारे परिणामों में और भी निर्मलता होती थी। हम यही सोचते थे कि अभी हमारे कर्मों का तीव्र उदय है, इसलिए जैसे कर्म हमने पूर्व में बांधे हैं, उनका फल समता पूर्वक सहन करना चाहिये।"

क्रांतिकारी धार्मिक संतराज

इस प्रकार दो-तीन वर्ष तक इनके क्षुल्लक जीवन में अवर्णनीय बाधाएँ आती रही, किन्तु ये शांति के सागर ही रहे आये और कभी भी 'ज्वालाप्रसाद' नहीं बने। धीरे धीरे समय बदला और लोगों को महाराज की क्रियाओं का ज्ञान हो गया। इससे विघ्न की घटा दूर हो गई। इस प्रकाश में तो महाराज प्रचलित मिथ्या प्रवृत्तियों का उच्छेद करने वाले प्रचण्ड विद्रोही के रूप में दिखते हैं। उन जैसा सुधारक कहाँ मिलेगा ? आज तो संयम रूपी अमृत के कलश को फोड़कर फेकने वाला और विषय विष की प्याली पिलाने वाला पुरुष ही मस्तक पर सुधारक के मुकुट को धारण करता है। जो सुधार महाराज ने किया और धर्म का निर्दोष मार्ग प्रचलित कराया, उसे देख इन्हें सचमुच में इस युग के धार्मिक क्रांतिकारी महापुरुष कहना होगा। ऐसी ही अनेक शिथिल प्रवृत्तियों में उन्होंने सुधार कर धर्म मार्ग में नवीन जीवन डाला।

ऐसे अनुपम वंदनीय मानव की प्रवृति आगम विरुद्ध होगी ऐसा समझने वाला अहंकारी विद्वान् यथार्थ में तत्त्वज्ञों की करुणा का पात्र होगा। यथार्थ में कई लोग निकट जीवन के संपर्क में बिना आये, अपने घर बैठे-बैठे मिथ्या धारणाओं का ताना-बाना बुना करते हैं।

अनेक लोग चरणानुयोग तथा जैन परम्परा से अल्पतम परिचय रखते हुये भी, प्रथमानुयोग अथवा द्रव्यानुयोग के ज्ञान के बल पर संयमी जीवन वाले आचार्य के शिष्य बनने के स्थान पर गुरु का कार्य करना चाहते हैं। किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि निर्दोष चारित्र महान् आत्मा के पवित्र जीवन पर दोष लगाने वालों की कर्मों के न्यायालय में किस प्रकार दुर्गति होती है? इसलिये भव्यात्माओं का कर्तव्य है कि मिथ्याप्रवृत्ति वालों से नेतृत्व न ग्रहण करें । इसी में स्व और पर का कल्याण है। शास्त्र में जैनधर्म को लांछित करके गौरवहीन बनाने का दोष कपटवृत्ति वाले तपस्वियों और चारित्रहीन विद्वानों के ऊपर रखा गया है।[1] इसलिये नौका चलाने की दोनों पतवारों के समान धर्म की नौका को खेने वाले साधुओं को विशुद्ध चरित्र वाला बनना तथा विद्वानों को पुण्याचरण वाला होना आवश्यक है।

भगवान नेमिनाथ की निर्वाण भूमि में

समडोली के श्रावकों के साथ महाराज, नेमिनाथ भगवान के पदरज से पुनीत गिरनार पर्वत पर पहुंचे। उन्होंने जगतवंद्य नेमिनाथ प्रभु के चरण चिह्नों को प्रणाम किया और सोचा कि इन तीर्थंकर के चरणों के चिह्न रूप अपने जीवन में कुछ स्मृति-सामग्री ले जाना चाहिये। वहाँ के पवित्र वातावरण ने इनके अंत:करण को विशेष प्रकाश दिया। भगवान नेमिनाथ के निर्वाण-स्थान की स्थायी स्मृतिरूप ऐलक दीक्षा लेने का इन्होंने विचार किया। महापुरुष जो विचारते हैं, तदनुसार आचरण करते हैं, इसलिये अब ये ऐलक बन गये। इनकी आत्मा में विशुद्धता उत्पन्न हुई।

ऐलक दीक्षा

ऐलक बनने पर इनकी आत्मा को बड़ी स्फूर्ति मिली। भगवान नेमिनाथ जैसे रागरंग के चौराहे से मुख मोड़ वीतरागता के सिन्धु में निमग्न होने वाले तीर्थंकर की तपोभूमि ने न मालूम कितनी सोती हुई आत्माओं को आत्मप्रकाश प्रदान किया है। उनके ही कारण गिरनार पर्वत ही नहीं, सारा सौराष्ट्र देश सुराष्ट्र रूप में आध्यात्मिक जगत के द्वारा वंदनीय बन गया।

महाव्रती बनने के लिये आत्मा के पोषण की पर्याप्त सामग्री उनके पास इकट्ठी हो रही थी। नेमिप्रभु के चरणों ने उनके आध्यात्मिक धन को बढ़ाकर उन्हें चारित्र निधि का बड़ा धनी बना दिया।

आहार के हेतु एक ही बार जावे

एक दिन गिरनार जी की वंदना कर वे लौटे और प्रात:काल पर्वत पर ही व्यतीत होने के कारण चर्या के लिये सायंकाल के समय निकले, कारण शास्त्र की ऐसी आज्ञा है कि

---

१. पंडितैर्भ्रष्ट - चारित्रैः वठैरश्च तपोधनैः ।
शासनं जिनचंद्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ।।

साधु चर्या के लिए प्रभात में अथवा अपराह्न काल में निकले। यहाँ अथवा के स्थान में अपने अंत:करण को ही आगम और परम्परा का प्रतीक मान कोई-कोई लोग और शब्द रख कर प्रभात में और अपराह्न में निकलना उचित मानते थे। ऐसे लोगों को महाराज ने बताया था, "आहार के लिए संकल्प करके दो बार निकलने से एक आहार की प्रतिज्ञा दूषित होती है, इसलिये सबेरे या दोपहरी के बाद एक ही बार चर्या को निकलना धर्म का मार्ग है। चर्या को निकलते हुए आहार न पाने वाले मुनि का उपवास नहीं कहा जायगा। आहार का त्याग करना और आहार का न मिलना, दोनों स्थिति में जो अंतर है, उसे ज्ञानवान आदमी सहज ही विचार सकता है।"

आगम की आज्ञा का बारीकी से पालन

एक बार इन नवीन ऐलक महाराज को एक धार्मिक गृहस्थ ने पड़गाहा। चौके तक पहुंच गये। आहार लेने को तैयार ही थे कि इनकी दृष्टि घड़ी पर पड़ी। जाड़े में सूर्य जल्दी डूबता है। आहार करते करते इतना समय हो जाएगा कि रात्रि भोजन का दोष लग जाएगा। उस समय सूर्य का प्रकाश था। गिरनार पर्वत की चढ़ाई के कारण जठराग्नि भी स्वभावत: प्रदीप्त हो रही थी, फिर भी भोजन करने से कुछ मिनट रात्रि भोजन त्याग व्रत को सदोष बना देंगे, इसलिये तत्काल ही आहार की लोलुपता का त्याग कर महाराज बाहर चले आए। लोगों ने कारण पूछा। इन्होंने बताया कि भोजन की विधि में कोई दोष नहीं था, किन्तु विलम्ब से भोजन करने के कारण व्रत में दोष आने की संभावना थी, क्योंकि सूर्य अस्त होने के तीन घड़ी (७२ मिनिट) पूर्व साधु को आहार छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार बारीकी के साथ व्रतों के पालन में प्रवृत्ति करने वाले इन महापुरुष के महत्व का कौन विवेकी न मानेगा ? इस प्रकार निर्दोष धर्माचरण के द्वारा इनकी कीर्ति सर्वत्र फैलती जा रही थी।

वाहन त्याग

गिरनार से लौटकर ये सांगली के समीपवर्ती कुण्डल नाम के पहाड़ से अलंकृत स्टेशन पर उतरे। वहाँ के जिन मंदिरों की वंदना की और जीवन भर के लिये सवारी पर बैठने का त्याग कर दिया। आज के युग में महाराज सदृश्य आध्यात्मिक निधि के अधिपति जिन मंदिर की वंदना की आवश्यकता को अनुभव करते हुए सर्वदा जिनदर्शन को तत्पर रहते थे, किन्तु आश्चर्य है, कि अनर्थ के मूलअर्क के धनी अथवा लौकिक शास्त्रों का अल्प परिचय प्राप्त करने वाले आत्म-प्रकाश हीन व्यक्ति गृहस्थोचित पवित्र कर्तव्यों को भूल जिन भगवान के दर्शन की आवश्यकता को अनुभव नहीं करते हैं । इस सत्य को कौन विवेकी न स्वीकार करेगा, कि वीतराग की शरण लिये बिना इस आत्मा

का त्रिकाल में भी उद्धार नहीं हो सकता।

नसलापुर में चातुर्मास

यहाँ से चलकर इन धर्ममूर्ति ने भिन्न-भिन्न स्थानों में धर्म की प्रभावना की और नसलापुर में वर्षायोग व्यतीत किया। वहाँ इनके द्वारा बहुत धर्म प्रभावना हुई। चातुर्मास के समय एक स्थान पर रहकर जैन साधु अपने अहिंसा व्रत का रक्षण करते हुए स्व-पर उपकार में तत्पर रहते हैं। वर्षाकाल में सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति अधिक होती है, इसलिये वे जीव रक्षा की दृष्टि से एक स्थान पर निवास करते हैं। उस समय वे उपवास आदि के द्वारा अपने जीवन को समुज्ज्वल बनाते हैं।

बाबानगर की सातिशय पार्श्व प्रभु की मूर्ति

वर्षाकाल के बाद महाराज बीजापुर के समीपवर्ती ग्राम बाबा नगर में आये। महाराज ने कहा था, "वहाँ पारसनाथ भगवान की लगभग एक हाथ ऊँची मूर्ति बड़ी मनोग्य और अतिशय सम्पन्न है। कहते हैं कि मूर्ति की नाभि में पारस था। वहाँ का उपाध्याय कभी कभी संकट काल में लोहे की शलाका को उस पारस से लगा सोने की बना लिया करता था। उस उपाध्याय ने मरते समय अपने पुत्र को मूर्ति के अतिशय की बात बताई। उसके मरते ही पुत्ररत्न ने दिन भर में इतनी लोहे की शलाका लगाकर सोना बनाना शुरु किया कि वह पारस उसमें से निकलकर खो गया। उस समय एक व्यक्ति की मूर्खता से वह महत्त्व की बात सदा के लिए चली गई।" वास्तव में देखा जाय तो भगवान की मनोज्ञ मूर्ति का अलौकिकपना अभी भी है, जो जीवन को स्वर्ण तुल्य बना देता है।

****

आचार्य श्री के दीक्षा गुरु देवेन्द्रकीर्ति मुनि का वर्णन

एक बार मैंने महाराज से उनके गुरु के बारे में पूछा था तब उन्होंने बतलाया था कि "देवेन्द्रकीर्ति स्वामी से हमने जेठ सुदी १३ शक संवत् १८३७ में क्षुल्लक दीक्षा ली थी तथा फाल्गुन सुदी एकादशी शक संवत् १८४१ में मुनि दीक्षा ली थी। वे बाल ब्रह्मचारी थे, सोलह वर्ष की अवस्था में सेनगण की गद्दी पर भट्टारक बने थे। उस समय उन्होंने सोचा था कि गद्दी पर बैठे रहने से मेरी आत्मा का क्या हित सिद्ध होगा, मुझे तो झंझटों से मुक्त होना है, इसलिये दो वर्ष बाद उन्होंने निर्ग्रन्थ वृत्ति धारण की थी। उन्होंने जीवन भर आहार के बाद उपवास और उपवास के बाद आहार रूप पारणा-धारणा का व्रत पालन किया था।" - वार्तालाप, ४८

दिगम्बर दीक्षा

दिगंबर दीक्षा

इसके बाद महाराज ऐनापुर आये। वहाँ एक निर्ग्रन्थ मुनिराज का समागम मिला। इससे उनके अंत:करण में बड़ा हर्ष हुआ। महाराज के जीवन में यह विशेष बात थी कि गुणी पुरुष का समागम होने पर इनके अंत:करण में प्रमोद का भाव उत्पन्न होता था।

यरनाल में पंचकल्याणक

ऐनापुर में एक पक्ष पर्यन्त रहकर ये यरनाल पधारे। वहाँ जिनेन्द्र भगवान का पंचकल्याणक महोत्सव बड़े वैभव के साथ हो रहा था। आसपास जैनियों की लाखों की संख्या है, इसलिये अपरिमित जनसमुदाय उस महोत्सव के दर्शनार्थ वहाँ एकत्रित हुआ था। यरनाल में निर्ग्रन्थ मुनि देवेन्द्रकीर्ति महाराज पधारे थे।

गुरु से दिगंबर दीक्षा मांगना

महाराज ने उनके समीप जाकर प्रार्थना की, "भगवन् ! आपकी आज्ञानुसार मैने व्रतों का पालन किया। अब प्रार्थना है कि मनुष्य जन्म की उत्कृष्ट निधि निर्ग्रन्थ दीक्षा देकर मेरे जन्म को कृतार्थ करें।"

उस समय देवेन्द्रकीर्ति स्वामी ने कहा, "यह दिगंबर दीक्षा लेना साधारण बात नहीं है, आज समय की गति विचित्र है। मिथ्यात्वी जीवों की प्रचुरता है। दुष्ट लोगों के अभद्र वचन सुनकर सहज ही मन में मलीनता और व्रत के प्रति ग्लानि आना संभव है। परिषहों का प्रचण्ड प्रहार भी परिणामों को विचलित कर आत्मा को हिला देता है। यदि निर्ग्रन्थ पद लेकर निर्दोष रीति से उसका पालन न किया तो जीव गिरकर नीच पद को पाता है। इसलिये असमर्थ आत्मा इसे न धारण कर शक्ति के अनुसार संयम लेते हैं। सोचो ! क्या तुम इस दुर्धर निर्ग्रन्थ पद का भार उठा सकोगे ? जल्दी मत करो, जल्दी में काम करना, पीछे पश्चाताप का कारण होता है।"

स्वामी के महत्वपूर्ण उपदेश ने यह स्पष्ट कर दिया कि महाव्रत का धारण करना तलवार की धार पर चलने से भी कठिन है। ज्ञान और वैराग्य विभूषित मोक्षाभिलाषियों को यह आत्मा के लिये पुष्प शैय्या सदृश आल्हादप्रद होती है, किन्तु दुर्बल आत्मा को यह शरशैय्या के समान संक्लेश पैदा करती है।

महाराज ने गुरुचरणों में विनय पूर्वक कहा, "स्वामीन् ! आपका कथन अक्षरश: सत्य है, किन्तु मैंने वर्षों से निर्ग्रन्थ दीक्षा के हेतु अपनी आत्मा को तैयार कर लिया है। जिनेन्द्र भगवान के प्रसाद से तथा आपके आशीर्वाद से इस पद की प्रतिष्ठा की सदा रक्षा

करूँगा। उसमें कदाचित् प्राण जावे तो मुझे उसकी परवाह नहीं है।''

इनके परिणाम वैराग्य सागर में डूबे हुए थे व उनके पीछे संयम, सदाचार तथा सत्य का अपार बल था। इससे गुरुदेव की आत्मा में यह विश्वास उत्पन्न हो गया कि सातगौड़ा का प्रत्येक शब्द सत्य की शक्ति से पूर्ण है। उपस्थित हजारों लोगों ने गुरुदेव से विनय की ''महाराज ! ये बहुत पवित्र आत्मा हैं । ये स्वप्न में भी अपने व्रत को दूषण न लगावेंगे।''

मुनि पदवी

अंत में निर्ग्रन्थ दीक्षा देने का निश्चय हो गया। दीक्षा देने का श्रेष्ठ योग भी समीप था। पंचकल्याणक के समय भगवान के वैराग्य का काल आया। लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान के वैराग्य की अनुमोदना की। भगवान पालकी में विराजमान होकर दीक्षावन में पहुँचे। ऐसे उत्कृष्ट अवसर पर ऐलक जी ने निर्ग्रन्थ रूप धारण करने का निश्चय किया। भगवान के साथ ही उन्होंने वस्त्र त्याग कर दिगंबर मुद्रा धारण की और केशलोंच प्रारंभ किया। अब ऐलक जी मुनि शांतिसागर बन गये, जिन्हें जगत चारित्र चक्रवर्ती आचार्य महाराज के नाम से हार्दिक भक्ति द्वारा पूजता है।

उस समय वैराग्य का अवर्णनीय रस आ रहा था। हजारों भव्य स्त्री-पुरुष जय-जयकार कर रहे थे। उस समय के शांत रस का वर्णन कौन कर सकता है, जब इन नैसर्गिक मुनि जीवन वाली आत्मा ने चिरकांक्षित पवित्र मुद्रा धारण की। गुरुदेव ने इनका नाम गुणों को देखकर शांतिसागर रखा। इनके नाम में आगत सात शब्द शांति के ही द्योतक रहे हैं।

भक्त का मोह

जब महाराज की दीक्षा का कार्य हो रहा था, उस समय महाराज के एक श्रीमंत प्रेमी नेत्रों से अश्रुधारा बहा रहे थे। वे सोच रहे थे कि किस प्रकार इनके मुनिपद का निर्वाह होगा। गृहस्थ समाज शिथिलता और प्रमाद में डूबी हुई है। उसे आगम की आज्ञा का ध्यान नहीं है, जबकि महाराज आगम की आज्ञा से जरा भी डिगने वाले नहीं हैं, इसलिये उन्हें भविष्य बड़ा अनिष्टपूर्ण दिखाई देता था।

उस समय महाराज ने सांत्वना के शब्द कहकर समझाया, ''डरने की क्या बात है ? यदि व्रत पालने योग्य सामग्री नहीं रहेगी, तो हम जंगल में रहकर समाधि धारण कर लेंगे।''

शांति के सागर में प्रेम और माधुर्य का जल भरा है, इसमें तनिक भी खारापन नहीं है। यहाँ छोटे-छोटे जीवों को भी अभय मिलता है।

अभी ऐलक अवस्था में केवल लंगोटी पास में थी, उससे ये तीर्थंकर की जिन मुद्रा के धारी नहीं कहे जाते थे। उतना सा भी परिग्रह इन्हें संयतासंयत गुण स्थान से ऊँचा नहीं उठने देता था। आश्चर्य है कि किन्हीं जैन कहे जाने वालों में परिग्रह-परिकर रखते हुए भी अपने को संयत कहने में और कहलाने में संकोच नहीं किया जाता है। यथाजातमुद्रा

धारण करते ही ये संयत हुए और इन्होंने सर्वप्रथम अप्रमत्तसंयतगुणस्थान पर आरोहण किया, कारण देशसंयमी जब महाव्रत धारण करता है, तब भावों में अद्भुत निर्मलता होने से वह छठवें के स्थान पर सातवें गुणस्थान को प्राप्त करता है। पश्चात् अंतर्मुहूर्त के परिणामों में कुछ प्रमत्तपना संज्वलन कषायजन्य आता है। वह भी अंतर्मुहूर्त रहता है और फिर निर्मलता अप्रमत्त स्थिति को प्राप्त कराती है।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड में लिखा है-मिथ्यात्व गुणस्थान वाला सासादन तथा प्रमत्तगुणस्थान को छोड़कर शेष अप्रमत्त पर्यन्त चार स्थानों को प्राप्त होता है। सासादन गुणस्थान वाला मिथ्यात्व में ही गिरता है। मिश्रगुणस्थान वाला या तो चतुर्थ गुणस्थान को प्राप्त करता है या पतित होकर मिथ्यात्वी होता है। अविरत सम्यक्त्वी तथा देश संयमी प्रमत्तगुणस्थान को छोड़कर अप्रमत्तगुणस्थान तक जाते हैं। प्रमत्तगुणस्थान वाला नीचे के पाँच स्थानों को और आगे के अप्रमत्त रूप स्थान को इस प्रकार ६ स्थानों को प्राप्त करता है। तथा अप्रमत्त गुणस्थान वाला छठवें गुणस्थान को प्राप्त करता है।

सच्चे निर्ग्रन्थ बनें

अब शांतिसागर महाराज की मुद्रा और तीर्थंकरों की जिन मुद्रा में रंच मात्र भी अंतर नहीं है। वस्त्र, वैभव, परिग्रह के कारण ही मानव मानव में भेद की गहरी खाई खड़ी होती है; किन्तु दिगंबरत्व सच्चा साम्य उत्पन्न कर देता है। अब इनको निर्ग्रन्थ कहने लगे, इसका कारण देवसेन स्वामी 'भावसंग्रह' में इस प्रकार बताते हैं-"सर्वसंग विनिर्मुक्त होने के कारण वृषभ जिनेन्द्र निर्ग्रन्थ थे। उन्होंने अपनी वाणी के द्वारा निर्ग्रन्थ मार्ग का उपदेश दिया। उनके मार्ग में लगने वाले सभी निर्ग्रन्थ महर्षि होते हैं।" परिग्रह को धारण करने वाला उनके मार्ग में पूर्णतया लगा हुआ निर्ग्रन्थ नहीं माना जाता है। परिग्रह के धारण करते हुए पूर्ण रत्नत्रय का पालन नहीं बनता है।

ज्वर-प्रकोप

अब निर्ग्रन्थ मुनि बन इन्होंने अपने विहार द्वारा जीवों के कल्याण के साथ-साथ आत्मा का भी कल्याण बड़े वेग से प्रारंभ किया। तपश्चर्या से चिरसंचित कर्मों को उदयावलि में प्रविष्ट करा के तपोधन निर्जरा किया करते हैं। प्रतीत होता है कि इनकी तपःसाधना द्वारा असाता की उदीरणा आरंभ हो गई थी। यरनाल में दूषित जल हो जाने से बीमारी फैल गई। उस रोग से महाराज का शरीर भी आक्रान्त हो गया। अन्य तपस्वी भी बीमार पड़ गये। भक्त श्रावकों ने इनको नसलापुर लाकर खूब वैयावृत्ति व सेवा की।

एक माह के ज्वर ने शरीर को अत्यधिक क्षीण कर दिया। आहार के लिये जाने का भी सामर्थ्य न रहा। उस विकट स्थिति में भी ये धर्म ध्यान में प्रवीण रहे आए। उस समय इन्होंने आर्त्तध्यान को तनिक भी स्थान न दिया था।

आत्मा के कोई रोग नहीं है। शरीर रोगी है, जब असाता का विपाक मन्द होगा, तब रोग की उपशांति होगी, ये सुविचार ही उस समय इनके लिये औषधि रूप थे। इनका धैर्य अपार था। देखने वाले आश्चर्य में पड़ जाते थे, जैन मुनि की चर्या कितनी महान् होती है। गोचरी करने का सामर्थ्य नहीं है, तो आहार ग्रहण नहीं करेंगे। दूसरों की बात ऐसी नहीं है। वहाँ तो जहाँ भी, जब भी, जो कोई भी, जो कुछ भी दे दे, दीन बनकर ले लेते हैं। इनकी वृत्ति सिंहसदृश पराक्रम पूर्ण थी। धीरे धीरे असाता का वेग कम हुआ, प्रकृति कुछ सुधरी।

कोगनोली में चातुर्मास

चातुर्मास निकट देखकर विहार करते हुए कोगनोली पधारे और ग्राम के बाहर आधा मील की दूरी पर स्थित गुफा में विश्राम किया। वहाँ वर्षा की प्रचुरता से इनकी दिगंबर देह को बहुत बाधा आई, किन्तु इनको आपदा विचलित न कर सकी। बात यह है कि अब वे सामान्य मानव नहीं थे। जब सामान्य गृहस्थ की स्थिति में थे, तब भी इनमें अपूर्व ज्ञान और वैराग्य था, निष्प्रहता और निर्ममता थी। अब तो मुनि वृत्ति धारण कर कर्मों के साथ इन्होंने सीधा युद्ध आरंभ कर दिया था। अत: अब वे एक पराक्रमी योद्धा के समान विपत्तियों के आने पर म्लान मुख या दीनवदन नहीं होते थे। विपत्ति आने पर उसे दूर करने को बाह्य प्रतिकार ये नहीं करते थे। जैसे प्राकृतिक चिकित्सा (Nature cure) में विश्वास रखने वाले रोग आने पर औषधि के सेवन से बचते हैं, कारण उनका विश्वास रहता है कि प्रकृति स्वयं विकारों के शमन होने पर निरोगता का वरदान देती है, इसी प्रकार ये मुनिराज प्रकृति की गोद में यथाजात शिशु के रूप में रहते हुए, उसी मुद्रा को धारण कर प्राकृतिक पद्धति द्वारा संकटों का उपाय करते थे। ये शांत भाव से बड़े-बड़े संकटों को सहन करते हैं और यह सोचते थे कि जब तक कर्म का उदय है तब तक फल भोगना अनिवार्य है। जिनेन्द्र नाम स्मरण तथा आत्म गुण चिन्तन प्रधान विशुद्ध भावना रूप संजीवनी सदा लेते रहते थे, जिससे कर्मों का वेग कम होते जाता था। विपत्ति के समय निर्ग्रन्थ मुनिराज प्राकृतिक पद्धति द्वारा आत्मा के रोगों को दूर करते थे।

पागल द्वारा उपसर्ग

कोगनोली की गुफा में ये ध्यान करते थे। एक रात्रि को ग्राम से एक पागल वहाँ आया। पहले उसने इनसे भोजन मांगा। इनको मौन देख वह हल्ला मचाने लगा। पश्चात् गुफा के पास रखी ईंटों की राशी को फेंककर उपद्रव करता रहा, किन्तु शांति के सागर के भावों में विकार की एक लहर भी नहीं आई। दृढ़ता पूर्वक ध्यान करते रहे। अंत में पागल उपद्रव करते-करते स्वयं थक गया। इससे वहाँ से चला गया।

दुष्ट प्रसंग

महाराज कोगनोली की गुफा में रहा करते थे। आहार के लिये वे सवेरे योग्य काल में

जाते थे। मार्ग में एक विप्रराज का गृह पड़ता था। इनका दिगंबर रूप देखते हुए एक दिन उसका दिमाग कुछ गरम हो गया। उसने आकर दुष्ट की भाषा में इनसे अपने घर के सामने से जाने की आपत्ति की। उसके हृदय को पीड़ा देने में क्या लाभ, यह सोचकर इन्होंने आने-जाने का मार्ग बदल दिया।.लगभग दो सप्ताह के बाद उस ब्राह्मण के चित्त में इनकी शांति ने असाधारण परिवर्तन किया। उसे अपनी मूर्खता और दुष्टता पर बड़ा दुःख हुआ। उसने इनके पास आकर अपनी भूल के लिये क्षमा मांगी और प्रार्थना की कि महाराज पुनः उसी मार्ग से गमनागमन किया करें, मुझे कोई भी आपत्ति नहीं है।

महाराज के मन में कषाय भाव तो था नहीं। यहाँ हृदय स्फटिक तुल्य निर्मल था, अतः विप्रराज की विनय पर ध्यान दे, इन्होंने उसी मार्ग से पुनः आना जाना प्रारंभ कर दिया। मुनि जीवन में दुष्टजीवकृत उपद्रव सदा ही आया करते हैं। यही कारण था कि निर्ग्रन्थ दीक्षा देने के पूर्व गुरु ने पहले ही सचेत किया था कि किस प्रकार का उपद्रव आया करते हैं, जिनको जीतने के लिये आत्मा को पूर्णतया कषाय विमुक्त बनाना पड़ता है।

नसलापुर चातुर्मास

कोगनोली में चातुर्मास पूर्ण होने के पश्चात् विहार करते हुए इनका शुभागमन वर्षा के समीप नसलापुर में हुआ, अतः उन्होंने वहाँ चातुर्मास व्यतीत किया। अब इनकी कीर्ति धीरे-धीरे सर्वत्र फैल रही थी। अतः इनके दर्शन कर जीवन सफल करने वाले स्त्री-पुरुषों की संख्या बढ़ने लगी।

इनकी गुण गरिमा का वर्णन सुनकर सोलापुर प्रांत के कुछ लोगों ने नसलापुर में आकर इनके दर्शन किये। इस दर्शन से इनकी आत्मा आनंद विभोर हुई। इन्होंने वापिस आकर महाराज की महिमा का वर्णन किया, तो सबके मन में यही भाव होते थे कि कब इन रत्नत्रयमूर्ति मुनिराज का दर्शन कर जन्म कृतार्थ करें।

विचित्र घटना एवं भयंकर प्रायश्चित्त ग्रहण

निर्ग्रन्थ रूप में दूसरा चातुर्मास नसलापुर में व्यतीत कर विहार करते हुए महाराज का ऐनापुर पधारना हुआ। यहाँ एक विशेष घटना हो गई। शास्त्र में मुनि दान की पद्धति इसी प्रकार कही गई है कि गृहस्थ अपने घर में जो शुद्ध आहर बनाते हैं, उसे ही वह महाव्रती मुनिराज को आहर के हेतु अर्पण करें। दूसरे के घर की सामग्री लाकर कोई दे, तो ऐसा आहार मुनियों के योग्य नहीं है। नसलापुर में महाराज आहार ग्रहण को निकले। एक गृहस्थ ने अपने यहाँ भोजन की बिना किसी प्रकार की तैयारी के सहसा महाराज से आहार ग्रहण करने की प्रार्थना की और निमित्त की बात है कि उसी दिन पड़गाहने की विधि भी मिल गई, इससे महाराज वहाँ ठहर गए। अब उस बंधु को अपनी भूल याद आयी कि मैंने यह क्या काम किया। घर में आहार बना नहीं है और मैंने अन्न जल

शुद्ध है, यहाँ भोजन को पधारिये यह कह दिया, अब यदि मैं तत्काल योग्य व्यवस्था करने में चूकता हूँ, तो महाराज यहाँ से चले जावेंगे व लोगों में मेरी निंदा भी होगी । ऐसे विविध विचारों के जाल में जकड़े हुए उसके मन में एक युक्ति सूझी। उसके घर से लगा हुआ जो श्रावक का घर था, वहाँ आहार के योग्य शुद्ध सामग्री तैयार थी, अतः उसने बड़ी सफाई से सामान अपने घर में लाया। महाराज जी को इस बात का जरा सा भी पता नहीं लगा। अन्यथा वे वहाँ ठहरते क्यों ? होनहार की बात है कि उस गृहस्थ की होशियारी या चालाकी से मुनिराज का आहार वहाँ हो गया।

भयंकर प्रायश्चित्-ग्रहण

आहार पूर्ण होने के पश्चात् महाराज को ज्ञात हुआ कि आज का आहार ग्रहण नहीं करना था। दूसरे के घर से मांगा गया भोजन आहार के काम में लाया गया था। इससे उनके चित्त में अनेक विचार उत्पन्न होने लगे।

ऐसी स्थिति में मुनियों के पास जो सबसे बड़ा हथियार प्रायश्चित्त का रहता है, उसका उन्होंने अपने ऊपर प्रयोग करने का निश्चय किया। जब भी कोई बुराई होती थी, तो उसका कारण बाहर न खोज कर वे अपने भीतर देखा करते थे। जिस प्रकार सिंह मारने का साधन बनने वाली लाठी आदि की परवाह न कर, प्रहार करने वाले पर चोट करता है, उसी प्रकार ये महामुनि भी सीधी चोट की नीति का पालन करते हैं। आहार में दोष का कारण मेरे कर्मों का विशेष उदय है, अन्यथा सदोष आहार क्यों मिलता सदोष आहार को छोड़ देना मेरा कर्तव्य था। किन्तु ज्ञान न होने से मैं ऐसा न कर सका। इसमें भी मेरी अज्ञानता का दोष है । ऐसी ही विविध दृष्टियों का विचार कर, उन्होंने उसी दिन मध्याह्न में सूर्य की प्रचण्ड किरणों से संतप्त शिला पर जाकर ध्यान करना प्रारंभ कर दिया। उसी समय उष्णता की भीषण स्थिति ठीक ऐसी ही थी :

सूखहिं सरोवर जल भरे, सूखहिं तरंगिनि तोय ।
वाटहिं बटोही ना चलें, जहँ घाम गरमी होय ।।
तिहकाल मुनिवर तपत पहिं, गिरि शिखर ठाड़े धीर।
ते साधु मेरे उर बसहु, मम हरहु पातक पीर ।।

जो व्यक्ति नसलापुर में थे, वे इस पद्य को ते साधु मेरे उर बसो के स्थान में ये साधु मेरे उर बसो पढ़ सकते थे। उस दिन की ग्रीष्म का भीष्म परिषह देखकर लोग घबड़ा गये थे , किन्तु महाराज तो महापुरुष ही ठहरे। उनकी स्थिरता अद्भुत थी। ऐसे ही ग्रीष्म परिषह विजेताओं का चित्रण भैया भगवतीदास ने इस पद में किया है :

ग्रीषम की ऋतु माँहि, जल थल सूख जहिं।
परत प्रचंड धूप, आगि सी बरत है ।।

दावा की सी ज्वाल माल, बहत बयार अति।
लागति लपट कोऊ, धीर न धरत है॥
धरती तपत मानों, तवा सी तपाय राखी।
बड़वा अनल सम, शैल जो जरत है॥
ताके शृंगशिला पर, जोर जुग पाँव धर।
करत तपस्या मुनि, करम हरत है॥

कौन सोचेगा, कि पंचम काल में असंप्राप्तसृपटिका संहनन धारक साधु चतुर्थ कालीन मुनियों के समान ऐसा घोर तप करेगा? उष्णता के कष्ट का अनुमान करने के लिये हम एक सरल उदाहरण देना उचित समझते हैं:

उष्ण परिषह जय

जब शिखरजी या राजगिरी की पंचपहाड़ी की वंदना करते समय मध्याह्न हो जाती है और पत्थर तथा रेत गरम होने लगती है, तब यात्रा करने वाले जानते हैं कि चलने में कैसा कष्ट होता है। ऐसी परिस्थिति में नग्न शरीर युक्त पाषाण पर भीषण उष्णता के समय बैठने पर महाराज के शरीर को कितनी शारीरिक व्यथा हुई होगी, यह विचारक व्यक्ति सहज ही अनुमान कर सकता है। उस समय तो आसपास की पाषाण-राशि भी उष्ण हो आग उगलती सी प्रतीत होती थी। किन्तु धन्य है महाराज की स्थिरता तथा इन्द्रियजय, कि शांतभाव से उस कष्ट को सहन कर, उस सदोष आहार के ग्रहण-जनित दोष की शुद्धि की। ऐसी अपूर्व तपस्या और लोकोत्तर साधना न होती, तो क्यों संसार के बड़े-बड़े लोग उनके चरणों को अपने मस्तक में लगा, कृतार्थता का अनुभव करते। इस उष्ण परिषह को देखकर लोगों ने सोचा होगा कि यथार्थ में ये भीम के आत्मज हैं और इन्होंने अपने पिता से कर्मों के समक्ष भीम-वृत्ति धारण करने का गुण प्राप्त किया था। गुरु के द्वारा प्रदत्त शांतिसागर नाम के अनुसार ये उष्णता के समय ऐसे शांत रहे, मानो साक्षात् सागर में ही निमग्न हों, किन्तु यह सागर क्षारगुण युक्त जल से भरा नहीं था, वह शांति की सीमातीत चैतन्य राशि से परिपूर्ण था।

उस उष्ण परिषह का परिणाम शरीर के लिये बड़ा व्यथा जनक हो गया, किन्तु उन्होंने समभाव से वह कष्ट सहन किया। ८ दिन के लिये उन्होंने दूध के सिवाय सर्व प्रकार का आहार छोड़ दिया था।

इस घटना से असाधारण तपश्चर्या के सिवाय महाराज की आगमानुकूल प्रवृत्ति पर प्रकाश पड़ता है तथा यह स्पष्ट होता है कि वे परमागम की आज्ञा के अनुसार आचरण करने में सतर्क और सावधान रहते थे। जो महाराज के निकट सम्पर्क में आये हैं, वे जानते हैं कि पूज्यश्री आगम के वचनों का प्राणों से भी अधिक मूल्य और आदर करते थे।

ऐनापुर के पाटील ने श्री सम्मेद शिखरजी की महापूजा बड़ी प्रभावना पूर्वक सम्पन्न कराई थी। उस समय उसमें हजारों लोग आये थे। अनेक मुनिराज व त्यागी-व्रती पुरुष भी पधारे थे। यहाँ से कोगनोली होते हुए महाराज ग्रीष्म में समडोली पधारे, पश्चात् हिंगणगांव के पंचकल्याणक महोत्सव में सम्मिलित हुए। अनंतर कुंभोज, उदयगांव आदि की ओर विहार करते हुए चातुर्मास के समय ऐनापुर पधारे, वहाँ खूब प्रभावना हुई थी।

कोन्नूर में चतुर्थ चातुर्मास

निर्ग्रन्थ रूप में चतुर्थ चातुर्मास का सौभाग्य कोन्नूर को प्राप्त हुआ था। यह बेलगांव जिले में गोकाक के पास है। यहाँ के प्राचीन मंदिर के मानस्तंभ में एक बड़ा महत्व का कन्नड़ी में शिलालेख है। इसमें लिखा है कि एक राजा ने कुछ ग्राम इसलिये दान किये थे कि उनकी आमदनी के द्वारा यहाँ की पुण्य भूमि में निवास करने वाले निर्ग्रन्थों को उष्ण जल की व्यवस्था रहे तथा उनकी बराबर परिचर्या होती जावे। इस ग्राम के पास की पहाड़ी में सात सौ गुफाएँ थीं, ऐसी प्रसिद्धि है। इससे यह ज्ञात होता है कि जब जैन धर्म के पालक करोड़ों थे, तब महाव्रत के भाव वाली अनेक आत्माएँ संयम साधना करती थीं और उनका बहुत बड़ा समुदाय इस कोन्नूर की भूमि को पवित्र करता आया था। इस चातुर्मास में दूर-दूर के श्रावकों ने महाराज के दर्शन करके अपने मनुष्य जन्म को सफल माना और शांतिलाभ लिया था। यह विक्रम संवत् १९८० सन् १९२३ का चातुर्मास विशेष प्रभावना पूर्ण रहा।

गुफा में ध्यान और सर्प के उपद्रव में स्थिरता

महाराज के पास दूर-दूर के प्रमुख धर्मात्मा श्रावक धर्म लाभ के लिये आते थे। धार्मिकों के आगमन से इस धर्मात्मा को परितोष न होगा, किन्तु अपनी कीर्ति के विस्तार से महाराज की पवित्र आत्मा को तनिक भी हर्ष नहीं हुआ था। वे बाल्य जीवन से ही ध्यान और अध्ययन के अनुरागी रहे थे। अब प्रसिद्धिवश बहुत लोगों के आते रहने से ध्यान करने में बाधा सहज ही आ जाती थी। इससे महाराज ने पहाड़ी की एक अपरिचित गुफा में जाकर आनंद से ध्यान करने का विचार किया और वे एक प्रशांत गुफा में मध्याह्न की सामायिक के लिये गए और वहाँ सामायिक करने लगे। गुफा के पास में झाड़ी थी और उसमें सर्पादिक जीवों का भी निवास था।

गुरु भक्त मंडली ने देखा कि आज महाराज ध्यान के लिये दूसरे स्थान पर गये हैं। अब उन्होंने उनको ढूंढना प्रारंभ किया और कुछ समय के पश्चात् वे उस गुफा के समीप आ गये, जिसमें महाराज सामायिक में तल्लीन थे। उस समय एक सर्प झाड़ी में से निकला और गुफा के भीतर जाते हुए लोगों के दृष्टि गोचर हुआ। कुछ समय पश्चात् वह भीतर फिरकर बाहर निकलना ही चाहता था कि एक श्रावक ने गुफा के द्वार पर एक नारियल चढ़ा दिया। उसकी आहट से पुन: सर्प भीतर घुस गया। वहाँ वह महाराज के पास गया

व उनके शरीर पर चढ़कर उसने उनके ध्यान में विघ्न डालने का प्रयत्न किया। किन्तु उसका उन पर कोई भी असर नहीं हुआ। वे भेद विज्ञान की विमल ज्योति द्वारा शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न देखते हुए अपने को चैतन्य का पुंज सोचते थे, अत: शरीर पर सर्प आया है, वह यदि दंश कर देगा, तो मेरे प्राण न रहेंगे, यह बात उन्हें भयविह्वल न बना सकी। वे वज्र की मूर्ति की तरह स्थिर रहे आए। शरीर में अचलता थी, भावों में मेरु की भांति स्थिरता थी। आत्मचिंतन से प्राप्त आनंद में अपकर्ष के स्थान में उत्कर्ष ही हो रहा था। वे सर्प, सिंह, व्याघ्र, अग्नि, आदि की बाधा को अत्यंत तुच्छ जानते थे। उनकी दृष्टि मोहनीय, अंतराय, वेदनीय, ज्ञानावरणादि कर्मों के विनाश की ओर थी। वे सोचते थे कि ये सर्पादि कर्मों के उदयानुसार आकर जीव को व्यथा पहुँचाते हैं। अत: संकटों के मूलकारण कर्मों का संहार करना चाहिये। सर्प के उपद्रव से अविचलित होना, उनके उत्कृष्ट आत्मविकास तथा अंत:निमग्नता का प्रमाण थी।

यह जिन धर्म का ही प्रभाव है कि एक श्रीमंत कुलोत्पन्न, सम्पन्न, सुखी पुरुष यमराज के प्रतिनिधि द्वारा शरीर पर चिपटते हुए भी आत्मध्यान में निमग्न रहे आते हैं, क्योंकि उन्होंने महान् आत्माओं द्वारा पालन किये जाने वाले महाव्रतों के पालन की भीष्म प्रतिज्ञा ली थी। जैसे सती सीता की महत्ता अग्निपरीक्षा से प्रकाश में आई थी, वैसे ही महाराज की विमल तपश्चर्या का प्रभाव सर्पपरिषह जय द्वारा व्यक्त हुआ था। सर्पकृत उपसर्ग उन्होंने अनेक बार सहे हैं।

विपत्ति में दृढ़वृत्ति

एक बार गजपंथा में पंचकल्याणक महोत्सव के समय मैंने महाराज से पूछा था, "महाराज सर्पकृत भयंकर उपद्रव के होते हुए, आपकी आत्मा में घबराहट क्यों नहीं होती थी, जबकि सर्प तो साक्षात् मृत्युराज ही है?"

महाराज बोले, विपत्ति के समय हमें कभी भी भय या घबड़ाहट नहीं हुई। सर्प आया और शरीर पर लिपट कर चला गया, इसमें महत्व की बात क्या है?"

मैंने कहा, "उस मृत्यु के प्रतिनिधि की बात तो दूसरी, जब अन्य साधारण तुच्छ जीवकृत बाधा सहन करते समय सर्वसाधारण में भयंकर अशांति उत्पन्न हो जाती है, तब आपको भय न लगा, यह आश्चर्य है।"

महाराज, "हमें कभी भी भय नहीं लगता। यहाँ तो भीती की कोई बात भी नहीं थी। यदि सर्प का व हमारा पूर्व का बैर होगा, तो वह बाधा करेगा, अन्यथा नहीं। उस सर्प ने हमारा कुछ भी बिगाड़ नहीं किया।"

मैंने कहा, "महाराज, उस समय आप क्या करते थे, जब सर्प आपके शरीर पर लिपट गया था?"

महाराज बोले, "उस समय हम सिद्ध भगवान का ध्यान करते थे।"

मैंने जिज्ञासु के रूप में पूज्य श्री से पूछा, "जब आपके शरीर पर सर्प चढ़ा, तब उससे शरीर का स्पर्श होने पर आपके शरीर को विशेष प्रकार का स्पर्शजन्य अनुभव होता था अथवा नहीं।"

महाराज ने कहा, "हम ध्यान में थे। हमें बाहरी बातों का भान नहीं था।"

विचारशील व्यक्ति सोच सकता है कि सर्पकृत उपसर्ग महाराज के जीवन की अग्नि परीक्षा से कम नहीं है। धन्य है उनकी भेद विज्ञान की ज्योति, जिससे वह अपनी आत्मा को सर्प-बाधा-मुक्त जानते हुए, आत्मा से भिन्न शरीर को सर्प वेष्ठित देखते हुए भी परम शांत रहे। यथार्थ में उनका नाम शांतिसागर अत्यंत उपयुक्त था।

कोन्नूर में उड़ने वाले सर्प द्वारा उपद्रव में भी स्थिरता

तारीख २३-१०-५१ को हम महाराज के साथ रहने वाले महान् तपस्वी निर्ग्रन्थ मुनि १०८ श्री नेमिसागरजी के पास बारामती में पहुँचे और महाराज शांतिसागरजी के विषय में कुछ प्रश्न पूछने लगे। उनसे ज्ञात हुआ कि वे लगभग २८ वर्ष से पूज्यश्री के आश्रय में रहे हैं।

कोन्नूर में सर्पकृत परीषह के विषय में जब हमने पूछा, तब वे बोले, "कोन्नूर में वैसे सात सौ से अधिक गुफाएँ है, किन्तु दो गुफा मुख्य हैं। महाराज प्रत्येक अष्टमी, चौदस को गुफा में जाकर ध्यान करते थे। उस दिन उनका मौन रहता था। एक दिन की बात है कि वे गुफा में घुसे। उनके पीछे ही एक सर्प भी गुफा में चला गया। वह बड़ा चंचल था। वह सर्प उड़ान मारने वाला था। अनेक लोगों ने यह घटना देखी थी। जब लोग महाराज के समीप पहुँचते थे, तो वह सर्प महाराज की जंघाओं के बीच में छुप जाता था। लोगों के दूर होते ही वह इधर-उधर फिरकर उपद्रव करता था।"

मैंने पूछा, "यह कब की बात थी?" उन्होंने कहा, "यह मध्याह्न की बात थी। वह सर्प तीन घंटे तक रहा, पश्चात् चला गया। लोग यदि साहस कर उसे पकड़ लेते, तो इस बात का भय था कि कहीं वह क्रुद्ध होकर महाराज को काट न दे। इससे किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते थे।"

नेमिसागर महाराज ने बताया था कि कोन्नूर में पूज्यश्री से उन्हें पंचाणुव्रत मिले थे। उन्होंने यह भी कहा था, "चौमासे में मैं शास्त्र पढ़ता था और महाराज कन्नड़ी भाषा में सब श्रावकों को समझाया करते थे।"

मैंने पूछा, "विपत्ति के समय आपने महाराज की स्थिरता भंग होते क्या कभी देखी है?" उन्होंने कहा- "विपत्ति के समय कभी भी महाराज में घबड़ाहट नहीं देखी।" प्रसंगवश उनसे मैंने पूछा- "आपने और कौन सा महाराज का भीषण तथा प्रचंड योग देखा?"

मकोड़े का उपसर्ग

उन्होंने कहा, "कोन्नूर के जंगल में महाराज बाहर बैठकर धूप में सामायिक कर रहे थे। इतने में एक बड़ा कीड़ा-मकोड़ा उनके पास आया और उनके पुरुष चिह्न से चिपटकर वहाँ का रक्त चूसना प्रारंभ कर दिया। रक्त बहता जाता था, किन्तु महाराज डेढ़ घंटे पर्यंत अविचलित ध्यान करते रहे।"

नेमिसागरजी ने बताया कि उस समय वे गृहस्थ थे और चिंतित थे कि इस समय क्या किया जाय। यदि कीड़े को पकड़कर अलग करते, तो महाराज के ध्यान में विघ्न आयेगा। अतः वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे थे। नेमिसागरजी ने यह भी कहा कि और भी छोटे-छोटे मकोड़े उस समय आते थे, उनको तो हम अलग कर देते थे, किन्तु बड़े मकोड़े की बाधा को हम दूर नहीं कर सके। पुरुष चिह्न से रक्त बहता था, किन्तु महाराज अपने अखण्ड ध्यान में पूर्ण निमग्न थे।

शेड़वाल में सर्पबाधा

नेमिसागर महाराज ने सर्पसंबंधी एक घटना और बताई थी। उस समय शांतिसागर महाराज शेड़वाल में थे। वे पाटे पर बैठे थे। पाटे के नीचे पाँच फुट लंबा सर्प बैठा था। वह सर्प उस स्थान पर रातभर बैठा रहा। दिन निकलने पर उस जगह को झाड़ने वाले जैनी से महाराज ने कहा, "भीतर संभलकर जाना।" जब वह भाई भीतर गया, तो उसकी दृष्टि सर्पराज पर पड़ी। उसने बाहर आकर दूसरे लोगों से सर्प की चर्चा बताई।

कोगनोली में सर्पकृत उपद्रव

महाराज कोगनोली में जब क्षुल्लक की अवस्था में आये थे, तब भी वहाँ सर्पकृत उपसर्ग हुआ था। वहाँ के प्राचीन मंदिर में महाराज ध्यान के हेतु बैठे थे। ध्यान आरंभ करने के पूर्व कुछ जिन नाम स्मरण पाठ कर रहे थे कि विशाल विषधर वहाँ घुसा। कुछ समय मंदिर में यहाँ-वहाँ घूमकर वह इनके शरीर से लिपट गया मानो वे उसके बड़े प्रेमी-मित्र ही हों। बात यह है कि जब महाराज सामायिक पाठ पढ़ते हैं, तब कहते हैं कि मेरा सर्व जीवों में समता भाव है, समता सर्व भूतेषु, मेरा किसी के भी साथ बैरभाव नहीं है, वैर मज्झं ण केणवि, मेरा सर्व जीवों के प्रति मैत्री भाव है, मित्ती मे सव्वभूदेसु।

मालूम होता है कि सर्पराज इनके पास इसीलिये आया था कि इनके वचन सत्य है या नहीं, इसे देखें ? ये समताभाव रखते हैं या नहीं ? ये मेरे प्रति मैत्री रखते हैं या नहीं ?

सर्प ने वाणी के अनुरूप इनकी प्रवृत्ति पाई तो वह प्रेम के साथ शरीर से लिपट गया, मानों इनके प्रति वह स्नेह व्यक्त कर रहा हो। महाराज वसुधैव कुटुम्बकम् के सिद्धांत को स्वीकार कर चुके थे, इससे ही वह सर्पराज आत्मीयभाव से कमर से चढ़कर गले में

लिपटा हुआ था। इतने में मंदिर में अखण्ड प्रकाश हेतु नंदादीप[1] (अखण्ड दीपक) सुधारने को वहाँ का उपाध्याय आया। महाराज के ऊपर सर्प लिपटा देखकर वह जान छोड़कर भागा। बहुत लोग वहाँ आ गये, किन्तु क्या किया जाय, यह समझ में नहीं आता था? यदि गड़बड़ी की अथवा सर्प को दूर करने में बल प्रयोग किया, तो वह काट देगा, तब क्या भयंकर स्थिति हो जाएगी ? अतः सबके सब लोग घबड़ा रहे थे। बहुत समय के पश्चात् सर्प शरीर से उतरा और धीरे-धीरे मानों प्रसन्नता पूर्वक ही बाहर चला गया, कारण उसे सच्चे साधक महात्मा का परीक्षण करने का अवसर मिला था और परीक्षण में वे शुद्ध स्वर्ण निकले।

नेमिसागर महाराज द्वारा प्राप्त सामग्री

मुनि नेमिसागर महाराज ने सन् १९५२ के लोणंद चातुर्मास के समय १७ उपवास किये थे। उनके तपोमय जीवन को बड़े-बड़े साधक प्रणाम करते हैं। मैंने उनसे आचार्य महाराज के विषय में पुनः पूछा तो उन्होंने कहा, "महाराज जब क्षुल्लक थे, तब वे हमारे कुड़ची ग्राम में पधारे थे। उनका आहार हमारे घर में हुआ था। उस समय से मेरा अंतःकरण उनकी ओर आकर्षित हुआ। उन्होंने कहा था, "तुम लोग भगवान की पूजा, अर्चना, शास्त्र-वाचन, दान आदि करते हो, किन्तु यह सब गज-स्नान तुल्य है, कारण पश्चात् संसार के प्रपंच में फँसकर अपने को पुनः मलीन बनाते हो।"

"महाराज का कोन्नूर में चातुर्मास हुआ। वहाँ लगातार चार माह पर्यन्त मैं उनकी सेवा में जाता था। वहाँ मैं अपने मित्र वंडोवा कुड़चीकर के साथ महाराज को आहार दिया करता था। मेरे मुनि बनने की मनोकामना पहले से ही थी। आचार्य महाराज के सत्संग से उस भावना को साकार रूपता प्राप्त हुई।"

"वहाँ के चातुर्मास पूर्ण होने के पूर्व ही कार्तिक सुदी चौदस को मैंने तथा गोकाक के पायसागरजी ने उनसे ऐलक दीक्षा ली थी। इसके दस माह बाद आश्विन सुदी ११ को मैंने समडोली में निर्ग्रन्थ दीक्षा ली थी। वीरसागरजी भी मुनि बने थे। चंद्रसागरजी ने ऐलक दीक्षा ली। आचार्य महाराज सदृश विशुद्ध चरित्र निर्ग्रन्थ साधु का दर्शन हमने कहीं नहीं किया। उनके समागम से मेरी आत्मा कृतार्थ हो गई। यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे गुरु चरणों के समीप रहने का सुअवसर मिलता रहा है।"

---

१. लंका द्वीप के अनुराधपुर में सम्राट अशोक के पुत्र महेन्द्र के समय से अब तक लगातार जलने वाले नंदादीप को राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू ने भी देखा था। उसके बारे में उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है, "अधिक चमत्कार और आश्चर्य की बात हमको सुनायी गयी कि वहाँ जो दीप जल रहा था, वह भी महेन्द्र का जलाया हुआ है। उस समय से आज तक यह दीप कभी बुझा नहीं है। बौद्धों ने उसे बाईस-तेईस सौ बरसों से बराबर जलाये रखा है। यदि यह सच है तो शायद दुनिया में ऐसी कोई दूसरी अग्निशिखा न मिलेगी जो दो हजार बरसों से भी ज्यादा समय से बराबर जलती आ रही हो।"- आत्मकथा, पृ.२८०।

मुनि पायसागर जी का अद्‌भुत जीवन

मुनि पायसागरजी के विषय में भी प्रकाश डालना उचित प्रतीत होता है, कारण उनकी चर्चा द्वारा आचार्यश्री की महत्ता सहज ही समझ में आ जाती है।

मुनि पायसागर महाराज से स्तवनिधि क्षेत्र में आचार्य महाराज के विषय में चर्चा की, तब उन्होंने कहा था कि "मेरा जीवन उन संतराज के प्रसाद से अत्यंत प्रभावित है।" मेरी कथा इस प्रकार है :-

मैं एक नाटक कम्पनी का प्रमुख अभिनेता रहा आया। पश्चात् आपसी अनबन होने के कारण मैंने कम्पनी छोड़ दी और मैं कुछ दिन तक क्रांतिकारी सरीखा रहा। मैंने मिलमालिकों के विरोध में मजदूरों के सत्याग्रह की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया। इसके पश्चात् मेरा मन सांसारिक विडम्बना से उचटा। अपने कुल धर्म जैन धर्म से मेरा रंचमात्र भी परिचय नहीं था। मैं णमोकार मंत्र को भी नहीं जानता था, इसलिये मैंने जटाविभूतिधारी रुद्राक्षमाला से अलंकृत चिदम्बर बाबा का रूप धारण किया और साधुत्व का अभिनय करता हुआ बम्बई से काशी पहुँचा।

गंगाजी में गहरे गोते लगाये। काशी विश्वनाथ गंगे के सान्निध्य में समय व्यतीत करता हुआ हर प्रकार से साधुओं के सम्पंर्क में आया। मैं लौकिक कार्यों में दक्ष था। इसीलिये साधु बनने पर भी मेरी विचारशक्ति मृत नहीं हुई थी। वह मुर्छित अवश्य थी। जब मैं जटा विभूति मंड़ित संन्यासी के रुप में फिरता-फिरता सोलापुर के समीप आया तब मेरी दृष्टि में बात आई की पाखण्डी साधु के रूप में फिरकर आत्मवंचना तथा परप्रताड़ना के कार्य में लगे रहना महामूर्खता है।

मैंने भिन्न-भिन्न संप्रदायों के शास्त्रों का परिशीलन किया था, उस शास्त्रज्ञान ने मुझे साहस प्रदान किया कि मैं उस साधुत्व के ढकोसले को दूर फेंक दूँ। अब मैंने अपने जीवन का नया अभिनय शुरु किया। मैं सुन्दर वस्त्र आदि से सुसज्जित गुंडे के रूप में यत्र-तत्र विचरण करने लगा। शायद ही कोई ऐसा दोष हो, जो खोजने पर मुझमें न मिले। मैं अत्यन्त विषयान्ध व्यक्ति बन गया।

महाराज के प्रथम दर्शन का अपूर्व प्रभाव

सुयोग की बात है। उग्र तपस्वी दिगंबर श्रमणराज आचार्य शांतिसागर महाराज का कोन्नूर आना हुआ। उस समय मैं सायकिल हाथ में लिये उनके पास से बना-ठना निकला। सैकड़ों जैनी उन मुनिराज को प्रणाम करते थे। मैं वहाँ एक कोने में खड़ा हो गया। मेरी दृष्टि उन पर पड़ी। मैंने उनको हृदय से प्रणाम नहीं किया, नाममात्र को दोनों हाथ जोड़ लिये थे। उस समय कुछ बंधुओं ने महाराज से मेरे विषय में कहा, "महाराज ये जैन

कुलोत्पन्न है। महान् व्यसनी है। इसे धर्म कर्म कुछ नहीं सुहाता है।"

बलवान आकर्षण शक्ति

मेरी निंदा महाराज के कानों में पहुँची, किन्तु उनके मुख मंडल पर पूर्ण शांति थी। नेत्रों में मेरे प्रति करुणा थी और बलवान आकर्षण शक्ति थी। महाराज ने लोगों को शांत किया उनके मुँह से ये शब्द निकले, "इसने आज हमारे दर्शन किये हैं, इसलिये इसे कुछ न कुछ लाभ अवश्य होगा।" मैं उनके मुखमंडल को ध्यान से टकटकी लगाकर देख रहा था। मुझे वे सचमुच में शांति के सागर दिखे। "मैंने भारतभर घूम-घूम कर बड़े-बड़े नामधारी साधु देखे थे। मुझे ऐसा लगा कि आज सचमुच में साधु के रूप में अपूर्व निधि मिली। मैंने उन्हें आध्यात्मिक जादूगर के रूप में देखा। मेरे मन में आंतरिक वैराग्य का बीज पहले ही से था। उनके सम्पर्क ने उसमें प्राण डाल दिये।"

आध्यात्मिक अंध को नेत्र तुल्य

मैंने उनके जीवन का बड़ी सूक्ष्मता के साथ अध्ययन किया। उठते-बैठते, बोलते-चलते, उनकी सारी प्रवृत्तियों की बारीकी से जाँच की। उस समय मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि आज मुझ आध्यात्मिक अंधे को सचमुच में नेत्रों की उपलब्धि हो गई है। मेरा मन उनके चरण-कमलों की सुवास छोड़कर अन्यत्र निवास करना नहीं चाहता था। मैंने उनसे मद्य, मांस तथा मधु के सेवन के त्याग का नियम लिया। हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्रीसेवन व अतिलोभ का त्याग किया तथा जिनेन्द्र भगवान के दर्शन की प्रतिज्ञा की।

एक माह में सप्तम प्रतिमा और दूसरे में ऐलक दीक्षा ली

मेरी आत्मा पर उनका इतना प्रभाव पड़ा कि मुझ जैसे स्वछंद तथा उद्दण्ड व्यक्तित्व ने आजीवन ब्रह्मचर्य का नियम ले लिया। अब मैं सप्तम प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी बन गया। सभी लोग मेरा तीव्र विरोध करते थे और महाराज से कहते थे, "यह बड़ा व्यसनी तथा उद्दण्ड रहा है। यह फौजदार तक को मार देता है। यह अवगुणों का भण्डार है। इसमें एक ही विशेषता है कि जिस बात को पकड़ लेता है उसे पूरा किये बिना नहीं छोड़ता।" आचार्य महाराज महान् मनोवैज्ञानिक थे। उन्होंने अपनी दिव्यदृष्टि से मेरे प्रसुप्त सामर्थ्य को देख लिया, इसलिये मुझे व्रत देने में लोगों के विरोध की ओर ध्यान नहीं दिया। दूसरे माह में मैंने ऐलकदीक्षा मांगी और महाराज ने मुझे कृतार्थ कर दिया। उस समय मैंने केशलोचन जंगल में किये थे। मेरी स्थिरता देखकर महाराज को निश्चय हो गया कि यह व्रतों का पूर्णतया पालन कर सकेगा। उस समय चंद्रसागरजी ने मुझ पर आक्षेप किया और महाराज से कहा कि, "इसे प्रतिमाओं का स्वरूप भी नहीं मालूम है, यह ऐलक पद का निर्वाह कैसे करेगा?"

उस समय मैंने कहा, "महाराज! मैं शेडवाल की पाठशाला में जाकर पढ़ना चाहता हूँ।" उस समय सब को यह भय था कि यहाँ से जाकर यह फिर कभी अपनी सूरत नहीं दिखावेगा। उस समय मेरी जमानत बालगोंडा ने ली। वहाँ से चलकर शेरोल ग्राम में रहा और रत्नकरंडश्रावकाचार पढ़ना प्रारंभ किया। मेरा अन्य शास्त्रों का पूरा-पूरा अभ्यास था ही। इससे तुलना करते हुए पढ़ने से शास्त्र के भावों को समझने में मुझे अधिक समय नहीं लगा। मैं रात्रि को अभ्यास करता था और दिन को व्याख्यान देता था। मेरे उपदेश में बहुत लोग आने लगे।

कुछ समय के बाद रुड़की के पंचकल्याणक महोत्सव में आचार्य महाराज पहुँचे व मैं भी वहाँ गया।

मुझे देखकर महाराज ने पूछा, "क्या सब कुछ पढ़कर आ गये ?

मैंने नम्रतापूर्वक कहा, "हाँ पढ़ आया।.

साथ के सब त्यागी लोग हँस पड़े। मेरा जीवन सबके लिये पहले सरीखा था। जो मेरे पूर्व जीवन से परिचित था वह स्वप्न में भी नहीं सोच सकता था कि मेरे जैसे विषयान्ध का जीवन भी इस आध्यात्मिक क्रांति का केन्द्र बनेगा। उस समय महोत्सव में चंद्रसागरजी का भाषण हुआ। इसके बाद मैंने उपदेश दिया, जिससे जनता मेरी ओर आकर्षित हुई।

नररत्न की परीक्षा में प्रवीणता

उस समय आचार्य महाराज ने चंद्रसागरजी के आक्षेप का उत्तर दिया था कि तुम्हीं बताओ ऐसे को दीक्षा देना योग्य था या नहीं ? लोगों को ज्ञात हुआ कि महाराज मनुष्य के परीक्षण में कितने प्रवीण थे। गुरुप्रसाद से छः वर्ष बाद मैंने सन्१९२९ में सोनागिरि में दिगंबर मुनि की दीक्षा ली।

उन्होंने कहा, "आचार्यश्री महान् योगी थे। उनकी पावन दृष्टि से मुझ जैसे पतित आत्मा का जीवन पावन बन गया। उनकी अद्भुत शांत परिणति, मृदुल एवं प्रिय वाणी से मेरे जीवन में आध्यात्मिक क्रांति हुई। मैंने कभी भी महाराज में उग्रता या तीव्रकषाय का दर्शन नहीं किया। उनकी वाणी बड़ी मार्मिक होती थी। जिज्ञासु की विविध प्रश्नमालिकाओं का समाधान उनके एक ही उत्तर से हो जाता था। जीवन की उलझनों को सुलझाने की अपूर्व कला उनमें थी। लगभग २२ वर्ष से मैं गुरुदेव के चरणों के प्रत्यक्ष सान्निध्य में नहीं हूँ।[1] यद्यपि मैं उनके पाद-पद्मों की सर्वदा वंदना करता हुआ अंतर्दृष्टि द्वारा दर्शन करता रहता हूँ।

जब मैं उनके संग में था, उस समय उनका शास्त्र-वाचन इतना अधिक नहीं

१. सन् १९५२ के सितम्बर माह में पाय सागर महाराज ने दहीगाँव में गुरुदेव के २२ वर्ष बाद दर्शन कर नेत्र तृप्त किए थे।

हुआ था, किन्तु अपने निर्मल अनुभव के आधार पर वे जो बात कहते थे, उसकी समर्थक सामग्री शास्त्रों में मिल जाती थी। इस प्रकार उनका अनुभव सत्य के स्वरूप का प्रतिपादन करता था। उनकी मुद्रा पर वैराग्य का भाव सर्वदा अंकित पाया जाता था। वे साम्यवाद के भंडार रहे हैं। उनमें भक्त पर तोष और शत्रु पर रोष नहीं पाया जाता था।

जीवन द्वारा शिक्षण

आचार्य बनने पर शिष्यों को सतपथ पर चलने के लिये उन्हें आदेश देने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। उनका उज्ज्वल जीवन सबको प्रकाश प्रदान करता था। अपने शिष्यों के प्रति शासन कार्य में कभी भी पक्षपात, अन्याय अथवा अनीति का लवलेश भी मैंने उनमें नहीं देख। संघ का सदा अनुग्रह करने के साथ वे आत्मध्यान, शास्त्र-अध्ययन आदि आवश्यक कार्यों में सतत सजग रहते थे। आठ-आठ, दस-दस उपवास करते हुए भी हमने उन्हें सदा स्थिर और धर्मध्यान में तत्पर देखा है। आहारदान में चतुर व्यक्ति द्वारा दक्षता देखकर वे प्रसन्न नहीं होते थे और न अज्ञ व्यक्ति द्वारा लंबे-लंबे उपवासों के होते हुए भी प्रकृति के प्रतिकूल पदार्थो को प्रदान किये जाने के कारण क्षुब्ध होते थे। प्रत्येक स्थिति में वे अपनी वीतरागता का संतुलन बनाये रखते थे।

जब आचार्य महाराज का संघ उत्तर की ओर निकला था तब अनेक राजा महाराजा तथा उच्च राज्याधिकारी उनके चरणों को भक्ति, श्रद्धा और प्रेमपूर्वक प्रणाम करते थे। उस समय उनकी प्रतिभापूर्ण मृदुल भाषा को सुनते ही प्रत्येक व्यक्ति उनके चरणों का अनन्य अनुरागी बन जाता था।

उपसर्ग

जब लगभग सन् १९३० में आचार्यश्री धौलपुर राज्य के राजाखेड़ा ग्राम में पधारे, तब धर्म विद्वेषी छिद्दी ब्राह्मण ने बहुत से सशस्त्र गुंडों को साथ ले तलवार से उनके प्राण लेने का प्रयत्न किया था, किन्तु उनके तपोबल से विपत्ति की घटा शीघ्र ही दूर हो गई थी। उस संकट के समय महाराज में उतनी ही स्थिरता थी, जितनी कि अपनी भक्तमण्डली पर उनसे घिरे रहने पर होती है। भय, चिन्ता, घबड़ाहट का उनमें लवलेश भी न था।

उस समय उच्च पुलिस अधिकारी ने उस ब्राह्मण को पकड़कर महाराज की सेवा में उपस्थित किया और पूछा, "महाराज इस हत्यारे को क्या दण्ड दिया जाय।"

तब महाराज ने कहा, "इसे छोड़ देना चाहिये, यह हमारा कहना है। जब तक तुम इसे न छोड़ोगो, तब तक हमारे अन्न-जल का त्याग है।"

उस समय सबने देखा था कि महामना मुनिराज वस्तुतः शांति के सागर थे, जो अपने प्रेम के द्वारा प्राणघातक आततायी पर भी अपनी अनुकम्पा की अमृत वर्षा करते थे।

सिद्धप्पा स्वामी

कोल्हापुर जिले में एक सिद्धप्पा स्वामी नाम के दि. जैन मुनि हो गए हैं। एक बार वे ग्राम के बाहर गुफा में ध्यान कर रहे थे। कुछ बदमाश लड़कों ने पत्थर मार कर उनके शरीर को लहू-लुहान कर दिया। वे शान्त रहे आये। प्रभात में पाटील ने उन दुष्ट लड़कों को पकड़ा। उस समय सिद्धप्पा स्वामी ने पाटील से लड़कों को छोड़ने को कहा और कहा ये बालक हमें वृक्ष समझते हैं, पत्थर मारने से इनको पीड़ा हुई और इन्हें कुछ नहीं लाभ हुआ। इनको एक-एक टोपी और कुरता दो। साधु के आदेशानुसार ऐसा करना पड़ा था। इस जगत में वे अद्भुत शान्त साधु हुए हैं।

समता एवं सजग वैराग्य

पायसागर महाराज ने कहा, जब हजारों व्यक्ति भव्य स्वागत द्वारा गुरुदेव के प्रति जयघोष के पूर्व अपनी अपार भक्ति प्रकट करते थे और जब कभी कठिन परिस्थिति आती थी, तब वे एक ही बात कहते थे, "पायसागर ! यह जय-जयकार क्षणिक है, विपत्ति भी क्षणस्थायी है। दोनों विनाशीक हैं, अत: सभी त्यागियों को ऐसे अवसर पर अपने परिणामों में हर्ष-विषाद नहीं करना चाहिये।"

मैंने देखा है कि जिनबिम्ब, जिनागम तथा धर्मायतनों की हानि होने पर उनके धर्ममय अंत:करण को आघात पहुँचता था, किन्तु वे वैराग्यभावना के द्वारा अपनी शांति को सदा अक्षुण्ण रखते थे।

संसार-सिंधु में डूबते हुए को बचाया

अपने कथन का उपसंहार करते हुए विद्वान् तपस्वी मुनि श्री पायसागरजी ने कहा, "मुझ जैसे व्यसनी, उच्छृंखल आचरण वाले, भ्रष्टप्रवृत्ति तथा हीन-विचार वाली गुंडा वृत्ति से परिपूर्ण पतित आत्मा का यदि आचार्य शांतिसागर महाराज ने उद्धार न किया होता तो न जाने मेरी क्या दुर्गति होती। इस महान् पुरुष ने मुझे संसार-सिंधु में डूबते हुए देख हस्तावलंबन देकर मेरी रक्षा की है तथा मुझे महाव्रत की अपूर्व निधि दी। उनके उपकार को में भावान्तर में भी नहीं भूल सकता हूँ। उनकी पावन स्मृति मुझे निरंतर प्रकाश प्रदान करती है। हमें गुरुदेव का बहुधा स्वप्न में दर्शन होता है। वे चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शिरोमणि श्री शांतिसागर महाराज मेरी जीवन-नौका के लिये प्रकाशस्तंभ रूप हैं।"

मूक व्यक्ति को वाणी मिली

भोजग्राम से वापिस लौटने पर स्तवनिधि क्षेत्र में पुन: १०८ पूज्य पायसागर महाराज के सन् १९५२ में दर्शन हुए। उस समय उन्होंने कहा, "आपको एक महत्व की बात और बताना है।"

मैंने कहा, "महाराज ! अनुग्रहीत कीजिए।"

उन्होंने कहा, "कोल्हापुर में नीमसिर ग्राम में एक पैंतीस वर्ष का युवक रहता था। उसे अणप्पा दाढ़ीवाले के नाम से लोग जानते थे। वह शास्त्र चर्चा में प्रवीण था। अकस्मात् वह गूंगा बन गया। वर्षभर पर्यंत गूंगेपन के कारण वह बहुत दुःखी रहा। लोगों के समक्ष जाने में उसे लज्जा का अनुभव होता था। उसका आचार्य शांतिसागर महाराज से विशेष परिचय था। उसे लोग जबरदस्ती आचार्यश्री के पास ले गये।

आचार्य महाराज ने कहा, "बोलो-बोलो ! तुम बोलते क्यों नहीं हो ?"

फिर उन्होंने कहा, "णमो अरिहंताणं पढ़ो।"

बस, णमो अरिहंताणं पढ़ते ही उसका गूंगापन चला गया और वह पूर्ववत् बोलने लगा। दर्शकमंण्डली चकित हो गई।

चार दिन के बाद वह अपने घर लौट आया। वहाँ पहुँचते ही वह फिर से गूंगा बन गया। मैं उसके पास पहुँचा। सारी कथा सुनकर मैंने कहा, "वहाँ एक वर्ष क्यों नहीं रहा ? जब तुम्हें आराम पहुँचा था, तो इतने जल्दी भाग आने की भूल क्यों की ?" वह पुनः आचार्यश्री के चरणों में पहुँचा। उन तपोमूर्ति साधुराज के प्रभाव से वह पुनः बोलने लगा। वहाँ वह १५ या २० दिन और रहा। इसके बाद वह पुनः गूंगा न हुआ। वह रोग मुक्त हो गया।

जब पायसागर महाराज ने मुझे यह बात सुनाई, तब मुझे ऐसा लगा कि नीमसिर गांव के भौतिक गूँगे को आचार्यश्री ने वाणी दी थी, किन्तु इन पायसागरजी के रूप में आध्यात्मिक गूंगे को उन्होंने मंगलमय वाणी की शक्ति प्रदान की, जो आत्मा के विषय में मूकत्व धारण करने वाले जगत को अध्यात्म की रसवती बोली बोलना सिखाते हैं।

उद्दंड व्यवहार में भी पूर्ण शांति

पायसागर महाराज ने आचार्यश्री की पूर्ण शांति पर प्रकाश डालते हुए एक घटना सुनाई थी- "एक कठोर वाणी वाला लघु श्रेणी का शिष्य गुरुदेव के समीप पहुँचा और उसने अहंकार वश आचार्यश्री के पवित्र ज्ञान को चुनौती देते हुए कहा, "आपने अभी शास्त्रों का बराबर परिशीलन नहीं किया।"

पूज्य गुरुराज के प्रति प्रयुक्त अभद्र वाणी मुझे अयोग्य लगी। मैंने उनसे भद्र शैली में भाषा-व्यवहार करने की प्रेरणा की।

मुझसे आचार्य महाराज ने कहा, "पायसागर ! इसका प्रकृति-पिंड इसी प्रकार का है। इसमें बुराई की कोई बात नहीं है। स्वभाव की कोई दवाई नहीं है, इसलिये ऐसों पर रोष नहीं करना चाहिए।" अद्भुत शान्ति के निकेतन थे वे।"

महाराज के गुरुदेव की अपार तपस्या

आचार्य महाराज के दीक्षागुरु श्री १०८ देवेन्द्रकीर्ति स्वामी[1] के विषय में पायसागर जी ने एक महत्व की बात सुनाई थी, जिससे इनके गुरुदेव की अद्भुत तपश्चर्या पर प्रकाश पड़ता है। उन्होंने कहा था, ''एक दिन की बात है कि देवेन्द्र कीर्ति स्वामी गोकाक नगर से कोन्नूर आ रहे थे। रास्ते में सूर्य अस्त हो गया। दिगंबर मुनि रात्रि में विचरण नहीं करते, इसलिये मार्ग में ही रह गए। उनके साथ एगप्पपंडित भी था। उन्होंने अपने आसपास चारों ओर एक रेखा खींच ली और वे तथा साथ का पंडित उस वृत्त के भीतर हो गये।

सायंकालीन सामायिक होने के उपरांत एक भीषण व्याघ्र वहाँ आया व रेखांकित क्षेत्र के बाहर उसने भीषण गर्जना-तर्जना की और अपना विकराल रौद्र रूप दिखाया, किन्तु उन निर्भीक ऋषिराज पर उसका कोई असर नहीं हुआ। कुछ समय के बाद वह व्याघ्र वहाँ से चला गया।

इस घटना का समर्थन उक्त पंडित के नाती पंडित श्रीकांत ने भी किया था और कहा था कि मेरी माता भी यही बात बताती थी।''

आचार्यश्री की स्थिरता, साहस, निर्भीकता, आत्मनिमग्नता आदि श्रेष्ठ गुणों को देखकर उनके समीप में आने वाले को ऐसा लगता था कि यथार्थ में इनके पास चतुर्थ काल ही है। इनकी श्रद्धा तथा प्रवृत्ति चतुर्थ कालीन मुनियों सदृश है। इतना ही सादृश्य नहीं था,बल्कि जहाँ वे पधारते थे, वहाँ अनवरत धर्म का निर्झर बहता था, उसे देखकर कौन कहेगा कि वहाँ पाप-बहुलपंचम काल है ?

इनके जीवन की अल्प सामग्री प्राप्त होने पर तो आज के लोगों के रोमांच हो आते हैं। यदि आज के आत्मकथा लिखने वाले लेखकों के समान इनके द्वारा बताई गई जीवन गाथा लिखी जा सकती, तो संसार इनके व्यक्तित्व को सजीव विश्व का श्रेष्ठ आश्चर्य अनुभव करता। किन्तु इनकी उत्कृष्ट आत्मसाधना इस कीर्ति के जाल को आत्मविकास के लिये बड़ा भारी बाधक अनुभव करती थी। यही तो इनकी लोकोत्तरता रही है। रहस्य काव्य के समान स्वजीवन प्रकट न करना, इनके जीवन की महत्ता को जानकारों के आगे व्यक्त कर देता है। अजानकारों के लिये भी अपूर्व सामग्री जीवों के पुण्य से कभी-कभी कुछ प्राप्त हो गई थी। यहाँ सर्प की एक और भीषण घटना लिखना उचित जान पड़ता है -

एक दिन फलटण में महाराज सानंद आत्म-ध्यान करके बैठे थे। उस दिन उनका

---

१. देवेन्द्रकीर्ति जी १०५ वर्ष तक जीवित रहे । ये धारणा-पारणा अर्थात् एक उपवास तथा एक आहार करते थे । उनके अन्त तक दाँत नहीं टूटे थे । उन्होंने १६ वर्ष की अवस्था में मुनिपद धारण किया था । वे बाल ब्रह्मचारी थे ।

उपवास था। उनके मुखमंडल पर अद्भुत तेज था। असाधारण शांति थी। उनको एकान्त में देख मुझे उनके चरणों के पास में पहुँचने का सौभाग्य मिला।

मैंने कहा, "महाराज! लगभग सात-आठ सौ मील की दूरी से आपके चरणों के पास कुछ निधि पाने की लालसा से ही मैं आता हूँ। मुझे और कोई निधि नहीं चाहिये। आपके चरण प्रसाद से सर्व प्रकार से अनुकुल साधन समुपलब्ध हैं। मुझे आपके जीवन की कोई अमूल्य अनुभव की बात चाहिए। उससे मुझे बड़ा लाभ होता है।" उन दिनों मैं श्री शांतिनाथ गुरुकुल रामटेक का संचालक था। उसके लिये सभी व्यवस्था का भार मुझ पर था। धनसंचय का कठिन काम भी करना पड़ता था। मैंने कहा, "महाराज आपके पास का अनुभव का माल मुफ्त में ले जाकर लोगों को सुनाता हूँ। तो मुझे संस्था के लिये हजारों रुपये मिलते देर नहीं लगती। आपके पास से प्राप्त माल धार्मिकों के बाजार में मैं इतनी बड़ी कीमत में देता हूँ। हाँ, यह अवश्य है कि आमदनी धर्मकार्यार्थ होती है।" ऐसी कुछ चर्चा से गुरुदेव की दृष्टि में करुणा का भाव आ गया। स्वाति नक्षत्र देखा, तो सीप ने मुख खोल दिया, उसे मुक्ताफल मिल गया। इसी प्रकार इस सुयोग को देख मैंने कहा, "महाराज सर्प की बाधा का अनुभव बताईये।"

महाराज ने कहा, "इसमें क्या है। यह व्यर्थ की बात है। इसमें कुछ सार नहीं है। क्या तुम हमारी कीर्ति फैलाना चाहते हो ? हमें अपना रंच मात्र भी नाम नहीं चाहिये।" मैंने पुन: विनयपूर्वक निवेदन किया, "महाराज! आपकी दृष्टि आपके पद के अनुरुप है। मुझे आपके कुछ अनुभव चाहिये। अवश्य दया कीजिए।"

प्रार्थना काम कर गई। हृदय से की गई प्रार्थना थी। महाराज सहृदयता की मूर्ति थे। उन्होंने करुणा कर अपने हृदय के द्वार खोल दिये और कहने लगे।

सर्पराज का मुख के समक्ष फन करके खड़ा रहना

"एक दिन हम जंगल में स्थित एक गुफा में ध्यान कर रहे थे कि इतने में एक सात-आठ हाथ लम्बा खूब मोटा लट्ठ सरीखा सर्प आया। उसके शरीर पर बाल थे। वह आया और हमारे मुँह के सामने फन फैलाकर खड़ा हो गया। उसके नैत्र ताम्र लाल रंग के थे। वह हमारे पर दृष्टि डालता था और अपनी जीभ निकालकर लपलप करता था। उसके मुख से अग्नि के कण निकलते थे। वह बड़ी देर तक हमारे नेत्रों के समाने खड़ा होकर हमारी और देखता था। हम भी उसकी ओर देखते थे।"

अमृत और विष की भेंट

मैंने पूछा, "महाराज! ऐसी स्थिति में भी आपको घबड़ाहट नहीं हुई ?"

महाराज ने कहा, "हमें भय कभी होता ही नहीं। हम उसको देखते रहे, वह हमें देखता रहा। एक दूसरे को देख रहे थे।"

सर्पराज शांति के सागर को देखता था और शांति के सागर उस यमराज के दूत को अपनी अहिंसा पूर्ण दृष्टि से देखते थे। यह अमृत और विष की भेंट थी। अद्भुत दृश्य था वह।

मैंने पूछा, "महाराज ! उस समय आप क्या सोचते थे ?"

महाराज ने कहा, "हमने यही सोचा था कि, यदि हमने इस जीव का बिगाड़ कुछ पूर्व में किया होगा, तो यह हमें बाधा पहुँचावेगा, नहीं तो यह सर्प चुपचाप चला जाएगा।"

महाराज का विचार यथार्थ निकला। कुछ काल के बाद सर्पराज महाराज को साम्य और धैर्य की मूर्ति तथा शांति का सिंधु देखकर अपना फन नीचा कर, मानो महामुनि के चरणों को प्रणाम करता हुआ, धीरे धीरे गुफा के बाहर जाकर न जाने कहाँ चला गया।

समुद्र के भीतर रत्नों की ऐसी राशि पड़ी रहती है, जिसकी दीप्ती के समान समस्त विश्व में भी कोई रत्न न हो, किन्तु उन रत्नों का लाभ समुद्र के तल का स्पर्श कर डुबकी लेने वालों को क्वचित्-कदाचित् हो जाता है। ऐसी ही स्थिति शांतिसागरजी महाराज की प्रतीत होती है।

मैंने कहा, "महाराज ऐसा भीषण उपसर्ग और भी तो आया होगा ?"

मेरे प्रश्न के उत्तर में सौभाग्य की बात है कि शान्ति के रत्नाकर ने प्रसन्नता से एक रत्न और बाहर ला दिया।

असंख्य चींटियों द्वारा उपसर्ग

महाराज बोले, "एक बार हम जंगल के मंदिर के भीतर एकांत स्थान में ध्यान करने बैठे वहाँ पुजारी दीपक जलाने आया दीपक में तेल डालते समय कुछ तेल भूमि पर बह गया। वर्षा की ऋतु थी। दीपक जलाने के बाद पुजारी अपने स्थान पर वापस आ गया था। उस समय हम निद्राविजय तप का पालन करते थे। इससे उस रात्रि को जागृत रहकर हमने ध्यान में काल व्यतीत करने का नियम कर लिया था। पुजारी के जाने के कुछ काल पश्चात् चींटियों ने आना आरंभ कर दिया। धीरे- धीरे असंख्य चींटियों का समुदाय इकट्ठा हो गया और वे हमारे शरीर पर आकर फिरने लगी। कुछ काल के अनंतर उन्होंने हमारे शरीर के अधोभाग नितंब आदि को काटना प्रारंभ कर दिया। उन्होंने जब शरीर को खाना प्रारंभ किया, तो अधोभाग से खून बहने लगा। उस समय हम सिद्ध भगवान का ध्यान करते थे। रात्रि भर यही अवस्था रही। चींटियां नोंच-नोंच कर खाती जाती थी।"

कभी एकाध चींटी शरीर में चिपक जाती है, तब उसके काटने से जो पीड़ा होती है, उससे सारी देह व्यथित हो जाती है। जब शरीर में असंख्य चींटियाँ चिपकी हों और देह के अत्यंत कोमल अंग गुप्तांग को सारी रात लगातार खाती रहें और नरदेहस्थित आत्माराम बिना प्रतिकार किये एक दो मिनट नहीं, घंटे दो घंटे नहीं, लगातार सारी रात इस दृश्य को

ऐसे अलिप्त होकर देख रहे थे, मानो सांख्य दर्शन का पुष्कर पलाशवत् निर्लिप्तपुरुष प्रकृति की लीला देख रहा हो। यदि कोई इस भीषण स्थिति का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से गहरे रूप में विचार करे, तो ज्ञात होगा कि इस नरक तुल्य व्यथा को स्वाधीन वृत्ति वाले योगिराज शांतिसागरजी निर्ग्रन्थ एकान्त स्थल में सहन करते रहे, तो उनकी आत्मा कितनी परिष्कृत, सुसंस्कृत वैराग्य तथा भेद विज्ञान के भाव से परिपूर्ण नहीं होगी? सर्पराज शरीर में लिपटा था। वह मृत्युराज का बंधु था, यही भय था, किन्तु उसने कोई पीड़ा नहीं दी थी, किन्तु इन छोटी चींटियों ने पीड़ा देने में सर्पराज को मात कर दिया था। इसी विषय का शांत अंतःकरण से अनुमान भर किया जा सकता है किन्तु जिस असहनीय और अवर्णनीय वेदना को महाराज ने समताभाव पूर्वक सहन किया था, उसे कहा नहीं जा सकता।

जब यह उपसर्ग हो रहा था तब रात्रि के उत्तरार्द्ध में उस मंदिर के पुजारी को स्वप्न आया कि महाराज को बड़ा भारी कष्ट हो रहा है। वह एकदम घबड़ाकर उठा, किन्तु उस भयंकर स्थान में रात्रि को जाने की उसकी हिम्मत नहीं होती थी। कारण वहाँ शेर का विशेष भय था। उसने अपने साथी दूसरे जैन बंधु से स्वप्न की बात सुनाकर वहाँ चलने को कहा, किन्तु भय व प्रमादवश उसने उस बात पर ध्यान नहीं दिया। रात्रिभर निर्ग्रन्थराज की देह पर निर्मम हो छोटी-सी चींटियों ने जो महान् उपद्रव किया था, उसको प्रकाश में लाने हेतु ही मानो सूर्य ने उदित हो प्रकाश पहुँचाया। लोग वहां जाकर देखते हैं, तो उनके नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी, कारण महाराज के शरीर के गुह्य भाग से रक्त की धारा निकल रही थी और शरीर सूजा हुआ था तथा फिर भी चींटियाँ शरीर को खाने के उद्योग में पराक्रम दिखा रही थी।

लोगों ने दूसरी जगह शक्कर डालकर धीरे-धीरे उनको अलग किया, पश्चात्, गुरुदेव की योग्य वैयावृत्ति की। इस उपसर्ग का जिसने प्रत्यक्ष हाल देखा, उनकी आँखों से अश्रु आये बिना न रहे। सर्वत्र इस उपसर्ग की चर्चा पहुँची। लोगों ने गुरुदेव को प्रणाम किया और उनके मुख से यह शब्द गूँज रहे थे, धन्य है योगिराज! आप सदृश जितेन्द्रिय तपस्वी संसार में हमने नहीं देखा। आपको हम सब का अनंत प्रणाम हो। भव-भव में आप समान गुरु का दर्शन तथा सेवा का सौभाग्य प्राप्त हो।

किन्तु महाराज की स्थिति विचित्र थी। उन्हें पृथक्त्व भावना के प्रकाश में ऐसा लगता था, मानों जिस शरीर को पीड़ा हुई थी, वह शांतिसागरजी महाराज का शरीर न था। वे तो ज्ञान शरीरी थे। यथार्थ में आज के परिग्रह के पीछे उन्मत्त तथा भौतिक विज्ञान द्वारा प्रदत्त प्राणहीन वस्तुओं की पूजा करने वाला जगत् इन आध्यात्मिक निधियों की महत्ता क्या समझे? जड़ का सेवक तथा भक्त आत्मा की गरिमा को क्या समझे? और समझे भी कैसे? जन्मान्ध दुग्ध की धवलता को क्या जाने? अनादि से मोह के द्वारा

विवेक नेत्रों को नष्ट कर देने से दर्शनमोहनीय का दास हुआ जीव सुसंस्कृत आत्मा के वैभव और महत्ता को क्या समझे? वह तो कूपमण्डूक के समान शांति के सिंधु की गंभीरता और विशालता की बात ही नहीं मानेगा। बस, रत्नाकर के पास से उस दिन उपरोक्त दो रत्न मिले और उनकी सामायिक का समय हो गया।

महाराजजी आत्म चिंतन में निमग्न हो गये। हमें बार-बार महाराज के श्रीमुख से सुनी हुई बात का स्मरण आता रहा। चित्त यह सोचता था कि आज के युग में इतनी बलशाली आत्मा का पाया जाना यथार्थ में बड़े आश्चर्य की बात है।

मैं अपने को भी धन्य सोचता था, जो गुरुदेव की दया के कारण उनके दर्शन के साथ, ऐसी महत्व की बातें उनके ही द्वारा जान सका।

मुनिपद धारण करने के पूर्व ही भयंकर कष्टों के द्वारा महाराज की परीक्षा प्रारंभ हो गई थी और निर्ग्रन्थ बनने के बाद उसका विचित्र वेग यदाकदा दृष्टिगोचर हो जाता था। पहले महाराज ने बहुत समय तक दूध और चावल का ही आहार रख, शेष पदार्थों का त्याग कर दिया था। इन्द्रियों का दमन करना आवश्यक था। शरीर अत्यंत बलवान था। बाल्यकाल से निर्दोष ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने से इनका शारीरिक बल तो और भी वर्द्धमान हो रहा था। महाव्रती बनने के बाद इन्हें आत्मा के बल की आवश्यकता थी। शरीर को बलवान बना आत्मा को दुर्बल करने की बात इन्हें जहर सी लगती थी। हाँ! आत्मा को बलवान बनाने में यदि काया क्षीण हो जाती है, तो कोई चिन्ता की बात नहीं है। इससे ये बहुत उपवास किया करते थे, जिससे इंद्रिय रूपी हाथी मस्त न हो और इनके ज्ञानांकुश के अधीन रहा आये। इनके चित्त में यह सत्य प्रतिष्ठित था (१९, इष्टोपदेश):-

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम् ।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम् ॥

अर्थ : जो उपवासादि आत्मा के कल्याणकारी हैं, वे शरीर के लिए क्षतिप्रद हैं। जो शरीर को पोषण प्रदान करते हैं, वे पुष्ट आहारादि आत्मा को अहितप्रद हैं।

एक दिन पूज्य श्री १०८ नेमिसागर जी महाराज से मैंने पूछा, "महाराज! कृपा कर गुरुदेव की कुछ विशेष बातें बताइये, जो आपने देखी और आपके अनुभव में आयी हों। आप सदृश महाव्रती मुनिराज की वाणी अन्यूनमनतिरिक्त होगी।"

उन्होंने कहा, "शास्त्रों में जैसा चारित्र आचार्यों के लिये कहा गया है, वैसा ही चारित्र मैंने महाराज में पाया है। वे हमेशा धारणा-पारणा करते हैं, बीच में दो, तीन, चार उपवास आदि करना उनकी साधारण वृत्ति रही है।"

उन्होंने यह भी कहा, " भगवान वृषभनाथ स्वामी ने जो धर्म के विषय में जो बातें कही हैं, उन पर उनका अटल विश्वास, महान् श्रद्धा तथा प्रगाढ़ भक्ति रही है। उनकी

जिन-भक्ति के प्रभाव से बड़े-बड़े विघ्न दूर होते रहे हैं। श्रेष्ठ तपस्वी होते हुए भी मैंने उनमें कभी भी अहंकार या ममत्व का दर्शन नहीं किया।"

विलक्षण स्मृति, महान् क्षयोपशम तथा अद्भुत अवधान

नेमिसागर महाराज ने यह भी कहा, "पूज्य महाराजजी की स्मृति बड़ी अद्भुत है। योग्य अवसर में उनकी स्मृति तथा क्षयोपशम ऐसा समाधान उपस्थित करता है कि प्रश्न की गुंजाइश ही नहीं रहती। महाराजश्री के आने-जाने वाले सारे भारत के व्यक्ति इसी बात से सुपरिचित हैं कि जो बात या वस्तु उनके समक्ष एक बार आ गई, उसको वे कभी नहीं भूलते हैं। उनके भारत भ्रमण में हजारों आदमी परिचय में आये, किन्तु जब भी कोई व्यक्ति किसी स्थान का आता, तो उसकी सारी बातें इनके स्मृतिपथ में आ जाती थी।"

महाराज के मुख से हमने भी कई बार सुना है कि हम जिस चीज को एक बार देख लेते हैं या शास्त्र की जिस बात को एक बार सुन लेते हैं, उसे कभी नहीं भूलते हैं। इस प्रकार चारित्र के धन के साथ, क्षयोपशम की भी असाधारण सम्पत्ति उनके पास रही है। बड़े-बड़े ग्रंथों का आद्योपान्त स्वाध्याय अनेक बार हो चुका है। प्राय: ऐसा कोई महत्व का प्रकाशित जैन ग्रंथ नहीं बचा होगा, जो इनके स्वाध्याय का विषय न हुआ हो।

महाराज में अनेक अवधान भी पाये जाते थे। १९५१ की दीपावली के समय हम पूज्यश्री के पास गये थे। उस समय नेमिसागरजी महाराज तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक जैसा महान् ग्रंथ पढ़कर सुना रहे थे। उस बीच में महाराज से मैंने दूसरे किसी विषय की अपनी शंका का समाधान पूछा, तो मेरा उत्तर देने के साथ ही वे उस ग्रंथ के वर्णन को ध्यान देकर सुनने लगे।

मैंने कहा, "महाराज अभी मेरे साथ चर्चा करने से आपको ग्रंथ के पूर्वापर संबंध का पता कैसे चलेगा?" उन्होंने कहा, "हमारा उपयोग उसी ग्रंथ के सुनने की ओर भी रहा आया है।" अनेक बातों की अवधारण शक्ति ऐसी ही होती है। ऐसी बातें मैंने महाराज शांतिसागरजी के विषय में चरितार्थ पाई।

महान् अनुभवी ज्ञाता एवं सुलझी हुई विद्वतता

ज्ञान का अहंकार लिये कई शास्त्री-विद्वान् अपने-अपने स्थान में बैठे सोचते हैं कि इन महाराज ने कोई विश्वविद्यालय की डिग्री नहीं पाई है, न ये न्यायाचार्य हैं, न न्यायतीर्थ या व्याकरणाचार्य ही हैं, सिद्धांतों के अभिज्ञ शास्त्री भी नहीं हैं। लोकविद्या के विद्वान् यही समझते हैं कि हमारे शास्त्रों का तो ये लेष भी न जानते होंगे, किन्तु जैसे मानस्तंभ के दर्शन से अहंकार दूर होकर भक्ति जागृत होती है, ऐसे ही इनके संपर्क में आकर चर्चा करते समय यह पता चलता है कि बड़े बड़े आचार्यादि उपाधि धारियों, शास्त्रियों, ग्रेज्यूएटों आदि से पूज्यश्री के प्रश्नों का उत्तर देते हुए नहीं बनता था और उन कठिन

गुत्थियों को ये बड़ी सरलता से सुलझा देते थे। एक दिन मैंने देखा कि महाराज अर्थशास्त्र के सिद्धांत (Law of Diminishing Utility) हीयमान उपयोगिता के सिद्धांत का वर्णन अपने अनुभव के आधार पर कर रहे थे, तब मुझे ज्ञात हुआ कि तपश्चर्या के द्वारा इनके क्षयोपशम का असाधारण विकास हुआ है।

सन् १९५१ भाद्रपद के पश्चात् पं. जगमोहनलालजी शास्त्री, कटनी, पं. मक्खनलालजी न्यायालंकार, मुरैना, पं. उल्फतरायजी, बम्बई तथा और भी बहुत से विद्वान् महाराज के पास बारामती में पधारे थे और चर्चा के समय महाराज की प्रतिभा का वैभव देखकर चकित होते थे। इतना असाधारण क्षयोपशम सतत श्रुत का अभ्यास तथा तपश्चर्या का सुपरिणाम था।

अहंकार के पहाड़ पर बैठे हुए अपने को श्रेष्ठ विद्वान् मानने वाले भाई यदि इनके पास आते, तो उनको पता लगता कि इनका जिनागम का ज्ञान कितना सुलझा हुआ था और इनको उलझा हुआ समझने वाले कितनी गहरी भ्रांति में फँसे हुए थे।

एक दिन महाराज कहते थे कि "हम प्रतिदिन कम से कम ४० या ५० पृष्ठों का स्वाध्याय करते हैं।"

धवलादि सिद्धाँत ग्रंथों का बहुत सुन्दर अभ्यास महाराज ने किया था। अपनी असाधारण स्मृति तथा तर्कणा के बल पर वे अनेक शंकाओं को उत्पन्न करके उनका सुन्दर समाधान करते थे।

हमने महाबंध के दूसरे भाग की हिन्दी टीका ३ वर्ष हुए, तैयार कर ली थी। हमने सोचा पूज्य गुरुदेव को कुछ महत्व के अंश सुनाना उचित होगा। इससे उनका मंगलमय आशीर्वाद भी प्राप्त हो जाएगा तथा कई महत्व की बातें भी सुनने में आ जावेगी, जैसी कि प्रथम भाग के लिये प्राप्त हुई थी।

पहले समयसार नहीं, पहले बंध की बात ज्ञातव्य है

'महाबंध' प्रथम भाग की टीका को कवलाना में पढ़कर महाराज ने कहा था कि सचमुच यह ग्रंथ महाधवल है। बंध का स्पष्टता पूर्वक प्रतिपादन करने वाला शास्त्र यथार्थ में महान् है। बंध का ज्ञान होने पर ही मोक्ष का बराबर ज्ञान होता है। पहले समयसार नहीं चाहिये, पहले महाबंध चाहिये। पहले सोचो हम क्यों दुःख में पड़े हैं ? क्यों नीचे हैं ? ३६३ पाखंड मत वाले भी सुख चाहते हैं, किन्तु मिलता नहीं । हमें कर्म क्षय का मार्ग ढूँढ़ना है। भगवान ने मोक्ष जाने की सड़क बनाई है। चलोगे, तो मोक्ष मिलेगा, इसमें शंका क्या ?

अपने भाव को स्पष्ट करने के लिये महाराज ने एक कथा सुनाई थी :-

एक राजपुरोहित की मृत्यु हो गई। उसने अपने पुत्र को अर्थकरी विद्या कुछ भी न बताई। केवल इतना शिक्षण दिया था कि अमुक कार्य करने से अमुक कर्म का बंध

होता है। ब्राह्मण-पुत्र बंध शास्त्रों में भी पारंगत था और कोई बात नहीं जानता था।

पितृविहीन विप्र पुत्र की बड़ी दुर्दशा हो गई। घर का धन सब खा लिया। आगे जीविका का कोई प्रशस्त पथ नहीं दिखा, इससे उसने चोरी का आश्रय ग्रहण किया। राजा के खजाने में ही चोरी करने को घुसा। वहाँ जब उसने रत्न का हार चुराने को उठाया, तब उसे स्मरण आ गया कि रत्नों की चोरी से इस प्रकार का बंध होता है। इसलिए उसने उसे छोड़ दिया। इसी प्रकार स्वर्ण चाँदी आदि निर्मित वस्तुओं को लेते समय दोषों के भयवश उसने उनका त्याग कर दिया। जो-जो वस्तु उठाता, वही दोषप्रद दिखती। अत: वह परेशान हो गया। इतने में निराश लौटते हुए उसे एक जगह भूसे की विपुल राशि दिखी। उसको चुराने से कोई दोष होता है, यह पिता ने नहीं सिखाया था, अत: भोला विप्र-पुत्र भूसे का गट्ठा बांधकर साथ ले चला। पहरेदारों ने उसे पकड़ा। पुरोहित-पुत्र की बात होने से राजा ने उसे स्वयं बुलाकर पूछा, "तुमने भूसे की चोरी क्यों पसंद की ?"

उसने उत्तर दिया, "राजन् ! मेरे पूज्य पिताजी ने मुझे जीवन में केवल बंध का शास्त्र पढ़ाया था। उससे मैं इतना जान सका कि किस वस्तु के चुराने से क्या फल होता है। आपके राजकोष की बहूमूल्य वस्तुओं के लेने की हिम्मत न हुई, क्योंकि उनके ग्रहण करने में बड़ा दोष होता है। एक भूसे को लेना ही दोषरहित ज्ञात हुआ, इससे उसे ले लिया। राजा ने पुरोहित पुत्र को असाधारण पाप-भीरु देख, उसे ऐसे पद पर नियुक्त कर दिया, जिससे उसको कष्ट नहीं रहा।"

कथा का निष्कर्ष बताते हुए पूज्यश्री ने कहा, "बंध का ज्ञान होते ही जीव पाप से बचता है। इससे कर्म की निर्जरा होती है। बंध का वर्णन पढ़ने से मोक्ष का ज्ञान भी होता है। अत: पहले बंध का ज्ञान होना आवश्यक है।"

आचार्यश्री ने महाबंध के दूसरे भाग की हमारी भाषाटीका के कुछ अंश को सुनकर तत्काल कुछ मार्मिक शंकायें की, जिनका कि हमें तत्काल उत्तर देते नहीं बना। कुछ समय बाद पूर्वापर विचार कर हमने जो समाधान किया, उससे उनको संतोष हुआ। तब महाराज बोले कि यह खुलासा तुम्हें टीका में कर देना चाहिए, जिससे संदेह न रहे। मैंने उनकी आज्ञा को शिरोधार्य किया और उसके अनुसार विषय का स्पष्टीकरण कर दिया।

इस प्रकार उनके सम्पर्क में आने वाले को उनके असाधारण क्षयोपशम का तथा विशिष्ट स्मरण शक्ति का क्षण भर में ही निश्चय हो जाता था। इसलिये पूज्य मुनिश्री नेमिसागर महाराज ने जो गुरुदेव की स्मरण शक्ति को अद्भुत कहा, वह यथार्थ था।

अंजुलि में उबलता दूध

मुनिपद में प्राय: मौत के साथ झूला सा झूला जाता है। न जाने कब कौन सी घटना जीवन प्रदीप को बुझाने वाली बन जाए, कहा नहीं जा सकता ? एक बार महाराज चर्या

के लिये निकले। एक श्रावक के गृह पर विधि मिल गई। भोजनशाला में पहुँच गए। सिद्ध भक्ति हो चुकी थी। अंजुलि बांधकर आहार लेने को तैयार हुए। उस समय महाराज उष्ण दूध और चावल का आहार लेते थे। उस श्रावक के यहाँ उबलता हुआ दूध रखा था। होनहार की बात है कि उसका साधारण विवेक भी उस समय नष्ट सा हो गया। उसने अपने हाथ न जल जाएँ, इस कारण कपड़े से दूध वाले बर्तन को पकड़ा और तुरन्त महाराज की अंजुलि में डाल दिया। वह यह नहीं सोच सका कि इससे मेरा हाथ जलता है, तब उसके स्पर्श से इन मुनिनाथ का क्या हाल होगा? दूध के हाथ में गिरते ही उष्णता की असह्य पीड़ा के कारण वे मूर्छा के अधीन हो तत्काल भूतल पर गिर पड़े। सब लोग घबड़ा गए। उस समय नेमिसागर मुनि महाराज नेमण्णा नामक गृहस्थ के रूप में थे। वे यह सोचकर कि कहीं यह महाराज के जीवन का अंतिम क्षण न हो, उनके कानों में जोर-जोर से पंचनमस्कार मंत्र का पाठ करने लगे। कुछ समय के पश्चात् मूर्छा दूर हुई। उस समय महाराज ने आँखें खोली, क्षण भर में सब बातों की स्मृति हो गई। उस दिन उनको आहार का अंतराय हो गया किंतु भावों में शांति रही आई। क्रोध या क्षोभ का लेश भी उनमें नहीं उत्पन्न हुआ था।

कण्ठ पीड़ा

कवलाना में महाराज का वर्षायोग व्यतीत हो रहा था। गले में विशेष रोग के कारण अन्न का ग्रास लेने में अपार कष्ट होता था। बड़े कष्ट से थोड़ा-थोड़ा आहार लेते थे। एक ग्रास जरा बड़ा हो गया, उसे मुँह में लेकर खा ही रहे थे कि वह गले में अटक गया और उस समय उनके मूर्छा सरीखे चिह्न चेहरे पर दिखाई पड़े। चतुर आहार दाता ने दूध से अंजलि भर दी और उस दुग्ध से वह ग्रास उतर गया, नहीं तो वह दिन न जाने क्या अनिष्ट दिखाता। यह घटना हमारे समक्ष की थी।

अद्‌भुत आत्मबल

वहाँ एक घटना और हो गई थी। महाराज ने अन्न छोड़ रखा था। फलों का रस आदि हरी वस्तुओं को छोड़े लगभग १८ वर्ष हो गए थे। घी, नमक, शक्कर, छाछ आदि पदार्थों को त्यागे हुए भी बहुत समय हो गया था। उस समय चातुर्मास में धारणा-पारणा का क्रम चल रहा था। गले का रोग अलग त्रास दायक हो रहा था। एक उपवास के पश्चात् दूसरे पारणे के दिन अंतराय आ गया। तीसरा दिन उपवास का था। चौथे दिन अंतराय फिर आ गया, पाँचवा दिन फिर उपवास का था। छट्ठे दिन आहार ले पाये थे। ऐसे अंतराय की भीषण परम्परा दो-तीन अवसर पर आई, जिससे शरीर बहुत क्षीण हो गया। डग भर चलना भी कठिन हो गया था। इतने में खूब वर्षा हो गई। शीत का वेग भी बढ़ गया। शरीर तो दिगंबर था ही। दो-तीन बजे रात को जोर की खाँसी आई और उस समय उनकी भीषण स्थिति हो गई।

सूर्योदय होने पर हम महाराज के दर्शन को पहुँचे, तब महाराज ने कहा- आज रात को हमारा काम समाप्त हुआ सा प्रतीत होता था।

सुनते ही चित्त घबड़ा गया। मैंने पूछा- महाराज क्या हुआ ?

महाराज ने बताया- जोर की खाँसी आई और उसमें जो श्वास बाहर निकली, वह कुछ मिनटों तक वापिस नहीं खींची जा सकी। नाड़ी भी जाती रही और शरीर भी शून्य सा पड़ गया, फिर कुछ समय के उपरांत सब बातें धीरे-धीरे सुधरी थी। उस समय महाराज के मुख से कठिनता से शब्द निकलते थे, किन्तु दीनता या घबड़ाहट या कराहना आदि का लेष मात्र भी नहीं था। आत्मा में अद्भुत बल उस समय दिखता था।

वहाँ मध्याह्न के बाद दो बजे के लगभग दशलक्षणी पर्व का शास्त्र-वाचन होता था। शास्त्र-वाचन मैं ही करता था। महाराज ने कहा, "आज हम शास्त्रसभा में नहीं जा सकेंगे, आप जाकर शास्त्र वांच लेना।" मैंने कहा, "महाराज आपकी सेवार्थ ही मैं यहाँ आया हूँ, लोगों को शास्त्र सुनाने नहीं आया हूँ। मैं आप ही के पास रहूँगा।" इसके पश्चात् महाराज की कुटी के समक्ष ही मैं शास्त्र का वाचन करता रहा। धीरे-धीरे महाराज की प्रकृति में परिवर्तन होता चला, किन्तु उस विपत्ति के समय महाराज की स्थिरता, धर्म की श्रद्धा, तथा आत्मबल कभी भी नहीं भुलाये जा सकते।

आश्चर्यजनक शारीरिक सामर्थ्य, किंतु श्रेय जिनेन्द्र भक्ति को

एक दिन महाराज बोले कि कवलाना सदृश चिन्ताजनक अवस्था मोडलिंब गांव में हो गई थी। कुटी के बाहर तक जाने का सामर्थ्य नहीं रहा था।

उस समय ब्र.जीवराज गौतमचंद जी दोसी महाराज के दर्शनार्थ आए थे। ब्रम्हचारीजी को महाराज के शरीर की स्थिति खतरनाक दिखी और उन्होंने महाराज को समाधिमरण लेने की सलाह दे दी।

महाराज ने उनसे कहा था कि तुम्हें हमारे मरने की क्यों फिकर है ? हम अपना हाल स्वयं जानते हैं। तपस्या करते हुए हमें लगभग चालीस वर्ष हो गये। हमारा अंतिम समय कब निकट आएगा, यह हमें स्वयं ज्ञात हो जायेगा। हमें सलाह की जरूरत नहीं है।

इसके अनंतर दूसरे दिन महाराज ने वहाँ से विहार कर दिया। जो एक दिन पहले चार डग भी नहीं जा सकते थे, आज वे दो-तीन मील चले, दूसरे दिन और अधिक चले। लोगों को चकित करते हुए महाराज बारामती आ गये और वहाँ के अनुकूल जल-पवन से उनका स्वास्थ्य सुधरने लगा।

मैंने पूछा- "महाराज जब आप में तनिक भी हिलने-डुलने की शक्ति नहीं थी, तब आप इतनी दूर कैसे जा सके ?"

महाराज बोले- "भगवान की कृपा है।"

जब भी कोई बड़ा काम हो जाता था, तो वे उस का श्रेय अपने को न देकर, जिनेन्द्र भक्ति को देते थे। उनकी जिनेन्द्र भक्ति व वीतराग शासन पर श्रद्धा अद्भुत थी। आत्मबल भी असाधारण था। इन दो पतवारों के द्वारा उनकी जीवन नौका विपत्ति के मध्य से सकुशल आगे बढ़ रही थी। प्रतीत होता है कि स्वामी समंतभद्र के 'क्लेशाम्बुधैर्नोः पदे' इस कथन पर उनका प्रगाढ़ विश्वास था, जिसका कि अर्थ इस प्रकार है- जिनेन्द्र के चरण युगल दुःख रूपी समुद्र में नौका का कार्य करते हैं अर्थात् विपत्ति काल में वीतराग प्रभु की भक्ति करने से यह जीव संकट रूपी समुद्र के पार पहुंच जाता है।

रत्नत्रय ध्वजधारी श्रमणराज व सुयोग्य शिष्य संगम

जैसे-जैसे महाराज की तपश्चर्या द्वारा कर्मों की निर्जरा होती थी, वैसे-वैसे उनका आत्मबल और प्रभाव बढ़ता जाता था। कोन्नूर में सेठ खुशालचन्दजी पहाड़े तथा ब्र. हीरालालजी श्रमणबेलगोला जाते हुए रास्ते में इन तपोमूर्ति के दर्शन निमित्त रुक गये। आठ दिन तक इनके जीवन का निरीक्षण करते रहे। उस सत्समागम की सुखद स्मृति स्वरूप दोनों सत्पुरुषों ने सुस्वादु आहार का आजीवन त्याग करके, नीरस जीवन का नियम ले लिया। श्री पहाड़े कांग्रेस के प्रभावशाली कार्यकर्ता थे। वह समय १९२३ का था, जबकि सारे देश में गान्धीजी के द्वारा संचालित अहिंसात्मक असहयोग द्वारा लोक जागृति से अंग्रेजी शासन कांप रहा था। उस समय सारे देश के साथ लोकनेता पहाड़ेजी तिरंगे झंडे को प्रणाम करते हुए पढ़ा करते थे कि "इसकी शान न जाने पाए, चाहे जान भले ही जावे।" जब रत्नत्रय ध्वजधारी महाराज के समीप में आये, तब उनका हृदय बोला कि "तुम किस जड़ ध्वज के पीछे जान देने को दौड़ते हो, तुम्हारा सच्चा कल्याण इन मुनिनाथजी की शरण में आ, रत्नत्रय ध्वज को प्रणाम करने में है। यह रत्नत्रय ध्वज विश्वविजयी है। उसे धारण करने वाला प्राणी त्रिलोकीनाथ बनता है। ऐसे आत्म ध्वज की आन के लिये जान पर खेलना हितकारी होगा।"

दोनों का हृदय इस महान् आत्मचुम्बक से खिंच गया। हृदय में यही निश्चय होता था कि शांति-सिन्धु के पास से कुछ रत्न अवश्य लेना चाहिये। अंतःकरण में ऐसी भावना होती थी कि ऐसे गुणरत्नाकर का सान्निध्य छोड़ दूसरी जगह भटकना अच्छा नहीं है। फिर भी भगवान बाहुबली की वंदना के लिये निकले हुये ये होनहार श्रावक युगल रवाना हो गये। भगवान बाहुबली की वीतरागता से भरी सप्राण सी प्रतीत होने वाली मूर्ति ने इन्हें अपूर्व प्रकाश दिया। राग का बंधन काटने की समुचित प्रेरणा प्रदान की।

तीर्थयात्रा से लौटने के बाद उनका मन मधुकर महाराज के चरण कमलों के सौरभ

की ओर खिंचता जा रहा था। महाराज का जीवन उपसर्गों के सहने से विरागता और आध्यात्मिक दीप्ति का केन्द्र बन रहा था। अग्नि के ताप को सहनकर जैसे स्वर्ण शुद्ध और दीप्तिमान होता है, वैसी ही उनकी अवस्था थी। कोन्नूर में सर्प का उपसर्ग शान्त भाव से सहन करने की चर्चा जिस किसी व्यक्ति के कान में पड़ती, उसका मन इन गुरुदेव की वंदना के लिए लालायित हो जाता था। यहाँ आने वाले को महाराज का जीवन कल्पवृक्ष के समान प्रिय और निरंतर आश्रय योग्य लगता था। नाटककार रामचंद्रजी ने ब्रह्मचर्य प्रतिमा ली, और भी व्यक्तियों के परिणाम इन व्रत निधान के पास से संयम प्राप्त करने के हो रहे थे। श्री खुशालचंदजी पहाड़े और ब्र. हीरालालजी का पुण्य उनको पुन: यहां खेंच लाया। चातुर्मास के बाद जब महाराज बाहुबली पहुंचे, तो खुशालचंदजी ने क्षुल्लक दीक्षा धारण की, उनका नाम चंद्रसागर रखा गया, हीरालालजी ने भी क्षुल्लक दीक्षा ली और वे वीरसागर कहे जाने लगे।

समडोली चातुर्मास

यहाँ से विहार करते हुए महाराज समडोली ग्राम पहुँचे। वहाँ उन्होंने चातुर्मास किया। यहाँ दूर दूर के हजारों व्यक्तियों ने महाराज के दर्शन का लाभ किया। समडोली के पाटील महाराज के बड़े भक्त थे। संघ को वर्षाकाल में कोई कष्ट न हो, इसलिये सारी बस्ती में नवीन सड़कों का निर्माण हुआ। वहां ऐसा लगता था मानो कोई बड़ा भारी मेला चार माह के लिये लगा हो। बाहर से आने वाले लोगों की सर्वप्रकार से सुव्यवस्था थी। अपना कुटुम्ब मान लोग धार्मिकों का स्वागत करते थे।

दक्षिण प्रान्त में संयम की अनुकूलता

इस प्रान्त में यह विशेष बात है कि कोल्हापुर, बेलगांव, सांगली आदि के आसपास के निकटवर्ती ग्रामों में जैनियों की संख्या बहुत है। हजार घर वाले ग्राम में सहज ही पचहत्तर प्रतिशत जैनियों की संख्या का पाया जाना साधारण बात समझी जाती है। यहाँ मुनिजीवन व्यतीत करने के लिये सर्वप्रकार की अनुकूलता पायी जाती है। श्रावक समुदाय प्राय: कृषिजीवी हैं। वे शुद्ध खानपान किया करते हैं। शुद्ध घी, दूध, जल, भोजनादि की स्वत: अनायास व्यवस्था पायी जाती है। जिस तरह अन्य प्रांतों में साधु के आहार कराने के लिए आहार आदि की व्यवस्था करने में लोगों को अपने प्रांत में फैले शिथिलाचार के जाल के कारण कठिनता मालूम पड़ती है, वैसी स्थिति यहाँ नहीं है। यह प्रान्त समशीतोष्ण कटिबंध में है। यहाँ न ग्रीष्म का संताप प्रचंडता दिखाता है और न ठंड का प्रकोप ही असह्य पीड़ा उत्पन्न करता है। ऐसी स्थिति में यह भूमि संसार से विरक्त व्यक्तियों को श्रेष्ठ दिगम्बर मुद्रा धारण करने की सहज प्रेरणा देती है।

श्री वीरसागरजी व नेमिसागरजी की मुनि-दीक्षा

समडोली में वीरसागरजी ने निर्ग्रन्थ दीक्षा ली। श्री नेमण्णा ऐलक महाराज ने भी मुनिपद स्वीकार किया। वे ही आज के उग्रतपस्वी, परमशांत और सरलता की मूर्ति नेमिसागर महाराज के नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। जिस समडोली में दो महान् आत्माओं ने समता पूर्वक निर्ग्रन्थ दीक्षा ली थी, वह समताभाव को जगाने वाली समडोली साधर्मी समुदाय में महिमामय बन गयी। वहाँ चार माह पर्यन्त धर्मामृत की वर्षा का काल आ गया था।

महाराज जहाँ चातुर्मास में रहते थे, वहाँ धर्मामृत की वर्षा द्वारा अगणित जीवों का कल्याण होता था। जैसे आकाश से मेघमंडल द्वारा की गई वर्षा चारों ओर हरित वनस्पति का सुन्दर साज सजाती है, उसी प्रकार इन महापुरुष की कल्याणकारी धर्मवर्षा के द्वारा आत्मकल्याण का उपवन भी हरा भरा हो जाता है। उससे जो जीव का कल्याण होता है उसका मूल्य रिजर्व बैंक की सारी सम्पत्ति से भी अधिक है। अपने स्वरूप की उपलब्धि का मूल्य यदि महान् न होता, तो उसकी प्राप्ति के लिए बड़े-बड़े सम्राट व चक्रवर्ती आदि अपने विशाल राज्य का क्यों परित्याग करते ?

आचार्य श्री का स्वाध्याय वैभव

सन् १९५१ भाद्रपद के पश्चात् पं. जगमोहनलालजी शास्त्री, कटनी, पं. मक्खनलालजी न्यायालंकार, मुरैना, पं. उल्फतरायजी, बम्बई तथा और भी बहुत से विद्वान् महाराज के पास बारामती में पधारे थे और चर्चा के समय महाराज की प्रतिभा का वैभव देखकर चकित होते थे। इतना असाधारण क्षयोपशम सतत श्रुत का अभ्यास तथा तपश्चर्या का सुपरिणाम था। अहंकार के पहाड़ पर बैठे हुए अपने को श्रेष्ठ विद्वान् मानने वाले भाई यदि इनके पास आते, तो उनको पता लगता कि इनका जिनागम का ज्ञान कितना सुलझा हुआ था और इनको उलझा हुआ समझने वाले कितनी गहरी भ्रांति में फँसे हुए थे।

एक दिन महाराज कहते थे कि "हम प्रतिदिन कम से कम ४० या ५० पृष्ठों का स्वाध्याय करते हैं।"

धवलादि सिद्धाँत ग्रंथों का बहुत सुन्दर अभ्यास महाराज ने किया था। अपनी असाधारण स्मृति तथा तर्कणा के बल पर वे अनेक शंकाओं को उत्पन्न करके उनका सुन्दर समाधान करते थे।

-दिगम्बर दीक्षा, महान् अनुभवी ज्ञाता एवं सुलझी हुई विद्वतता, पृष्ठ १०६-१०७

सन् १९५१ का भारत व सरकारी नितियाँ

एक दिन मैंने आचार्य महाराज से पूछा था-"महाराज ! आज का युग संयम की साधना के पूर्णतया प्रतिकूल है। जीवन निर्वाह के लिए भोजन की सामग्री तक पाना कठिन हो गया है, इसलिए दो जैन प्रोफेसरों ने पूना में हमसे पूछा था कि आज के युग में हिंसा किए बिना निर्वाह कैसे होगा ? अनाज की उपज कम हो गई है, इसलिए माँस भक्षण की प्रेरणा दिए बिना जीवन-यात्रा नहीं बन सकती है। बन्दर आदि धान्य-घातक जानवरों को मारे बिना अन्य उपाय नहीं है। ऐसे समय में जैनधर्म के अनुसार कैसे लोकहित का संपादन हो सकता है ? राष्ट्र के हित के लिए जीवों का वध करना आवश्यक कर्तव्य हो गया है। इसी से भारत सरकार बन्दरों आदि घातक जानवरों के मारने को उत्साहित करती है।'अहिंसा भक्त भारत सरकार का सूचना-विभाग बताता है कि बम्बई में भारत सरकार ने १२ लाख रुपयों के खर्च से ऐसा कारखाना तैयार किया है कि उसमें प्रतिदिन १५ टन मछलियाँ जमा की जावेगी तथा २५० टन मछली (आपात) समय के लिए सुरक्षित रखी जायेंगी इत्यादि। प्रतिदिन लगभग २० टन बर्फ भी तैयार किया जायगा, जिससे कि मछलियों को ठंडा करके जमाया जा सके। उस सरकारी सूचना-विभाग ने यह भी बताया है कि इससे महिनों पर्यन्त मछलियों का रंग, रूप, स्वाद ज्यों का त्यों बना रहेगा। (उद्योग-भारती,कलकत्ता, दिस.५१)

दैनिक सन्मार्ग, ३ सितम्बर सन् १९५१ में अहिंसावादी भारत सरकार की हिंसक प्रवृत्ति के विषय में यह समाचार छपा था कि करनाल जिले में जंगली पशुओं की हत्या के हेतु पंजाब सरकार ने दस हजार रुपयों के इनाम की घोषणा की है। बन्दर मारने पर प्रत्येक बन्दर पीछे २ रुपये इनाम मिलेगा। प्रमाण के लिए मरे बन्दरों की पूँछें प्रथम श्रेणी के न्यायाधीश के सामने पेश करनी होगी। सन् १९५० में २७२५१ बन्दर मारे गए थे। ५०१६ गीदड़ों का नाश किया गया था। इनके नाश का कारण यह बताया जाता है किइनके कारण आवश्यक अन्न को क्षति पहुँचती है। भारत सरकार ने जापान के हिंसक विशेषज्ञों को बुलाकर मछली मारने के कार्य में अपना लम्बा कदम उठाया। केरल प्रांत में मेढकों को मारकर उनके पैरों को अमेरिका भेजा जाता है। इस प्रकार असंख्य जीवों के संहार द्वारा धनसंचय का उद्योग चल रहा है। जीववध के क्षेत्र में धर्मभूमि भारत के कर्णधार भयंकर रूप से बढ़ रहे हैं। जितनी हिंसा हिंसक देशों में हो रही है, उससे अधिक अहिंसक देश भारत में हो रही है।

-प्रभात, *जटिल समस्या व *सामयिक अन्न संकट में क्या करें,

पृष्ठ ३१९-३२०

आचार्य पद

आचार्य-पद

समडोली में शांतिसागर महाराज ने जो श्रमण संघ का निर्माण किया था, उसके कारण चतुःसंघ समुदाय ने उन्हे आचार्य परमेष्ठी के रूप में पूजना प्रारंभ कर दिया था।

आचार्य पद का स्वरूप

आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में आचार्य पद की बड़ी प्रतिष्ठा है। मूलाचार में लिखा है-"जो निर्ग्रंथ मुनि ज्ञान, दर्शन, वीर्य, तप और चारित्र रूप पंच आचारों का निरतिचार पालन करता है, दूसरों को इन पंच आचारों में लगाता है तथा इनका उपदेश देता है, उसे आचार्य कहते है।"[१] धवलाटीका में लिखा है, "जो पंचविधि आचार का पालन करते हैं, दूसरों से पालन कराते है उन्हें आचार्य कहते हैं।"[२]

आगम में लिखा है-"जिनकी बुद्धि जिनागमरूप जलधि के मध्य में स्नान द्वारा निर्मल हो गई है, जो शुद्धता पूर्वक छह आवश्यकों का पालन करते हैं, मेरु के समान अकंप हैं, वीर हैं, सिंह सदृश्य हैं, तथा श्रेष्ठ हैं, वे आचार्य कहलाते है।"[३]

"जो देश, कुल तथा जाति से शुद्ध हैं, सौम्य मूर्ति हैं, बाह्य तथा अंतरंग परिग्रह उन्मुक्त हैं, जो गगन के समान निर्लेप हैं, ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते है।"[४]

"जो संग्रह तथा शिष्यों के दोष दंड द्वारा निग्रह करने में प्रवीण हैं, सूत्रों के अर्थ चिंतन में विशारद है, विश्रुत कीर्ति हैं, जो सारण अर्थात् आचरण करने में, वारण अर्थात् दोषों का निवारण करने में तथा व्रतों की रक्षा करने वाली क्रिया के साधन में निरन्तर रहते है उन्हें आचार्य परमेष्ठी समझना चाहिए।"[५]

आचार्य वीरसेन स्वामी ने लिखा है-"जो आचारांग के धारक हों अथवा तत्कालीन जिनागम तथा अन्य शास्त्रों के पारंगत हों, मेरु के समान निश्चल हों, पृथ्वी के समान

---

१. आयारं पंचविहं चरदि चरावेदि जो णिरदिचारं।
उवदिसदि य आयारं एसो आयारयं णाम ॥ ४२५, मूलाचार ॥

२. पंचविधमाचारं चरन्ति, चारयन्तीत्याचार्या ॥ पृ. ४८, भाग १, धवलाटीका ॥

३. पवयण-जलहिज लोयरणहायामल-बुद्धि-सुद्धछावासो।
मेरुव्व णिप्पकंपो सूरो पंचाणणो वज्जो ॥

४. देसकुल जाइसुद्धो सोमंगो संगभंग उम्मुक्को।
गयणव्व निरुवलेवो आयरियो एरिसो होई॥

५. संगहण-णिग्गहण कुसलो सत्तत्थ विसारओ पहियकित्ती।
सारण-वारण-साहण-किरिमुज्जुत्तो हु आइरियो॥

सहनशील हो तथा सागर के समान मल दोषों को दूर करने वाले हों तथा जो सात प्रकार के भय से रहित हों, वे आचार्य हैं।''[1]

प्राकृत आचार्य भक्ति में लिखा है-आचार्य परमेष्ठी उत्तम क्षमा के द्वारा पृथ्वी सदृश हैं, निर्मल भाव की अपेक्षा स्वच्छ जल समान हैं। कर्मेन्धन के दहन करने से अग्नि रूप हैं, परिग्रह रहित होने से पवन तुल्य हैं।[2]

जो गगन के समान निर्लेप हैं, सागर सदृश अक्षोभ्य हैं, इस प्रकार गुणों की राशि मुनि श्रेष्ठ आचार्य परमेष्ठी के चरणों को शुद्ध हृदय से प्रणाम करता हूं।[3]

वंशकुल परंपरा की शुद्धता होने पर भावों में उच्चता आती है, इसी कारण सोमदेव सूरि ने अपने यशस्तिलक में लिखा है ''दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाः'' (पृष्ठ ४०५)- मुनि दीक्षा के योग्य त्रैवर्णिक ही हैं। इसी कारण आचार्य की स्तुति में उनकी कुलीनता का उल्लेख करते हुए लिखा है :

देस कुलजाइ सुद्धा विसुद्ध मण वयण काय संजुत्ता।
तुम्हं पाय पयोरुह मिह मंगल मत्थु मे णिच्चं॥

अर्थ : ''जो देश से शुद्ध हैं, पितृ पक्ष तथा मातृ पक्ष से शुद्ध है, निर्मल मन, वचन, शरीर युक्त हैं, ऐसे हे आचार्य परमेष्ठी ! आपके चरणकमल मेरा निरन्तर कल्याण करें।''

महाबंध के मंगल श्लोक में लिखा है, ''जिन्होंने रत्नत्रय रूपी तलवार के प्रहार से मोह रूपी सेना के मस्तक को विदीर्ण कर दिया है तथा भव्य जीवों का परिपालन किया है, वे आचार्य महाराज प्रसन्न होवें।''[4]

आचार्य परमेष्ठी का, वीतरागशासन होता है, जबकि राजाओं का सराग शासन होता है। आचार्य महाराज के शासन में रहने वाला गुरू-प्रसाद से स्वर्ग, मोक्ष की सामग्री को पाप्त करता है किन्तु राजा के प्रसाद में ऐहिक कुछ सामग्री मिल जाती है, ''**राजा प्रसन्नं गज भूमि दानम्**'', राजा प्रसन्न होने पर हाथी, भूमि का दान देता है, किन्तु आचार्य प्रसन्न होते हैं तो वे शिष्यों को अपने समान बना लेते हैं। अभी समडोली में

---

१. आचारांगधरोवा तात्कालिक-स्वसमय-परसमय पारगो वा मेरुरिव निश्चलः, क्षितिरिव सहिष्णुः, सागर इव बहिः क्षिप्तमलः सप्तभय विप्रमुक्त आचार्यः॥(धवलाटीका भाग १ पृ. ४८, ४९)

२. उत्तमखमाए पुढ़वी पसण्णभावेण अच्छजलसरिसा।
कम्मिंधण दहणादो अगणी वाऊ असंगादो॥

३. गयणमिव णिरुवलेवा अक्खोहा सायरुव्व मुणिवसहा।
एरिस गुणणिलयाणं पायं पणमामि सुद्धमणो॥

४. तिरयण-खग्ग णिहाए णुत्तारिय मोहसेण्ण सिरणिव हो।
आइरिय राउ पसियउ परिवालिय भवियजिय लोओ॥

वीरसागरजी तथा नेमिसागरजी को निग्रन्थ दीक्षा देकर महाराज ने अपने समान बना ही लिया। इस प्रकार इन आचार्य परमेष्ठी के साथ संतुलन करने पर राजा का पद बहुत ही लघु ज्ञात होता है।[1] इसी से राजा भी इन महाप्रभु के चरणों की रज के द्वारा अपने जीवन को धन्य मानता है। आचार्य पद और राजा के विषय में कुलीनता की समान रूप से मान्यता मानी गई है। नीतिवाक्यामृत ६६, पृ. २४३ में लिखा है :

स्वजातियोग्यसंस्कारहीनानां राज्ये प्रव्रज्यायां च नास्त्यधिकारः ।।

अर्थ : स्वजाति के योग्य संस्कार हीनों को न राज्य का अधिकार रहता है, न दीक्षा का ही अधिकार होता है। नीच व्यक्ति को अपात्रता के कारण इन दो पदों के अयोग्य कहा है।

आज लोकतंत्र के बल पर कोई कहे कि हम नीचों को ही सिर पर बैठा लेंगे, इसमें क्या दोष है ? इस शंका का समाधान सोमदेव सूरि नीतिवाक्यामृत ३०, पृ. २८३ में इस प्रकार कहते हैं :

चणका इव नीचा उदरस्थापिता अपि नाविकुर्वाणास्तिष्ठन्ति ।।

अर्थ : जिस प्रकार उदर में स्थापित करने पर चना वात संबंधी विकृति को उत्पन्न करता है, तद्वत् अत्यन्त स्नेह करने पर भी नीच अपने संस्कार के अनुसार विकार किए बिना नहीं रहता है।

आचार्यश्री का शासन, आसक्ति शून्य है

यहाँ यह भी शंका हो सकती है कि जिस प्रकार राजा को प्रजा के सुख-दुःख की निरन्तर चिन्ता रहती है, उसी प्रकार आचार्य को चिन्ता रही तो उनका निर्ग्रंथपना विपत्ति

---

१. महापुराण में निर्ग्रथ दीक्षा को वीर दीक्षा कहते हुए बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। बाहुबली के दीक्षा लेने के बाद भरतेश्वर के अन्य बन्धु चक्रवर्ती को प्रणाम नहीं करना चाहते थे, उन्होंने भगवान वृषभनाथ प्रभु के चरणों में उपस्थित होकर इस प्रकार प्रार्थना की थी -

परप्रणामविमुखीं भयसंगविवर्जिताम्।
वीरदीक्षां वयं धर्तुं भवत्पार्श्वमुपागताः ।। महापुराण ३४-१०६ ।।

भगवन्! हम आपके समीप वीर दीक्षा धारण करने को आये हैं, क्योंकि वह अन्य लोगों को प्रणाम करने से रहित हैं, भय तथा संग अर्थात् परिग्रह रहित हैं।

दूसरों को प्रणाम करने में तुम्हें क्या आपत्ति है इसका उत्तर देते है -

युष्मत्प्रणमनाभ्यासरस दुर्ललितंशिरः।
नान्यप्रणमने देव धृतिंबध्नाति जातु नः ।। महापुराण १०४ ।।

देव! आपको सदा प्रणाम करने के अभ्यास के रस की आदत युक्त हमारा मस्तक अब दूसरों को प्रणाम करने को तत्पर नहीं होता है। इस वीर दीक्षा को धारण कर वीरसागर महाराज का जीवन चरितार्थ हो गया। नेमिसागर महाराज ने भी इस दीक्षा को लेकर भगवान नेमिनाथ प्रभु के पथ का अनुसरण किया। दोनों मुनिराज आज भी निर्दोष वृत्ति से अपने व्रतों का पालन करते हुए स्वपरहित में संलग्न है।

पूर्ण हो गया। घर के कुटुम्बियों की चिन्ता छोड़ कर दूसरों की चिन्ता ले ली। जिसके मस्तक पर मुकुट विराजमान रहता है, वह बेचैन रहा करता है। यह संकट वीतराग आचार्य के शासन में नहीं है। संघ के साधुओं को सन्मार्ग में लगाते हुए भी आचार्य की उनके विषय में रंचमात्र भी आसक्ति नहीं है। विचारवान सहज ही सोच सकता है, जिस शरीर को योग्य आहार पानादि देते हुए भी जब वे अपनी चैतन्यज्योति को निरन्तर पृथक् अनुभव करते हैं, तब बाह्यसंपर्क में आने वालों के साथ मोह और ममत्व कैसे हो सकता है ? धर्म के परिवार की वृद्धि करते हुए रत्नत्रय का पोषण करने के कारण आचार्य परमेष्ठी तो अधिक विशुद्धता को प्राप्त करते हैं।

अब अपनी महान् तपश्चर्या के प्रसाद से सत्पुरुष का आकर्षण कर निग्रंथ मुनि श्री शांतिसागर स्वामी ने धर्म की गंगा बहाकर पुण्य तीर्थ का निर्माण कर संसार पूज्य आचार्य पद को प्राप्त कर लिया। आचार्य महाराज के व्यक्तित्व से प्रभावित होते हुए भी प्रत्याख्यानावरण कर्मोदय से जो सकल संयम के पथ पर चलने में असमर्थ थे, वे महान् संयमी गुरुदेव की शरण में महिनों समय देकर अपने जीवन को पवित्र बनाने लगे। आहरदान देकर पंचसूना क्रिया से उत्पन्न दोषों की शुद्धि में तत्पर रहने लगे। जो गुरुदेव के सान्निध्य में आता वह व्रताचरण रूपी प्रसाद को पाए बिना नहीं रहता था। इस प्रकार जहां देश में और बाहर शिथिलाचार था, अव्रती जीवों की वृद्धि हो रही थी, वहाँ आचार्यश्री के प्रसाद से बड़े से बड़े कठोर व्रतों को लेने का साहस स्त्री और पुरुषों के मन में जागृत होता था। इस प्रकार महाराज का धार्मिक संघ वेग से बढ़ता जाता था।

इस दुषमा काल में विषयभोग की सरिता बह रही है। सब उसी में स्वेच्छा से डुबकी लगाते हैं। आगम भी कहता है इस काल की ऐसी ही प्रवृत्ति होगी, फिर भी आचार्यश्री का अपूर्व व्यक्तित्व असाधारण रूप से संयम के भावों को जगा रहा था। यह काल महान असंयम पूर्ण है, यह प्रत्येक के अनुभव गोचर हो रहा है। ऐसी ही सूचना महापुराणकार के कथनानुसार चक्रवर्ती भरतेश्वर के स्वप्न से भी प्राप्त हो चुकी थी।

बात यह है कि जब भरतेश्वर को सोलह स्वप्न दिखे तब उन्होंने आदिनाथ प्रभु के समीप जाने का निश्चय किया। उन्होंने भगवान के पास जाकर जैसे ही प्रणाम किया, वैसे ही उन्हें विशुद्धतावश अवधिज्ञान प्राप्त हो गया, जैसा कि कहा गया है : भक्ति पूर्वक भगवान वृषभनाथ के चरण युगल को प्रणाम करते ही भरतेश्वर के विशुद्धियुक्त परिणामों के कारण अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया।[1] चक्रवर्ती ने अपने स्वप्न भगवान के समक्ष भक्ति पूर्वक निवेदन किए, तब भगवान की दिव्यवाणी द्वारा उनका समाधान हुआ। चक्रवर्ती ने

१. भक्त्या प्रणमतस्तस्य भगवत्पादपंकजे।
विशुद्धि परिणामांगमवधिज्ञानमुद्बभौ॥ महापुराण ४१-२८॥

शुष्क वृक्ष देखा था, उसके विषय में भगवान ने कहा था :

"पुसां स्त्रीणां च चारित्रच्युतिः शुष्कद्रुमेक्षणात्।" (महापुराण ४१-७६)

अर्थ : शुष्क वृक्ष दर्शन का यह परिणाम होगा कि पंचम काल में पुरुषों तथा स्त्रियों के चारित्र में शिथिलता पाई जायगी। इस प्रकार अधर्म की प्रवृत्ति ही युग का धर्म है, उसके विरुद्ध पौरुष की वृत्ति को जगा संयम की प्रवृत्ति का प्रसार आचार्यश्री के सातिशय पुण्य एवं प्रभाव को सूचित करता है। वास्तव में इस सूक्ति में पर्याप्त तथ्य है कि वीर पुरुष अपने पराक्रम के द्वारा नवीन युग का निर्माण कर सकते हैं।

पुण्यमूर्ति महाराज का संघ जिस ग्राम-नगर में पहुंचता वहां धर्म तथा आत्मकल्याण की दीपमालिकासी सज जाती थी। हर प्रकार की सुन्दर से सुन्दर शुभोपयोग की सामग्री महाराज के पुण्य से खिचकर वहां आ जाती थी। उत्कृष्ट शास्त्र चर्चा, तत्त्व प्रवचन, सुन्दर संगीत, कीर्तन आदि के द्वारा ऐसा लगता था कि महाराज के समीप आते ही पाप प्रवृत्तियों का स्वयं पलायन हो जाता था।

कुंभोज चातुर्मास

विहार करते हुए आचार्य महाराज विक्रम संवत् १९८१, सन् १९२४ में चातुर्मास के लिए कुंभोज में ठहर गए। अब तो जहां महाराज का संघ रहे वहां आनन्द की आश्चर्यप्रद धारा बहने लगती थी। जंगल में भी सचमुच में मंगल हो जाता था। ऐसे आनन्द से समय व्यतीत हुआ कि चार माह चार दिन की तरह बीत गए।

आचार्य संघ अब कुंथलगिरि तीर्थ की ओर रवाना हो गया। मार्ग में अनेक गृहस्थ साथ में हो गये, ताकि पात्र दान का पुण्य लाभ लें और महाराज की अपूर्व सेवा का सौभाग्य भी प्राप्त करें। जब संघ पंढरपुर पहुंचा तो वहां बहुत बड़ा जन समुदाय एकत्रित हो गया था।

पंढरपुर की तरफ मुनि विहार का यह अवसर बहुत काल के बाद आया था। इससे भय होता था कि कहीं कोई अनिष्ट घटना न हो जाय, कारण वहां अन्य संप्रदाय वालों की प्रबलता है। किन्तु महाराज के पुण्य प्रताप से वहाँ खूब प्रभावना हुई और जैन धर्म का जयजयकार हो गया।

इसके अनंतर संघ कुंथलगिरि पहुंचा। देशभूषण कुलभूषण के निर्वाण स्थल की भक्ति पूर्वक वन्दना पूजा आदि के पश्चात् संघ सावरगांव पहुंचा। वहां प्रतिमा जी का वज्रलेप हुआ था। उसकी प्राण प्रतिष्ठा का समारंभ होना था। वह अतिशय क्षेत्र है। महाराज के पधारने से वहां का उत्सव भी सप्राण हो गया था।

रत्नत्रय संजीविनी दाता वैद्य

इसके पश्चात् संघ सोलापुर आया। यहां जैन समाज के समान जैनेतरों ने भी आचार्यश्री

का बड़ी भक्ति पूर्वक हार्दिक स्वागत किया। हिन्दुओं तथा मुसलमानों ने भी पूज्यश्री के प्रति उच्च भक्ति और सन्मान का भाव व्यक्त किया था। अब महाराज का संघ जिस किसी जगह भी पहुंचता वहां बिना पर्व के पर्व दिखता था, बिना उत्सव के महोत्सव हो जाता था, बिना विशेष प्रयत्न के महान् विशुद्धता उत्पन्न होती थी, जिससे बड़े-बड़े महत्व के मोक्षोपयोगी तथा जिनेन्द्र शासन की प्रभावना वर्धक कार्य हो जाते थे। महाराज की विवेकपूर्ण प्रवृत्ति से संयम की बात कटु न लग प्रिय और आकर्षक लगती थी। श्रेष्ठ आचरण करने वालों की बात ही निराली है। उनकी मूर्ति भी सदाचरण का जोरदार प्रचार कर हिंसादि पाप प्रवृत्तियों का निर्मूलन कर रही थी, यह बात उस समय सबके नेत्र गोचर होती थी।

महाराज अधिक उपदेश नहीं देते थे उनका जीवन ही स्वयं उपदेश देता हुआ लोगों को सत्कार्यों तथा उज्जवल चरित्र की ओर प्रेरित करता था। हमें तो आचार्यश्री एक सिद्धहस्त चिकित्सक के रूप में प्रतीत होते थे कि जिनके द्वारा दी गई संयम रूपी औषधि मोह रोगी को तत्काल शांति प्रदान करती थी। अतः वे पीयूषपाणि वैद्य के रूप में दिखते थे। वे रत्नत्रय की संजीविनी देकर रोग दूर करते थे। यह कला महाराज ने जिनेन्द्र की आराधना द्वारा प्राप्त की थी। महाकवि धनंजय ने भगवान वृषभनाथ प्रभु के स्तोत्र में उनको बाल वैद्य बताते हुए लिखा है :

"हे भगवन्! अपने, दोषों के कारण पीड़ित होने वाले बालक के सदृश जगत के जीवों को आप नीरोगता प्रदान करते हैं, क्योंकि बालक के समान वे भी अपनी ही अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा विपत्ति प्रद पाप के पथ में प्रवृत होते हैं। देव! हित और अहित के खोजने में प्रमादशील संपूर्ण जीवों के लिए आप बालवैद्य तुल्य हैं।"[1]

बागभट्ट ने अपने अष्टांगहृदय में भगवान को बड़े सुन्दर शब्दों में अपूर्व वैद्य के रूप में स्मरण कर प्रणाम किया है, क्योंकि भगवान के द्वारा रागादि दोषों का विकार दूर किया जाता है।

तीर्थंकर भगवान की निरन्तर सेवा से प्राप्त पुण्य के प्रसाद से आचार्यश्री भी विवेक पूर्वक भयरोग दूर करने की औषधि दिया करते थे। इस औषधि से आत्मा की शुद्धि होती थी, अतः पहले आचार्यश्री ने न सिर्फ स्वयं की वृत्ति को परिशुद्ध बनाया था, अपितु विविध तपों के द्वारा वे विशेष शुद्धि का भी संपादन करते रहते थे, इस कारण उनके द्वारा सर्वसाधारण का अकथनीय कल्याण होता था। जो भक्ति पुर्वक उन्हें प्रणाम करता था उसके पाप कर्मों की निर्जरा होती थी और पुण्य का लाभ होता था। सतत सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अस्तेयभाव, वीतरागता की श्रेष्ठ आराधना द्वारा ऐसी शक्ति आत्मा

---

१. व्यापीडितंबालमिवात्मदोषैरुल्लाघतां लोकमवापिपस्त्वम्।
हिताहितान्वेषणमांद्यभाजःसर्वस्यजन्तोरसि बाल वैद्यः॥ ५, विषापहारस्तोत्र॥

में उद्भूत होती थी कि उसके समीप आगत व्यक्ति उनके प्रभाव में आए बिना नहीं रहता था। यही दिव्य प्रभाव तो सिंहादि क्रूर जीवों में शांत-भाव उत्पन्न कर दिया करता है।

आज का युग पुद्गल के प्रभाव को समझने और उसे प्रकाशित करने के कार्य में लग गया है। उसे आत्मा का प्रभाव कैसे ज्ञात हो सकता है ? कोयले की खदान में काम करने वाले का मुख जैसे श्याम होता है, ऐसे ही पुद्गल की समाराधना के फलस्वरूप कालिमा की वृद्धि हो रही है व जहाँ कालिमा की वृद्धि हो रही है, वहाँ रत्नों का उज्ज्वल प्रकाश कहां से आ सकता है। यदि आत्मा की उज्ज्वल आराधना की जाय तो कितना कल्याण, आनन्द, शांति और विशुद्धता का लाभ हो सकता है, यह बात केवल आचार्य शांतिसागर महाराज के जीवन को देखकर ही जानी जा सकती है, अन्य किसी प्रकार से नहीं।

धर्मयुग प्रवर्तक संत

इस एक पवित्र आत्मा ने प्रहरी की भांति भव्यात्माओं को जगाना प्रारम्भ कर दिया, जिसके कारण पंचमकाल रूपी डाकुओं के शासन में भी भव्यजीव अपने रत्नत्रय की सम्हाल करते हुए मुक्तिपुरी की ओर बढ़ते हुए देखे जा रहे हैं।

आचार्य महाराज इस युग में एक आश्चर्यप्रद विभूति प्रतीत होते थे। सब कहते हैं यह कलिकाल है, किन्तु महाराज जहाँ-जहाँ पहुंचते, वहीं-वहीं धार्मिकता की अभिवृद्धि देखकर ऐसा लगता था मानो चतुर्थ काल उस जगह छुपा हुआ था, जो उनके आते ही व्यक्त रूप में प्रगट हो गया। सब लोग यह कहते हैं कि आज का समय ऐसा है कि चंचल चित्त को कोई भी स्थिर नहीं कर सकता है, किन्तु पूज्यश्री ने चित्त को ऐसा स्थिर किया कि उसमें चंचलता को स्थान ही नहीं है।

स्थिर मन

एक बार मैंने महाराज से पूछा था, "महाराज ! आप निरन्तर शास्त्र स्वाध्याय आदि कार्य करते रहते हैं, क्या इसका लक्ष्य मनरूपी बंदर को बांधकर रखना है, जिससे वह चंचलता न दिखावे।"

महाराज बोले- " हमारा बंदर चंचल नहीं है।"

मैंने कहा-" महाराज ! मन की स्थिरता कैसे हो सकती है, वह तो चंचलता उत्पन्न करता ही है ?"

महाराज ने कहा-" हमारे पास चंचलता के कारण नहीं हैं। जिनके पास परिग्रह की उपाधि रहती है, उनको चिंता होती है, उनके मन में चंचलता होती है। हमारे मन में चंचलता नहीं है। हमारा मन चंचल होकर कहाँ जायेगा ?" इस बात के स्पष्टीकरण के हेतु महाराज ने एक उदाहरण दिया कि" एक पोपट (तोता) जहाज के ध्वज के भाले पर

बैठ गया। जहाज मध्य समुद्र में चला गया। उस समय वह पोपट उड़कर बाहर जाना चाहे, तो कहां जायेगा? उसके ठहरने का स्थल भी तो चाहिए, इसलिए वह एक ही जगह पर बैठा रहता है। इसी प्रकार घर, परिवार आदि का त्याग करने के कारण हमारा मन चंचल होकर जायेगा कहां, यह बताओ?"

चिंतामुक्त शांत मन

महाराज कहने लगे-" हमारा मन अन्यत्र आश्रय न होने से अपने आप आत्मा की ओर आकर टिकता है। हमारे मन को बाहर विश्राम करने का स्थान ही नहीं है।"

एक बार ध्यान के विषय में जब हमने चर्चा चलाई, तब महाराज बोले-"हमारे चित्त में गड़बड़ी तथा चिन्ता नहीं है। हमें मोक्ष पाने की चिन्ता नहीं है। अनादि काल से संसार में रहे, तो जल्दी क्यों? दो चार भवों में चले जावेंगे, उतावली किस बात की। हमें शास्त्र की भी चिन्ता नहीं है। उसे पढ़ना सुनना जरूरी है इससे पढ़ते हैं, सुनते हैं। पढ़ना ही चाहिए, ऐसी बात नहीं है।"उन्होंने यह मार्मिक बात भी कही थी-"मुख्य रहस्य जब समझ में आ गया, तब दस बार पढ़ने में या एक बार पढ़ने में क्या बात है।"

आत्म-ध्यान की स्थिति

आत्मा के ध्यान के विषय में जब पूज्य श्री से चर्चा चलाई, तब वे महामुनि बोले- "आत्मध्यान में शरीर का भी पता नहीं चलता है, तब अन्य बाह्य बातों का क्या पता चलेगा?" उन्होंने कहा-"आत्मा के ध्यान में इंद्रियों का सुख नहीं है। वहां आत्मा का आनन्द है।"

इंद्रियों के विषय जनित सुख के विषय में महाराज ने कहा-"वह तो पागल का सुख है।" कितनी महत्व की बात है यह, सुख का कितना सूक्ष्म विश्लेषण है। सचमुच में स्वरूप को भूलने वाला पागल की भांति फिरने वाली आत्मा, सुख शून्य बाह्य वस्तुओं में सुख खोजती है, वहां उसका सद्भाव कहता है और मानता है कि मैंने उनमें ही सुख पाया है। यह सुख यथार्थ में पागल का ही सुख है। पागल की प्रवृत्ति और कल्पना में तर्क, युक्ति विचार का संपर्क नहीं होता है। जैसा उसे सूझ जाये, वैसा वह मानता है। मिथ्यात्व के आधीन समस्त प्राणी ऐसे ही सुख के फेरे में फंसे हुए हैं।

आचार्य महाराज कहने लगे- "मोह की दीवाल तोड़ देने के बाद आत्मा भीतर आता है, बाहर जाता है। भीतर आने पर उसके हिंसा अहिंसा का भी विकल्प नहीं रहता है। दूसरे जीवों के मरने से, या रक्षण से हमारी आत्मा का क्या संबंध है?" यह कथन सूक्ष्म निश्चयनय की अपेक्षा है। उसी उज्ज्वल प्रकाश में पूज्यश्री कहने लगे-"आत्म ध्यान में अंतर्जल्प भी नहीं होता है। शरीर व्यतिरिक्त आत्मा में लीन होती है। मोह का बंधन हटे बिना अंतर्जल्प

कैसे बन्द होगा ?" पर पदार्थों से संबंध न रखने पर/छोड़ देने पर अंतर्जल्प क्यों और कैसे होगा ? उस आत्मध्यान में इंद्रिय जनित सुख नहीं है, दुःख नहीं है।

गम्भीर बात

इस चर्चा में निमग्न होकर महाराज के श्रीमुख से निकलते हुए प्रत्येक शब्द अमृतरूप लगते थे, मानो उनके ऊपर अनुभव की मुद्रा लगी हो। अकस्मात् उनके मुख से ये शब्द निकल पड़े-"अरे ! जब छः मास के अभ्यास से आत्मा का परिचय होता है, तब उसमें सारा जीवन लगा देने से वह क्यों नहीं होगा ? हम बाजार में भी ध्यान कर सकते हैं। आत्मध्यान में बाजार क्या करेगा ?"

महाराज ने कहा-"ध्यान करते समय कितने मिनिट ध्यान में बैठते हैं, यह भी ध्यान नहीं रहता है। उन्होंने यह भी कहा था कि ध्यान करने में आरम्भ में कठिनाई मालूम पड़ती है, पश्चात् वह अभ्यास से सरल हो जाता है।"

आचार्यश्री की उपरोक्त वाणी बहुत रहस्यपूर्ण है, उससे उनके सच्चे आत्मश्रद्धानी होने का निश्चय होता है। ऐसे ही रत्नत्रयधारी महाव्रती आत्माएं लोकान्तिक देव होकर आगामी भव में मोक्ष जाते हैं।

ध्यान में क्या होता है, इस संदेह का निवारण करते हुए अपनी अनुभवपूर्ण वाणी में महाराज ने कहा-"ध्याता ज्ञान से ज्ञान को ढूंढता है। ध्याता भाव मन से बाहर आता है, पीछे वापस जाता है। आत्मा अपने स्वरूप को छोड़ कर बाहर कहाँ जायेगी ? अभ्यास से सब काम सरल हो जाता है ? मार्ग में चलने से सफलता मिलती है। मार्ग छोड़कर चाहे प्राण भी दो, चाहे उपवास करो परमार्थ की प्राप्ति नहीं होगी। कुछ उपवास में आत्मा नहीं है।" महाराज ने यह भी कहा था-"जल की गिरती हुई धारा में भी मछली ऊपर चढ़ा करती है, इसी प्रकार ज्ञानी भी अपने स्वरूप में चढ़ता है।"

उपवास के विषय में अनुभव

मैंने पूछा-"महाराज ! यदि उपवास में आत्मा नहीं है, तो क्या व्रत उपवास व्यर्थ है। आप क्यों उपवासादि कठोर तप करते हैं ?"

महाराज ने कहा- "अल्प आहार या उपवास से, प्रमाद कम होकर विचार शक्ति बढ़ती है।" इससे उपवासादि की उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है। जब प्रमाद कम हुआ और विचार शक्ति की वृद्धि हुई, तब आत्मा अपनी ओर उन्मुख होने की सामग्री प्राप्त कर लेता है।

आत्म शांति का राज

मैंने कहा-"महाराज ! एक बड़े आध्यात्मवादी समाज प्रसिद्ध विद्वान् से मैंने पूछा था कि आपकी आत्मा को बहुत शांति का लाभ हुआ होगा, तब उन्होंने कहा था कि हमें

तनिक भी शांति नहीं है। आत्मा में भयंकर अशांति ही अनुभव में आ रही है। आपका अनुभव क्या है ?''

महाराज बोले-'' हमारी आत्मा में अशान्ति होती ही नहीं। कैसे भी कारण आवें, हमारी आत्मा में हमेशा शांति ही रहती है, क्योंकि हमने अशांति के कारणों को हटा दिया है। अशांति के कारण हमारे पास नहीं हैं, तब अशांति क्यों होगी ?'' उस समय समझ में आया कि क्यों आचार्यश्री को शांतिसागर कहते हैं। वे यह भी बोले-''यह ध्यान आसन्न भव्य जीव के होता है।'' इससे ध्यान करने में असमर्थ आत्मा की स्थिति समझी जा सकती है।

सम्यक्त्व (आत्मा और भगवान दो नहीं हैं)

जिस सम्यक्त्व के होने पर संसार का बंधन नष्ट होता है, उसके विषय में पूज्यश्री से चर्चा चली, तब महाराज ने कहा,'' शुद्ध आत्मा का अनुभव खरा सम्यक्त्व है। तत्त्वार्थ श्रद्धान तो उपचार सम्यक्त्व है।''

उन्होंने यह भी महत्व की बात कही,''यदि सम्यक्त्व समझते नहीं, तो व्रत करके देवगति जाना चाहिए, वहाँ से विदेह पहुंचकर तीर्थंकर भगवान के पास जाना चाहिए, वहां उनकी दिव्यध्वनि से सब कुछ तत्त्व समझ में आ जायगा।'' महाराज ने कहा- ''हम खातरी से कहते हैं कि सम्यक्त्व की महिमा ऐसी है कि उससे मोक्ष अवश्य मिलेगा।''

''आत्मा की रुचि सम्यक्त्व है। जब आत्मा नहीं मालूम तब किस पर श्रद्धान करोगे ? भगवान को देखा नहीं, किस पर श्रद्धान करोगे ? शास्त्र गुरु मूर्ति मन्त है। आत्मा अमूर्तीक है, उस पर कैसे श्रद्धा करोगे ? वस्तु तो आपको मालूम ही नहीं है ! अरे ! आत्मा और भगवान दो नहीं हैं। इसे देखा, तो उसे देखा। अक्षर में सम्यक्त्व नहीं है।''

आत्म प्रशंसा के प्रति उनकी धारणा

लोग महाराज की स्तुति करते हैं, प्रशंसा करते हैं। वे उनके इन वाक्यों को बांचें ''हमारी मिट्टी की क्या प्रशंसा करते हो ? हमारी कीमत क्या है ?''

कोरा उपदेशक धोबी तुल्य है

शरीर के प्रति अनात्मीयभाव होने से महाराज कहने लगे-'' यह मकान दूसरे का है। जब मकान गिरने लगेगा तो दूसरे मकान में रहेंगे ।''

अपने स्वरूप को बिना जाने जो जगत में चिल्लाकर उपदेश दिया जाता है, उसके विषय में पूज्यश्री ने बड़े अनुभव की बात कही थी,'' जब तुम्हारे पास कुछ नहीं है, तब जग को तुम क्या दोगे ? भवभव में तुमने धोबी का काम किया। दूसरों के कपड़े धोते रहे और अपने को निर्मल बनाने की ओर तनिक भी विचार नहीं किया। अरे भाई ! पहले

अपनी आत्मा को उपदेश दो, नाना प्रकार की मिथ्या तरंगों को मन से हटाओ, फिर उपदेश दो। केवल जगत् को धोते बैठने से शुद्धि नहीं होगी। थोड़ा भी आत्मा का कल्याण कर लिया, तो वह बहुत है।''

कल्याण-पथ

आज भगवान का दर्शन यहां नही है, श्रुतकेवली नहीं हैं, तब आत्म कल्याण का क्या मार्ग होगा ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए महाराज ने कहा- ''भगवान की वाणी की शरण लो, उस वाणी में बड़ी शक्ति है। उसके अनुसार काम करो । जो इच्छा होगी, वह मिलेगी, यह हम खातरी से दृढ़तापूर्वक कहते हैं। मार्ग से चलो, तो मोक्ष सरल है।''

मार्मिक आशंका

कोई तत्त्वज्ञ कह सकता है,'' महाराज ! आपने इंद्रियों के सुख का त्याग किया और आप ही व्रतों का उपदेश दे स्वर्गादि के सुखों को प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार आप अपनी वाणी से साक्षात् नहीं तो प्रकारान्तर से विषय सुखों से सम्बन्ध कराते हैं। इससे आप के व्रतों को दोष लगता होगा, क्योंकि आपने पाप का मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना रूप से त्याग किया है, अतः आपको व्रत का उपदेश नहीं देना चाहिए ?

महत्वपूर्ण समाधान

ऐसे संदेह को दूर करते हुए आचार्यश्री बोले- ''तुम्हें स्वर्ग में सुख मिले और तुम स्वर्ग में खूब विषय सुख भोगो इसलिए तुम्हें उपदेश नहीं देते हैं। हमारा उद्देश्य यह है कि व्रताचरण के द्वारा तुम देवगति को प्राप्त करके विदेह में जाकर केवली भगवान के दर्शन करो। वहां तुम्हें भवावलि का बोध होगा। यदि सम्यक्त्व नहीं होगा तो वह तुम्हें केवली के दर्शन/उपदेश से मिल जायगा। इस प्रकार व्रताचरण तुम्हें मोक्ष प्राप्ति का कारण होगा।''

कितना सुन्दर और हृदयग्राही समाधान है यह । इस प्रकाश में उन भाइयों को भी सोचना चाहिए जो व्रताचरण को व्यर्थ की चीज समझते हुए स्वयं उसकी उपेक्षा करते हैं और दूसरे अज्ञ भाइयों को उस पथ से विमुख बनाते हैं। अनादि कुसंस्कारवश जीव आहार, भय, मैथुन और परिग्रह रूप संज्ञा चतुष्टय के अधीन हो आत्मपथ और संयम की ओर आने से डरता है। अन्य पर्यायों में संयम की अनुकूलता नहीं रहती है। संयम का सुवास युक्त अमृत पुष्प मनुष्यभव रूपी भूमि में ही होता है। अतएव संयम को भूल विषयों की ओर जाने का साक्षात् न सही, तो प्रकारान्तर से उपदेश देना कैसे मंगल मार्ग माना जाय ? बिना संसार के निकट हुए तथा काललब्धि आदि साधनों को प्राप्त किए सम्यक्त्व नहीं मिलता है। काललब्धि के अभाव में व्रताचरण द्वारा जीव दुर्गतियों में परिभ्रमण के संकट से बचकर शांतिपूर्वक मध्यवर्ती काल व्यतीत कर सकता है। पूज्यपाद

ऋषि ने इष्टोपदेश में लिखा है-"व्रताचरण द्वारा देवपर्याय का लाभ अच्छा है। असंयम के कारण नरक के कष्ट भोगना ठीक नहीं है। जो छाया में बैठा हुआ तथा जो धूप में बैठा हुआ अपने मित्रादि की प्रतीक्षा कर रहा है, उनमें बड़ा अन्तर है।"

जब तक वज्रवृषभनाराचसंहनन आदि निर्वाणोपयोगी पूर्ण सामग्री नहीं प्राप्त होती है, तब तक व्रताचरण की उपेक्षा कर नरकादि में संकट को सहन करने की अपेक्षा संयम की साधना द्वारा दिव्य पद प्राप्तकर निर्वाण के योग्य सामग्री को जुटाना विवेकी मानव का कर्त्तव्य होगा। संयमी जीवन हर दृष्टि से जीव का हितकारी है। यदि सम्यक्त्व है, तो वह सम्यक्त्व की प्राप्ति के योग्य समर्थ साधनों का सुयोग प्राप्त कराए बिना न रहेगा। अतः अविवेक से प्रेरित हो सम्यक्त्व की अत्यधिक भक्ति बता संयम का तिरस्कार करना, अपने हाथों अपने पैरों पर कुठाराघात करना है। संयम, व्रताचरण, जिनेन्द्रपूजन आदि के प्रति विद्वेष के भाव जगाना जीव को मीठी जहर की गोली खिलाने सदृश्य जघन्य कार्य है, अतएव आचार्य महाराज अपने विहार में सर्वत्र संयम का मोदक प्रत्येक प्राणी को देते थे (जो मोद अर्थात् आनंद देता है उसे मोदक कहते हैं)। ऐसा आनंददाई सामर्थ्य संयम में है। अजितेन्द्रिय, विषयाभिलाषी, भोगोन्मुख जीवन जगत में भी विनिंदित होता है। सम्यक्त्व की चर्चा के नाम पर विषयभोग की हलाहल पीना और पिलाना कैसे कल्याणकारी होगा ? अतएव यहां वहां न भटककर आचार्यश्री के उपदेशानुसार आचरण करने में कल्याण की प्राप्ति है।

भगवान जिनेद्रदेव की वाणी गणधर देव के द्वारा जिन द्वादशांगों के रूप में निबद्ध की गई है, उनमें प्रथम अंग आचार का प्रतिपादक आचारांग के नाम से प्रख्यात है। आत्मा विषयक शास्त्र अंतिम १२ वें अंग दृष्टिवाद के अंतर्गत् आत्मप्रवाद नामक पूर्व के रूप में बताया गया है। महापुराण में भगवज्जिनसेनाचार्य ने कहा है कि "गुरु के मुख से सर्व प्रथम श्रावकाचार का अध्ययन करें, पश्चात् आत्म विषयक शास्त्र तथा अन्य शास्त्रों का अभ्यास करें।" आगम के शब्द इस प्रकार हैं (महापुराण ४८,११८):

सूत्रमौपासिकं चास्य स्यादध्येयं गुरोर्मुखात् ।
विनयेन ततो न्यच्च शास्त्रमध्यात्मगोचरम् ॥

सत्य महाव्रती ऋषी प्रणीत वाणी वंदनीय होनी चाहिये।

परमात्मप्रकाश टीका से ज्ञात होता है कि तीर्थंकर भगवान से मुख्य प्रश्नकर्त्ता ने साठ हजार प्रश्नों में अंतिम प्रश्न आत्मा के विषय में पूछा था। इससे आत्मा की चर्चा बालक्रीड़ा के कन्दुक सदृश समझना या समझाना योग्य नहीं है। परमात्म प्रकाश टीका में महत्वपूर्ण शब्द ये हैं "सर्वागमप्रश्नानंतरं सर्वप्रकारोपादेयं शुद्धात्मानं पृच्छतीति" (पृ.२०)। ऐसे विवाद का निर्णय आचार्यश्री के इन अमूल्य शब्दों से होता है"सम्यक्त्व

और चारित्र का बड़ा सम्बन्ध है, तब एक की ही प्रशंसा क्यों ?"

कानजी चर्चा

एक बार महाराज ने बताया-"गिरनारजी की यात्रा से लौटते समय कानजी हमको दूर तक लेने गये। सोनगढ़ में आकर हमने कानजी से एक प्रश्न पूछा- "इस दिगम्बर धर्म में तुमने क्या अच्छा देखा ? और तुम्हारे धर्म में क्या बुरा था ?" इस प्रश्न के उत्तर में कानजी ने कुछ नहीं कहा। बहुत देर तक मुख से एक भी शब्द नहीं कहा।" इस पर आचार्यश्री ने कानजी से कहा- "हम तुम्हारा उपदेश सुनने नहीं आये हैं। हमें तुम्हारा भाव जानना है।"

इसके पश्चात् क्या हुआ, उसे महाराज ने इस प्रकार बताया-"कानजी ने पूछा[1] "महाराज, समयसार की एक गाथा में कहा है नव पदार्थ भूतार्थ हैं, यह गाथा प्रक्षिप्त मालूम पड़ती है; क्योंकि जीव पदार्थ ही भूतार्थ हो सकता है ?" इसके बाद सामायिक का समय आ जाने से महाराज उठ गए। प्रश्न का उत्तर नहीं हुआ।" महाराज ने कहा "सामयिक के समय मन स्थिर रहता है। उस समय हम विचार करते हैं। सामायिक के बाद हमने पूर्वापर प्रसंग की गाथाएं देखीं, फिर कहा-"अज्ञानी किसान को भी सम्यक्त्व खोजना है उसे सम्यक्त्व कहां मिलेगा ? जीव में मिलेगा, यही उत्तर होगा। पुनः प्रश्न होगा, जीव कहां मिलेगा ? इसका उत्तर होगा कि जीव नव पदार्थों में मिलेगा। जीव का संबंध आस्त्रव, बंध, संवर आदि के साथ है। जीव इकाई के समान है शेष सब उसके साथ शून्य के समान हैं। इससे समयसार की गाथा प्रक्षिप्त नहीं हो सकती है।"

महाराज ने एक उदाहरण दिया था-"ज्वारी के ढ़ेर में किसी का मोती गिर गया। वह ज्वार के समस्त दानों को देखता है। उनमें से मोती प्राप्त हो जाने पर वह उन ज्वार के दानों को फिर नहीं देखता है। इसी प्रकार जीव का आत्मा आस्त्रवादि में खो गया है। वह गुणस्थान, मार्गणा स्थानों में खोजता फिरता है। उस आत्मरत्न के प्राप्त होते ही, वह खोज को बंद करके स्वरूप का रसपान करता है।"

महाराज के इस विवेचन को सुनकर कानजी चुप हो गए। इस प्रबल तर्क के विरुद्ध क्या कहा जा सकता था ? उस समय स्व. आचार्य धर्मसागरजी भी विद्यमान थे। ब्र. जिनदासजी समडोलीकर भी थे। उन्होंने उक्त बात का समर्थन किया था। महाराज सोनगढ़ में नहीं ठहरे थे।

व्यवहार निश्चय का सुन्दर समन्वय

अनेक विद्वान् बंधुओं ने पूज्यश्री की सेवा में निवेदन किया कि लोग निश्चय तप के

---

१. भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण पावं च।
आसव-संवर-णिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥ १३ ॥

नाम पर व्यवहार धर्म को छोड़ते जा रहे हैं, सो यथार्थ में ठीक मार्ग क्या है ?

महाराज बोले कि व्यवहार फूल के सदृश है। वृक्ष में सर्वप्रथम फूल आता है। बाद में उसी पुष्प के भीतर फल अंकुरित होता है और जैसे-जैसे फल बढ़ता जाता है, वैसे वैसे फूल संकुचित होता जाता है, और जब फल पूर्णवृद्धि को प्राप्त हो जाता है, तब पुष्प स्वयं पृथक् हो जाता है। इसी प्रकार प्रारम्भ में व्यवहार धर्म होता है, उसमें निश्चयधर्म का फल निहित रहता है। धीरे-धीरे जैसे निश्चय तप रूपी फल बढ़ता जाता है, वैसे वैसे व्यवहार तप रूपी पुष्प स्वयं संकुचित होता जाता है, अन्त में निश्चय की पूर्णता होने पर व्यवहार स्वयं दूर हो जाता है।

आचार्य महाराज ने जो व्यवहार को पुष्प और निश्चय को फूल के रूप में समझाया, वह बड़ा सुन्दर कथन है। निश्चय की वृद्धि होने पर व्यवहार स्वयं कम होते होते घट जाता है, छोड़ा नहीं जाता है।

मर्म की बात

अवलंबन लेने के लिये आगम कथित रूप-भेद, भक्ति आदि व्यवहारनय के विषय हैं। देवशास्त्र आदि का आश्रय-रहित हो निर्विकल्प आत्मध्यान में समर्थ महर्षि निश्चयदृष्टि के स्वामी बनते हैं। गृहस्थ के वह नहीं होती हैं।

महाराज ने कहा-"द्रव्यानुयोग मार्ग का निश्चय कराता है। चरणानुयोग पांव सदृश है। मार्ग का निश्चय करके यदि पांव न हिलाए जाएँ, तो लक्ष्य पर कौन पहुंच सकता है?"

क्या जमान खराब है ?

एक दिन महाराज के सामने यह चर्चा चली कि आज का जमाना खराब है, शिथिलाचार का युग है। पुराना रंग ढंग बदल गया, अतः महाराज को भी अपना उपदेश नए ढंग का देना चाहिए।

महाराज बोले-"कौन कहता है जमाना खराब है। तुम्हारी बुद्धि खराब है, जो तुम जमाने को खराब कहते हो। जमाना तो बराबर है। सूर्य पूर्व में उदित होता था, पश्चिम में अस्त होता था, वही बात आज भी है। अग्नि उष्ण थी, जो आज भी उष्ण है। जल शीतल था, सो आज भी शीतल है। पुत्र की उत्पत्ति स्त्री से होती थी, आज भी वही बात है। गाय से बछड़ा पहले होता था, यही नियम आज भी है। इन प्राकृतिक नियमों में कोई भी अन्तर नहीं पड़ा है, इससे अब जमाना बदल गया है, यह कहना ठीक नहीं है। जमाना बराबर है। बुद्धि में भ्रष्टपना आ गया है। अतः उसे दूर करने को/स्वच्छ करने को, पापाचार के त्याग का उपदेश देना आवश्यक है।"

कितना मार्मिक उत्तर है यह। ऐसे ही मार्मिक उत्तर कठिन से कठिन, जटिल से जटिल

प्रश्न के समाधान में पूज्यश्री के द्वारा प्राप्त होते हैं।

इतना होते हुए भी महाराज विवेक के प्रकाश में अपने नियमोपनियमों को ऐसा रखते थे, जिससे लोगों को कष्ट भी न हो तथा उनके सिद्धांत का व्याघात भी न हो।

वृत्ति परिसंख्यान तप के अनुभव

एक बार की बात है। महाराज वृत्तिपरिसंख्यान तप में बड़ी कठिन प्रतिज्ञाएं लेते थे, और उनके पुण्योदय से प्रतिज्ञा की पूर्ति होती थी। एक दिन महाराज ने प्रतिज्ञा की थी कि आहार के लिए जाते समय यदि तत्काल प्रसूत बछड़े के साथ गाय मिलेगी तो आहर लेंगे। यह प्रतिज्ञा उन्होंने अपने मन के भीतर ही की थी और किसी को भी इसका पता नहीं था। अन्तराय का उदय नहीं होने से ऐसा योग तत्काल मिल गया और महाराज का आहार निरंतराय हो गया।

लगभग सन् १९३० के शीतकाल में आचार्यश्री ग्वालियर पहुँचे। जोरदार ठंड पड़ रही थी। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि गीले वस्त्र पहिन कर यदि कोई पड़गाहेगा तो आहार लेंगे, अन्यथा नहीं। लश्कर में अनेक गुरुभक्त द्वारापेक्षण को खड़े थे। कहीं भी योग न मिला। महाराज ने घरों के सामने से दो बार गमन किया। लोगों ने निराश होकर सोचा, आज योग नहीं है। लोगों के वस्त्र अन्यों के स्पर्श से अशुद्ध हो गये। एकदम महाराज तीसरी बार लौट पड़े। एक श्रावक ने तत्काल पानी डालकर वस्त्र गीले किये और पड़गाहा। विधि मिल जाने से उनका आहार हो गया।

एक समय उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि कोई थाली में जवाहरात रखकर पड़गाहेगा, तो आहार लेंगे, अन्यथा उपवास करेंगे। यह घटना कोल्हापुर की थी। उस दिन वहाँ के नगर सेठ के मन में थाली में बहुमूल्य जेवर-जवाहरात रखकर पड़गाहने की इच्छा हुई। अतः यह योग मिल गया। दातार सेठ को उत्तम पात्र को आहार दान देने का योग मिला इस प्रसन्नतावश और आहार निरन्तराय हो जाय इस चिन्तावश सेठजी को यह ध्यान नहीं रहा कि मैं बहुमूल्य आभूषणों आदि को उठाकर भीतर रख दूं। वे बाहर के बाहर ही रह गए ज्यों ही महाराज का आहार प्रारंभ हुआ कि सेठजी को अपनी बहुमूल्य सामग्री का स्मरण हो गया। उस समय उनकी मानसिक स्थित अद्‌भुत थी। यहाँ उत्तम पात्र की सेवा का श्रेष्ठ सौभाग्य था और वहाँ हजारों का धन जाने की आशंका हृदय को व्यथित कर रही थी। आचार्य महाराज की दृष्टि में ये सब बातें पहले से ही थीं। उस समय सेठजी की मनोव्यथा देखकर महाराज के मन में दया का जागरण हुआ। अतः भविष्य में उन्होंने ऐसी प्रतिज्ञा न करने का निश्चय किया। आहार के बाद ही सेठजी बाहर आए, तो वहाँ आभूषणों की थाली नहीं थी। इस बीच में क्या हुआ था, जो उपाध्याय वहां आया था उसकी दृष्टि सौभाग्य से आभूषणों पर पड़ गई थी, अतः उसने अपने विवेक की प्रेरणा

से उस सामग्री को पहले ही सुरक्षित स्थान पर रख दिया था, इससे कुछ भी क्षति नहीं हुई।

गुरुदेव के अन्तःकरण में दूसरे के दुःख में यथार्थ अनुकम्पा का उदय होता था। एक दिन वे कहने लगे- "लोगों की असंयमपूर्ण वृत्ति को देखकर हमारे मन में बड़ी दया आती है, इसी कारण हम उनको व्रतादि के लिए प्रेरणा देते हैं। जहां जिस प्रकार के सदाचरण की आवश्यकता होती है, उसका प्रचार करने की ओर उनका ध्यान जाता है। बेलगांव, कोल्हापुर आदि की ओर जैन भाई ग्रहीत मिथ्यात्व के फेर में थे, अतः महाराज उस घर में ही आहार लेते थे, जो मिथ्यात्व का त्याग करता था। उनकी इस प्रतिज्ञा के भीतर आगम के साथ सुसंगति थी। मिथ्यात्व की आराधना करने वाला मिथ्यात्वी होगा। मिथ्यात्वी के यहां का आहार साधु को ग्रहण करना योग्य नहीं है। उसके श्रद्धादिगुणों का सद्भाव भी नहीं होगा।

उत्तर प्रांत में शिथिलाचार सुधारने हेतु प्रतिज्ञा

अब संयम का सूर्य दक्षिणायन के बदले उत्तरायण होने जा रहा था। उत्तर की ओर जो खान पान में शिथिलता थी, उसका सुधार किया जाना जरूरी था। प्रायःप्रत्येक घर में पानी भरने का कार्य जो व्यक्ति करता है, वह मांसभोजी रहा करता था। उसके घर में और भी अशुद्धताएं हो जाया करती हैं, जिनका उसे अपने हीनकुल के कारण ध्यान नहीं होता है। जैसे चमार के हाथ का पानी पीने वाला ऐसा पानी नहीं प्राप्त कर सकेगा, जिसका चमड़े से सम्बंध न हो। मूल बात इतनी है, हीन आचरण और हीन संस्कार वाले वर्ग के हाथ का जल यदि भोजनालय में आता है और उससे आहार बनता है तो वैसा अशुद्ध जल निर्मित आहार महाव्रती साधु की श्रेष्ठ अहिंसा की साधना के अनुकूल कैसे होगा, यह बात दूर तक सोचकर महाराज ने आगे यह प्रतिज्ञा की थी कि जो शूद्र-जल का त्यागी होगा, उस जैनी के ही हाथ का आहार लेंगे।

शुद्रजल त्याग के नियम का महत्व

कोई-कोई यह सोचते हैं कि उदारचेत्ता साधु को जहां भी योग्य भोजन मिला उसे लेने में आना-कानी नहीं करना चाहिये। यह विचार महाव्रती की श्रेष्ठ वृत्ति के प्रतिकूल है। इस नियम के द्वारा जिनवाणी को प्राण मानने वाले जिनेन्द्र की भक्तियुक्त व्यक्ति के द्वारा ही शुद्ध रीति से जल-गालन, निर्दोष आहार बनाना आदि का कार्य बनेगा, उसमें ही दाता के सात गुण होंगे, वही नवधाभक्ति कर सकेगा। दूसरा आदमी अपनी भिन्न धार्मिक श्रद्धा तथा आचरण के कारण दाता के गुण से हीन होगा। कदाचित् तर्क के लिये नियमों की लम्बी सूची के द्वारा ऐसी व्याख्या बना भी दें, जिससे शुद्र का नाम न लेना पड़े, तो भी कार्य नहीं बनता, कारण सर्वसाधारण में जो प्रचलित अर्थ शुद्र शब्द से ज्ञात होता है, वह उस

लम्बी सूची के द्वारा सिद्ध नहीं होता। गृहस्थ यदि स्वयं अशुद्ध आहार करे और साधु को लक्ष्य करके ही शुद्ध बनावे, तो वह भी योग्य नहीं है। अमृतचंद्रसूरि ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १७४ में लिखा है कि **"कृतमात्मार्थां मुनये ददाति"** श्रावक अपने लिए बनाये गये आहार को मुनिराज को दान करता है, अतः गृहस्थ को शुद्धाहार का भोजी होना आवश्यक है। आहार में सर्वज्ञ व्यापक तत्त्व के रूप में जल ही पाया जाता है, जल का नियम होने से अनेक प्रकार के अशुद्ध पदार्थों के सेवन का संबंध अनायास टूट जाता है। ऐसे अनेक कारण थे, जिन पर गहरा मनन चिंतनकर महाराज ने उत्तर की ओर विहार करते समय शूद्र-जल-त्याग की प्रतिज्ञा दातार के लिए आवश्यक नियम कर दिया।

इसी प्रकार सुसंस्कारों के प्रचारार्थ यज्ञोपवीत ग्रहण को भी आवश्यक बताया।

आचार्यश्री की प्रतिज्ञा को प्रमादी, स्वच्छन्दता प्रेमी, विषयासक्त दोषदृष्टि से देखा करता है, किन्तु सज्जन पुरुष इसे महान् योगी की कल्याणमयी मंगल-साधना सोचा करते थे और तदनुकूल प्रवृत्ति करके स्वहित साधन करते थे।

आचार्यश्री का प्राण आगम है। आगम तीर्थंकर भगवान की वाणी है। तीर्थंकर भगवान सर्वज्ञ होने पर ही धर्म की देशना करते हैं। उनके निर्दोष आगम के अनुसार आचार्यश्री ने नियमादि का प्रचार किया। किन्तु आज भी विषय लोलुपी राष्ट्रीय पद्धति के भक्तों की समझ में आचार्यश्री का उपर्युक्त नियम नहीं आयेगा व वे यही सोचेंगे कि यह आचरण आचार्यश्री के महान् औदार्य के अनुरूप नहीं है, इसमें तो शूद्रों के प्रति विद्वेष व्यक्त होता है। यह भ्रम है, अतः शूद्रों के उद्धार के विषय में पूज्यश्री के विचारों की चर्चा कर देना उचित जंचता है, जिससे पता लगेगा कि शूद्रों का सच्चा हितचिंतक तथा उद्धार करने वाला कौन है ?

हरिजनों पर प्रेम दृष्टि

एक बार महाराज से पूछा- "महाराज हरिजनों के उद्धार के विषय में आपका क्या विचार है ?"

महाराज कहने लगे- "हमें हरिजनों को देखकर बहुत दया आती है। हमारा उन बेचारों पर रंचमात्र भी द्वेष नहीं है। गरीबी के कारण वे बेचारे अपार कष्ट भोगते हैं। हम उनका तिरस्कार नहीं करते हैं। हमारा तो कहना यह है कि उन दीनों का आर्थिक कष्ट दूर करो, भूखों को रोटी दो, हेयोपादेय का बोध करवाओ। तुमने उनके साथ भोजन-पान कर लिया, तो इससे उन बेचारों का कष्ट कैसे दूर हो गया ? उन्होंने कहा- "भंगी आदि सब हमारे भाई हैं। सब पर दया करना जैनधर्म का मूल सिद्धांत है। अन्यमती सभी साधु भी हमारे भाई हैं। हम पूर्व में कई भव नीच पर्याय को धारण कर चुके हैं। हरिजनों के प्रति हमारा द्वेष-भाव नहीं है।"

उन्होंने कहा-"तुम कई मंजिलोंवाले भवनों में रहो और वे झोपड़ी में पड़े रहें। वे आवश्यक अन्नवस्त्र भी न पा सकें। इसकी फिकर न करके तुम उनके साथ खाने को कहते हो। साथ में खाने से आत्मा का उद्धार नहीं होता है। जीवन का उद्धार होता है पाप का त्याग करने से। उनको शराब, मांस, मधु सेवन का त्याग कराओ। निरपराधी जीव की हिंसा का त्याग कराओ। उनकी गरीबी का कष्ट दूर करो। प्रत्येक गरीब को उचित भूमि दो, इसके साथ शर्त हो कि वह मद्य, माँस, शिकार का त्याग करे तथा निरपराध जीवों का वध न करे। उसका जीवन ऊंचा उठाओ ।

शूद्रों का सच्चा उद्धार

महाराज ने यह भी कहा- "बेचारे शूद्रों तथा गरीबों का उद्धार राजसत्ता कर सकती है। वह हमसे पूछे तो हम उनके उद्धार का सच्चा मार्ग बतावें।" महाराज ने जयपुर में जब चातुर्मास किया था, उस समय अस्पृश्योद्धासार के नाम पर बड़े-बड़े लोगों ने मेहतरों के यहां का मैला एक दिन साफ किया था, उस समय जयपुर का एक चतुर मेहतर कह रहा था- "महाराज ये लोग हमें कुछ लेते देते नहीं हैं और अब हमारी रोजी छीनने को भी तैयार हो रहे हैं। यदि इन्होंने हमारा काम शुरु कर दिया, तो हमारा जीवन कठिन हो जायेगा।"

महाराज ने कहा- "जब हम निरन्तर एकेन्द्रिय जीवों तक का रक्षण करते हैं, तब बेचारे पंचेन्द्रिय मानव पर्यायवाले गरीब भाइयों के हित का ध्यान हमारे मन में स्वयं सदा आता है। उनका सच्चा उद्धार उनको सदाचार पथ में लगाने में और उनको भूमि देकर अजीविका की व्यवस्था करने में है।"

उद्धार का भाव जीवन को पवित्र बनाना

पूज्यश्री ने अपने उपदेश द्वारा अनेक हरिजनों का सच्चा उद्धार किया है। पाप प्रवृत्तियों का त्याग ही आत्मा को ऊंचा उठाता है। महाराज के प्रति भक्ति करने वाले बहुत से चरित्रवान हरिजन मिलेंगे। उन्होंने अपनी करुणा वृत्ति द्वारा सभी दीन दुःखी जीवों को सत्पथ पर लगाया है। लगभग आठ वर्ष पूर्व हमें शेडवाल (रत्नत्रयपुरी) में आचार्य महाराज का व्रतधारक शूद्र शिष्य मिला था। उसने मद्य मांस आदि का त्याग कर अष्टमूलगुण रूप व्रत लिये थे। वह रात्रि भोजन नहीं करता था, यद्यपि आजकल बड़े-बड़े धार्मिक परिवार के लोग लक्ष्मी के मद में आकर इस जैन कुल परम्परागत प्रसिद्ध क्रिया को भूल गये है। उस हरिजन भाई का जीवन बड़ा सुन्दर था। वह कहता था कि मैं अष्टमी चतुर्दशी को व्रत करता हूँ। आज के हरिजन भक्त बनने वाले जैन भाई ऐसे मिलेंगे जिन्हें दूसरों को व्रत पालन करते देख कष्ट होता है। इतने महान अव्रती वे बन

गये हैं। हमें अनेक धनी मानी परिवारों के व्यक्तियों का निकट जीवन देखने का मौका मिला है, जो समाज सेवा और लोक के अहंकार का मुकुट मस्तक पर बांधे हुए आनन्दित होते हैं। किन्तु प्राथमिक स्थिति वाले जैन के लिए कुल परम्परागत क्रिया ये उनमें विलुप्त होती जा रही हैं। ऐसे पतित आचरण के लोग इस हरिजन भाई के जीवन को अपना गुरु बनावें तो कल्याण हो।

सन् १९६५ में कलकत्ते के प्रसिद्ध बेलगछिया के मंदिर में एक जिनेन्द्र भक्त मद्य-मांस त्यागी हरिजन मिला था । सन् १९६९ में १०८ आचार्य देशभूषण महाराज की जन्मभूमि कोथली तालुका चिकोड़ी में एक सुशिक्षित हरिजन मिला, जो उनके तथा स्व. आ. पायसागरजी के उपदेश से प्रगाढ़ अहिंसाप्रेमी बना। क्षय रोग की अंतिम अवस्था में भी उसने मांस-मदिरा युक्त इंजेक्शनों को नहीं लिया। उसने हमें कहा था, "जगदम्बा ! अहिंसा और णमोकार मंत्र के कारण मेरा क्षय रोग दूर हो गया ।"

सहभोज आदि से आत्मा का उत्थान मानना भ्रम है

जिन्होंने साथ खाने पीने तथा वैवाहिक संबंध द्वारा आत्मा का उद्धार माना है, उनकी आत्मा पुद्गल के पंक में आकंठ निमग्न प्रतीत होती है, कारण आचार्य अमृतचंद ने तत्त्व को निवृत्ति रूप बताया है। भोग और विषय सेवन से आत्मा का उद्धार मानते वे जीव नरक-निगोद आदि में अनंत काल पर्यंत कष्ट पाया करते हैं। वह हरिजन भाई यद्यपि अब स्वर्गवासी हो गया है। किन्तु उसका कथन आज भी प्रकाश देता है। वह कहता था- "आचार्य महाराज ने मेरा सच्चा उद्वार कर दिया मेरी आत्मा बहुत सुखी है, मेरा उद्धार गुरु महाराज ने व्रत देकर कर दिया। उनके उपकार को मैं जन्म जन्मांतर में भी नहीं भूलूंगा। मेरी यह जरा भी लालसा नहीं है कि मैं बड़े लोगों के साथ भोजन करूं या वे मेरे साथ भोजन करें, इससे आत्मा का उद्धार क्या होगा ?"

यथार्थ में आचार्यश्री का शरीर जिस तरह दिगम्बर है और उस पर कोई आवरण या आडंबर नहीं है, इसी प्रकार उनकी प्रवृत्ति और उपदेश में पाखंड, दंभ या प्रदर्शन पटुता नहीं है। उनके कार्यों में घृणा या दुर्भाव की कल्पना अज्ञान की बात है। वे सत्य और अहिंसा समर्थित आगमानुकूल कार्य करने में जनता के मत से प्रभावित नहीं होते थे। सच्चा नेता तो वही होता है जो बीमार जनता की कुरुचि की उपेक्षा कर उसे स्वस्थ बनाने वाली उपदेश रूपी औषधि देने में भय नहीं खाता। श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि सच्चा नेता जनता की रूचि न देख, उसको कल्याण के पथ में लगाने में भय नहीं खाता है, जनकल्याण उसका ध्येय रहा करता है।

धर्मनेता महाराज ने जहाँ दक्षिण के लोगों में कुदेवों (अन्यमतियों के आराध्य शासन देवों) की भक्ति रूपी रोग को देख, उसके त्याग रूपी औषधिदान द्वारा उनकी श्रद्धा निर्मल

की थी, वहीं उत्तर के लोगों में शुद्ध आहार पाने में शिथिलता की वृद्धि देख उन्होंने शुद्रजल त्याग करने वालों के हाथ का जल पीने की प्रतिज्ञा लेने वाले के हाथ से आहार लेने का नियम रखा था। इस कार्य में जिन शूद्रभक्त लोगों को कटुता और दुर्भावना का सद्भाव दिखता था उनका भ्रम निवारण आचार्य श्री की वर्तमान प्रवृत्ति से हो जाना चाहिये। आजकल ब्राह्मणों तक में मांस और सुरापान का प्रचार होते देख उन्होंने यह नियम लिया था कि वे जिन भगवान की आराधना करने वाले के हाथ का जल ग्रहण करने वाले से ही आहार लेंगे। जब वे श्रेष्ठ योगी हैं, विचारक हैं, तो ऐसों के हाथ से दी गई भोज्य-सामग्री क्यों लेंगे, जो उनकी निर्मलता को क्षति प्रदान करे ! उनका लक्ष्य आत्मा को परिशुद्ध बनाना है।

स्वावलंबी जीवन की प्रेरणा

उनके इस नियम से स्वावलंबी जीवन को बहुत प्रेरणा मिली थी। बड़े से बड़े परिवार के नरनारी अपने हाथ से भरकर पानी लाने में लज्जित नहीं होते थे। झूठी प्रतिष्ठा के नाम पर परावलंबन की प्रवृत्ति को बदलकर स्वावलंबन की उज्वल शिक्षा प्रदान की थी।

जापानी का अनुभव

इस प्रसंग में एक जापानी बंधु की बात लिखना उपयोगी प्रतीत होता है। एक भारतीय बाबू के यहाँ बर्तन मांजने वाला नौकर नहीं आया था, इससे वे बड़े पेरशान से दिख रहे थे। इतने में पड़ोस के जापानी सज्जन उस बाबू के यहां आये और अपने हाथ से उसके बर्तन माँजकर कहने लगे, "आपके लिये स्वावलंबन को भूल, सेवक का आश्रय लेना अमंगल रूप है।"

उसने यह भी कहा-"महाशय ! चोरी दुराचरण आदि बुरे कामों के करने में संकोच होना चाहिए। अपने हाथ से अपना काम करने में संकोच करना बड़ी भारी भूल है। तुम्हारी यह बुरी नियत रहती है कि कोई हतभाग्य मिल जाय जो तुम्हारी सेवा करे। दूसरों को दास देखने वाला स्वार्थी स्वयं दासतापूर्ण जीवन बिताता है।" अब्रहमलिंकन ने यह कहा था "मैं दास नहीं बनना चाहता इसलिए, मैं स्वामी भी नहीं बनूंगा।"[1] इस दृष्टि से आचार्यश्री की प्रतिज्ञा विवेकी वर्ग के समक्ष शरदचंद्र के समान चमकती है। विपरीत दृष्टि तो उसे सदोष ही कहेगा।

संयम तथा जिनेन्द्र भक्ति द्वारा अपूर्व दृष्टि लाभ

कोई-कोई अपने को सर्व-विद्या पारंगत मान कहते हैं, "महाराज को ऐसी लोकोत्तर बातें कहाँ सूझती हैं, शास्त्र में ऐसी पद्धति नहीं देखने में आती है ?"

---

1. As I would not be a slave, so I would not be a master, who ever differs from this to the extent of difference is no democract.

- RadhaKrishnan : 'Religion and society' P. 89

इस संदेह का सामाधान कठिन नहीं है। विचित्र शक्तियों का विकास जिनेन्द्र भक्ति और संयम साधना के द्वारा हुआ करता है। संयमी जीवन के प्रशान्त क्षणों में बड़े महत्व की बातें निर्मल आत्मा में स्वयं प्रकाशित होती हैं, जिन्हें बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ नहीं जानते। दर्पण सदृश स्वच्छ हृदय में तत्त्व का स्वयंमेव प्रतिबिम्ब दिखा करता है। यह अपूर्वता जघन्य आत्माओं में नहीं पाई जाती है।

गांधीजी का अनुभव

भारतीय जीवन में जादूगर के समान जागृति कराने वाले गान्धीजी का यह अनुभव महत्व पूर्ण है, "मैंने अपने जीवन में जो भी अद्भुत कार्य किए हैं, वे तर्क से प्रेरित होकर नहीं किए है, किन्तु निसर्ग प्रवृत्ति (instinct) से हुए हैं। सन् १९३० की डांडी की नमक यात्रा को ही लीजिए। मुझे इस बात की तनिक भी शंका नहीं थी कि नमक कानून को भंग करने से वह किस प्रकार समाप्त हो जायगा। पं. मोतीलाल नेहरू तथा अन्य मित्र घबड़ा रहे थे और वे यह नहीं जानते थे कि मैं आगे क्या करूंगा। मैं भी उनको कुछ नहीं कह सकता था, कारण मुझे भी इस बात का पता न था। किन्तु प्रकाश के सदृश वह विचार आया और तुम्हें मालूम है कि वह सारे देश को एक छोर से दूसरे छोर तक हिला देने में पर्याप्त था।"[1]

महान् तपश्चर्या द्वारा जब अनादि के कर्मों का ध्वंस होकर आत्मा के अनंतगुण अभिव्यक्त हो जाते हैं, तब विशेष पदार्थों का बोध हो जाना कैसे आश्चर्यप्रद होगा ? सांख्य दर्शन में सात्विक गुण को प्रकाशक कहा है- "सत्वं लघु प्रकाशकम्"।

अहिंसा पूर्ण निर्दोष और श्रेष्ठ तपश्चर्या के क्षेत्र में आचार्यश्री का अप्रतिम स्थान है। कठिन से कठिन स्थिति में धैर्य को धारण करते हुए आत्मत्व के प्रकाश द्वारा जीवन को संस्कृत बनाना उनकी विशेषता है।

जयपुर में भयंकर संकट आने पर भी मेरुवत स्थिरता

जयपुर में खानियों की नशियां में पूज्यश्री ने निवास किया था। एक दिन नशिया के द्वार को किसी भाई ने भूल से बन्द कर दिया, पवन पर्याप्त मांत्रा में नहीं पहुंचने से

1. "Whatever striking thing I have done in life, I have not done prompted by reason, but by instinct. Take the Dandi salt march of 1930, I had not the ghost of asuspicion how the breach of the salt law would work itself out, Pandit Motilal and other friends were fretting and did not know what I would do, and I told them nothing as I myself knew nothing about it. But like a flash it came and as you know it was enough to shake the country from one end to another."

- L.Fischer : 'Mahatma Gandhi' P. 329

महाराज को दम घुटने से मूर्छा आ गई। उसके पूर्व में चिल्लाकर दरवाजा खुलवा लेना या बाहर जाने के लिए हो हल्ला करना उनकी आत्मनिष्ठा पूर्ण पद्धति के प्रतिकूल थी। अतः भीषण परिस्थिति आने पर प्रतीकार के स्थान में वे आत्म शक्तियों को केन्द्रित करके विपत्तियों का स्वागत करने में संलग्न हो जाते थे। उनके आध्यात्मिक कोष में विपत्तियों के प्रति नकार रूप शब्द का अभाव था। कुछ काल के पश्चात् जब द्वार खोला गया तब महाराज मूर्छा की स्थिति में पाए गये। ऐसी ही स्थिति समडोली ग्राम में भी हुई थी। ऐसी भीषणतम् स्थिति में उनमें घबड़ाहट का लेश मात्र भी नहीं था। उनमें मेरुवत स्थिरता थी।

व्यथा को बिना मानसिक क्लेश के सहन किया

एक बार ज्येष्ठ की भीषण उष्णता के समय मध्याह्न की सामायिक के पश्चात् महाराज बड़वानी की ओर डामर की सड़क पर लगभग २०० मील पैदल गए थे। पृथ्वी साक्षात् अग्नि स्वरूप प्रतीत होती थी। उस समय वे यही सोचते थे कि कर्मों के संताप की अपेक्षा यह ताप कुछ भी नहीं है। अतः उसकी उपेक्षा करते हुए ये वासनाओं के विजेता आध्यात्मिक वीर शिरोमणि आगे बढ़ते जा रहे थे। इस उष्णता ने उनके चिर नीरोग शरीर के पीछे नेत्रों में व्याधि उत्पन्न कर दी। किन्तु नेत्रों की व्याधि के स्थान में आत्मा में लगी हुई कर्मों की व्याधि का उन्हें विशेष ध्यान था और इसलिए आत्मा की नीरोगिता के हेतु वे जिनवाणी का रसायन सेवन करते थे और आत्मा के पोषण को सतत तत्पर रहते थे। वे किसी भी मूल्य पर आत्मा को निर्बल नहीं बनाना चाहते थे। आत्मा का पोषण होता है तो वे मृत्यु को परम उपकारी बंधु मानते थे। उनकी प्रिय वस्तु वही है, जो आत्मा की शक्ति का संवर्धन कर उसे नीरोगिता प्रदान करती है। इसी दृष्टि की प्रधानता वश उन्होंने उत्तर प्रांत के विहार में भयंकर शीत तथा उष्णता की व्यथा को बिना मानसिक क्लेश के सहन किया था। वे परिषह विजेता महात्मा थे।

परम आध्यात्मिक आत्मदर्शी मुनीन्द्र

प्रतापगढ़ में महाराज का चातुर्मास था। उनके शरीर में चर्मरोग हो गया था। "शरीर व्याधि मंदिरम्," उसमें रोगों के आने का कोई समय या मुहूर्त नहीं है। एक गुरुभक्त ने वाष्प (Steam) के प्रयोग द्वारा चिकित्सा की। वाष्प का वेग मस्तक को स्पर्श कर गया, तत्काल वे मूर्छित हो गए। दृष्टि फिर गई। जिह्वा बाहर निकल आई। सब लोग घबड़ा गए। कुछ समय बाद चैतन्य आया, किन्तु महाराज के मुख से कराहना, व्यथा या पीड़ा का सूचक कोई भी शब्द नहीं निकला था। उनकी भेद विज्ञान तथा वैराग्य की धारा इतनी सच्ची और सप्राण थी कि वे सोते, जागते, मूर्छित अवस्था में भी शरीर के प्रति ममता नहीं दिखाते थे। वे सच्चे परम आध्यात्मिक आत्मदर्शी मुनीन्द्र थे।

इस प्रकार अपनी अद्वितीय आत्मनिष्ठा और महाव्रत की श्रेष्ठ समाराधना के फलस्वरूप उनका अद्‌भुत विकास हो रहा था। सर्वत्र उनका सुयश फैल रहा था। अन्य लोग उनके दर्शन के लिए सर्वत्र लालायित हो रहे थे। यह दर्शन राजनीति के नेताओं का दर्शन नहीं था। यह तरन-तारन श्री गुरु की मनोयोग तथा भक्ति पूर्वक वंदना थी। राज परिवार के व्यक्तियों का देखना, बड़े-बड़े लोकसेवकों के स्वागतार्थ लाखों व्यक्तियों के देखने को जाने में और आत्मशांति के लिए शांतिसागर महाराज के पास दर्शनार्थ जाने में बड़ा अन्तर है। यहां दर्शन का भाव चिंतामणि तुल्य विभूति का दर्शन कर आत्मा को अक्षय सुख के पथ में लगाना है।

आचार्यश्री का संघ बढ़ता हुआ अतिशय क्षेत्र दहीगांव तथा नाते-पुते होते हुए फलटण पहुंचा। उन्होंने वहां के भव्य जिनालयों का दर्शन किया। फलटण के राजा साहब ने आकर महाराज का दर्शन करके अपने को कृतार्थ माना। धर्म की अच्छी प्रभावना हुई।

कुम्भोज चातुर्मास

इसके अनंतर संघ का शुभागमन अतिशय क्षेत्र बड़गांव की तरफ हुआ। वहाँ से चलकर संघ बारामती पहुंचा। उस समय वहां पंचकल्याणक महोत्सव था। आचार्यश्री के अलौकिक पुण्य से वह महोत्सव चिरस्मरणीय हो गया। पश्चात् कोल्हापुर सांगली की तरफ विहार करते हुए महाराज बाहुबलि कुम्भोज पहुंचे। वहां ही उन्होंने सन् १९२७ का अपना वर्षायोग व्यतीत किया। बहुसंख्यक श्रावक, श्राविकाओं ने गुरुदर्शन का लाभ ले पुण्योपार्जन किया। अनेक व्यक्तियों ने प्रतिमा स्वरूप अनेक व्रत ग्रहण किए थे। आचार्यश्री ने व्रतदान द्वारा अनेक जीवों का उद्धार किया था।

****

चारित्र-चक्रवर्ती का अंतःकरण

मैंने (लेखक ने)देखा है कि जिनबिम्ब, जिनागम तथा धर्मायतनों की हानि होने पर उनके (आचार्य श्री के) धर्ममय अंतःकरण को आघात पहुँचता था, किन्तु वे वैराग्यभावना के द्वारा अपनी शांति को सदा अक्षुण्ण रखते थे।

-समता एवं सजग वैराग्य, पृष्ठ ९८

पूत के पाँव पालने में.......

मैंने पूछा, "स्वामिन् संसार के उद्धार करने वाले महापुरुष जब माता के गर्भ में आते हैं, तब कुछ शुभ- शगुन कुटम्बियों आदि को दिखते हैं। माता को भी मंगल स्वप्न आदि का दर्शन होता है। आचार्य महाराज सदृश रत्नत्रय धारकों की चूड़ामणि रूप महान् विभूति का जन्म कोई साधारण घटना नहीं है। कुछ ना कुछ अपूर्व बात अवश्य हुई होगी ?" महापुराण में कहा है कि जब भरतेश्वर माता यशस्वती के गर्भ में आए थे, तब उस माता की इच्छा तलवाररूप दर्पण में मुख की शोभा देखने की होती थी।

उन्होंने कुछ काल तक चुप रहकर पश्चात् बताया, "उनके गर्भ में आने पर माता को दोहला हुआ था कि एक सहस्र दल वाले एकसौ आठ कमलों से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करूँ। इस समय पता लगाया गया की कहाँ ऐसे कमल मिलेंगे !कोल्हापुर के समीप के तालाब से वे कमल विशेष प्रबंध तथा व्यय द्वारा लाये गये और भगवान की बड़ी भक्ति पूर्वक पूजा की गई थी। उन्होंने कहा- "उस समय मेरी अवस्था लगभग १० वर्ष थी।" -पृष्ठ २५, लोक स्मृति, शुभ दोहला.

महाराज के गुरुदेव की अपार तपस्या

आचार्य महाराज के दीक्षागुरु श्री १०८ देवेन्द्रकीर्ति स्वामी[1] के विषय में पायसागर जी ने एक महत्व की बात सुनाई थी, जिससे इनके गुरुदेव की अद्भुत तपश्चर्या पर प्रकाश पड़ता है। उन्होंने कहा था, "एक दिन की बात है कि देवेन्द्र कीर्ति स्वामी गोकाक नगर से कोन्नूर आ रहे थे। रास्ते में सूर्य अस्त हो गया। दिगंबर मुनि रात्रि में विचरण नहीं करते, इसलिये मार्ग में ही रह गए। उनके साथ एगप्पपंडित भी था। उन्होंने अपने आसपास चारों ओर एक रेखा खींच ली और वे तथा साथ का पंडित उस वृत्त के भीतर हो गये।

सायंकालीन सामायिक होने के उपरांत एक भीषण व्याघ्र वहाँ आया व रेखांकित क्षेत्र के बाहर उसने भीषण गर्जना-तर्जना की और अपना विकराल रौद्र रूप दिखाया, किन्तु उन निर्भीक ऋषिराज पर उसका कोई असर नहीं हुआ। कुछ समय के बाद वह व्याघ्र वहाँ से चला गया।

इस घटना का समर्थन उक्त पंडित के नाती पंडित श्रीकांत ने भी किया था और कहा था कि मेरी माता भी यही बात बताती थी।" -पृष्ठ १०१, दिगम्बर दीक्षा.

---

१. देवेन्द्रकीर्ति जी १०५ वर्ष तक जीवित रहे। ये धारणा-पारणा अर्थात् एक उपवास तथा एक आहार करते थे। उनके अन्त तक दाँत नहीं टूटे थे। उन्होंने १६ वर्ष की अवस्था में मुनिपद धारण किया था। वे बाल ब्रह्मचारी थे।

तीर्थदिन

तीर्थाटन

शिखरजी की वंदना का विचार

इस अवसर पर बंबई के धर्मात्मा तथा उदीयमान पुण्यशाली सेठ पूनमचंद घासीलाल जी जौहरी के मन में आचार्य श्री शांतिसागर महाराज के संघ को पूर्ण वैभव के साथ सम्मेदशिखरजी की वंदनार्थ ले जाने की मंगल भावना उत्पन्न हुई। उन्होंने गुरूचरणों में आकर प्रार्थना की। आचार्यश्री ने संघ को शिखरजी जाने की स्वीकृति प्रदान कर दी। वैसे पहले भी महाराज की सेवा में शिखरजी चलने की प्रार्थना की गई थी, किन्तु प्रतीत होता है कि काललब्धि उस समय नहीं आई थी और यही पुण्य निश्चय की मंगल-बेला थी, इससे आचार्य महाराज की अनुज्ञा प्राप्त हो गई। यह निश्चय जिसे भी ज्ञात हुआ, उसे आनन्द और आश्चर्य दोनों प्राप्त हुए। आनंद होना तो स्वाभाविक है, कारण धार्मिक समुदाय शिखरजी के आध्यात्मिक महत्व को सदा से मानता चला आ रहा है क्योंकि वहां से सदा तीर्थंकरों ने निर्वाण प्राप्त किया है, तथा आगामी भी निर्वाण स्थल की महत्ता शिखरजी को ही प्राप्त होगी। यह तो हुंडावसर्पिणी काल का प्रभाव है जो चार तीर्थंकर दूसरे स्थान से मुक्त हुए। उनमें वृषभनाथ तीर्थंकर का कैलाश पर्वत से मोक्ष हुआ। जिनसेन स्वामी ने भगवान वृषभदेव को सहस्रनाम के महामुन्वादिशतम् पाठ में महादेव लिखा है :

महाध्यानपतिर्ध्याता महाधर्मा महाव्रता।
महाकर्मारिरात्मज्ञो महादेवो महेशिता ॥

हमें तो प्रतीत होता है, कैलाशवासी शंभू महादेव भगवान वृषभनाथ हैं। हिन्दू पुराणों को वैज्ञानिक तथा समन्वयशील दृष्टि से देखने वाले व्यक्ति उक्त कथन का समर्थन करेंगे। अंगदेशीय चंपापुरी से वासुपूज्य भगवान का मोक्ष हुआ। नेमिनाथ प्रभु ने गिरनार को अपना निर्वाण धाम बनाया। महावीर प्रभु ने पावापुरी को निर्वाण भूमि बनाया। शेष बीस तीर्थंकरों तथा अगणित मुनियों ने सम्मेदशिखर से मोक्ष को प्राप्त किया। निर्वाण क्षेत्र की पूजा में पढ़ते हैं :

बीसों सिद्ध भूमि जा ऊपर, शिखर सम्मेद महागिरि भू पर।
एक बार वंदै जो कोई, ताहि नरक पशुगति नहिं होई ॥

यहां कोई-कोई 'एक बार वंदै' के स्थान में 'भाव सहित वंदै' पाठ रखना ठीक सोचते हैं, किन्तु 'एक बार वंदै' पाठ में 'भाव सहित वंदै' का भाव विद्यमान है। 'वंदना' शब्द में पूज्यता की दृष्टि पाई जाती है। जैसे 'देखना' और 'दर्शन करना' शब्द में अन्तर है। दर्शन में

पिपासा को जगाया करती है। वहां जाकर विचारक आत्मा हृदय से यही कहेगा :

खुद को खुद ही में ढूंढ, खुद को तू दे निकाल।
फिर तू ही खुद कहेगा, खुदा हो गया हूँ मैं ।।

शिखरजी विहार की विज्ञप्ति

संपूर्ण बातों को विचार कर ही शांतिसागर महाराज ने शिखरजी की ओर संघ के साथ विहार की स्वीकृति दी थी। यह हर्षप्रद समाचार कार्तिक कृष्ण प्रतिपदा वीर संवत् २४५३, सन् १९२७ के दिन विज्ञप्ति रूप इन शब्दों में प्रकाश में आया :

संघ विहार (शिखरजी की यात्रा)

''संपूर्ण दि. जैन समाज को सुनाते हुए आनन्द होता है कि हम कार्तिक के आष्टाह्निक पर्व के समाप्त होते ही मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका समवेत चतुर्विधसंघ को चलाने वाले हैं। यह संघ कुंभोज (बाहुबली पहाड़) कोल्हापुर दक्षिण की तरफ से निकलेगा और शिखरजी की यात्रार्थ प्रयाण करेगा। श्री रत्नत्रयपूत परमशांत दशलाक्षणिकधर्म विभूषित १०८ श्री आचार्य शांतिसागर महाराज मुनि संघ सहित साथ में विहार करेंगे। इस संघ में तीन चार मुनि, तीन ऐलक व एक क्षुल्लक व करीब पांच छह ब्रह्मचारी तथा दो तीन आर्यिकाओं ने विहार करना निश्चय कर लिया है। इनके सिवाय और भी कुछ मुनि ब्रह्मचारी ऐलकों के इस मुनि संघ के साथ में निकलने का अंदाज है। चतुर्थकाल के मुनीश्वरों का जैसा कुछ स्वरूप था ठीक वैसा ही स्वरूप परमशांत आचार्य श्री १०८ शांतिसागर महाराज का है। आज पर्यन्त यह संघ दक्षिण में ही विहार करता था, परन्तु भव्यों के पुण्योदय से अब आगे इनका विहार उत्तर प्रांत में होगा। इस कारण सर्व ही समाज को धर्म का लाभ होगा। (१) यह संघ दक्षिण महाराष्ट्र से श्री शिखरजी पर्यन्त पैदल रास्ते से जायगा। (२) संघ के साथ आनेवाले धर्म बांधवों की सर्व प्रकार की व्यवस्था की जायगी। किसी को किसी प्रकार का कष्ट न हो ऐसी सावधानी रखी जायेगी। (३) संघ रक्षण के लिए पोलिस का इंतजाम साथ में किया गया है। (४) संघ के साथ में श्री जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा का समवशरण रहेगा। (५) संघ में धर्मोपदेश तथा धर्मचर्चा का योग रहे, इसलिए विद्वान पंडितों की योजना की गई है। (६) संघ में औषधि द्वारा रोग चिकित्सा का इंतजाम रहेगा। (७) संघ में भोजन सामान का इंतजाम रहेगा जिससे कि अतिथियों के योग्य शुद्ध सामान भी मिल सके। (८) संघ में जो जितने दिन पर्यन्त चाहेंगे, रह सकेंगे। जो पूरी यात्रा करना चाहेंगे, उनका खास इंतजाम किया जायगा। सर्व बांधवों को इस प्रकार से विशे ष लाभ होना समझकर ही ऐसा इंतजाम रक्खा गया है। गरीब बांधवों की भी सर्व प्रकार की तजवीज रहेगी। इसलिए सर्व बांधवों

को चाहिए कि वे इस मौके को जाने न दे। पुनः ऐसा लाभ न मिलेगा। संघ के साथ यात्रा करने वाले श्रावकों को धर्मोपदेश, सुपात्रदान, तीर्थवंदना, आदि अपूर्व लाभ होंगे। त्यागी ब्रह्मचारी जनों को विशेषता से सूचित किया जाता है कि वे संघ में आकर शामिल हों, जिससे संघ की शोभा बढ़े। इसी प्रकार विद्वानों को भी संघ के साथ शामिल होना चाहिए। यही हमारी प्रार्थना है।''

- समाज सेवक पूनमचन्द घासीलाल जौहरी,
जौहरी बाजार, बम्बई नं. २

यह समाचार महत्वपूर्ण तो था ही साथ में एक नवीन बात का द्योतक था। उत्तर की ओर दिगम्बर मुनि संघ का विहार कई पीढ़ी से लोगों के कर्ण गोचर नहीं हुआ था, अतएव ऐसी शंका उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं है कि स्वाधीन वृत्तिवाले मुनिराज का गृहस्थों के आश्रित संघ का बनकर चलने में उनकी स्वाधीनता की क्षति होगी अतः यह कार्य कैसे निर्दोष तथा उज्ज्वल समझा जायगा ?

इसका समाधान यह है कि मुनिराज अपने मूल गुणों का बराबर पालन करते जाएं यह मुख्य बात है, उसमें दोष नहीं आना चाहिए। संघ में सम्मिलित होकर साधर्मीवर्ग के साथ विहार करने में रत्नत्रयधर्म की वृद्धि होती है, जिनधर्म की प्रभावना होती है, सामुदायिक पवित्र शक्ति के द्वारा बहुत जीवों का हित होता है, अतः इसमें बाधा की कल्पना अयोग्य है। श्रावकों के अधीन मुनिराज की प्रवृत्ति नहीं है। मुनिराज के सुभीते को देखकर ही भक्त, संघव्यवस्थापक सेवक के रूप में कार्य करते हैं। स्वामी के रूप में मुनिराज शोभित होते हैं। धर्मात्मा श्रावक तो स्वयं को उनके चरणों का दासानुदास सोचता है। जो गृहस्थ अपने को स्वामी समझकर अधिकार दिखाने का प्रयत्न करे, वह विचारवान श्रावक नहीं कहा जा सकता है। संघ संचालक गुरुचरणों का सेवक बनने में कृतार्थता मानता है।

तीर्थयात्रा संघ

यह संघ की पद्धति नवीन नहीं है। शास्त्रों में इसके उदाहरण मिलते हैं। पार्श्वनाथ चरित्र में लिखा है कि महाराज अरविन्द ने राज्य का परित्याग करके मुनिपदधारण कर लिया था। अपनी आयु थोड़ी जानकार उन्होंने संघ को छोड़ कर आत्मशोधन का कार्य प्रारम्भ कर दिया। दयानिधि मुनिराज अरविन्द गुणयुक्त संघ को छोड़कर आत्मा को संस्कृत करने के लिए जिन भवनों की वंदना हेतु श्रीमन्त व्यापारियों के साथ गए। वे

१. परिनिर्वृतं जिनेन्द्रंविबुधा ह्यथाशु चागम्य।
देवतरुरक्त चंदन कालागुरुसुरभिगोशीर्षैः ॥१८॥
अग्नीद्राज्जिनदेहं मुकुटानल सुरभिधूपवरमाल्यैः।
अभ्यर्च्य गणधरानपि गता दिवं खं च वनभवने ॥१९॥

निर्वाण भूमि परमार्थतः वीर भूमि है

निर्वाणभूमि का दर्शन करना मुनियों का कर्त्तव्य भी है। निर्वाणभूमि परमार्थतः वीर भूमि है, जहां सिद्ध बनने वाली वीर आत्माओं ने अनादिकाल से आत्मा की अनंत दुःखों में डुबाने वाली कर्म सैन्य का आत्यंतिक क्षय किया है। मुनियों की निर्ग्रंथ दीक्षा को वीर दीक्षा कहते हैं। ये ही वीर हैं जो कर्मों के उदय से जरा भी न घबराते हुए रत्नत्रय रूप खड्ग के द्वारा कर्मों के संहार में सतत समुद्यत रहते हैं। महावीरों के पराक्रम के श्रेष्ठ क्षण जिन स्थलों पर व्यतीत हुए उस जगह पहुंचकर उनका अभिवादन करना, उनकी वीर भक्ति का विशेष अंग माना जायगा। अतः निर्वाण स्थल की वंदनार्थ जाना अत्यन्त समुज्ज्वल कार्य है। इतना अवश्य है कि उस वंदना के हेतु जाते समय मन को पापवासनाओं से धोकर जाना आवश्यक है। उसके द्वारा यदि जीवन में मधुरता न आई, पवित्रता का वसंत जीवन को श्री संपन्न न बना सका तो कहना होगा मछली सिन्धु के मध्य में रहते हुए भी प्यासी की प्यासी ही रही है। इस प्रकरण में हमें एक मुस्लिम हाजी से सुना यह शेर स्मरण आता है :

मक्का गये मदीना गये, बन कर आए हाजी।
आदत गई न इल्लत गई, फिर पाजी के पाजी॥

यथार्थ में मोही तथा पापवासनासक्त व्यक्ति की यही अवस्था होती है, वे पाजी के पाजी रहते हैं, वे मोक्ष की शुद्धात्मा की, शुक्ल ध्यान की लम्बी चौड़ी लच्छेदार बातें करते हैं, किंतु उनका जीवन पापाचार की गंदगी से अत्यंत मलिन रहता है, वे उज्जवल वातावरण से तनिक भी लाभ नहीं उठाते हैं, क्योंकि उन्हें संसार में सुदीर्घ काल तक परिभ्रमण करना है, किन्तु जिनका संसार निकट हो जाता है, जो अंतःकरण पूर्वक मोक्ष के लिये प्रयत्न करते हैं उनको कितना लाभ होता है, यह लिखने की नहीं, अनुभव की वस्तु है।

"सागरधर्मामृत" में लिखा है कि गृहस्थ को तीर्थयात्रादि अवश्य करना चाहिये, क्योंकि इससे दर्शन की विशुद्धता होती है। इस दृष्टि से तीर्थयात्रा मुनि जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी है, तथा गृहस्थ के लिए भी हितकारी है। निर्वाण भूमि निर्वाण प्राप्त करने की पिपासा को जगाया करती है। वहां जाकर विचारक आत्मा हृदय से यही कहेगा :

खुद को खुद ही में ढूंढ, खुद को तू दे निकाल।
फिर तू ही खुद कहेगा, खुदा हो गया हूँ मैं॥

शिखरजी विहार की विज्ञप्ति

संपूर्ण बातों को विचार कर ही शांतिसागर महाराज ने शिखरजी की ओर संघ के साथ विहार की स्वीकृति दी थी। यह हर्षप्रद समाचार कार्तिक कृष्ण प्रतिपदा वीर संवत्

२४५३, सन् १९२७ के दिन विज्ञप्ति रूप इन शब्दों में प्रकाश में आया :

संघ विहार (शिखरजी की यात्रा)

"संपूर्ण दि. जैन समाज को सुनाते हुए आनन्द होता है कि हम कार्तिक के आष्टाह्निक पर्व के समाप्त होते ही मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका समवेत चतुर्विधसंघ को चलाने वाले हैं। यह संघ कुंभोज (बाहुबली पहाड़) कोल्हापुर दक्षिण की तरफ से निकलेगा और शिखरजी की यात्रार्थ प्रयाण करेगा। श्री रत्नत्रयपूत परमशांत दशलाक्षणिकधर्म विभूषित १०८ श्री आचार्य शांतिसागर महाराज मुनि संघ सहित साथ में विहार करेंगे। इस संघ में तीन चार मुनि, तीन ऐलक व एक क्षुल्लक व करीब पांच छह ब्रह्मचारी तथा दो तीन आर्यिकाओं ने विहार करना निश्चय कर लिया है। इनके सिवाय और भी कुछ मुनि ब्रह्मचारी ऐलकों के इस मुनि संघ के साथ में निकलने का अंदाज है। चतुर्थकाल के मुनीश्वरों का जैसा कुछ स्वरूप था ठीक वैसा ही स्वरूप परमशांत आचार्य श्री १०८ शांतिसागर महाराज का है। आज पर्यन्त यह संघ दक्षिण में ही विहार करता था, परन्तु भव्यों के पुण्योदय से अब आगे इनका विहार उत्तर प्रांत में होगा। इस कारण सर्व ही समाज को धर्म का लाभ होगा। (१) यह संघ दक्षिण महाराष्ट्र से श्री शिखरजी पर्यन्त पैदल रास्ते से जायगा। (२) संघ के साथ आनेवाले धर्म बांधवों की सर्व प्रकार की व्यवस्था की जायगी। किसी को किसी प्रकार का कष्ट न हो ऐसी सावधानी रखी जायेगी। (३) संघ रक्षण के लिए पोलिस का इंतजाम साथ में किया गया है। (४) संघ के साथ में श्री जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा का समवशरण रहेगा। (५) संघ में धर्मोपदेश तथा धर्मचर्चा का योग रहे, इसलिए विद्वान पंडितों की योजना की गई है। (६) संघ में औषधि द्वारा रोग चिकित्सा का इंतजाम रहेगा। (७) संघ में भोजन सामान का इंतजाम रहेगा जिससे कि अतिथियों के योग्य शुद्ध सामान भी मिल सके। (८) संघ में जो जितने दिन पर्यन्त चाहेंगे, रह सकेंगे। जो पूरी यात्रा करना चाहेंगे, उनका खास इंतजाम किया जायगा। सर्व बांधवों को इस प्रकार से विशे ष लाभ होना समझकर ही ऐसा इंतजाम रक्खा गया है। गरीब बांधवों की भी सर्व प्रकार की तजवीज रहेगी। इसलिए सर्व बांधवों को चाहिए कि वे इस मौके को जाने न दे। पुनः ऐसा लाभ न मिलेगा। संघ के साथ यात्रा करने वाले श्रावकों को धर्मोपदेश, सुपात्रदान, तीर्थवंदना, आदि अपूर्व लाभ होंगे। त्यागी ब्रह्मचारी जनों को विशेषता से सूचित किया जाता है कि वे संघ में आकर शामिल हों, जिससे संघ की शोभा बढ़े। इसी प्रकार विद्वानों को भी संघ के साथ शामिल होना चाहिए। यही हमारी प्रार्थना है।"

- समाज सेवक पूनमचन्द घासीलाल जौहरी,

जौहरी बाजार, बम्बई नं. २

यह समाचार महत्वपूर्ण तो था ही साथ में एक नवीन बात का द्योतक था। उत्तर की ओर दिगम्बर मुनि संघ का विहार कई पीढ़ी से लोगों के कर्ण गोचर नहीं हुआ था, अतएव ऐसी शंका उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं है कि स्वाधीन वृत्तिवाले मुनिराज का गृहस्थों के आश्रित संघ का बनकर चलने में उनकी स्वाधीनता की क्षति होगी अतः यह कार्य कैसे निर्दोष तथा उज्ज्वल समझा जायगा ?

इसका समाधान यह है कि मुनिराज अपने मूल गुणों का बराबर पालन करते जाएं यह मुख्य बात है, उसमें दोष नहीं आना चाहिए। संघ में सम्मिलित होकर साधर्मीवर्ग के साथ विहार करने में रत्नत्रयधर्म की वृद्धि होती है, जिनधर्म की प्रभावना होती है, सामुदायिक पवित्र शक्ति के द्वारा बहुत जीवों का हित होता है, अतः इसमें बाधा की कल्पना अयोग्य है। श्रावकों के अधीन मुनिराज की प्रवृत्ति नहीं है। मुनिराज के सुभीते को देखकर ही भक्त, संघव्यवस्थापक सेवक के रूप में कार्य करते हैं। स्वामी के रूप में मुनिराज शोभित होते हैं। धर्मात्मा श्रावक तो स्वयं को उनके चरणों का दासानुदास सोचता है। जो गृहस्थ अपने को स्वामी समझकर अधिकार दिखाने का प्रयत्न करे, वह विचारवान श्रावक नहीं कहा जा सकता है। संघ संचालक गुरुचरणों का सेवक बनने में कृतार्थता मानता है।

तीर्थयात्रा संघ

यह संघ की पद्धति नवीन नहीं है। शास्त्रों में इसके उदाहरण मिलते हैं। पार्श्वनाथ चरित्र में लिखा है कि महाराज अरविन्द ने राज्य का परित्याग करके मुनिपदधारण कर लिया था। अपनी आयु थोड़ी जानकार उन्होंने संघ को छोड़ कर आत्मशोधन का कार्य प्रारम्भ कर दिया। दयानिधि मुनिराज अरविन्द गुणयुक्त संघ को छोड़कर आत्मा को संस्कृत करने के लिए जिन भवनों की वंदना हेतु श्रीमन्त व्यापारियों के साथ गए। वे मुनिराज पाप पंक विनाशन करने में समर्थ आगमानुसार धर्मकथा को विनयशील शशिगुप्त आदि वैश्यवरों को कहते थे । संघस्थ श्रावकों में मुख्य श्रेष्ठिवर शशिगुप्त थे।

पूर्व विदेह की पुंडरीकणी नगरी के वैश्यनायक ने सागरसेन मुनि राज के विहार करते समय साथ दिया था, ऐसा अशग कवि कृत महावीर चरित्र से ज्ञात होता है।

आज के युग में परमार्थ भावना का प्रदीप स्नेह का अभाव होने से बुझता जा रहा है। लोग स्वयं तीर्थयात्रा तथा धार्मिक प्रवृत्तियों के विषय में शैथिल्य संपन्न होते जा रहे है ऐसे समय पर एक व्यक्ति का विशाल धार्मिक संघ को शिखरजी तक ले जाने का निश्चय अवश्य आश्चर्यप्रद होगा। कोई यह सोचते होंगे कि संघ-संचालक अनेक करोड़ों के अधिपति होंगे तभी बड़े विशाल संघ चलाने के लिए उन्होंने रूपयों को पानी की तरह बहाया होगा, यह कोरी कल्पना ही है। संघ संचालक महानुभाव उदीयमान

पुण्यशाली जिनधर्म के प्रागढ़, श्रद्धालु और आचार्य शांतिसागर महाराज के चरणों में अनन्य अनुराग रखने वाले थे। उनके पास यदि पूंजी थी, तो पुण्य की संपत्ति थी। जिनेन्द्रदेव की स्तुति में कवि मनरंगलाल ने लिखा है :

जाके धन तेरे चरन दोय, ता गेह कमी कबहूं न होय ॥

संघ संचालक का परिवार

यथार्थ में उस समय संघ संचालक सेठ पूनमचंद घासीलाल जी के पास यही पूंजी ही वास्तविक पूंजी थी। इसका कारण है कि प्रतापगढ़ से व्यापार निमित्त में सं. १९६०, सन् १९०३ में बंबई आये थे। उस समय इनके पास शतक प्रमाण भी रजत मुद्राएं नहीं थी। दो वर्ष पर्यन्त चांदी की दलाली के पश्चात् घासीलाल जी ने अत्यन्त भाग्यशाली ज्येष्ठ पुत्र गेंदनमल जी के साथ मुक्ता की दलाली प्रारंभ की। संवत् १९६९ में गेदनमलजी तथा उनके अनुज दाड़िमचंद जी केवल दो सहस्त्र रुपया लेकर मोती लेने को अरबस्तान गए। वहां से आने पर मूलधन द्विगुणित हुआ। इनके मधुर स्वभाव, प्रेमपूर्ण वाणी, सच्चे व्यवहार से मोतीबाजार में लोगों का प्रेम बढ़ता गया। इनकी साख खूब बढ़ती गई। अरबस्तान में भी इन जवेरी बंधुओं का प्रेम, प्रभाव तथा प्रमाणिकता का स्थान बढ़ता जाता था। जो भी इनके संपर्क में आता वह इनके गुणों के कारण अथवा पुण्य के कारण आकर्षित हो इनका बने बिना नहीं रहता था। व्यापार को चमकाने के लिये जो जो साधन आवश्यक माने जाते हैं वे सब यहां थे, इससे इनका विकास हो चला। इनके बढ़ते हुए वैभव की स्थिति प्रारंभिक अल्पतम पूंजी को देखते हुए पार्श्ववर्ती लोगों को विस्मित करती थी। सुभाषितकार का कथन अक्षरशः सत्य है "**व्यापारे वसते लक्ष्मी** (व्यापार में लक्ष्मी का वास है)।" अंग्रेज कवि गोल्ड स्मिथ ने इसे बुरा कहा है- "**जहां धन की वृद्धि होती है, वहां मनुष्यों के सद्‌गुणों का ह्रास होता है।**"[1] यहाँ ऐसी स्थिति नही थी, देवपूजा, गुरुभक्ति, शास्त्र स्वाध्याय, संयम, दान आदि आवश्यक कार्यों में तीनों भाई सेठ गेदनमलजी, दाड़िमचंदजी, मोतीलालजी अंतःकरण पूर्वक संलग्न रहते थे। धन की मादकता ने उन पर कोई असर नही डाला था। लक्ष्मी ने उनके विवेक चक्षुओं को बंद नहीं किया था, प्रत्युत लक्ष्मी ही पुण्य संयम करने वाले इस धर्मशील परिवार का अनुगमन कर रही थी। जैसे-जैसे धन बढ़ता था, वैसे-वैसे त्याग, परोपकार, धर्मभक्ति, नम्रता आदि सद्‌गुण वृद्धिंगत होते जा रहे थे। प्रतीत होता है, इनके हृदय में धन के विषय में यह बात घर कर गई थी कि पुण्यक्षय होने पर लक्ष्मी का नाश होता है, दान देने से धन कभी भी नष्ट नहीं होता, अतः सदा पात्र दान करना चाहिये।

---

1. where wealth accumulates and man decay. -Deserted village

मुक्ता का व्यापारी

इन्होंने सोचा-"**आचार्य शांतिसागर महाराज से बढ़कर विशुद्ध चरित्र, रत्नत्रयालंकृत श्रेष्ठ पात्र और कौन मिलेगा ? अतः उनकी सेवा में शक्ति की परवाह भी न करके धन को मुक्त हस्त होकर लगा दो।**" मुक्ता के व्यापारी होने से मुक्ता युक्त हस्त तो सदा ही रहा करता था, किन्तु वह मुक्ता के बंधनयुक्त रहता है, दान देते समय ही खुला हाथ होने से वह मुक्तहस्त कहा जाता है। धन कमाने का नशा किसे नहीं होता है, और बातों का भी नशा दुनियां में देखा जाता है, किन्तु धन खर्च करने का नशा जिन्हें देखने की इच्छा हो, वे गेंदनमलजी को उस समय देखते, जब वे संघ विहार के लिए प्रार्थना करने के पश्चात् नोटों के बंडल को ट्रंक में रखकर व्यवस्था करने वाले श्रावकों को सौंपते थे। उस समय वे न नोट गिनते थे और न उन श्रावकों से बिल मांगते थे, जैसा कि सामान्य तथा धनिकों की शैली होती है। इस प्रकार का खर्चा सचमुच बेहिसाब था, गणना रहित था। मालूम होता है, गेदनमलजी बंबई आते समय देश से लाई मात्र पूंजी को अपनी सोचते थे और शेष सबको श्रेष्ठ कार्य निमित्त लगाने की वस्तु मानते थे। रत्नाकार के पास से प्राप्त रत्नों की कमाई को रत्नाकार अर्थात् रत्नत्रय के आकार महामुनि की अर्चा निमित्त व्यय करना वे उचित समझते थे और सोचते थे," **रत्नाकर ! त्वदीयं वस्तु, तुभ्यमेव समर्पये।**"

ऐसे हृदय के धनी गुरुचरण भक्त, पंचपरमेष्ठी की सतत आराधना में निरत श्रावकोत्तम सेठ पूनमचन्द घासीलाल जवेरी संघ के प्रमुख सेवक थे। सब उनको संघपति कहते थे, किन्तु वे अपने को संघ का सेवक सोचते थे। उनको वास्तव में संघ के पति, प्राण, स्वामी, संघसर्वस्व, आचार्य शांतिसागर महाराज दिखते थे।

चातुर्मास पूर्ण होते ही रत्नत्रय धर्म की प्रभावना करने वाला धर्मसंघ पंचपरमेष्ठियों की वंदना कर प्रस्थान करने को उद्यत हो गया। दूर दूर के लोग गुरुदर्शन को आ गए। अब इन तपोनिधि गुरुराज का पुनः कब दर्शन होगा ऐसा दक्षिण की धार्मिक तथा भक्त जनता सोचने लगी। इन अकारण बंधु का वियोग बहुत समय के लिए हो रहा है, यह विचार कर उनका ममतापूर्ण हृदय बड़ा दुःखी हो रहा था। अनेक लोग तरुण, वृद्ध, नर, नारी, मंगलमय पंचपरमेष्ठी का स्मरण कर यही आकांक्षा कर रहे थे, कि पूज्यश्री की यात्रा सिद्धि संपन्न हो और पुनः दक्षिण प्रांत को गुरुराज का दर्शन लाभ हो।

एक वृद्ध पंडितजी की मंत्र साधने की सलाह

एक नामांकित वृद्ध पंडित जी पूज्यश्री के समीप आए। सभा को प्रणाम कर बड़े ममत्व के साथ कहने लगे," उत्तर की जनता वक्र प्रकृति की है। वहां कभी दिगम्बर मुनियों का

विहार हमारे जीवन में नहीं हुआ है, अब आपका संघ जाता है, इसको देखकर विद्वेषियों द्वारा विघ्न प्राप्त होगा, तब धर्म पर संकट आ जायेगा। अतः यह उचित होगा कि पहले आप किसी देवता को सिद्ध कर लेवें। इससे कोई भी बाधा नही होगी।''

महाराज बोले-''मालूम होता है कि अब तक आपका मिथ्यात्व नहीं गया, जो हमें आगम की आज्ञा के विरुद्ध सलाह दे रहे हो।''

पं. जी बोले-'' महाराज ! आपका भाव मेरे ध्यान में नहीं आया। स्पष्टीकरण की प्रार्थना है।'' महाराज ने अपने भाव स्पष्ट करते हुए पूछा''क्या महाव्रती-अव्रती को नमस्कार करेगा ?''

पं. जी बोले -''नहीं महाराज, व्रती अव्रती को नमस्कार नहीं करेगा।''

महाराज बोले -''विद्या या देवता सिद्ध करने के लिए नमस्कार करना आवश्यक है। देवता अव्रती होते हैं। तब क्या अव्रती को प्रणाम करना महाव्रती को दोषप्रद नहीं होगा ?''

पं.जी जब इस युक्तिवाद को सुनते ही चुप हो गए, तब महाराज ने कहा -''डरने की क्या बात है ? हमारा पंचपरमेष्ठी पर विश्वास है। उनके प्रसाद से विघ्न नहीं आयेगा और कदाचित् पाप कर्म के उदय से विपत्ति आ जाय, तो हम उसे सहन करने को तैयार हैं।''

मंगलमय आचार्य परमेष्ठी के पथ में विघ्न कैसे टिकेंगे ?

महाराज का अदम्य उत्साह, महान् युक्तिवाद और प्रगाढ़ आत्मविश्वास देखकर उन पं. जी का ममत्ववश शंकाशील हृदय भी बदल गया और उनकी आत्मा भी कह उठी ''प्रभो ! अच्छा है, अपने विहार से उत्तर की भूमि में धर्म की धारा प्रवाहित कर भव्य जीवों को उपकृत कीजिए। जिनेन्द्र देव के प्रसाद से आपका मार्ग मंगलमय हो।''

जिन आचार्य परमेष्ठी का स्मरण नाम पाठ विघ्न विनाशक होता है स्वयं उनके ही मार्ग में अमंगल मूर्ति विघ्न कैसे आवेंगे ? पवन के समक्ष पतंग, मच्छर नहीं आते हैं ? पवन-पतंग विरोध का बोध कथा रूप एक काल्पनिक किंतु बोधप्रद आख्यान प्रसिद्ध है-

कहते हैं एक बार संसार की व्यवस्था में संलग्न विधाता का दरबार लगा हुआ था। उस समय मच्छर महाशय ने अपनी मुसीबत की कथा करुण शब्दों में सुनाई, कि पवन हमें सदा सताया करती है। हम किसी जीवित प्राणी के शरीर पर बैठकर अपना रस पान करते हैं, तो यह हमारे रंग में सदा भंग डाल दिया करती है। हमने इसका कभी भी कोई नुकसान नहीं किया है, किन्तु यह सदा हमारे साथ शत्रुता का व्यवहार करती है।

विधाता ने वादीप्रतिवादियों को दूसरे दिन उपस्थित होने का आदेश दिया। मच्छर महाशय अपनी सफलता की कल्पना में मस्त हो मन ही मन गायन में मग्न हो बहुत पहले से ही न्यायालय में बैठे थे। इतने में समय हुआ, इनका पुकारा हुआ। मच्छर ने विधाता को प्रणाम किया। इतने में हवा का आगमन हुआ कि मच्छर राम ने खिसकना शुरू किया, और जब प्रचंड पवन अपनी बात बताने को और मच्छर के क्रूर कृत्यों पर प्रकाश

डालने को आगे आई, तो मच्छर के अस्तित्व का पता न लगा, अतः वादी की अनुपस्थितिवश वह मुकदमा खारिज कर दिया गया।

संघ का उत्तरापथ की ओर प्रस्थान

अब ''ॐ नमः सिद्धेभ्यः''कह सन् १९२७ की मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा को प्रभु का स्मरण कर चतुर्विध संघ सम्मेदाचल पारसनाथ हिल की वंदनार्थ रवाना हो गया। अभी लक्ष्यगत स्थल को पहुंचने में बहुत देर है, यात्रा भी पैदल है, किन्तु पवित्र पर्वतराज की मनो मूर्ति महाराज के समक्ष सदा विद्यमान रहती थी कारण दृष्टि उस ओर थी। संकल्प भी तद्रूप था। आत्मा पर्वतराज के उन्मुख थी। प्रारम्भ में लगभग दो सौ नर नारियों, साधु साध्वियों समलंकृत संघ था। आचार्य श्री शांतिसागर महाराज के समान निर्ग्रन्थ मुद्राधारी रत्नत्रय समलंकृत मुनित्रयी के मंगल नाम नेमिसागर महाराज, वीरसागर महाराज, अनंतकीर्ति महाराज थे। पायसागर नाम से भूषित ऐलक पदाधिष्ठित तीन श्रेष्ठ श्रावक ऐनापुर, गोकाक तथा शियापुर के थे। नाम और पद में तीनों ही समान थे। क्षुल्लक मल्लिसागर गलतगेवाले, क्षु. पायसागरजी जलगांव वाले व क्षु. अनंतकीर्ति करवी शियापुर वाले भी थे। क्षुल्लिका माता शांतिमती, बा.ब्र.क्षु. चंद्रमती, क्षु. अनंतमती नाम की तीन क्षुल्लिकाएँ थी। एक ब्रह्मचारिणी बाई थी। ब्र. दादा धोंदे साँगली वाले, ब्र. आणप्प लिंगड़े, ब्र. म्हैसालकर, ब्र. पारिसप्पा धोंदे, ब्र. पायसागरजी उगारकर, ब्र. देवप्पना, ब्र. देवलाल ग्वालियर, ब्र. हजारीलाल एटा नाम के ८ ब्रह्मचारी बंधु थे। पं. नंदनलाल जी वैद्य भी साथ में थे। कुछ समय पश्चात् वे ही महानुभाव निर्ग्रन्थ दीक्षा लेकर रत्नत्रय की औषधि देकर आत्मा के रोग को दूर करते हुए आध्यात्मिक वैद्य के रूप में सुधर्मसागर महाराज नाम से सर्वत्र विख्यात हुए। पं. उलफतरायजी रोहतक वाले, कीर्तनकार श्री जिनगोंडा पाटील माँगूरकर, श्री गंगाराम आरवाड़े कोल्हापुर, परवारभूषण ब्र. फतेचंद जी नागपुर वाले भी साथ में थे।

अपूर्व आनंद तथा सदा शुभोपयोग की प्रवृत्ति

संघ में रहने वाले कहते थे, ऐसा आनंद, ऐसी सात्विक शान्ति, ऐसी भावों की विशुद्धता जीवन में कभी नहीं मिली, जैसी आचार्यश्री के संघ में सम्मिलित होकर जाने में प्राप्त हुई। आर्तध्यान और रौद्रध्यान की सामग्री का दर्शन भी नहीं होता था। निरंतर धर्मध्यान ही होता था। शुभोपयोग की इससे बढ़िया सामग्री आज के युग में कहां मिल सकती है ? वह रत्नत्रयधारियों तथा उपासकों का संघ रत्नत्रय की ज्योति को फैलाता हुआ आगे बढ़ता जाता था। संघ में सर्व प्रकार की प्रभावक उज्ज्वल सामग्री थी।

मनोज्ञ जिनबिम्ब, बहुमूल्य नयानभिराम रजत निर्मित तथा स्वर्णशिल्प सज्जित

दैदीप्यमान समवशरण आदि के दर्शनार्थ सर्वत्र ग्रामीण तथा इतर लोगों की बहुत भीड़ हो जाती थी। हजारों व्यक्ति महाराज को देखते ही मस्तक को भूतल पर लगा प्रणाम करते थे। वे जानते थे-"**ये नागाबाबा साधु परमहंस हैं। पूर्व जन्म की बड़ी कमाई के बिना इनका दर्शन नहीं होता है।**" उन हजारों लाखों लोगों ने महाराज के दर्शन द्वारा असीम पुण्य का बंध किया। बंध का कारण जीव का परिणाम होता है। शुभ परिणामों से पुण्य का संचय होना जहाँ स्वाभाविक है, वहीं पाप का संवर होता है।

वैभव सम्पन्न श्रावकों से सुसज्जित इस संघ का संध्या को जहां भी विश्राम होता था, वहां बड़े दूर दूर के ग्रामवासियों के आवागमन का तांता लग जाता था। इससे जंगल में मंगल की कल्पना साकार बन गई थी। मंगलमय उद्देश्य को लेकर मंगलात्मक श्रमण समुदाय सुसज्जित संघ अन्वर्थतः मंगलमय दिखता था।

जहां सूर्य अस्तंगत हुआ वहां आचार्य श्री आदि महाव्रती उच्चसाधुगण रुक जाते, अपनी कुटी में बैठकर आत्मध्यान में लीन हो जाते थे। योग्य समय पर विश्राम करते थे। प्रभात में सूर्योदय के प्रकाश से भूतल के आलोकित होते ही उनका विहार प्रारंभ हो जाता था। लगभग सात आठ मील पहुंचकर वे साधुगण शौचादि से निवृत्त होते थे। श्रावक और श्राविकाएं मोटर द्वारा पहले से वहाँ पहुंचकर आहार की पूर्ण तैयारी कर लेते थे। अस्थायी उपयोग के लिए तंबू वगैरह लग जाते थे। वहां भाग्यवान श्रावक उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों की प्राप्ति के हेतु द्वाराप्रेक्षण करते थे। तपस्वियों तथा उच्च श्रावकों आदि की दानरूप वैयावृत्य द्वारा सेवा की जाती थी। तत्पश्चात् त्यागी मण्डल मध्याह्न की सामायिक में निमग्न हो जाता था, तथा श्रावक लोग अपने भोजनादि कार्यों को करते थे। सामायिक पूर्ण होते ही महाराज का यंत्रवत् विहार आरंभ हो जाता था। प्रतिदिन लगभग ८ कोस जाने का क्रम रहता था।

महाराज की आगम सम्मत प्रवृत्ति

कोई-कोई यह सोचते हैं कि साधु को बहुत धीरे-धीरे चलना चाहिए। इस विषय में आचार्य महाराज से एक बार मैंने पूछा था कि "महाराज जल्दी चलने से क्या साधु को दूषण नहीं आता है?" महाराज ने कहा-"यत्नाचार पूर्वक चलने से दूषण नहीं आता है।" वे आचारांग की आज्ञा के विरुद्ध रंचमात्र भी प्रवृत्ति नहीं करते थे। दुर्भाग्य की बात यह है कि उत्तरप्रांत में बहुत समय से मुनियों की परंपरा का लोप सा हो गया था, अतः मुनि जीवन सम्बन्धी आगम का अभ्यास भी शून्य सम हो गया, ऐसी स्थिति में अपनी कल्पना के ताने बाने बुनने वाले करणानुयोग, द्रव्यानुयोग शास्त्रों का अभ्यास करने वाले श्रावक मुनि जीवन के विषय में अपनी विवेक-विहीन आलोचना का चाकू चलाया करते हैं। ऐसे ही आलोचक

कुछ विद्वानों के सम्पर्क में आकर हमारा भी मन भ्रांत हो गया था, और हमने भी लगभग आठ माह तक आचार्य महाराज सदृश रत्नमूर्ति को काँचतुल्य सामान्य वस्तु समझा था। पुण्योदय से जब गुरुदेव के निकट संपर्क में आने का सुयोग मिला तब अज्ञान तथा अनुभव शून्यता जनित कुकल्पनाएं दूर हुई। **दुःख तो इस बात का है कि तर्क व्याकरण आदि अन्य विषयों की पंडिताई प्राप्त व्यक्ति चरित्र के विषय में अपने को विशेषज्ञ मान उस चरित्र की आराधना में जीवन व्यतीत करने वाले श्रेष्ठ सन्तों के गुरु बनने का उपहास पूर्ण कार्य करते हैं।** इस विषय में एक छोटा सा उदाहरण है :

मूलगुण-उत्तरगुण समाधान : सन् १९४७ में पूज्यश्री का चतुर्मास सोलापुर में था। वहां वे चार माह से अधिक रहे, तब कुछ तर्कशास्त्रियों को आचार्यश्री की वृत्ति में आगम के अपलाप का खतरा नजर आया, अतः आगम के प्रमाणों का स्वपक्ष पोषक संग्रह, प्रकाशित किया गया। उसे देखकर मैंने सोलापुर के दशलक्षण पर्व में महाराज से उपरोक्त विषय की चर्चा की।

उत्तर में महाराज ने कहा- "हम सरीखे वृद्ध मुनियों के एक स्थान पर रहने के विषय में समय की कोई बाधा नहीं है।" फिर उन्होंने हमसे ही पूछा "यह चर्चा मूलगुण सम्बन्धी है या उत्तरगुण सम्बन्धी ?"

मैंने कहा- "महाराज यह तो उत्तरगुण की बात है।"

महाराज बोले- "मूलगुणों को निर्दोष पालना हमारा मुख्य कर्त्तव्य है। उत्तरगुणों की पूर्णता एकदम से नहीं होती है। उसमें दोष लगा करते हैं। पुलाक मुनि के क्वचित कदाचित मूलगुण तक में विराधना हो जाती है।" उत्तर सुनकर मैं चुप हो गया। उस समय समझ में आया कि कई अविवेकी लोग ऐसी कल्पनाएं वर्तमान मुनि पर लादते हैं और यह नहीं जानते कि आगम परंपरा क्या कहती है ?

राजनीतिज्ञों से प्रकाश पाने का विचार भ्रांत है

महाराज तो जगत् की तरफ पीठ दे चुके हैं। उनके ऊपर राजनीतिज्ञों सदृश उत्तरदायित्व का भार लाद नेताओं के समान उनके वक्तव्यों को प्राप्त करने की कल्पना वाले भाई भूल जाते हैं कि ये आत्मोन्मुख मुनिराज दुनिया की झंझटों को छोड़ चुके हैं, जिन राजनीतिज्ञों को गौरव की वस्तु मान आज लोग उनसे प्रकाश पाने की आकांक्षा रखते हैं और उनके पथ पर चलने की इन गुरुओं से आशा करते हैं, वे बड़े अंधकार में हैं।

राजनीतिज्ञों की महिमा को समझने के लिए भारत के प्रधानमंत्री तथा कांग्रेस के अध्यक्ष पंडित जवाहरलाल नेहरू सदृश अनुभवी नेता के ये उद्‌गार ध्यान देने योग्य हैं, इनसे पता लगेगा कि राजनीति के पंक से आत्मविकास प्रेमियों को अपना संरक्षण करना आवश्यक है। **"ये नुमायशी मिनिस्टर लोग"** शीर्षक निबन्ध में श्री नेहरू

ने लिखा था-"इंग्लैड के तीसरे जार्ज का कहना है कि राजनीति तो गुंडो का पेशा है, शरीफ आदमियों का नहीं, यह तो सच है कि हम सब लोग जिन्होंने इस कीचड़ में हाथ सान लिए हैं, कभी-कभी इससे तंग आ जाते हैं और कभी तो बिल्कुल नफरत और खीझ होने लगती है। राजनीति के पेशे में नेता बनने के लिए किसी भी ट्रेनिंग की जरूरत नहीं है। हर ऐरा-गैरा अपने देश वासियों पर शासन करने के लिए समर्थ समझा जाता है। रोमारोला ने यह सुझाव पेश किया है कि युद्ध के खिलाफ आवाज उठाने के बजाय इन युद्ध छेड़ने वालों के खिलाफ आवाज उठाई जाय और इन राजनीतिक नेताओं को निर्वासित कर दिया जाय।" (संगम मासिक पत्र, पृ. ८४, दीपावली अंक, संवत् २००६)

साधुओं के आलोचकों का कर्तव्य

कुछ समालोचना के शौकीन साधुओं को ही अपनी लोह लेखिनी के आक्रमण का केन्द्र बनाते समय यह नहीं विचारते कि समस्त व्यसनों में निपट अत्यन्त दुराचारी दुष्ट व्यक्ति के प्रति उनकेमन में वात्सल्य पैदा होता है, उपगूहन का भी भाव जगता है, स्थितिकरण की दृष्टि उत्पन्न होती है; किन्तु इस भीषण काल में असिधाराव्रत से भी भीतिप्रद दिगम्बर मुनि का जीवन बिताने वाली वीर आत्माओं के प्रति तनिक भी आत्मीयता का भाव उत्पन्न न होकर जन्म जन्मान्तर के शत्रु सदृश व्यवहार करने की कुबुद्धि उत्पन्न हो जाया करती है। साक्षरों की विपरीत प्रवृत्ति देखकर साधारण समाज अपना मार्ग निश्चय नहीं कर पाती है।[1]

शिथिलाचारी साधु के प्रति क्या किया जाये ?

इसे ध्यान में रखकर मैंने एक बार आचार्यश्री से पूछा-"शिथिलाचरण वाले साधु के प्रति समाज को या समझदार व्यक्ति को कैसा व्यवहार रखना चाहिए ?"

महाराज ने कहा-"ऐसे साधु को एकान्त में समझाना चाहिए। उसका स्थितिकरण करना चाहिए।"

मैंने पूछा-"समझाने पर भी यदि उस व्यक्ति की प्रवृत्ति न बदले तब क्या कर्त्तव्य है ? पत्रों में उसके सम्बन्ध में समाचार छपाना चाहिए या नहीं ?

महाराज ने कहा-"समझाने से भी काम न चले, तो उसकी उपेक्षा करो, उपगूहन अंग का पालन करो, पत्रों में चर्चा चलने से धर्म की हंसी होने के साथ-साथ मार्गस्थ साधुओं के लिए भी अज्ञानी लोगों द्वारा बाधा उपस्थित की जाती है।" महाराज ने यह भी कहा कि "मुनि अत्यन्त निरपराधी है। मुनि के विरुद्ध दोष लगाने का भयंकर दुष्परिणाम

---

१. साक्षराः विपरीताश्चेद्राक्षसा एव केवलम्।
सरसः विपरीतश्चेत्सरसत्वं न मुंचति ॥

होता है, श्रेणिक की नरकायु का कारण निरपराध मुनि के गले में सर्प डाला जाना था। अतः सम्यक्दृष्टि श्रावक विवेक पूर्वक स्थितिकरण उपगूहन, वात्सल्य अंग का विशेष ध्यान कर सार्वजनिक पत्रों में चर्चा नहीं चलाएगा।'' आचार्यश्री का उपरोक्त मार्ग दर्शन सत्पुरुषों के लिए चिरस्मरणीय है। उचछृंखल तथा दुर्गतिगामी जीव की निन्दा की ओट में सच्चे साधु के मार्ग में भी कंटक बिछ जाते हैं। अतः सार्वजनिक पत्रों में उत्सूत्र चलने वाले की भी चर्चा छापना उचित नहीं है। उसका स्वच्छनदवृत्ति वाले पर तो क्या असर पड़ेगा, सच्ची आत्माओं को कष्ट होगा। मिथ्यादृष्टि विधर्मी भी सत्साधु की निन्दा पर उतर आते हैं। सम्यक्त्वी जिनेन्द्र भक्त श्रेष्ठिवर का कथानक इस तत्त्व को हृदयंगम करने में सहायक है। अतः गुरुदेव का आदेश पालन करना प्रत्येक सज्जन धर्मात्मा श्रावक का पावन कर्तव्य है। वह आदेश दूरदर्शितापूर्ण है।

साधु जीवन खिलवाड़ की वस्तु नहीं है

मैंने कहा-''महाराज एक धनी, किंतु विवेक शुन्य सेठ जी मेरे पीछे लग गये कि एक मुनिराज उनको ठीक नहीं लगते, उनके विरुद्ध आन्दोलन करो, तब मैंने उनसे कहा था कि एक दिगंबर मुनि का जीवन सामान्य वस्तु नहीं है। सर्वसाधारण के समक्ष उनके विरुद्ध चर्चा का ढोल पीटना मैं ठीक नहीं सोचता। हां ! एकान्त में उनके विषय में कड़ी चर्चा करना उचित होगा।''

मैंने यह भी कहा था-''शरीर पर फोड़ा होने से डाक्टर उस पर चाकू मारकर उसके विकार को दूर करने में संकोच नहीं करता है, किन्तु सर्व साधारण रूपी मक्खी उस पर न बैठे और घाव के जहर को न बढ़ावे, इसी कारण उस पर पट्टी बांधकर उपगूहन की दृष्टि का उपयोग लेना लाभप्रद होगा, अन्यथा हानि की संभावना है।''

इस पर महाराज ने कहा -''ठीक है, सम्यक्त्वी श्रावक ऐसा ही कार्य करेगा।''

इस प्रसंग में यह भी चर्चा करना उपयोगी दिखता है कि कभी-कभी ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो न शास्त्र जानते हैं, न जिन्होंने स्वाध्याय ही किया है, किन्तु वे भी बड़े-बड़े शास्त्रज्ञों के गुरु बनकर त्यागी और व्रती व्यक्तियों के चरित्र को दोषी कहते हैं और दूसरे की नहीं सुनते। उनको पूज्य आचार्य महाराज की बात ध्यान में रखना चाहिये कि इस विषय को सार्वजनिक चर्चा का विषय न बनाकर योग्य चिकित्सा करना चाहिये। कुछ शास्त्रज्ञों को भी साधु निन्दा में बड़ा मजा आता है। वे कल्पित दोषों को लगाकर चारित्रधारी सत्पुरुषों पर कीचड़ उछाला करते हैं। कोई-कोई अखबार वाले उनके सहयोगी बन जाते हैं। इसका कारण यह है कि जैसे निर्दोष हरिण की हत्या में तत्पर शिकारी को जीवघात में मजा मिलता है, ऐसे ही ये दुराचार प्रेमी दुराचारी की तो स्तुति करते फिरते हैं, किन्तु सच्चरित्र व्यक्ति की बुराई को अपने दुष्ट स्वभाववश तैयार रहते हैं। जोंक प्रकृति के ऐसे दुष्टों

की कोई दवा नहीं है। मरने के बाद वे नरक पर्याय में जाकर अपने कुकर्म का फल भोगेंगे।

जिस प्रकार बड़े महत्व और सावधानी के साथ कोई अपनी निधि की रक्षा करता है, इसी प्रकार इस रत्नत्रय निधि भूषित आत्मा के विषय में ध्यान रखना चाहिये। आज के युग में महाव्रतों के पथ पर चलना यथार्थ में आग के साथ खेल करना है। दुर्दम्यवासनाओं का दमन करके उनको दास बनाने का काम लम्बी बातें करने से या आज के नेतृत्व की गद्दी पर समासीन होने से या सरस्वती सदनों से सम्मान प्राप्त करने से कई गुना कठिन काम है। इस अध्यात्मकला के कार्य के आगे वैज्ञानिक प्रवीणता तथा आविष्करण कला नगण्य दिखती है।

जिस जिनेन्द्र भक्त की दृष्टि में मुनि जीवन निधि से भी बड़ा दिखेगा, वह तो उसके साथ खिलवाड़ न कर उसके विषय में प्राणाधिक यथाशक्ति और यथामति सावधानी एवं सतर्कता रखेगा। मिथ्यात्व-ग्रस्त जीव की बात निराली है।

आशाधर जी ने लिखा है-"विवेकी गृहस्थ का कर्तव्य है, कि वह जगत के बंधु जिन धर्म की परंपरा को चलाने के हेतु दिगम्बर मुनियों के उत्पन्न करने का प्रयत्न करें तथा विद्यमान मुनियों के श्रुत ज्ञानादि गुणों के द्वारा उन्नत करने के लिये प्रयत्न करें, जिस प्रकार गृहस्थ अपनी संतति की उत्पत्ति द्वारा वहां वंश परंपरा चलाने का प्रयत्न करता है तथा संतान को गुणी बनाने का उद्योग करता है।"[1]

जो व्यक्ति अपने प्रयत्नों की विफलता देखकर उत्साहहीन ही रहे हैं, उनके चित्त में स्थिरता के लिए वे कहते हैं[2] कि पंचमकाल के दोष से मुनियों के गुणों के विकास की सिद्धि नहीं होने पर भी इस विषय में प्रयत्नशील श्रावक श्रेयोभाजन होता ही है। कदाचित गुणों के द्योतन कार्य में सिद्धि हो गई तो गुणों के द्योतन करने वाले का, साधर्मी जनों का तथा साधारण जनता का महान उपकार होगा, कारण सच्चे त्यागी के कारण ही धर्म की रक्षा, स्थिति, वृद्धि तथा सच्ची प्रभावना होती है। इससे त्यागी संख्या के निर्माणार्थ तथा उसे गुण मंडित बनाने में प्रयत्न करना चाहिये।

वासनाओं पर अंकुश लगाना सरल नहीं है

वासनाओं का वेग बड़े-बड़ों को विचलित कर देता है, अतः विचलित होने वालों की बुराइयों के विज्ञापन से अन्य मोक्षपद में प्रवृत्तों का मार्ग विशेष कंटकाकीर्ण हो जाता है, और नवीन मुमुक्षुओं के निर्माण में भयंकर अड़चनें होती हैं, अतः विवेक के प्रकाश में पूर्वापर विचार कर कार्य करना चाहिये। चिकित्सक रोगी के अंग का शक्ति भर सुधार

---

१. जिनधर्म जगद्बंधु मनुबद्धुमपत्यवत्।
यतीन जनयितुं यस्येत्तथोत्कर्ष मितुं गुणैः ॥७१॥ (सागारधर्मामृत" अध्याय २)

२. श्रयोयत्नवतोस्त्येव कलिदोषाद् गुणद्युतौ।
असिद्धावपि तत्सिद्धौ स्वपरानुग्रहो महान् ॥७२॥ (सागारधर्मामृत" अध्याय २)

करता है, जरूरत पड़ने पर वह सड़े अंग को काट भी देता है, ऐसा ही कार्य प्रायश्चित्त प्रधान विधि में आचार्य करते हैं। इसलिये इस समस्या को धन के मद में या तरुणाई के जोश में सुलझाने के स्थान में बड़े दूरदर्शी, मानव स्वभाव के पारखी, परमागम के प्रेमी पुरुषों के परामर्श तथा मुनियों या मुनि-तुल्य मानस वालों के साथ विचार कर सुलझाने का उद्योग करना कर्त्तव्य है। एक विद्वान् ने लिखा है-"अग्नि और जल के समान वासनाओं की भी स्थिति है। वे हमारे आधीन होने पर अच्छी सेवा करते हैं, किन्तु वे अयोग्य स्वामी हैं। वासनाओं को दास बनाना हितकारी है, उनका दास बनना अकल्याण प्रद है ।[1]"

इस दृष्टि से वासनाओं पर अंकुश प्रहार करने वाली उज्ज्वल आत्माओं की महिमा को विषयों का दास सहज ही नहीं समझ पाता है, अतः उनके विषय में विचार करते समय श्रावकों को पूर्ण सतर्कता और सावधानी से कार्य करना चाहिए। जिनका व्यक्तित्व महान होता है, उनके समक्ष बड़े-बड़े लोग स्वयं झुका करते हैं। आचार्य महाराज के पवित्र व्यक्तित्व के संपर्क में जो भी पुण्योदयवश आता था, वह आत्मा के लिए अपूर्व प्रकाश पाता था। अहिंसा और अपरिग्रह के प्रतीक, महाराज का संघ बढ़ता चला आ रहा था।

सांगली

अब संघ सांगली रियासत में आ गया। मार्गशीर्ष बदी सप्तमी को सांगली राज्य के अधिपति श्रीमन्त राजा साहब, महाराज के दर्शनार्थ पधारे, इन्होंने अवर्णनीय आनन्द प्राप्त किया। आचार्य महाराज ने सच्चे धर्म का स्वरूप बताते हुए राजधर्म पर प्रकाश डाला। सच्चे क्षत्रियों को यह जानकर बड़ा हर्ष होता है कि जैन धर्म का प्रकाश फैलाने का श्रेय जिन तीर्थंकरों को था वे क्षत्रिय कुलावतंस ही थे। अहिंसा के ध्वज को सम्हालने वाले क्षत्रिय वीर ही रहे हैं।

इस बात के प्रमाण वैदिक साहित्य में प्राप्त होते हैं कि पशु बलिदान का मार्ग ब्रह्मज्ञाता कहे जाने वाले ब्राम्हणों द्वारा पोषित था और अहिंसा को परम धर्म बता प्रेम की गंगा प्रवाहित करने का श्रेय पराक्रमी क्षत्रिय नरेशों को था। यह महत्व के साथ ही साथ आश्चर्य की भी बात थी, कि जिस वीर हाथ में यम की जिह्वा समान लपलपाती तलवार रहती थी वह जीवन का मूल्य जान जीवों को अभय देता था और जो ब्रह्म की बातें बनाते थे, वे जीवों को अग्नि में स्वाहा करने का जाल फैलाते थे।

पुराना जाल ग्रंथों में जीवित व उपदेशों के रूप में विद्यमान है। सांख्यतत्त्व कौमुदी, पृ. ४३ की टीका में घोड़े की बलि का यह मंत्र दिया गया है- **हे अश्व ! यत् त्वं अस्माभिः**

---

1. "It is with our passions, as it is with fire and water, they are good servant, but bad masters."

संज्ञप्यसे, एतत्, त्वं न म्रियसे, न विनश्यसि। देवयानमार्गैः देवान् द्रुतं गच्छसि।

अर्थ : हे अश्व ! हम तुम्हारा जो बलिदान करते हैं। इससे तुम्हारा मरण नहीं होता है तथा तुम्हारा विनाश भी नहीं होता है। तुम देवों के विमान गमन के मार्ग से शीघ्र सुरत्व को प्राप्त करते हो। इस कारण आज भी अगणित जीव धर्म के नाम पर व्यक्तिगत स्वार्थ के पोषणार्थ मारे जाते हैं।

दूसरे प्राणियों के प्राणों का घात करते हुए जीव अपने सुखी जीवन का निर्माण करना चाहता है, इससे बड़ी स्वार्थपरता (Selfishness) तथा खुदगर्जी (Self-centred) दृष्टि कहां होगी ? जिनको दूसरे के दुःख-दर्द का जरा भी ध्यान नहीं है, वे विशाल हृदययुक्त (Enlarged self) व्यक्ति कैसे कहे जा सकते हैं ? इस अहिंसा मूलक तत्त्वज्ञान को विस्मृत करने के कारण ही बर्ट्रेड रसेल ने धार्मिक संतों के जीवन में स्वार्थपरता, खुदगर्जीपने की दुर्गन्ध का अनुभवन किया था।[1]

राज्य धर्म पर प्रकाश

राज्यधर्म के सम्बन्ध में पूज्य महाराज के बड़े तर्क-शुद्ध विचार थे। महाराज का कथन- रामचंद्र, पांडव ने राज्य किया था। उनका चरित्र देखो। जब दुष्टजन राज्य पर आक्रमण करें, तब शासक को रोकना पड़ता है। दूसरे राज्य के अपहरण करने को नहीं जाना चाहए। निरपराध प्राणी की रक्षा करना चाहिये। राजा का कर्त्तव्य है, कि संकल्पी हिंसा बंद करे। निरपराधी जीवों की रक्षा करे। शिकार न खेले, न खिलावे। देवताओं के आगे जीव के बलिदान को बंद करावे। दारू, मांस खाना बंद करावे। परस्त्री-अपहरण को रोके। राजनीति में राजा अपने पुत्र को भी दंड देता है। जुआ, मांस, सुरा, वेश्या, आखेट (शिकार) चोरी, परांगना परस्त्री के सेवन रूप सात व्यसन हैं। इन महापापों को रोकना चाहिये। सज्जन का पालन करना और दुर्जन का शासन करना राजनीति है। सत्य धर्म का लोप नहीं करना चाहिये। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, तथा अतिलोभ ये पांच पाप अधर्म हैं। इनका त्याग धर्म है। अधर्म को ही अन्याय कहते हैं। जिस राजा के शासन में प्रजा नीति से चले उस राजा को पुण्य प्राप्त होता है। अनीति से राज्य करने पर उसे पाप प्राप्त होता है।"

महाराज ने कहा-"राजनीति तो यह है कि राज्य भी करे तथा पुण्य भी कमावे। पूर्व में तप करने वाला राजा बनता है। दान देने वाला धनी बनता है। राज्य पर यदि कोई आक्रमण करे तो उसको हटाने के लिए प्रति आक्रमण करना विरोधी हिंसा है, उसका त्याग गृहस्थी के नहीं बनता है, उसे अपना घर सम्हालना है और चोर से भी रक्षा करना है।

सज्जन राजा गरीबों के उद्धार का उपाय करता है। गरीब दो प्रकार के हैं, जो हृष्ट-

---

1. Vide 'Among the Great'-Bertrand Russel.
By D.K. Roy PP. 128-129.

पुष्ट गरीब आजीविका विहीन हैं, उनको आजीविका से लगाना चाहिये। जो गरीब अंगहीन हैं, अतिबालक अथवा अतिवृद्ध हैं, जिनमें कमाने की शक्ति नहीं है, उनका रक्षण करना चाहिए।'' महाराज ने कहा-''जो पंच पाप करता है वह पापी है, जो उन्हें छोड़ता है वह पुण्यवान है। पंचपाप की पुष्टी से राज्य करना अन्याय है। प्रजा का अपने बच्चे की तरह पालन करना राजनीति है।''

सांगली में संघ संचालक जवेरी बंधुओं का सम्मान

आचार्यश्री का उपदेश सुनकर सांगली नरेश की आत्मा बड़ी हर्षित हुई। धर्म के अनुसार आचरण करने वाले महापुरुषों की वाणी का अंतःस्थल तक प्रभाव पड़ा करता है, कारण धर्म अंतःकरण की वस्तु है। अंतःकरण जब धर्माधिष्ठित हो जाता है, तब प्रवृत्ति में भी उसकी अभिव्यक्ति हुए बिना नहीं रहती। सांगली के समस्त श्रावकों ने संघ संचालक जवेरी बंधु का सम्मान करते हुए निम्नलिखित अभिनंदन-पत्र भेंट किया :

''श्रीमान् जिनभक्ति परायण सेठ पूनमचंद घासीलाल जोहरी, मुम्बई,

के प्रति, हम सांगली के समस्त दिगंबरी श्रावक मिलकर आपको भारी आनंद के साथ यह मान पत्र देते हैं।

श्री १०८ शांतिसागर आचार्य महाराज व उनके संघ को साथ में लेकर आप परम पूज्य श्री शिखरजी क्षेत्र की वंदना करने को निकले हैं, आप अपने न्यायोपार्जित धन को ऐसे पुण्य कार्यों में खर्च करते हैं और सातिशय पुण्य को बांध रहे हैं, इसको देख हमको अत्यन्त आनंद हो रहा है। इधर कुछ समय से दिगंबर साधुओं के संघ दृष्टिगोचर नहीं हो रहे थे, सो अब साक्षात दर्शन हो रहा है। शुद्धि चारित्र को पालने वाले मुनि, ऐलक, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी आदि सभी जन आचार्य शांतिसागर महाराज के अनन्य भक्त बन रहे हैं और गुरुसेवा में तत्पर हैं। इसीलिये संघ को, चतुर्थकाल में होने वाले संघ की उपमा प्राप्त हो रही है। ऐसे अपूर्व दिगम्बर संघ की अनन्य भावों से सेवा करने के लिए आप तैयार हुए हैं, इसलिए हम सब आपका अभिनंदन करते हैं।

चतुर्विध संघ पूर्वकाल से तीर्थाटन के लिए निकला करते थे। इसके लिए ग्रंथों में ऐतिहासिक प्रमाण बहुत से मिलते हैं। यात्रा के निमित्त से धनी श्रावक अपना द्रव्य खर्च करते थे। संघ के विहार द्वारा उत्तरीय प्रान्तों में भी जैनधर्म की यथार्थ तथा उत्कृष्ट प्रभावना हो ऐसी हमारी प्रबल इच्छा है। इसी प्रकार संघ का विहार और तीर्थ यात्रा जल्दी पूरी हो और फिर से हमें इन पवित्र विभूति के दर्शन शीघ्र ही लौटने पर हों यह जिनेश्वर के समीप हमारी उत्कृष्ट भावना है।''

- समस्त श्रावक,

सांगली (महा.) वीर संवत् २४५४, मार्गशीर्ष वदी ५, रविवार.

रजत के करंड़क (चांदी की आभूषण रखने की पेटी) में यह अभिनंदन पत्र भेंट किया गया था। श्रेष्ठ गुरु सेवा में सर्वत्र सम्मान और आदर प्राप्त करना धर्म का ही प्रसाद है ।[1] कोल्हापुर के श्रीमंत भूपालप्पा जिरगे ने सांगली आकर बहुमूल्य वस्त्रों द्वारा संघपति का सम्मान किया।

गृहस्थ द्वारा योग्य विनय प्रार्थना किये जाने पर ही आहार ग्रहण

श्रीमान राज्यमान्य सीमंधर आरवाड़े के यहाँ आचार्यजी का आहार हुआ। उस आहारदान की विधि से यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार दिगम्बर मुनि बिना याचना के आत्म सन्मान की पूर्णतया रक्षापूर्वक भक्ति, प्रेम तथा श्रद्धा भाव युक्त विवेकी श्रावक के द्वारा अर्पित शुद्ध आहार लेते हैं। गृहस्थ करुणा भाव से इनको आहार नहीं देता, भक्ति वश पुण्य संचय के हेतु वह इन अहिंसा मूर्तियों की आतम साधना में सहायक बनने की दृष्टि से आहार अर्पण करता है। यदि साधु की प्रतिज्ञा के अनुकूल आहार मिला तो वे लेते हैं, अन्यथा नहीं। भोजन के प्रति उनकी आसक्ति या लोलुपता नहीं है। दातार उनके चरणों को प्रणामकर, उनकी पूजाकर प्रार्थना करता है, "भगवन् ! मेरे गृह को कृतार्थ कीजिए।" अतः उनके आहार ग्रहण करने में भिक्षुक का दीनतापूर्ण भाव नही हैं। वे माँगते ही नहीं है, अतः मांगने वाले के साथ तुलना नहीं हो सकती है। गृहस्थ उनको अपना श्रेष्ठ आध्यात्मिक अतिथि तथा आत्म-साधना के परिवार का प्रमुख कुटुम्बी मानता है। अतएव पाश्चात्य जगत के प्रकाण्ड पंडित रसेल वर्ट्रंड का बुद्ध के विषय में कहा गया दोष कि "He lived on the alms of the pious.(वह धार्मिक पुरुषों की भिक्षा पर जीवन निर्वाह करते थे)", जैन मुनि के विषय में चरितार्थ नहीं होता है। श्रावक जब मुनिराज को अपने धार्मिक परिवार का श्रेष्ठ पुरुष मानता है, तो उसका अपने आत्मीयजन के प्रति भेंट अर्पण करना उचित है।

कोई यह सोचे कि बिना कुछ दिए हुए मुनि का भोजन लेना मुफ्त का माल लेना हुआ, यह भ्रम है। मुनिराज जिस गृह में आहार करते हैं, उसकी आत्मा को इतनी पवित्रता और पुण्य की सामग्री प्राप्त होती है, कि उनके संतुलन में आहार का मूल्य नगण्य रहता है। अतः आध्यात्मिक संपत्ति के लाभ की लालसा से श्रावक लोग आहार देने के सौभाग्य के लिए बड़ा श्रम करते हैं, महिनों प्रवास करते हैं, विपुल द्रव्य व्यय करके दूर-दूर जा इन श्रमणों को खोजकर उनको सत्कृत करने का सौभाग्य प्राप्ति निमित्त हृदय से प्रयत्न करते हैं। अर्थशास्त्री का प्राण "द्रव्य" उनके सामने पानी के समान है। सेवा का सौभाग्य उनके लिए रत्नराशि से बढ़कर है। अतः अपनी संपत्ति

---

१. धर्मो रक्षत्यपायेभ्यो धर्मोभीष्ट फलप्रदः।
धर्मः श्रेयस्करोमुत्र धर्मेणाभिनंदथुः ॥ ११६ - महापुराण ॥

का स्वामी स्वेच्छापूर्वक आध्यात्मिक संत की सेवा में वांछनीय सामग्री समुपस्थित करता है, और सदा सेवार्थ तत्पर रहता है, ऐसी स्थिति में उन सत्पुरुषों के विषय में असत् आरोप की बात सोचना अभद्र कार्य है।

मिरज नरेश द्वारा भक्ति

सांगली से संघ सानंद प्रस्थान कर मिरज पहुंचा। महाराज के शुभागमन का समाचार मिलने पर वहां के नरेश आचार्य श्री के दर्शनार्थ पधारे। महाराज का दर्शन कर संत समागम से उन्होंने अपने को धन्य समझा। यहां से चलकर संघ अथणी होता हुआ अतिशय क्षेत्र बाबानगर पहुंचा। पश्चात् संघ बीजापुर आया। यहाँ सार्वजनिक सभा में मुनि वीरसागर महाराज तथा ऐलक पायसागरजी का प्रभावशाली उपदेश हुआ।

अक्कल कोट में शाही स्वागत तथा धर्म प्रभावना

वहां से चलकर संघ मगसिर सुदी ६ को अक्कल कोट पहुंचा। यहां सरकारी बाजे द्वारा संघ का भक्ति पूर्वक स्वागत किया गया। दो बजे दिन को नेमिसागर मुनिराज तथा ऐलक नेमिसागर जी का केशलोंच हुआ। उस समय राज्य के उच्च अधिकारी महोदय ने कचहरी की छुट्टी कर दी जिससे राजकर्मचारी भी केशलोच को देख सके। संघ के दर्शनार्थ बहुत लोग आए थे। केशलोंच को देखकर जैन साधुओं की आत्म-निमग्नता, वीतरागता, निस्पृहता, अहिंसापरता का जनता पर गहरा प्रभाव हुआ।

केशलोंच पर अनुभव पूर्ण प्रकाश

एक बार मैंने आचार्य महाराज से पूछा था- "महाराज! आप लोग केशों को उखाड़ते जाते हैं, मुख की मुद्रा में विकृति नहीं आती, मुख पर शांति का भाव पूर्णतया विराजमान रहता है, क्या आपको कष्ट नहीं होता ?"

महाराज ने कहा था- "हमें केश-लोंच करने में कष्ट नहीं मालूम पड़ता। जब शरीर में मोह नहीं रहता है, तब शरीर-पीड़ा होने पर भावों में संक्लेश नहीं होता है।" एक बात और है, निरन्तर वैराग्य भावना के कारण शरीर के प्रति मोह भाव दूर हो जाता है, अतः आत्मा से शरीर को भिन्न देखने वाले इन तपस्वियों को केशलोच आत्मविकास का कारण होता है। अन्य संप्रदाय वालों के अंतःकरण पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है, जिनधर्म की प्रभावना होती है। अहिंसा और अपरिग्रह भाव के रक्षणार्थ यह कार्य किया जाता है। यथार्थ में सुख-दुःख का संवेदन मनोवृत्ति पर अधिक आश्रित रहता है। जब मन उच्च आदर्श की ओर लगा रहता है, तब जघन्य संकटों का भान तक नहीं होता है। इसे देखकर यह भी समझ में आता है, कि मुनिराज जिस प्रकार शरीर से दिगम्बर होते हैं, उसी प्रकार इनका मन भी वासनाओं के अम्बर से उन्मुक्त रहता है। जैनेश्वरी तपस्या के द्वारा धर्म प्रभावना के लाभ

को विस्मरण कर कोई-कोई व्यक्ति एकान्त में केशलोंच का समर्थन करते हैं। यह धारणा अयोग्य है। सार्वजनिक रूप देने से अन्य धर्मियों के चित्त में जैनधर्म की महिमा अंकित होती है और वे सच्चे साधुत्व का मूल्यांकन करने लगते हैं। उनमें पूज्य भावना जगती है।

निजाम राज्य प्रवेश

इसके पश्चात् संघ ने तत्कालीन निजाम राज्य में प्रवेश किया था जो आज स्वतंत्र भारत में विलीन हो गया है। इसके कुछ समय पूर्व आलंद के सेठ माणिकचन्द मोतीचन्द शाह तथा बालचन्द जी कोठारी (वकील), गुलवर्गा ने निजाम रियासत के धार्मिक विभाग के पास प्रार्थनापत्र ता. १ वह. १३३७ फ. (सन् १९२७ में) दिया, उस पर श्री दिगम्बर आचार्य महाराज के संघ को विहार के लिए स्वीकृति प्राप्त हो गई तथा मार्ग में संघ को कोई तकलीफ न हो इससे तत्कालीन पुलिस सुप्रिन्टेडेंट मौलवी मुहम्मद जलालुद्दीन ने दो पुलिस के सिपाहियों को दिगम्बर मुनि संघ के साथ-साथ रहने की विशेष आज्ञा तारीख ३ वहमन १३३७ फ. को दी थी। उसमें लिखा था "मुहम्मद जलालुद्दीन मोहतमिम कोतवाली जिला गुलवर्गा की ओर से मि. बालचन्द कोठारी बी.ए., एल.एल.बी. वकील, गुलवर्गा निवासी के नाम उत्तर निवेदन है कि आपके प्रार्थना पत्र पर अब्दुल करीमखां और आवाजीराव नामक दो जवान (सिपाही) आज ता. ३ वहमन सन् १३३७ फसली को एक माह के लिए रवाना किए जाते हैं, अतः समय अवधि की समाप्ति पर दो इन्फन्ददार सन् १३३७ फसली को वापिस कर दिए जावें।"

जब संघ वागधरी पहुंचा तब वहां स्व. सेठ लीलाचन्द हेमचन्द की धार्मिक सेठानी राजूबाई ने सारे संघ तथा अन्य यात्रियों का बड़े आदर पूर्वक भोजन सत्कार किया। यहां आहार के उपरांत सामायिक हुई। तत्पश्चात् संघ का आलन्द की ओर विहार हुआ।

आलंद में प्रभावना

आलंद की जैन समाज ने उत्साह पूर्वक संघ का स्वागत किया। यहां संघ सेठ नानचन्द सूरचन्द के उद्यान में ठहरा था। पहले ऐसी कल्पना होती थी, कि कहीं कुछ संकीर्ण चित्तवाले अन्य संप्रदाय के लोग विघ्न उपस्थित करें, किन्तु महाराज शांतिसागर जी के तपोबल से ऐसा अद्भुत परिणमन हुआ कि ब्राह्मण, मुसलमान, लिंगायत, हिन्दु आदि सभी धर्म वाले भक्तिपूर्वक दर्शनार्थ आए और प्रसाद के रूप में पवित्र धर्मोपदेश तथा कल्याणकारी बातें साथ में लेते गए। आलंद में सरकारी अधिकारियों और सारी जनता ने दिगम्बर मुनियों के दर्शन से अपने जीवन को कृतार्थ किया।

एक दिन कसाईखाना बंद किया गया

यहां मगसिर सुदी १० को वीरसागर महाराज का केशलोच हुआ। उस समय जनता की

बड़ी भीड़ थी। वहां के बड़े-बड़े अधिकारी भी उपस्थित थे। उस दिन शहर का कसाई खाना बन्द कर दिया गया था। जिस दिन आचार्य महाराज का आहार सेठ माणिकचन्द मोतीचंद के यहां निर्विघ्न हुआ उस दिन आनन्द मग्न होकर उन सेठ साहब ने शेडवाल अनाथ छात्राश्रम को विशेष दान दिए। यह इस बात को सूचित करता है, कि ये साधु जनता को कितने प्रिय होते हैं और उनका आहार भार नहीं होता है, प्रत्युत वह दातार को आभारी करता है। वह जीवन भर उन स्वर्ण क्षणों का स्मरण किया करता है, जब युग श्रेष्ठ अहिंसा के आराधक महापुरुष साधुराज द्वारा उसका गृह पवित्र किया गया था।

गुंजोटी ग्राम की विशेष बात

आलंद से गुँजोटी जाने का मार्ग मोटर के जाने के अयोग्य था, अतः गुरुभक्तअ श्री हीराचन्द माणिकचन्द शाह ने वह रास्ता तुरन्त ठीक कराया। संघ गुजोटी में सेठ देवचन्द धनजी के उद्यान में ठहरा। आचार्यश्री का आहार सेठ गुलाबचंद देवचन्द के यहां हुआ। उन्होंने पांच हजार रुपया शेडवाल अनाथाश्रम को दान में दिए। गुरु दर्शनार्थ तथा उनके अहिंसामय उपदेश को सुनने जनता और अधिकारी लोग आते थे।

इसके अनन्तर एक विशिष्ट घटना यह हुई कि आचार्यश्री ने आगे विहार का निश्चय कर संघ को आज्ञा दे दी। जब यह बात जनता और राज्य के अधिकारी वर्ग को विदित हुई तब उन्होंने महाराज से अनेक बार रुकने की प्रार्थना की, किन्तु उसका कुछ असर न हुआ, कारण महाराज सत्यव्रती हैं। जो वाणी मुख से निकल जाय उसका प्राणपण से पालन करते हैं। इससे यह भी ज्ञात होता है कि ये महापुरुष सदा आत्माराधन में तत्पर रहते हैं। जनता की भक्ति, उसका प्रेम न इन्हें हर्षित करता था और न नीचों का दुष्ट व्यवहार इनको दुःखी ही करता था।

सत्यव्रती मुनि का वचन पालन

ये वीतराग तपस्वी दोनों अवस्था में साम्य संपन्न मानसिक संतुलन को सम्यक् प्रकार से सुरक्षित रखते हैं। व्यापारिक मनोवृत्ति इनकी नहीं रहती, अन्यथा लाभ की कल्पना कर पूज्यश्री, अपने प्रस्थान के कार्यक्रम को बदल देते। ये सत्य महाव्रती मुनिराज निश्चय पूर्वक जो वचन कह देते हैं उसकी पूर्ति किए बिना नहीं रहते हैं। इस प्रतिज्ञापूर्ति के हेतु प्राणों की आहुति को भी तैयार होते हैं। एक बात और है कि वे गंभीर विचार के उपरांत ही अपना पक्का निश्चय करते हैं। विचाराधीन बात में फेरफार हो सकता है। इनका निश्चय तो हिमालय से भी अधिक दृढ़ होता है। लाभ की लोलुपता लौकिक लोगों को लुभा लिया करती है, किन्तु इन संतों को आगमोक्त सिद्धांत के संरक्षण का ही सदा ध्यान रहता है।

इन श्रमणों के जीवन का निकट से निरीक्षण करने पर विवेकी व्यक्ति को बोध होगा

कि ये आत्मशुद्धि तथा लोक कल्याण में कितने व्यस्त रहते हैं। ये रागद्वेष, मोह, क्रोध, कलह मायामयी दुनिया के कदम पर कदम न रख आत्मोत्कर्ष के पथ पर चलते हैं। इससे कोई कोई यह सोचते हैं, ये जीवन संग्राम से डरकर भागते हैं। अंग्रेज लेखकों का अनुसरण करते हुए श्री जवाहरलाल नेहरू लिखते हैं- बुद्ध धर्म तथा जैन धर्म ने जीवन से दूर रहने पर जीवन से दूर भागने पर जोर दिया है।[1] ये उद्गार जैन गृहस्थों के विषय में तनिक भी नहीं लागू होते हैं, कारण गृहस्थाश्रम में लौकिक जीवन यात्रार्थ न्यायपूर्ण प्रवृत्ति का जैन आगम में उपदेश है, तथा यह देखने में आता है कि अपने तथा सार्वजनिक कार्यों में जैन गृहस्थ योग्य भाग लेता है, राष्ट्र और जगत की समृद्धि और सेवा में हाथ बटाता है।

क्या जैन मुनि जीवन से दूर भागते हैं ?

जैन मुनि के विषय में भी यह कथन असंगत है, कारण सच्चे जीवन में उनकी प्रवृत्ति होती है। मोही जगत के समान उनकी जीवन धारा न देखकर उन्हें जीवन के उत्तरदायित्व से दूर भागने वाला बताना न्यायोचित नहीं है। उनका मुख्य लक्ष्य है आत्मा से राग, द्वेष, मोह, माया आदि कलंकों को दूर कर उसे पूर्ण पवित्र, सर्वज्ञ, परम ज्योति स्वरूप परमात्मा बनाना, अतः उनको संसार के जाल से अपने आपको बचाना आवश्यक है। जिस पुद्गल की आराधना को जड़वादी जीवन मानता है, उसे ये महात्मा मुनीन्द्र मृत्यु जानते हैं। इनका लक्ष्य अमृतत्त्व को प्राप्त करना है, जिस पर कालबली का जोर नहीं चलता है। पाश्चात्यों के यहां स्वाधीनता का जो स्थान है, वही स्थान इन श्रमणों की दृष्टि में मुक्ति का है। शत्रु चाहे भीतरी हों या बाहरी उनके बंधन में पड़ना ही पराधीनता है। काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं का बंधन काटने पर ही मुक्ति की प्राप्ति होती है। इससे ये मुनिराज उन प्रसंगों से दूर रहते हैं जो आत्मा को अंतरंग शत्रुओं का कैदी बनाते हैं।

वासनाओं पर विजय

ये विवेकी वासनाओं की दासता को नरक से भी भीषण वस्तु मानते हैं, अतः वासना-विजय के हेतु ये अपने संपूर्ण इंद्रिय सम्बन्धी सुखों को छोड़कर आत्मशुद्धि के श्रेष्ठ उद्योग में संलग्न होते हैं। उस कार्य के लिए ये कम से कम समय निद्रा में लगाते हैं। अल्प सात्विक आहार लेकर निरंतर जागृत रहते हैं। अध्यात्मवाद के सूर्य को देखने का जिन आंखों को अभ्यास नहीं है। वे चक्षुगोचर कार्यसंलग्नता को ही काम मानते हैं।

---

1. "Budhism and jainism rather emphasised the abstention from life-running away from life."

-Jawaharlal Nehru : 'Discovery of India', p.83.

विश्वकवि डॉ. टैगोर ने लिखा है-"यूरोप में लगाम पहने हुए मरना एक गौरव की बात समझी जाती है।"काम कैसा ही हो, आखिरी जीवन पर्यन्त जोश के साथ हाथ-पैर हिलाते हुए मर जाना, श्रेष्ठ कार्य सोचा जाता है। इस दृष्टि के विषय में रवि बाबू ने लिखा है-"जब किसी जाति को इस कर्म चक्र में घूमने का चसका लग जाता है, तब फिर पृथ्वी में शांति नहीं रह पाती।" बहुत समय पहले व्यक्त किए कवीन्द्र रवीन्द्र के उपरोक्त उद्‌गार आज के युग में पूर्ण सत्य प्रमाणित होते हैं।

भोग के रोगी मुनियों की महत्ता को नहीं समझ पाते

आज का जगत् यथार्थ में ज्वालामुखी के मुख पर बैठा हुआ दिखता है। एक चिनगारी कहीं से पहुंची कि विस्फोट द्वारा प्रलय का दृश्य उपस्थित होने में देर न लगेगी। ये भोग के रोगी स्वस्थ वीतराग संतों और संस्कृति के सत्य स्वरूप को अपनी मलिन दृष्टिवश निर्दोष रूप से देख ही नहीं पाते हैं। आध्यात्मिकता के शव पर निर्मित जड़वाद का प्रासाद मृत्यु के मंदिर से तनिक भी भिन्न नहीं है। अतः उसे यमालय के सिवाय अन्य उपयुक्त नाम नहीं दिया जा सकता।

भोगप्रधान संस्कृति

आत्म-विद्या की कसौटी पर कसने पर ज्ञात होगा, कि आज की सभ्यता बर्बरता का स्वर्ण संस्करण (Golden Edition) है। नागनाथ और सांपनाथ में क्या अंतर है ? भोग प्रधान संस्कृति भी विकृति का मोहक रूप है। रवीन्द्र बाबू ने सुन्दर बात कही है, "यह स्वीकार करना होगा, कि संतोष, संयम, शांति और क्षमा ये सभी सर्वोच्च्च सभ्यता के अंग हैं। इनमें चढ़ा ऊपरी-रूपी चमक-दमक पत्थर की रगड़ का शब्द और चिनगारियों की वर्षा नहीं है।"उनके ये शब्द बड़े अनमोल हैं,"इनमें हीरे की शीतल, शांत ज्योति है। उस रगड़ के शब्द और चिनगारियों को इस स्थिर, सत्य ज्योति से बढ़कर, कीमती समझना कोरा जंगलीपन है।"

उज्ज्वल संस्कृति का आधार स्तंभ

श्रमणों ने वासनाओं की विजय को संस्कृति का आधारस्तंभ माना है। जैसे-जैसे वासनाओं की विजय बढ़ती जाती है, वैसे वैसे आत्मा का विकास होता जाता है। उस आत्मविकास के हेतु ही जैन मुनि पर-पदार्थों का त्याग करते हैं और उन वस्तुओं के प्रति आत्मा में छुपी ममता के बीजों के विनाशार्थ निरंतर उद्योग करते हैं ध्यान करते हैं। रवि बाबू के इन शब्दों में कितना सत्य है, "वासना को छोटा करना ही आत्मा को बड़ा करना है। यूरोप मरने को भी राजी है, किन्तु वासना को छोटा करना नहीं चाहता। हम भी मरने को राजी हैं, किन्तु आत्मा को उनकी परम गति-परम संपत्ति से वंचित करके छोटा बनाना नहीं चाहते।"इस वासना-

विजय के कार्य में संलग्न आत्मा की दौड़ धूप नहीं दिखती है, अतः स्थूल दृष्टि वालों को यह क्रिया शून्यता सी प्रतीत होती है।" उनके विषय में वे कहते हैं, "यह निश्चेष्ट भाव या निठल्लापन नहीं है। संसार की दृष्टि से वह जड़ता जान पड़ती है। परन्तु वास्तव में वह जड़ता नहीं है, जैसे पहिये के अत्यंत घूमते रहने पर वह दिखाई नहीं पड़ता, वैसे ही वह अनंत गति निश्चेष्टता सी जान पड़ती है।"(स्वदेश)

मुनियों का व्यस्त जीवन

इन मुनिजनों के समीप जाकर देखने पर पता चलता है, कि इनका प्रत्येक क्षण अनमोल है। उसका अपव्यय करना वे नहीं जानते। अपने जीवन के क्षणों को निद्रा के लिए देते हुए भी इनको बड़ा संकोच होता है, अतः प्रयत्न करते हैं कि कम से कम नींद आवे। इससे निद्रा विजय तप की भी साधना करते हैं। ये क्रोध, मान, मत्सर, कामादि अन्तरंग विकारों का उन्मूलन कार्य किया करते हैं, जिससे आत्मा परमपद को प्राप्त करे। आचार्य शांतिसागर महाराज ने इस निद्रा जप-तप की भी खूब साधना की थी।

जप का काल

एक दिन मैंने (७ दिसंबर सन् १९५१ के) सुप्रभात के समय आचार्य महाराज से पूछा था-"महाराज! आजकल आप कितने घंटे जाप किया करते है ?"

महाराज ने कहा था - रात को एक बजे से सात बजे तक, मध्याह्न में तीन घंटे तथा सायंकाल में तीन घंटे जाप करते हैं।" इससे सुहृदय सुधी सोच सकता है कि इन पुण्य श्लोक महापुरुषों का कार्यक्रम कितना व्यस्त रहता है। ये जीवन से भागते हैं यह कथन असत्य की पराकाष्ठा है, जैसे सूर्य को कलंक का पुंज कहना। सत्य कथन तो यह होगा कि ये मृत्यु से, आत्मा की मृत्यु से दूर जाते हैं। It is not escape from life, rather it is escape from death. अतः श्री नेहरू का आक्षेप पूर्णतया अपरिचय मूलक है।

कोल्हू का बैल

प्रबुद्ध मानव की चेष्टा कोल्हू के बैल के समान जुते रहने सदृश नहीं रहती। पुद्गल की संगति से यह इअज्ञ जीव कोल्हू के बैल सदृश क्रियाशीलता में जुटा रहता है। उससे उसका कुछ हित नहीं होता है। कविवर बनारसी दास जी ने लिखा है कि मोह के संसर्ग वश जीव की कोल्हू के बैल के सदृश स्थिति होती है, किन्तु मुनिजन मानव के समान विवेकपूर्ण क्रिया करते हैं। वे बैल को भला अपना आदर्श क्यों बनावेंगे ? उस बैल का चित्रण कविवर बनारसीदास जी ने नाटक समयसार में इस प्रकार किया है -

पाटी बंधे लोचन सों संकुचे दबोचनि सों,
कोचनि को सोच सो निवेदे खेद तनको।

धाइवोही धंधा अरु कंधा माहि लग्यो जोत,
बार बार आर सहै कायर है मन को।
भूख सहै प्यास सहै दुर्जन को त्रास सहै,
थिरता न गहै न उसास लहै छिन को।
पराधीन घूमै जैसो कोल्हू को कमेरो बैल,
तैसोई स्वभाव भैया जगवासी जन को ॥ ७६ ॥

ज्योतिर्मय मार्ग

उपनिषद् की प्रार्थना में कहा गया है-"तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय"(माता ! हमें अंधकार से प्रकाश की ओर ले चल, मृत्यु से अमृत पद को प्राप्त करा)। उसका मार्ग सर्वांगीण अहिंसा का पालन करना है। जब तक संपूर्ण छोटे बड़े जीवों के प्राणों के प्रति सम्मान का भाव नहीं जागृत होता है, तब तक बकराज की भांति अहिंसा की बाहरी नकल जीव को श्रेयमार्ग पर नहीं पहुंचाती है। अपनी दुष्टवृत्ति शोधन किये बिना लोग चिकित्सासम अहिंसा धर्म रूप औषधि को ही बुरा कहते हैं, जैसे अकुशल कारीगर अपने काम करने के औजारों को बुरा बताता है, इसी प्रकार अपनी हीन प्रवृत्तियों को न सुधारकर अज्ञ व्यक्ति कल्याणप्रद धर्म को दोषपूर्ण कहने लगते हैं। विवेकी व्यक्ति ऐसे भ्रमजाल में न फंसकर सत्पथ में संलग्न रहते हैं। उस श्रेयोमार्ग का दर्शन इन श्रमणों की जीवनचर्या में विद्यमान रहता है। इनके द्वारा हिंसादि पापों के परित्याग का जो उपदेश दिया जाता है, वह लोगों के नैतिक स्तर को स्थायी रूप से इतना उन्नत कर देता है जितना राज्य का कठोरतम दंड भी नहीं कर पाता है। दंड की भीति अन्तःकरण अथवा मनोवृत्ति को नहीं बदल सकती है। किन्तु इन योगियों का विशुद्ध जीवन सत्पात्रों के हृदय का परिवर्तन करके उसे आलोकपूर्ण कर देता है, फिर उसकी आत्मा स्वयं उसके लिए मार्गदर्शक बन जाती है। इन श्रमणों के निमित्त से लोक-कल्याण के लिए अनेक संस्थाएं खुल जाती हैं, गरीबों के हितार्थ बड़े-बड़े उपयोगी काम हो जाते हैं। इस प्रकार यदि सूक्ष्मता से देखा जाय तो एक व्यक्ति मुनिपद को धारण कर अगणित व्यक्तियों का लौकिक, नैतिक, तथा आध्यात्मिक हित करता है। उस लौकिक हित का परमार्थ जीवन से परंपरागत संबंध रहता है।

लातूर

अपने निश्चय के अनुसार गुन्जोटी से समारोह पूर्वक संघ का प्रस्थान हो गया। पौष वदी दूज को संघ लातूर पहुंचा। यहां सेतवाल समाज के भट्टारक विशालकीर्तिजी की गद्दी है। उन्होंने आचार्यश्री को प्रणामांजलि अर्पित की तथा संघपतिजी को मानपत्र

दिया। वहां से चलकर संघ १५ दिसम्बर को नांदेड़ पहुंचा। वहां स्वागत के जुलूस में जिलाधीश आदि अधिकारी भी सम्मिलित थे। स्टेट के घुड़सवार तथा पुलिस सर्व प्रकार की सुव्यवस्था करते जाते थे।

विदर्भ प्रांत में प्रवेश

श्री चन्द्रसागरजी ने, जो कुछ समय के लिये नांदगांव चले गये थे, लगभग दो सौ श्रावकों सहित नांदेड़ में आकर संघ को वर्धमान बनाया। एक दिन वहां रहकर संघ ने १७ दिसम्बर को प्रस्थान किया, यहां तक ही निजाम की सीमा थी। अतः स्टेट के कर्मचारियों और अधिकारियों ने सद्भावना पूर्वक आचार्य महाराज को प्रणाम किया और वापिस लौट आये। यह आचार्यश्री का आत्मबल था जिससे निजाम स्टेट में से विहार करते हुए तनिक भी गड़बड़ी नहीं हुई, किन्तु वीतराग गुरुओं का गौरव बढ़ा।

अब संघ स्टेट के बाहर उमरखेड़ में ता.२० दिसम्बर को पहुंच गया। इसके पश्चात् ता.२१ को संघ पुसद के लिए रवाना हुआ। कारंजा की धार्मिक मंडली ने पं. देवकीनन्दन जी व्याख्यानवाचस्पति के नेतृत्व में पूज्यश्री से कारंजा होकर विहार करने की अनुनय विनय की। किन्तु वह रास्ता चक्कर का पड़ता था, इससे उनकी प्रार्थना अस्वीकृत हुई। पूसद में आसपास की बहुत जैन जनता ने आकर गुरुदर्शन का लाभ लिया। इसके पश्चात् ता. २३ दिसम्बर को संघ डिगरस आया। दूसरे दिन दाखा पहुंचा। वहां लगभग दो हजार श्रावकों का समुदाय एकत्रित हो गया था। आचार्यश्री का उपदेश सुनकर भव्यात्माओं को अवर्णनीय आनन्द मिला था। उनका एक एक शब्द बड़े प्रेम, बड़ी भक्ति और अतिशय श्रद्धापूर्वक सुना गया था।

इसके पश्चात् संघ २६ दिसम्बर को यवतमाल पहुंचा। यहाँ खामगांव के श्रावकों ने सर्व संघ को भोजन कराया। यहां प्रद्युम्नसाव जी कारंजा वालों के यहां पूज्य आचार्यश्री का आहार हुआ। रात्रि के समय श्री जिनगौड़ा पाटील का मधुर कीर्तन हुआ। श्री पाटील गोविन्दरावजी ने संघ के लिए दूध, लकड़ी, का प्रबन्ध वर्धा पर्यन्त करके अपनी भक्ति तथा प्रेम भाव व्यक्त किया था। ता. २८ को संघ पुलगांव पहुंचा। बालू के बोरे डालकर कृत्रिम पुल बनाने की कुशलता तथा गुरुभक्ति श्री जमनालाल जी झांझरी ने प्रदर्शित की। यहाँ सुन्दर जुलूस निकाला गया था। संघ ३० दिसम्बर को वर्धा पहुंचा। आचार्य महाराज तथा अन्य त्यागियों का उपदेश हुआ। यहां से संघ रवाना होकर २ जनवरी सन् १९२८ को नागपुर के समीप पहुंच गया।

नागपुर और वर्धा के मध्य का मार्ग बहुत खराब था। उसे नागपुर जैन समाज ने तत्परतापूर्वक ठीक कराया। रत्नत्रय-मूर्ति आचार्य महाराज ने मुनित्रय सहित तीन जनवरी सन् १९२८ को नागपुर नगर में प्रवेश किया। जुलूस तीन मील के लगभग लम्बा था।

उसमें छत्र, चमर, पालकी ध्वजा आदि सोने चांदी आदि की बहुमूल्य सामग्री थी, इससे उसकी शोभा बड़ी मनोरम थी। नागपुर नगर वासियों के सिवाय प्रांत भर के लोग जैन अजैन तथा अधिकारी वर्ग आचार्यश्री के दर्शन द्वारा अपने को कृतार्थ करने को खड़े थे। लोगों की धारणा है कि इतना सुन्दर विशाल भव्य और भक्ति युक्त जनता का जुलूस पुनः नागपुर में अब तक नहीं निकला।

अपूर्व स्वागत

अंजनी से चलकर गुरुदेव की सीताबर्डी में पूजा के अनन्तर जुलूस शांतिनगर की ओर चला। यह नवीन स्थान बाहर से आये हुए हजारों जैनियों के निवास के लिए बनाया गया था। आज भी वह स्थान आचार्यश्री के नाम से स्मारक रूप में विख्यात है। जुलूस की शोभा दर्शनीय थी। जहां देखो वहां भक्त जनता गुरुदेव पर सुवास युक्त पुष्पों की वर्षा कर रही थी। भीड़ इतनी अधिक थी कि जब महल के पास श्रीमंत भोंसले सरकार रघु जी महाराज ने जुलूस रोकने के लिए प्रार्थना करवायी तब प्रयत्न करने पर भी जनता के प्रवाह को रोकना अशक्य हो गया।

शांतिनगर में निवास

अवर्णनीय वैभव, शोभा तथा उल्लास के साथ जुलूस शांति नगर में पहुंचा। जहां लगभग आठ दस हजार जैन बंधुओं के निवास का प्रबंध था। प्रबंध व्यवस्था सुन्दर थी। बाहर के जैन बंधुओं के लिए हर प्रकार की सामग्री देने की व्यवस्था समाज ने की थी। तीन दिन पर्यन्त वह स्थल सजीव शांतिनगर दिखता था। वहाँ पर आर्तध्यान, रौद्रध्यान के बदले धर्म की धारा प्रवाहित हो रही थी। नागपुर राजधानी का स्थान है, किन्तु तीन दिन पर्यन्त लोगों का शांतिनगर का आकर्षण देख ऐसा लगता था कि वहाँ दूसरी राजधानी बन गई है।

नागपुर के नागरिकों की भक्ति का कारण

महाभारत में लिखा है कि नागनरेश श्रमणों के उपासक थे। नागकुलीन राजा तक्षक नग्न श्रमण हो गया था।[1] दिगम्बर मुनियों के प्रति नागपुर प्रांतीय जनता की भक्ति ने पुरातन कथन की प्रामाणिकता प्रतिपादित कर दी थी। हमें तो ऐसा लगता है कि नाग युगल को सुर पदवी प्रदान करने वाले भगवान पार्श्वनाथ की निर्वाण भूमि के दर्शनार्थ जाने वाले इन महामुनि तथा उनके संघ के प्रति लोगों ने अपार भक्ति प्रगट की जो इस विचार की पुष्टि करता था कि यह नगर यथार्थ में नागपूर (फणिपुर) ही है। नागमंडल के नायक पद्मावती धरणेन्द्र ने सदा ही प्रभु पार्श्वनाथ की भक्ति करने वालों

---

१. "सोऽपश्यत् नग्नं श्रमणं आगच्छन्तम्" - महाभारत आदिपर्व (हिन्दू धर्म समीक्षा पृ. १३५)

की सदा सहायता की है और उनके संकट दूर किये हैं।

इस प्रसंग में यह बात ध्यान देन की है कि सम्यग्दृष्टि जीव भवनत्रिक देवों में उत्पन्न नहीं होता। भवनत्रिक में उत्पन्न होने के पश्चात् सम्यक्त्व प्राप्त होने में कोई बाधा नहीं है। सौधर्मेन्द्र की इन्द्राणी सम्यक्त्व युक्त हो जन्म नहीं लेती, किन्तु पश्चात् वह सम्यक्त्व प्राप्त करती है। ऐसी ही स्थिति शासन देवों की है। शील पाहुड में "**अरहंते सुहभत्ती सम्मतं**"(४०) अर्हन्तों में निर्मल भक्ति सम्यक्त्व है, ऐसा कुंदकुंद स्वामी ने कहा है। यह परिभाषा शासन-देवताओं में पाई जाने से उनको सम्यक्त्वी मानना उचित है। वे वात्सल्यमूर्ति रहते हैं।

उत्तरपुराण में कहा है कि प्रलय के पूर्व मुनि के प्रथम ग्रास को टैक्स रूप में लेने वाले दुष्ट कल्की को शुद्ध सम्यक्त्वी यक्ष मार डालता है। "असुरः शुद्धदृक" - शुद्ध सम्यक्त्वी असुर, अतः शासन-देवताओं को सम्यक्त्वी जानना उचित है (पर्व ७६, ४१४)। वास्तव में उस नाग युगल का सौभाग्य अवर्णनीय था।

कवि भूधरदास ने जो लिखा है वह पूर्णतया सत्य है -

नाग युगल के भाग की महिमा कही न जाय।
जिन दर्शन प्रापति भई मरण समय सुखदाय॥

इस अपूर्व उपकार को सदा स्मरण रखते हुये कृतज्ञ जीव, प्रभु पार्श्वनाथ का प्रेम से नाम लेने वालों की कामना पूर्ण करते हैं। इसीलिए भगवान पार्श्वनाथ की जन्मभूमि काशी वासी एक भक्त कवि वृन्दावन ने लिखा है -

वामासुत की सेवा करिये, काहे मन में शंका धरिये।
पद्मा जाकी दासी कहिये, जो जो सुख मांगो सो लहिये॥

नागपुर का इतवारा बाजार, सराफा बाजार तीन दिन पर्यन्त बंद रहे थे। यथार्थ में देखा जाय तो कहना होगा कि इन रत्नत्रय मूर्ति को प्राप्त कर पारलौकिक धनसंचय में चतुर व्यापारी निमग्न थे, इसी दृष्टि को प्राधान्य दे उन्होंने बड़े-बड़े दरवाजे बनवाये थे। तोरण, वंदनमाल, आदि से नगरी को सजाया था। इसलिये नगर बड़ा नयनाभिराम लगता था। वहां ऐलक चंद्रसागर तथा पायसागर ऐनापुर वालों का केशलोंच हुआ था। लगभग १५ हजार जनता उपस्थित थी।

धर्म-पुरुषार्थ पर विवेचन

उस अवसर पर धर्म पुरुषार्थ के विषय में महाराज का मार्मिक उपदेश हुआ। वास्तव में जिनका जीवन धर्ममय है और जो धर्ममूर्ति हैं, वे ही धर्म के विषय में अधिकारपूर्वक बात कह सकते हैं और उनसे ही श्रोताओं का हृदय मंगल प्रकाश प्राप्त करता है। पापाचरण में निमग्न बुद्धिजीवी व्यक्तियों के मुख से धर्म के प्रतिपादन में सप्राणता नहीं

दिखती। उनकी वाणी का हृदय से संबंध नहीं रहता है।

महाराज ने कहा था-"हिंसा आदि पापों का त्याग करना धर्म है। इसके बिना विश्व में कभी भी शांति नहीं हो सकती। इस धर्म का लोप होने पर सुख तथा आनंद का लोप हो जायगा। धर्म का मूल आधार सब जीवों पर दया करना है। यह धर्म, जीवन से भी बहुमूल्य है इसके रक्षण के लिए प्राणों का भी मोह नहीं करना चाहिए। इस धर्म को भूलने वाला जीव कभी भी सुख नहीं पाता। पुराण, ग्रंथों में इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि इस धर्म का पालन करने वाले छोटे जीवों ने भी सुख प्राप्त किया और उसे भूलने वालों ने दुर्गति में जा दुःख भोगा है। इस धर्म के द्वारा जीव सुखी होता है, सब प्रकार का वैभव पाता है; इसलिए इस धर्म पालन करने में प्रत्येक विवेकी जीव को लगना चाहिए।" महाराज का यह भी कथन है-"यदि धर्म डूबता है तो हमें अपने जीवन की भी चिन्ता नहीं।" उनका यह कथन पूर्णतया ठीक है। जब भी धर्म और कर्त्तव्य के मार्ग में विपत्ति आयी है तब उनने प्राणों की बाजी लगायी है और उनकी धर्मभक्ति से विपत्ति की घटा सदा दूर हुई है। उनका यह भी कथन है कि **समता जैनधर्म का मूल है**। जिनेन्द्र की वाणी के अनुसार चलने में कल्याण है। शक्ति के अनुसार धर्म का पालन करो। यदि हिंसादि पंच पापों के त्याग की शक्ति नहीं है, तो एक का ही त्याग करो। शक्ति के अनुसार त्याग करने में भलाई है। मार्ग को उल्टा करने में बड़ा पाप है।

धर्म का मूल दया और समता है

दयापूर्ण अंतःकरण वाला जैन है। जैन जाति नहीं है। जैन धर्म है। आगम में धर्म की अनेक परिभाषाएं की गई हैं। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है-

धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दह विहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥

वस्तु का स्वभाव धर्म है। उत्तम क्षमादि दस प्रकार के परिणाम धर्म हैं। रत्नत्रय धर्म है, तथा जीवों की रक्षा करना धर्म है। गौतम गणधर ने कहा है, "धर्मस्य मूलं दया" (धर्म की जड़ दया है)। भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से धर्म का स्वरूप कहा गया है।

"जैनधर्म को धारण करने का सबको अधिकार है। जैनधर्म धारण करने का किसी को भी निषेध नहीं है। चांडाल धीवरादि ने जैन धर्म धारण कर स्वर्ग लोक पाया है। स्वर्ग की कोई कीमत नहीं है। महत्त्व है मोक्ष का। शूद्र भी देव पद पायेगा। वहां से मनुष्य हो मोक्ष को प्राप्त करेगा। जैन धर्म के द्वारा जीव का दुःख दूर होता है।"

एक शंका

एक बार मैंने महाराज के मुख से यह सुना कि जैन धर्म के द्वारा जीव को सुख मिलता है, तब मैंने पूछा था-"महाराज! इस जैन धर्म ने आपको जितना दुःख दिया, उतना किसी

दूसरे को नहीं दिया, तब आपका कथन कैसा है कि यह सबको सुख का दाता है ?"

महाराज ने मेरी ओर देखकर पूछा-"तुम्हारा क्या अभिप्रायः है, स्पष्ट करो ?"

मैंने कहा-"महाराज ! इस जैनधर्म ने आपको गृह, वस्त्र, वैभव, कुटुम्ब आदि से पृथक् करा दिया। श्रीमन्त परिवार के मुख्य पुरुष होते हुए भी आपके पास कोई भी सामग्री नहीं है जिससे आप शरीर के कष्ट का निवारण कर सकें। इस जैन धर्म की शिक्षा के कारण आप आठ-दस दिन तक भी भूख और प्यास का कष्ट उठाते हैं। इस धर्म के कारण ही आप दंश, मशक नग्नता आदि के भयंकर कष्ट भोगते हैं। यदि आपने इस धर्म को न धारण किया होता, तो आप सब प्रकार सुखी रहते ?"

समाधान

महाराज ने कहा-"इस धर्म ने हमें अवर्णनीय निराकुलता दी है। इससे बड़ी शांति प्राप्त हुई है। बाह्य परिग्रह आदि से सुख पाने का भ्रम है। उनके त्याग से सच्चा आनन्द मिलता है। उपवास आदि हम इसलिए करते हैं कि पूर्व में बांधे गए कर्मों की निर्जरा हो जाये। अग्नि के ताप के बिना जैसे सुवर्ण शुद्ध नहीं होता उसी प्रकार तपश्चरण के बिना संचित कर्मों का नाश नहीं होता। व्रताचरण के द्वारा कर्मों का संवर होता है। और कष्ट सहन करने से पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है। जैन धर्म ने हमें दुःख दिया यह समझना भूल है। इसने हमें बड़ा सुख दिया, बहुत शांति दी।"

महाराज ने कहा-"सुख के लिए कर्मों का बंध रुकना चाहिए। कर्मों के संवर का उपाय जिन भगवान ने चारित्र का पालन कहा है। पुराने बंधे कर्मों का नाश भी आवश्यक है। वह ऋण के समान है। जब जीव ने कर्जा लिया है, तब उसे चुकाना ही पड़ेगा, चाहे समता भाव से कर्मों का फल भोगो चाहे संक्लेशपूर्वक भोगो। भोगना पड़ेगा अवश्य। अतः हम कर्मों की निर्जरा के लिए कायक्लेश आदि तप करते हैं।"

मोक्षपाहुड़ का यह कथन तपश्चरण का महत्व बताता है -

ध्रुवसिद्धिस्तीर्थंकरः चतुर्ज्ञानियुतः करोति तपश्चरणम् ।
ज्ञात्वा ध्रुवं कुर्यात् तपश्चरणं ज्ञानयुक्तः अपि ॥ ६० ॥

निश्चित रूप से मुक्त होने वाले चार ज्ञान वाले तीर्थंकर तपश्चरण करते हैं यह ज्ञातकर ज्ञानी पुरुष को तपश्चरण करना चाहिए। बाह्य तप द्वारा अन्तरंग तप साध्य होता है। तीर्थंकर भगवान् बाह्य अन्तरंग तप करते हैं।

शांति के बिना त्यागी नहीं

महाव्रतों के पालन से उनकी आत्मा को अवर्णनीय शांति है। एक दिन सन् १९५० में एक स्थानकवासी साधु महोदय आचार्य महाराज के पास गजपंथा तीर्थ पर आए।

उनने कहा-"महाराज ! शांति तो है न ?"

महाराज ने उत्तर दिया-"त्यागी को यदि शांति नहीं, तो त्यागी कैसे ?"

जैन धर्म की घटती का कारण

एक भाई ने पूज्यश्री से पूछा-"महाराज जैनधर्म की घटती का क्या कारण है जबकि उसमें जीव को सुख और शांति देने की विपुल सामग्री विद्यमान है ?"

महाराज ने कहा-"दिगम्बर जैन धर्म कठिन है। आजकल लोग ऐहिक सुखों की तरफ झुकते हैं। मोक्ष की चिन्ता किसी को नहीं है। सरल विषय पोषक मार्ग पर सब चलते हैं, जैनधर्म की क्रिया कठिन है। अन्यत्र सब प्रकार का सुभीता है। स्त्री आदि के साथ भी अन्यत्र साधु रहते हैं। अन्यत्र साधु प्यास लगने पर पानी पी लेगा, भूख लगने पर भोजन करेगा। ४६ दोषों को टालकर कौन भोजन करता है ?"

महाराज ने कहा-"इसी कारण दि. जैन साधुओं की संख्या अत्यंत कम है। दिगम्बर जैन मुनि प्राण जाने पर भी मर्यादा का पालन करते हैं। धूप में बिना जल ग्रहण किए मर गए, तो परवाह नहीं, किन्तु साधु पानी नहीं पियेगा, वह संयम का पूर्ण रक्षण करेगा।"

इस संबंध में स्वामी समंतभद्र ने युक्त्यानुशासन में लिखा है कि जिनेन्द्र का शासन दया, दम, त्याग, समाधि आदि के प्रतिपादन की अपेक्षा अद्वितीय है, फिर भी जगत उसका पालन क्यों नहीं करता है ? उसके दो कारण हैं। साधारणकारण तो है काल की विपरीतता। असाधारण कारण यह है कि श्रोताओं का अंतःकरण दर्शन मोहनीय के उदय से आक्रांत है। अतः उनमें धर्म की जिज्ञासा का अभाव है। दूसरा कारण है प्रवक्ता का वचनाशय। सामर्थ्य सम्पन्न, सच्चरित्र, सम्यक् श्रद्धावान, वक्ताओं की प्राप्ति दुर्लभ है। इस कारण तार्किक समंतभद्र की दृष्टि से श्रेष्ठ होते हुए भी जैन शासन का सम्यक् प्रसार नहीं होता है। उनका महत्वपूर्ण अनुभव इस पद्य में व्यक्त किया गया है :

"भगवन् आपके अनेकांत सिद्धांत के एकाधिपत्य रूप लक्ष्मी की प्रभुता के सामर्थ्य के अपवाद का कारण कलिकाल है अथवा श्रोताओं का कलुषित अंतःकरण है अथवा वक्ता का वचनाशय है अर्थात् अनेकांत विरुद्ध कथन है।"[1]

समंतभद्र स्वामी की दृष्टि से सुयोग्यवक्ता आज के भोग-विलास प्रचुर जगत् में लोकहित सम्पादन करने की क्षमता धारण करता है, किन्तु ऐसा निपुण उपदेष्टा आज दुर्लभ हो रहा है। पक्षपात की दुर्गन्ध वाले उपदेशक बन श्रोता के मानस को उज्ज्वल प्रकाश नहीं दे पाते, सच्चरित्र उपदेष्टा का कथन सप्राण होता है।

---

१. कालः कलिर्वा कलुषाशयोवा, श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनाशयो वा।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी प्रभुत्व शक्तेरपवादहेतुः ॥५, "युक्त्यानुशासन" ॥

महत्वपूर्ण दृष्टि

इस सम्बन्ध में व्यावहारिक दृष्टि से यह भी बात विचारणीय है कि अभी पंचम काल के इक्कीस हजार वर्षकाल में से केवल अढ़ाई हजार वर्ष व्यतीत हुए हैं। अभी १८५०० वर्ष पर्यन्त इस भरत भूमि में जिन शासन का सद्भाव रहेगा, धर्म का लोप नहीं होगा, ऐसी सर्वज्ञ तीर्थंकर महावीर भगवान की वाणी है, अतएव समर्थ पुरुष तथा चरित्रनिष्ट व्यक्ति उचित रीति से अनेकान्त विद्या का प्रकाश फैलावे, तो अनेक निकट संसारी जीवों का कल्याण कर सकता है। उपरोक्त कथन का भाव यह है कि पहले के समान प्रकाश फैलाने का अब काल नहीं है। अब तो ढलते सूर्य के समान स्थिति है फिर भी सम्यक्त्वी जीव मार्ग प्रभावना के हेतु पुरुषार्थ करता है, और सफलता न होने पर दुःखी नहीं होता है।

नागपुर में आचार्य महाराज के असाधारण व्यक्तित्व के प्रभाव से बहुत धर्म प्रभावना हुई, इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस प्रकार की निष्कलंक चरित्रनिष्ट आत्मा हो तो सत्य धर्म की प्रभावना को कौन रोक सकता है ? हजारों श्रावकों ने अष्ट मूलगुणों को धारण करके व्रतों के द्वारा सुसंस्कृत होने के प्रतीकसम यज्ञोपवीत को भी धारण किया।

भ्रष्टाचार का तीव्र निषेध

उस समय शीतलप्रसादजी ने पुनर्विवाह को शास्त्र सम्मत बता अपने पतित प्रचार का कार्य प्रारंभ किया था, आचार्य श्री के प्रभाव से वह असत्प्रचार जनता में अपना विष न फैला पाया। इस प्रकार शील धर्म के रक्षण में लोगों की दृढ़ता और बढ़ी।

शुभ समाचार

नागपुर में धर्म प्रभावना की चंद्रिका प्रकाश दे रही थी, तब एक मधुर शुभ समाचार संघपति सेठ पूनमचंद घासीलाल जी जबेरी को बंबई के तार से ज्ञात हुआ कि आपको एक लाख रूपया का लाभ हुआ है। इससे उनको तो हर्ष होना स्वाभाविक है। धार्मिक समाज को भी बड़ा आनंद हुआ, क्योंकि ऐसे धर्मात्माओं और परोपकारी पुरुषों का अभ्युदय कौन नहीं चाहता है ? यह सन् १६२८ की बात है, जब रुपया बहुमूल्य गिना जाता था। आज की स्थिति दूसरी हो गई है।

इस समाचार ने संघपाति के चित्त में न अहंकार उत्पन्न किया और न उस द्रव्य के प्रति तृष्णा का भाव ही उनके हृदय में जगा। यद्यपि साधारण मनुष्य में विकृति आए बिना नहीं रहती है। इस प्रसंग में रवीन्द्रनाथ टैगोर की यह सूक्ति बड़ी महत्वपूर्ण प्रतीत होती है-

"भीख की झोली रुपये की थैली से बोली कि क्या तू यह भूल गई कि हमारा और तेरा एक कुटुम्ब है ? रुपये की थैली ने कहा कि मेरी थैली में जो कुछ है, वह यदि तुम्हारी झोली में चला जाय, तो तुम भी निश्चय ही परिवारिक संबंध भूल जाती।"

शिखरजी में पंचकल्याणक का निश्चय

इस प्रकार धन के द्वारा मनोविकार आना चाहिए था, किन्तु आचार्यश्री के चरणों के सत्संग से उनकी आत्मा में स्वयं के भाव हुए कि इस द्रव्य को शिखरजी में जिनेंद्र पंचकल्याणक महोत्सव रूप महापूजा में लगा देना अच्छा होगा। गुरुचरणप्रसाद से जो निधि आई है उसे उनके पुण्य चरणों के समीप ही श्रेष्ठ कार्य में लगा देना चाहिए, ऐसा पवित्र भाव उनके चित्त में उदित हुआ। ऐसा होना पूर्णतया स्वाभाविक है। सबका मुक्ति-स्थल सम्मेदाचल को पहुंचने का दृढ़ निश्चय है, मुक्ति के महान आराधक संतों के चरणों का सान्निध्य है, अतः मुक्त हस्त हो मुक्ता की कमाई को मुक्त भूमि में व्यय करना अच्छा प्रतीत हुआ। यह आश्चर्य की बात नहीं है ? भवितव्यता के समान बुद्धि होती है। संघपति को महान् पुण्य के सिवाय अपार यश को भी कमाना है, इसलिए उस आय को धर्म का प्रसाद सोचकर इन्होंने शिखरजी में पंचकल्याण महोत्सव में व्यय करने का पक्का संकल्प किया। किन्तु परिस्थिति अद्भुत थी। अभी दो माह में ये महाराज के साथ शिखरजी पहुंच सकेंगे फिर महोत्सव की कैसे शीघ्र व्यवस्था हो सकेगी यह समस्या कठिन दिखती थी।

पुण्योदय से पुण्यात्माओं को सहज ही सभी अनुकूल वस्तुओं का सान्निध्य प्राप्त होता है। जवेरी परिवार ने सेठ राव जी सखाराम जी दोसी सोलापुर वालों के साथ परामर्श किया। नागपुर में उस समय विदर्भ और महाकौशल की बहुत जनता गुरुदर्शन को गई थी। हमारे पिता (सिंघई कुंवरसेनजी) भी नागपुर सपरिवार गुरुदेव के दर्शनार्थ पहुंचे थे। वहाँ उनके साथ गंभीर परामर्श हुआ कि न्यूनतम समय में श्रेष्ठ कार्य को किस प्रकार सुन्दर तथा भव्य रूप में सम्पन्न किया जाए। विचार-विमर्श के बाद सेठ दाड़िमचंद जी संघपति, सेठ रावजी भाई तथा हमारे पिताजी का पंचकल्याणक व्यवस्था के लिए जैन समाज कलकत्ता से सहयोग लेने तथा अन्य व्यवस्था के उद्देश्य से कलकत्ता एवं शिखरजी जाने का निश्चय हुआ।

रावजी भाई के साथ दाड़िमचंदजी का सिवनी आना हुआ। यहाँ विशाल मनोज्ञ तथा भव्य जिनमंदिर की वंदना कर उनको बड़ा आनंद प्राप्त हुआ। सिवनी मनोज्ञ जिनालयों का दर्शन कर सभी लोग आनंदित होते हैं। सन् १९७० में ग्वालियर की राजमाता महारानी विजया राजे ने सिवनी के मन्दिर का दर्शन किया। उन्होंने मुझसे कहा था कि इस दर्शन द्वारा उन्हें बहुत शान्ति प्राप्त हुई। सिवनी के बड़े मन्दिर जी में भगवान् पार्श्वनाथ प्रभु की प्रतिमा महान् सातिशयता सम्पन्न है। यहाँ से संघपति जी हमारे पिताजी को साथ लेकर कलकत्ता गए। वहाँ प्रबंध व्यवस्था की योजना तथा आवश्यक कार्य कर वे वापिसी में काशी आए थे। हम उस समय वहां स्याद्वाद महाविद्यालय में न्यायशास्त्र का अध्ययन करते थे। वहां हमें पंचकल्याणक की मंगल वार्ता विदित हुई थी। भद्रपरिणामी

सत्पुरुष सेठ दाड़िमचंद जी से परिचय हुआ था।

अब पंचकल्याणक की तैयारी विद्युत वेग से आरंभ हुई। सिवनी के महान दानशील श्रीमंत सेठ पूरनसाहजी ने सन् १९०९ में शिखरजी पर जो मुक्त हस्त हो दान देकर महिमाशाली पंचकल्याणक कराया था, जिसमें भारतवर्ष के लाख के लगभग जैन बंधु आए थे और श्रेष्ठ प्रबंध सबकी प्रशंसा की वस्तु रहा था, उसका निकटतम अनुभव हमारे पिताजी का रहने से इस १९२८ के फाल्गुन मास के महोत्सव के लिए उनका मार्गदर्शन योजनाएं एवं सहयोग बड़े महत्वास्पद रहे। पिताजी का अनुभव, प्रभाव और मार्गदर्शन इस महान् कार्य के लिए उपयोगी रहे थे।

नागपुर समाज ने चांदी के पत्र में उत्कीर्ण संस्कृत में लिखा गया सुन्दर मानपत्र संघपति को सेठ मोतीसाव गुलाबसाव जी के हाथ से भेंट कराया था।

रत्नत्रय मूर्ति का धर्मसंघ तीन दिन तक धर्मामृत वर्षा के उपरांत ता. ६ जनवरी को भंडारा के लिए रवाना हो गया। यदि संघ रामटेक, सिवनी के मार्ग से जाता तो विशेष धर्मलाभ होता, भव्यों का कल्याण भी होता; किन्तु वह रास्ता कुछ लम्बा सोचा गया, अतः दूसरे मार्ग से रवाना हुआ। आचार्य महाराज ने एक बार कहा था, हमारा तुम्हारे साथ पहले परिचय नहीं था, नहीं तो हम सिवनी में अवश्य आते। अब भी हमारा भाव आगे शिखरजी तरफ समाधि हेतु जाने का होता है। उस समय थोड़े व्यक्तियों के साथ सिवनी होते हुए जावेंगे। दैववश विचार कार्यरूप न हो पाये।

भंडारा के पश्चात संघ साकोली पहुंचा। वहाँ सेतवाल भाइयों ने संघ का दर्शन किया तथा दस बारह स्त्रियों ने पुनर्विवाह न करने की प्रतिज्ञा ली, कारण इस समाज में पुनर्लग्न की कुप्रथा कुछ काल से आ गई थी। ऐसा ही दक्षिण प्रांत में हुआ। आचार्य महाराज के उपदेश के प्रभाव से लाखों व्यक्तियों ने पुनर्विवाह को हीनता का कारण स्वीकार करते हुए उसका प्रचार बंद करने की सुदृढ़ प्रतिज्ञा की। साकोली में बहुत से जैन कलार भाइयों ने महाराज का दर्शन किया। ये लोग पहले जैनी थे, जैसा उनके नाम से स्पष्ट होता है, किन्तु उपदेश न मिलने से और जैन तत्त्वों का परिचय न होने से अपने धर्म को पूर्णतया भूल गए। **कुछ जैन कलारों ने महाराज से व्रत नियम लिए थे।**

अगणित ग्रामीणों का व्रतदान द्वारा उद्धार

छत्तीसगढ़ प्रांत के भयंकर जंगल के मध्य से संघ का प्रस्थान हुआ। दूर-दूर के ग्रामीण लोग इन महान् मुनिराज के दर्शनार्थ आते थे। महाराज ने हजारों को मांस, मद्य आदि का त्याग कराकर उन जीवों का सच्चा उद्धार किया था। पाप त्याग द्वारा ही जीव का उद्धार होता है। पाप प्रवृतियों के परित्याग से आत्मा का उद्धार होता है। कुछ लोग सुन्दर वेशभूषा सहभोजनादि को आत्मा के उत्कर्ष का अंग सोचते हैं, यह योग्य बात नहीं है। आत्मा के

उत्कर्ष के लिए अंतःकरण वृत्ति का परिमार्जन किया जाना, परिष्कृत बनाया जाना आवश्यक है। आचार्य महाराज का कथन यही है कि गरीबों का सच्चा उद्धार तब होगा, जब उनकी रोटी की व्यवस्था करते हुए उनकी आत्मा को मांसाहारादि पापों से उन्मुक्त करोगे।

पाप त्याग द्वारा ही जीव का उद्धार होता है

इसी सम्बन्ध में वर्धा में सन् १९४८ के मार्च माह में मैं वर्तमान राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसाद जी से मिला था, लगभग डेढ़ घंटे चर्चा हुई थी। उस समय हरिजन सेवक पत्र के संपादक श्री किशोर भाई मश्रुवाला भी उपस्थित थे। श्री विनोवा भावे से भी मिलना हुआ था। मैंने कहा था कि गरीबों के हितार्थ कम से कम धर्म के नाम पर किया जाने वाला पशुओं का बलिदान बन्द करने के विषय में प्रचार कार्य होना चाहिए। सर्वोदय समाज को भी इसमें क्रियात्मक सहयोग देना चाहिए, किन्तु यह मंगल योजना कार्यान्वित करने में उन्होंने अपने को असमर्थ बताया।

यही चर्चा सन १९४९ में मुबंई के गृहमंत्री श्री मोरारजी देसाई से चलाई थी, तब उन्होंने कहा था कि सरकार की बात जनता सुनती नहीं है। मौलिक सुधारों के स्थान में पत्तों के सीचनें द्वारा वृक्षों को लहलहाता, हराभरा देखने की लालसा आजकल के लोक-सेवकों के मन में स्थान कर गई है। क्या पत्र सिंचन भी कभी इष्ट साधक हुआ है ? सच्चे लोक कल्याण की आकांक्षा करने वालों को आचार्य महाराज से प्रकाश प्राप्त करना चाहिए था, किन्तु उनकी दृष्टि में इतनी महान् आत्मा नहीं दिखाई पड़ती है। मोहान्धाकर वश ऐसा ही परिणमन होता है।

अरविंद नरेश का पथानुसरण ठीक नहीं

इस प्रसंग में हमें महापुराण का एक कथानक स्मरण आता है। एक राजा अरबिन्द थे। उसके शरीर में भयंकर दाह व्यथा उत्पन्न हो गई। उसके अनुभव में आया कि यदि रक्तपूर्ण वापिका में वह स्नान करेगा, तो उसकी पीड़ा शान्त हो जायगी। अरविन्द नरेश ने राजकुमार को बुलाकर आदेश दिया कि पास के वन-हरिणों को मारकर उनके रक्त से वापी भरवाकर स्नानार्थ तैयार करवाओ। जब युवराज वन में पहुंचा तो वहां दया के देवता दिगम्बर जैन गुरु का दर्शन मिल गया। गुरु चरणों में उसने प्रणाम किया। मुनिराज को अवधिज्ञान था। उसके द्वारा विचार कर उन्होंने कहा-"अरविन्द राजा की शीघ्र ही मृत्यु होनी है। तुम हरिणों का घात कर उनके रक्त द्वारा वापिका भरने का पाप कार्य मत करो।" राजपुत्र को विश्वास कराने के लिए उन्होंने कहा-"तेरे पिता को विभंगावधि हो गया है। अतः जिस प्रकार उसे जंगल के हरिणों का ज्ञान हो गया, उस प्रकार उससे पूछो, कि वहां कोई मुनिराज भी दिखते हैं या नहीं।" राजपुत्र ने पिता से पूछा, तो उसने कहा-"वहां हरिण मात्र ही मुझे दिखाई

देते है।''अतः मुनि वचन को सत्य जानकर राजपुत्र ने लाक्षा रस से वापिका भरवाई। उसे रक्त मानकर हर्षित हो राजा अरविंद उसमें घुसा और जब उसे लाक्षा स्वाद आया, तो क्रुद्ध हो वह पुत्र के वध को तलवार ले झपटा और गिर कर मर गया।

इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने की है कि पिता की आज्ञा न पालकर राजकुमार ने उचित कार्य किया था। बड़ों की धर्म के अनुकूल आज्ञा को पालन करना उचित है, किन्तु धर्म विरुद्ध आज्ञा न पालना पवित्र कर्तव्य है, क्योंकि धर्म का आदेश सर्वोपरि है।

ऐसे ही आज दिन हिंसक प्रयोग तो समर्थ पुरुषों को श्रेयस्कर दिखते हैं, किन्तु महर्षि मुनिवर के महान् अनुभव से लाभ लेकर मानवता को कलंक मुक्त बनाने की बात उनके दृष्टि पथ में नहीं आती। बताए जाने पर भी नहीं दिखती है। 'सच्चा कल्याण पाप परित्याग में है' इस आचार्य वाणी पर जब ध्यान चला जायगा, तब ही कल्याण की प्राप्ति होगी। पाप-पंक में निमग्न होते हुए सच्ची उन्नति तथा शांति असंभव है।

आगे राजनांदगांव रियासत आई। वहां के श्वेताम्बर भाइयों ने भी दिगम्बर बंधुओं के साथ पूज्यश्री के संघ का स्वागत तथा हार्दिक अभिवंदन किया। दीवान आदि बड़े अधिकारी लोग भी जुलूस में रहे तथा महाराज का उपदेश सुनने को भी आए थे।

यहाँ से चलकर संघ ता. १३ को दुर्ग पहुंचा। यहाँ जहां भी जैनी भाई मिलते, उनको अष्टमूलगुण धारण पूर्वक यज्ञोपवीत दिया जाता था। कारण''संस्कारात् द्विज उच्यते'' संस्कार के कारण त्रिवर्णवालों को द्विज कहते हैं। बिना संस्कार के शास्त्र की परिभाषा के अनुसार उच्चकुल वाले भी शूद्र संज्ञा को प्राप्त करते हैं। महापुराण में जिन मोक्षगामी पुरुषों का चित्रण किया गया है, उनके शरीर में यज्ञोपवीत का वर्णन किया गया है। यह व्रत चिह्न है,''व्रतचिह्नं दधत्सूत्रम् ''(महापुराण)। इसी से आगम की आज्ञा को प्रमाण मानने वाले संघ के तत्त्वावधान में यह कार्य हुआ। महापुराण, पर्व १५, श्लोक १६४ में लिखा है कि ऋषभनाथ तीर्थंकर ने भरत के अन्नप्राशन, यज्ञोपवीत आदि संस्कार स्वयं किए थे :

अन्नप्राशन-चौलोपनयनादीननुक्रमात् ।
क्रियाविधीन विधानज्ञः स्रष्टैवास्य निसृष्टवान् ॥

वैदिकों से जैनों ने यज्ञोपवीत संस्कार लिया, यह धारणा अयथार्थ है। अन्यथा कोई यह भी कहेगा मुनिराज स्नान नहीं करते। अतः उनकी संस्कृति में गृहस्थ को स्नान का कथन ब्राह्मण धर्म का प्रभाव है। सत्यमहाव्रती जिनसेन स्वामी के समय में अमोघवर्ष प्रतापी जैन राजा का शासन था, अतः दूसरों के प्रभाव में आने की कल्पना सत्य से बहुत दूर है। जैन संस्कार का ध्येय मंत्रादि भिन्न हैं। इससे हजारों लोगों ने व्यवस्थित रूप से अष्टमूलगुणों का नियम लिया। आत्मा के उत्कर्ष के लिए थोड़ा भी व्रत कारण हो जाता है। यमपाल चांडाल जरा-सा अहिंसा व्रत लेकर नियमपाल बना, अतः उसने

देवताओं के द्वारा पूजा प्राप्त की। प्रतीत होता है उत्तर भारत में यवनों के शासन काल में अत्याचारवश बहुत क्रियाएं लुप्त हो जाने से इस कर्तव्य कर्म में विमुखता हो गई। दशलक्षण प्राकृत पूजा में कहा है, 'संयम विन घड़िय मइक्क जाहु' संयम रहित एक क्षण न जाने दो। वह रत्न है। द्यानतरायजी के ये शब्द गंभीर तथा कल्याणकारी हैं-

काय छहों प्रतिपाल पंचेन्द्रिय मन वश करो ।
संयम रतन सम्हाल विषय चोर बहु फिरत हैं ॥

संघ के द्वारा संयम रत्नराशि का सभी भव्यों को दान प्राप्त होता था। नरकायु बाँधने वाले महापापी संयम और संयमी के प्रति शत्रु भाव रखते हैं।

रायपुर

संघ १८ जनवरी सन् १९२८ को रायपुर पहुंचा। यहां सुन्दर जुलूस निकालकर धर्म की प्रभावना की गई। यहां अनन्तकीर्ति मुनि महाराज का केशलोच भी हुआ था।

अंग्रेज अधिकारी का भ्रम निवारण

यहाँ के एक अंग्रेज अधिकारी की मेम ने दिगम्बर संघ को देखा, तो उसकी यूरोपियन पद्धति तथा रुचि को धक्का सा लगा। उसने तुरन्त अपने पति अंग्रेज साहब के समक्ष कुछ जाल फैलाया, जिससे संघ के बिहार में बाधा आए। अंग्रेज अधिकारी अनर्थ पर उतारु हो गया था, किन्तु कुछ जैन बंधुओं ने अफसर के पास जाकर मुनि के महान जीवन पर प्रकाश डाला और इनकी नम्नता का क्या अंतस्तत्त्व है यह समझाया तब उसकी दृष्टि बदली और उसने कोई विघ्न नहीं किया। महाराज के पुण्य प्रसाद से विघ्न का पहाड़ सत्प्रयत्न की फूंक मारने से उड़ गया। कुशलता से कार्य करने पर जो वस्तु प्रारंभ में अंगुली से टूट जाती है, वही चीज अयोग्य और अकुशल व्यक्तियों का आश्रय पाकर कुठार से भी अछेद्य हो जाती है।

न्याय निर्माताओं को मुनियों से प्रकाश प्राप्त करना चाहिये

दिगंबरत्व के विषय में तर्क की तर्जनी उठाने वालों को यह जानना जरूरी है कि आत्मतल्लीनता तथा शरीर के प्रति निस्पृहभावना के कारण वस्त्रधारण की मनोवृत्ति ही नहीं रहती है। कहते हैं कि जब आर्कमिडीज ने विशिष्ट गुरुत्व (Specific Gravity) सिद्धांत को खोजा, तब उसे इतना असीम आनन्द हुआ था कि वह स्नानागर से नग्न ही निकल पड़ा और बाहर कहता रहा कि मुझे मेरी वस्तु मिल गयी। इस वैज्ञानिक जगत में प्रख्यात उदाहरण से यह बात स्पष्ट होती है, कि जब साधारण लौकिक पदार्थ की खोज के द्वारा हर्षित मानव अपने शरीर की सुध बुध भूल सकता है, तब साक्षात् अमृत और आनन्द के भंडार रूप आत्मत्व की उपलब्धि होने पर उस व्यक्ति की शरीर के प्रति अत्यन्त उपेक्षा होना नैसर्गिक बात है। ऐसे आत्मज्ञ सत्पुरुष को शरीर की समाराधना

करना, उसे सजाना तथा उसकी निरंतर सेवा करना मुक्ति के शत्रु की भक्ति करने सदृश लगता है। आत्मध्यान द्वारा चैतन्यमय, आनन्द पुंज आध्यात्मिक विभूति की उपलब्धि होने के कारण दिगम्बर श्रमणों का ध्यान देह आदि की ओर नहीं जाता है। यथार्थ में चित्तवृत्ति उस ओर जाकर लीन होती है, जहां उसे अच्छा लगता है। जैसे लौकिक कार्यों में लगे हुए लोग अर्थ लाभ की लालच से शरीर आदि की सुध नहीं लेते इसी प्रकार आत्म रूप में निमग्न साधु लोग आत्म-कथा तथा आत्मचिंतन की बातों के सिवाय अन्य विषयों में नीरसता का अनुभव करते हैं। सूर्योदय होने पर जैसे चंद्र और तारिकाओं का समूह विलीन हो जाता है, इसी प्रकार निर्मल आत्मा की अनुभूति होने पर शरीर आदि को सुख देनेवाली सामग्री का ध्यान नहीं रहता। इन वंदनीय आध्यात्मिक विभूतियों के जीवन से न्याय निर्माताओं को प्रकाश प्राप्त करना था, किन्तु इसे भूल कोई-कोई उनके सिर पर अपने कानून का अंकुश रखने की चेष्टा करते हैं।

नादिरशाही आदेश

सन् १९५१ की बात है। नीरा जिला पूना में नवनिर्मित सुन्दर जिन मंदिर की प्रतिष्ठा के समय हजारों जैन बंधु आये थे। उस समय आचार्य शाँतिसागर महाराज भी वहां विराजमान थे। पूना के जिलाधीश ने विवेक से काम न ले आचार्य शांतिसागर महाराज के सार्वजनिक विहार पर बंधन लगा दिया, जिससे भयंकर स्थिति उत्पन्न होने की संभावना थी। उद्योगपति सेठ लालचन्द हीराचन्द, सदस्य, केन्द्रीय परिषद तथा स्व. मोतीचन्द भाई कान्ट्रेक्टर बम्बई ने गृहमन्त्री श्री मोरारजी भाई के समक्ष उपस्थित हो उक्त जिलाधीश के विवेक शून्य आदेश की ओर ध्यान दिलाया। इसलिए सहृदय गृहमंत्री महोदय, ने जिलाधीश को विशेष आदेश देकर नादिरशाही आर्डर को वापस लेने की विशेष आज्ञा दी।

सन् १९३८ में निजाम राज्य में मुनि विहार के विरुद्ध राज्याधिकारियों ने आदेश निकाला था। उस समय आचार्य महाराज के आदेशानुसार हमें हैदराबाद जाने का अवसर मिला था। एक जैन प्रतिनिधि मंडल निजाम की कार्यकारिणी के तीन सदस्यों से चौदह सितम्बर को मिला था और उसने जैन मुनियों की पवित्र वृत्ति तथा उज्ज्वल जीवन चर्या आदि को समझाया था। जैन प्रतिनिधि मंडल की बातों से निजाम सरकार के अधिकारियों का भ्रम दूर हुआ था, इसलिए २ नवंबर सन् १९३८ को विशेष फरमान द्वारा मुनि विहार प्रतिबंध के आदेश को रद्द किया था। उस समय हमने दिगम्बरत्व की पुष्टि (Nudity of Jain Saints) नाम की एक पुस्तक अंग्रेजी में लिखी थी। उससे कार्य शीघ्र सम्पन्न हुआ था।

आदिवासियों की कल्याण साधना

रायपुर में धर्म प्रभावना के उपरान्त संघ २० जनवरी को रवाना होकर आरंग होते हुए संभलपुर पहुचा। वहां से प्रायः जंगली मार्ग से संघ को जाना पड़ा था। उस जगह इन

दिगंबर गुरु के द्वारा सरल ग्रामीण जनता का कल्याण हुआ था। रास्ते भर हजारों लोग इन नागा बाबा के दर्शन को दूर-दूर से आते थे। इन्हें भगवान सा समझ वे लोग प्रणाम करते थे तथा इनके उपदेश से मांस खाना, शराब पीना, शिकार खेलना, आदि पापाचारों का सहज ही त्याग करते थे। जहाँ देखो वहाँ दर्शन प्रेमियों का मेला सा लग जाता था।

संघ का राँची पहुँचना

इस प्रकार सच्चा लोक-कल्याण करते हुए आचार्य महाराज का संघ १२ फरवरी को रांची पहुंचा। वहां बहुत लोगों ने अष्टमूलगुण धारण किये। वहाँ के सेठ रायबहादुर रतनलाल सूरजमलजी ने धर्मप्रभावना के लिये बड़ा उद्योग किया था। आचार्य संघ के द्वारा यज्ञोपवीत ग्रहण करने का उपदेश सुनकर कुछ लोगों ने शंका की कि महाराज यह तो वैदिक संस्कृति का चिह्न है, जैनियों को यज्ञोपवीत लेने का क्या कारण है? आचार्य महाराज ने समझाया कि "आगम में यज्ञोपवीत संस्कार बताया गया है, वह रत्नत्रय धर्म का प्रतीक है। दान पूजा का अधिकार उसे प्राप्त होता है, जिसका कि यज्ञोपवीत संस्कार हुआ हो।" महापुराण में द्विज उसे बताया है जिसका माता के गर्भ से तथा क्रिया से जन्म हुआ हो। इस प्रकार संस्कार के द्वारा जन्म वाला द्विज कहलाता है। हरिवंशपुराण, पर्व ४२, श्लोक ५ में नारद के यज्ञोपवीत धारण का उल्लेख इन शब्दों में आया है-

देहस्थितेन शुद्धेन त्रिगुणेमोज्जवलीकृतः ।
यज्ञोपवीतसूत्रेण स रत्नत्रितयेन वा ।।

वे अपने शरीर पर स्थित तीन लर के उस शुद्ध यज्ञोपवीत सूत्र से अत्यन्त उज्ज्वल थे जो रत्नत्रय के समान था।

महापुराण में चक्रवर्ती भरत के यज्ञोपवीत धारण करने का हम उल्लेख कर चुके हैं। आचार्य महाराज के उपदेश से लोगों को संतोष हुआ तथा बहुतों ने रत्नत्रय के प्रतीक यज्ञोपवीत लिए। यदि यह कार्य आगम समर्थित न होता तो आगम प्राण आचार्य महाराज उसके प्रचार को कभी भी महत्व न देते, यह बात विवेकी सत्पुरुषों को सोचना उचित है।

फाल्गुन सुदी तृतीया को शिखरजी पहुँचना

संघ हजारीबाग पहुंचा तब वहाँ के समाज ने बड़ी भक्ति प्रगट की। ऐलक पन्नालाल जी संघ में सम्मलित हो गये, वहाँ से चलकर संघ फाल्गुन सुदी ३ को तीर्थंराज शिखरजी के पास पहुंच गया। उस समय सब को अवर्णनीय आनंद की प्राप्ति हुई।

सम्मेदशिखर

सम्मेदशिखर का दर्शन होते ही प्रत्येक यात्री के अंतःकरण में आनंद का रस छलका सा पड़ता था। अगणित सिद्धों की सिद्धि के स्थल शिखरजी का मंगल संस्मरण जब

पुण्य भावनाओं को जागृत करता है तब तीर्थराज का साक्षात् दर्शन के हर्ष का वर्णन कौन कर सकता है ?

सम्मेदशिखर जी में भव्य पुरी का निर्माण

उस समय संघ का प्रत्येक व्यक्ति हृदय से आचार्य महाराज के प्रति कृतज्ञता प्रगट कर रहा था। जिन गुरुराज के निमित्त से यह तीर्थ-वंदना का सुयोग चतुर्विध संघ के साथ मिला था। मधुवन में पहुंचते ही वहाँ के सुन्दर जिनमंदिरों के दर्शन से श्रांत यात्री को अपूर्व शांति तथा स्फूर्ति प्राप्त होती है। अब शिखरजी का आध्यात्मिक सौन्दर्य नंदीश्वर मंदिर, चौबीस टोंक रचना, बाहुबलि स्वामी की मूर्ति, मानस्तम्भ, मनोज्ञ समवशरण मंदिर, सहस्रकूट चैत्यालय आदि से बहुत प्रवर्धमान हो गया है । इस महान् कार्य में स्व. पं. पन्नालालजी 'धर्मालंकार' की सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेंगी। अद्भुत पुरुषार्थ था उनका। आचार्य संघ के पदार्पण के पहले ही धर्म भक्त भव्यों का समुदाय वहां पहुंचा था, इससे वह स्थल भव्यपुरी समान दिखता था। श्रेष्ठ निर्वाण भूमि का दर्शन, पंचकल्याणक का लाभ होने के साथ श्रेष्ठ रत्नत्रयमूर्ति आचार्य महाराज का दर्शन मिलेगा, इसलिए लाखों लोगों ने शिखरजी आकर एक विशाल धार्मिक नगर का दृश्य उपस्थित कर दिया। उस समय सभी ट्रेनों में अपार भीड थी। स्पेशल ट्रेनें पारसनाथ स्टेशन को जल्दी जल्दी आ रही थी। जैन समाज अल्पसंख्यक है, यह बात उस समय समझ में नहीं आती थी। रेलवे के टिकिट बाबू का कहना था, कि एक लाख बीस हजार टिकटें उसके हाथ में आयी थी। मोटर आदि वाहनों द्वारा पहुंचने वालों की गणना करना कठिन था। देखने में वह स्थान धर्मपुरी या अहिंसानगर के रूप में प्रतीत होता था। इस नगरी का प्रत्येक व्यक्ति पवित्र अहिंसा, सिद्धांत के अनुसार प्रवृत्ति करता था। इस पुरी के प्राण तथा आराध्य देव संतराज आचार्य शाँतिसागर महाराज थे, जो पवित्रता, परिशुद्धता तथा दिव्यता के भण्डार थे।

सच्ची धर्मपुरी या अहिंसा नगर का रूप

स्वनामधन्य दानी संघपति मुक्ता की कमाई को मुक्त भूमि में मुक्ति के हेतु मुक्त हस्त हो व्यय करने में संलग्न थे। जंगल में लाखों लोगों का प्रबन्ध करने में वास्तव में पानी की तरह खर्च होने वाले पैसे की ओर दानी बन्धुओं का ध्यान न था। उनका दान परम सात्त्विक रत्नत्रय धर्म की प्रभावना से संबंधित होने से अन्य विपुल द्रव्य दाताओं के मध्य सूर्य सदृश शोभायमान हो रहा था। वे बड़े विवेकी और कुशल थे। उन्हें विश्वास था कि कल्पवृक्ष के समान आचार्य महाराज के उदार चरणों का जब आश्रय मिल गया है, तब किस बात की कमी हो सकती है ?

उस धर्मपुरी में सभी लोग धर्म पुरुषार्थ की कमाई में लगे थे। आधीरात से हजारों

नरनारी बाल-बच्चों के साथ एक एक लालटेन ले भगवान पारसनाथ की जय बोलते हुए पर्वत पर जाने को उद्यत होते थे। लगभग दस कोस की यात्रा भगवान की भक्ति, श्रद्धा तथा आत्मबल के प्रसाद से अशक्त लोग भी प्रसन्नता पूर्वक पैदल करके आते थे। पर्वत पर घना जंगल होने से वहां जंगली जानवरों के निवास को कौन रोक सकता है ? किन्तु प्रभु पारसनाथ का नाम वहाँ गूंजते रहने से कभी भी किसी यात्री को किसी प्रकार का भय नहीं हुआ। भीषण जंगल में जाते हुए ऐसा लगता है मानो नगर के बगीचे में ही जा रहे हों। जिन चिन्तामणि तुल्य पारस प्रभु का नाम दूर देश में जपने वालों का संकट क्षण में दूर होता है तब उन देवाधिदेव के निर्वाण स्थल में धार्मिक भक्तों को कैसे कष्ट हो सकता है ? जैसे जैसे यात्री पर्वत पर चढ़ता जाता है, वैसे वैसे उसके परिणाम भी उज्ज्वल और उन्नत होते जाते हैं।

लाखों आदमियों के कोलाहल युक्त इस भव्यपुरी में रहते हुए भी आचार्य महाराज पूर्ण शांति भाव से आत्मदर्शन करते थे। मंगलधाम गिरिराज ने उनकी आत्मा में विलक्षण विशुद्धता उत्पन्न कर दी थी। इससे असंख्यात् गुण श्रेणी रूप में कर्मों का क्षय होता जा रहा था।

मंगल प्रभात का आगमन हुआ। प्रभाकर निकला। सामायिक आदि पूर्ण होने के पश्चात आचार्य महाराज वंदना के लिये रवाना हो गये। ये धर्म के सूर्य तभी विहार करते हैं जब गगन मंडल में पौद्‌गलिक प्रभाकर प्रकाश प्रदानकर ईर्या सिमिति के रक्षण में सहकारी होता है। महाराज भूमि पर दृष्टि डालते हुए जीवों की रक्षा करते पर्वत पर चढ़ रहे थे।

गंधर्व और सीता नाला स्याद्वाद दृष्टि के प्रतीक

विशेष अभ्यास और महान शारीरिक शक्ति के कारण वे शीघ्र ही गंधर्व नाले के पास पहुंच गये। कुछ काल के अनंतर सीता नाला मिला। वह जल प्रवाह कहता था - "जिस तरह मेरा प्रवाह बहता हुआ लौटकर नहीं आता इसी प्रकार जगत् के जीवों का जीवन प्रवाह भी है।" ये दोनों निर्झर स्याद्वाद शैल से बहती हुई द्रव्य पर्याय रूप दृष्टि युगल के प्रतीक लगते थे। मार्ग की कंकर-पत्थरों की परवाह न करते हुये महाराज शैलराज के शिखर तक पहुँचते जा रहे थे।

ज्ञानधर कूट

कुछ घण्टों के उपरांत भगवान कुन्थुनाथ स्वामी की टोंक (निर्वाण स्थल) आ गई। उस स्थल पर विद्यमान सिद्ध भगवान को प्रणाम करते हुये अपनी ज्ञान दृष्टि के द्वारा वे स्थल के ऊपर सात राजू की ऊंचाई पर सिद्ध शिला पर विराजमान सिद्धत्व को प्राप्त भगवान कुन्थुनाथ आदि विशुद्ध आत्माओं का ध्यान कर रहे थे। चक्रवर्ती, कामदेव तथा तीर्थंकर पदवी धारी शांतिनाथ, कुंथुनाथ तथा अरनाथ प्रसिद्ध हुए हैं। उन महामुनि

की ध्यान मुद्रा से ऐसा प्रतीत होता था, मानो उन्होंने अपने ज्ञानोपयोग द्वारा मुक्तात्माओं का साक्षात्कार कर लिया हो। उनकी एकाग्रता और स्थिरता देख ऐसा प्रतीत होता था कि कोई मूर्ति ही हो।

शिखरजी शैल पर आचार्य महाराज

स्वामी समंतभद्र ने लिखा है कि जिस स्थान से भगवान का मोक्ष होता है उस स्थल पर इंद्र महाराज चिह्न बना दिया करते हैं। भगवान कुन्थनाथ की टोंक ज्ञानधर कूट के नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ से मुक्त होने वाली छयान्नवे कोड़ा कोड़ी, छयान्नवे करोड़, बत्तीस लाख, छयान्नवे हजार, सात सौ ब्यालीस मुनियों ने सिद्ध पद प्राप्त किया। ऐसे स्थान पर सिद्ध पूजा की जयमाल कितनी शांतिप्रद लगती है, यह प्रत्येक सहृदय सोच सकता है। वहाँ सिद्धों को प्रणाम करते हुये ये पद बड़े प्रिय लगते हैं :-

विराग सनातन शांत निरंश निरामय निर्भय निर्मल हंस।
सुधाम विबोध निधान विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्ध समूह॥

इस प्रकार भावमय सिद्धों का गुण स्मरण आत्मा को आनंद विभोर बनाता है। आज हजारों मील पैदल चलकर शैलराज पर विराजमान बीस तीर्थंकरों के चरण चिह्नों को प्रणाम करते हुए तथा अगणित मुक्त आत्माओं को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए श्रमणराज शांतिसागर महाराज को जो शांति मिली, जो प्रकाश प्राप्त हुआ उसका अनुमान राग रोगी आत्मा कैसे कर सकती है। कषायों का अभाव हुए बिना उस निर्मलता को कौन जान सकता है ? अंधा आदमी नेत्र वाले के रूप, ज्ञान का वर्णन कैसे कर सकता है ?

इस श्रेष्ठ तीर्थ पर श्रेष्ठ मुनि को देखकर सुरराज का मन भी उन्हें प्रणाम करने को तत्पर होता होगा। किसी चित्र के लिये उपयुक्त पृष्ठ -भूमि का होना आवश्यक है, आचार्य शांतिसागर की चरणपूजा के लिये यह स्थान अन्वर्थतः पार्श्वभूमि रूप है। सचमुच में यह शैलराज पार्श्व तीर्थंकर की भूमि ही तो है। आचार्यश्री ने भिन्न-भिन्न टोकों की भावपूर्वक वंदना की। तिलोयपण्णत्ति में यह स्मरण योग्य बात आई है "भगवान् ऋषभदेव ने १४ दिन पूर्व तथा दो दिन पूर्व महावीर भगवान् ने योग निरोध किया था तथा मोक्ष प्राप्तकिया था। शेष तीर्थंकरों ने एक माहपूर्व योग निरोध किया था। भगवान् ऋषभदेव, वासुपूज्य तथा नेमिनाथ ने पल्यंक आसन से मोक्ष प्राप्त किया था। कुन्थुनाथ भगवान् आदि जिनेन्द्रों ने कायोत्सर्ग मुद्रा से मोक्ष प्राप्त किया था। भगवान् कुंथुनाथ चक्रवर्ती तथा कामदेव पदवी युक्त हुए थे। अरनाथ तथा शांतिनाथ तीर्थंकर भी तीन पदवी के धारक थे। पर्वत पर स्थित भगवान् चन्द्रप्रभु का ललितकूट बड़ा आकर्षक लगता है। ललितकूट का तथा पार्श्वप्रभु के सुवर्णभद्रकूट इन दो टोकों का पर्वत के नीचे से भी स्पष्ट दर्शन होता है। पूसवदी एकादशी को भगवान् चंद्रप्रभु तथा भगवान् पार्श्वनाथ प्रभु का

जन्म हुआ था। वही पुण्य दिवस दोनों तीर्थंकरों का दीक्षा काल था, ललितकूट और सुवर्णभद्रकूट इस ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। अंत में पारसनाथ भगवान का सुवर्ण भद्रकूट मिला। वहां से बयासी करोड़, चौरासी लाख, पैतालीस हजार, सात सौ ब्यालीस मुनियों ने मोक्ष प्राप्त किया था। वहां आकर भव्यात्मा पढ़ता है -

जुगल नाग तारे प्रभू पार्श्वनाथ जिनराय।
सावन सुदि सातें दिवस लहे मुक्ति शिवराय॥

वहां श्रान्त यात्री को शीतल समीर प्रेमपूर्वक भेंट करती हुई महान् शांति तथा नवस्फूर्ति प्रदान करती है। वहां ऐसा मन लगता है कि जाने की इच्छा ही नहीं होती।

गजराज वज्रघोष

कितनी पवित्र, मनोरम, आनंददायनी यह निर्वाण भूमि लगती है, जहां 'गजराज' के जीव ने रत्नत्रय के द्वारा 'जगराज' पार्श्वप्रभु का पद प्राप्त करके पश्चात् मोक्ष प्राप्त किया था। इस स्थल पर वादिराज आचार्य रचित पार्श्वपुराण का सुन्दर चित्र मनोमंदिर के समक्ष उपस्थित होता है, जिसमें मुनि अरविंद मरुभूति के जीव गजराज को इस प्रकार समझाते हैं "हे गजेन्द्र! सुपुष्ट सम्यक्त्व रूप हंस से शोभायमान मानस(मानसरोवर) से प्रेम कर अणुव्रत रूप पद्म के आकर (सरोवर) में अवगाहन कर प्रिय और पुण्य जल को पी।"[१] इस उपदेश ने उस जीव को जो प्रेरणा दी उससे वह आत्मा विकसित हो पार्श्वनाथ तीर्थंकर बन मुक्ति मंदिर में पधारी। महान् आत्मा बनने वाले जीव में संयम की ज्योति बहुत पहले से पहुंचकर असंयम के अधंकार को दूर किया करती है। आज का साक्षर, सुसंस्कृत, संपन्न मनुष्य जिन नियमों को पालन करने में डरता है, वे नियम भगवान पारसनाथ ने गज की पर्याय में पाले थे। कवि भूधरदास कहते हैं :

अब हस्ती संयम साधै, त्रस जीव न मूल विराधै।
सम भाव छिमा उर आने, अरि मित्र बराबर जाने॥
काया कसि इन्द्री दण्डै, साहस धरि प्रोषध मंडे।
सूखे तृण पल्लव भच्छै, परमर्दित मारग गच्छै॥
हाथी गन डोल्यो पानी, सो पीवे गजपति ज्ञानी।
बिन देखे पांव न राखे, तन पानी पंक न नाखे॥
निज शील कभी नहिं खोवे, हथिनी दिशि भूल न जावे।
उपसर्ग सहै अति भारी, दुरध्यान तजे दुखकारी॥

---

१. कुरू कुजंर! मानसे रतिं दृढ़सम्यक्त्व - मरालराजिते।
त्वमणुव्रत - पद्म - सद्मनि प्रियपुण्याम्बु निगाह्य पीयताम्॥ ३-९०॥

संज्ञी मनुष्य अत्यन्त गम्भीर होकर उस वज्रघोष गजेन्द्र के पुरुषार्थ के बारे में सोचे तथा अपनी निकृष्ट पापपंकलिप्त परिणति के साथ तुलना करे तो स्तुत्य कार्य होगा। कवि मानव से पूछता है-

सुलझे पशु उपदेश सुन, सुलझे क्यों न पुमान ।
नाहरतें भए वीर जिन, गज पारस भगवान ।।

सिद्ध बनने वाले पार्श्वप्रभु यदि वंदनीय हैं, तो क्या गजराज की पर्याय में संयम पालने वाला वह जीव समादरणीय न होगा ? धन्य है गजेन्द्र ! तुम्हारा व्रतानुराग स्पृहणीय है ।

जिस धर्म के प्रसाद से तिर्यंच पर्याय तक के जीवों का उद्धार हुआ, वे जैनी बने और अंत में जयशील होते हुए जिनेन्द्र सिद्ध परमात्मा बने, उस धर्म की शरण लेने वाला विवेकी मानव किस सिद्धि और सफलता को नहीं पायेगा ? आज तो भगवान पार्श्वनाथ का नाम सचमुच में सम्पूर्ण सिद्धियों और सफलताओं को प्रदान करता है। उनका नाम धारण करने वाला पाषाण, पारस पाषाण बनकर लोह को सुवर्ण बनाता है, तो जो पुण्यात्मा विशुद्ध हृदय जीव उनका नाम विवेक पूर्वक लेता रहेगा, तो वह क्यों न कर्मों का नाश कर अविनाशी शांति को प्राप्त करेगा ? इस टोंक पर आचार्यपरमेष्ठी ने समस्त सिद्ध समूह का ज्ञान नेत्र द्वारा दर्शन किया व आराधना की। वे सिद्ध भगवान शाश्वतिक शांति के सागर हैं।

देवाधिदेव

पार्श्वनाथ भगवान की टोंक में पूर्ण शान्ति तथा स्फूर्ति प्राप्त करने के पश्चात् महाराज ने पर्वत से उतरना प्रारंभ किया। उस समुन्नत टोंक पर चढ़ते और उतरते हुए मुनियों की शोभा बड़ी प्रिय लगती थी। उद्यान की शोभा पुष्पों से होती है, जलाशय का सौन्दर्य कमलों से होता है, गगन की शोभा चंद्र से होती है, इसी प्रकार आध्यात्मिक पुण्य भूमि की सुन्दरता महामुनियों से होती है। उस प्रकृति के भंडार शैलराज पर चलते हुए आचार्य महाराज की निर्ग्रन्थ मुद्रा उन्हें प्रकृति का अविच्छिन्न अंग सा बताती थी। दिगंबर मुद्रा प्रकृति प्रदत्त मुद्रा है।

ध्यान

अब प्रभात का सूर्य आकाश के मध्य में पहुंच गया, इससे आचार्य शान्तिसागर महाराज एक योग्य स्थल पर आत्म ध्यान हेतु विराजमान हो गये। आज की सामायिक की निर्मलता और आनन्द का कौन वर्णन कर सकता है, जब कि उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती ? आज बीस तीर्थंकरों की निर्वाण भूमि की वंदना करके निर्वाण मुद्राधारी मुनिराज आत्मा और परमात्मा के स्वरूप के चिंतन में निमग्न हो गये है। आज की निर्मलता असाधारण है। समता अमृत से आत्मा को परितृप्त करने के पश्चात् उन मुनिनाथ ने पुनः मधुवन की ओर प्रस्थान किया। उस समय उनकी पीठ पर्वत की ओर थी किन्तु उनके

अतःकरण के समक्ष तीर्थंकरों के पावन चरण अवश्य आते थे। महाराज की स्मरण शक्ति भी तो सामान्य नहीं रही है। उनकी स्मृति वंदना के संस्मरण सुस्पष्ट जागृति कर लेती रही है, तब उस समय की सुस्पष्टता का तो क्या कहना है? उतरते समय एक गंधर्व नाला मिलता है। ऊपर से नीचे आने में व्यवहार पथ का ही अवलंबन होता है, इस बात को वह एक निर्झर सूचित करता हुआ प्रतीत होता था। आगे मधुवन के समीप आने पर भील आदि जंगली लोगों का मधुर गीत सुनाई देता है। वे गा रहे थे -

तुम तो भला विराजा जी।
सांवरिया पारसनाथ शिखर पर भला विराजाजी।।
देस देस का जतरी आया पूजा भाव रचाया।
आठ दरब लें पूजा कीनी मनवाँछित फल पाया ।। टेक ।।

नीचे आ जाने पर हृदय पुनः उस पुण्यधाम को प्रणाम करना चाहता है, जहां चरण चिह्नों को प्रणाम करके वंदक नीचे आये हैं, अतः वह इन शब्दों द्वारा वंदना करता है -

प्रथम कुंथुजिन धर्म सुमति अरु शांति जिनंदा।
विमल सुपारस अजित पार्श्व मेटे भव फंदा।
श्री नमि अरहजुमल्लि श्रेयांस सुविधि निधि कंदा ।
प्रभु महाराज और मुनिसुव्रत चंदा।।
शीतलनाथ अनंत जिन सम्भव अभिनंदन जी।
वीस टोंक पर वीस जिनेश्वर भाव सहित नित वंदन जी।।

मधुवन के जिन विम्बों की वंदना करके आज की तीर्थ वंदना पूर्ण हुई। इसके पश्चात् महाराज चर्या को निकले। भाग्यशाली दातार को आज आहार दान का श्रेष्ठ सौभाग्य मिला। उसने अपने को कृतार्थ माना सो स्वाभाविक है। दर्शकों को जब महान आनंद आता है, तब अतिथि सत्कार करने वाले दातार को क्यों न अपार हर्ष होगा ? कारण, महाराज सदृश सर्व गुण संपन्न अतिथि का दर्शन आज दुर्लभ है।

दक्षिण में निर्ग्रंथ मुनि परम्परा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है, इससे जैन क्रियाओं का सुव्यवस्थिति पालन होता चला आ रहा है। कई ऐसी क्रियाएं हैं, जिनको लिखना कठिन प्रतीत होता है और उनका प्रत्यक्ष प्रयोग देखकर समझना सरल कार्य होता है।

सूक्ष्मचर्चा

एक दिन महाराज ने कहा, "कोई कोई मुनिराज कमण्डलु की टोंटी को सामने मुंह करके गमन करते हैं, यह अयोग्य है।"

मैंने पूछा, "महाराज ! इसका क्या कारण है, टोंटी आगे हो या पीछे हो। इसका क्या रहस्य है ?"

महाराज ने कहा, "जब संघ में कोई साधु का मरण हो जाता है, तब मुनि टोंटी आगे करके चलते है, उससे संघ के साधु के मरण का बोध हो जायगा। वह अनिष्ट घटना का संकेत है।"

मैंने पूछा, "महाराज ! टोंटी सामने करके यदि चला जाय, तो और भी कोई दोष आता है ?"

महाराज ने कहा, "टोंटी सामने करके चलने से छोटे कीड़े टोंटी के छिद्र द्वारा भीतर घुस जावेंगे और भीतर के पानी में उनका मरण हो जायगा। टोंटी पीछे करके चलने में यह बात नहीं है।"

इस उत्तर को सुनकर आचार्य महाराज की सूक्ष्म विचारपद्धति और तार्किक दृष्टि का पता चला कि वे कितनी बारीकी से वस्तु के स्वरूप के विषय में विचार करते हैं। उनका ऐसा समाधान होता था कि उससे वह अंतःकरण को पूर्ण संतोष प्राप्त होता था।

महाराज की सिद्ध भक्ति

अभी सन् १९५१ के वारामती चातुर्मास में आश्वनि मास में महाराज के दर्शनार्थ देश विदेश में अपने वाणिज्य विषयक चातुर्य के लिए सुविख्यात एवं राष्ट्र में अपूर्व गौरव प्राप्त सेठ बालचंद हीराचंद बंबई वाले आए। इतने महान् व्यक्ति को कर्मचक्र के विशेष उदय युक्त देखकर आश्चर्य होता था कि उनके पास करोड़ों रुपया है और आज उस धन को वे सर्व शक्तिमान नहीं कह सकते हैं ? वाशिंगटन ने जिस अमेरिकन डॉलर की "सर्व शक्तिमान व विश्व-पूजा का महान पात्र"[1] पद के द्वारा महिमा कही थी, वह धन उनके तनिक भी काम में नहीं आ रहा था। वे बोल नहीं सकते थे। लकवे के कारण हाथ पैर सब अकड गए थे। रोटी भी हाथ से नहीं खा सकते थे।

साता वेदनीय का उदय होने पर महान सुखोपभोग होता था, किन्तु अब तीव्र असाता के उदयवश ऐसी स्थिति हो गई, जो देखने वालों के मन में भी व्यथा उत्पन्न करती थी। अध्यात्म शास्त्री साता, असाता को समान कहते हैं, किन्तु विपाक की दृष्टि से उनमें बड़ा अंतर अनुभव में आता है। उस समय मैंने कहा, "सेठ जी ! आपका बड़ा भाग्य है जो आप श्रेष्ठ महात्मा का दर्शन कर रहे हैं। आचार्यश्री के दर्शनार्थ आए यह अच्छा किया। आपने करोड़ों रुपये कमाए, देश विदेश का पर्यटन किया। जहाज, हवाई जहाज, मोटर के कारखाने खोले, बड़े-बड़े काम किए, खूब धन कमाया, किन्तु ये सब आत्मा के लिए कुछ भी कल्याण साधक न हुए। समस्त उद्योग करते हुए भी धन वैभव आपके शरीर की व्यथा को दूर नहीं कर सका, अतः आप महाराज को प्रणाम कीजिए और 'णमो अरिहंताणं' आदि

---

1 The Almighty Dollar, that great object of universal devotion

पंच नमस्कार मंत्र की मन में जाप कीजिए। आचार्य महाराज का जब बने तब आकर दर्शन कीजिए। ऐसा करना आपके लिए कल्याणकारी रहेगा।''

णमो सिद्धाणं

यह सुनकर महाराज बोले-''हम जानते हैं इनको। सेठ जी को केवल **'णमो सिद्धाणं'** का जाप करना चाहिए। यह सरल होगा और श्रेष्ठ भी है। इससे सब दुःख दूर होते हैं।'' सेठ बालचंद ने अपने अस्पष्ट शब्दों द्वारा गुरु वाणी को स्वीकार किया।

इससे यह भी ज्ञात हुआ कि महाराज की भक्ति सिद्ध भगवान पर अत्यधिक है। वह सिद्ध भक्ति ही तो उनको सिद्ध क्षेत्र पर ले आई जिसके प्रसाद से शिखरजी में लाखों लोग आ गए। कुंदकुंद स्वामी ने समयसार के मंगलाचरण में इन्हीं सिद्धों को नमस्कार किया है। जब आचार्य महाराज ने सन् १९५५ में सल्लेखना ली थी तब वे ''ॐ सिद्धाय नमः''का जाप करते थे। सल्लेखना के ३६ वें दिन स्वर्ग प्रयाण के पूर्व उनके मुख से''ॐ सिद्धाय नमः''शब्द निकले थे।

धर्मपुरी व उसका अद्भूत सौंदर्य

आचार्यश्री के आने के बाद अगणित मनुष्यों ने मधुवन के जंगल को एक विशाल धर्मपुरी का रूप दे दिया। जहां देखो, वहां आदमी ही आदमी दिखता था। सब स्थान भर गए थे। व्यवस्थापकों को आशा नहीं थी कि इतने लोग आवेंगे, किन्तु आचार्य महाराज के नाम का जादू था। लोग सोचते थे तीर्थराज की वंदना होगी। न सिर्फ तीर्थराज की वंदना होगी, अपितु पंचकल्याणक महोत्सव का लाभ लेंगे और पंचमकाल में चतुर्थकाल के साधुओं सदृश आत्मतेजधारी आचार्यदेव का दर्शन भी करेंगे। जैन समाज के प्रमुख श्रीमान्, विद्वान्, त्यागी, लोकसेवक, कलाकार पहुंचे थे।

चारों ओर जिनधर्म की ही महिमा सुनाई पड़ती थी। फाल्गुन का मास होने से ऋतुराज ने वनश्री को सौन्दर्य समन्वित कर दिया था। भिन्न-भिन्न देश के व्यक्तियों के विविध वर्णों की वेशभूषा से नेत्रों को प्रिय अभूतपूर्व दृश्य उपस्थित हुआ था। प्रभात का काल और भी मनोरम प्रतीत होता था। हजारों व्यक्तियों के मुख से जागरण के समय **'णमो अरिहंताण'** आदि मंगलमंत्रों का उच्चारण होता था। कहीं-कहीं लोग बड़े लय और राग के साथ प्रभाती पढ़ते हुए चौबीस तीर्थंकरों का गुणगान करते थे :

> **वंदो जिन देव सदा चरणकमल तेरे ।**
> **चरणकमल तेरे चरणारविंद तेरे ॥**
> **ऋषभ अजित संभव अभिनंदन गुण केरे ।**
> **सुमति पद्मश्री सुपार्श्व चंदाप्रभ केरे ॥**

पुष्पदंत शीतल श्रेयांस प्रभु मेरे ।
वासुपूज्य विमलनंत धरम जस उजेरे ॥
शांति कुंथु अर मल्लि मुनिसुव्रत केरे ।
नमि नेमि पार्श्वनाथ वीर धीर मेरे ॥
लेत नाम अष्टयाम छूटत भव फेरे ।
जन्म पाय जादुराय चरनन के चेरे ॥

प्रभु नाम स्मरण वेला में विविध गीतों के द्वारा वह धर्म महोत्सव सजीव दिखता था। प्रभात में गाया जाने वाला यह पद कितना सुन्दर है :-

प्रात भयो सुमर देव पुण्य काल जात रे ॥
चूकत यह अवसर फिर पीछ पछतात रे ॥ टेक ॥
लाभ औ अलाभ दोय, मैट सके नाहि कोय,
होनहार होय सोय, काहे सटपटात रे ॥ टेक ॥
पुत्रादिक दूर टार, चित्तर्तें उतारि नार,
नींदड़ी निवार के, ध्यान कों भुलाव रे ॥ टेक ॥
कान जे कुरंग जान, चंचल मन रुचि पिछान,
याके वश आन, तेरो फलो खेत खात रे ॥ टेक ॥
जगत राम प्रभु को नाम, जपो जो विचार काम,
सर्व सिद्ध होय काम, गुरुजी बतात रे ॥ टेक ॥

पर्वत पर जाने वाले यात्रियों के मुख से जिन स्तुति से पर्वत मुखरित होता हुआ जिन-गुण-गान में प्रवृत्त सा दिखता था। कोई पारस प्रभु की भक्ति में यह पढ़ते थे -

सामलिया महाराज दूरहि से आये तेरे दर्शन कों ॥ टेक ॥
दर्शन दीजै बाबा लागू थारे पाँय, जनम जनम के पातक जाँय ॥

कन्नड़ प्रान्त वाले कन्नड़ में, महाराष्ट्र प्रान्त वाले मराठी में जिन स्तवन करते जाते थे, कोई संस्कृत में प्रभुवंदन पढ़ते थे। इस प्रकार विविध भाषाओं में जिनेन्द्र पुण्य नाम स्मरण सुनाई पड़ता था। वहाँ तो यह प्रतीत होता था कि लोगों के आगे उस समय धर्म संचय का ही कार्य मुख्यतम बन गया। बिना धर्ममय हुए कर्मों का बंधन कटेगा भी कैसे ? पूजन भी बड़े वैभव के साथ होती थी। अपार जन-समुदाय होने के कारण जन-रव विपुल था। हजारों व्यक्ति भिन्न-भिन्न स्थानों पर अष्टद्रव्य से पूजा करते थे। कोई साथ में राग-रागनियों सहित पूजन पढ़ते थे। अष्टद्रव्य से पूजन करने को कोई-कोई लोग अर्वाचीन अर्थात् एकदम नई परंपरा कहते हैं। इस भ्रम का निराकरण तिलोयपण्णत्ति से हो जाता है, क्योंकि नंदीश्वर द्वीप में देवता लोग अष्ट द्रव्यों से ही पूजा करते थे। यथा : एक अंजनगिरि,

चार दधिमुख, और आठ रतिकर पर्वतों के शिखर पर उत्तम रत्नमय एक एक जिनेन्द्र मंदिर है। इन मंदिरों में देवगण जल, गंध, पुष्प, तंदुल, उत्तम नैवेद्य, फल दीप, धूपादिक द्रव्यों से जिनेन्द्र प्रतिमाओं की स्तुतिपूर्वक पूजा करते हैं।

तिलोयपण्णत्ति सदृश प्राचीन आगम के आधार मिल जाने से शोध के नाम पर बनाई जाने वाली हवाई कल्पना समाप्त हो जाती है। कोई-कोई कहते हैं, जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक जैन-संस्कृति का अंग नहीं है। उनको त्रिलोकसार के इस कथन से अपने विचारों का शोधन करना चाहिए। स्वर्ग में जन्म लेने के उपरान्त सम्यक्त्वी देव जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक - पूजन करते हैं :

धम्मं पसंसिदूण ण्हादूण दहे भिसेयलंकारं।
लद्धा जिणाभिसेय कुव्वंति सद्दिट्ठी॥ ५५२॥

"जिनाभिषेकं पूजां कुर्वन्ति सद्दृष्टयः" इन शब्दों से अभिषेक की अनादिकालीन प्रवृत्ति सिद्ध होती है।

शास्त्रों में कहा गया है कि देवता लोग भगवान् की दिव्वेण वासेण अर्थात् दिव्य वस्त्रों से पूजा करते हैं। इसका स्पष्टीकरण आचार्य यतिवृषभ ने किया है कि नंदीश्वर में देवता लोग दिव्य चंदोवा आदि के द्वारा भगवान की पूजा करते हैं। वे देव विस्तीर्ण तथा लटकते हुए हारों से संयुक्त तथा नाचते हुए चमर व किंकिणियों से युक्त अनेक प्रकार के चंदोवा आदि से जिनेश्वर की पूजा करते हैं।

महान जैन महोत्सव

शिखरजी में जिनेन्द्र पंचकल्याणक महोत्सव में बड़े वैभव के साथ जिन भगवान की महापूजा होती थी।

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी का उत्सव इन्दौर के धन कुबेर सर राव राजा दानवीर सेठ हुकुमचंदजी की अध्यक्षता में बड़े उत्साह और उल्लासपूर्वक पूर्ण हुआ था। उस समय भीड़ अपार थी। लाउडस्पीकर का सन् १९२८ तक अपने देश में आगमन न हुआ था, अतएव महोत्सव में लोगों का हल्ला ही हल्ला सुनाई पड़ता था।

दिगम्बर जैन महासभा का नैमित्तिक अधिवेशन ब्यावर के धार्मिक सेठ तथा आचार्य श्री के परमभक्त मोतीलाल जी रानीवालों के नेतृत्व में हुआ था। उस समय समाज के बंधन शिथिल करने वाले विधवा विवाहादि आन्दोलनों के निराकरण रूप धर्म तथा समाज उन्नति के प्रस्ताव पास हुए थे।

महोत्सव की स्मृति में शिखर जी पर एक संस्कृत में शिलालेख लगाया गया था, उसमें महोत्सव का सब हाल संक्षेप में ज्ञात होता है तथा आचार्य महाराज के संघ का भी विवरण विदित होता है :

(संस्कृत लेख)

॥ श्री शांतिसागर दिगंबराचार्य संघः॥

श्री दिगंबरजैनधर्ममुद्द्योतयन् महाप्रतापिदिगन्तकीर्तिपंचमजार्जनाम्नो बृटिशसम्राजः शासने प्रवर्तमाने काशीनिकटवर्तिनः श्री सिद्धमहाक्षेत्र-सम्मेदाचलस्याधित्याकायां समागतः।

दक्षिणमहाराष्ट्रराजधानी-कोल्हापुरान्तर्गतस्य निकटवर्तिनो भोजग्रामस्य पाटील भीमगौड़ा-सत्यवतीति जनकजनन्योरयं महात्मा श्री शांतिसागरः समजनि।

दीक्षित्वा चैकदा पर्यटन् तत्क्षोणीप्रदेशमवर्णनीयानेकगुणमण्डित्वाच्चतुर्विधेन संघेन मिलित्वाऽऽचार्य पदीत्वमध्यारोपितः। निकटवर्तिनो बाहुबलि-नामपर्वतस्याधित्यकाभूमौ वीरनिर्वाणसंवत्सरस्य २४५४ तमस्य वर्षायोग संजग्राह। एतद्वर्षायोगं समाप्य मार्गशीर्षकृष्णतृतीयादिने ततः सिद्धक्षेत्राणि वंदितुं संघेन सह उत्तरस्यां दिशि बिहारमारेभे।

एवं कोल्हापुर, सांगली, मिरज, अथणी, बीजापुर, अक्कलकोट, आलंद, लातूर, नागपुर, रायपुर, बिलासपुर, रांची, हजारीबाग, इत्यादीन् राजधानीनगरखेटादीननेकान् पर्वतान् नदीश्च लङ्घयन् तथा च कोल्हापुर-फलटण-सांगली-मिरजादिनगरनाथैः निजामराज्याधिपति-नब्बाबमहोदयैश्य सम्मानितः सन तत्र तत्र च धर्मोपदेशेन लोकान् मोक्षमार्गे दृढ़यन् स्वसंघं च तत्र नियोजयन् संघेन सह सार्धत्रयमासेषु सम्मेदपर्वतमाजगाम, वीरनिर्वाण २४५४ विक्रमाव्द १९८४ खृष्टाव्द सन् १९२८ तमे शाकानां च २८५० तमे फाल्गुनमासे शुद्धतृतीयादिने।

एतत्फाल्गुनस्य चाष्टाह्निकमहापर्वपर्यन्तमेनामेव भूमिमलंचकार। संघोऽयं मुंबापुरोप्रवासिना प्रतापगढ़नगरवास्तव्येन रत्नव्यापारिणा दिगम्बर-जैनधर्मपरायणेन श्रेष्ठिना घासीलालेन अनेकधर्मपरायणं श्रावकश्राविका-समुदायं संघेन सहाऽऽहारादि-विविधवैयावृत्यं गृहस्थधर्मस्यावश्यकं परिपाल-यितुमादाय तत्समुदायस्यावश्यकतां प्रकटयितुं नानाविधावश्यकसामग्रीरक्षार्थं राजकीयान् कर्म्मचारिणः (पोलिस) श्रीमज्जिनेन्द्रवन्दनार्थं श्रीजिनसमवसरणमश्वबृषभशकटीतैलशकटीप्रभृतिगृहस्थ जनोपयोगिवाहनसमुदायं च गृहीत्वा सर्वविधनिजद्रव्यं श्री जिनधर्म्मप्रपूर्णभक्ति-तोङ्गीकृत्य प्रोत्साह्यानीतः।

पिताऽस्य नाम्ना पूनमचन्द्र श्रेष्ठी माता च जडावबाई।

त्रयोऽस्य पुत्रा नाम्ना गेंदनमलो दाडिमचन्द्रो मोतीलालश्च एतेऽपि च संघ-सेवारताः पितुराज्ञया सहैव शश्वदासन्।

॥ संघपरिचयः॥

संघेऽस्मिन्नाचार्यवर्यान् श्रीशांतिसागरपरमेष्ठिनः सेवमानास्त्रयो दिगम्बरा मुनिश्रेष्ठाः

शिष्योत्तमाः श्री १०८ परमपूज्यो वीरसागरौनेमिसागरौः अनन्तकीर्तिश्चेत्यासन्। चन्द्रसागरादयश्चत्वार ऐलकपदधरास्तथाऽन्ये च आर्यिकाक्षुल्लक ब्रह्मचारिप्रभृतयो गृहविरतास्तपस्विनः पंचदश सहासन्। गृहनिरतास्तु श्रावकाः श्राविकाश्च शतशो धनिनश्च प्रयाणप्रारम्भाद् गुरून् सेवमानाः सहाजग्मुः।

देवाधिदेवस्यार्हत्प्रभोः समवसरणयुक्ताः प्रतिमाः श्रावकाणां देवपूजाकर्मनिर्वाहार्थ संघेन सहानीताः। तद्व्यवस्थापनाय कोल्हापुरात् स्वस्तिश्री उगारकर-पायसागरस्वामी सहागताः।

॥ तत्रत्यकार्यविवरणम् ॥

श्री शाँतिसागराचार्यवर्य्यैः षट्द्रव्य-सप्ततत्त्व-नवपदार्थ-अहिंसा-स्याद्वादादि-सैद्धांतिकविषयेषु तथाऽष्टादशदोषविनिर्मुक्तेसर्वज्ञाप्तोपदिष्ट-रत्नत्रयस्वरूप-मोक्षमार्गमक्षुण्णं रक्षितुं सज्जातिविधायक-आगमविहित-अनादि-सिद्धवर्णव्यवस्था-शीलधर्म-उच्चकुलभेद-व्यवस्थादिविषयेषु च सततमत्र धर्म उपदिश्यते स्म। एतेषामुपदेशादेव संघपतिनाऽत्र बिपुलधनं व्ययोकृत्य अर्हत्प्रभोः पंचकल्याणकमहोत्सवपूर्वकं फाल्गुनशुद्ध-दशमीदिने प्रतिष्ठा कारिता। श्रीसम्मेदशैलस्योपरि प्रत्यहं दिगम्बरजैनेरभिषेकपूजनादिविधानं सततं क्रियतेस्म।

अखिलभारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभाया दि. जैनशास्त्रिपरिषदश्चात्र महासम्मेलने संघपतिनाऽधिवेशने कारिते। तत्र धर्मसमाजरक्षणोपयाअनेके निर्णीताः।

अस्मिन् महामहमहोत्सवे दक्षिण कर्नाटक द्राविड महाराष्ट्र वऱ्हाड बुन्देलखंड मारवाड-गुजरात-राजपूताना-पंजाब-बंगाल-आसाम-आगरा-दिल्ली-कलकत्ता-मुम्बई-प्रमुखेम्यः सर्वप्रांतेभ्यो दिगम्बर जैनसमाजो लक्षावधि-समागत्य संगत आसीत्।

एतत्समये अखिलभारतवर्षीयदिगम्बरजैन महासभायाः संघसंचालननिर्वहणतज्जनिताखिलजनधर्मलाभप्रदानेन कृतज्ञतां प्रदर्शयितुमखिलजनसमर्थ-नानुमोदनपूर्वक श्रेष्ठी घासीलालस्तत्पुत्राश्च त्रयोपि (गेंदनमलो दाडिमचन्द्रो मोतीलालश्च) "संघभक्तशिरोमणिः" इति पदव्या समलंकृताः ।

एतन्मुनिसंघेन चतुःसंघसमन्वितेन दिगम्बरजैनधर्मस्य वर्णनातीता महती प्रभावना संजातेत्यखिलविदितमास्तामिति शम्।

जिस समय संघ शिखरजी पहुंचा था, उस समय दक्षिण प्रांत में अनेक जगह पर भगवान की पूजा, अभिषेक आदि करके लोगों ने हर्ष प्रगट किया था। लोगों को इस प्रकार दिगम्बर मुनि संघ के विहार की वार्ता कई पीढ़ियों से अज्ञात थी, अतः मार्ग मे विघ्नों के आने का बड़ा भय सोचा था। एक प्रमुख पंडित महोदय ने सद्भाववश आचार्यश्री से विद्या सिद्धि को कहा ही था, किन्तु वह कुछ न करके सर्व सिद्धि के अधिनायक भगवान जिनेन्द्रदेव की भक्ति का अवलंबन ले संघ सानन्द अपने लक्ष्य स्थान पर आ गया और कोई संकट न होकर

अवर्णनीय धर्म प्रभावना हुई। यह सब आचार्य शांतिसागर महाराज की अप्रतिम भक्ति, प्रगाढ़ जिन धर्म पर श्रद्धा तथा परम विशुद्ध चारित्र के द्वारा सानंद संपन्न हो गया। अब तो वह महोत्सव पवित्र स्मृति की वस्तु है। सभी प्रांत के श्रावकों ने आचार्य महाराज से अपने विहार द्वारा अन्य प्रांतों को पवित्र करके जिन शासन की प्रभावना करने की प्रार्थना की। लोकत्याग तथा दि. जैन धर्म की प्रभावना का विचार कर आचार्य महाराज ने अब तीर्थ वंदना के साथ साथ सर्वत्र धर्म प्रभावनार्थ विहार करने का पवित्र निश्चय किया।

शिखरजी से प्रस्थान

आष्टाह्निक महापर्व सम्मेदाचल के सान्निध्य में व्यतीत करने के उपरांत चैत्र वदी एकम को संघ ने शिखरजी से प्रस्थान कर दिया। इतने दिनों से शिखरजी के दर्शन की उमंग थी, वह पूरी हो गई, इससे सिद्ध उद्देश्य हो अन्य तीर्थों के दर्शनार्थ रवाना होकर महाराज वड़ाका नदी पर दो दिन ठहर कर तीसरे दिन गिरडीह पहुंचे। संघ वहाँ तीन दिन ठहरकर वासुपूज्य भगवान के निर्वाण स्थान चंपापुर के लिए रवाना हुआ। रास्ते में वैंगावाद में क्षत्रियों का महासम्मेलन था। उस समय क्षत्रिय समाज ने आचार्य महाराज का बड़े आदर भाव से दर्शन किया और अमूल्य आशीर्वाद तथा कल्याणप्रद उपदेश प्राप्त किया।

चैत्र वदी त्रयोदशी को संघ मंदारगिरि के निकट पहुंचा। संघ यहां तीन दिन ठहरा, पश्चात् विहार कर चैत्र सुदी तीज को भागलपुर आया।

वासुपूज्य भगवान की निर्वाण भूमि

वहां नाथनगर के पास चंपापुर में वासुपूज्य भगवान के चरण चिह्न हैं, प्रतिमा जी भी बड़ी भव्य है। उनके दर्शन कर सबने बड़ी शांति प्राप्त की। यहाँ से वासुपूज्य भगवान ने निर्वाण प्राप्त किया था[1]। पंचबालयति तीर्थंकरों में वासुपूज्य भगवान का सर्व प्रथम नाम स्मरण किया जाता है।

बालब्रह्मचारी तीर्थंकरों में वासुपूज्य भगवान के विषय में कवि कहते हैं -

> वासुपूज्य वसुपूज तनुज पद वासव सेवत आई।
> बालब्रह्मचारी लख तिनको शिवतिय सन्मुख धाई॥

वहां से चलता हुआ संघ राजगृही आया। भगवान महावीर प्रभु के समवशरण में

---

१. निर्वाणकांड में कहा है "चंपाए वासुपूज्य जिणणाहो" - चम्पापुर से वासुपूज्य जिनेश्वर ने मोक्ष पाया। उत्तर पुराण में मंदारगिरि को निर्वाण भूमि कहा है। चंपापुरी महानगरी थी। मंदारगिरि उसका ही अंग रहा होगा। मंदारगिरी का वातावरण विशेष आकर्षक है। धर्मात्मा पुरुष दोनों जगह जाकर दो बार भगवान वासुपूज्य की आराधना द्वारा पुण्य प्राप्त करता है।

मुख्य प्रश्नकर्ता का गौरव जिन श्रेणिक महाराज (बिम्बसार) को प्राप्त हुआ, उनकी राजधानी यही स्थान थी। यहां पंच पहाड़ी की वंदना की जाती है। राजगृही के पूर्व में चतुष्कोण आकार वाला ऋषि शैल है। दक्षिण में वैभारगिरि, नैऋत्य दिशा में विपुलाचल में दोनों त्रिकोण है, पश्चिम, वायव्य तथा उत्तर दिशा में धनुषाकार छिन्न नाम का पर्वत है। ईशान दिशा में पांडू पर्वत है। पांचों ही पर्वत कुश समूह से वेष्टित हैं।

यहां वासुपूज्य भगवान के सिवाय शेष २३ तीर्थकरों का समवशरण आया था।[1]

हरिवंश पुराण (३-५२) में ऐसा भी लिखा है कि :

पंचशैलपुरं पूतं मुनिसुव्रतजन्मना

अर्थ : यह पंच शैलपुर राजगिरि भगवान मुनिसुव्रत के जन्म के द्वारा पवित्र है।

भगवान महावीर तीर्थंकर को ऋजुकूला नदी के तीर पर, जो जृंभिक ग्राम के पास थी, वैसाख सुदी १० को केवलज्ञान प्राप्त हुआ था। इसके पश्चात् ६६ दिन तक भगवान की दिव्य ध्वनि नहीं हुई। अनंतवीर्य भगवान को केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद धर्मतीर्थ की उत्पत्ति होनी चाहिये थी, किन्तु दिव्यध्वनि नहीं खिरी। राजगिरि को प्रथम धर्मदेशना का सौभाग्य मिला।

विपुलाचल पर दिव्यध्वनि

भगवान महावीर स्वामी ने धर्मतीर्थ का उपदेश कहाँ दिया ? इसके समाधान में जयधवलाटीका में लिखा है कि जब महामंडलीक श्रेणिक महाराज अपनी चेलना रानी के साथ सकल पृथ्वीमंडल का उपभोग करते थे, तब मगधदेश के तिलक के समान राजगृह नगर के नैऋत्य दिशा में स्थित, सिद्ध तथा चारणों के द्वारा सेवित विपुलाचल पर्वत पर बारह गणों-सभाओं से वेष्टित भगवान महावीर ने धर्मतीर्थ का कथन किया।

अर्थकर्ता

तिलोय पण्णत्ति में लिखा है कि देव और विद्याधरों के मन को हरण करने वाले, सार्थक पंचशैल नगर-राजगृही में पर्वतों में श्रेष्ठ विपुलाचल पर श्री वीर जिनेन्द्र क्षेत्र की अपेक्षा परमागम रूप अर्थ के कर्त्ता हुए। भगवान की ६६ दिन पर्यन्त वाणी नहीं खिरी। अन्त में श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के प्रभात में विपुलाचल पर धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति हुई।

हरिवंश पुराण में भी लिखा है कि भगवान ६६ दिन पर्यन्त मौन के साथ विहार करते हुए जगत में विख्यात राजगृह नगर को प्राप्त हुए। वहां वे विपुल श्री संपन्न विपुलाचल पर्वत पर लोगों को उपदेश देने के लिए चढ़े, जैसे सूर्य उदयाचल पर आरोहण करता है। राजगिरि

१. वासुपूज्य जिनाधीशादितरेषां जिनेशिनां।
सर्वेषां समवस्थानैः पापनोरुवनांतराः ॥ ३-५७, हरिवंश पुराण॥

आते ही जैन संस्कृति के ज्ञाता के चित्त में महावीर भगवान के विपुलाचल पर समवशरण आने की तथा धर्मामृत वर्षा की आगमोक्त बात स्मृति पथ में आए बिना नहीं रहती है।

तिलोयपण्णत्ति में लिखा है कि केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर सभी जिनों का परमौदारिक शरीर पृथ्वी से पांच हजार धनुष ऊपर चला जाता है। उस समय सौधर्मेन्द्र भी आज्ञा से कुवेर विक्रिया शक्ति के द्वारा सभी तीर्थंकरों के समवशरणों की विचित्र रूप से रचना करता है। उस समवशरण में चढ़ने के लिए आकाश में चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में ऊपर-ऊपर बीस हजार सुवर्णमय सीढ़ियां होती हैं। वे सीढ़ियाँ एक हाथ ऊंची और एक हाथ विस्तार युक्त होती हैं।[1]

विपुलाचल की मधुर स्मृति

विपुलाचल पर चढ़ते ही मन में विविध प्रकार के विचार उत्पन्न होने लगते हैं। आगम के अनुसार समवशरण द्वादश सभा, सभानायक महाराज श्रेणिक, रानी चेलना, गौतम गणधर आदि का जो वर्णन पढ़ा है, सुना है, उसकी पवित्र और मधुर स्मृति आ जाती है और आत्मा को आनंद विभोर कर देती है।

इस पंचपहाड़ी पर जब आचार्य महाराज संघ सहित चढ़े तब बहुतों को स्मरण आया होगा कि इस पहाड़ी पर स्वयं चढ़ते समय विकट रास्ता होने से जब कष्ट होता है, तब शांतिसागर महाराज गृहस्थावस्था में यहाँ आए थे, उस समय उन्होंने किस प्रकार एक व्यक्ति को पीठ पर रखकर वात्सल्य भाव से पर्वत पर चढ़ाया होगा। उससे उनके महान् बल का अनुमान लोगों को बहुत स्पष्टता से हुआ होगा। धर्मात्मा दानी श्रावकों के पुण्य दान के फलस्वरूप सीढ़ियों का निर्माण होने से अब यात्रियों को पूर्ववत् कष्ट नहीं होता।

वीर निर्वाणभूमि पावापुरी पहुँचना

राजगिरी की वंदना के पश्चात् संघ ने महावीर भगवान के निर्वाण से पुनीत पावापुरी की ओर प्रस्थान किया। जब पावापुरी का पुण्य स्थल समीप आया, तब वहाँ की प्राकृतिक शोभा मनको अपनी ओर आकर्षित करने लगती है। जलमंदिर में भीतर भगवान महावीर प्रभु के चरण चिह्न विराजमान हैं। तालाब लगभग आधा मील लम्बा तथा उतना ही चौड़ा होगा। उस सरोवर में सदा मनोहर सौरभ संपन्न कमल शोभायमान

---

१. इससे ज्ञात होता है कि भगवान का समवशरण बीस हजार हाथ ऊँचाई पर आकाश में रहता है। यह ५ मील ५ फर्लांग तथा १०० गज प्रमाण होता है। इतनी ऊँचाई पर समवशरण होने से भव्य जीव ही वहाँ दर्शनार्थ जाते होंगे। यह दोहा इस प्रसंग में उपयोगी है :-

भाग्यहीन को नहिं मिलै भली वस्तु का योग ।
दाख पकै तब काग के होत कंठ में रोग ॥

होते हैं। मध्य का मंदिर श्वेत संगमरमर का बड़ा मनोज्ञ मालूम होता है। पूर्णिमा की चांदनी में उसकी शोभा और भी प्रिय लगती है। सरोवर के कारण मंदिर का सौन्दर्य बड़ा आकर्षक है। भगवान का अंतरंग जितना सुन्दर था, उनका शरीर जितना सौष्ठव संपन्न था, उतना ही बाह्य वातावरण भी भव्य प्रतीत होता है। सरोवर में बड़ी बड़ी मछलियाँ स्वच्छंद क्रीड़ा करती हैं, उन्हें भय का लेश भी नहीं है, कारण वहाँ प्राणी मात्र को अभयप्रदान करने वाली वीर प्रभु की अहिंसा की शुभ चंद्रिका छिटक रही है। मंदिर के पास पहुंचने के लिए सुन्दर पुल बना है। विदेशी भी पावापुरी के जल मन्दिर के सौन्दर्य की स्थायी स्मृति फोटो के रूप में साथ ले जाया करते हैं।

निर्वाण काल तथा आसन

पावापुरी की वंदना से बढ़कर सुखद और कौन निर्वाण स्थल होगा ? यहाँ पहाड़ी की चढ़ाई का नाम निशान नहीं है, लम्बा जाना नहीं है। शीतल समीर संयुक्त जलमन्दिर जाने के बाद मध्य में वहाँ से निर्वाण पद प्राप्त करने वाले प्रभु वर्धमान जिनेन्द्र के चरण चिह्न विद्यमान हैं, जो निर्वाण स्थल के स्मारक हैं। आचार्य यतिवृषभ ने लिखा है कि वीर भगवान ने कार्तिक कृष्णाचतुर्दशी के प्रभात काल में स्वाति नक्षत्र रहते हुए पावापुर से अकेले ही सिद्धपद प्राप्त किया था, उनके साथ में और कोई मुनि मोक्ष नहीं गए। भगवान पार्श्वनाथ स्वामी के साथ छत्तीस मुनियों ने श्रावण सुदी सप्तमी को संध्या के समय प्रदोषकाल में सम्मेदाचल से मोक्ष प्राप्त किया था।

यह भी स्मरण योग्य है कि भगवान् ऋषभदेव ने चौदह दिन पूर्व, महावीर स्वामी ने दो दिन पूर्व, शेष बाईस तीर्थंकरों ने एक माह पूर्व योग से विनिवृत्त होने पर मुक्ति को प्राप्त किया था। भगवान ऋषभनाथ, वासुपूज्य, नेमिनाथ, पल्यंक बद्ध आसन से तथा शेष इक्कीस तीर्थंकरों ने कायोत्सर्ग आसन से मोक्ष प्राप्त किया था। इससे जलमंदिर में जाकर सिद्ध पद प्राप्त महावीर भगवान के विषय में चिंतवन करते समय उनकी कायोत्सर्ग मुद्रा का ध्यान करना उचित है। अब दि. जैन कोठी के मंदिरजी में भगवान् महावीर प्रभु की खड्गासन युक्त मूर्ति ब्र. पण्डिता चन्दाबाई आरा की ओर से विराजमान हुई है, जो आत्मचिंतन में सहायता प्रदान करती है। उन्होंने आचार्य महाराज की भी एक मूर्ति मंदिरजी में विराजमान की है।

वास्तविक सिंह भूमि

वर्धमान भगवान के संघ में से पूर्वधर तीन सौ, शिक्षक अर्थात उपाध्याय निन्यानवे सौ, अवधिज्ञानी तेरह सौ, केवली सात सौ, विक्रिया ऋद्धिधारी नौ सौ, विपुलमति वाले पांच सौ, और वादी मुनि चार सौ थे। छत्तीस हजार आर्यिकाओं की संख्या कही है। प्रमुख आर्यिका चंदना थीं। वासुपूज्य भगवान की भांति मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ

तथा वीरनाथ जिन भी बालब्रह्मचारी तीर्थंकर हुए हैं। पावापुरी का पुण्यस्थल वीरप्रभु की पवित्र स्मृति को जागृत करते हुए बताता है कि यथार्थ में ये पूर्ण सिंह निकले जो संपूर्ण कर्मों का नाशकर वहाँ से सिद्ध स्थल में विराजमान हो गये। उन वीर प्रभु की अचिन्त्य महिमा है। आचार्य कहते हैं :

ये वीर पादौ प्रणमंति नित्यं ध्यानस्थिताः संयमयोगयुक्ताः।
ते वीतशोका हि भवंति लोके संसार दुर्गं विषमं तरंति॥

अर्थ : जो जीव ध्यान में स्थित होकर तथा संयम और योग से संयुक्त होते हुए वीर भगवान के चरणों को सदा प्रणाम करते हैं, वे जगत में वीतशोक होते हैं तथा विषम संसार के सकंटों के पार पहुँचाते हैं। आज उन्हीं वीर प्रभू का तीर्थ प्रवर्तमान है। उन प्रभु की सुन्दर शब्दों में इस प्रकार स्तुति की गई हैः-

वीरः सर्व सुरासुरेंद्र महितो वीरं बुधाः संश्रिताः ।
वीरणाभिहतः स्वकर्म निचयो वीराय भक्त्या नमः ॥
वीरातीर्थमिद प्रवृत्तमतुलं वीरस्य घोरं तपः।
वीर श्री द्युतिकांति कीर्ति धृतयो हे वीर ! भद्रं त्वयि॥

अर्थ : वीर भगवान सकल सुरासुरेन्द्रों के द्वारा स्तुत्य हैं, महान् ज्ञानी पुरुष वीर का आश्रय लेते हैं, वीर के द्वारा अपने कर्मों का समुदाय नाश किया गया, वीर के लिए भक्ति पूर्वक नमस्कार है। यह अतुल तीर्थ वीर से उत्पन्न हुआ, वीर की तपश्चर्या घोर है, वीर में श्री अहिंसा, धर्म, कान्ति, कीर्ति तथा धृति हैं। हे वीर ! आप में कल्याण का निवास है। इस स्तुति में समस्त कारकों द्वारा वीर भगवान का कथन करते हुए उनके गुणों का वर्णन किया है।

आचार्य महाराज की वीर भगवान में बड़ी भक्ति तथा श्रद्धा रही है। एक दिन मैनें पूछा, ''महाराज ! आपकी तपस्या तथा आत्म तेज के ही कारण बड़े बड़े असंभव दिखने वाले काम संभव हो जाते हैं।''

महाराज बोले, ''इसमें हमारा कुछ नही है। यह सब महावीर भगवान की कृपा है।''

उन तीर्थंकर महावीर प्रभु की निर्माण भूमि की साक्षात् वंदना करके संघ गुणावा आया और उसने भगवान के मुख्य गणनायक गौतम स्वामी के निर्वाण स्थल की सभक्ति वंदना की और उनकी अद्‌भुत, आध्यात्मिक, विकासपूर्ण जीवन का स्मरण कर सिद्ध पद प्राप्त आत्मा को प्रणाम किया, पश्चात् संघ बढ़ता हुआ वैशाख सुदी ९ को हिन्दुओं के मुख्य तीर्थ गया पहुंचा। जैन, अजैन जनता ने बड़े प्रेम और भक्ति पूर्वक संघ का स्वागत किया। हिंदूसभा ने महाराज के शुभागमन की सूचना की विज्ञप्ति प्रगट कर नगरवासियों से उनके स्वागतार्थ प्रेरणा की थी। महाराज के उपदेश

से हिन्दू, मुसलमान आदि अन्य धर्म के लोगों ने भी बहुत लाभ उठाया, मद्य, मांस का बहुतों ने त्याग किया।

उस समय भीषण गर्मी पड़ती थी, किन्तु महाव्रती साधुओं के नियम जीवन भर को अटल रहते हैं। इस काल में पानी पीते ही क्षण भर में उदराग्नि द्वारा भस्म हो जाता था, फिर भी मुनीश्वर आहार के समय ही प्रासुक जल पीते थे और फिर ऊष्णकाल में विहार भी करते जाते थे। गरम पवन आग की लपटों का स्मरण कराती थी। लोग घबड़ा उठते थे। किन्तु महाव्रती मुनिराज अपने आत्मस्वरूप का चिन्तन करते हुए समता भावपूर्वक कष्टों को सहन करते थे। इससे उनके पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती थी।

सोनभद्र

मार्ग में विशाल सोनभद्र नदी मिली। प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में सोनभद्र को नद लिखा है। इसके दोनों तरफ रेल्वे स्टेशन है। एक सोन ईस्ट बैंक और दूसरा सोन वैस्ट बैंक कहलाता है। सोन के एक तट पर डेहरी नामक बस्ती है, उसे डेहरी आन सोन कहते हैं। अब उसके पास ही एक औद्योगिक नगर''डालमिया नगर''नाम का बस गया है। वैसाख सुदी षष्ठी को संघ सासाराम नामक ऐतिहासिक नगर के समीप पहुंचा। यहाँ बहुत जनता ने गुरुदेव के दर्शन किये और अहिंसादि के नियम लेकर मद्य, मांसादि का त्याग किया। संघ बस्ती से तीन मील दूरी पर एक आम्रवन के नीचे ठहरा था। यहां चंद्रसागर जी का केशलोंच हुआ था।

काशी (पारस-सुपारस की जन्मभूमि होने से सच्ची शिवपुरी)

वैशाख सुदी चौदस को संघ मुगलसराय पंहुचा। पूर्णिमा को संघ के लोग काशी पहुंचकर भेलूपुरा की धर्मशाला में ठहर गये। जेठ प्रतिपदा के प्रभात में मुनिराजों ने काशी के लिए प्रस्थान किया। बड़े वैभव के साथ हजारों लोगों ने महाराज का स्वागत किया। गाजे बाजे के साथ जुलूस निकला।

काशी तो भारत की सांस्कृतिक राजधानी है। वहां के बड़े बड़े विद्वानों तथा तपस्वियों ने महाराज का दर्शन करके तथा उपदेश सुनकर आनंद प्राप्त किया। मुनिगण आहार के लिए नगर में जाते थे। कभी कभी मैदागिनी के मंदिरों का दर्शन भी किया करते थे। इन दिगंबर श्रमणों को राजपथ से आते जाते देखते हुए काशी के वैदिक विद्वानों तथा सब हिन्दू भाइयों को बड़ा हर्ष होता था कि आज दिन भी ऐसे निर्विकार परमहंस वृत्ति वाले तपस्वी लोग भूतल को पवित्र कर रहे हैं।

काशी को शिवपुरी कहते हैं। 'शिव' शब्द कल्याण का द्योतक है। महाकवि बनारसीदास इस नगरी को भगवान सुपार्श्वनाथ तथा पार्श्वनाथ स्वामी की जन्मपुरी होने

के कारण सचमुच में शिवपुरी मानते हैं और इस सम्बन्ध में अन्य धारणाओं को कल्पना कहते हैं। इसी काशीनगरी में महाराज विश्वसेन के यहां माता वामादेवी के गर्भ से भगवान पार्श्वनाथ प्रभु का पौष कृष्णा एकादशी को जन्म हुआ था। भगवान के पिता का नाम अश्वसेन जी विख्यात हैं। माता ब्रह्मादेवी कही गयी हैं। कहा भी है-

जनमें त्रिभुवन सुखदाता, एकादसि पौष विख्याता
श्यामा तन अद्‌भुत राजैं, रवि कोटिक तेज सुलाजैं ॥

भगवान जब आठ वर्ष के हुए उस समय का वर्णन करते हुए कवि उनके जीवन पर इस प्रकार प्रकाश डालता है -

भये जब अष्टम वर्ष कुमार धरे अणुव्रत महा सुखकार ॥
पिता जब आन करी अरदास,करो तुम ब्याह वरो मम आस ॥
करी तब नांहि कहे जगचंद, किए तुम काम कषाय जु मंद ।
चढ़े गजरात कुमारन संग, सु देखत गंग तनी सुतरंग ॥

यौवन अलंकृत

प्रभु गंगा के तट पर से जा रहे थे, और उसके सौंदर्य को देख रहे थे, कि उनकी दृष्टि एक पंचाग्नि तप-करने वाले साधु पर पड़ी। यह कमठ का जीव था। उसे देख कुमार के मन में दया आई, उन्होंने कहा 'ऐसा हिंसा-तप मत करो।' जब उस तपस्वी ने न ही सुना, तब इन्होंने एक लकड़ी के भीतर जलते हुए नाग नागिन को दिखाया।

उनको जलते हुए नाग युगल पर करुणा आई, अतः उन करुणा- निधान पार्श्व प्रभु के मरणासन्न नाग युगल ने पुण्य वचन सुने, इससे उन जीवों का उद्धार हो गया।

महत्व की बात

इस समय पार्श्वप्रभु सोलह वर्ष के थे। पार्श्वनाथ भगवान की पूजा में जो यह लिखा है कि नागयुगल के प्रसंग को प्राप्त कर उन्होंने दीक्षा ली, वह कथन उत्तरपुराण रूप आगम के विरुद्ध है। उत्तरपुराण में कहा है भगवान् तीस वर्ष के हुए। उनका जन्मोत्सव मनाया जा रहा था। अयोध्या के जयसेन नरेश ने उस पावन-प्रसंग पर दूत के साथ आदरसूचक भेंट भेजी थी।

दूत से भगवान ने अयोध्या-वासियों के कुशलक्षेम की वार्ता पूछी, तब दूत ने कहा, प्रभो, अयोध्या में भगवान् ऋषभदेव आदि अनेक महापुरुष हुए। उनके प्रसाद से सर्वत्र आनन्द है। इस वार्ता को सुनते ही भगवान् के मन में यह विचार आया कि उन पुरातन पुरुषों की लम्बी आयु थी। मेरी १०० वर्ष आयु में तीस वर्ष व्यर्थ में चले गये । अब मुक्ति हेतु तुरन्त उद्योग करना चाहिए। इस प्रकार उनमें वैराग्य-भाव जागा।

इस कारण उन्होंने सब वैभव का त्याग करने का निश्चय करके पौष कृष्णा एकादशी को दिगम्बर मुनि की दीक्षा ग्रहण की। जन्मोत्सव वैराग्य के उत्सव रूप में परिणत हो गया।

कलि पौष इकादशी आई, तब बारह भावन भाई।
अपने करलोंच सु कीना, हम पूजै चरण जजीना॥

प्रयाग (इलाहाबाद)

तीर्थंकर युगल के जीवन से पुनीत काशी में कुछ काल व्यतीत कर आचार्य संघ ने ज्येष्ठ वदी चौथ को प्रयाग के लिए प्रस्थान किया। काशी और प्रयाग के बीच १२० मील का अन्तर है। ज्येष्ठ बदी त्रयोदशी को संघ प्रयाग पहुंचा और गंगा के तीर पर ही ठहरा था। चौदस को गाजे बाजे के साथ संघ का जुलूस शहर से होता हुआ तथा जिन मंदिरों के दर्शन करता हुआ धर्मशाला में ठहरा। इस नगर का प्राचीन नाम तो प्रयाग ही है, किन्तु मुगलों ने अपने शासनकाल में इसे इलाहाबाद नाम से कहना आरंभ किया।

यहां चार दिन से आचार्य शांतिसागर महाराज को ज्वर आने लगा। इससे उनका शरीर क्षीण हो गया। इस कारण संघ को दस दिन तक ठहरना पड़ा। ज्येष्ठ सुदी चतुर्थी को मुनि वीरसागर जी, मुनि नेमिसागर जी का केशलोच हुआ। हजारों लोगों ने केशलोच देखा और जैन साधुओं की निस्पृहता तथा उत्कृष्ट तपश्चर्या की मुक्तकंठ से प्रशंसा की। ऐसा कौन वज्र हृदय होगा, जिसकी आत्मा ऐसी तपस्या देख कर भक्ति से नम्र न हो? प्रयाग जैन संस्कृति का अत्यन्त प्राचीन काल से केन्द्र रहा आया है।

भगवान ऋषभनाथ को अपने समक्ष सुन्दर नृत्य करती हुई नीलाजंना अप्सरा की मृत्यु देखकर वैराग्य उत्पन्न हुआ। उससे उनका मन परिवार, प्रजा तथा वैभव से विमुख हो गया। पश्चात् उन्होंने प्रयाग के अरण्य में दीक्षा ली थी, ऐसा कवि वृन्दावन ने लिखा है-

"कियो कचलौच प्रयाग अरण्य, चतुर्थम ज्ञान लह्यो जगधन्य॥"

तिलोयपण्णति(अध्याय ४-श्लोक ६४३ तथा ६४४) में लिखा है कि :

"चौबीस तीर्थकारों में से भगवान नेमिनाथ द्वारावती नगरी में और शेष तीर्थंकर अपने अपने जन्म स्थानों में जिनेन्द्र दीक्षा को ग्रहण करते हैं।"

"भगवान ऋषभदेव चैत्र कृष्ण नवमी के तीसरे प्रहर उत्तराषाढ़ नक्षत्र में सिद्धार्थ वन में षष्ठ उपवास के साथ दीक्षित हुए।"

प्रयाग की पूज्यता का हेतु

भगवान की जन्म भूमि अयोध्यापुरी थी। दीक्षाधारण नेमिनाथ भगवान के सिवाय शेष तीर्थंकरों का जन्म-पुरी में हुआ था, ऐसा उपरोक्त आर्ष कथन है, इससे प्रतीत होता है कि अयोध्या नगर प्रयाग तक विस्तृत रहा होगा और प्रयाग अयोध्या का अंग रहा

होगा। प्रतीत होता है जैसे काशी की पवित्रता का जैन संस्कृति के अनुसार कवि बनारसीदास ने वर्णन किया है, इसी प्रकार प्रयाग की पूज्यता का कारण आदिनाथ प्रभु का वहां के अरण्य में दीक्षा ग्रहण करना रहा है, किन्तु अब सांस्कृतिक संघर्ष वश वैदिक संस्कृति के श्रेष्ठ तीर्थ के रूप में उसकी प्रसिद्धि हो गई और जैन दृष्टि लुप्त प्रायः प्रतीत होने लगी। वस्तुतः काशी के समान प्रयाग को भी जैन संस्कृति का मुख्य स्थल मानना होगा। वैदिक वाङ्मय काशी, कौशल, मगध को अहिंसात्मक विचार धारा का केन्द्र बताता ही है।

प्रयाग, गंगा यमुना के संगम के रूप में विश्वमान्य हैं। यह इस बात का सूचक है कि भारतीय दृष्टि में पार्थक्य की नहीं, ऐक्य की पूज्यता थी, इसका प्रतीक संगम का समादर है। महत्व की वस्तु में धर्म का तत्त्व लगा देने की वैदिक पद्धति रही है।

प्रयाग से ज्येष्ठ सुदी ८,ताः २७ मई को संघ ने रीवा राज्य की ओर प्रस्थान किया।

संघ असाढ़ वदी सप्तमी, १० जून सन् १६२८ को रीवा पहुंचा। सरकारी हाथी, घोड़े, बैंड बाजा आदि के साथ जनता ने बड़ा भव्य स्वागत करते हुए संघ का जुलूस नगर में निकाला। कोई तार्किक पूछ सकता है कि इन निस्पृह, वीतराग मुनियों को जलूस से क्या प्रयोजन है ?

यह सत्य है कि इनको इन वस्तुओं की जरूरत नहीं है, न इनके आने में इनका कृत, कारित, अनुमोदन, मन, वचम काय से सम्बन्ध है; किन्तु इसका लोक कल्याण के साथ सहज सम्बन्ध है। हजारों जीव इन वीतराग महर्षियों के जुलूस को देखकर प्रणाम करते हैं, इनके चरण-रज को मस्तक पर रखते हैं और अपनी पवित्र श्रद्धांजलि अर्पित कर पुण्य का संचय करते हैं। अतः इसका आध्यात्मिक महत्व बहुत है। लोगों में आध्यात्मिक तत्त्व की अभिवन्दना का उत्साह तथा उमंग उत्पन्न होती है।

बहुत लोगों ने आचार्य देव के पास व्रत नियमादि ग्रहण किए थे। महाराज तो व्रत की निधि सर्वत्र बांटते थे, जिनके प्रसाद से यह जीव ऐसे वैभव को प्राप्त करता है,जिसको बड़े-बड़े नरेन्द्र प्रणाम करते हैं, देवेन्द्र तक जिसकी पूजा करते हैं। संयम के द्वारा क्या नहीं प्राप्त होता है ?

संयम का प्रसाद वितरण

इसलिए ये महासंयमी जगत् भर के जीवों को संयम की संजीवनी पिलाते हुए तथा उनके मोह ज्वर को दूर करते हुए आगे बढ़ते जाते थे। लोक कल्याण तथा राष्ट्र हित की अगणित सफल योजनाओं द्वारा जीवों का जितना हित हो सकता है, उससे असख्यात गुणित आत्म- कल्याण का पवित्र कार्य इन महापुरुषों के निमित्त से हुआ तथा होता जायेगा। जितेन्द्रिय संयमी तथा अहिंसा महाव्रती मानव के द्वारा आत्मकल्याण के साथ

सहज ही इतना जनकल्याण और जीव हित हो जाता है, जितना कभी भी कोई नहीं सोच सकता है।

ता. ११ जून १९२८ को रीवा समाज ने संघ-भक्त-शिरोमणि परिवार को अपनी कृतज्ञता तथा अपने वात्सल्य भाव का प्रतीक एक सन्मान पत्र भेंट किया था। उसमें लिखा था कि यद्यपि आज तक अनेकों दानवीरों ने लाखों रूपयों के द्वारा धर्मायतन, तीर्थरक्षा, धर्मशालाएं तथा शिक्षा प्रचारादि अनेक शुभ कार्य कर पुण्य एवं सुयश प्राप्त किया है, तथापि इस तरह अनुपम एवं अद्वितीय कार्य द्वारा अपनी कीर्ति को चिर स्मरणीय करने का श्रेय आपको ही है। आप ही की महती कृपा से हम अज्ञानांधकार में डूबते हुए अल्पज्ञों को आचार्य श्री शांतिसागर महाराज का संघ सहित दर्शन तथा सदुपदेश का लाभ हुआ है।

मैहर राज्य

रीवा रियासत के पश्चात् संघ तारीख १९ जून को मैहर राज्य में पहुँचा। आगे पलासवाड़ा ग्राम मिला। उसके समीप एक गृहस्थ महाराज के समीप आया। उसने भक्तिपूर्वक इनको प्रणाम किया। वह समझता था, ये साधु महाराज हमारे धर्म के नागा बाबा सदृश होंगें, जो गाँजा, चिल्लम, तमाखू पीते हैं। हिन्दू नागा बाबा खानपान में यथेष्ठ प्रवृत्ति करते हैं। तमाखू पीते समय वे यह कहा करते हैं कि भगवान भी चिलम पीते थे।

महाराज के प्रति हिन्दूभक्त का अनुराग

कृष्ण चले बैंकुठ को राधा पकड़ी बाँह ।
यहां तमाखू खाय लो वहाँ तमाखू नाँह ॥

कैसी-कैसी विचित्र कल्पना मोह वश जीव कर लिया करता है। इन्द्र ने ब्रम्हदेव से पूछा, "हे चतुरानन ! इस भूतल में श्रेष्ठ वस्तु क्या है ?" तब चारों मुखों से चतुरानन ने कहा, "तमाखू ही।"[१]

गांजा पीने की प्रार्थना

इस कलिकाल में सत्य का सूर्य मोह और मिथ्यात्व के मेघों से आच्छन्न हैं, अतः विषयवासनों की पुष्टि करने वाले जीव के हितप्रदर्शक तथा परम आराध्य माने जाते हैं। इसी धारणावश वह भक्त महाराज से बोल।, "स्वामी जी ! एक प्रार्थना है, अर्ज करूं ?" महाराज ने कहा, "क्या कहना है, कहो ?"

वह बोला, "भगवन् ! थोड़ा सा गाँजा मंगवा देता हूं, उसको पीने से आपका मन चंगा हो जायेगा।"

---

१. बिडौजा पुरा पृष्ठवान्मयोर्नि धरित्रीतले सारभूतं किमस्ति ।
चतुर्भि· मुखैरित्यवोचद्विरंचि स्तमाखुस्तमाखु स्तमाखुस्माखुः ॥

महाराज ने कहा, "हमारा मन सदा चंगा रहता है। हम लोग गांजा नहीं पीते हैं।"

यह सुनते ही वह चकित हुआ । उसने कहा, "महाराज ! सब साधु पीते हैं, आप क्यों नहीं पीते ?"

महाराज ने उस भोले प्राणी को समझाया, "ये मादक पदार्थ हैं, इनके सेवन से जीव के भावों में मलिनता उत्पन्न होती है, इससे बड़ा पाप होता है, सच्चे साधु की बात ही तो दूसरी है, किसी भी मनुष्य को गाँजा आदि मादक वस्तुओं को नहीं लेना चाहिए।"

गाँजा, भांग, चरस, मदिरा सब मादक द्रव्य की अपेक्षा भाई बन्धु ही हैं। यह बात गृहस्थ के ध्यान में आ गई। फिर भी गुरुदेव की भक्ति करनी थी, अतः प्रेम वश बोला- "महाराज ! थोड़ी मिठाई ला देता हूँ। उसे ग्रहण कर मुझे कृतार्थ कीजिए। "

महाराज ने कहा, "साधु के भोजन का नियम कठिन होता है, वह जैसा तैसा भोजन नहीं करता है।" उसके प्रेम को देखकर महाराज ने सोचा यह भद्र जीव प्रतीत होता है, अतः उसे उपदेश दिया। उसकी स्त्री ने जीवन भर के लिए अनछने जल का त्यागकर दिया और पुरूष ने परस्त्री त्याग व्रत लिया।

आज पढ़े लिखे लोग अनछना पानी पीने में अकल्याण नहीं देखते हैं; किन्तु धर्म के सिवाय विज्ञान का भी समर्थन छने जल को प्राप्त है। अनछने जल में चलते फिरते अगणित त्रस-जीवसूक्ष्मदर्शी यंत्र **(Mobile)** से दिखते हैं, उनकी रक्षा के हेतु छना जल पीना आवश्यक है।

छनेजल के विषय में

मनुस्मृति में जो हिन्दू समाज का मान्य ग्रंथ है लिखा है-

दृष्टि पूतं न्यसेत्पादं, वस्त्रपूतं पिबेज्जलम (देखकर पांव रखे और छानकर पानी पिए)। कहावत है- **गुरु कीजे जान पानी पीजे छान।** अगलित जल में बहुत छोटे-छोटे कीड़े पेट में चले जाते हैं जो भयंकर रोगों को उत्पन्न कर देते हैं। प्राचीन भारत में छने जलका आम रिवाज रहा प्रतीत होता हैं इसी कारण न्यायशास्त्र में घट के साथ पट का भी उदाहरण दिया जाता है। शब्द साम्य की दृष्टि से घट के साथ पट का भी मेल हो सकता है, हमें प्रतीत होता है कि घट और पट की समीपता के कारण ही न्याय शास्त्र में अन्योन्याभाव भाव आदि के उदाहरण में घटः पटोन कहा जाता है।

सन् १९५० में हम राणा प्रताप के तेजस्वी जीवन से सम्बन्धित चितौड़गढ़ के मुख्य द्वार पर पहुंचे तो वहां एक घट को वस्त्र सहित देख मन में शंका हुई कि यहां घट पट का सम्बन्ध कैसे आ गया ? तब हमें बताया गया कि यहां लोग प्रायः पानी छानकर पीते हैं। जैन संस्कृति की करुणा मूलक प्रवृत्ति का यहा विशिष्ट सूचक भी है, किन्तु इस कार्य में बड़े बड़े विद्वान् तक शिथिलता दिखाते हैं।

पानी छानने के महत्व को ध्यान में रखकर ही आचार्य महाराज ने उस भद्र महिला को पानी छानकर पीने को कहा था। आचार्य महाराज जैसी महनीय आत्मा छने जल को महत्व देते थे, इससे इस नियम का महत्व स्पष्ट हो जाता है ।

छनापानी तथा दिन का भोजन जैन परंपरा के वैज्ञानिक अंग

आजकल रात्रि भोज की बीमारी भी जैनसमाज में बड़े बड़े नगर निवासियों में बढ़ती जा रही है। जिस व्यक्ति के पास थोड़ी सी लक्ष्मी की कृपा हुई कि उसने रात्रि को भोजन करने में सगर्व कदम बढ़ाया। एक कोट्याधीश जैन श्रीमान् को मैंने देखा वे सब साधन संपन्न होते हुए भी रात्रि को भोजन करने लगे थे, और न करने वालों को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। ऐसे लोगों को स्मरण रखना चाहिए कि थोड़े दिन पुण्य के फलस्वरूप लक्ष्मी का लाभ ले लें, पश्चात् नीच पयार्य में जा कर्मों की ठोकरें खानी पड़ेगी, अतः नरजन्म को सफल करने के हेतु पापाचरण से विमुख रहना हितकारी है।

. एक श्रृंगाल ने रात्रि को भोजन छोड़ा था, उसके फल से उसने देव-पद प्राप्त किया था, तब मानव उस उस श्रृगाल से भी पिछड़ा रहा आवे, यह अच्छी बात नहीं दिखती है। गांधी जी रात्रि को भोजन नहीं करते थे, चाहे राष्ट्र हित का कितना ही बड़ा काम हो। एक बार काशी विश्वविद्यालय में वे भाषण दे रहे थे। संध्या समीप होने से पं. मदनमोहन मालवीय ने लोगों के समक्ष कहा था''हमारे भाई गांधी जी रात्रि को भोजन नहीं करते हैं, इससे सभा समाप्त की जाती है।''जो अत्यंत तुच्छ बातों के बहाने रात्रि भोजन करते हुए अपने जैन कुल के गौरव की परवाह नहीं करते हैं, उनको विवेक के प्रकाश में अपनी प्रवृत्ति को सुधारना चाहिए। प्रमुख जैन ही जब संस्कृति को विकृत करेंगे, तब उनका शुद्ध रूप कैसे रहेगा ?

भ्रांत धारणा

कोई-कोई कहते हैं संस्कृति का खान पान से क्या सम्बन्ध है? इसके उत्तर में कहना होगा कि शुद्ध आचार-विचार का ही नाम तो संस्कृति है। पवित्र आचरण और पवित्र मनोवृत्ति से जीवन की मलिनता दूर होकर वह परिशुद्ध, परिष्कृत, परिमार्जित बनता है। इसे ही सुसंस्कृत जीवन कहते हैं । मीठी मीठी, लच्छेदार बातें बनाना संस्कृति नहीं है। वह तो पथिक को फंसाने वाली व्याघ्र की बात है जो कहता था''इदं सुवर्ण कंकण गृह्यताम्''किन्तु इस माधुर्य के अन्तस्तल में नैसर्गिक क्रूरता का भाव छिपा हुआ था।

अतः विचारों की निर्मलता के संपादनार्थ आहार की शुद्धि आवश्यक है, इसी से आचार्य महाराज जीवन के कल्याणार्थ उसका उपदेश देते थे और भद्रात्मा उनके उपदेश को स्वीकार करते थे।

वृद्धा की भक्ति

आचार्य संघ जंगल के बीच से जा रहा था। एक वृद्धा की दृष्टि साधु महाराज पर पड़ी। उसकी तीव्र इच्छा हुई कि इन बाबा के दर्शन अवश्य करूंगी। महाराज आगे थे, वह लाठी टेकती हुई उस ओर बढ़ती जा रही थी। उसकी दृढ़ता और भक्ति देख संघपति सेठ गेंदनमलजी आचार्यश्री के पास पहुँचे और अर्ज की कि महाराज एक वृद्धा दर्शनार्थ आ रही है, आपके दर्शनों की उसकी बड़ी तीव्र लालसा है। उस समय थोड़ा थोड़ा पानी बरसना प्रारंभ हुआ था, किन्तु फिर भी महाराज कुछ समय को रुक गए और उसके आने पर उसे भद्रात्मा देख आशीर्वाद देते हुए आगे बढ़े ।

संध्या हो रही थी, उसी समय दो शिकारी मिले। उन्हें शिकार न खेलने को लोगों ने कहा। आचार्य महाराज के आगमन की वार्ता सुनाई। महाराज का दर्शन कर बिना शिकार किये वे लोग वापिस चले गए। आचार्यश्री तो महान् आत्मा हैं। उनके प्रभाव से प्रत्यक्ष में हिंसा न हो सकी, यह कौनसी बड़ी बात है? उनके चरण सेवक जिनेन्द्र के वचनों में श्रद्धा शील श्रावकों में बहुत सामर्थ्य पाई जाती है। देहली के स्व. जुगलकिशोर कागजी कुछ वर्ष पूर्व अमेरिका गए थे। वहा कुछ अमेरिकन साथी इनके द्वारा मछली न मारने की प्रार्थना करने पर भी अपनी आदत से लाचार हो मछली मारने एक सरोवर पर गए। जैन महाशय भी वहां खड़े खड़े जिनेन्द्र का नाम जपते रहे और यही आकांक्षा कर रहे थे कि आज मछलियों को अभय प्राप्त हो। वे इनके जाल में न फंसें। काफी देर तक उन लोगो ने मछली मारने का प्रयत्न किया, किन्तु वह निष्फल रहा आया। उनकी समझ में आ गया कि श्री जैन की करुणामयी प्रार्थना की उपेक्षा करने से वे विफल मनोरथ रहे हैं, अतः उनके चित्त में जैन-बंधु के प्रति विशेष सन्मान की भावना उत्पन्न हो गई। वास्तव में देखा जाय तो जिनेन्द्र के प्रति श्रद्धा रखकर यदि हम काम करें तो अवश्य पवित्र कार्य में सफलता मिलेगी।

******

आचार्य श्री की साधना

एक दिन मैंने (७ दिसंबर सन् १९५१ के) सुप्रभात के समय आचार्य महाराज से पूछा था-"महाराज ! आजकल आप कितने घंटे जाप किया करते हैं ?"

महाराज ने कहा था - रात को एक बजे से सात बजे तक, मध्याह्न में तीन घंटे तथा सायंकाल में तीन घंटे जाप करते हैं।"

पृष्ठ १६१, तीर्थाटन, जप का काल, पृष्ठ १६१

आचार्य श्री अर्थात् सिद्ध समयसार

मैंने (लेखक महोदय ने सल्लेखना की साधनारत ८२ वर्षीय आचार्य श्री से कहा) कहा-" महाराज ! श्रेष्ठ तपस्यारूप यमसमाधि का महान् निश्चय करके आपने जगत् को चमत्कृत कर दिया है। आपका अनुपम सौभाग्य है। इस समय मैं आपकी सेवार्थ आया हूँ। शास्त्र सुनाने की आज्ञा हो या स्तोत्र पढ़ने आदि का आदेश हो, तो मैं सेवा करने को तैयार हूँ।"

महाराज बोले-"अब हमें शास्त्र नहीं चाहिए। जीवन भर सर्व शास्त्र सुने। खूब सुने, खूब पढ़े। इतने शास्त्र सुने कि कण्ठ भर चुका है। अब हमें शास्त्रों की जरूरत नहीं है। हमें आत्मा का चिन्तवन करना है। मैं इस विषय में स्वयं सावधान हूँ। हमें कोई भी सहायता नहीं चाहिए।"

-सल्लेखना, पूर्ण स्वावलम्बी, पृष्ठ ३६०

अंतिम संस्कार

धर्मसूर्य के अस्तंगत होने से व्यथित भव्य समुदाय ॐ सिद्धाय नमः, ॐ सिद्धाय नमः का उच्च स्वर से उच्चारण करता हुआ विमान के साथ बढ़ता जा रहा था। थोड़ी देर में विमान क्षेत्र के बाहर बनी हुई पाण्डुक शिला के पास लाया गया। पश्चात् पावन पर्वत की प्रदक्षिणा देता हुआ विमान पर्वत पर लाया गया।

महाराज का शरीर जब देखो ध्यान मुद्रा में ही लीन दिखता था। दो बजे दिन के समय पर्वत पर मानस्तम्भ के समीपवर्ती स्थान पर विमान रखा गया। वहाँ शास्त्रानुसार शरीर के अंतिम संस्कार, लगभग १५ हजार जनता के समक्ष कोल्हापुर जैन मठ के भट्टारक श्री लक्ष्मीसेन स्वामी ने कराया। आचार्यश्री के पावन शरीर के पृष्ठ भाग का दूध दही आदि के घड़ों से सेठ गोविंदजी के परिवार, घराने द्वारा अभिषेक हुआ।

-सल्लेखना, ॐ सिद्धायनमः की उच्च ध्वनि, पृष्ठ

प्रभावना

प्रभावना

कटनी चातुर्मास

आषाढ़ सुदी तीज को संघ कटनी से चार मील दूरी पर स्थित चाका ग्राम पहुंच गया। वहाँ के स्कूल में संघ को ठहराया गया। महाराज के उपदेश से प्रभावित हो मुसलमान हेडमास्टर ने मांसाहार का त्याग कर दिया और भी बहुतों ने मांसाहार का त्याग किया था।

मध्याह्न की सामायिक के उपरांत कटनी के जैनसमाज का एक जुलूस, जिसमें हिन्दू तथा मुसलमान भी शामिल थे, आचार्य संघ के स्वागतार्थ आया।

बड़े हर्ष के साथ जुलूस ने नगर में प्रवेश किया। जिनमंदिरों की उन्होंने वंदना की। पश्चात् नवीन छात्रावास को आचार्यश्री ने अपने चरणों से पवित्र किया। इसी कारण उसे शांति-निकेतन यह अन्वर्थ नाम प्राप्त हुआ। २२ जून, सन् १९२८ को आचार्य महाराज तथा नेमिसागर महाराज का केशलोंच हुआ, पश्चात् भगवान् का पंचामृत अभिषेक हुआ तथा पूजन की गयी। आचार्य महाराज की भी पूजा की गयी। आचार्य महाराज का त्याग-धर्म पर मार्मिक उपदेश हुआ।

सम्मान

इसके पश्चात् दूसरे दिन तारीख २३ को सेठ गेंदनमलजी सपरिवार मुंबई वापिस चले गये। कटनी समाज ने संघपति का योग्य वस्त्रादि द्वारा सम्मान कर वात्सल्य भाव का परिचय दिया। उनको मानपत्र भी दिया था। संघपति ने जिस प्रकार आठ माह का समय गुरुसेवा में दिया, इसी प्रकार गुरुचरणों के भक्त दक्षिण के और भी भाई थे, वे सब अपने-अपने स्थान को चले गये। कारण अब उन्होंने देख लिया कि महाराज को उत्तर भारत की यात्रा कर धर्म की प्रभावना करना है और अब उत्तरप्रान्त के भाई गुरुसेवा का पवित्र उत्तरदायित्व उठाने को तैयार हैं, अतः अपने लौकिक कार्यों के हेतु उनको जाना पड़ा।

उत्तर में प्रभावना

उत्तरभारत में सर्वप्रथम आचार्य शांतिसागर महाराज के संघ के चातुर्मास का सौभाग्य कटनी को प्राप्त हुआ। आचार्यश्री के जीवन को जिन्होंने निकट से देखा, उनका अंतःकरण उनके प्रति भक्तिपूर्ण बने बिना नहीं रहा। शिखरजी के महान् उत्सव में इतना अधिक जनसमुदाय था और उस विशाल भीड़ के कारण ऐसी स्थिति थी, कि आचार्यजी के जीवन के निकट निरीक्षण का सौभाग्य बहुत कम लोगों को मिला। वे तो महान् सन्त हैं, जिन्हें अपने जीवन का विज्ञापन कभी भी इष्ट नहीं रहा है, अतः सब सामान्य कीर्ति के सिवाय

निकट से उनको देख सकें, ऐसा प्रथम अवसर उत्तर भारतवालों को कटनी में प्राप्त हुआ।

आगम भक्त

कुछ शास्त्रज्ञों ने सूक्ष्मता से आचार्यश्री के जीवन को आगम की कसौटी पर कसते हुए समझने का प्रयत्न किया। उन्हें विश्वास था कि इस कलिकाल के प्रसाद से महाराज का आचरण भी अवश्य प्रभावित होगा, किन्तु अन्त में उनको ज्ञात हुआ कि आचार्य महाराज में सबसे बड़ी बात यही कही जा सकती है कि वे आगम के बंधन में बद्ध प्रवृत्ति करते हैं और अपने मन के अनुसार स्वच्छंद प्रवृत्ति नहीं करते हैं। स्थानीय कुछ लोगों की प्रारम्भ में कुछ ऐसी इच्छा थी कि चातुर्मास का महान् भार कटनी वालों पर न पड़े, किन्तु चातुर्मास समीप आ जाने से दूसरा योग्य स्थान पास में न होने से कटनी को ही चातुर्मास के योग्य स्थान चुनने को बाध्य होना पड़ा।

संघपति ने ऐसे लोगों को कह दिया था- "आप लोग चिन्ता न करें, यदि आपकी इच्छा न हो, तो आप लोग सहयोग न देना, सर्व प्रबन्ध हम करेंगे, अब चातुर्मास तो कटनी में ही होगा।" इस निश्चय के ज्ञात होने पर सहज सौजन्यवश प्रारम्भ में उन शंकाशील भाइयों ने महाराज के पास जाना प्रारम्भ किया। उन्हें ऐसा लगने लगा, जिसे हम काँच सरीखा सोचते थे, वह स्फटिक नहीं, वह तो असली हीरा है।

श्रावकों की भक्ति

उस समय उन्हें अपने भाग्य पर आश्चर्य होता था कि किस प्रकार अद्भुत पुण्योदय से उनकी अनायास ही नहीं, अनिच्छापूर्वक ऐसी अपूर्व निधि प्राप्त हो गई। बस अब उनकी भक्ति का प्रवाह बढ़ चला। जो जितना प्रबल विरोधी होता है, वह दृष्टि बदलने से उतना ही अधिक अनुकूल भी बन जाता है। इंद्रभूति ब्राह्मण महावीर भगवान् के शासन का तीव्र विरोधी था, किन्तु उसने प्रभु के जीवन का सौन्दर्य देखा और उसमें अपूर्व सौरभ और प्रकाश पाया। अतः इतना प्रबल भक्त बन गया कि प्रभु के उपदेशानुसार निर्ग्रन्थ मुनि बन कर भगवान् के भक्त शिष्यों का शिरोमणि बनकर गौतम गणधर के नाम से विख्यात हो गया। भावों की अद्भुत गति होती है। अब तो कटनी की समाज में आंतरिक भक्ति का स्रोत उमड़ पड़ा, इससे आनन्द की अविच्छिन्न धारा भी बह चली। बड़े सुख, शांति, आनन्द और धर्मप्रभावना के साथ वहाँ का समय व्यतीत होता जा रहा था।

आचार्य चरणों का प्रथम परिचय

मैंने भी आचार्यश्री के जीवन का निकट निरीक्षण नहीं किया था। अतः साधु विरोधी कुछ साथियों के प्रभाववश मैं पूर्णतया-श्रद्धा शून्य था। कार्तिक की अष्टाह्निका के समय काशी अध्ययन निमित्त जाते हुए एक दिन के लिए यह सोचकर कटनी ठहरा कि

देखें इन साधुओं का अन्तरंग जीवन कैसा है ?

उनके पास में पहुंच कर देखा, तो मन को ऐसा लगा कि कोई बलशाली चुंबक चित्त को खेंच रहा है। मैंने दोष को देखने की दुष्ट बुद्धि से ही प्रेरित हो संघ को देखने का प्रयत्न किया था, किन्तु रंचमात्र भी सफलता नहीं मिली। संघ गुणों का रत्नाकर लगा।

गुरुदेव का व्यक्तित्व

आचार्य महाराज को देखकर आँखें नहीं थकती थी। उनके दो बोल कानों में अमृत घोल देते थे। उनकी तात्त्विक-चर्चा अनुभवपूर्ण एवं मार्मिक होती थी। वहाँ से काशी जाने की इच्छा नहीं होती थी। हृदय में यही बात आती थी, जब सच्चे गुरु यहाँ विराजमान हैं, तो इनके अनुभव से सच्चे तत्त्वों को समझा जाय। यही तो सच्चा शास्त्रों का अध्ययन है।

हमारा पूरा अष्टाह्निका पर्व वहाँ ही व्यतीत हो गया। महाराज का जीवन तो हीरे के समान ही दीप्तिमान था। उस समय उनके दर्शन से ऐसा ही आनंद आता था, मानो अन्धे को आँखें मिल गई हों, दरिद्र को निधि प्राप्त हो गई हो।

पश्चात्ताप

हृदय में यह भाव बराबर उठते थे कि मैंने कुसंगतिवश क्यों ऐसे उत्कृष्ठ साधु के प्रति अपने हृदय में अश्रद्धा के भावों को रखने का महान् पातक किया ? संघ के अन्य साधुओं का जीवन भी देखा, तो वे भी परम पवित्र प्रतीत हुए। "सोना जानिए कसे, आदमी जानिए बसे" -सुवर्ण की परीक्षा कसौटी पर कसे बिना नहीं होती है, आदमी की जाँच के लिए उसके साथ कुछ काल तक बातचीत होना आवश्यक है। जीवन तो आत्मा का गुण है, वह पुद्गल लेखनी के द्वारा कैसे बताया जा सकता है ? प्रत्यक्ष संपर्क से ज्ञात हो जाता है, कि इस आत्मा में कितनी पवित्रता और प्रकाश है ? मेरा सौभाग्य रहा जो मैं आचार्यश्री के चरणों में आया और मेरा दुर्भाव तत्काल दूर हो गया। मेरे कुछ साथी तो आज भी सच्चे गुरुओं के प्रति मलिन दृष्टि धारण किये हुए हैं : 'बुद्धिः कर्मानुसारिणी' खराब होनहार होने पर दुष्ट बुद्धि होती हैं।

उस समय कटनी में महाराज की तपश्चर्या बड़ी प्रभावप्रद थी। सभी संघ के साधु ज्ञान और वैराग्य की मूर्ति थे। धार्मिकों के लिए तो वे अमृत-तुल्य लगते थे, हाँ, विषयलोलुपी लोगों के लिए वे विषतुल्य अवश्य दिखते होंगें। आचार्यश्री कम बोलते थे, किन्तु जो बोलते थे, वह अधिक गंभीर तथा भावपूर्ण रहता था। पूजन, भजन, तत्त्वचर्चा, धर्मोपदेश में दिन जाते पता नहीं चला। वहाँ मास्टर श्री कुंदनमलजी नवीन गीत बनाकर गुणों के आगर गुरुओं की सुन्दर संगीत के साथ भक्ति करते थे। इस गुरुभक्ति के प्रसाद से वैभव ने इन्हें समलंकृत किया।

वर्षायोग समाप्ति का दिन आ गया। अब कल संघ का कटनी से विहार होगा, इस

विचार से लोगों के हृदय पर वज्राघात-सा होता था। कितनी शांति, सुख, संतोषपूर्वक समय व्यतीत हुआ, इसकी घर-घर में चर्चा होती थी।

विहार

अगहन कृष्णा एकम का दिन आया। आहार के उपरांत महाराज ने सामायिक की ओर जबलपुर की ओर विहार किया। उस समय आचार्य महाराज में कटनी के प्रति रंचमात्र भी मोह का दर्शन नहीं होता था। उनकी मुद्रा पर वैराग्य का ही तेज अंकित था। हजारों व्यक्ति, जिनमें बहुसंख्यक अजैन भी थे, बहुत दूर तक महाराज को पहुंचाने गये। महाराज अब पुनः कटनी लौटने वाले तो थे नहीं, क्या ऐसा सौभाग्य पुनः मिल सकता है ?

कटनी की समाज के हृदय पर महाराज का आज भी शासन विद्यमान है। जब कभी वहाँ के श्रावकों से समक्ष चर्चा आ जाती है, तो वे आनन्दमग्न होकर उन पुण्य दिवसों का स्मरण कर लेते हैं। विशुद्ध जीवन के बिना ऐसा स्थायी पवित्र प्रभाव कैसे हो सकता है ? महाराज को आहारदान का सौभाग्य मिल जाय, इससे कटनी से श्रावकों की मंडली संघ के साथ रवाना हो गई।

बिलहरी में चमारों द्वारा मांसाहार त्याग

आचार्यश्री दूसरे दिन बिलहरी ग्राम पहुंचे। वहाँ संघ का दो दिन वास्तव्य रहा। आसपास महाराज के श्रेष्ठ आध्यात्मिक जीवन की प्रसिद्धि हो चुकी थी। अतः उस ग्राम में सरकारी अधिकारियों ने और जनता ने गुरुदेव के निमित्त से बहुत लाभ लिया। क्या कभी कोई सोच सकता है कि चमार लोग मांसाहार छोड़ सकेंगे ? आज तो बड़े-बड़े उच्च वंशवाले मांसाहार तथा अंडे खाने की ओर बढ़ रहे हैं, तब आचार्यश्री के उपदेश से चमारों का मांसभक्षण त्याग करना बहुत बड़ी बात है। सुसंस्कृत और समुन्नत आत्मा का जीवन पर अद्भुत असर पड़ता है और जिसकी स्वप्न में भी आशा नहीं की जा सकती, वह बात सरलतापूर्वक प्रत्यक्षगोचर हो जाती है।

आज तो अहिंसा के प्रसाद से जन्म धारण करने वाला भारतीय शासन मांसाहार प्रचार को अपना विशेष कर्त्तव्य मान बैठा है।[१] वह देखे कि चर्मकार तक मांस का त्याग

---

१. भारत सरकार की Meat Marketing Report, १९५५ के पृष्ठ १६६ में मांस की महिमा बताते हुए, पृ. १६७ में उसके प्रचार के लिए सिफारिश इन शब्दों में की है, "It is therefore recommended that extensive propaganda may be carrid out to educate the peopls as regards high nutritive & protective value of meat & on the adversability of its increased Consumption in their daily diet." इससे ऐसा लगता है कि शासन कसाइयों की वकालत कर रहा है। जब तक शासन अपने कसाई सदृश हृदय को बदल कर मानवता को न अपनायेगा, तब तक प्रजा सर्वदा दुःखी ही रहेगी।

कर सकते हैं, तो अपने में बड़प्पन का अंहकार करने वालों को और चमारों से अपने को बड़े मानने वालों को सोचना चाहिए कि इस विषय में वे चमारों से आगे रहना चाहते हैं या पीछे ? यथार्थ बात यह है कि जो आत्मा अहिंसा से भूषित है, वह महान् है, जो हिंसा में निमग्न है, वह कदापि उच्च अथवा महान् नहीं मानी जा सकती है। गो की महत्ता को मांस-जीवी गिद्ध कहीं प्राप्त कर सकता है ?

पिपरौद के रास्ते में सर्पराज का आतंक

संघ ने बिलहरी से पिपरौद ग्राम की ओर प्रस्थान किया, तो एक यात्री ने कहा- "महाराज, रास्ते में एक भीषण सर्प है, वह जाने वालों का पीछा करता है, अतः वह रास्ता खरतनाक है।"

सब लोग चिन्ता में पड़ गए। लोग यही चाहते थे कि महाराज दूसरे रास्ते से चलने की आज्ञा दें। क्रुद्ध सर्प के रास्ते पर चलकर प्राणों के साथ खिलवाड़ करने से लोग डरते थे, किन्तु उन्होंने ऐसे महान् पुरुष के चरण पकड़े थे, जो जीवन भर निर्भीक रहे हैं। अनेकों बार घंटों सर्पराज जिनके शरीर पर काफी उपद्रव करके परीक्षा ले चुके, किन्तु उन शांति के सागर में अशांति का लेश न पाया गया। आचार्यश्री सामान्य श्रेणी के व्यक्ति नहीं थे।

आचार्य महाराज ने कहा- "घबड़ाओ मत।"

और वे तो उसी रास्ते पर बढ़ते चले। महाराज के पुण्यप्रताप से सर्पराज बाँस-बिड़े में सो रहा था, इससे निष्कंटक रास्ता कट गया। जिनेन्द्र भगवान् के वचनों पर श्रद्धा रखने वालों का संकट ऐसे ही टल जाता है।

मानतुंग आचार्य ने भी लिखा है :

हे भगवन् ! जिस पुरुष के हृदय में आपके नामरूपी नाग-दमनी औषधि विद्यमान है, वह शंकारहित हो रक्त नेत्र वाले, समद कोयल के कंठ समान श्याम वर्ण वाला, क्रोधयुक्त, फण उठाकर आते हुए सर्पराज को अपने पैरों से लाँघ जाता है।

महाराज का प्रभाव

बारामती के गुरुभक्त शिरोमणि सेठ चंदूलाल सर्राफ से हमने पूछा था - 'आप महाराज की सेवा में प्रायः रहते हैं। क्या विशेषता उनके बारे में देखने में आई ?

उन्होंने कहा था-'महाराज के साथ में कभी भी कष्ट नहीं हुआ। कभी कोई संकट नहीं आया। हम भयंकर से भयंकर जंगल में पड़े रहे, कभी भी चोरी नहीं हुई। कभी बीमारी की विपत्ति नहीं भोगने में आई।'

वे कहने लगे-'कदाचित् संकट का समय आया और हम लोगों ने आचार्य महाराज का पुण्य स्मरण किया, तो उनका नाम लेते ही संकट दूर हुआ है।'

राहुरी में जलप्रलय से रक्षा

उन्होंने एक घटना सुनाई। और भी अनेक लोगों ने उसका समर्थन किया। महाराष्ट्र राज्य के प्रसिद्ध शहर अहमदनगर की तरफ महाराज का विहार हो रहा था। रास्ते में राहुरी स्टेशन मिलता है। संध्या हो चली थी। उस समय हम पास के ग्राम में रहना चाहते थे, किन्तु महाराज ने हम लोगों की प्रार्थना की परवाह नहीं की और वे दूर तक आगे बढ़ गये। लाचार होकर हमको भी उनकी सेवार्थ वहाँ पहुंचना पड़ा। कुछ समय के पश्चात् उस ग्राम के पास ऐसी भीषण वर्षा हुई कि वहाँ कोई घर न बचा। पूर में सब बह गये।

आत्मवाणी

इस सम्बन्ध में मैंने महाराज से पूछा था, "महाराज! ऐसे प्रसंग पर आप क्यों उस गांव के आगे बढ़ गये ? क्या आपको वर्षा का ज्ञान हो गया था ?"

महाराज ने कहा, "ऐसे अवसर पर हमारी आत्मा वहाँ रहने को नहीं बोलती थी। हमारी आत्मा जैसे बोलती है, वैसा हम करते हैं। किसी के कहने से कुछ नहीं करते है।"

ऐसी पवित्र आत्मा का शरण लेने वाले को कहाँ विपत्ति होती है ?

चरणों की सेवा से समृद्धि-लाभ

शिखरजी में संघपति ने पंचकल्याणक महोत्सव में लाखों खर्च किये। संघ के साथ बहुत समय व्यतीत किया, इससे उनके पास की सम्पत्ति कम हो गई होगी, ऐसा कोई सोच सकता है, किन्तु यह भ्रम है, आचार्य शांतिसागर महाराज के चरण पकड़ने वालों का ऐसा विकास और अभ्युदय हुआ कि जिसे देखकर लोग चकित हो जाते हैं।

दैवज्ञ का कथन

एक बार एक उच्चकोटि के ज्योतिषशास्त्र के विद्वान् को आचार्य महाराज की जन्मकुण्डली दिखाई थी। उसे देखकर उन्होंने कहा था, जिस व्यक्ति की यह कुण्डली है, उनके पास तिलतुष मात्र भी संपत्ति नहीं होनी चाहिए, किन्तु उसकी सेवा करने वाले लखपति, करोड़पति होने चाहिए। उन्होंने यह भी कहा था कि इनकी शारीरिक शक्ति गजब की होनी चाहिए। बुद्धि बहुत तीव्र बताई थी और उन्हें महान् तत्त्वज्ञानी भी बताया था।

महाराज के चरणों का आश्रय लेने से विपत्ति नहीं आती, यह साथ के लोगों ने भी देख लिया। उनको संकटमुक्त होने का हर्ष तो था ही, साथ ही महाराज के प्रति उनकी आंतरिक श्रद्धा और भी बलवती हो गयी।

आगे चलकर संघ ने पिपरौद ग्राम में रात्रि व्यतीत की। मध्याह्न की सामायिक के उपरांत संघ ने तिवरी की ओर प्रस्थान किया। यहाँ संघ दो दिन ठहरा। साथ में दो गाड़ी लेकर लाड़नू के सेठ बच्छराजजी भी सपरिवार गुरुसेवा में दत्तचित्त थे। सेठ बच्छराजजी

के भाई सेठ तुलारामजी सन् १९५१ के भादों के बाद आचार्य महाराज की सेवा में बारामती आये थे। वे महाराज की सेवा में सपरिवार कुछ दिन ठहरे थे। वे सभी भाई कोट्याधीश थे। महाराज ने उनसे कहा था, "तुमने अभी जो धन पाया, वह पूर्व पुण्य से प्राप्त किया है। पुरुषार्थ से इतना धन नहीं मिला है। अब आगे भी ऐसा धन प्राप्त करने के लिए प्रयत्न क्यों नहीं करते ?" महाराज की बात ऐसी मधुर, मार्मिक तथा कल्याणप्रद रहा करती थी।

इसके बाद संघ सलीमनाबाद आया। प्राचीनकाल में यह स्थान दिगम्बर जैन संस्कृति का बड़ा भारी केन्द्र रहा हैं, क्योंकि यहाँ के जंगल में बहुत प्रमाण में जैनमूर्तियां प्राप्त होती हैं। यहां अच्छा मंदिर है। लगभग दस घर जैनियों के थे।

सिहोरा

वहाँ से चलकर संघ सिहोरा आया। सिहोरा के पाश्र्व में तीन मील दूरी पर एक गांव है, वहाँ के श्रावकों ने संघ से धर्मप्रभावना की प्रार्थना की, अतः आचार्य महाराज ने पार्श्ववती ग्राम के लिए पार्श्वकीर्तिजी को दो दिन के लिए जाने की आज्ञा दी थी, पश्चात् वे संघ में सम्मिलित हो गये थे। जब संघ आगे बढ़ा, तब भीषण वर्षा के सर्वचिह्न दिखने लगे। उससे सब गृहस्थों को बड़ी चिन्ता होने लगी कि वर्षा हो जाने से परिवार के बाल-बच्चों को बड़ा त्रास होगा, सर्दी भी भीषण हो जायगी। यह देख आचार्यश्री ने करुणाभाव से बाल-बच्चों वाले श्रावकों को साथ में न ले जाने को कहा, किन्तु उनके हृदय में गुरु-चरणों के प्रति भक्ति थी, उनका साथ छोड़ने को जी नहीं हो रहा था, अतः वे साथ में ही रहे। उन्होंने सोचा मेघों के डर से ऐसी आत्मा की सेवा का सौभाग्य छोड़ देना महामूर्खता होगी, इससे वे चरणों के पीछे लगे रहे। जब योग्य स्थान पर संघ पहुंच गया और संघ के लोगों के ठहरने की व्यवस्था हो गयी, तब वर्षा ने भूतल को जलमय कर दिया। लोगों को कष्ट नहीं हुआ। सिद्धिसंपन्न सत्पुरुष का सान्निध्य अद्भुत प्रभावपूर्ण रहता है।

जगतगुरु आचार्य शांतिसागर

आगे चलकर संघ गोसलपुर आया। वहाँ हिरन नाम की नदी पड़ती है। उसे पार करने के लिए नौका चलाने वालों ने पैसा नहीं लिया। उनको पैसा लेने को बहुत कहा, किन्तु वे बोले, "ये तुम्हारे ही गुरु नहीं है, ये महात्मा हम सबके गुरू हैं। उनकी सेवा करने के पैसे हम कदापि नहीं लेंगे।" यथार्थ में सभी लोग इनको अपना गुरु कहते थे। सन् १९५१ में नासिक कांग्रेस के महाअधिवेशन में श्री अजित प्रसादजी जैन तत्कालीन पुनर्वास मंत्री भारत सरकार आए थे। उनके साथ भारतीय पार्लियामेंट के सदस्य श्री बालकृष्ण शर्मा

नवीन भी थे। मिनिस्टर जैन से चर्चा के प्रसंग में मैंने कहा, "यहाँ से पास ही अपने आचार्य शान्तिसागर महाराज हैं।" श्री बालकृष्ण शर्मा बोलने लगे, "जैन लोग सोचते हैं कि आचार्य शांतिसागर महाराज हमारे हैं। किन्तु यह बात ठीक नहीं है। आचार्य महाराज सबके हैं। उनके चरणों पर जितना जैनों का अधिकार है, उतना ही हमारा भी अधिकार है। वे तो विश्व की विभूति हैं।"

विश्वसंस्कृति के सूत्रधार

इन वाक्यों के भीतर गहरी सच्चाई छिपी है कि संसार में जितनी वेषभूषायें है, वे मनुष्य-मनुष्य में भेद पैदा करती हैं अर्थात् परिग्रह का आवरण ही संसार का जाल फैलाता है। जब इन महान् मुनिराज ने दिगम्बर मुद्रा धारण कर ली, तब ये सूर्य और चन्द्रमा के समान प्राकृतिक रूप में आ गये। सूर्य और चन्द्रमा को कौन नहीं अपनाता है, अपना नहीं मानता है, उनसे अपना कल्याण-साधन नहीं करता है ? इसी प्रकार ये आध्यात्मिक विभूतियाँ प्रसुप्त मोही मानव को जगाती हुई कल्याण के मंदिर में प्रवेश के लिए प्रेरणा प्रदान करती हैं। सच्ची संस्कृति को कूटनीति के मायाजाल से निकालकर देखा जाय, तो ज्ञात होगा कि इन्हीं संतों के चरणों में विश्वसंस्कृति का मंगलमय मार्ग छुपा हुआ है। दुनिया के कोने-कोने में सर्वजीवभक्षी हिंसक लोग एकत्रित होकर सांस्कृतिक समुत्थान की कर्णप्रिय बातें करते हैं। उसे सुनकर '**नौ सौ चूहे खाकर बिल्ली हज करने चली है**' यह सूक्ति याद आती है। भला वहाँ क्या संस्कृति की ज्योति होगी, जहाँ मांसभक्षण, मदिरापान तथा जीववध सदृश पापकृत्यों में जरा भी दोष नहीं दिखता है ? वहाँ तो संस्कृति का शव भी नहीं है। वह तो विशुद्ध पाखंड है। सर्वोदय का पथ इन्हीं संतों के जीवन में है, उपदेश में है, प्रवृत्ति में है। अहंकार को छोड़कर सच्चे कल्याण के प्रेमियों को इनसे प्रकाश प्राप्त करना चाहिए।

गोसलपुर में विमानोत्सव हुआ। मुनि नेमिसागर महाराज का केशलोंच भी हुआ। बहुसंख्यक ग्रामीणों ने गुरुदर्शन द्वारा पुण्य का बंध किया था।

जीवन द्वारा सच्ची प्रभावना

बड़े-बड़े नगरों में लाखों आदमियों की भीड़ इकट्ठी होती है। उसे देख कर बड़ी प्रभावना की कल्पना होती है, किन्तु परिग्रह के जाल में जकड़े हुए लोगों में एक कान से सुनने के बाद दूसरे कान से उड़ा देने की अपरिहार्य आदत होती है। अतः वहाँ की प्रभावना प्रायः ऊसर भूमि में वर्षा सदृश होती है। ग्रामीणों में दिये गये उपदेश का ऐसा ही असर होता है, जैसे खेत के भीतर पानी के बरसने का होता है। दिगम्बर मुनि की पैदल यात्रा के द्वारा इतने जीवों का कल्याण होता था, जिसका घर बैठे आदमी अनुमान नहीं

कर सकता है। भोले लोग इन संतों के पास आते हैं। उन्हें बातें बनाना नहीं आता है। इनका विशुद्ध जीवन देखकर वे सहर्ष कुछ व्रत ले लेते हैं। श्रद्धापूर्वक दृढ़ता के साथ पालन करते हैं और आगामी उज्ज्वल जीवन के योग्य अपार पुण्य का संचय करते हैं। इन संतों की महिमा यथार्थ में भव्य जीव ही जानते हैं।

आचार्य महाराज की आत्मा तपश्चर्या के द्वारा अत्यन्त पवित्र हो चुकी थी, इससे उनकी आत्मा भविष्य के सम्बन्ध में महत्व की बातें प्रायः पहले से ही बता देती रही है। लोग पहले उस कथन को सामान्य वचन समझते थे, किन्तु सत्य प्रमाणित होते देख महाराज के पूर्वकथित शब्द स्मरण में आ जाते थे।

भविष्य की बातों का पूर्वदर्शन

सन् १९४७ में महाराज ने वर्षायोग सोलापुर में व्यतीत किया था। मैं भी गुरुदेव की सेवा में व्रतों में पहुंचा था। एक दिन व्रतों के समय पूज्यश्री के मुख से निकला "ये रजाकार लोग हैदराबाद रियासत में बडा पाप व अनर्थ कर रहे हैं। इनका अत्याचार सीमा को लांघ रहा है। इनको अब खतम होने में तीन दिन से अधिक समय नहीं लगेगा।"

महाराज के मुख से ये शब्द सुने थे। उसके दो-चार रोज बाद ही सरदार वल्लभभाई पटेल के पथ-प्रदर्शन के अनुसार हैदराबाद पर भारत सरकार ने पुलिस कार्यवाही (lice Action) रूप आक्रमण कर दिया और तीन दिन के भीतर ही हैदराबाद ने भारत सरकार के समक्ष घुटने टेक दिये।

इसके अनंतर मैंने आचार्य महाराज से कहा, "महाराज ! उस दिन आपके मुख से हैदराबाद का जो भविष्य निकला था, यह पूर्णतया ठीक निकला। यह बताइये, इसका कैसे पता चल गया, आप तो राजनीति आदि की खबरों से अत्यन्त दूर रहते हैं।"

महाराज ने कहा, "हमारा जैसा हृदय बोला, वैसा हमने कहा था।"

यथार्थ में जैनधर्म में ज्ञान के विकास के लिए मोहनीयकर्म के क्षय को प्रथम स्थान दिया है, वह महत्व की बात है। मोह शत्रु को जीतने से आत्मा में सहज विशुद्धता उत्पन्न होकर अद्भुत ज्ञान-ज्योति व्यक्त होती है, जैसे मेघ का आवरण दूर होने पर सूर्य का प्रकाश प्रगट हो जाया करता है। मोहरहित अल्पज्ञान भी सर्वज्ञता को प्राप्त करा देता है। कुंदकुंद स्वामी ने मूलाचार में कहा है कि जहाँ वैराग्य भावयुक्त वीरपुरुष थोड़ा भी ज्ञान पाकर सिद्धपद प्राप्त करते हैं, वहीं सर्वशास्त्र पारंगत वैराग्य के बिना मोक्ष नहीं पाते। वैराग्य का अर्थ है राग तथा द्वेष का त्याग करना। राग और द्वेष चारित्रमोह के भेद हैं। अतः वैराग्य का अर्थ होगा चारित्र को अंगीकार करना। चारित्ररहित के वैराग्य कैसे होगा ? चारित्र-शून्य को रागरहित जानना भिक्षुक को श्रीमन्त कहना सदृश बात है। विषय-भोग त्यागे बिना चारित्र नहीं होगा।

अनिष्ट का संकेत

एक बार सन् १९४८ की जनवरी में आचार्य महाराज ने विहार करते हुए शिष्य मंडली से कहा था, "हमारा हृदय कहता है कि देश में कोई भयंकर अनिष्ट शीघ्र ही होगा।" महाराज के इस कथन के दो-चार रोज बाद गोडसे ने गांधीजी की निर्मम हत्या की थी। उस समय सब बोले, "महाराज के ज्ञान में भावी घटनाओं की विशेष सूचना प्रायः स्वतः आ जाया करती है।"

संघ के निमित्त से गोसलपुर समाज को अपार आनन्द आया। जीवन में ऐसे पवित्र और मांगलिक अवसर कब-कब आया करते हैं ? अतः वहाँ श्रीजी को विमान पर विराजमान कर जल-विहार उत्सव हुआ।

पनागर

यहाँ मुनिराज का केशलोंच भी हुआ था। यहाँ के पश्चात् संघ १६ दिसम्बर को पनागर पहुंचा। वहाँ जैनियों के ५० घर हैं। शांतिनाथ भगवान् की ऊंची और मनोज्ञ-मूर्ति है। पहले यहाँ भट्टारक की गद्दी रही है। १७ दिसम्बर को आचार्य शांतिसागर महाराज ने केशलोंच किये। केशों का शरीर से अलग करना कलंक मोचन सरीखा कार्य है। यह अत्यन्त तुच्छ काम है, किन्तु यही तुच्छ कार्य तपस्वियों की तपस्या का अंग बन जाता है, और वे मशीन आदि के बिना हाथ से ही उखाड़े जाते हैं, तो दर्शकों की आत्माओं को भी प्रभावित करते हैं और सभी लोग सोचने लगते हैं कि सच्चे साधु महात्मा तो ये लोग हैं, गाँजा-चरस पीने वाले व्यर्थ में साधु का नाम लगाकर उस पद को दूषित करते हैं। ऐसे व्यसनों में लिप्त साधुओं से तो सदाचारी गृहस्थ लोग अच्छे हैं। जब तक इन्द्रिय जय नही होता है, तब तक 'साधु महाराज' प्रायः "स्वादु महाराज" कहे जाने के पात्र हैं। आचार्य महाराज का केशलोंच बड़ा अद्‌भुत होता था। उसमें अधिक समय नहीं लगता था। उसे देखकर ऐसा लगता था कि यह उनका पूर्व जन्म का अभ्यास है। तिनकों के तोड़ने के समान उनका केशों का लोंच प्रतीत होता था। केशलोंच कितनी साधना और मनोनिग्रह का काम है, इसके परीक्षण के लिए अपने सिर के बालों को खेंचकर अनुमान हो सकता है।

केशलोंच

बारामती चातुर्मास में आचार्य शांतिसागर महाराज का केशलोंच देखकर मैंने पूछा था-"महाराज ! केशलोंच में आपको कष्ट तो होता होगा ?"

महाराज बोले-"लगभग ४० वर्ष हो चले, तब से यह कार्य कर रहे हैं, अब कुछ नहीं मालूम पड़ता है।" यथार्थ में आचार्यश्री का इन्द्रियदमन अपूर्व है।

जबलपुर में स्वागत(धर्म ही तो सुख का हेतु है)

पनागर के समारंभ में जबलपुर की बहुत सी समाज भी आ गयी थी। इससे वहाँ की शोभा और बढ़ गई थी। संघ का पनागर आना ही जबलपुर के भाग्य उदित होने के उषाःकाल सदृश था। धार्मिक लोग सोच रहे थे, यहाँ कब संघ आता है ? शनिवार के प्रभात में संघ जबलपुर के लिए रवाना हुआ।

जबलपुर के अधारताल के पास लोगों ने योगिराज का भव्य स्वागत किया। संघ ने आकर मिलौनीगंज के मन्दिर की वंदना की। पश्चात् संघ गोलबाजार की तरफ रवाना हुआ। हजारों नर-नारियों का समुदाय इन संतराज के स्वागतार्थ इकट्ठा हुआ था। कटनी के बाद से अब आचार्य महाराज एक दिन के अंतराल से आहार लिया करते थे। कटनी में तो उनका त्याग बड़ा कठिन रूप में था। पाँच-पाँच, छह-छह, उपवास करना साधारण सी बात थी। यह होते हुए भी धार्मिक कार्यों में प्रमाद का लेश नहीं था।

महाराज का संघ जैन बोर्डिंग, गोलबाजार में विराजमान था। अब बोर्डिंग के स्थान में कालेज हो गया है। मुनियों के आहार के बाद जैन व्यापारी अपनी-अपनी दुकानें खोलते थे। जब धर्मपुरुषार्थ का लाभ हो रहा था, तब चतुर समाज ने यही सोचा कि अमूल्य अवसर पर उस धर्मनिधि का संचय करना ठीक होगा।

'धर्मः सुखस्य हेतुः' यही धर्म ही तो सुख का हेतु है।

जिनवाणी की भक्ति(प्रत्येक शब्द के पीछे अनुभव और गम्भीर चिंतन)

२९ दिसम्बर, सन् १९२८ को जबलपुर के नागरिकों के विशाल समुदाय के समक्ष नेमिसागर मुनिराज का केशलोंच हुआ था। संघ के साधुओं द्वारा सदा धर्मामृत की वर्षा हुआ करती थी। आचार्य महाराज की आदत वचनगुप्ति की विशेष रहती थी। अतएव लोग उनके उपदेश के थोड़े-से शब्दों को बड़ा ध्यान देकर सुना करते थे। उनके प्रत्येक शब्द के पीछे अनुभव और गम्भीर चिंतन का भाव प्रगट होता था। महाराज की वाणी में यह बड़ी बात थी कि वह तत्काल अन्तःकरण को शांति और आनन्द प्रदान करती थी। लोगों के मन में यही लगी रहती थी कि महाराज के मुख से कब शब्द सुनने में आते हैं। आचार्य महाराज सदा आगम के अनुसार ही कथन करते थे। श्रुत का अभीक्ष्ण अभ्यास रहने से अंतःकरण, विचार, बुद्धि अत्यन्त परिष्कृत हो गयी थी। अतः वे कभी भी आगम के विरुद्ध एक शब्द नहीं कहते थे। एक बार महाराज ने मुझसे कहा था, "हम एक अक्षर भी आगम के विरुद्ध नहीं बोलते हैं। जिनधर्म जिनवाणी में है। उस जिनधर्म में तुम्हें सर्व पदार्थ प्राप्त होंगे। जिनवाणी के अनुसार प्रवृत्ति करना चाहिए।" प्रायः देखा जाता है, परिस्थिति देख कर तथा लोगों को अनुरंजित करने के लिए लोगों के मुख से ऐसी

बात निकल जाया करती है कि शास्त्र पुराने जमाने में लिखे गये हैं, आज की स्थिति दूसरी है। आज वे रचे जाते हैं तो उनका रूप दूसरा होता। ऐसी आगम के विषय में आचार्य महाराज की श्रद्धा नहीं थी। उनकी अविचल श्रद्धा थी कि जो कुछ आर्षोक्त आगम में लिखा है, वह सर्वज्ञ की वाणी होने से पूर्णतया सत्य, निर्दोष तथा अबाधित है।

उच्च मार्दव भाव (आगम ही उनका प्राण)

आचार्य महाराज का प्राण आगम है, उसके विरुद्ध न वे एक शब्द बोलेंगे, और न विपरीत प्रवृत्ति ही करेंगे। इतने बड़े आचार्य की नम्रता की कोई सीमा है जब वे कहते थे, "यदि हमें एक बालक भी आगम लाकर बतायेगा, कि हमने भूल की है, तो हम तुरन्त अपनी भूल को सुधारेंगे।" एक बार महाराज ने कहा था, "यदि हम आगम के विरुद्ध बोलेंगे, तो हमें दोष लगेगा। इससे हम सदा आगम के अनुकूल ही कहेंगे।" सत्य महाव्रत की भावना में अनुवीचिभाषण अर्थात् आगम परम्परा के अनुसार कथन करने का जो उल्लेख आचार्य उमास्वामी ने किया है, वह आदेश उनके हृदय में सदा विद्यमान रहता था। इससे प्राण जाने पर भी वे आगम के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहते थे। इस तत्त्व को न समझने वाले कोई-कोई सोचते थे महाराज दक्षिण के पंथ का प्रचार करते थे, किन्तु आचार्यश्री प्रान्त, पंथ आदि का मोह छोड़कर आगम की बातों का ही प्रचार करते थे। वे प्रांतीयता के बंधन से विमुक्त थे।

मधुभक्षण में क्या दोष है ?

एक दिन मैंने पूछा, "महाराज, आजकल लोग मधु खाने की ओर उद्यत हो रहे हैं, क्योंकि उनका कथन है, कि अहिंसात्मक पद्धति से जो तैयार होता है, उसमें दोष नहीं है।"

महाराज ने कहा, "आगम में मधु को अगणित त्रस जीवों का पिण्ड कहा है, अतः उसके सेवन करने में महान् पाप है।"

मैंने कहा, "महाराज सन् १९३४ में मैं वर्धा आश्रम में गांधीजी से मिला था। उस समय वे करीब पाव भर शहद खाया करते थे। मैंने गांधीजी से कहा था कि आप अहिंसा के बारे में महावीर भगवान् के उपदेश को श्रेय देते हैं, उन्होंने अहिंसा के प्राथमिक आराधकों के लिये मांस, मद्य के साथ मधु को त्याज्य बताया है, अतः आप जैसे लब्धप्रतिष्ठित अहिंसा के भक्त यदि शहद सेवन करेंगे, तो आपके अनुयायी भी इस विषय में आपके अनुसार प्रवृत्ति करेंगे।"

मक्खी का वमन मधु है, वमन भक्षण करना अयोग्य है

इस पर गांधीजी ने कहा था, "पुराने जमाने मे मधु निकालने की नवीन पद्धति का पता नहीं था, आज की पद्धति से निकाले गये मधु में कोई दोष नहीं दिखता है।"

इस चर्चा को सुनकर आचार्य महाराज बोले, "मक्खी अनेक पुष्पों के भीतर के छोटे-छोटे कीड़ों को और उनके रस को खा जाती है। खाने के बाद वह आवश्यकता से अधिक रस को वमन कर देती है। नीच गोत्री विकलत्रय जीव का वमन खाना योग्य नहीं है। वमन में जीव रहते हैं। वमन खाना जैनधर्म के मार्ग के बाहर की बात है। थूक का खाना अनुचित कार्य है।" महाराज ने यह भी कहा था, "जो बात केवली के ज्ञान में झलकती है, वह साइन्स में नहीं आती। साइन्स में इन्द्रियगोचर स्थूल पदार्थों का वर्णन पाया जाता है।"

महाराज के संघ ने आधुनिक शिथिलाचारपूर्ण प्रवृत्तियों की आलोचना करके समाज का कुमार्ग में पतन रोका था। महाराज जो कहते थे, वह किसी के कहने से नहीं, हृदय की प्रेरणा से कहते थे। वे इतने उच्च ज्ञानवान रहे हैं कि बड़े-बड़े विद्वान् उनके समक्ष चर्चा करते समय अवाक् हो जाते थे। वे महाराज के प्रश्नों और युक्तिवाद का उत्तर नहीं दे सकते थे, अतः उनको प्रभावित किये जाने की जो बात सोचते हैं, उनमें सत्य का अंश भी नहीं था। **आगम के प्रमाण बताकर कोई भी व्यक्ति आचार्यश्री को प्रभावित कर सकता था और आगम के विरुद्ध विधाता भी आकर उनकी श्रद्धा को विचलित नहीं कर सकता था।** आजकल दुर्भाग्यवश ऐसे लोगों का संगठन बन गया है, जो आगम के अनुसार अपनी श्रद्धा और बुद्धि को न बनाकर अपने मन के अनुसार आगम के किसी अंश को अप्रमाण कह दिया करते हैं। ऐसे व्यक्ति सम्यक्त्व से कोसों दूर होते हुए भी स्वयं को सम्यक्त्वी शिरोमणि कहते हैं। मुमुक्षु को आचार्यश्री के अनुसार आगम में श्रद्धा रखनी चाहिए।

शीलप्रचार (विधवा विवाहादि कुप्रचारों पर अंकुश)

आज के युग में सामाजिक संगठन और सदाचार रक्षणार्थ सज्जातित्व की रक्षा को आवश्यक बताते थे। शीलधर्म के प्रचार को महाराज ने बहुत प्रेरणा दी थी। उनके महत्वपूर्ण व्यक्तित्व और उपदेश के प्रभाववश दक्षिण प्रान्त में धरेजा, पाठ, या पुनर्विवाह की कुछ समय से प्रचलित प्रथा का प्रचार बहुत मात्रा में न्यून हो गया, तथा उत्तरप्रान्त में जो विधवा विवाह का व्यवस्थित आन्दोलन आरम्भ हुआ था, उसका भी तत्काल मूलोच्छेद हो गया। इस प्रकार आचार्यश्री ने स्वयं तथा संघ के साधुओं के द्वारा शील-सदाचार का पोषण करके मोक्षमार्ग की उज्ज्वल प्रवृत्ति को लांछनरहित रखा था। लोककल्याण को लक्ष्य में रखकर वे उपदेश देते थे।

लोकरुचि नहीं, लोककल्याण को देखकर उपदेश

आचार्य सोमदेव ने लिखा है कि :

"जो वक्ता श्रोताओं की इच्छानुसार उपदेश देता है, वह कलिकाल के अंग सदृश है। मार्गदर्शक सन्मार्ग का दर्शन करने में प्रशंसा-प्राप्ति के बदले कल्याण

को विशेष रूप से विचारता है।"

पं. जवाहरलाल नेहरू ने भी लिखा है कि यदि कोई व्यक्ति नेता है, तो उसका कर्त्तव्य है कि वह मार्गप्रदर्शन करे, न कि जनता की आज्ञा का पालन करे।[1]

मार्गदर्शक का कार्य चिकित्सक के सदृश समाज की निरोगता का सम्पादन, संरक्षण तथा संवर्द्धन रहा करता है। प्रायः देखा जाता है कि अत्यन्त विवेकी व्यक्ति भी रोगाकुल हो अपथ्य सेवन की लालसा करता है। चिकित्सक रोगी की इच्छा के विरुद्ध लंघनादि कटु और कठोर उपाय बताता है और कहता है कि यदि तुमने हमारे कथनानुसार प्रवृत्ति न करके स्वच्छंदता दिखाई, तो तुम्हारे जीवन की रक्षा न होगी। इसी प्रकार भोग, मोह तथा विषयान्ध व्यक्तियों को आचार्य महाराज आगमोक्त औषधि देते थे, उनका करुणापूर्ण हृदय यही चाहता था कि इस जीव का कल्याण हो तथा साथ में समाज भी मोक्षमार्ग में संलग्न हो जावे।

ऐसे अवसर पर एक विचित्र बात देखने में आती है। बीमार व्यक्ति डाक्टर या वैद्य के पास जाता है और उसकी राय के अनुसार काम करता है। रोग के विषय में वह किसी वकील, जज या प्रोफेसर के कथन को महत्व नहीं देता है, कारण वह जानता है कि ये शरीरशास्त्र में निष्णात नहीं हैं। अतः उस विषय में ये प्रमाण नहीं माने जा सकते हैं। यही नियम आगम के विषय में लगना चाहिए, किन्तु उसमें अधिकार की बात तो दूसरी, उस विषय से पूर्णतया अपरिचित व्यक्ति उस विषय में जीवन भर साधना करने वालों के गुरु बनकर उनको ज्ञान देने का साहस करते हैं तथा अपनी विषयों के वशवर्ती मनोवृत्ति के अनुसार चलने का लोगों से आग्रह करते हैं। वहाँ ये भूल जाते हैं कि जिस विषय का हमें तनिक भी परिचय नहीं है, उसके बारे में अपने को विशेषज्ञ मान अभिमत देना सत्य के प्रकाश मे अन्याय होगा।

कई लोग स्वच्छंदतापोषक अखबारों के पाठी बन अपने को द्वादशांग का पाठी सोचने लगते हैं तथा तत्त्वतः निरक्षर भट्टाचार्य के भाई होते हुए भी निर्ग्रंथ गुरु की वाणी को अपने अनुभव तथा अध्ययन-शून्य ज्ञान की नकली कसौटी पर कसकर अयोग्य बताने का साहस करते हैं और लोगों को भ्रम में डालते हैं। ऐसे लोगों का तो आज के भोगासक्त तथा चरित्रहीन लोगों में बोलबाला दिखता है। एक कवि कहता है-

फूटी आँख विवेक की, भला करै जगदीस।
कंचनियाँ को तीन सौ, धनीराम को तीस॥

---

1. If he is a leader, he must lead and not merely follow the dictates of the crowd.
Mahatma by Dr. Tendulkar, foreword Pt. Jawaharlal Nehru, P. XI

वातावरण से अप्रभावित हो आगमोक्त कथन

ऐसे अवसर पर जनता के प्रमाण-पत्र या प्रशंसा की तनिक भी परवाह न कर आगम के मार्ग का प्रतिपादन करना महापुरुषों का काम है। लघु आत्मा बाह्य वातावरण से प्रभावित होकर उस काम को ही करती है, जिसमें उसको प्रशंसा (Cheap Publicity) मिले। सत्पुरुष कष्ट सहते हुए भी न्याय के मार्ग पर चलना कल्याणप्रद मानते हैं। अतएव आचार्य संघ के द्वारा लोककल्याण, सामाजिक सुव्यवस्था एवं सदाचार के रक्षणार्थ पश्चिम की पवन के विरुद्ध विधवा-विवाहादि के निषेध का जोरदार प्रचार किया जाता था। शील के पथ पर चलकर ही सती सीता, साध्वी चन्दना आदि नारी जाति के गौरव की निधि बनीं। उसी पथ पर चलने में मातृजाति का हित है। महाराज के संघ द्वारा व्यवहार और निश्चय दोनों धर्मों का उपदेश दिया जाता था। साधारण जन-समाज के लिए व्यवहार-चरित्र, शील, संयम, सदाचार का उपदेश दिया जाता था। तत्त्वज्ञों के लिए उच्च चर्चा की सामग्री गुरुदेव तथा संघ के ज्ञानी, अध्ययनशील, चिंतक साधुओं द्वारा प्राप्त होती थी।

जबलपुर बड़ा नगर है। जैनियों की संख्या उस समय लगभग पाँच-छह हजार थी। उनमें उच्चकोटि के विश्वविद्यालयों की उपाधिधारी भी अनेक व्यक्ति थे। वे लोग स्वतंत्र विचार तथा आचार को पसंद करने वाले होते हैं। उनके हितार्थ चन्द्रसागर महाराज, वीरसागर महाराज आदि धर्म की मार्मिक देशना करते थे। आचार्यश्री की वाणी तो दुग्ध में से घृत के समान सार बात को कहती थी। महाराज की प्रकृति कम बोलने की, अधिक ध्यान, मनन, चिंतवन करने की रही है। विशेषज्ञों के आने पर वे सूक्ष्म चर्चा जी खोल कर करते थे, साधारण लोगों के समक्ष वे अपने शिष्यों द्वारा तत्त्वोपदेश दिलाते थे और बीच में कभी-कभी अपनी अमृत वाणी से अनुभव की मधुर चर्चा करते थे, जिनसे श्रोताओं का संशय टिक नहीं पाता था।

सुलझे साधु

जो आचार्य महाराज के निकट आता था, उसे ज्ञात होता था कि वे अत्यन्त सुलझे हुए प्रशान्त, निस्पृह, श्रेष्ठ जीवन वाले चिंतक तथा अप्रतिम अहिंसक सन्त हैं। उनकी सारी प्रवृत्तियाँ अहिंसा के भाव से भूषित थी। कुछ लोग शांति सिंधु के समीप न आकर आदत से लाचार होने के कारण लोगों को भ्रमजाल में फँसाया करते थे, जैसे समवशरण के पास रहने वाले तीव्र मिथ्यात्वी जीव लोगों को कहते हैं, यह सब इन्द्रजाल है, यहाँ आपको नहीं जाना चाहिए। 'स्वभावो दुरतिक्रमः' स्वभाव का बदलना साधारण बात नहीं:

'नीम न मीठी होय खाओ जो घी अरु गुड़ से।'

जबलपुर में महाकौशल प्रांत के जैनियों का सदा आनाजाना लगा रहता है, इससे वहाँ संघ के विराजने से प्रांत भर के लोगों ने लाभ लिया।

सिवनी के जिनालय की चर्चा

एक दिन मैंने आचार्य महाराज को सिवनी के विशाल जैनमंदिरों का चित्र दिखाया। उस समय आचार्यश्री ने कहा, "जबलपुर से वह कितनी दूर है ?"

मैंने कहा, "महाराज, ६५ मील पर है।"

महाराज बोले, "हम जब जबलपुर आये थे, तब तुमसे परिचय नहीं था, नहीं तो सिवनी अवश्य जाते।"

मैंने कहा, "महाराज ! उस समय तो मैं काशी में रहकर विद्याभ्यास करता था, इसी से आपसे वहाँ पधारने की प्रार्थना करने का सौभाग्य नहीं मिला।" मैंने मंदिर के चित्र को जब बताया था, तब अधिक प्रकाश न था, इस कारण एक व्यक्ति ने मुझे कहा, "आप महाराज को दुबारा अच्छे उजेले में यह सुन्दर फोटो बता देना।" मैंने ऐसा ही किया, तब महाराज बोले, "बार-बार क्या बताते हो। हम जिस चीज को एक बार देख लेते हैं, उसे कभी नहीं भूलते हैं।" तब स्मरण आया कि इसी कारण महाराज को अनेक शास्त्रों की असाधारण धारणा हो गई है। महाराज एक बार बताते थे **'हम रात्रि को तत्त्वों के बारे में खूब विचार करते रहते हैं।'** उसी तत्त्वचिंतन के पश्चात् जो अनुभवपूर्ण वाणी महाराज की निकलती है, वह बड़े-बड़े विद्वानों को मुग्ध कर देती है।

एक बार महाराज जबलपुर के विशाल हनुमानताल के बारे में कहते थे, "वह मंदिर किले के सदृश है।" मढ़ियाजी का प्रशान्त वातावरण भी उनको अनुकूल लगता था।

संस्कारधानी को संस्कारित कर प्रस्थान

जबलपुर में जिनधर्म की प्रभावना के उपरान्त विहार कर महाराज ने सहजपुर ग्राम को अपने चरणों से पवित्र किया। वहाँ फाल्गुन वदी तेरस को ऐलक पार्श्वकीर्ति का, जिनको मुनि होने पर लोग कुंथुसागर महाराज के नाम से याद करते हैं, सज्जातित्व आदि पर विवेचन हुआ।

स्वच्छंदाचरणरूपी व्याघ्र से समाज के रक्षक

कोई व्यक्ति यह कहे कि उनको तो आत्मा की चर्चा करनी चाहिए थी, इन सामाजिक विषयों में साधुओं को पड़ने की क्या जरूरत है ? कोई-कोई साधु अपने को उच्च स्तर का बताने के उद्देश्य से सामाजिक हीनाचार (जैसे विधवा विवाहादि) का विरोध नहीं करते हैं और जनता की प्रशंसा की अपेक्षा करते पाये जाते हैं। आचार्य महाराज का इस प्रवृत्ति को समर्थन नहीं प्राप्त था। उनका चिंतन इस प्रकार था, जिन समाज-हित की

बातों का धर्म से सम्बन्ध है, उनके विषय में यदि प्रभावशाली साधु सन्मार्ग का दर्शन न करें, तो स्वच्छंदाचरणरूपी व्याघ्र धर्मरूपी वत्स का भक्षण किए बिना न रहेगा। इन सन्मार्ग के प्रभावक प्रहरियों के कारण ही समाज का शील और संयमरूपी रत्न कुशिक्षा तथा पाप-प्रचाररूपी डाकुओं द्वारा लुटे जाने से बच गया।

किसी नगर में प्लेग की बीमारी फैली हो, तो वहाँ वीणा लेकर वादन करने में मग्न होने वाले गायक को कहा जायगा, इस समय आप वीणा के तारों को विश्राम करने दीजिए, यह समय गायन का नहीं है। रोगी व्यक्तियों को औषधि देकर उनके कष्ट-निवारण का काल है, इसी प्रकार जब उच्छृंखलता की लपेटें संयम के सदन को दग्ध करने को स्फुलिंग फेंकना शुरू करें, तब उस अग्नि को प्रशान्त किये बिना श्रेयोमार्ग कहाँ मिलेगा ? अधर्म का विरोध आत्मबली महापुरुष ही करेगा। स्वार्थी या भीरु प्रकृति का नहीं।

एक समय था, जब गृहीत मिथ्यात्वी जिनेन्द्र के शासन पर आक्रमण करते थे, उस समय महान् ज्ञानी आचार्य समंतभद्र, अकलंक सदृश तार्किकों ने अपने तर्क-चक्र के प्रहार से जैन संघ का रक्षण किया था। अब वह समय बदला और जैनसंस्कृति और सदाचरण पर अपने ही भाइयों द्वारा प्रहार होना आरंभ हुआ, तब आगमज्ञ परम हितैषी आचार्य महाराज की दृष्टि में यही बात उचित जँची, कि इस समय समाज में बढ़ते हुए शिथिलाचार को रोकने का उद्योग करना चाहिए। वे और उनके कुशल शिष्य सन्मार्ग रक्षण में तत्पर रहे।

सहजपुर संस्कारपुर हुआ

सहजपुर में सहज ही में अच्छी प्रभावना हुई। अन्य लोगों ने मद्य-मांसादि का त्याग किया। बहुत-से मुसलमानों ने हिंसा का त्याग किया था। समर्थ आत्मा का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। इस सन्मार्ग के उपदेश द्वारा भव्य जीवों को महाराज वह निधि दे रहे थे, जिससे यह जीव कर्मों की अनादिकालीन परतंत्रता के बंधन को काटकर एक दिन मृत्यु का विजेता हो शाश्वतिक शान्ति और अनंत शक्ति का स्वामी बनेगा। यह कार्य भौतिक स्वाधीनता प्रदान के गौरव से अनंत गुणा महत्व रखता है। कारण, यह पुद्गल की परतन्त्रता को दूरकर आध्यात्मिक स्वतन्त्र्य का मार्ग बताता है। इस परा विद्या के प्रकाश के आगे तीन लोक का राज्य तुच्छ है। आचार्यश्री के द्वारा वही प्रकाश प्राप्त होता था, जो हिये की आँखें खोल देता था, तब आत्मदर्शन और सदाचार से बढ़कर और कोई बात चित्त को नहीं लगती थी।

सहजपुर के बाद सहपुरा का भाग्य जगा। सारे गाँव के लोग आराध्य देव के स्वागतार्थ लगभग दो मील पहले से इकट्ठे हो गये थे। सबने इन संतों की चरण-रज से अपने को पवित्र किया और उनके दयामय उपदेश को माना। बहुत प्रभावना हुई।

संघ इसके बाद वाड़ी वाड़ा आया। वहाँ सैकड़ों व्यक्तियों ने शिकार, शराब, मांसाहार

आदि का त्याग किया।

गोटेगाँव के भाग्य जगे

अनेक ग्रामों के जीवों का कल्याण करता हुआ संघ गोटेगाँव पहुंचा। यहां लहुरीसेन भाई आये और उन्होंने स्त्री-पुनर्विवाह प्रथा के समर्थन में चर्चा चलाई तथा उन्होंने समानाधिकार के बारे में प्रश्न किये, जिनका समाधानकारी उत्तर दिया गया। मुक्ति के साथ आगम का आधार इन प्रश्नों को समझने में सहायता देता है। दिगंबर जैन आगम में सर्वत्र शील-धर्म की ही प्रतिष्ठा स्थापित की गई है। विधवा-विवाह नीचों का कार्य बताया गया है। जिन व्यक्तियों का कषायोदय से शील के उज्ज्वल पथ से पैर फिसल गया है, उनको आगामी अपनी असत् प्रवृत्ति का समर्थन तथा प्रचार नहीं करना चाहिए। जितना भी पाप से बचा जाय उतना ही कल्याण होगा। जितना संयमपूर्ण जीवन व्यतीत किया जायगा, उतना ही सुख और शांति का लाभ होगा। जिन सामाजिक कुप्रथाओं से आगामी धर्ममय जीवन को बाधा आती है, उनके सुधार करने में हित ही होगा। जो रीति-रिवाज धर्म की अभिवृद्धि करते हैं वे सदा सर्वत्र मान्य होने चाहिए। जो ऐसे न हों, वे कैसे आदर के पात्र होंगे ?

इसके पश्चात् संघ ने आसपास के अनेक ग्रामों में जाकर हजारों व्यक्तियों को मद्य-मांसादि का त्यागी बनाने का प्रशस्त कार्य किया। जब संघ बेलखेरा गाँव में आया, तब वहाँ के ब्राह्मणों आदि ने इन परमहंस सदृश गुरुओं का पुण्योपदेश सुनकर अनेक नियम लिये और अपनी जैनधर्म के प्रति विद्वेष की भावना का परित्याग किया। इससे वहाँ कभी न निकल सकने वाला श्री जी का विमानोत्सव बड़े उमंग, उत्साह तथा प्रेमपूर्वक हो गया था।

शूद्रादि द्वारा मद्य-मांसादिक त्याग

यहाँ से संघ ने पिपरिया के लिए प्रस्थान किया, किन्तु रास्ते में कुआँ खेरा ग्राम की अजैन जनता द्वारा स्वागत की प्रेमपूर्वक तैयारी होने से संघ को कुछ देर वहाँ ठहरना पड़ा। ऐलक पार्श्वकीर्ति महाराज के उपदेश हुए। बड़ा प्रभाव पड़ा। मांसादि त्याग का नियम शूद्र भाइयों ने भी लिया। बहुतों ने अनेक प्रकार के व्रत लिए। इनसे जीवों का सच्चा हित होता है। अगणित लोगों का कल्याण हो जाता है और दुनियाँ को पता नहीं चलता है, कारण यह सेवा का कार्य अथवा उपकार का काम दिखावे से पूर्णतया शून्य रहता है।

राजनीतिज्ञों का संसार इससे विलक्षण होता है। वहाँ कार्यशून्य होते हुए भी श्रोताओं की शीर्ष गणना को ही शीर्ष स्थान दे वक्ता की सफलता का निश्चय किया जाता है और इसी की चतुर्दिक् में दुंदुभि बजाई जाती है। नैतिक जीवन को समुन्नत करने के विषय में

राजनीतिज्ञों का प्रयास नहीं होता और यदि सामान्य शैली में उसका उल्लेख कर भी दिया तो जनता का अन्तःकरण उससे प्रभावित नहीं होता है। यही कारण है जो हम स्वतंत्र भारत में भ्रष्टाचार का जनता में प्रवेश पाते हैं और उन बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों तथा उनके पार्श्वचरों में भी उसी पाप प्रवृत्ति को वृद्धिंगत रूप में देखते हैं।

यथार्थ कल्याण

यथार्थ में जीव का कल्याण आचार्य सदृश वीतराग परम तपस्वी संतों की अमृत वाणी द्वारा होता है। साधारणतया रुपया-पैसों को दृष्टि पथ में रखते हुए कोई-कोई कहते हैं, जो कम से कम मूल्य की वस्तु लेता है और अधिक से अधिक मूल्य की सामग्री देता है वह साधु है। यह परिभाषा किसी तर्क की नींव पर अवस्थित नहीं है, यह तो स्वेच्छानुसार (Arbitrary) की गयी है। फिर भी इस दृष्टि से देखा जाय, तो इन संतों द्वारा जो कुछ जगत को प्राप्त होता है, वह तो अनमोल है। रत्नों की राशि से भी उसकी कीमत नहीं आँकी जा सकती। कारण इससे प्राणी को सच्चा जीवन प्राप्त होता है। जैसे कोई वैद्य वृक्ष की जरा सी छाल लाकर मरणोन्मुख राजा का प्राण बचाता है, तो राजा उसका मूल्य लाखों देता है, उस छाल का मूल्य उसके द्वारा संपादित कार्य की श्रेष्ठता के कारण बढ़ जाता है, इस दृष्टि से इन मुनीन्द्रों के द्वारा हुआ आत्म कल्याण इतना कीमती है, कि उनका एक उपदेश भव-भव तक में कृतज्ञ जीव को उऋण नहीं कर पाता है।

सर्प युगल को पार्श्वनाथ भगवान् ने मरते समय सांत्वना के चार शब्द ही कहे थे, किन्तु उस जिनेन्द्र की वाणी से उस युगल ने देवपर्याय पाई, प्रभु पर कमठ ने जब उपसर्ग किया, तब उसे दूर किया तथा आज भी जो पार्श्व-प्रभु का हृदय से स्मरण करता है, उसके संकट निवारण के लिए सहायता प्रदान करने को यह देवदंपति तत्पर रहा करता है। जीवंधर स्वामी ने मरणासन्न कुत्ते को नमस्कार मंत्र देकर उसका हित किया था। उससे देवपद प्राप्त उस जीव ने जीवंधर स्वामी के प्रति कठिन अवसरों में महत्वपूर्ण सेवा की थी इस अपेक्षा से संतों द्वारा दिया गया उपदेश इतना मूल्यवान रहता है कि विश्व बैंक की संपत्ति द्वारा भी उसकी कीमत नहीं आँकी जा सकती। इतनी बड़ी वस्तु देते हुए भी वे सन्त समाज से कुछ भी नहीं मांगते। मुनियों का अयाचना व्रत रहता है। भक्ति वश लोग उनकी सेवा में आवश्यक वस्तुएँ अर्पण कर कृतार्थता का अनुभव करते हैं।

महान् दाता

इस संघ द्वारा जो जीवों का कल्याण हो रहा था, वह बड़ी विश्व कल्याण कान्फ्रेन्सों, सम्मेलनों द्वारा सम्पन्न नहीं होता है। सच्चे कल्याण का प्रकाश वहाँ कही प्राप्त होता है,

जहाँ ऐसे अहिंसक, अपरिग्रही, सत्यनिष्ठ, संतजनों का वास होता है। राजनीति का क्षेत्र स्वयं पंकिल है। उसमें संलग्न लोगों को इन आदर्शों को देखकर अपने मुख तथा हृदय की मलिनता का शोधन करना आवश्यक है। वे भला कल्याण कहाँ दे सकते हैं ? बेचारा अन्धराज पथ-प्रदर्शन का कार्य किस भाँति कर सकता है ? अतः सच्चा कल्याण चाहने वाली और मानवता की रट लगाने वाली नेतागिरी को इन सच्चे मानवों से प्रकाश पाना चाहिए। इसके सिवाय मंगल मन्दिर में प्रवेश का उपायान्तर नहीं है।

यहाँ से चलकर संघ पिपरिया पहुँचा। वहाँ २० घर परवार समाज के हैं। वहाँ विमानोत्सव हुआ। भगवान् का महाभिषेक हुआ। इसके पश्चात् संघ कटरा ग्राम आया। वहाँ के ठाकुर साहब आदि बहुत लोगों ने मद्य, मांसादि का त्याग किया।

कोनी क्षेत्र दर्शन

आगे चलकर कोनी ग्राम मिला। यहाँ के मन्दिर मन को खेंचते हैं। शान्त वातावरण है। अब इस क्षेत्र के सौन्दर्य और भव्यता में महान् वृद्धि हुई है। यहाँ खड्गासन तीन मूर्तियाँ नयनाभिराम हैं। यह आकर्षक तीर्थ हो गया है। इसी कारण संघ ने वहाँ तीन दिन निवास किया। आजकल कोनी में मेला लगना प्रारंभ हो गया है। ऐसे धार्मिक निमित्तों से जीव को पुण्यसंचय का अनायास सौभाग्य प्राप्त हो जाता है। ये मंदिर भट्टारक नरेन्द्र भूषण के निमित्त से बने थे। आज कोनी में श्रावकों के घर नहीं हैं, किन्तु वहाँ के जिन मन्दिर बताते हैं, कि जैनियों की अच्छी संख्या रही होगी। आज इस बात की आवश्यकता है कि अपने प्राचीन धर्मायतनों, तीर्थों, मूर्तियों की सम्यक् व्यवस्था निमित्त धर्मात्मा भाई द्रव्य का व्यय करें। लोकरूढ़ि आदि के नाम पर तो हजारों रुपये व्यय करते हर्ष होता है, किन्तु धर्म के कार्य निमित्त उसका शतांश भी निकालने में कष्ट होता है। यह आवश्यक है कि धर्म प्रभावना तथा जीर्णोद्धार के हेतु अधिक द्रव्य व्यय किया जाय।

पाटन

यहाँ से चलकर संघ पाटन ग्राम में दो दिन ठहरा। वहाँ करीब २५ घर जैनियों के हैं। लोगों ने बड़ी भक्तिपूर्वक गुरुओं की सेवा की। अन्य जनता को भी बहुत लाभ पहुँचा। जैसे आकाश से वर्षा होती है, तो सभी खेतों को लाभ होता है, इसी प्रकार आचार्य महाराज से संघ से यदि लाभ होता था, तो जैन तथा अन्य सभी भाइयों का हित होता था, महाराज की दृष्टि में सब मनुष्य एक से थे। इतना ही नहीं, सभी प्राणी उनको एक बराबर प्रतीत होते थे। इसी से वे सब जीवों की रक्षा का उपदेश देते थे। छोटे-छोटे जीवों को भी वे अपना बन्धु मानते थे और उनके प्रति बंधु का व्यवहार करते थे। निरन्तर पिच्छी के द्वारा ही उन छोटे जीवों का रक्षण करते हुए बन्धुत्व की भावना को कार्यान्वित करते थे।

जब संघ का एक स्थान से दूसरे स्थान पर विहार होता था, तब मध्यवर्ती ग्रामों के हजारों जैन भाई-बहिन गुरुदेव के प्रति बड़ी भक्ति प्रदर्शित करते थे। अजैन लोग इन महात्माओं को अपने गुरु से भी बढ़कर पूजनीय मान बड़ी श्रद्धा से प्रणाम करते थे और हिंसा आदि पापों का त्याग करते थे।

कटंगी व जबेरा

कटंगी पहुंचने पर समाज ने बड़ी भक्ति प्रदर्शित की। लोगों के भाग्योदय से संघ ने चार दिन वहाँ धर्मामृत वर्षा की। आगे जब संघ सिंगरामपुर पहुँचा तो वहाँ विमानोत्सव किया गया।

जबेरा में जब संघ के चरण पड़े, तब वहाँ की समाज का वैमनस्य दूर होकर ऐक्य स्थापन हो गया। हाईकोर्ट भी जिस काम को न कर सके, वह काम इन मुनिराज के दर्शन मात्र से होता था। उच्च न्यायालय शासन-सत्ता के बल पर अपने आर्डर-आज्ञा को लोगों पर लागू करता है, हृदय की कषायों को धोना उसकी शक्ति के बाहर की बात है, किन्तु आचार्य शांतिसागर महाराज के प्रसाद से वैमनस्य दूर होकर सौमनस्य का निर्माण होता था। हृदय निर्मल हो जाता था। वैर-विरोध दूर होकर एक अपूर्व स्नेहमयी सृष्टि हो जाती थी। तपश्चर्या का प्रभाव बड़ा विचित्र होता है। जबेरा समाज ने अपने में ऐक्य स्थापन करके बड़े उमंग के साथ श्रीजी का जल विहार उत्सव किया। जिस ग्राम, नगर में आचार्य संघ का पदार्पण होता था वहाँ धर्म का उपवन एकदम हरा-भरा हो जाता था। सब लोग और कार्यों को गौण कर धर्मनीति के संचय में समुद्यत हो जाते थे। गाँव के बड़े-बड़े प्रतिष्ठित ठाकुरों आदि ने हिंसादि के त्याग का नियम लिया था।

यहाँ से चलकर संघ नोहटा गाँव पहुंचा। यहाँ का मन्दिर जीर्ण स्थिति में था। इस गाँव के बाहर एक प्राचीन मनोज्ञ प्रतिमाजी अष्टप्रातिहार्य अविनय की स्थिति में पड़ी थी। आचार्यश्री के उपदेशानुसार वह मूर्ति मंदिरजी में लायी गयी। जिन भगवान् की मूर्ति जिनेन्द्र समान पूज्य है।

कवि बनारसीदास लिखते हैं -

जाकी भगति प्रभाव सों कीनों ग्रंथ निवाहि।
जिन प्रतिमा जिन सारखी, नमें बनारसि ताहि।।

जिन प्रतिमा के विषय में महाकवि का कथन बहुत सुन्दर है -

जाके मुख दरस सों भगति के नैननि कों,
थिरता की बानी चढ़ी चंचलता बिनसी।
मुद्रा देख केवली की मुद्रा यादि आवे जहाँ,
जाके आगे इन्द्र की विभूति दिखे तिनसी।।

जाको जस जंपत प्रकाश जगे हिरदे में,
सोई सुद्धमती होई हुती जो मलिन सी।
कहत बनारसी सुमहिमा प्रकट जाकी,
सोहे जिनकी छवि है विद्यमान जिनसी।।

दिगम्बर जैनियों में तारणपंथी वर्ग मूर्ति पूजा का महत्व नहीं सोच पाता है। वे यदि जिनागम को प्रमाण मानते हैं, तो उन्हें नंदीश्वर की अकृत्रिम मूर्तियों आदि की पूजा से सम्बन्धित अष्टाह्निका पर्व की महिमा का रहस्य ध्यान में लाना चाहिए। धवल ग्रंथ में जिनप्रतिमा को सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण बताया है। यह दोहा महत्वपूर्ण है :-

जिन प्रतिमा अरु जिन भवन कारन सम्यक्ज्ञान।
कृत्रिम और अकृत्रिम तिनहिं नमो धर ध्यान।।

दुःख है कि ऐसी पूज्य प्रतिमाओं के संरक्षण में लोगों की शोचनीय उपेक्षा का भाव रहा आता है। विधान सभा के एक सदस्य ने बताया था, कि उनको कटनी तथा जबलपुर के बीच में अनेक स्थलों पर इतनी अधिक जिन मूर्तियां मिली, कि जिनको सामान्य पाषाण सदृश सोचकर कहीं-कहीं लोगों ने अपने मकानों में लगा रखा है।

प्राचीन मूर्ति संग्रहालय की आवश्यकता

यदि समाज एक प्राचीन मूर्ति संग्रहालय बनाने का कार्य करे, तो धर्म की सेवा के साथ पुरातत्त्व प्रेमी समाज का ज्ञान संवर्धन भी होगा। जबलपुर के पास मढ़ियाजी के स्थान में आचार्य शांतिसागर महाराज रहे थे। वहाँ ही यदि नोहटा की प्राचीन मूर्ति के प्रति आदरभाव को आदर्श बना उक्त संग्रहालय का कार्य किया जाय, तो श्रेयस्कर होगा। आज सरकारी कानूनों का रूप-रंग ऐसा दिखता है, कि उनसे मन्दिरों का धन समाज के हाथ से संग्रहीत नहीं रह पायगा, ऐसी स्थिति में जिनधर्म के आयतनों में विवेकपूर्वक उस द्रव्य का उपयोग करना चतुरता का कार्य होगा।

धार्मिक संपत्ति/रकम का किस काम में उपयोग हो सकता है ?

किन्ही लोगों की समझ ऐसी है कि मंदिर की संपत्ति को स्कूल, पाठशाला आदि के काम में व्यय करना चाहिए। छात्रों को छात्रवृत्ति देना चाहिए। गरीब जैनों को सहायता देना चाहिए। इस विषय में मैंने एक बार आचार्य महाराज से पूछा था कि महाराज ! मन्दिर के द्रव्य का छात्रवृत्ति, दान, गरीब जनों की सहायता आदि के कार्य में उपयोग करना क्या उचित है ?

महाराज ने कहा था कि- **'उन कामों में द्रव्य देना योग्य नहीं है। मंदिर की संपत्ति को जो भी श्रावक खायेगा, उसका अहित होगा।'** महाराज ने बताया था- **'मंदिरों**

के जीर्णोद्धार के कार्य में यदि द्रव्य का व्यय करो, तो धर्म रक्षण होगा।'

धर्मादा के द्रव्य के उपयोग के बारे में जोशीले तरुण मनमानी व्यवस्था सोचते हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में आगम के प्रकाश में ही प्रवृत्ति करना श्रेयस्कर होगा। कई पंडित-नामधारी भाई भी लोकमत का समर्थन करके यश लूटने में कृतार्थता का अनुभव करते हैं। आगम की आज्ञा का लोप होकर दुर्गति का भय उनको नहीं रहता है। ऐसे प्रसंग पर आचार्य महाराज से समाज को प्रकाश प्राप्त करना चाहिए। जिन कुंदकुंद स्वामी के प्रति समाज अत्युत्कट भक्ति दिखा अपने को कुन्दकुन्दान्वय वाला कहती है, तथा ऐसा ही लेख प्रतिमाओं में बांचती है, उन महर्षि की वाणी इस सम्बन्ध में क्या कहती है, उसे बड़े ध्यान से पढ़ना चाहिए और शान्त भाव से विचारना चाहिए कि लोक-प्रवाह पतन की ओर ले जाने वाला है, या कल्याण की ओर। उन्होंने रयणसार में लिखा है कि **'जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा, जिनपूजा, तीर्थवंदना विषयक धन को जो भोगता है, जिनेन्द्र की वाणी है कि वह नरकगति के दुःख को भोगता है।'**[1]

ऐसे दुःखों से न पंचायतों का प्रस्ताव बचा सकेगा और न कुछ पंडितों या दूसरों का दिया गया प्रमाणपत्र ही काम आएगा। जैनधर्म में कर्मों के भोगने में कोई भी सिफारिश काम नहीं आती है। अतएव लोग विचार कर सोचें, कि मंदिर के द्रव्य को उपरोक्त कामों के विपरीत मन के अनुसार कामों में खर्च करने से उनको कितनी बड़ी विपत्ति भोगनी पड़ेगी। हमें लोकवाणी के स्थान में जिनेन्द्र की वाणी को मानना चाहिए।

जो भाई धर्मादा की रकम को अपने काम में लाते हैं और समाज के बीच विषमता तथा विसंवाद के कारण बन जाते हैं उनको महर्षि कुन्दकुन्द स्वामी की यह चेतावनी भी चित्त में लाना चाहिए-**'भगवान् की पूजादान आदि सम्बन्धी द्रव्य को लेने वाला व्यक्ति पुत्र तथा स्त्री से रहित हो जाता है, दरिद्र, पंगु, मूक, बधिर, अंध तथा चांडालादि नीच पर्यायों में उत्पन्न होता है।'**[2]

एक धर्मात्मा भाई कहते थे कि जब हमारे पास धर्मादा का द्रव्य था, और हमने उसके हिसाब की सफाई नहीं रखी, तब बहुत कष्ट उठाते हुए भी हमारा व्यापारिक जीवन हीन ही रहा आता था, किन्तु जबसे हमने मन्दिर के द्रव्य को जलते हुए अंगारे की भाँति समझकर उसका अपना व्यक्तिगत सम्बन्ध रंचमात्र भी नही रखा, तबसे जिस काम में हाथ लगाते हैं,

---

१. जिण्णुद्वार-पदिट्ठा-जिणपूजा-तित्थवंदण-विसेयधणं।
जो भुंजइ सो भुंजइ जिणं दिट्ठणिरयगई दुक्खं॥ ३२, रयणसार (कुंदकुंदाचार्य कृत)॥

२. पुत्तकलत्तविदूरो दारिद्दो पंगुमूकबहिरंधो।
चांडालाइ कुजादो पूजादाणाइदव्व-हरो॥ ३३,रयणसार (कुंदकुंदाचार्य कृत)॥

श्रीजी की कृपा से सफल मनोरथ होता है। एक सिक्ख भाई ने बताया था कि वे गुरुद्वारे की सम्पत्ति को स्वयं के उपभोग में नहीं लाते हैं। ऐसा करना उनके धर्म में वर्जित है।

कुन्दकुन्द भगवान् की यह वाणी भी धर्मादे की रकम से सम्बन्ध रखने वालों को हृदय में रखना चाहिए - **'पूजा-दान में विघ्न करने का फल क्षय रोग, कुष्ठ, मूल व्याधि, शूल, लूथ, भगन्दर, जलोदर, खिसिर, शीत तथा उष्ण की बाधाएँ हैं।'**[1]

इन आगम के प्रकाश में समाज, विद्वंज्जन तथा अन्य शिक्षित लोग विचार लें कि धर्मादा का द्रव्य मन के अनुसार स्वार्थ साधन करने योग्य नहीं है, वह परमार्थ की वस्तु है। जैसे बाहर लगाने वाली औषधि को यदि कोई खा जाय, तो कभी-कभी वह रोगमुक्त करने के बदले में रोगी को ही समाप्त कर देती है, इसी प्रकार देव-द्रव्य का मनमाना उपभोग विपत्ति का कारण होगा।

देव-द्रव्य

एक दिन मैंने आचार्यश्री से पूछा था- "महाराज ! अब देव-द्रव्य पर सरकार की शनि दृष्टि पड़ी है, ऐसी स्थिति में उसका क्या उपयोग हो सकता है ?"

महाराज ने कहा था- "अपने ही मन्दिर में उसका उपभोग करने का मोह छोड़कर अन्य स्थानों के भी जिन मन्दिरों को यदि आत्मीय भाव से देखकर उनके रक्षण, व्यवस्था, जीर्णोद्धार आदि में रकम का उपयोग करोगे, तो विपत्ति नहीं आयेगी।"

धर्मादा की रकम का ठीक-ठीक उपभोग करने से मनुष्य समृद्ध होता है, वैभव-सम्पन्न बनता है। उसी द्रव्य को स्वयं हजम करने लगे, तो सम्पत्ति को क्षय रोग लगता जाता है। आदमी पनपने नहीं पाता है। जिन प्रान्तों में मन्दिर के द्रव्य को जैनी भाई खाते हैं, वहाँ उनकी दरिद्रता की स्थिति देखकर दया आती है। अतः इस विषय में सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति रखना श्रेयस्कर है।

आगम की आज्ञा से डरना चाहिये लोकमत से नहीं

कभी-कभी बड़े-बड़े व्यापारी लोग धर्मादा के नाम से लोगों से द्रव्य लेते जाते हैं और उसका स्वार्थ साधनार्थ उपभोग करते हैं। यह पद्धति बिलकुल उल्टी है। वह द्रव्य पारमार्थिक कार्यों के लिए अमानत के रूप में तुम्हारे पास है। उसके प्रति बेईमानी करना बहुत बड़ा पाप है। अमानत की वस्तु को खा जाने से राजदण्ड भी मिला करता है। अतएव समझदार व्यक्तियों का कर्त्तव्य है, कि जीर्णोद्धार आदि आवश्यक कार्यों के हेतु जब विपुल क्षेत्र विद्यमान हैं, उसकी उपेक्षा करके स्कूल, कालेज आदि पूर्णतया लौकिक कार्यों में परमार्थ सम्बन्धी देव-द्रव्य का

---

१. खयकुट्ठमूल-मूलो-लूनिभयंदर-जलोदरखिसिरो।
सीदुण्हवाहिराई-पूजादाणंतराय-कम्मफलं ॥ ३६, रयणसार (कुंदकुंदाचार्य कृत) ॥

उपयोग करना उन दानियों के प्रति प्रामाणिक व्यवहार के प्रतिकूल है, जिन्होंने उस कठिन कमाई के पैसे को मोक्षमार्ग के हेतु अर्पण किया था। जिन्हें लौकिक कार्यों को प्रोत्साहन देना है, वे नवीन दान की धारा को उस ओर लगवा सकते हैं, किन्तु पूर्वप्रदत्त धर्मादा द्रव्य को आज बहुमत के बल पर रत्नत्रय के असाधनों में लगाना अच्छा है या नहीं, यह भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी कथित परमागम के प्रकाश में स्वयं विचार लेवें। हमें प्रतीत होता है, लोगों की आँखें खोलने का भी महान् कार्य आचार्यश्री ने पूर्वोक्त नोहटा ग्राम के बाहर की प्रतिमाजी को मन्दिर में विराजमान करने के उपदेश द्वारा सम्पन्न किया है। दुःख है कि कभी-कभी तरुण मंडली, जो आजकल प्रायः शास्त्रों का स्वाध्याय न करने में प्रवीण होती जा रही है, आगम पक्ष के समर्थकों की बात सुनना तो दूर उसके प्रति तिरस्कार का व्यवहार करती है। यह कार्य बड़ा अनर्थपूर्ण है। आगम-प्रेमियों का कर्त्तव्य है, कि वे रंचमात्र भी भय न करके सन्मार्ग का प्रतिपादन करें। जिनेन्द्र की आज्ञा से डरना चाहिए, लोगों से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ?

अभाना

यहाँ से रवाना होकर संघ अभाना ग्राम पहुँचा। यहाँ आचार्य शान्तिसागर महाराज का केशलोंच ज्ञात कर लगभग तीन हजार श्रावकों का समुदाय दूर-दूर के ग्रामों से आ गया था। सब भाइयों के भोजनादि की सुव्यवस्था गांव के मालगुजार सेठ डालचंद गुलाबचंद जी, दमोह की ओर से हुई थी। श्री जी का विहार हुआ था। आचार्य महाराज का केशलोंच देखकर लोगों के अन्तःकरण पर बडा प्रभाव पड़ा था।

पुण्यमूर्ति

महाराज की पुण्यमूर्ति कुछ ऐसी अद्भुत थी, कि उनकी तपश्चर्या का प्रत्येक कार्य हृदय को खींचता था। उनके व्यक्तित्व में असाधारण आकर्षण रहा है। विलक्षण परमाणुओं से उनके शरीर की रचना हुई प्रतीत होती थी। हमने देखा है, महाराज चुप बैठे हैं, किसी से कुछ नहीं कहते, फिर भी सैकड़ों व्यक्ति उनको देखने को ही बैठे रहते थे। सभा में महाराज आये, तो ऐसा लगता था कि जीवन आ गया, बाहर गये, तो ऐसा लगता था चेतना बाहर चली गयी हो। उनके निमित्त से सहज ही धर्म की ओर भाव झुकते रहे थे।

आचार्यश्री के आदेश को पाकर चंद्रसागर जी तथा पार्श्वकीर्ति ऐलक महाराज के भाषण हुए। उन्होंने उस समय प्रचलित विवाद की बातों पर पर-स्त्री पुनर्लग्न तथा असवर्ण विवाह के दोषों पर प्रकाश डालते हुए शीलधर्म की महत्ता पर जोर दिया था।

चरित्रहीनों की उन्नति क्षणिक होती है

आज वर्णसंकर प्रवृत्तिवाले पश्चिम के गुरुओं के तत्त्वावधान में शिक्षित आर्य-भू-प्रसूत लोग भी अपनी सत्प्रवृत्तियों तथा उच्च आचार को छोड़कर वहाँ की विषयों तथा

इन्द्रियों का पोषण करने वाली हीन प्रवृत्तियों को आदर्श मानने लगे हैं, क्योंकि पश्चिम की आधिभौतिक उन्नति देखकर ये चकित हो गये हैं और अपने आध्यात्मिक विचार तथा आचार को उपेक्षा योग्य सोचते हैं। श्रावकों का कर्त्तव्य है, कि सर्वज्ञ, वीतराग, तीर्थंकर परमदेव द्वारा प्रकाशित पथ पर प्रवृत्ति करें। कुछ क्षण पर्यन्त पूर्व पुण्योदय वश हीन प्रवृत्ति वालों की उन्नति भी दिखे, किन्तु क्षणिक जान मार्ग से भ्रष्ट नहीं होना चाहिए। हीन प्रवृत्ति सदा हीन ही रहेगी।

कवि का कथन है-

कोटि जतन कोऊ करो, परै न प्रकृतहिं बीच।
नल बल जल ऊँचे चढ़े, तऊ नीच को नीच॥

आगम, युक्ति तथा अनुभव के प्रकाश में किया गया विवेचन समाज को सन्देहमुक्त करने में बड़ा उपयोगी रहा। अभाना से लगभग ६ मील पर पिपरिया ग्राम मिला। यहाँ जिनमन्दिर है। यहाँ तीस, चालीस व्यक्तियों ने हिंसा, मद्य, मांस का जीवन पर्यन्त त्याग किया। बड़े आनन्द वैभव के साथ भगवान् का अभिषेक तथा पूजन सम्पन्न हुए। यहाँ से तीन मील दूर बाँदकपुर ग्राम है। यहाँ समाज ने विमानोत्सव किया। नेमिसागर महाराज का केशलोंच हुआ। वहाँ से चलकर तिनगी ग्राम के जिनालय के दर्शन करके संघ पटेरा ग्राम में आया।

दिव्यक्षेत्र कुण्डलपुर

यहाँ से अतिशय क्षेत्र कुंडलपुर तीन मील लगभग है। यह बड़ा सुन्दर क्षेत्र है। ६४ जिनमन्दिर हैं। कुंडलाकृति पर्वत है। यात्रा बहुत सरल तथा सुखद है। यही बड़े बाबा भगवान् की पद्मासन प्रतिमा बड़ी भव्य, नयनाभिराम तथा प्रभावोत्पादक है। १४०० वर्ष प्राचीन है। ऊँचाई लगभग १२ फुट है। मूर्ति यक्ष यक्षी सहित है।

मूर्ति महावीर भगवान् की मूर्ति के नाम से प्रसिद्धि है, किन्तु मूर्ति के गोमुख यक्ष तथा चक्रेश्वरी यक्षी को देख आदिनाथ भगवान् की मूर्ति मानना चाहिए। मंदिर जी में सीधे हाथ की ओर दीवाल में कुछ प्राचीन मूर्तियाँ हैं। उनमें से दो मूर्तियाँ ऋषभनाथ भगवान् के वृषभ चिह्न युक्त हैं तथा वे बड़े बाबा की मूर्ति सदृश हैं। आदिनाथ भगवान् बड़े बाबा हैं ही, अतः बड़े बाबा नाम से उन्हें कहना उचित ही है।

ऐसी प्रसिद्धि है कि यवनराज औरंगजेब की क्रूर दृष्टि इस मूर्ति पर पड़ी और उसने इस मूर्तिध्वसं के लिये कर्मचारियों को आदेश दिया, किन्तु कुछ चामत्कारिक घटनाओं ने उस अत्याचारी शासक के अन्तःकरण में मूर्ति के प्रति आदर भाव जागृत कर दिया। ऐसी जन-श्रुति है, कि जब मूर्ति तोड़ने को अंगुली पर छैनी का निर्मम प्रहार हुआ तो मूर्ति से दुग्ध की धारा निकल पड़ी। इससे वह विस्मित हो गया था।

दूसरी घटना यह हुई कि मधु-मक्षिकाओं के प्रचण्ड आक्रमण से सैन्य दल भी घबड़ा उठा, इससे यह मूर्ति सौभाग्यवश आज तक सुरक्षित रह सकी। मूर्ति की श्रेष्ठ कला शिल्पी को अमर कर गयी। स्थापत्य कलाविदों के लिए भी कुंडलपुर ऐसा ही तीर्थ है, जैसा कि वह आध्यात्मिक शांति प्रेमियों के लिए वंदनीय पुण्य स्थल है। पर्वत पर प्राकृतिक वातावरण मूर्ति की प्रशांत, दिगम्बर तथा ध्यानमग्न मुद्रा के आनन्द को अत्यन्त उद्दीप्त कर देता है। मूर्ति को बड़े बाबा के नाम से पुकारते हैं। जन साधारण में बड़े बाबा की भक्ति का चमत्कार अतिशय के नाम से प्रसिद्ध है। मूर्ति में अद्‌भुत आकर्षण है। एक बार दर्शन करने से जी नहीं भरता, पुनः-पुनः दर्शन करने की पुण्य लालसा जागृत होती है।

महाराज छत्रसाल की भक्ति

बुन्देलखण्ड के केशरी महाराज छत्रसाल इन भगवान् के बड़े भक्त थे। उनके वंशज पन्ना नरेश आज भी कुंडलपुर को अपनी भक्ति का विशिष्ट स्थल मानते हैं। महाराज छत्रसाल के द्वारा भेंट से अर्पित एक बड़ा थाल मंदिर के भंडार में विद्यमान था। मंदिर के बहिर्द्वार पर छत्रसाल महाराज के समय का एक शिला-लेख खुदा हुआ है। विक्रम संवत् १७५७ में जो मन्दिर के जीर्णोद्वार के उपरांत महापूजा हुई थी, उस समय उस समारंभ में महाराज छत्रसाल पधारे थे। इस क्षेत्र के संवर्धन के लिए समर्थ श्रीमानों तथा दानवीरों का ध्यान जाना आवश्यक है। आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के विकास के लिए यह अपूर्व स्थल है। बड़े बाबा की मनोज्ञ मूर्ति क्रूर, निर्दय, निर्मम मानव में भी पवित्र तथा विशुद्ध भावों को जागृत किये बिना न रहेगी। तिलोयपण्णत्ति में लिखा है कि अननुबद्ध केवली श्रीधर भगवान् का मोक्ष कुंडलगिरि से हुआ था। यही तीर्थ निर्वाण स्थल प्रतीत होता है। इस दृष्टि से कुंडलपुर अतिशय क्षेत्र ही नहीं, निर्वाण भूमि भी है।

इस क्षेत्र की वन्दना से संघ को अपूर्व आनन्द तथा बड़ी शांति मिली। आचार्य महाराज के आकर्षण से हजारों जैन यात्री इकट्ठे हो गये थे। फागुन सुदी चौदस को भगवान् का महाभिषेक पूजन हुआ था। धर्मोपदेश, तत्त्व-चर्चा, गुरुदर्शन आदि के द्वारा वह अष्टाह्निका का उत्सव चिरस्मरणीय हो गया। ऐसा महत्वपूर्ण सत्समागम जीवन में फिर सुलभ नहीं है।

सबके हृदय में आचार्यश्री के प्रति अगाध भक्ति थी। अतः उन पर संघ के धर्मोपदेशों का अच्छा प्रभाव पड़ा था। जिनके भाव शिथिलाचारी बन रहे थे, उनकी शंकाओं का निराकरण होने से उनकी श्रद्धा सुदृढ़ हुई। यह यात्रा बहुत मंगलदायिनी हुई। अच्छी धर्म प्रभावना हुई।

इसके पश्चात् संघ दमोह आया, वहाँ के दर्शन के उपरान्त, वह ओरसा ग्राम गया। वहाँ एक विशिष्ट घटना हो गयी।

ओरसा ग्राम में दंश-मशक परीषह

आचार्य महाराज को वहां कष्ट न हो, इसलिए दमोह के सेठजी ने घर को साफ कराया था। महाराज के आने पर उन्होंने कहा, "महाराज, यह घर आपके लिए ही हमने साफ करवाया है।" विशेष कर अपने निमित्त से उद्दिष्ट किये गये घर में ठहरने पर गृहस्थ द्वारा किये गये सावद्य कर्म का दोष इन सर्वसावद्य त्यागी मुनिराज पर आयगा। इससे महाराज ने उस घर को अपने ठहरने के अनुपयुक्त समझा, अतएव वे रात भर बाहर की जगह में ही ठहरे। दिगम्बर शरीर पर डांस मच्छरों की बाधा का अनुमान किया जा सकता है। जब एक मच्छर भी अपने दंश प्रहार और भनभनाहट से हमारी नींद में बाधा पहुंचा सकता है, तब अगणित डांस और मच्छर दिगम्बर शरीर को कितना न त्रास देते होंगे ? महाराज ने उस उपद्रव को साम्य-भाव से सहन किया। यह दिगम्बर मुनिश्री की श्रेष्ठ-चर्या है। इसमें जरा भी शिथिलाचरण को स्थान नहीं है। यही कारण है कि इस सिंह वृत्ति को धारण करने में जगत के बड़े-बड़े वीर डरते हैं। महावीर प्रभु के चरणों का असाधारण प्रसाद जिन महामानवों को प्राप्त हुआ है, वे ही ऐसे कठोर एवं भीषण कष्ट संकुल श्रमण जीवन को कर्म निर्जरा का अपूर्व कारण मान सहर्ष स्वीकार करते हैं। वे अपने हाथ से मच्छरों, डांसों को भगाते भी नहीं हें, ऐसा करने से उनकी हिंसा होती है, अतएव वे डांस शरीर का खून चूसते रहे, और ये निर्विकार भाव से इस कष्ट को सहन करते रहे, मानों ये शरीर उनका न हो। वास्तव में भेद विज्ञान की ज्योति के बिना महाव्रती की जीवन यात्रा सानन्द नहीं हो सकती। भेद-विज्ञान के प्रकाश में शरीर को चैतन्य पिण्ड आत्मा से पूर्णतया पृथक अनुभव करने वाले तत्त्वदर्शी महात्मा के शरीर को बाधा आने पर भी, संक्लेश नहीं होता। ऐसे विपत्ति के क्षणों में स्थिरता देखकर ही आत्मा की उच्चता का अवबोध होता है तथा यह ज्ञात होता है कि उनकी आत्मा अध्यात्म विद्या से प्रकाशित है। आजकल प्रमादमूर्ति शरीर की सर्व प्रकार से सेवा करने में प्रवीण विषयों के दास किन्तु आत्मा की चर्चा द्वारा स्वयं को भगवान् मानने वाले अध्यात्म विद्या के वेत्ता का अभिनव करने वालों का समुदाय यत्र-तत्र दिखाई पड़ता है। पीला पीतल असली स्वर्ण की महत्ता को नहीं प्राप्त करता है। यही स्थिति इन नकली आत्मवादियों की है।

यहाँ से चलकर बांसा ग्राम में संघ एक दिन ठहरा। वहाँ लगभग बीस घर श्रावकों के हैं। बहुत से अजैनों ने मांसादि के त्याग का नियम लिया। यही प्रतिज्ञा बरखेड़ा के ५०-६० लोगों ने ली।

गढ़ाकोटा

चार अप्रैल, सन् १९२९ को संघ गढ़ाकोटा पहुंचा। यहाँ जैनियों के लगभग ५० घर हैं। छह मन्दिर हैं। समाज धार्मिक है। लोगों ने बड़ी भक्ति दिखाई तथा गुरुदेव के चरणों

की पूजा करके अपने नगर को कृतार्थ अनुभव किया।

शाहपुर

आगे संघ उवरा गाँव पहुंचा। यहाँ का मन्दिर सुन्दर है। यहाँ से चलकर संघ शाहपुर पहुंचा। यहाँ चैत्र सुदी १ सं. १९८६ से चैत्र सुदी चौथ पर्यन्त संघ रहा। अजैनों ने भी जैन भाइयों के साथ सन्तों के समादर में भाग लिया। यहाँ श्रीजी का विमान भी निकाला गया। लगभग तीन सहस्त्र श्रावक आये थे। संघ के साधुओं के बड़े मार्मिक प्रवचन होते थे। वीरसागर महाराज ने सप्त व्यसनों के त्याग पर बड़ा प्रभावशाली उपदेश दिया था। यहाँ से संघ का पंचमी को विहार हुआ। वह पिंडरिया, डुगरासा, बमोरी में धर्म प्रभावना तथा उपदेश दान करता हुआ सप्तमी को सागर पहुंचा।

सागर में शांति के सागर

महाकौशल प्रांत में जबलपुर के पश्चात् दूसरे नम्बर का नगर सागर ही है। यहाँ कई हजार जैनी पाये जाते हैं। यहाँ परवार, गोलापूर्व जैनों की ही बहुलता है। इतर जैन उपजातियों का महाकौशल प्रांत में एक प्रकार से अभाव सदृश ही है। सागर में संस्कृत जैनविद्यालय के समीप ही संघ ठहरा था। प्रतिदिन संघ के द्वारा लोगों की शंका का समाधान तथा अनेक प्रकार के संदेहों का निराकरण किया जाता था। संघ के प्रचार कार्य द्वारा बहुत लोगों का धर्ममार्ग में स्थितिकरण हुआ था।

द्रोणगिरि क्षेत्र

सागर की जनता के अधिक अनुरोध से संघ ने वहाँ अधिक समय दिया। शांति के सागर आचार्यश्री के चरणों के प्रति सागर की जनता का विशेष प्रेम होना स्वाभाविक ही है। 'स्वपक्षदर्शनात् कस्य न प्रीतिरुपजायते।'

वहाँ से चलकर संघ वैशाख सुदी एकम को द्रोणगिरि सिद्धक्षेत्र पहुंचा। यहाँ हजारों भाइयों ने दूर-दूर से आकर गुरुदर्शन का लाभ लिया। महाराज पर्वत पर जाकर जिनालय में ध्यान करते थे। उनका रात्रि का निवास पर्वत पर होता था। प्रभात होते ही लगभग आठ बजे महाराज पर्वत से उतर कर नीचे आ जाते थे। एक दिन की बात है कि महाराज समय पर न आये। सोचा गया कि संभवतः वे ध्यान में मग्न होंगे। दर्शनार्थियों की लालसा प्रबल हो चली। साढ़े आठ, नौ, साढ़े नौ बजे और भी समय व्यतीत हो रहा था। जब विलम्ब असह्य हो गया, तब कुछ लोग पहाड़ पर गये। उसी समय महाराज वहाँ से नीचे उतर रहे थे।

शेर का बहुत काल तक महाराज के पास बैठना

लोगों ने महाराज का जयघोष किया। चरणों को प्रमाण किया और पूछा, 'स्वामिन्!

आज तो बड़ा विलम्ब हो गया, क्या बात हो गयी ?' वे चुप रहे। कुछ उत्तर नहीं दिया। लोगों ने पुनः प्रार्थना की। एक बोला- 'महाराज, यहाँ शेर आ जाया करता है। कहीं शेर तो नहीं आ गया था ?' अंत में स्वामीजी का मौन खुल ही पड़ा और उन्होंने बताया कि 'संध्या से ही एक शेर पास में आ गया। वह रातभर बैठा रहा। अभी थोड़ी देर हुई वह हमारे पास से उठकर चला गया।' प्रतीत होता है वनपति, यतिपति के दर्शनार्थ आया था। उस घटना के विषय में विचार करते हुए हमें निम्नलिखित समाधान समझ में आता है।

महाराज शब्द का सौन्दर्य

जब हम सन् १९४७ में बंबई, मंदिर-प्रवेश-कानून के विषय में बैरिस्टर सर कांगा से परामर्श लेने पहुंचे, तब प्रसंगवश शांतिसागर महाराज शब्द सुनते ही उसके दिमाग में यह बात आयी कि ये किसी राज्य के महाराज होंगे। इससे वह बोल उठा 'महाराज के केस की फीस कम नहीं होगी।' उसे योग्य फीस देकर परामर्श का कार्य तो हुआ, किन्तु तब से मेरे मन में यह बात थी कि क्यों इन्हें सभी लोग महाराज कहते हैं ? इस वनराज आदि के प्रकरण को लिखते समय यह विचार आया कि यथार्थ में वे महाराज ही तो हैं। वनराज व्याघ्र जिनके पास शांत भाव से आवें और जो शांत रहे आवें, सर्पराज देह से लिपट जाय फिर भी जिनका धैर्य न डिगे, ऐसे पशु जगत के जीवों के द्वारा विघ्न होने पर भी जो अपने धैर्य को अचल रखते हैं, यथार्थ में राजाओं के राजा ही तो हैं। वनराज, सर्पराज आदि भी जिनके पास आकर शांत हो गये, वे उन सबके राजा ही तो माने जायेंगे। नरों में श्रेष्ठ, नरपतियों के द्वारा पूज्य तथा मोह राजा के द्वारा भी पूज्य चरण होने के कारण क्यों न ये महाराज कहे जावेंगे ?

व्याघ्रराज देर तक क्यों बैठा ?

'व्याघ्रराज इनके पास बहुत देर क्यों बैठा ?' इस प्रश्न का हमारी दृष्टि से यह उत्तर होगा कि मृग-पति ने नरपति को देखकर सद्भावना व्यक्त की होगी। किसी नरेश की दूसरे नरेश से भेंट होने पर सहज सौजन्यवश मैत्री का व्यवहार व्यक्त किया जाता है। दूसरी बात, वह तो व्याघ्र था, किन्तु ये थे नरसिंह। इन नृसिंह के चरणों के समीप सादर शेर का बैठना उपयुक्त दिखता है। गुणभद्र स्वामी ने मुनियों को नृसिंह लिखा है-

'जिन्होंने सर्व परिग्रह को छोड़कर एकाकीपने का नियम धारण किया है, जो सर्व प्रकार के संकटों को सहन करने के सामर्थ्य समन्वित है, भ्रांतिवश शरीर को सहसा अपना सहायक सोचा था, इस विचार के सहसा आ जाने से जिनके चित्त में किंचित् लज्जा का भाव उत्पन्न हो गया है, जो अपने आत्म शोधन के कार्य में तत्पर हैं, कर्म रूप शरीर के निवारण के हेतु जिन्होंने पल्यंक आसन बाँध ली है, जिन्होंने मोह का ध्वंस कर

दिया है, ऐसे नरों में सिंह सदृश महापुरुष पर्वत की गहन गुहा, अथवा एकान्त स्थान में आत्मा का ध्यान करते हैं।'

एक बात और चित्त में आती है कि इनके प्रेम का शासन प्राणी मात्र पर चलता है, क्रूर जीव भी जब इनके प्रति प्रेम करते हैं तब यह स्पष्ट होता है कि इन महामुनिराज ने उनको भी अनुरंजित कर लिया है, अतः 'महाराज' शब्द का उपयोग बड़ा सामयिक और युक्ति-युक्त दिखता है। ऐसे विशुद्धि जनक स्थल पर आचार्यश्री ने बहुत शांति प्राप्त की और कर्मों की खूब निर्जरा की। महाव्रतियों की विशुद्धि प्रतिक्षण बढ़ती जाती है, उसके ही कारण चिरकालीन कर्मों का क्षय हुआ करता है। द्रोणगिरि में श्रीजी का बड़े वैभव के साथ अभिषेक-पूजन हुआ।

संघ वैशाख सुदी सप्तमी को विजावर स्टेट के गोरखपुर ग्राम में पहुंचा। अष्टमी को घुवारा आया। इस प्रकार के विहार से हजारों लोगों को अहिंसादि व्रत ग्रहण का लाभ होता था। हिंसात्मक प्रवृत्तियों का परित्याग कराकर अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा अंतःकरण में अंकित कराना संतों का महान् कार्य है। उनका जगत् को यही आशीर्वाद है।

सेवा नहीं कल्याण

कभी-कभी कहने में आता है कि ये महापुरुष लोक-सेवा करते हैं। यहां सेवा के स्थान में हित शब्द का प्रयोग करना उचित जंचता है, कारण ये जिनेन्द्रदेव और जिनवाणी के सिवाय दूसरों की सेवा नहीं करते हैं। जिसकी सेवा की जाती है, उसमें पूज्यता माननी पड़ती है। रत्नत्रयधारी महाव्रती साधु अव्रती की सेवा करेगा, यह कैसे संभव होगा ? दुःखी प्राणी के दुःखों को दूर करेगा, कल्याणमार्ग में लगाएगा। दूसरी दृष्टि से विचारें, तो कहना होगा, साधु लोगों से लोकहित स्वभाववश हो जाता है, जैसे सूर्य प्रकाश प्रदान करता है, ऐसा उसका स्वभाव है, ऐसे ही पर-हित निरत होना ही संतों का स्वभाव है। जनता उनकी सेवा करती है और आशीर्वाद के रूप में मेवा पाती है। एक सुभाषित है-

गंगा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरुस्तथा।
पांप तापं च दैन्यं च हंति सन्तो महाशयः ॥

गंगा पाप को, चंद्र संपात को, कल्पवृक्ष दीनता को दूर करते हैं, किन्तु उदारचेता संतजन पाप, ताप तथा दीनता सबको दूर करते हैं। इस प्रकार संतों के द्वारा स्वभावतः जगत् का कल्याण हुआ करता है।

ग्रीष्म (उष्ण परिषह जय)

जिन-जिन जीवों का सौभाग्य था, उन्होंने गुरुदर्शन का लाभ उठाया और व्रत से नर जन्म को भूषित किया। ग्रीष्मऋतु की भीषणता होते हुए भी आचार्यश्री की तपश्चर्या,

उपवास आदि का क्रम पूर्ववत् ही रहता था। जहाँ जल के बिना क्षण भर चैन नहीं पड़ती है, वहाँ आचार्य महाराज कई दिन तक अन्न-जल आदि का त्याग करते थे, और फिर धूप में पैदल विहार भी करते जाते थे। यह तपश्चर्या अन्य जीवों को चकित कर देती थी।

दिन जाते देर नहीं लगती। अब वर्षा ऋतु निकट आ रही थी इससे संघ ने ललितपुर की भूमि को अपने चातुर्मास द्वारा पवित्र करने का निश्चय किया।

ललितपुर चातुर्मास व पाषाण को द्रवित करने वाली तपस्या

यहाँ रेलवे स्टेशन के समीप क्षेत्रपाल नाम का सुन्दर स्थान है। वहाँ मनोज्ञ जिनमंदिर है। उद्यान भी है। आचार्यश्री ने इस स्थान को चातुर्मास के लिए सर्व दृष्टि से उपयुक्त समझा। ललितपुर में जैनियों की संख्या भी अच्छी है। इस चातुर्मास में धार्मिक मेला-सा लग गया था। सेन्ट्रल रेलवे की मेनलाइन पर यह स्थान होने से सभी प्रांत के श्रावकों के आने की सुविधा थी। कटनी चातुर्मास की अपेक्षा यहाँ आचार्य महाराज की तपश्चर्या पाषाण को भी द्रवित करने वाली थी।

अद्‌भुत तपस्या

कटनी चातुर्मास के समय महाराज ने बहुत उपवास किये थे। यहां लगभग छह माह प्रमाण काल में लगभग चार माह से अधिक का समय उपवासों में बीता था। उन्होंने दशलक्षण पर्व में दस दिन को आहार छोड़ दिया था।

भारतवर्ष में लम्बे उपवास करने वाले व्यक्तियों में गाँधी का विशिष्ट स्थान रहा है, किन्तु उनके उपवासों में दिगम्बर मुनियों सदृश चतुर्विध आहार का त्याग नहीं रहता था। सन् १९४२ में गांधीजी ने लार्ड लिनलिथगो वायसराय के समय पर जो १० फरवरी को इक्कीस दिन का अनशन किया था, उस समय गांधीजी पहले केवल जल लिया करते थे, किन्तु जब तेरहवें दिन उनका शरीर ठंडा पड़ चला, नाड़ी क्षीण हो चली, तब गांधीजी ने पानी के साथ ताजी मौसंबी का रस लिया था। दो मार्च को गांधी जी ने ६ औंस प्रमाण नारंगी का रस जल में मिलाकर लिया था। इसके आगे भी वे नारंगी का रस लेते रहे थे। गांधीजी ने वायसराय लिनलिथगो को अपने पत्र में लिखा था 'सामान्यतया अपने उपवासों में जल के साथ थोड़ा नमक मैं लेता रहा हूं, किन्तु अब मेरी प्रकृति जल को सहन नहीं कर सकती है, इससे उसके साथ थोड़ा सा संतरे का रस (Juice of citress fruit) लेने का विचार है, ताकि पानी पिया जा सके।'

ललितपुर आने पर आचार्य महाराज ने सिंहनिःक्रीड़ित तप किया था। यह बड़ा

आचार्य श्री के श्रुत का अभीक्ष्ण अभ्यास रहने से अंतःकरण, विचार, बुद्धि अत्यन्त परिष्कृत हो गयी थी। (पृष्ठ २१२, प्रभावना)

कठिन व्रत होता है।

सिंहनिःक्रीड़ित तप

इस उग्र तप से आचार्य महाराज का शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया था। लोगों की आत्मा उनको देख चिन्तित हो जाती थी कि किस प्रकार आचार्य देव की तपश्चर्या पूर्ण होती है। सब लोग भगवान् से यही प्रार्थना करते थे कि हमारे धर्म के पवित्र स्तंभ आचार्यश्री की तपःसाधना निर्विघ्न पूरी हो। आचार्य महाराज के न जाने कब से बँधे कर्मों का उदय आ गया उस तपश्चर्या की स्थिति में १०४, १०५ डिग्री प्रमाण ज्वर आने लगा। इस भीषण स्थिति में केवल अर्हंत का ही नाम शरण था। वह जिन नाम ही उनका एकमात्र आश्रय था। विवेकी व्यक्ति थोड़ी देर के लिए उस स्थिति को विचारे कि क्रम-क्रम से उपवास करते हुए सौ के लगभग संख्या हो जाने से शरीर क्षीण हो गया हो, शरीर में १०६ डिग्री ज्वर हो, और फिर भी शरीर को एक बूंद जल न देकर आगे पन्द्रह उपवास करने का संकल्प हो, साथ में धार्मिक क्रियाओं का पूर्णतया पालन भी हो। आज के कलिकाल में असंप्राप्त-सृपाटिका-संहनन में ऐसी तपश्चर्या की कौन कल्पना कर सकता है ? जहाँ आज के युग में दिगम्बर मुनि के सद्भाव के विषय में चित्त शंकित हो जाता था, वहाँ इतनी महान् तपश्चर्यापूर्ण सावधानी और अप्रमत्त स्थिति का रहना इस बात की द्योतक थी कि उनकी आत्मा कितनी उच्च थी ? ऐसे तपस्वियों को लक्ष्य करके ही प्रतीत होता है, कि कुंदकुंद स्वामी ने आज भी रत्नत्रयधारियों के लौकान्तिक देव इन्द्र रूप में उत्पन्न होने की बात लिखी है, जहाँ से चयकर जीव नियमतः निर्वाण को प्राप्त करता है।

लौकान्तिक देव कौन होते हैं ?

लौकान्तिक होने वाले देवों के विषय में तिलोयपण्णत्ति में लिखा है (अध्याय ८, श्लोक ६४६ से ६५१) :

इस क्षेत्र में बहुत काल तक बहुत प्रकार के वैराग्य की भावना करके संयम से युक्त मुनिराज लौकान्तिक देव होते हैं।। ६४६ ।।

सम्यक्त्व युक्त जो श्रमण स्तुति और निन्दा में, सुख और दुःख में, तथा बंधु और रिपु वर्ग में समान हैं, वही लौकान्तिक होते हैं ।। ६४७ ।।

जो देह के विषय में निरपेक्ष, निर्द्वन्द्व, निर्मम, निरारंभ और निरवद्य हैं, वे ही श्रमण (मुनि) लौकान्तिक देव होते हैं।। ६४८ ।।

जो श्रमण संयोग और विप्रयोग में, लाभ और अलाभ में तथा जीवित और मरण में सम दृष्टि होते हैं, वे ही लौकान्तिक देव होते हैं।। ६४९ ।।

संयम, समिति, ध्यान एवं समाधि के विषय में जो निरन्तर श्रम करते हैं, तथा तीव्र तपश्चर्या को करते हैं, वे श्रमण लौकान्तिक होते हैं॥ ६५० ॥

पाँच महाव्रतों से सहित, पाँच समितियों का चिरकाल तक आचरण करने वाले और पाँचों इन्द्रियों के विषयों से विरक्त ऋषि लौकान्तिक होते हैं॥ ६५१ ॥

भयंकर तप और ज्वर में तेजोमय मुख मंडल

उस दुर्धर तपश्चर्या के समय शरीर अत्यंत क्षीण हो गया था, उसका एकमात्र अवलंबन [illegible] और जल भी जब न मिले, तब वह कैसे शक्ति-संपन्न होगा ? भीषण ज्वर चढ़ा था, फिर भी महाराज के मुख मंडल पर एक अद्भुत आत्मतेज था। अग्नि में दाह से जिस प्रकार स्वर्ण की विशिष्ट दीप्ति दृष्टिगोचर होती है, वैसे ही तपोग्नि में तपाया गया उनका शरीर तेजपूर्ण दिखता था। आचार्य लिखते हैं -

'जो जीव अज्ञान से अत्यन्त भीषण पाप कर्म का बन्ध करता है, वे पाप कर्म उपवास से उसी प्रकार भस्म हो जाते हैं, जिस प्रकार अग्नि के द्वारा ईन्धन।'[1]

सुकौशल मुनि की माता मर कर दुर्ध्यान से व्याघ्री हुई थी। उसने अपने ही पुत्र मुनि सुकौशल को भक्षण करके महान् पाप किया था, किन्तु जाति स्मरण होने के उपरान्त उस क्रूर शेरनी ने शान्त भाव धारण कर उपवास किया था। उससे वह स्वर्ग गई। उपवास की अग्नि में महान् पाप भस्म हो गया था। मुनि हत्या से जहाँ उसे नरक जाना था, वहाँ संयम के प्रसाद से वह जीव स्वर्ग गया। जितेन्द्रियता में अद्भुत शक्ति है।

उस समय वे आत्मचिन्तन में मग्न रहते थे। आहार त्याग देने से मन विषयों की ओर नही जाता था। मन तो उनके आधीन पहले से ही था। अब वह अत्यन्त एकाग्र हो आत्मा या परमात्मा का अनवरत चिन्तन करता था।

लम्बे उपवासों के विषय में चर्चा

ऐसी स्थिति में बाह्य वस्तुओं की ओर से मन को दूर करते हुए वे यही सोचते थे 'मेरे लिए भगवान् महावीर प्रभु का ही शरण है 'भगवं सरणो महावीरो'।

एक बार मैंने पूछा था - महाराज ! ऐसे लम्बे उपवासों को करते हुए आपकी निद्रा का क्या हाल रहता था ?

महाराज - ऐसे समय में नींद नाममात्र को आती थी।

मैंने पूछा - तब महाराज ! आप क्या सोचते थे ?

महाराज - उस समय हम आत्मा का ही विचार करते थे। और पदार्थों की तरफ चित्त स्वयं नहीं जाता था। हम आर्तध्यान, रौद्रध्यान उत्पन्न न हो इसकी सावधानी रखते थे।

---

१. यदज्ञानेन जीवेन कृतं पापं सुदारुणम्। उपवासेन तत्सर्वं दहत्यग्निरिवेन्धनम्॥

पारणा का दिन

दो सप्ताह लम्बे उपवास के अनन्तर अब पारणा का दिन आया और उसके बाद पुनः दो सप्ताह लम्बा उपवास होना था। अतः यह आहार बड़ा महत्व का था। लेकिन यह भोजन महाव्रती मुनि का है, जो ४६ दोष और ३२ अन्तराय को टालकर तथा खड़े होकर करपात्र में ही होगा। इस नियम में जरा भी अन्तर नहीं आ सकता, प्राण भले ही चले जाँय। ये मुनिराज आगम की आज्ञा का त्रिकाल में भी उल्लंघन नहीं करेंगे। मुनि जीवन को इसी से लोकोत्तर कहा गया है।

पारणा का प्रभात आया। आचार्यश्री ने भक्ति पाठ वन्दना आदि मुनि जीवन के आवश्यक कार्यों को बराबर कर लिया। अब चर्या को रवाना होना है। सब लोग अत्यन्त चिन्ता समाकुल हैं। प्रत्येक नर-नारी प्रभु से यही प्रार्थना कर रहे हैं कि आज का आहार निर्विघ्न हो जाय। क्षीण शरीर में खड़े होने की भी शक्ति नहीं दिखती, चलने की बात दूसरी है, और फिर खड़े होकर आहार का हो जाना और भी कठिन दिखता था। ऐसे विशिष्ट क्षणों में घोर तपस्वी महाराज उठे। आत्मा के बल ने शरीर को सामर्थ्य प्रदान किया, ऐसा प्रतीत होता था।

विचारकता

अब वे चर्या के लिए निकले। एक गृहस्थ ने पड़गाहा। विधि मिलने से महाराज वहाँ ही खड़े हो गये। उस समय उस गृहस्थ के पाँव डर से काँपने लगे कि कहीं अन्तराय हो गया तो क्या स्थिति होगी ? उस समय एक-एक क्षण बड़ा महत्वपूर्ण था। ऐसे अवसर पर चन्द्रसागर महाराज की विचारकता ने बड़ा कार्य किया। उन्होंने तत्काल ही एक अपने परिचित दक्षिण के कुशल गृहस्थ से कहा- "क्या देखते हो, तुरन्त सम्हालकर आहार दान की विधि को सम्पन्न करो।" तदनुसार आहार दिया गया।

वह भोजन क्या था ? थोड़ी-सी गठी-आँवले की कढ़ी तथा अल्प प्रमाण में धान्य व थोड़ा-सा उष्ण जल खड़े-खड़े ही उन्होंने लिया और तत्काल बैठ गये।

बस, अब आहारपूर्ण हो गया। अब इस अल्प आहार के बाद आगे लगभग एक पक्ष के बाद ये उग्र तपस्वी मुनिराज आहार लेंगे। इस आहार के निर्विघ्न हो जाने से लोगों को अपार हर्ष हुआ।

भयंकर उपवासों के बीच अद्भुत स्थिरता

इस प्रकार लम्बे उपवासों के बीच में ही प्रायः ललितपुर का चातुर्मास पूर्ण हो गया। बहुत कम लोग उनको आहार देने का सौभाग्य लाभ कर सके। जैनों के सिवाय जैनेतरों

में जैन मुनिराज की तपश्चर्या की बड़ी प्रसिद्धि हो रही थी। आचार्य महाराज की अपने व्रतों के पालन में तत्परता देखकर कोई नहीं सोच सकता, कि इन योगिराज ने इतना भयंकर तप किया है। दूर-दूर के लोगों ने आकर घोर तपस्वी मुनिराज का दर्शन किया।

धीरे-धीरे वे तपःपुनीत पुण्य दिवस पूर्ण हो गये। अब चातुर्मास समाप्त होने को है। ललितपुर की धार्मिक समाज ने कार्तिक सुदी नवमी से पूर्णिमा पर्यन्त रथोत्सव कराया। हजारों की संख्या में लोग आये। पूर्णिमा को रथ क्षेत्रपाल से बस्ती की ओर निकाला गया। उस समय आचार्यश्री का शरीर बहुत कमजोर था, किन्तु आत्मा के बल से वे भी जुलूस में सम्मिलित हो गये और उन्होंने शहर के मन्दिरों की वन्दना की, पश्चात् क्षेत्रपाल आये। यथार्थ में महाराज में असाधारण शक्ति थी।

सन् १९५० की बात है। गजपंथा में व्रतों में महाराज का धारणा पारणा रूप व्रत चल रहा था। अन्न छोड़े हुए लगभग दो वर्ष हो चुके थे। तेरस तथा अनंत चौदस को उनका उपोषण था। महाराज ने कहा - "आज हम गजपंथा पर्वत की वंदना को जायेंगे।" उस अवसर पर मैंने महाराज के पैरों को कुछ क्षण दाबने का प्रयत्न किया, ताकि उनको पर्वत पर चढ़ने का कष्ट न हो, तब महाराज बोले - "पंडित जी! अभी हमारी भावना तो एक बार पुनः शिखरजी की वंदना करने की होती है। क्या करें, नेत्रों में कांचबिन्दु रोग है, जो चलने की गर्मी से आँखों की ज्योति क्षीण करता है, नहीं तो हम वहाँ जाते।" इतना कहते हुए वे उठे और उन्होंने पर्वत की ओर प्रस्थान किया।

धर्मशाला की कुटी से वह स्थान लगभग दो मील होगा। महाराज ने चलना प्रारम्भ किया। विश्वास था मार्ग में विश्राम करेंगे, किन्तु वे रुके नहीं। पर्वत पर चढ़ना प्रारम्भ किया। बहुतों की साँस भर जाती थी और वे रुक जाते थे। किन्तु महाराज बिना कहीं रुके ऊपर पहुँच गये। तब यह कोई कैसे मानेगा कि महाराज की अवस्था अस्सी की हो रही थी, और उनका शरीर अन्नाहार न मिलने से क्षीण हो गया? ऐसी शक्ति उनमें ऐसे क्षणों में दिखती थी, जब कि दूसरा मजबूत आदमी चलना-फिरना अपने लिए विपत्ति रूप ही समझेगा, महान् तप करते हुए भी महाराज के अमूल्य उपदेश सुनने का सौभाग्य भव्य जीवों को मिल जाया करता था।

प्रस्थान

जब संघ ने मगसिर वदी पंचमी को ललितपुर छोड़ा, तब लगभग चार-पाँच हजार जनता ने दो-तीन मील तक महाराज के चरणों को न छोड़ा। अन्त में सबने गुरुचरणों को प्रणाम किया, और अपने हृदय में सदा के लिए उनकी पवित्र मूर्ति अंकित कर वे वापिस आ गये। उस दिन धार्मिक जनता को ऐसा लगता था, मानों आज वहाँ सूनापन छा गया हो। लगभग पाँच सौ व्यक्ति सिरगन ग्राम पर्यन्त गुरुदेव के पीछे-पीछे गये।

करुण दृश्य

प्रस्थान करते समय का दृश्य चिरस्मरणीय था। अकारण-बंधु, विश्व हितकर संतों के चिरवियोग की कल्पना से हजारों नेत्रों से आँसू बह रहे थे। चार माह का समय जो आचार्य महाराज के चरणों से अवर्णनीय शांति से बीता था, वह अब जनता को पुनः दुर्लभ है। इससे ऐसा लगता था, मानो हृदय पर वज्रपात हो गया हो। संतों के समागम में यही विशेष बात है, कि उनके बिछुड़ने पर बड़ी असह्य पीड़ा होती है। इस अवसर पर कोई आचार्य महाराज के तरफ दृष्टि डाले, तो वहाँ रंचमात्र भी खेद नहीं था। वे तो परम वीतराग थे। वे संसार को एक वृक्ष तुल्य देखते थे, जिस पर पक्षीगण आकर बैठते थे, प्रभात होते ही वे भिन्न-भिन्न स्थान को चले जाते थे। वैराग्य के प्रकाश में मिलने का न सुख था और न बिछड़ने का दुःख था। सच्ची अनासक्ति सच्चे श्रमणों में रहती है।

निर्मोह भाव ही कल्याण का कारण है। अकलंक स्वामी ने स्वरूप संबोधन में कहा है-

ततस्त्वं दोषनिर्मुक्त्यै निर्मोहो भव सर्वथा।
उदासीनत्वमाश्रित्य तत्त्वचिन्तापरो भव ।।

अर्थ : हे आत्मन् ! दोषों के क्षय हेतु तू पूर्णतया मोह रहित हो। उदासीनता का आश्रय लेते हुए तत्त्वचिंतन कर।

हमने अनेक बार देखा, सैकड़ों-हजारों व्यक्ति दूर-दूर से महाराज के दर्शनार्थ आते थे। उनको जाते देखते हुए उनके वैराग्य युक्त मुख पर राग की जरा भी रेखा नहीं दिखती थी। यथार्थ में जो वैराग्य हृदयगत रहता है, उस पर बाह्य वस्तुओं का संयोग तथा वियोग क्या कर सकता है ? ललितपुर का दृश्य देखनेवाला यह कहे बिना न रहेगा, कि ऐसे संतों के चरण जहाँ पड़ेगे, वहाँ चतुर्थकाल आकर कलिकाल को दूर भगाये बिना न रहेगा, अन्यथा एक दिगम्बर अकिंचन श्रमण के प्रति हजारों नरनारी समाज का इतना अनुराग क्यों ? क्यों वे इनको परम इष्ट मान इनके वियोग से व्यथित हो रहे थे ?

अब आचार्य देव सिरगन पहुंच गये। आज उस ग्राम वालों का भाग्य-सूर्य जगा है। दूर-दूर के ग्रामीणों ने आकर महाराज को प्रणाम किया, व्रत लिये और अपने भाग्य को सराहा। गांव वाले श्रावकों ने अपने को कृतार्थ माना, कि हमारे छोटे से ग्राम में सुरेन्द्र-वंद्य ऋषिराज के चरण पड़ गये।

बुंदेलखण्ड की वंदना

इसके अनन्तर आचार्यश्री ने बुंदेलखण्ड के अनेक तीर्थों के दर्शन किये। पपौरा, चन्देरी, थूबोन, देवगढ़ आदि अनेक महत्वपूर्ण तथा कलामय तीर्थ बुंदेलखण्ड के अतीत वैभव, धर्म प्रेम, सुरुचि संस्कृत आध्यात्मिकता पर प्रकाश डालते हैं। सभी पुण्य स्थलों

की वंदना द्वारा संघ ने अवर्णनीय आनंद प्राप्त किया।

टीकमगढ़ नरेश पर प्रभाव

पपौरा जाते हुए टीकमगढ़ में महाराज ठहरे थे। टीकमगढ़ स्टेट में जैनगुरु और जैनधर्म का बड़ा प्रभाव पड़ा। टीकमगढ़ नरेश से आचार्यश्री का वार्तालाप हुआ था। उससे टीकमगढ़ नरेश बहुत प्रभावित हुए थे। आचार्य महाराज में बड़ी समय सूचकता रही है। किस अवसर पर, किस व्यक्ति के साथ कैसा व्यवहार उचित और धर्मानुकूल होगा, इस विषय में महाराज सिद्ध-हस्त रहे हैं।

बुन्देलखण्ड अपने गजरथों के लिए प्रसिद्ध रहा आया है। वहाँ के पंचकल्याणक महोत्सवों से अजैन लोग बहुत प्रभावित हैं। उस भूमि में आचार्य महाराज जैसी आध्यात्मिक तेजस्वी मूर्ति का विहार करना बड़ा प्रभाववर्धक हो गया। लोग तो यही कहते सुने गए कि जीवन में ऐसा आनंद फिर कभी नहीं आयगा और न कभी ऐसे सच्चे परमहंसरूप दिगम्बर मुनिराज के इस कलिकाल में फिर से दर्शन भी होंगे।

चंदेरी

चंदेरी की प्रसिद्ध चौबीसी का महाराज ने दर्शन किया। जिस प्रकार का वर्ण जिन भगवान् का कहा गया है, वही वर्ण उन तीर्थंकर की मूर्ति का है, वहाँ की यह विशेषता है। प्रतिमाएं विशाल तथा मनोज्ञ भी हैं।

थूबोनजी

थूबोनजी की अत्यन्त उन्नत मूर्तियों का हृदय से एक बार दर्शन कर पुनः उन्हें कौन भूलेगा ? ऐसे पुण्य-स्थलों के दर्शन से आचार्यश्री को अवर्णनीय आनन्द प्राप्त हुआ। आज का वैभवशाली, अहंकारपूर्ण मानव जब बुन्देलखण्ड में यत्र-तत्र बिखरे जैन वैभव को देखता है, तब उसे उस भूमि की गौरवपूर्ण अवस्था समझ में आती है और वह नतमस्तक हो जाता है ।

आज जिन लोगों को मन्दिर के भंडार के रुपये भारी लगते हैं, वे यदि उस सम्पत्ति का उपयोग ऐसे स्थल के जिनबिम्बों, जिनालयों के उद्धार तथा व्यवस्था में लगावें, तो उनके प्रति संसार कृतज्ञता प्रगट करेगा।

लोग अपने मन्दिर के प्रति जिस प्रकार आत्मीयता का भाव रखते हैं, वैसा ही प्रेम अन्य जिनालयों के प्रति हो जाय, तो स्थिति काफी सुधर जाय। बुन्देलखण्ड के बड़े-बड़े स्थान वाले ही यदि अन्य मन्दिरों को भी अपने मन्दिर का कुटुम्बी-सा अनुभव करें, तो शीघ्र ही महत्वपूर्ण कार्य हो जाय। इसे भूलकर मन्दिर की रकम को ऐसे कामों में लाने में उत्साह दिखाते हैं, जिनके लिए परमागम आज्ञा नहीं देता है।

बुन्देलखंड के सांस्कृतिक स्थलों में अकिंचनता का साम्राज्य है। उसका दर्शन करते हुए इन महान् महात्माओं को भी हमारे प्रमाद पर अवश्य दया आई होगी। अस्तु, भवितव्यता को विचारते हुए यह सन्त समुदाय आगे बढ़ता जाता था। व्रतदान, धर्मोपदेश का कार्यक्रम तो सर्वत्र चलता रहता ही है, जैसे सूर्य का उदय होकर अंधकार को दूर करने का कार्य सदा चलता रहता है।

सोनागिरि

अब संघ अगहन सुदी द्वादशी को पवित्र निर्वाणभूमि सोनगिरिजी आ गया। निर्वाण काण्ड में लिखा है- [1]सुवर्णगिरि के शिखर से नंगकुमार, अनंगकुमार आदि साढ़े पाँच कोटि मुनियों ने मोक्ष प्राप्त किया, उनको हमारा प्रणाम है।

भैया भगवतीदास ने लिखा है -

नंग अनंगकुमार सुजान, पाँच कोटि अरु अर्ध प्रमान।
मुक्ति गए सोनागिरि शीश, ते वंदों त्रिभुवनपति ईश ॥

सोनागिरि तत्कालीन दतिया राज्य के सोनागिरि रेल्वे स्टेशन से लगभग दो मील की दूरी पर स्थित तीर्थ है। लगभग ७८ जिनमन्दिर बड़े भव्य मालूम पड़ते हैं। वे पहाड़ी पर हैं, किन्तु पहाड़ी, पहाड़ सदृश नहीं दिखती। वन्दना करने में शरीर को कोई कष्ट नहीं होता। मन्दिर, बिल्कुल पास-पास होने से वन्दना में समय भी नहीं लगता। मन्दिरों का समुदाय बड़ा मनोहर लगता है। सौन्दर्य अपूर्व दिखता है।

भगवान् चन्द्रप्रभु का मन्दिर विशेष महत्वास्पद माना जाता है। जिस प्रकार शिखरजी में पार्श्वनाथ भगवान् की टोंक यात्री का विशेष ध्यान आकर्षित करती है, उसी प्रकार यहाँ चन्द्रप्रभु भगवान् का मन्दिर विशेष रम्य लगता है। उस मन्दिर को विशेष अतिशय सम्पन्न भी मानते हैं। कैसा ही व्यथित, चिंतित, भग्नमनोरथ व्यक्ति एक बार पर्वत पर पहुंच जाय, तो उसके चित्त में सहज ही शांति का भाव उत्पन्न हुए बिना न रहेगा। एक मानस्तम्भ चन्द्रप्रभु के मन्दिर के आगे बन जाने से क्षेत्र का सौन्दर्य वृद्धिगत हो गया है। नव प्रतिष्ठित बाहुबली भगवान् की मनोज्ञ तथा समुन्नत मूर्ति के द्वारा आनन्द की वृद्धि होती है। यहाँ बड़ी विशाल धर्मशालाएं हैं, जिनमें हजारों यात्रियों को स्थान मिल जाता है। सोनागिरि में धनिकों का प्रिय सोना तो नहीं दिखता है। हाँ ! संयमी आत्माओं तथा मुमुक्षुओं को सारा पर्वत सोने का क्या, रत्नों से भी अधिक महत्व का प्रतीत होता है। परिग्रह का त्याग करने वाले मुनियों के लिए सोनागिरि हो, रत्नगिरि या पाषाणगिरि हो,

---

१. णंगाणंगकुमारा कोडी पंचद्ध मुणिवरा सहिया।
सुवणागिरिवर सिहरे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ प्राकृत निर्वाण काण्ड ॥

सभी समान हैं। इसको सोनागिरि कहने का कारण सम्भवतः यह रहा होगा, कि यहाँ आकर नंगकुमार, अनंगकुमार आदि मुनियों ने अपने जीवन को सुवर्ण के समान ऐसा शुद्ध बना लिया, कि आगामी उनमें कर्म रूपी कालिमा का सम्पर्क नहीं होगा।

यहाँ से मुनियों का जीवन सुवर्ण सम शुद्ध बना

आचार्य संघ ने जब इस निर्वाणभूमि का दर्शन किया तब सभी मुनियों एवं श्रावकों को बड़ा आनन्द आया तथा महान् शान्ति प्राप्त हुई। संघ के पधारने पर हजारों नरनारियों की ओर से क्षेत्र में बड़े भारी धार्मिक समारम्भ का आनन्द दिखाई दे रहा था। सोनागिरि में कोई विशेष समारम्भ जब कभी होता है, तो लगभग पन्द्रह-बीस हजार जैन भाइयों का समुदाय इकट्ठा हो जाना साधारण-सी बात हो जाती है, बुन्देलखण्ड, ग्वालियर आदि के समीपवर्ती जैन बंधु ऐसे अवसर पर आकर पुण्य संचय करने को सदा अग्रसर रहा करते हैं, तब फिर जहाँ दिगम्बर गुरुओं का संघ आचार्य शान्तिसागर महाराज सदृश गुरुदेव के साथ पहुंचा था, उस सोनागिरि में अपार जनसमुदाय का आ जाना साहजिक था।

चार व्यक्तियों की निर्वाण दीक्षा

आचार्यश्री की सोनागिरि यात्रा धार्मिक इतिहास को चिरस्मरणीय वस्तु बन गई, कारण अगहन सुदी पूर्णिमा को नौ बजे सवेरे ऐलक चतुष्टय- श्री चन्द्रसागरजी, श्री पायसागरजी, श्री पाश्वकीर्तिजी, श्री नमिसागरजी को आचार्य महाराज ने निर्वाण दीक्षा-निर्ग्रन्थपद प्रदान किया। पार्श्वकीर्तिजी का नाम मुनिराज कुंथुसागर रखा गया था। चार महाभाग्यों का एक साथ दिगम्बर दीक्षा धारण करना इस पंचमकाल की वर्तमान स्थिति में चौथे काल का दृश्य उपस्थित करता था।

विचारपूर्वक व्रतदान

कोई शंकाशील बन्धु कदाचित् यह सोचे, क्या लगता है, किसी को भी वस्त्र छोड़ने की दीक्षा दे दी, यह संदेह इस प्रसंग में अयोग्य है। आचार्य महाराज के पास से दीक्षा पाना बड़ा कठिन काम था। अनेक लोग उनके पास उत्साह लेकर व्रत मांगने आते थे, किन्तु महाराज पात्र की योग्यता देखकर ही व्रत देते थे, अन्यथा इंकार कर देते थे।

एक समय मेरे समक्ष एक धर्मात्मा भाई, महाराज के पास आया था। उसने जीवन भर के लिए ब्रह्मचर्य व्रत मन, वचन, काय से ग्रहण करने की इच्छा प्रगट की। विनयपूर्वक व्रत मांगा। आचार्यश्री ने उसके विषय में विचारकर व्रत देते समय काय से कुशील त्याग का ही व्रत दिया था। एक तरुण आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत लेने उनके पास पहुंचा। अत्यधिक आग्रह होने पर महाराज ने उसे केवल एक वर्ष को ही व्रत दिया था।

एक व्यक्ति मुनि की दीक्षा मांगने आया। उस व्यक्ति के चरित्र से वे परिचित थे,

अतः उन्होंने उसको मुनि दीक्षा नहीं दी।

इससे यह पता चल जाता है कि आचार्यश्री के पास से दीक्षा का पा लेना सफल जीवन का निश्चायक होता है। अंग्रेजी शिक्षा लेने कोई लन्दन जाता था और यदि उसके पास केम्ब्रिज या आक्सफोर्ड का प्रमाण-पत्र होता था, तो उसकी योग्यता के विषय में सन्देह नहीं किया जाता था, इसी प्रकार आचार्य महाराज से दीक्षा प्राप्त करने का जिस निकट-भव्य आत्मा को सौभाग्य मिलता था, उसके विषय में भी पूर्ण विश्वास उत्पन्न होता था।

सोनागिरि में जिन महानुभावों को निर्ग्रन्थ दीक्षा दी गयी, उन्होंने ऐलक के रूप में मुनिपद के लिए पर्याप्त पात्रता प्राप्त कर ली थी। जब आचार्य महाराज ने उनके जीवन को तपे सोने के समान निर्मल, पवित्र तथा योग्य पाया, तब सुवर्णसम जीवन वालों को सोनागिरि में ही श्रमण दीक्षा में संस्कारित किया। उन चारों मुनियों ने महाव्रती के रूप में अवर्णनीय स्वपर कल्याण किया। कुंथुसागरजी ने बड़े-बड़े राज्यों में जाकर कैसी धर्म प्रभावना की है, यह गुजरात के जैनियों से पूछो, अजैन बड़े अधिकारियों और विद्वानों से पूछो। आज भी उनकी पावन स्मृति लोक मानस में हरी-भरी है।

कुन्थुसागरजी

एक दिन आचार्य महाराज कुन्थुसागरजी के बारे में बताते थे," जब यह पहले आया था, तब इसको कुछ शास्त्र का बोध नहीं था। धीरे-धीरे पढ़ने का योग लगाया। बुद्धि अच्छी थी। बहुत शीघ्र होशियार हो गया। संस्कृत में कविता करने लगा। भाषण देने लगा।"आज श्री कुन्थुसागरजी के सहसा असमय में जीवन प्रदीप बुझ जाने से प्रत्येक धार्मिक हृदय में मनोव्यथा पैदा होती है।

चन्द्रसागर महाराज का विशुद्ध चरित्र और आगम भक्ति को कौन भूल सकता है ? उनका भी स्वर्गवास धार्मिक समुदाय को संतापप्रद रहा। पायसागर महाराज ने दक्षिण में अपने सुमधुर भाषण तथा तत्त्व प्ररूपणा द्वारा हजारों जीवों का कल्याण किया। मुनि नेमिसागरजी महाराज कठोर तप करने में प्रसिद्ध रहे और उत्तर भारत तथा पंजाब प्रांत में उन्होंने धर्म प्रभावना की थी। अब चारों साधु स्वर्गीय निधि हो गये। उनका नर जन्म कृतार्थ हो गया।

सोनागिरि का गौरव

सोनागिरि में दीक्षा लेने वाले चारों मुनियों का जीवन तपे हुए सोने के समान निकला और विपत्ति की कसौटी पर कसे जाने पर उनकी दीप्ति बढ़ी थी। वह घटी नहीं। ये चारों ही मुनि प्रारंभ से ही महान् नही थे। इनमें महानता का बीज था। ये उस सुवर्ण पाषाण के

सदृश थे, जिसमें कीट कालिमा आदि लिप्त थी। रत्नपरीक्षक के रूप में महाराज ने इनको देख लिया था। धीरे-धीरे अपने संपर्क द्वारा उनका जीवन इतना अधिक विकसित कर दिया, कि उन्होंने मनुष्य जीवन की श्रेष्ठ-निधि निर्ग्रन्थ परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त की। सोनागिरि के इतिहास में यह सन् १९२९ की आष्टाह्निक महापर्व की फाल्गुनी पूर्णिमा स्मरण योग्य बन गयी, जब चार उज्ज्वल आत्माओं ने महाव्रती बनकर अपने को, जगत् को, और जैन संस्कृति को मंगलमय बनाया।

अब संघ में सात मुनिराज हो गये थे। उनके बीच गुरु रूप में आचार्य महाराज शोभायमान होते थे। सातों ऋषिराज परमागम प्रसिद्ध सात मुनिवरों का स्मरण कराते थे।

ऋद्धिधारी

सूर्य का प्रकाश होने पर ताराओं की ज्योति का पता नहीं चलता है, इसी प्रकार जिस निर्वाण भूमि सोनागिरि में अनेक संतों ने निर्वाण दीक्षा धारण की, वहाँ अन्य व्रत धारण करने वालों की भी संख्या बहुत होते हुए भी उसका पृथक् उल्लेख नहीं होता था। इस प्रकार बहुत प्रभावना हुई तथा 'चारित्तं खलु धम्मो' का प्रचार हुआ। उस दिन धर्मात्मा पुरुषों ने देखा कि चारित्र रूपी सुवर्ण प्राप्ति में प्रेरणा देने के कारण यथार्थ में वह सोनागिरि है। श्रमणसमन्वित होने से उसे श्रमणगिरि के रूप में भी स्मरण करना अच्छा और युक्ति युक्त भी लगता था। आजकल यह क्षेत्र अधिक समुन्नत दिखता है।

ग्वालियर

सोनागिरि में धर्मामृत की वर्षा करता हुआ संघ ग्वालियर पहुंचा, जहां पौष शुक्ला तृतीया को मुनि नेमिसागर महाराज का केशलोंच हुआ। ग्वालियर प्राचीन काल से जैन संस्कृति का महान् केन्द्र रहा है। ग्वालियर के किले में चालीस, पचास-पचास फीट ऊंची खड्गासन दस-पन्द्रह मनोज्ञ दिगम्बर प्रतिमाओं का पाया जाना तथा और भी जैन वैभव की सामग्री का समुपलब्ध होना इस बात का प्रमाण है कि पहले ग्वालियर का राजवंश जैन संस्कृति का परम भक्त तथा महान् आराधक रहा है। एक किले की दीवालों में बहुत सी मूर्तियों का पाया जाना इस कल्पना को पुष्ट करता है, यह स्थल संभवतः तीर्थ स्वरूप रहा हो। ग्वालियर में जो स्थान तानसेन नामक प्रसिद्ध गायक से सम्बन्धित बताया जाता है, वह पहले जैन मन्दिर रहा है। ग्वालियर रियासत तो जैन मूर्तियों तथा जैन कला पूर्ण सामग्री का अद्भुत भण्डार प्रतीत होता है। ग्वालियर के जिनालय भी सुन्दर हैं। नगर में एक शांतिनाथ भगवान् की मूर्ति बड़ी मनोज्ञ, अति उन्नत खड्गासन है। जैनियों में प्राचीन नाम ग्वालियर का गोपाचल प्रचार में रहा है, कारण वहाँ के भट्टारक जी के तत्त्वावधान में अनेक स्थानों की प्रतिमाओं की प्रतिष्ठाएं हुई हैं। भट्टारक जी के

रहने के स्थान पर शासन देवताओं की कलामय मूर्तियां दर्शनीय हैं।

जैन संस्कृति का महान् केन्द्र

ग्वालियर की धार्मिक समाज ने संघ के आने पर खूब धर्म प्रभावना की थी। जहाँ-जहाँ आचार्य महाराज का संघ पहुंचा, वहाँ-वहाँ के लोग यही कहते हुए पाये गये कि ऐसा आनन्द, ऐसी प्रभावना कभी नहीं हुई। अजैन जनता भी जैन ऋषियों के श्रेष्ठ चरित्र से प्रभावित होती हुई जैन संस्कृति के प्रति आदर भाव व्यक्त करती थी। अपूर्व जागृति तथा आध्यात्मिक प्रभावना हुई।

यज्ञोपवीत धारण करना जैन संस्कृति का अंग न होकर ब्राह्मण संस्कृति का चिह्न है, ऐसी कुछ लोगों की शंकाएं थी। उनका आगम के प्रकाश में निराकरण किया गया था। ब्राह्मणों में पाई जाने वाली सभी बातों के निषेध रूप में जो जैन संस्कृति का स्वरूप समझते हैं, वे दोनों संस्कृतियों के प्रति न्याय नहीं करते हैं। चक्रवर्ती भरत ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की थी।

जैन दृष्टि में वह यज्ञोपवीत रत्नत्रय धर्म का प्रतीक है, इसलिए तत्त्वज्ञ उसका आदर करता है। आचार्यश्री के युक्ति तथा अनुभवपूर्ण उपदेश से लोगों ने यज्ञोपवीत को जैन शास्त्र की आज्ञा जान अंगीकार किया।

ग्वालियर राज्य में प्राचीन जैन वैभव की विपुल सामग्री की दुर्दशा देख कर किस धार्मिक के हृदय में वेदना उत्पन्न न होगी, कि समाज के प्रमाद से उन महत्वपूर्ण स्थलों की उचित व्यवस्था अब तक भी न हो सकी।

मुरैना

यहाँ से चलकर संघ माघ वदी दूज को प्रसिद्ध विद्वान् तथा जैन धर्म प्रभावक पं. गोपालदास जी बरैया की निवास भूमि मुरैना पहुंचा, जहाँ उनके द्वारा स्थापित जैनसिद्धांत विद्यालय विद्यमान है। पहले इस विद्यालय की जैन समाज में बड़ी प्रतिष्ठा थी। यह जैन समाज में धर्म विद्या के शिक्षण के लिये आक्सफोर्ड अथवा केम्ब्रिज के विद्या मंदिर सदृश माना जाता था। स्व. बरैयाजी प्रतिभाशाली विद्वान् थे। उनके प्रबल तर्क के समक्ष प्रमुख आर्यसमाजी विद्वान् दर्शनानन्द को शास्त्रार्थ में पराजित होना पड़ा था। कलकत्ते के प्रकाण्ड वैदिक विद्वानों ने उनके तर्कपूर्ण भाषण की बहुत प्रशंसा की थी, तथा न्यायवाचस्पति पदवी दी थी। वे त्यागी तथा निस्पृह आदर्श चरित्र विद्वान् थे। वे बिना पारिश्रमिक लिये धर्म के ममत्ववश शिक्षा देते थे। वे धन तथा धनिकों के दास नहीं थे। उनका जीवन बड़ा प्रामाणिक था। समाज के श्रेष्ठ विद्वानों में उनकी गणना होती थी।

उनकी कीर्ति से आकर्षित होकर निल्लीकार (दक्षिण) से एक निर्ग्रन्थ मुनिराज १०८ अनंतकीर्ति महाराज ज्ञान-लाभ हेतु सन् १९१९ के लगभग मुरैना पधारे थे, किन्तु

दुर्दैव-वश उनकी कामना पूर्ण न हो पाई और शीघ्र ही उनका वहाँ स्वर्गवास हो गया।

अनंतकीर्ति मुनिराज की समाधि

वह घटना भी बड़ी विचित्र थी। मुरैना की मिट्टी में रेत का अंश होने से वह गर्मी में भीषण उष्ण हो जाती है। और ठंड में अत्यन्त शीतल होती है। उस जमाने में दिगम्बर मुनिराज का उत्तर भारत में कभी किसी को दर्शन नहीं हुआ था, अतः एक भक्त भाई ने सोचा सर्दी की भीषणता से जब हमें असह्य पीड़ा होती है, तब इन दिगम्बर गुरु महाराज को बहुत कष्ट होगा, इससे उसने जिस कमरे में महाराज का निवास था, वहाँ एक सिगड़ी जलते हुए कोयलों से भरकर रख दी और कमरा बन्द कर दिया। उसने मन में सोचा, इसमें जो दोष होगा वह मुझे लग जायगा। रात्रि का समय है। महाराज ध्यान में हैं, कुछ बोलेंगे नहीं। कल कुछ कहेंगे तो देखा जायगा।

मिरगी रोग

किसी को पता न था, कि मुनिराज को पुराना मृगी का रोग था, अग्नि का संपर्क पाकर अपस्मार का वेग हो गया। उससे मूर्छित होकर वे गिर गये और उनका पैर सिगड़ी की अग्नि के भीतर पड़ गया। पैर से जो रक्त की धारा बही, उसने उस अग्नि को बुझाया।

होश में आने के बाद मुनिराज ने सच्चे महावीरों के समान दृढ़ मनोवृत्ति का परिचय दिया तथा शांत भाव से द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिंतवन पूर्वक उस असह्य वेदना को सहन किया। कोई हल्ला नहीं किया, चुपचाप मौन ही रहे आये।

प्रभात हुआ। दर्शनार्थी आये। भीषण दृश्य देखकर घबड़ा गये। अब समाज बड़ा दुःखी हुआ, लेकिन एक का दुःख दूसरा कहीं बांट सकता है ? संयम अविरोधी उपचार किये गये, किन्तु वे फलप्रद न हुए। प्रायः मुनि जीवन में संयमी रहने से रोग आता नहीं है, और यदि कोई बीमारी असाता के उदयवश आई तो शरीर को समाप्त होने से विलम्ब नहीं लगता है।

श्री अनंतकीर्ति महाराज के शरीर में धनुर्वात रोग ने आक्रमण किया। लोग किंकर्त्तव्यविमूढ़ थे। बड़े-बड़े विद्वान् थे, किन्तु कर्मों के प्रचण्ड प्रहार के आगे पंडिताई क्या करेगी ? उस रोग के कारण वे महाराज मूर्छित हो जाते थे। सारा पैर जला है। उसकी वेदना शांत भाव से सहन करते थे। अब नया भीषण रोग आ गया। उस अवस्था में उनके मुख में कोई शब्द निकलते थे, तो 'अरिहंता सीमंधरा'। उस समय वे दुःखी श्रावकों को उल्टा साहस देते हुए कहते थे, 'तुम क्यों घबड़ाते हो, शरीर नहीं चलता, उसे छोड़ देना, रत्नत्रय धर्म नहीं छोड़ना' यह कहकर पुनः 'अरिहंता

सीमंधरा' उच्चारण करते थे। उनकी स्थिरता, निस्पृहता, वैराग्यभाव आदि देखकर आदमी चकित हो जाता था। ऐसी स्थिति में दिखने लगता है कि इस आत्मा में भेद-विज्ञान का कितना उज्ज्वल प्रकाश है ? मूर्छा आने पर चुप हो जाते, अन्यथा 'अरिहंता सीमंधरा' शब्द कुछ देर तक सुनाई देता था।

अब प्रभु का नाम लेते-लेते प्राणों ने ऊर्ध्वलोक को प्रयाण कर दिया। देखा तो ज्ञात हुआ कि महाराज ने स्वर्गारोहण कर दिया। ऐसी विशुद्ध आत्मा का दाह संस्कार बस्ती के बाहर एक योग्य-स्थल पर किया गया था। इस कारण मुरैना अनंतकीर्ति मुनिराज की समाधि भूमि क्षेत्र के रूप में मान्य है।

पूज्य पं. गोपालदासजी वरैया के दिवंगत होने के बाद भी कुछ समय पर्यंत विद्यालय का गौरव वर्धमान रहा। पं. वंशीधरजी न्यायालंकार, पं. देवकीनंदनजी सिद्धांतशास्त्री, पं. माणिकचन्दजी न्यायाचार्य सदृश उद्भट विद्वान् शिक्षक थे।

उन दिनों में हमें भी वहाँ दो वर्ष विद्याभ्यास करने का सौभाग्य मिला था।

आचार्यश्री के मुरैना पधारने पर शास्त्रीय परिषद् का उत्सव क्षुल्लक ज्ञानसागर जी के नेतृत्व में हुआ। विद्यालय का अधिवेशन ग्वालियर राज्य के शिक्षा विभाग के अधिकारी राजबहादुर मुले की अध्यक्षता में संपन्न हुआ। श्रीजी को विराजमान कर रथ निकाला गया था। राज्य के सुप्रबंध के कारण किसी प्रकार का विघ्न नहीं आया। समाज के लगभग तीन हजार व्यक्ति रथोत्सव में थे। अजमेर के प्रख्यात दानी भद्रपरिणामी और महान् धर्मभक्त रायबहादुर सेठ टीकमचन्द जी सोनी भी मुरैना पधारे थे।

पन्द्रह दिन पर्यन्त मुरैना में सम्यक्चारित्र रूप अमृत की वर्षा की। उस समय विद्यालय के आचार्य पं. मक्खनलालजी शास्त्री न्यायालंकार थे। आचार्य महाराज शास्त्री विद्वत्ता, प्रगाढ़ श्रद्धा आदि की बहुत प्रशंसा करते थे। आचार्य संघ ने माघ सुदी एकम को धौलपुर के लिए प्रस्थान किया। धौलपुर की जनता ने संघ का बड़े आदर भाव से स्वागत किया। इस ओर कभी दिगम्बर साधु का विहार किसी ने न देखा और न सुना। संघ के पहुंचने से जैनधर्म की बहुत प्रभावना हुई।

राजाखेड़ा-कांड

यहाँ से संघ चला और ६ फरवरी सन् १९३० को राजाखेड़ा पहुंच गया। यहाँ भी धार्मिक समाज ने खूब स्वागत किया। जिनमंदिर के समीपवर्ती भवन में आचार्य महाराज सप्तर्षि शिष्यों सहित ठहरे थे। उसके सामने के चबूतरे पर सब त्यागी लोग ध्यान, अध्ययन, सामायिक करते थे। एक सभा मंडप पास में बनाया गया था, जहाँ तीन दिन तक धर्म प्रभावना हुई। कोई विघ्न का लेश भी न था।

उस समय आचार्य महाराज के अंतःकरण ने विहार करने की प्रेरणा की, किन्तु आगत अनेक पंडितों आदि के आग्रह का विचार कर उन्होंने विहार नहीं किया। चौथा दिन भी सानंद व्यतीत हो गया। पाँचवां दिन आया। राजाखेड़ा में कुछ पापी लोग, जो संभवतः बलि के वंशज होंगे, जन्मतः न सही, तो प्रकृति की अपेक्षा ही सही, संघ पर संकट का पहाड़ पटकने के पाप-प्रयत्न में जोर से संलग्न थे। इसी से आचार्य श्री के पवित्र अंतःकरण ने प्रस्थान करने का परामर्श किया था, किन्तु सद्भावना वश लोकानुरोध का विचार कर वे रुक गये थे।

धर्म संकट

अब पाँचवाँ दिन आया, किसे कल्पना थी कि आज कल्पनातीत उपद्रव होगा, किन्तु सुयोग की बात कि उस दिन आचार्य महाराज चर्या के हेतु कुछ पूर्व निकल गये थे। आहार की विधि भी शीघ्र सम्पन्न हो गई। सब त्यागी लोग चबूतरे पर सामायिक करने का विचार कर रहे थे, आचार्यश्री ने आकाश पर दृष्टि डाली और उन्हें कुछ मेघ दिखाई दिये। यथार्थ में वे जल के मेघ नहीं, विपत्ति की घटा के सूचक बादल थे। उनको देखकर आचार्यश्री ने कहा कि 'आज सामायिक भीतर बैठकर करो।'

गुरुदेव के आदेश का सबने पालन किया। सब मुनिराज आत्मा के ध्यान में मग्न हो गये। सर्व जीवों के प्रति हमारे मन में समता का भाव है, यह उन्होंने अपने मन में पूर्णतः चिंतवन किया और तत्त्वचिन्तन भी प्रारम्भ किया। अन्य श्रावक लोग अतिथि-संविभाग कार्य के पश्चात् अपने-अपने भोजन में लगे।

इतने में क्या देखते हैं, लगभग पाँच सौ गुंडे नंगी चमचमाती तलवार लेकर मुनि संघ पर प्रहार करने के हेतु छिद्दी ब्राह्मण के साथ वहाँ आ गये।

मुनिराज आज बाहर ध्यान नहीं कर रहे थे, इससे उनकी आक्रमण करने की पाप भावना मन के मन में ही रही आयी। उन नीचों ने जैन श्रावकों पर आक्रमण किया। श्रावकों ने यथायोग्य साधनों से मुकाबला किया। श्रावक लोगों ने जोर की मार लगाकर उन आततायों को दूर भगाया था, किन्तु शस्त्र-सज्जित होने के कारण वे पुनः बढ़ते आते थे, ताकि जैन साधुओं के प्राणों के साथ होली खेलें। श्रावक भी गुरुभक्त थे। प्राणों की परवाह न करते हुए उनसे खूब लड़े। किसी का हाथ कटा, किसी की अंगुली कटी, जगह-जगह चोट आयी।

इतने में संध्या को रियासत की सेना आयी, तब इन नर पिशाचों का उपद्रव रुका। छिद्दी ब्राह्मण पकड़ लिया गया। उस उपद्रव के समय संघ के साधुओं में भय का लेश भी नहीं था, वे ऐसे बैठे थे, मानों कोई चिंता की बात ही न होवे। उन्होंने अद्भुत आत्म-संयम का परिचय दिया। उस समय मेघों ने भयंकर वर्षा कर दी थी, इससे उपद्रवकारियों

का मनोबल सफल न हो पाया। प्रकृति ने धर्म-रक्षा में योग दिया था।

पुलिस के बड़े अधिकारी मुनि महाराजों के पास आये। उनके दर्शन कर उनके मन में उपद्रवकारियों के प्रति भयंकर क्रोध जागृत हुआ। वे सोचने लगे, ऐसे महात्मा पर जुल्म करने की उन नरपिशाचों ने चेष्टा कर बड़ा पाप किया। उनको कड़ी से कड़ी सजा देंगे।

साम्य भाव अर्थात् विश्वबंधुत्व (पाप से घृणा, पापी से नहीं)

प्रभात का समय आया। आचार्य महाराज ने यह प्रतिज्ञा की थी, कि जब तक तुम छिद्दी ब्राह्मण को हिरासत से नहीं छोड़ोगे, तब तक हम आहार न लेंगे।

पुलिस अधिकारियों ने कहा- "महाराज ! बदमाशों के प्रति दया की बात आप क्यों कहते हैं ?"

महाराज, " हमारा उनके प्रति जरा भी विद्वेष नहीं है। हमारे निमित्त से वे कष्ट पाएँ यह देखते हुए हम कैसे आहार करें ?" साधु श्रेष्ठ का आग्रह देखकर उस समय उनको छोड़ दिया, शायद यह सोचकर कि पीछे न्याय के अनुसार इन पर कार्यवाही की जायगी। अभी तो इन तपस्वियों का आहार हो जाने दो। उस समय लोग उन पापी लोगों को धिक्कार देते थे, उनका अन्तःकरण भी स्वयं उनको धिक्कार देता था। सच्ची अहिंसा की प्रतिष्ठा तो ऐसे ही मुनियों में होती है। प्राण-घातक के लिए भी भाई की भावना आज की दुनियाँ में कौन रख सकता है। आचार्य महाराज को कर्मों के सिवाय और कोई भी शत्रु नहीं दिखता था। ये विश्वप्रेमी महात्मा हैं।

गांधीजी के शब्द आचार्य शांतिसागर महाराज के विषय में कितने उपयुक्त दिखते हैं कि **"बंन्धुत्व से यह मतलब नहीं है कि जो तुम्हारा बन्धु बने और तुमसे प्रेम करे, उसके तुम बन्धु बनो और उससे तुम प्रेम करो। यह तो सौदा हुआ। बन्धुत्व में व्यापार नही होता और मेरा धर्म तो मुझे यह सिखाता है कि बन्धुत्व केवल मनुष्यमात्र से ही नहीं, बल्कि प्राणी मात्र के साथ होना चाहिए। हम अपने दुश्मन से भी प्रेम करने के लिए तैयार न होंगे, तो हमारा बन्धुत्व निरा ढोंग है। दूसरे शब्दों में कहूं, तो जिसने बन्धुत्व की भावना को हृदयस्थ कर लिया है वह यह नहीं कहने देगा कि उसका कोई शत्रु है।"**

आचार्यश्री के व्यवहार को देखकर कौन कहेगा कि इनकी दृटि में भी कोई शत्रु नाम की प्राणधारी मूर्ति है ? अपने अनन्त प्रेम से ये समस्त विश्व को मंगलमय बनाते हैं।

मैंने सन् १९४९ में कवलाना में महाराज से दैव और पुरुषार्थ पर चर्चा छेड़ी थी। उस प्रसंग में धौलपर की घटना का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा था- "धौलपुर के राजाखेड़ा ग्राम में छिद्दी ब्राह्मण पाँच सौ आदमी लेकर हमारे प्राण लेने आया था। उसके आने से एक घण्टा पहले हम बाहर के बदले भीतर सामायिक करने बैठ गये थे। बाद में मूसलधार

वर्षा आ गयी। इसके अनन्तर पुलिस के आने से वे लोग भाग गये।"

कर्म सिद्धांत पर अड़िग विश्वास

इस घटना के द्वारा वे पुरुषार्थ के एकान्तवाद का निराकरण करते हुए कहने लगे - " ऐसी स्थिति में दैव बलवान है। काम करना हाथ में नही है। हाथ में होगा भी तो हम प्रतिकार न करेंगे। शेर मार्ग में आता है। वह खायेगा, तो भी हम हटेंगे नहीं। हमारा कर्म पर दृढ़ विश्वास है। कर्म प्रतिकूल न होगा, तो समुद्र में भी फेंके जाने पर कुछ नहीं होगा।"

महाराज ने यह भी कहा था-" कोई गाली देता है, कोई प्रशंसा करता है। सब अपना-अपना काम करते हैं। आत्मा को भी अपना काम करना चाहिए, तब कल्याण होगा। धर्म मार्ग पर चलोगे, तो मोक्ष मिलेगा। इसमें शंका क्या ? भगवान् ने सड़क बताई है।"

ना काहु से दोस्ती, ना काहु से बैर

एक दिन महाराज कहने लगे-" हमारी भक्ति करने वाले को जैसे हम आशीर्वाद देते हैं, वैसे ही हम प्राण लेने वालों को भी आशीर्वाद देते हैं। उनका कल्याण चाहते हैं।" इन बातों की साक्षात् परीक्षा राजाखेड़ा के समय हो गई। ऐसे विकट समय पर आचार्य महाराज का तीव्र पुण्य ही संकट से बचा सका, अन्यथा कौन शक्ति थी, जो ऐसे व्यवस्थित षड्यन्त्र से जीवन की रक्षा कर सकती ?

कदाचित् आचार्य महाराज का विहार हृदय की प्रेरणा के अनुसार हो गया होता, तो राजाखेड़ा काण्ड नहीं होता, किन्तु भवितव्य अमिट है। और भी जगह देखा गया है, भक्त लोग महाराज से अनुरोध करते थे और करुणा भाव से वे लोगों का मन रखते थे, तब प्रायः गड़बड़ी हुई है। जब महाराज ने आत्मा की आवाज के अनुसार काम किया तब कुछ भी बाधा नहीं आयी।

साधुओं का मार्ग लोक मार्ग से पृथक

एक दृष्टि से राजाखेड़ा काण्ड का बड़ा महत्व है। कमठ के उपसर्ग से भगवान् पार्श्वनाथ की महिमा अति विकसित हुई थी, इसी प्रकार इस संकट के द्वारा आचार्यश्री का आत्म-सामर्थ्य अधिक प्रकाशमान हुई। धौलपुर स्टेट ने तत्परतापूर्वक कर्तव्यपालन किया। साधुओं का मार्ग दूसरा है और शासकों का कर्त्तव्य पृथक् है। दुष्टों का दमन कर न्याय का रक्षण करना शासक का धर्म है।

महापुराण में आचार्य जिनसेन स्वामी ने लिखा है -

" नरेश यदि दण्ड धारण करने में शैथिल्य दिखायें, तो प्रजा में मत्स्य न्याय की प्रवृत्ति हो जाती है। जिस प्रकार बड़ा मत्स्य छोटे को खा जाता है, इसी प्रकार बलवान व्यक्ति निर्बल को विनष्ट कर देता है।"

आगरा

राजाखेड़ा से चलकर संघ १३ फरवरी १६३० को आगरा पहुंचा। बड़ा शानदार स्वागत किया गया था। १५ फरवरी को बेलनगंज के मंदिरजी से रथोत्सव निकला था। आचार्य शांतिसागर महाराज अपने सप्त दिगम्बर शिष्यों सहित रथ के आगे-आगे थे। जुलूस कचेरीघाट, जुम्मा मस्जिद, जौहरी बाजार आदि मुख्य रास्तों पर से बड़े वैभव के साथ निकला था, कारण सोने-चाँदी का बहुमूल्य सामान होने से उसकी शोभा अधिक वृद्धिंगत हो गयी थी। हजारों आदमी 'जैनधर्म की जय, आचार्य शांतिसागर महाराज की जय'-घोष कर रहे थे। फाल्गुन वदी चौदस को मोतीकटरा में आचार्य महाराज का केशलोंच हुआ था। लगभग पन्द्रह हजार जनता इकट्ठी हुई थी।

आगरा में जैन समाज की अच्छी संख्या है। इससे महाराज के उपदेश से बहुतों ने लाभ लिया। महाराज के असाधारण व्यक्तित्व के प्रभाव से कठिन से कठिन नियम लेना भी लोगों को सरल लगने लगता था। यह तो महाराज के पास आने पर अनुभव में आता था कि कड़ी प्रतिज्ञा लेने में उसकी कटुता नहीं दिखती थी। मेरा व्रत बड़ा है, मैं बड़ा व्रती हूँ, यह अहंकार नहीं होता था। महापुराण में लिखा है कि चक्रवर्ती भरतेश्वर षट्खंड की विजय करते हुए जब वृषभाचल पर्वत पर अपनी विजय प्रशस्ति लिखने गए तो उनका मान जाता रहा, वृषभाचल पर अगणित नामों से जैसे चक्रवर्ती का अंहकार दूर होता है, मन में मार्दव-भाव जागता है, इसी प्रकार उग्र तपस्वी आचार्य महाराज को देखते ही बड़े-बड़े तपस्वियों का अंहकार दूर होता था, और उन्हें ऐसा लगता था, कि मैं तो संयम के शिशु वर्ग में हूँ। अभी तो मुझे बहुत मंजिल तय करनी है। अपने व्रत के बोझे के हल्केपन की कल्पना हो जाने से उसका भार नहीं लगता था। संभवतः यही मनोवैज्ञानिक कारण होगा, जो आचार्यश्री के समीप उपवासादि-व्रतों को ग्रहण कर पालन करने में भारीपन नहीं लगता था। व्यथा नहीं होती थी। उनकी अचल और स्थिर प्रकृति को देखकर मनुष्य अपने मन में सोचता था - 'देखो! इतना घोर तप करते हुए भी ये अडिग रहते हैं। मैं जरा-सा नियम लेकर भी क्या डिग जाऊँगा ? मैं भी मानव हूँ। गुरुदेव का आदर्श स्मरण करते हुए अवश्य प्रतिज्ञा पालन में उत्तीर्ण होऊंगा।' यह सोच कर बहुत लोगों ने महाराज के पास से विविध संयम ग्रहण किये थे। उनसे नियम लेने वाले बड़े सुखी देखे गये।

संयम धारण की प्रेरणा

डरकर चुप बैठने से जीवन के अमूल्य क्षण व्यतीत होते जाते हैं, और न जाने किस क्षण यमराज आकर गला दबा दे, अतः विषयी लोगों की चक्करदार बातों के भ्रम में न फंस कर संयमी जीवन की ओर सबको प्रवृत्त होना चाहिए। महाराज के जीवन द्वारा ही यह शिक्षा प्राप्त होती थी। उनके संपर्क में रहने वाले कई भाई पहले त्याग शून्य थे, अब

वे बढ़ते-बढ़ते बड़े से बड़े त्यागी हो गये। एक मुनिराज सुनाते थे कि हम पहले आचार्य महाराज का कमंडलु, हाथ में लेकर साथ में ही चलते थे, फिर उनके सत्संग से थोड़ा-थोड़ा संयम पालने लगे, और अब हमारे हाथ में ही वह कमण्डलु आ गया।

आचार्य महाराज को सार रूप वस्तु रत्नत्रय दिखती थी। उसके सिवाय पुद्गल का वैभव पूर्णतया सार-रहित दिखता था। पुद्गल का वह रूप उनके मन को जँचता था, जो वीतरागता की विमल ज्योति को जगाता है। इसी से वे तीर्थंकरों आदि की चरण रज से पवित्र पर्वतों की वंदना के हेतु हजारों मील पैदल यात्रा को निकले थे, किन्तु रागरंजित पुद्गल का वैभव उनके मन को नहीं खेंचता था। इसीलिए उन्होंने कलापूर्ण आगरा के २२ जिन मंदिरों का ध्यान से दर्शन किया, किन्तु जगत् में विख्यात ताजमहल देखने की इच्छा भी न की। शाहजहाँ के किले को देखने की तनिक भी आकांक्षा न की। वहाँ की और भी कलामय कृतियों की ओर उनका मन नहीं गया।

आध्यात्मिक दृष्टि

इसका क्या कारण है ? क्या वे ललित कलाओं से द्वेष करते थे ? इसका कारण यह था कि आत्म सौन्दर्य का दर्शन करने से पुद्गल का वैभव उन्हें सारशून्य दिखता था, क्षणिक प्रतीत होता था तथा राग द्वेष के विकारों का संवर्धक होने के कारण आत्म सौन्दर्य का संहारक दिखता था। जिस इंद्रधनुष को जगत् देख हर्षित होता है, कविगण विविध कल्पनाओं द्वारा जिसे अद्भुत सौन्दर्य का पुंज मानते हैं, वहीं इंद्रधनुष वैज्ञानिक की दृष्टि में साधारण वस्तु बन जाता है, कारण वह उसके अंतस्तत्त्व को जान चुका है कि वह इन्द्र का धनुष नहीं है। जल कणों के भीतर से सूर्य किरणें निकलने से यह वर्ण परिवर्तन होता है, इसी प्रकार आत्मविज्ञान वाले महामुनियों को बाह्य रागवर्द्धक सामग्री आकर्षण तथा आराधना की वस्तु नहीं दिखती थी, उन्हें वीतरागता पूर्ण साधन सामग्री प्रिय लगती थी।

शाहजहाँ की कामिनी की स्मृति में खड़ा किया गया ताजमहल उनके मन में दर्शनेच्छा को नहीं जगाता था। हाँ, श्रवणवेलगोला में बाहुबली भगवान् के चरण अवश्य उनके चित्त को खेंचते थे।

विश्व पर्यटक और विख्यात लेखक, स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू ६ जुलाई, सन् १९५१ को बाहुबली स्वामी के दर्शनार्थ पंहुचे थे। सुपुत्री इन्दिरा गांधी साथ थी। उन्होंने मठ की पर्यटक पुस्तक में लिखा था, "मैं आज यहाँ आया और इस आश्चर्यजनक मूर्ति को देखा और प्रसन्न हुआ।" बाहुबली के चरणों में जाने से वीतरागता के भाव जगते हैं, मोहज्वर मन्द होता है, आत्मकल्याण का भाव उनके चरणों की आराधना से जगता है। ये बातें आगरा के मकबरे में कहाँ हैं ? वहाँ शाहजहाँ की अपनी रमणी के प्रति अत्यन्त उत्कृष्ट आसक्ति का चित्र समक्ष आता है। रागी पुरुषों के लिए

वह सौन्दर्य का भंडार दिखता है, वीतरागी के लिए वहाँ सौन्दर्य का एक कण भी नहीं है। 'रागी और विरागी के विचार में बड़ो भेद' - यह कथन सत्य है।

अकिंचन मुनियों को पौद्‌गलिक होते हुए भी नन्दीश्वर द्वीप के अकृत्रिम जिन बिम्बों की परोक्ष वन्दना करने से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह दूसरी वस्तुओं में नहीं आता। द्यानतराय जी ने लिखा है -

> कोटि शशि भानु दुति तेज छिप जात है।
> महा वैराग परिणाम ठहरात है।
> बयन नहिं कहै लखि होत सम्यक् धरम्।
> भवन बावन्न प्रतिमा नमो सुखकरम् ॥ ६ ॥

नंदीश्वर भक्ति में उन जिनेन्द्र बिम्बों को अप्रतिम-अतुलनीय कहा है। ऐसी आत्म-सौंदर्य को विकसित करने वाली तथा अनन्त सुख की जननी सामग्री की ओर ही मुनियों का मन जाता है और अनन्त दुःखों को उत्पन्न करने में कारणभूत रागाग्नि को प्रदीप्त करने वाली वस्तुओं में उनका मन विश्रान्ति नहीं पाता है। कदाचित् ऐसी वस्तु का सान्निध्य हो जाय तो वे वैराग्य के प्रकाश में वस्तु के स्वरूप को विचारते हुए अपनी निर्मलता को अक्षुण्ण रखते हैं, जैसे विष की भस्म बनाकर योग्य अनुपात से सेवन करने पर वह विकार नहीं करता है। इसी प्रकार वीतरागता की दृष्टि से देखे गये पदार्थ विकृति नहीं पैदा करते हैं। श्रेयस्कर मार्ग यही है कि अपनी निर्मलता वर्धक वस्तुओं का ही आश्रय लिया जाय।

इस कारण आगरा पहुंच कर विश्वविख्यात सौन्दर्य तथा कलामय स्थलों को न देखने वाले ये आत्मदर्शी महापुरुष क्या स्वयं आश्चर्य के आगार नहीं हैं ?

यहाँ बड़े-बड़े जैन विद्वान् हो चुके हैं

यह संघ आगरा में पीर कल्याणी की नशिया में ठहरा था। आहार के लिए बेलनगंज आदि मुख्य-मुख्य भागों में मुनिराज जाते थे। संघ द्वारा आगमोक्त विषयों पर उपदेश हुआ करता था।

इस आगरा का प्राचीनकाल में बड़े-बड़े जैन कवियों से बड़ा सम्बन्ध रहा है। पंच मंगल पाठ बनाने वाले कवि रूपचंदजी, उच्च कवि भूधरदासजी आदि यहाँ के ही निवासी रहे हैं। पं. गोपालदास जी के गुरु पं. बल्देवदासजी भी आगरा में रहा करते थे।

हिन्दी जगत् के उज्ज्वल आध्यात्मिक कवि बनारसीदासजी, भैया भगवतीदासजी आदि का आगरा से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। आगरा के भव्यजीवों को धर्मामृत के द्वारा परितृप्त करते हुए संघ ने जैनधर्म की खूब प्रभावना की।

वैयावृत्य धर्म और आचार्य श्री

आगरा में संघ को एक ही बात से आकुलता उत्पन्न हो गई थी, कि मुनि पायसागरजी गोकाकवालों की प्रकृति बिगड़ गई थी और उनका शरीर क्षीण होने लगा था। अतः आचार्य महाराज ने एक ब्रह्मचारी तथा मुनि नमिसागरजी को उनकी परिचर्या के हेतु आगरा में छोड़ा था। मुनि के बीमार होने पर वैयावृत्य की बात तो सबको महत्व की दिखेगी, किन्तु श्रावक की भी प्रकृति बिगड़ने पर आचार्यश्री का ध्यान प्रवचन-वत्सलता के कारण विशेष रूप से जाता था। आचार्यश्री श्रेष्ठ पुरुष होते हुए भी अपने को साधुओं में सबसे छोटा मानते थे।

एक बार कवलाना में १९४६ में ब्रह्मचारी फतेचन्दजी परवार भूषण नागपुरवाले बहुत बीमार हो गये थे। उस समय आचार्य महाराज उनके पास आकर बोले, "ब्रह्मचारी ! घबड़ाना मत, अगर यहाँ के श्रावक लोग तुम्हारी वैयावृत्य में प्रमाद करेंगे, तो हम तुम्हारी सम्हाल करेंगे।" जब ब्रह्मचारीजी से कवलाना में भेंट हुई, तब उन्होंने आचार्यश्री की सान्त्वना और वात्सल्य की बात कही थी। उससे ज्ञात हुआ कि महाराज वात्सल्य गुण के भी भंडार थे। उनके हृदय में अगणित विशेषताएं छिपी हुई थीं।

पूज्य नमिसागरजी

वहाँ मुनि नमिसागर महाराज को पायसागरजी की परिचर्या के लिए छोड़कर आचार्य महाराज पूर्णतया निश्चिन्त हो गये, कारण वैयावृत्य करने वाले को जितना दृढ़ प्रकृति का होना चाहिये, यह बात नमिसागरजी में खूब थी। एक बार अजमेर में नमिसागर महाराज के दर्शन हुए। वहाँ हम सर सेठ भागचंदजी सोनी के यहाँ विधान महोत्सव में गये थे।

एक बार आचार्यश्री ने कहा था, "नमिसागर बड़ी कड़ी प्रकृति का है।"

उनकी कड़ी प्रकृति का उदाहरण इससे अच्छा और क्या होगा कि आँखों की पीड़ा होने पर लाल मिर्च के पीसे हुए बीजों को उनकी आँखों में आंजा जाता था और दाह होते समय जरा भी नहीं घबड़ाते थे। मैंने नमिसागर महाराज से पूछा था, "आप यह क्या गजब करते हैं, इसमें क्या कष्ट नहीं होता ?" महाराज ने कहा था, "थोड़ी देर बाद नेत्रों में बहुत शीतलता आ जाती है।" उनकी उग्र तपस्या की उत्तर भारत के लोगों में पर्याप्त प्रसिद्धि भी रही है। उनकी समाधि सन् १९५६ में ईसरी में हुई थी।

योग्य परिचर्या आदि होते हुए भी जब पायसागरजी की प्रकृति नहीं सुधरी, तब भाऊ साहब लाटकर आदि दक्षिण के कुछ भाई आगरा आये और उनको अपने साथ कोल्हापुर ले गये थे।

आगरा से विहार करता हुआ आचार्य संघ चैत्रवदी ६ को फिरोजाबाद के मेले में

पंहुचा था। यहाँ जैन समाज अच्छी संख्या में है। पंडित गोपालदासजी वरैया के समान जैनधर्म के प्रभावक विद्वान् पं. पन्नालाल जी न्यायदिवाकर फिरोजाबाद निवासी ही थे। वे न्यायशास्त्र के अद्वितीय पंडित थे, शास्त्रार्थ करने की कला में पूर्ण निपुण थे। उस समय भारतवर्ष के जैनियों में उनका आदर था। अन्य धर्मी विद्वान् भी उनके नाम से घबड़ाते थे। यहाँ सात जिनमन्दिर हैं। यहाँ भगवान् चन्द्रप्रभु स्वामी की एक फुट ऊंची स्फटिक की मनोज्ञ एवं सातिशय प्रतिमा है। उसका दर्शन करते ही समंतभद्र स्वामी रचित स्वयंभू स्तोत्र का यह पद्य स्मरण में आये बिना नहीं रहेगा :

चंद्रप्रभु चंद्रमरीचिगौरं चंद्रं द्वितीय जगतीव कान्तम्।
वंदेऽभिवंद्यं महतामृषीन्द्रं जिनं जितस्वान्त-कषायबंधम्॥

अर्थ : चन्द्रमा की किरणों के समान गौरवपूर्ण, जगत् में अत्यन्त रमणीय दूसरे चन्द्रमा के सदृश, हृदय में विद्यमान कषाय के बंधन को जीतने वाले, महान् पुरुषों के द्वारा अभिवंदनीय, मुनीन्द्र जिन भगवान् चन्द्रनाथ स्वामी को मैं प्रणाम करता हूँ।

यह वही पद्य है, जिसे समन्तभद्र स्वामी ने पढ़ा था और शिवपिंडी में चंदप्रभु भगवान् की मूर्ति प्रगट हुई थी।

प्रश्न व उसका मार्मिक समाधान

एक समय दक्षिण में आचार्यश्री के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि समंतभद्र स्वामी के प्रणाम करते समय भगवान् चंद्रप्रभु की ही मूर्ति क्यों प्रगट हुई, जबकि स्वयंभूस्तोत्र में तो चौबीसों भगवान् का स्तवन है ?

इस प्रश्न का उत्तर समान्यतया अन्य विद्वान् यही देंगे कि यदि शीतलनाथ भगवान् की मूर्ति होती, तो भी शंका उस विषय में उपस्थित की जाती ? अतः उक्त प्रश्न का कोई महत्व नहीं है, किन्तु आचार्य महाराज ने ऐसा समाधान नहीं किया था। उन्होंने अपने उत्तर के साथ सुन्दर युक्तिवाद दिया था। महाराज ने कहा- "चौबीस तीर्थंकरों के विशेष भक्त चौबीस यक्ष-यक्षी कहे गये हैं। भगवान् चंद्रप्रभु की यक्षी ज्वालामालिनी है। ज्वालामालिनी यक्षी ने अपने विशेष आराध्यदेव चंद्रनाथ स्वामी की मूर्ति प्रगट करके जगत् में उनके नाम का जयकार कराकर आनन्द का अनुभव किया। उस स्तोत्र में बीजाक्षर 'वन्दे' हैं। जिस क्षण वन्दे शब्द स्वामी समंतभद्र के मुख से निकला, उसी समय चंद्रप्रभु भगवान् की अपूर्व प्रतिमा प्रगट हुई थी।" आचार्यश्री के समाधान से उपस्थित उद्‌भट विद्वान् उनके विशिष्ट अनुभव और क्षयोपशम से प्रभावित हो गये थे।

वहाँ से चलकर संघ एटा आया। बाद में जलेसर पहुंचा, पश्चात् हाथरस में धर्म प्रभावना तथा लोककल्याण करता हुआ संघ अलीगढ़ पहुंचा। अलीगढ़ में संघ का भव्य स्वागत हुआ। खूब धर्म प्रभावना हुई।

मथुरा चातुर्मास

वर्षाकाल समीप आ जाने से संघ ने मथुरा पहुंचकर चातुर्मास करने का निश्चय किया। मथुरा नगर प्राचीन काल से ही जैन संस्कृति का केन्द्र रहा है।

समाज में यह प्रसिद्ध है कि अंतिम अनुबद्ध केवली जम्बू-स्वामी का निर्वाण चौरासी मथुरा से हुआ है। कवि राजमल्ल ने जंबू-स्वामी चरित्र में लिखा है कि माघ शुक्ल सप्तमी के शुभ दिन में विपुलाचल पर्वत के शिखर से सुधर्म केवली ने मोक्ष प्राप्त किया। उस दिन भगवान् जम्बू-स्वामी मुनिराज को, जब दिन का आधा पहर बाकी था केवलज्ञान प्राप्त हुआ।[1]

इसके पश्चात् गंधकुटी में विराजमान होकर उन महाप्रभु ने मगध आदि बड़े-बड़े देशों में तथा मथुरा आदि नगरों में विहार किया। इसमें केवली भगवान् ने १८ वर्ष पर्यंत धर्मोपदेश देते हुए लोगों को आनंद प्रदान किया। इसके अनंतर उन केवली भगवान् का विपुलाचल पर्वत से मोक्ष हो गया। वे अष्ट कर्मों से मुक्त होकर अविनाशी अनंत सुख के स्वामी हो गये।[2]

इस कथन से यह ज्ञात होता है कि जंबूस्वामी का मोक्ष मगध देश की राजधानी राजगृही के समीपवर्ती विपुलाचल पर्व से हुआ था। जंबूस्वामी ने अनेक देशों में अठारह वर्ष विहार किया था, उनमें मथुरा का भी उल्लेख है। अतः गंधकुटी का आगमन मथुरा में मानना होगा, निर्वाण स्थल मानना असम्यक् है।

प्राकृत निर्वाण काण्ड में भी लिखा है :

मथुरा में वीर भगवान् को, अहिच्छत्र में पार्श्वनाथ स्वामी को मैं नमस्कार करता हूँ। जंबूवन के मध्य से मोक्ष प्राप्त करने वाले जंबूमुनिश्वर की वंदना करता हूँ।[3]

हरिवंशपुराण में विपुलाचल पर्वत को विपुल श्रीयुक्त लिखा है - आरूरोह गिरिं तत्र विपुलं विपुलश्रियं (३-६-२), अतः वहाँ पर ही जंबूवृक्ष का वन रहा होगा, यह मानना

---

१. तपोमासे सिते पक्षे सप्तम्यां च शुभे दिने। निर्वाणं प्राप सौधर्मो विपुलाचलमस्तकात्॥ ११०॥
तत्रैवाहनि यामार्ध व्यवधानवतिः प्रभोः। उत्पन्नं केवलज्ञानं जम्बूस्वामिमुनेस्तदा॥ ११२॥

- जंबूस्वामीचरित्र-सर्ग १२

२. विजहर्ष ततोभूभौ श्रितो गंधकुटीं जिनः। मगधादि-महादेश-मथुरादि-पुरीस्तथा॥ ११६॥
कुर्वन् धर्मोपदेशं स केवलज्ञानलोचनः। वर्षाष्टदशपर्यन्त स्थितस्तत्र जिनाधिपः॥ १२०॥
ततो जगाम निर्वाणं केवली विपुलाचलात्। कर्माष्टकविनिर्मुक्तः शाश्वतानंदसौख्यभाक्॥ १२१॥

- जंबूस्वामीचरित्र-सर्ग १२

३. महुराए अहिछित्ते वीरं पासं तहेव वंदामि।
जंबु मुणिंदो वंदे णिव्वुइपत्तो वि जंबुवणगहणे॥

- प्राकृतनिर्वाणकांड

तर्क संगत दिखता है, कारण जंबूस्वामीचरित्र में लिखा है कि ततो जगाम निर्वाणकेवली विपुलाचलात्, इस कारण मथुरा को जम्बूस्वामी की निर्वाण भूमि मानना आगमोक्त बात नहीं है।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर विदित होगा कि मथुरा ने जैनधर्म की प्राचीनता को प्रमाणित करनेवाली अत्यन्त महत्वपूर्ण सामग्री प्रदान की है। अतः उसका निर्वाण स्थल न होते हुए भी अपना स्वयं का महत्व है।

मथुरा के कंकाली टीला की खुदाई में डा. फुहरर ने अनेक महत्वपूर्ण जैन मूर्तियां प्राप्त की थी, जो लखनऊ के संग्रहालय में हैं। मथुरा के संग्रहालय में लगभग ६० दिगम्बर मूर्तियाँ हैं। बाद की खुदाई में और भी जैन मूर्तियाँ उपलब्ध हुई थी, किन्तु वे सब प्रायः खंडित हैं। मथुरा की खुदाई में एक भी श्वेताम्बर मूर्ति नहीं प्राप्त हुई है। सभी दिगम्बर जैन मूर्तियाँ ही हैं। मथुरा में एक देवनिर्मित स्तूप मिला है, जो शक संवत् ७६ का अर्थात् ईस्वी सन् ७६+७८ = १५७ का है। उसकी भाषा प्राकृत है और लिपि ब्राह्मी है। उस टीले में ११० जैन शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जो प्रायः कुशान वंशी राजाओं के समय के है। स्मिथ महाशय उनको ईसा की प्रथम तथा द्वितीय सदी का मानते हैं। एक खड्गासन जैन मूर्ति पर लिखा है कि यह अरहनाथ तीर्थंकर की प्रतिमा ७६ सम्वत् में देवों के द्वारा निर्मित इस स्तूप की सीमा के भीतर स्थापित की गई।

महत्वपूर्ण स्तूप

इस स्तूप के विषय में फुहरर साहब लिखते हैं कि यह स्तूप इतना प्राचीन है कि इस लेख की रचना के समय स्तूप आदि का वृतान्त विस्मृत हो गया होगा। लिपि की दृष्टि से यह आदि लेख इंडोसिथियन संवत् (शक) अर्थात् १५० ईस्वी का निश्चित होता है। इसलिए ईस्वी सन् से अनेक शताब्दी पूर्व यह स्तूप बनाया गया होगा। इसका कारण यह है कि यदि उसकी इस समय रचना की गई होती, जब कि मथुरा के जैनी सावधानीपूर्वक अपने हाल को लेखबद्ध कराते थे, तो इसके निर्माताओं का भी नाम अवश्य ज्ञात रहता।

ईसा से दो सदी पूर्व की जैन सामग्री

इस विषय में स्मिथ महाशय का भी यही कथन है। अतः यह सम्भव है कि ईसवी सन् के पूर्व उसका निर्माण हुआ होगा और वह कम से कम प्राचीनतम बौद्ध स्तूप के बराबर प्राचीन रहा होगा। मथुरा संग्रहालय की दूसरी रिपोर्ट में लिखा है कि मथुरा के कंकाली टीला में ईसा से दो सदी पूर्व की महत्वपूर्ण जैन सामग्री उपलब्ध होती है। रिपोर्ट के पृष्ठ ३८६ पर ईस्वी सन् १६२ की जैन तीर्थंकर वृषभनाथ की मूर्ति का उल्लेख है जो कि एक कुटुम्बिनी ने विराजमान की थी, तथा जिसने अपने पति, श्वसुर तथा गुरु के नाम का

उल्लेख किया है।

इस देवनिर्मित स्तूप के विषय में यशस्तिलकचम्पू की कथा विशेष महत्वपूर्ण है। उसमें बताया है, कि मथुरा नरेश की महादेवी उर्मिला रानी ने अष्टाह्निका महापर्व के आगमन पर सदा की भाँति मथुरा में जिनधर्म के रथ निकाले जाने में सपत्नी बुद्धदासी द्वारा विघ्न का जाल रचा देखा, तब चिंतित हो महारानी ने सोमदत्ताचार्य के समीप जाकर कहा कि भगवन् ! मैंने प्रतिज्ञा की है यदि आज से दो, तीन दिन में होने वाले अष्टाह्निका की पूजा में पूर्व क्रम के अनुसार जिन भगवान् की पूजा के हेतु मेरा रथ निकलेगा, तो मेरे शरीर स्थिति में कारण रूप वस्तुओं के प्रति मेरे मन में अभिलाषा है अर्थात् तब मैं अन्न-जल लूँगी, अन्यथा मेरी अभिलाषा नहीं है।

वज्रकुमार द्वारा धर्मप्रभावना का नगर

उस समय संघ में उपस्थित श्री वज्रकुमार मुनिनाथ ने कहा, "माता, आप चिन्ता न करो, हम सरीखे आपके बालक के होते हुए अर्हत् भगवान् की पूजा में विघ्न नहीं आयेगा।" इसके पश्चात् वज्रकुमार मुनिराज द्रुतगति से विद्याधरपुर पहुंचे और भास्कर देव आदि को अपने आगमन का कारण मथुरा में जिनेन्द्र के रथ के विहार कराने की आवश्यकता बतायी।

पश्चात् दैविक चमत्कार तथा वैभव के साथ मथुरा में भगवान् जिनेन्द्र के रथ का विहार हुआ और उनके निमित्त से मथुरा में अर्हत् भगवान् की प्रतिमायुक्त एक स्तूप की स्थापना हुई 'मथुरायां चक्रचरणं परिभ्रभय्यार्हत् प्रतिबिम्बांकितमेकं स्तूपं तत्रातिष्ठपत्।' अतः आज भी उस तीर्थ की देवनिर्मित के नाम से ख्याति है। 'अतएवाद्यापि तत्तीर्थं देवनिर्मिताख्यया प्रथते।' (यश. ति. पृ. ३१४-३१५, अध्याय ६, कल्प १८।) इसी कारण प्रभावनांग में वज्रकुमार का नाम समंतभद्र स्वामी ने अपने रत्नकरंडश्रावकाचार में लिखा है। इस वर्णन में आगत 'अद्यापि' शब्द से विदित होता है कि सोमदेव सूरि के समय पर दसवीं सदी में वह स्तूप विद्यमान था। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से मथुरा की सामग्री का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है और उससे जैनधर्म की प्राचीनता पर महान् प्रकाश पड़ता है।

रेवती रानी मथुरा की ही थी

अमूढ़दृष्टि अंग में प्रसिद्ध रानी रेवती मथुरा के नरेश महाराज वरुण की रानी थी। मथुरा के आसपास के टीलों में और भी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री छिपी हुई है। इससे मथुरा को जैन संस्कृति का महान् केन्द्र मानना पड़ता है, किन्तु जम्बूस्वामी की निर्वाण भूमि माने जाने का कोई भी आधार नहीं मिला। चौरासी मथुरा में जंबूस्वामी के चरणों की पूजा में कोई बाधा नहीं है, मुक्तिलाभ करने-कराने वाली आत्माओं के चरणों की स्थापना दूसरी जगह

भी हो सकती है। अतः चरणचिन्हों की स्थापना की जाती है, और की जानी चाहिए। श्वेतांबरों में चरणों की स्थापना करके पूजा करते हैं। शिखरजी का मुकदमा जब प्रीवि-कौंसिल में लंदन गया था, तब वहाँ चरण और चरणचिन्ह पूजा का भेद उपस्थित हुआ था।

महातपस्वा

चातुर्मास में आचार्य शान्तिसागर महाराज मथुरा में रहेंगे, इससे ऐसा लगा मानो कृष्णपुरी मथुरा में पुनः वीतरागशासन की प्रभावना का पुण्य-युग अवतीर्ण हो गया हो। दूर-दूर के हजारों लोगों ने आकर जीवित तीर्थ का दर्शन कर अपने को धन्य माना था। वहाँ आचार्य महाराज ने घोर तप करना प्रारम्भ कर दिया, सात-सात, आठ-आठ उपवासपूर्वक आहार लेना साधारण बात हो गई थी। देखने वाले जैन, अजैन सभी लोग चकित होते थे। जो मथुरा सेरों मिष्टान्न उड़ाने वाले बहुभोजी वर्ग के लिए विख्यात है, वहाँ आठ-आठ दिन तक अन्न कण भी न ले और जल के बिन्दु भी न ग्रहण किए आध्यात्मिक साधना में बड़ी सावधानी के साथ संलग्न आचार्यश्री को देख किसके अन्तःकरण पर प्रभाव नहीं पड़ेगा ? मुनि नेमिसागरजी ने वसन्तरुद्रोदर व्रत प्रारम्भ किया था। श्री नेमिसागर मुनि ने लघुसिंहनिःक्रीड़ित व्रत किया था। और भी संघ के साधु महान् तपश्चर्या में समुद्यत थे। लोगों को ऐसा लगता था कि हम इस प्रसिद्ध मथुरापुरी में पुराणप्रसिद्ध सप्तऋषियों का ही दर्शन कर रहे हैं। महान् तपश्चर्या, धर्मध्यान में संलग्नता, षटावश्यक पालनपटुता आदि बातें उक्त भावना को प्रबुद्ध करने में विशेष कारण थी। ऐसी प्रभावना, ऐसा उत्सव और तपस्वियों का समागम मथुरा के इतिहास में आदरपूर्वक स्मरण किया जाएगा। आगम में धर्म की प्रभावना के कारणों में तपश्चर्या को भी हेतु बताया है। ऐसे उग्र तपस्वियों के द्वारा बड़ी प्रभावना हुई।

दशलक्षण पर्व के पश्चात् आश्विन वदी तृतीया को मथुरा नगर में बड़े वैभव के साथ जिन भगवान् का रथ निकला था। जहाँ मथुरा में पहले से वर्षा न होने से सूखापन था वहाँ तपस्वियों के चरण पड़ते ही विपुल वर्षा द्वारा हरियाली लहलहाने लगी। साधारण जनता इसी प्रभाव से प्रभावित और आनन्दित थी। हजारों अजैन भाइयों ने भी रथोत्सव देखकर अपना जन्म सफल किया। विद्वेषी जन जब तक जिन बिम्ब का दर्शन नहीं करते हैं, तब तक तो उनकी विपरीत भावना जीवित रहती है, किन्तु जिनके नेत्र ध्यानपूर्वक जिन भगवान् का दर्शन कर लेते हैं, तो वे भगवान् की शान्त वैराग्ययुक्त मुद्रा को देखकर मन में पछताते हैं कि क्यों हमने विद्वेष करने का पाप किया। ऐसी स्थिति हजारों की है। अब तो सर्वसाधारण प्रेम से जैनमन्दिरों का दर्शन कर शान्ति प्राप्त करते हैं।

दिगम्बर, बाह्यसामग्रीविहीन, शस्त्रादि रहित तथा भयविमुक्त जैनमूर्ति में गीतोक्त स्थितप्रज्ञ महायोगी का स्वरूप परिलक्षित होता है। गीता (२,५६) का यह पद्य

मनन योग्य है :

दुःखेस्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृहः।
वीत-राग-भय-क्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

अर्थ : दुःखों में उद्वेगरहित, सुखों में इच्छारहित, वीतराग, वीतभय तथा वीतक्रोध मुनि स्थितप्रज्ञ कहा गया है।

एक बार एक प्रख्यात ब्राह्मण एडवोकेट हमसे कहते थे 'हमारे घर के पास जैन मंदिर था। बचपन में हमने सुन रखा था, 'हस्तिना पीड्यमानोपि न गच्छेत् जैनमन्दिरम्।' इससे हम जैन मन्दिर कभी नहीं गये। एक बार जैन मूर्ति का दर्शन अकस्मात् हो गया। देखते ही भ्रम दूर हुआ। मन में बड़ा प्रेम पैदा हो गया।' उक्त द्वेषमूलक किंवदन्ती का मूल यह प्रतीत होता है, कि जब समर्थ जैनश्रमणों और लोकसेवकों के प्रभाव से सर्वत्र जैनधर्म की वैजयंती फहराने लगी, तब ग्रामीण भाइयों को उस प्रभाव से बचाने के लिए इस कहावत का जाल रचा गया, ताकि लोग जैनमन्दिर में जाने से डरें। डरा देने से बालक के समान जनता की स्थिति हो जाती है। आज भी जहाँ कहीं भ्रमभाव विद्यमान है उसका कारण प्रत्यक्ष-परिचय (direct knowledge) का अभाव है। शिवपिंडी की पूजा करने वालों का दिगम्बरत्व के प्रति विरोध विचित्र बात है।

जैन दिगम्बर मुनि तथा मूर्ति में काम-क्रोध, तथा लोभ भाव का अभाव प्रत्यक्ष गोचर होता है। गीता (१६, २०)में काम, क्रोध तथा लोभ को नरक का द्वार इन शब्दों में कहा है :

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् जयं जयेत् ॥

काम, क्रोध तथा लोभ ये तीन नरक के द्‌वार आत्मा का नाश करने वाले हैं, इससे इन तीनों का त्याग करना चाहिए। इनका त्यागी दैवीसम्पत्तिसम्पन्न हो मोक्ष पाता है, कारण दैवीसंपत्ति को मोक्ष का कारण कहा है :

दैवी संपत विमोक्षाय ॥ गीता १६,५ ॥

आचार्य शांतिसागर महाराज की तपश्चर्या के प्रभाव से निर्विघ्न रथोत्सव निकला और विघ्नप्रिय लोगों ने अपने मन को बदल कर प्रेम से जिनमुद्रा के दर्शन द्वारा नेत्रों को सफल किया।

जैनमहासभा की जन्मभूमि

इस युग के जैनसमाज के प्रमुख नेता राजा लक्ष्मणदास सी. आई. ई. मथुरावालों का नाम भारत भर में गौरव के साथ लिया जाता रहा है। इनके ही पूर्वजों ने चौरासी का विशाल जिनमंदिर बनवाया था, जो एक जबरदस्त किले के समान दिखता है। इनके ही

नेतृत्व में समाजहितार्थ दिगबर जैन महासभा का जन्म मथुरा में हुआ था, जिसकी स्वर्णजयंती सन् १९५१ में वैभव के साथ इन्दौर में रावराजा सर सेठहुकुमचन्दजी के समक्ष मनाई गयी थी तथा जिसका उद्घाटन मध्यभारत के राजप्रमुख श्रीमंत महाराज जयासीराव शिन्दे, ग्वालियर ने किया था।

इस महासभा में पहले सभी दिगम्बर जैन सम्मिलित हुआ करते थे। पहले इस महासभा का समाज में इतना अधिक गौरव था कि इसके उत्सव में लोग बड़ी भक्ति और श्रद्धा से भाग लेते थे। एक-एक वार्षिक उत्सव पंचकल्याणक का आनन्द प्रदान करता था।

महासभा की स्वर्णजयंती के समय पर मैंने आचार्य शान्तिसागर महाराज से महासभा के विषय में उनके विचार पूछे, तब महाराज ने कहा था, 'दि. जैनधर्म संरक्षिणी महासभा को हमारा आशीर्वाद है, क्योंकि वह धर्मसंकट में नहीं डिगी है। आगे भी यह धर्म से नहीं डिगेगी ऐसी हमें आशा है।'

इस महासभा ने आगम के ज्ञाताओं को उत्पन्न करने के उद्देश्य से एक महाविद्यालय मथुरा में स्थापित किया था। योग्य व्यवस्था न होने से वह लगभग बन्द हो गया है। इस संस्था के द्वारा जो समाज की सेवा हुई उसका विशेष श्रेय रावराजा सर सेठ हुकुचन्दजी के महान् प्रभाव तथा हार्दिक सहयोग को था।

रावराजा सर सेठ हुकुमचंदजी और उनका ब्रह्मचर्य प्रेम

उनके विषय में आचार्य महाराज ने ये शब्द कहे थे, "हमारी अस्सी वर्ष की उमर हो गई, हिन्दुस्थान के जैनसमाज में हुकुमचन्द सरीखा वजनदार आदमी देखने में नहीं आया। राज-रजवाड़ों में हुकुमचंद सेठ के वचनों की मान्यता रही है। उसके निमित्त से जैनों का संकट बहुत बार टला है। उनको हमारा आशीर्वाद है, वैसे तो जिन भगवान् की आज्ञा से चलने वाले सभी जीवों को हमारा आशीर्वाद है।'

हुकुमचन्दजी के विषय में एक समय आचार्य महाराज ने कहा था, "एक बार संघपति गेंदनमल और दाड़िमचन्द ने हमारे पास से जीवन भर के लिए ब्रह्मचर्य व्रत लिया, तब हुकुमचन्द सेठ ने इसकी बहुत प्रशंसा की। उस समय हमने हुकुमचन्द सेठ से कहा 'तुमको भी ब्रह्मचर्य व्रत लेना चाहिये।' हुकुमचन्द ने तुरन्त ब्रह्मचर्य व्रत लिया और कहा था, 'महाराज! आगामी भव में भी ब्रह्मचर्य व्रत मिले। लौकान्तिक का पद पाकर पुनः मनुष्य भव में भी ब्रह्मचर्य का पालन करूँ।' हुकुमचन्द का ब्रह्मचर्यव्रत पर इतना प्रेम है।" दिगम्बर जैन महासभा को अपनी महत्वपूर्ण सेवाओं द्वारा अलंकृत करने वाले और तन, मन, धन से काम करने वाले धर्मवीर सरसेठ भागचन्द्रजी सोनी अजमेर वाले हैं, जिनकी वंशपरम्परा से वीतराग धर्म की श्रद्धापूर्वक सेवा का उज्ज्वल कार्य होता आया है। जिनधर्म की सेवा तथा आचार्य शांतिसागर महाराज सदृश गुरु की भक्ति

करते समय इनको इस बात का अहंकार तनिक भी नहीं सताता कि मैं कोट्याधीश हूँ। महासभा को विशेष गौरव मुख्यरूप से इन दोनों महानुभावों के कारण मिला।

समाज को उन्नत करने तथा जिनधर्म की प्रभावना का कितना बड़ा क्षेत्र पड़ा है। लाखों लोग सराक, जैन कलार आदि के रूप में हैं जो अपनी धर्मक्रियाओं को भूल चुके हैं, उनको धर्म में स्थिर करने का उपाय जरूरी है।

मथुरा का चातुर्मास मधुरस्मृति से परिपूर्ण था। सप्तर्षियों ने समाज को सामयिक धर्मोपदेश देकर सुमार्ग पर लगाया था। इस प्रकार यह चातुर्मास पूर्ण हो गया।

विहार

अपार जनसमुदाय ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से संघ के विहार के वियोग की व्यथा को सहन किया। जहाँ महाराज का एक दिन को वास हो जाता है, वहाँ के लोग उनके चरणों को छोड़ना नहीं चाहते, तब फिर निरन्तर चार माह पर्यंत उनके चरणों का आश्रय पाने वालों को वियोग की व्यथा होना स्वाभाविक ही है।

कोसी और कोसी से खुरजा

जब संघ कोसीकलाँ पहुँचा, तब वहाँ बड़ा हार्दिक स्वागत किया गया। वहाँ दि. जैन महासभा का अधिवेशन हुआ। खूब प्रभावना हुई। आचार्यश्री के उपदेशों से बहुत धर्म लाभ हुआ, बहुत लोगों ने व्रत लिए थे।

अब संघ प्रस्थान करके समाज में प्रख्यात नगर खुरजा आ गया। वहाँ पहले सेठ पंडित मेवारामजी प्रसिद्ध धर्मात्मा और लोकसेवक तथा अन्य श्रीमान् धीमान् सत्पुरुष हो गये हैं। उस परिवार के सेठ शांतिलालजी रानीवालों के सुन्दर उद्यान में संघ ठहरा।

पौष वदी द्वितीया को रथोत्सव भी हुआ। पहले खुरजा में जब रथोत्सव हुआ था, तब अन्य धर्मियों ने उपद्रव किया था। उस समय जैनियों ने तन, मन, धन से रथ निकालने का प्रयत्न किया था। तब बड़े वैभव के साथ रथोत्सव निकला था। खुरजा के रथ की लावनी बनी हुई है। वह ऐसी ही वीररस पूर्ण है जैसे मराठों के पवाड़े होते हैं। यहाँ के मन्दिर विशाल हैं तथा प्रतिमाएँ मनोज्ञ हैं।

भारत की राजधानी देहली में प्रवेश

खुरजा के अपने अमृत-उपदेश से उपकृत करते हुए संघ ने प्रस्थान कर सिकन्दराबाद में निवास किया। इसके अनन्तर गाजियाबाद तथा शहादरा होते हुए पौष सुदी दशमी को संघ ने भारत की राजधानी दिल्ली में प्रवेश किया। दिल्ली में जैनियों की संख्या उस समय पंद्रह-बीस हजार के करीब थी। कहते हैं, अब पचास हजार से भी अधिक संख्या हो गई है। वहाँ धार्मिक प्रकृति के लोग बहुत हैं, इसलिए संघ के आने पर दिल्ली समाज

के रोम-रोम में आनंद व्यक्त होता था। राजधानी के योग्य गौरवपूर्ण जुलूस द्वारा आचार्य शांतिसागर महाराज के प्रति भक्ति व्यक्त की गई। बड़े-बड़े प्रतिष्ठित तथा विचारशील नागरिक तथा उच्च अधिकारी लोग आचार्यश्री के दर्शनार्थ आते थे, अनेक महत्वपूर्ण प्रश्न करते थे तथा समाधान प्राप्त कर हर्षित होते थे।

एक अंग्रेज का शंका समाधान

एक दिन एक विचारवान् भद्र स्वभाव वाला अंग्रेज आया।

उसने पूछा था, "महाराज़ ! आपने संसार क्यों छोड़ा, क्या संसार में रहकर आप शांति प्राप्त नहीं कर सकते थे ?"

महाराज ने समझाया, "परिग्रह के द्वारा मन में चंचलता, राग, द्वेष आदि विकार होते हैं। पवन के बहते रहने से दीपशिखा कंपनरहित नहीं हो सकती है। पवन के आघात से समुद्र में लहरों की परम्परा उठती जाती है। पवन के शान्त होते ही दीपक की लौ स्थिर हो जाती है, समुद्र प्रशान्त हो जाता है, इसी प्रकार राग-द्वेष के कारण रूप, धन, वैभव, कुटुम्ब आदि को छोड़ देने पर मन में चंचलता नहीं रहती है। मन के शान्त रहने पर आत्मा भी शान्त हो जाती है। निर्मल जीवन द्वारा मानसिक शान्ति (mental peace) आती है।

विषय भोग की आसक्ति के द्वारा इस जीव की मनोवृत्ति मलिन होती है। मलिन मन पाप का संचय करता हुआ दुर्गति में जाता है। परिग्रह को रखते हुए पूर्णतया अहिंसा-धर्म का पालन नहीं हो सकता है, अतएव आत्मा की साधना निर्विघ्न रूप से करने के लिए विषयभोगों का त्याग आवश्यक है। विषय भोगों से शान्ति भी तो नहीं होती है। आज तक इतना खाया, पिया, सुख भोगा, फिर भी क्या तृष्णा शान्त हुई ? विषयों की लालसा का रोग कम हुआ ? वह तो बढ़ता ही जाता है।

इससे भोग के बदले त्याग का मार्ग अंगीकार करना कल्याणकारी है। संसार का जाल ऐसा है कि उसमें जाने वाला मोहवश कैदी बन जाता है। वह फिर आत्मा का चिंतवन नहीं कर पाता है।

दूसरी बात यह भी है कि जब जीव मरता है, तब सब पदार्थ यहीं रह जाते हैं, साथ में अपने कर्म के सिवाय कोई भी चीज नहीं जाती है, इससे बाह्य पदार्थों में मग्न रहना, उनसे मोह करना अविचारित कार्य है।"

इस विषय में आचार्य की मार्मिक, अनुभवपूर्ण बातें सुनकर हर्षित हो वह अंग्रेज नतमस्तक हो गया। बड़े-बड़े जज, बैरिस्टर, प्रोफेसर आदि भी आते थे। एक दिन एक डिस्ट्रिक्ट जज महोदय आये। उन्होंने मुनि चंद्रसागर महाराज से बहुत देर तक सूक्ष्म चर्चा की। अपने सन्देहों का निवारण कर तथा गुरुदेव को प्रणाम कर वे चले गये। ज्ञान तथा चारित्रसम्पन्न संघ के कारण अपूर्व प्रभावना हो रही थी।

उस समय सन् १९३० में लाउडस्पीकर नवीन ही वस्तु थी। एक दिन भाषण के समय उसका भी उपयोग किया गया था। आज उसका महत्व नहीं ज्ञात होता, किन्तु जब वह आरम्भ में सबके समक्ष आया था, तब लोग चकित थे, विज्ञान के इस अद्भुत आविष्कार पर, जिसने मन्दध्वनि वालों की बातों को भी सबके पास तक पहुँचाने में सहायता की। इसके पहले बड़ी सभाओं में वही वक्ता सफल हो पाता था, जिसकी आवाज जोरदार होती थी। अब इस यंत्र ने आवाजकृत विशेषता के महत्व को दूर कर दिया। इसके अधिक उपयोग हो जाने से यह भयंकर त्रासदायक भी बन गया है।

मुनि संघ का जनता पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। बहुत-से मुसलमानों आदि ने मांस तथा मदिरा का त्याग किया था। चमार, भंगी आदि हरिजनों का महाराज ने सच्चा कल्याण किया था। बहुत से गरीब साधु महाराज के दर्शन को आते थे। महाराज प्रेममय बोली में समझाते थे, "भाई, जीवों की दया पालने से जीव सुखी होता है। दूसरे जीवों को मारकर खाना बड़ा पाप है। इससे ही जीव दुःखी रहता है।" महाराज के शब्दों का बड़ा प्रभाव होता था। तपश्चर्या से वाणी का प्रभाव बहुत अधिक हो जाता है। सैकड़ों-हजारों हरिजनों आदि लोगों ने शराब तथा मांस-सेवन का त्याग किया था तथा और भी व्रत लोग लेते थे। अग्नि में संतप्त किया गया स्वर्ण विशेष दीप्तिमान होता है, उसी प्रकार तपोग्नि द्वारा जीवन वाणी, विचार, मलिनता विमुक्त हो तेजोमय तथा दिव्यतापूर्ण होते हैं।

आचार्यश्री की भक्ति इतनी बढ़ रही थी कि लगभग सत्तर अस्सी चौके लगा करते थे। बिना शूद्र जल का आजीवन त्याग किए कोई आहार नहीं दे सकता था। आज की परिस्थिति में छोटे-से नियम का निर्वाह करना सरल काम नहीं है, फिर वह नियम देखने में छोटा है, किन्तु उसका पालन करना बड़े नगर में पर्याप्त मनोबल तथा कष्टसहिष्णुता के बिना नहीं बन सकता है। महाराज को आहार देने के अपूर्व सौभाग्य के आगे नियम की कठिनता कुछ भी नहीं दिखती थी। आज नियम लेने वाले कहते हैं कि इस छोटी-सी प्रतिज्ञा ने हमारा अशुद्ध भोजन से पिण्ड छुड़ा दिया अतः यह आत्मकल्याण के साथ-साथ शरीर की नीरोगता का भी कारण बन गई। इसने स्वावलंबी जीवन को भी प्रेरणा दी। राजनैतिक क्षेत्र में गांधीजी के कथनानुसार चरखा कातने से जैसे देशसेवा के क्षेत्र में झुकाव होता था, वैसे ही जल के नियम से यहाँ भी आध्यात्मिकता की ओर प्रगति होती थी।

देहली तथा पंजाब प्रान्त में यवनों के सम्पर्कवश अत्यधिक शिथिलाचार पाया जाता है। आचार्य संघ के प्रसाद से उसमें बहुत कुछ सुधार हुआ था।

वसन्तपंचमी को आचार्य महाराज का केशलोंच देखने को अपार जनसमुदाय इकट्ठा हुआ था। उस समय महान् संयमी के केशों की कीमत एक धर्मात्मा जौहरी ने ११०१) की नम्र भेंट देकर की उन्होंने उन केशों को बड़े समारोहपूर्वक यमुना नदी में क्षेपे।

केशलोंच के दूसरे दिन विहार कर संघ ने शहादरा, खेकड़ा आदि स्थानों में हजारों जीवों का कल्याण करते हुए बड़ौत में धर्मप्रभावना की। वाणीभूषण पं. तुलसीरामजी काव्यतीर्थ, अध्यापक, जैन हाईस्कूल ने आचार्यश्री की स्तुति में एक सुन्दर कविता बना कर संस्कृत में पढ़ी थी। आज बड़ौत का हाईस्कूल विशाल जैन डिग्री कॉलेज के रूप में वृद्धिगत हुआ है।

फाल्गुन सुदी तीज को संघ जुहोड़ी आया, पश्चात् मुल्हेड़ा पहुँचा। यहाँ बड़े आनन्द से रथोत्सव हुआ था। हजारों भाई बाहर से आये थे। आचार्यश्री के चरणप्रसाद से समाज में एक्य की वृद्धि हुई।

मेरठ

सरधना होते हुए संघ मेरठ आया। यहाँ भी अच्छी धर्मप्रभावना हुई। समाज ने सुन्दर मण्डप बनाया था, जिसमें विराजमान होकर गुरुओं का दिव्य उपदेश जनता ने सुना था।

चैत्र सुदी नवमी को संघ हस्तिनापुर आ गया।

हस्तिनापुर क्षेत्र(दान तीर्थ भूमि)

यह स्थान जैनसंस्कृति के प्राचीनतम स्थलों में है। आदि तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव छह मास के उपवास के उपरांत विविध स्थानों में विहार करते हुए वैसाख सुदी तृतीया को यहाँ आए थे। उस समय जनता में बड़ी हलचल उत्पन्न हो गई थी। कर्मभूमि के आरम्भ काल में किसी को यह पता नहीं था कि भगवान् मौनरूप से विहार क्यों कर रहे हैं। हस्तिनापुर के नागरिकों को प्रभु के आगमन का जब पता चला, तब लोग कहने लगे, 'भगवान् आदिनाथ प्रभु प्रतीत होता है, हमारे पालन हेतु यहाँ पधारे हैं। चलो, शीघ्र चलकर उन देवाधिदेव का दर्शन करें, तथा भक्ति-पूर्वक पूजा करें।'

कोई-कोई कहते थे कि श्रुति में सुनते हैं कि इस जगत् के पिता यह हैं। हमारे दैव से उनका, सनातन प्रभु का प्रत्यक्ष दर्शन हो गया। इनके दर्शन से नेत्र सफल होते हैं, इनकी चर्चा सुनने से कर्ण कृतार्थ होते हैं। इन प्रभु का स्मरण करने से अज्ञ प्राणी भी पुण्य अन्तःकरण बन जाता है।

इतने में विशाल जनसमुदाय, हस्तिनापुर के नरेश महाराज सोमप्रभ, महाराज श्रेयांस के राजप्रासाद के समक्ष इकट्ठा हो गया। तत्काल सिद्धार्थ नाम के द्वारपाल ने भगवान् का आगमन नरेश बन्धु को विदित किया। क्षणभर में दिगम्बर मुद्राधारी आदिप्रभु का दर्शन हुआ।

अक्षय तृतीया

भगवान् के रूप का दर्शन होते ही श्रेयांस महाराज को जातिस्मरण हो गया। अतः

पुरातन संस्कार के प्रभाव से दान देने की बुद्धि उत्पन्न हो गई। उनको स्मरण हो गया कि हमने चारण ऋद्धिधारी मुनियुगल को श्रीमती और वज्रजंघ के रूप में आहार दिया था।

इस पुण्य स्मृति की सहायता से श्रेयांस महाराज ने इक्षुरस की धारा के समर्पण द्वारा एक वर्ष के महोपवासी जिनेन्द्र आदिनाथ प्रभु के निमित्त से अपने भाग्य को कृतार्थ किया। इस अक्षयदान के कारण 'अक्षय तृतीया' पर्व परम मांगलिक अवसर माना गया। किसी भी मांगलिक कार्य करने में 'अक्षय तृतीया' को स्वतःसिद्ध पवित्र माना जाता है। इस दान के कारण चक्रवर्ती भरतेश्वर आंयोध्या से इसी हस्तिनागपुर में पधारे थे, और उन्होंने महाराज श्रेयांस की पूजा-स्तुति करते हुए कहा था, 'हे कुरुराज ! हे श्रेयाँस ! आज तुम भगवान् वृषभदेव के समान हमारे लिये पूजनीय हो, कारण श्रेयांस तुम दानतीर्थ के प्रवर्तक हो, तुम महान् पुण्यशाली हो।'[1]

भरतेश्वर ने श्रेयांस महाराज को 'महादानपति' कहा था। उनके शब्द थे- महादानपते ब्रूहि कथं ज्ञातमिदं त्वया (२०, १२६, महापुराण) । इस दान की अनुमोदना द्वारा अनेकों ने महान् पुण्यसंचय किया था-'दानानुमोदनात्पुण्यं परोपि बहवोऽभजन' (२०, १०७ महापुराण)। सत्कार्य की हृदय से सराहना करने वाला भी सातिशय पुण्य का बन्ध करता है।

यह हस्तिनापुर दान-तीर्थकर की भूमि होने से परम आदरणीय है। हरिवंश-पुराण में लिखा है कि जब धर्म तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव की पूजा हुई और वे तप की वृद्धि के हेतु वहाँ से चले गए, तब देवताओं ने दान-तीर्थंकर श्रेयांस की अभिषेकपूर्वक पूजा की थी।[2]

भगवान् शांति, कुंथु, अरहनाथ की जन्मभूमि

इस हस्तिनागपुर की भूमि पर श्रेष्ठ वैभव अपनी पवित्र लीला दिखा चुका है। अपनी पुण्यभावना के द्वारा वंदक व्यक्ति उस पुरातन पुराणगत इतिहास को स्मृतिपथ में उतार सकता है। इस भूमि को भगवान् शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरहनाथ इन तीन तीर्थकरों ने अपने गर्भ-जन्म तथा तपकल्याण के द्वारा पवित्र किया था।

महाकवि बनारसीदास ने संवत् १६५७ में इस पुण्यस्थल पर पहुंच कर चक्रवती तीर्थंकर त्रय की पूजा की थी, उन्होंने लिखा है कि :

अहिछता हथिनापुर जात। चले बनारसि उठि परभात॥
मात और भारजा संग। रथ बैठे धरि भाउ अभंग॥ ५८० ॥

---

१. भगवानिव पूज्योसि कुरुराज त्वमद्य नः।
त्वं दान-तीर्थकृत् श्रेयान् त्वं महापुण्यभागसि॥ आदि पुराण, पर्व २०, श्लोक १२७॥

२. अभ्यर्चिते तपोवृद्धै धर्म-तीर्थंकरे गते।
दानतीर्थंकरं देवाः सभिषेकमपूजयन्॥ हरिवंश पुराण, पर्व ९, श्लोक १९६ ॥

पचहत्तरे पोह, सुभ घरी। अहिछत्ते की पूजा करी॥
मिलिए हथिनापुर तहाँ। शांति कुंथु अर पूजे वहाँ ॥ ५८१ ॥
शांति-कुंथु-अरनाथ को, कीनों एक कवित्त।
ताको पढ़ै बनारसी, भाव भगति सौ चित्त ॥ ५८२ ॥
श्री विससेन नरेस, सूर, नृपराव सुदंसन।
अचिरा सिरिया देवि, करहि जिस देव प्रसंसन॥
तसु नन्दन सारंग, छाग, नन्दावत लंछन।
चालिस, पैतिस, तीस, चाप काम काया छवि कंचन॥
सुखदासि बनारसिदास मनि, निरखत मन आनन्दई।
हथिनापुर, गजपुर, नागपुर, शांति, कुंथु, अर वंदई ॥ ५८३ ॥

शांतिनाथ भगवान की माता ऐरादेवी थीं, कुंथुनाथ स्वामी की जननी श्रीमती थी, अरजिन की माता मित्रा थीं।

मनरंगलाल ने अरजिन की पूजा की जयमाला में लिखा है -

जय मित्रा देवी के सुनंद, मुख शोभित तुम अकलंक चंद।

शांति, कुंथु तथा अर जिन चक्रवर्ती भी हुए हैं। ये तीनों कामदेव पद के धारक भी हैं।

रक्षाबन्धन पर्व का जन्मस्थान भी हस्तिनापुर

अक्षयतृतीया पर्व का सम्बन्ध जिस प्रकार हस्तिनागपुर से है, इसी प्रकार रक्षाबंधन पर्व भी इसी नगर से सम्बन्धित है। हस्तिनागपुर का शासन पद्मनरेश के हाथ में था। उनके छोटे भाई महामुनि विष्णुकुमार थे। यहाँ अकंपनाचार्यादि सात सौ मुनियों के संघ ने चातुर्मास किया था। वहाँ ही नरमेध यज्ञ के नाम से मुनियों के विनाश का पाखण्ड रचने वाले मंत्री बलि ने सात दिन का शासन प्राप्त कर रखा था,[1] किन्तु विष्णुकुमार मुनिराज के पुरुषार्थ से श्रावणी पूर्णिमा को वह धर्मसंकट दूर हुआ था। बलि को अपने पापकर्म के कारण निन्दा प्राप्त हुई थी और वह देश के बाहर निकाला गया था। इस दृष्टि से जैसे यह स्थल दान-तीर्थंकर, धर्म तीर्थंकर की मूर्ति है, उसी प्रकार वात्सल्य भाव के उज्ज्वल आदर्श विष्णुकुमार की भी जन्मभूमि रहा है।

पुराणों के परिशीलन से भव्यजीवों को ऐसी विपुल सामग्री मिलती है, जो इस भूमि के जैनवैभव के संबंध में बतलाती है। भारतवर्ष में सभी लोग इसे महाभारत के महासमर की भूमि के रूप में जानते हैं। महाभारत महाकाव्य का प्रमेय इसी भूमि ने प्रदान किया है।

---

१. बलि ने वचनबद्ध होने पर पद्मनरेश से ७ दिन का राज्य माँगा था- दीयतां मेऽत्रराज्यं सप्तदिनावधि (२०, २१ हरिवंश पुराण)

अक्षयतृतीया पुण्यपर्व संघ ने यहाँ ही व्यतीत किया। उस दिन जिस घर को आचार्य महाराज ने आहार-ग्रहण द्वारा पवित्र किया था, वह महाराज श्रेयांस के अक्षयदान की स्मृति कराता था। समाज भी उसी भावना से अपने को कृतार्थ मानता था। यहाँ संघ ने सवा माह निवास किया था। उतने समय पर्यन्त आसपास के लोगों का आना-जाना लगा रहा। उससे वहाँ मेलासदृश लगता रहा।

यहाँ से स्वपरोपकार करते हुए आचार्य महाराज ने बैसाख सुदी चौदस को विहार किया। खतौली होते हुए ज्येष्ठ सुदी नवमी को संघ मुजफ्फरपुर आया। यहाँ अच्छी धर्मप्रभावना हुई।

दिल्ली चातुर्मास

इस प्रकार अनेक स्थानों के भव्य जीवों का कल्याण करते हुए दिल्ली समाज के सौभाग्य से पुनः संघ वहाँ आ गया। संघ ने राजधानी में ही चातुर्मास करने का निश्चय किया। संघ का निवास दरियागंज में हुआ था। पहले गुरुदेव के वियोग से जिन लोगों को संताप पहुँचा था, उनके आनन्द का पारावार न रहा जब उनको यह ज्ञात हुआ कि अब दिल्ली का भाग्य पुनः जग गया, जहाँ ऐसे महान् मुनिराज का चार माह तक धर्मोपदेश होगा।

वहाँ श्रावण वदी चौदस को आचार्यश्री का केशलोंच हुआ। खूब प्रभावना हुई। हजारों जैन-अजैनों ने उस तपश्चर्या को देखकर अपने जन्म को सफल समझा। बहुत लोग तो प्रभु से यह प्रार्थना करते थे कि कभी हमारी आत्मा भी इस महान् तपस्या करने के योग्य बन जावे। महापुराण में श्रावकों के संस्कारों का वर्णन करते हुए चौलकर्म में यह मंत्र आया है 'निर्ग्रन्थ मुण्डभागी भव।' इसका भाव यह है, हे शिशु, अभी तो तेरे केशों को नाई द्वारा दूर कराया है, किन्तु आगामी तू निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण करते हुए केशों के लोच द्वारा मुंडित मस्तक वाला बने ऐसी आकांक्षा है। यहाँ तो केशलोंच से संस्कृत आचार्यश्री का मस्तक उस मंत्र को वर्तमान में चारितार्थ करता था।

लोगों के मन में आशंका होती थी कि अंग्रेजों का राज्य है, कहीं राजधानी में मुनि विहार पर प्रतिबंध न आ जावे, किन्तु आचार्यश्री के सामने भय का नाम नहीं था। वे तो पूर्णतया निर्भय हैं। मृत्यु से भी सदा जूझने को तैयार रहते रहे हैं। उनको किस बात का डर होगा। हाँ ! जिनेन्द्राज्ञा के उल्लंघन से वे सदा डरते रहे हैं। वे यही ध्यान रखते थे कि कहीं कदाचित् जिनेन्द्र भगवान् के आदेश का भंग हमसे न हो जावे। वे शास्त्रोक्त जीवन व्यतीत करते थे।

समस्त देहली में दिगम्बर मुनियों का स्वतंत्र विहार

मुनि संघ दरियागंज में स्थित था, किन्तु संघ के साधु आहार के लिए दिल्ली शहर के

मुख्य-मुख्य राजपथों से आया-जाया करते थे। कहीं भी कोई रोक-टोक नहीं हुई। यह उनके तप का महान् तेज ही था, जो इस जमाने में सात दिगम्बर मुनियों का संघ निर्विघ्न रीति से भारत की राजधानी में भ्रमण करता रहा। बड़े-बड़े राज्याधिकारी, न्यायाधीश आदि महाराज के दर्शन करके अपने को धन्य मानते थे। दिगम्बर मुनियों का विहार न होने से कई लोगों को दिगम्बरत्व यथार्थ में 'अंधे की टेढ़ी खीर' जैसी समस्या बन जाया करता है, किन्तु प्रत्यक्ष परिचय में आने वाले लोगों को वे परमाराध्य, सर्वदा, वन्दनीय और मुक्ति का अनन्य उपाय प्रतीत होते हैं।

आश्विन मास में आचार्य महाराज ने वैदवाड़ा में आकर निवास किया था। आज वहाँ आचार्यश्री की स्मृति में श्री शांतिसागर दि. जैन कन्या शाला चल रही है। कुछ समय तक संघ पहाड़ीधीरज नाम के मुहल्ले में रहा और आसपास सर्वत्र विहार करता रहा। कुछ काल पर्यन्त संघ ने धर्मपुरा में निवास किया था। आश्विन सुदी अष्टमी को वैदवाड़ा में आचार्य महाराज का केशलोंच हुआ था। वहाँ आचार्यश्री के द्वारा सभी लोगों को महान् शांति तथा आनंद प्राप्त हुआ था।

स्मारक स्तंभ

संघ के देहली चातुर्मास का स्मारक एक लघु स्तंभ लाल किले के सामने वाले लालमंदिर के बहिर्मार्ग में विद्यमान है, उसमें संघस्थ साधुओं का जीवन-परिचय संक्षेप में दिया गया है। इस सत्कार्य का अनुकरण उन स्थानों पर उपयोगी है जहाँ आचार्यश्री का विशेष कालपर्यन्त निवास रहा हो।

अपूर्व धर्मप्रभावना

आचार्यश्री के देहली प्रान्त में विहार करने से जनता में अपूर्व धार्मिक जागरण हुआ। लोगों ने महाराज के श्रेष्ठ व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त किया। उन्होंने अनुभव किया कि गुरुदेव का जीवन लोकोत्तम है। वह इतना उज्ज्वल है कि उनके समकक्ष मूर्ति का विश्वभर में दर्शन नहीं होता। जगत् में साधुत्व को स्वीकार करते हुए भी परिग्रह पिशाची से किसका पिंड छूटता है ? कुछ लोग परिग्रह धारण करते हुए अपने बुद्धि-कौशल से अपने को अपरिग्रही कहते हैं। वे कहते हैं, हमारी आसक्ति इन वस्तुओं में नहीं है। यह स्पष्ट आत्मवंचना है। बाह्य वस्तुओं के प्रति ममता नहीं है तो फिर उनका संग्रह, संरक्षण, उपभोग आदि क्यों करते हैं ? इस प्रश्न का प्रामाणिक तथा मनोवैज्ञानिक समाधान उनके पास नहीं है। ऐसी अस्वच्छ वृत्ति से न आत्मा का सच्चा हित होता है और न निर्विकल्प जीवन का स्वाद ही आता है। आज के दुःखी विश्व को अपनी समस्याओं को सुलझाने का प्रकाश आचार्यश्री के समान इन श्रमणों के जीवन से प्राप्त होता है।

धर्म पुण्यधारा

आचार्य महाराज के द्वारा अत्यधिक संयम, व्रत, नियम का प्रचार हुआ। लोग श्रावक के कर्त्तव्यपालन में कटिबद्ध हो गए। करनाल, आदि बहुत स्थानों में विद्वेषभाव दूर होकर वात्सल्य की मधुर धारा बहने लगी। इस प्रकार शिथिलाचार के स्वच्छंद प्रचार की भूमि में आचार्य महाराज ने धर्म की पुण्यधारा प्रवाहित करने को लोकोत्तर कार्य किया।

देहली प्रांत अत्यधिक ठंडा है। उष्ण काल में भी बड़ा भयंकर रहता है। दोनों ऋतुओं की भीषणता को साम्यभाव से सहन करते हुए इन मुनियों ने यह प्रमाणित कर दिया था कि हीन संहनन में भी सत्संकल्प, आत्मविश्वास और जिनेन्द्र-भक्ति के अवलंबन से ऐसी तपस्या हो सकती है, जो चतुर्थकालीन मुनियों की तपःसाधना का स्मरण करा देवे।

दिल्ली के विशाल, बहुमूल्य, कलापूर्ण अनेक जिनालय बड़े मनोज्ञ हैं। वे जैनियों की उज्ज्वल जिनभक्ति तथा समुन्नत स्थिति का परिचय कराते हैं।

धर्मपुरा के मंदिर में श्री जी के सिंहासन की कारीगरी अपूर्व है। ताजमहल की कला से भी सूक्ष्म और सुन्दर कला का उसमें दिग्दर्शन कराया गया है। नंदीश्वरद्वीप की रचना वाला मंदिर बड़ा भव्य मालूम पड़ता है। लालकिले के ऐतिहासिक तथा महत्त्वपूर्ण स्थान के सामने विद्यमान लालमंदिर जैन गौरव का द्योतक है। मुगल काल में भी वह मंदिर किले के सामने होते हुए भी कहते हैं कि शासन देवता के प्रभाववश अक्षुण्ण रहा आया है। वहाँ पद्मावती देवी की बड़ी महिमापूर्ण मूर्ति है। हजारों लोग दर्शनार्थ आया करते हैं। अनेक महत्वपूर्ण संस्थाएं भी दिल्ली में हैं। इस वैभव के साथ आचार्य संघ के आवास होने से देहली में सोने में सुगंध की कहावत चरितार्थ हुई थी। धर्म-ध्यान में सानंद समय बीतते न मालूम पड़ा और चातुर्मास पूर्ण हो गया। अरबी में एक कहावत है 'पानी एक स्थान पर रहने से बदबूदार हो जाता है। दूज का चंद्र यात्रा में रहने से पूर्ण चंद्र बन जाता है।' यदि साधुलोग विहार न करें, तो अन्य स्थान के जीवों का किस प्रकार हित होगा ?

देहली से विहार

अतः वीतराग तथा निस्पृह साधुओं ने देहली का ममत्व न करके वहाँ से प्रस्थान कर दिया और अगहन सुदी तृतीया को गुड़गांव पहुंच कर जनता को कृतार्थ किया। यहाँ महाराज का केशलोंच हुआ था। लगभग दो हजार प्रतिष्ठित नागरिकों ने जैन मुनि की तपश्चर्या देखकर धर्म की महत्ता को समझा। इस ओर कभी ऐसे महापुरुषों का पदार्पण नहीं हुआ था। अतः महाराज के विहार से इस तरफ अद्भुत जागृति हुई। अंधेरी दुनिया में आध्यात्मिक ज्योति जगी।

क्या मुनि को केशलोंच में कष्ट व शीतादि का अनुभव होता है ?

सन् १९४३ के सितम्बर के अन्तिम सप्ताह में आचार्य महाराज शेडवाल में विराजमान थे। मैं वहाँ उनके चरणों में दर्शनार्थ पहुंचा था। वहाँ मुनिराज धर्मसागरजी का केशलोंच हो रहा था।

उस समय आचार्य महाराज ने मुझे पास में बुलाकर कहा था, " देखो ! यह केशलोंच की क्रिया बहुत कठिन होती है। इसकी कठिनता भी तब तक ही अनुभव में आती है, जब तक शरीर में एकत्वबुद्धि रहती है।"

मैंने पूछा, " महाराज ! भेदबुद्धि होने से कष्ट कैसे दूर रहेगा ?"

महाराज ने कहा, " चूल्हे में लकड़ी लगाने से तुम्हारा शरीर जलता है क्या ?"

मैंने कहा, " नहीं जलता है।"

महाराज, " इसी प्रकार शरीर को पीड़ा होने पर आत्मा का क्या बिगड़ता है ?"

महाराज ने एक बात बताई थी कि एक क्षुल्लक ने ऐलक व्रत धारण किया था, किन्तु केशलोंच की कठिनता सह्य न होने के कारण ऐलक पद को छोड़कर पुनः क्षुल्लक पद को धारण किया था।

क्या मुनि को शीतादि का अनुभव होता है ?

एक बार भयंकर शीत पड़ रही थी व चित्त को कँपा देने वाली हवा चल रही थी, तब मैंने पूछा था, "महाराज ! शीत ऋतु में, ग्रीष्म ऋतु, दिगम्बर साधु को वेदना होती है या नहीं ? क्या ठंड या गर्मी का अनुभव नहीं होता है ?"

महाराज ने कहा, " शीत का अनुभव होता है, उष्णता का अनुभव होता है, किन्तु साधु दुःखी नहीं होता है। शांत भाव से वह कष्ट सहन करता है।"

गुड़गाँव से विहार करता हुआ संघ फर्रूखनगर पहुँचा। वहाँ संघ पन्द्रह दिन ठहरा। अपूर्व प्रभावना हुई। श्रीजी का विहार कराया गया था। पौष सुदी चौथ को संघ रिवाड़ी आया, वहाँ १८ दिन तक संघ अलवर राज्य में रहा।

अलवर

पश्चात् विहार करते हुए आचार्य संघ अलवर शहर में आया। राज्य की ओर से अच्छी व्यवस्थां की गई थी। यहाँ बहुत धर्म प्रभावना हुई। उच्च राज-कर्मचारी, श्रीमान्-धीमान् महाराज के पास आकर चर्चा करते थे और शंका समाधान से सन्तुष्ट होकर जाते थे। फागुन सुदी दशमी को अलवर में भगवान् को रथ में विराजमान कर नगर विहार हुआ था।

महत्वपूर्ण शंका समाधान

अलवर में एक ब्राह्मण प्रोफेसर महाशय आचार्यश्री के पास भक्तिपूर्वक आए और

पूछने लगे कि-" महाराज ! दूध क्यों सेवन किया जाता है ? दुग्धपान करना मूत्रपान के समान है ?"

महाराज ने कहा, " गाय जो घास खाती है, वह सात धातु-उपधातु रूप बनता है। पेट में दूध का कोठा तथा मल-मूत्र का कोठा जुदा-जुदा है। दूध में रक्त, मांस का भी संबंध नहीं है। इससे दुग्धपान करने में मल-मूत्र का संबंध नहीं है।"

इसके पश्चात् महाराज ने पूछा, " यह बताओ कि तालाब, नदी आदि में मगर, मछली आदि जलचर जीव रहते हैं या नहीं ?"

प्रोफेसर, " हाँ ! महाराज वे रहते हैं, वह तो उनका घर ही है।"

महाराज, " अब विचारो जिस जल में मछली आदि, जीवों का मल-मूत्र मिश्रित रहता है, उसे आप पवित्र मानते हुए पीते हो, और जिसका कोठा अलग रहता है, उस दूध को अपवित्र कहते हो, यह न्यायोचित बात नहीं है।"

इसके पश्चात् महाराज ने कहा, " हम लोग तो पानी को छानते हैं, किन्तु जो बिना छना पानी पीते हैं, उनके पीने में मलादि का उपयोग हो जाता है।"

यह सुनते ही वे विद्वान् चुप हो गये। संदेह का शल्य निकल जाने से मन को बड़ा संतोष होता है। पुनः महाराज ने यह भी कहा, " जो यह सोचते हैं कि बच्चे के लिए ही दूध होता है, वह भी दोषयुक्त कथन है। बच्चे की आवश्यकता से अधिक दूध होता है।" आचार्यश्री की इस अनुभव उक्ति से उन पठित पुरुषों की भ्रांति दूर हो जाती है, जिन्होंने दूध ग्रहण को सर्वथा क्रूरतापूर्ण समझ रखा है।

जापानी, कोरिया, इण्डोचीनवासी चीनी लोग दूध लेना पंसद नहीं करते हैं। वे समझ बैठे हैं कि इससे गोवत्स के प्रति निर्दयता का प्रदर्शन होता है। आश्चर्य है, कि जो चीनी, जापानी आदि लोग अहिंसावादी बुद्धदेव की चर्चा करते हुए छिपकली, साँप, बिच्छू सदृश भीषण जन्तुओं तक को अपनी उदर दरी में पहुंचा देते हैं, वे निर्दोष दूध में भी हिंसा की कल्पना करते हैं।[1] यह बात ध्यान देने योग्य है कि जब बच्चे के मर जाने पर भी गाय, भैंस दूध देती हैं, तब बच्चे के लिए ही दूध देती है, यह कल्पना भ्रान्त सिद्ध होती है। महाराज ने कहा था, " भगवान् की वाणी के आगे मिथ्या विचारों का निराकरण हो जाता है। यदि दूध ग्राह्य न होता तो उसे भगवान् का अभिषेक के योग्य प्रायः सभी

1. "Milk even at the present day, is regarded as digusting and unfit for food in china, Korea, Japan, and Indochina..., Despite the fact that they were surrounded by milk- using Turkish and Mongol people, the Chinese looked down upon milk-users and maintained that is was cruel to deprive a calf of its mother's milk-"

J.L. Gillin and J.P. Gillin 'Cultural Sociology.' Page 215

प्रतिष्ठा ग्रंथों में क्यों बताया है ? अतएव आगम के अनुसार ही प्रवृत्ति करना चाहिए।"

आगम प्रमाण

आगम की प्रमाणिकता पर प्रकाश डालते हुए आचार्य महाराज ने कहा था, "जगत् में लोग सरकारी मुहर (stamp) को देखकर नोटों तथा अन्य कागजातों की प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं, भले ही वह लेख तीव्र रागी, द्वेषी व्यक्ति द्वारा तैयार किया गया हो, क्योंकि वह राजमुद्रा से अंकित है, तब फिर सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकर भगवान् की वाणी वीतराग आचार्यों द्वारा परंपरा से प्राप्त हुई तथा स्याद्वाद मुद्रा से अंकित होती हुई क्यों न मान्य और आराध्य होगी ?"

अतिशय क्षेत्र महावीरजी

अलवर राज्य में वीतराग-शासन की प्रभावना के उपरान्त विहार करता हुआ संघ अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी आ गया। यह है तो अतिशय क्षेत्र, किन्तु इसकी भक्ति उत्तरभारत के जैनियों द्वारा खूब होती है। निर्वाणस्थलों के प्रति जनसाधारण की भक्ति का स्रोत कुछ कम दिखता है, किन्तु महावीरजी क्षेत्र के प्रति अवर्णनीय आकर्षण और श्रद्धा देखी जाती है। लाखों अजैन भी महावीरजी की मूर्ति के दर्शन करते हैं।

मीना गूजर जाति के अजैनों में महावीरप्रभु की भक्ति जितनी है, उतनी अन्य के प्रति नहीं है। उनके दुःख में, सुख में, आराध्य महावीर भगवान् ही हैं। चैत्र सुदी के अंत में जो प्रतिवर्ष मेला भरता है, उसमें लाखों अजैन आकर महावीर प्रभु की भक्ति करते हैं तथा सफल मनोरथ हुआ करते हैं। हमने महावीरजी जाकर कई ग्रामीणों से पता चलाया तो ज्ञात हुआ कि भक्ति करने से उनकी कामना पूर्ण होती है। इस क्षेत्र की इसी शताब्दी से प्रसिद्धि प्रारंभ हुई है। इसका इतिहास भक्ति को जगाने वाला है।

इतिहास

महावीर स्वामी की प्रतिमा पद्मासन लगभग डेढ़ हाथ की मटीले वर्ण की चांदनपुर ग्राम में एक टीले के भीतर दबी थी। एक गाय जब उस टीले के वहाँ जावे, तब उसके स्तन से दूध वहाँ धीरे-धीरे टपक जाता था। अतः जब वह ग्वाले के घर आवे तब दूध नहीं देती थी।

इस कारण चिंतित हो ग्वाले ने पता चलाया, तो टीले पर दूध के अपने-आप झर जाने का अपूर्व दृश्य देखा। उसने धीरे-धीरे टीले को खोदा तो वहाँ महावीर भगवान् की मूर्ति का दर्शन हुआ।

प्रतिमाजी टीले के बाहर निकाली गई। उस ग्वाला ने प्रभु की भक्ति-भाव से पूजा की, गाँव वालों ने दर्शन किए। उनका दुःख दूर होने लगा। गाँव में सबके दिन सुधरने लगे, इससे भक्ति बढ़ चली। श्रावकों को जब पता चला कि जयपुर के पास पाटोंदा ग्राम में चार मील पर महावीर भगवान् की दिगंबर प्रतिमा प्राप्त हुई है जो कि बहुत चमत्कारपूर्ण

है, तब वहाँ लोग आये व दर्शन किए। दानियों के योग से महावीरजी का निर्माण हुआ। अब क्षेत्र निरंतर वर्धमान हो रहा है। इसे देखकर भगवान का नाम वर्धमान सार्थक है, यह सब के समझ में आ जाता है।

इस क्षेत्र की समृद्धि के विषय में यह प्रसिद्धि है कि एक बार जयपुर राज्य के मंत्री पर राजा का कोप हो गया था। मंत्री महोदय की भक्ति महावीर प्रभु पर थी। प्रभु की निरंतर भक्ति में तल्लीन रहने से मंत्री का संकट दूर हो गया। भक्तराज मंत्री ने विशाल जिन मंदिर बनवाया, तब से क्षेत्र की दिनदूनी रातचौगुनी उन्नति हो गई।

अब क्षेत्र में हजारों आदमियों के ठहरने योग्य धर्मशालाएं बन गई हैं। नल-बिजली की व्यवस्था हो गई है। नीरोगताप्रद जल व पवन है, बड़ी शांति मिलती है। इससे पंजाब, उत्तर-प्रदेश, मध्यप्रदेश, विन्धप्रदेश, मध्यभारत आदि के लाखों लोग दर्शन करते हैं और कामना पूर्ण होने पर कृतज्ञता के रूप में लक्ष्मी की वहाँ वर्षा करते हैं।

महावीरजी में ऐसे हजारों लोग आते हैं जो अपने नगर में कभी भी भगवान् का दर्शन नहीं करते हैं, किन्तु महावीरजी में तन्मय होकर बड़ा भक्तिभाव दिखाते हैं। बड़े-बड़े पात्रों में घीं भरकर आरती होती है। सोने-चाँदी के चंवर छत्रों को लोग खूब चढ़ाया करते हैं। प्रभु की पूजा में लिखा है :

इक दिन मंत्री को लगा दोष, धरि तोप कही नृप खाइ रोष।
तुमको जब ध्याया वहाँ वीर, गोला से झट बच गया वजीर॥
मंत्री नृप चाँदन गाँव आय, दरशन करि पूजा की बनाय।
करि तीन शिखर मंदिर बनाय, कंचन कलशा दीने धराय॥
यह हुक्म किये जयपुर नरेश, सालाना मेला हो हमेश।
अब जुड़न लगे बहु नरि उ नार, तिथि चैत्र सुदी पूनो मँझार॥
मीना गूजर आवें विचित्र, सब वरण जुड़े करि मन पवित्र।
बहु निरत करत गावैं सुहाय, कोई-कोई घृत दीपन रहो चढ़ाय॥
कोई जय-जय शब्द करे गंभीर, जय जय जय हे श्री महावीर।
जैनी जन पूजा रचत आन, कोई छत्र चँवर के करत दान॥
जिसकी जो मन इच्छा करन्त, मनवांछित फल पावै तुरन्त।
जो करै वंदना एक बार, सुख पुत्र सम्पदा हो अपार॥

महावीरजी में आचार्य शान्तिसागर और उनके शिष्य आचार्य वीरसागर महाराज की स्मृति में शान्ति-वीर-नगर का निर्माण हुआ है। एक गुरुकुल भी स्थापित हुआ है। अनेक सुन्दर मंदिर भी बने हैं। भगवान् शान्तिनाथ प्रभु की उन्नत संगमरमर की मूर्ति बहुत आकर्षक है। महावीरजी बड़ा रम्यतीर्थ बन गया है।

धर्म प्रभावना का अपूर्व स्थान

महावीरजी क्षेत्र पर सदा मेला भरा रहता है। अहिंसा-विद्या के प्रचार के लिए यह सुन्दर केन्द्र बन सकता है। जो शक्ति पारस्परिक विद्वेष के कार्यों में क्षीण हुआ करती है, वह यदि अनेकान्त शासन के प्रचार कार्य में सुव्यवस्थित ढंग से लगाई जाय तो बड़ा हित हो सकता है। तीर्थस्थान तो आत्मशुद्धि तथा लोकसेवा के स्थान हैं। इनमें उत्तरदायित्व का आसन लेने वालों को अहंकार को विष के समान मान प्रेम तथा सेवा की मूर्ति बनना चाहिए। देखा यह जाता है, कि कुर्सी पर आदमी बैठा और उसकी दृष्टि में विचित्र परिणमन होता है। किन्तु राज्यासन की वास्तविकता को ध्यान में रखकर [1]वीर नेपोलियन कहता है कि लकड़ी के टुकड़े को मखमल से ढाँक दिया, उसे ही सिंहासन कहते हैं। इस प्रकाश में बेचारी कुर्सी की कीमत तो और कम हो जाती है। उत्तरदायित्व के पद को पाकर सेवा के सुयोग से अपने आपको वंचित रखना बड़ी भूल है। साधर्मी भाइयों के प्रति हार्दिक स्नेह रखना सम्यक्त्व का अंग होते हुए तीर्थंकरत्व का भी कारण बताया गया है।

प्रायः यह भी देखा जाता है कि लोग व्यक्ति की यथार्थ योग्यता, पात्रता का बहुत कम ध्यान कर कभी तो जातिगत मोहवश, कभी पक्ष की ममता आदि नगण्य निमित्तों से अयोग्यों को श्रेष्ठ सेवा के अधिकार सौंप देते हैं और भविष्य में धर्म तथा संस्कृति की दृष्टि के बारे में जरा भी नहीं विचारते। अपने व्यक्तिगत कार्यों में जैसे रिश्तेदारी, जातीयता आदि का ख्याल न कर योग्यता के आधार पर आदमी को रखकर काम लेते हैं ऐसी विशुद्ध दृष्टि धार्मिक संस्थाओं के संचालकों के चुनाव के बारे में जरूरी है। जिस संस्था में धर्मात्मा सेवाभावी भाई पर जिम्मेदारी रहती है, वहाँ उन्नति होती है, धर्म की वृद्धि होती है, प्रेम-भाव बढ़ता है। धर्म के कार्य में यदि हमने पवित्रता का परिरक्षण न किया, तो भगवान् जाने हमारी क्या गति होगी ? इन विषयों का वस्तुस्थिति से निकट परिचय के आधार पर ही यह प्रकाश डाला गया है।

इस निरंतर उदीयमान क्षेत्र की उच्च व्यवस्था के द्वारा धर्म तथा समाज की बड़ी सुन्दर सेवा हो सकती है। दर्शनार्थ आने वाले भाइयों को धार्मिक तत्त्व बताये जावें तो प्रभु के दर्शन करते हुए यह प्रार्थना की दीनवृत्ति कि मैं तेरे द्वार भीख माँगने आया हूँ, मुझे पुत्र दो, धन दो, स्त्री दो, बदलकर वीतरागता की ओर बढ़ने लगेगी। हजारों व्यक्ति पूजन, स्वाध्याय, संयम आदि के कार्य में लगकर आत्मकल्याण करेंगे। अच्छे चरित्रवान् व्यक्तियों को बुलाकर उनके द्वारा धर्म के उपदेश की व्यवस्था हो, तो लोग भूल को दूर

---

1. The throne is but, a piece of wood covered with of velvet.

करके आत्माकल्याण में प्रवृत्त होंगे।

संस्था वाले जैसे लोगों से द्रव्य प्राप्त करके संतुष्ट होते हैं, वैसे ही उनको आध्यात्मिक आनन्द की सामग्री जुटाकर भी संतोष मानना चाहिए, तब ही कर्त्तव्यपरायणता कही जा सकती है। जीर्णोद्धार तथा अन्य तीर्थों का रक्षण भी कमेटी का लक्ष्य रहना चाहिए। महावीर भगवान् के निर्वाणस्थल पावापुरी के संवर्धन की ओर भी महावीरजी क्षेत्रकमेटी का ध्यान रहना चाहिए। संकीर्णदृष्टि का त्याग कर व्यापक दृष्टि को अपनाना श्रेयस्कर होगा। अन्य तीर्थों के विकास का भी ध्यान रहना चाहिए।

आचार्य महाराज का संघ महावीरजी में लगभग दो माह रहा। हजारों लोगों ने आकर गुरुदेव के उपदेश से अपने जीवन को कृतार्थ किया था। महाराज का उपदेश यही होता था कि तुम सब विभाव का त्याग कर स्वभाव को प्राप्त करो, जिस प्रकार भगवान् महावीर ने किया था। जैनधर्म कहता है कि प्रत्येक आत्मा महावीर भगवान् बन सकता है, कर्मों के आगे भिक्षा मांगने से कुछ कार्य नहीं होता है। संयमी बन स्वावलम्बी जीवन से जीव अपने निर्वाण को प्राप्त करता है।

जयपुर चातुर्मास

संघ ने यहाँ से ज्येष्ठ माह में जयपुर की ओर विहार किया। असाढ़ की अष्टाह्निका के समय संघ जयपुर पहुंच गया। जयपुर में बहुत अधिक जैन समुदाय है। जयपुर के धार्मिक समुदाय की प्रार्थना पर आचार्यश्री ने उत्तर भारत में सन् १९३२ का पाँचवाँ वर्षायोग व्यतीत करने की स्वीकृति जयपुर के लिए प्रदान कर दी। सेठ वनजी ठोल्या सदृश जौहरी परिवार के व्यक्ति सेठ गोपीचन्दजी, सेठ सुन्दरलालजी आदि रत्न परीक्षकों ने आचार्यश्री के जीवन को चिंतामणि रत्न के रूप में परखा, अतः उनसे अधिक से अधिक लाभ लेने के लिए उनकी आदर्शसेवा, भक्ति, वैयावृत्य की। भादों सुदी दशमी - सुगंध दशमी के दिन सेठ गोपीचन्दजी जौहरी के यहाँ आचार्य महाराज का निरंतराय आहार संपन्न होने की खुशी में उन्होंने ग्यारह हजार का दान कर आचार्य महाराज के नाम से एक औषधालय खोला, ताकि महाराज का पवित्र नाम निरन्तर स्मरण होता रहे। अब न गोपीचन्दजी हैं और न सुन्दरलालजी हैं। वे स्वर्गीय निधि बन गये।

बड़े-बड़े विद्वानों का स्थान

पहले लोग जयपुर को जैनपुर-सा सोचते थे। ढुंढारी हिन्दी भाषा में ग्रन्थ लिखने वाले बड़े-बड़े विद्वान् जयपुर में हुए हैं। हिन्दी जैन-जगत् में अत्यन्त आदर से बाँचे जाने वाले ग्रंथ सदासुखजी का रत्नकरंड भाषा वचनिका, पं. टोडरमलजी का मोक्षमार्ग प्रकाशक, गोमट्टसार की टीका, पं. जयचन्द्रजी की सर्वार्थसिद्धि वचनिका, समयसार

की टीका आदि की रचना इसी जयपुर में हुई है। यहाँ के विशाल समुन्नत, भव्य जिनालय बड़े सुन्दर हैं। मूर्तियाँ भी मनोज्ञ हैं। ६० चैत्यालय तथा ५४ मंदिर हैं। जिस प्रकार की महिमाशाली धर्म की सामग्री जयपुर तथा उसके आसपास के क्षेत्रों में है ठीक उसके विपरीत दिशा में जनसाधारण की प्रवृत्ति हो रही है। धर्म के प्रति उदासीनता हो गई, यद्यपि वह उदासीनता विषय-सेवन की ओर होनी थी। विषयों से त्याग के स्थान में धर्म तथा भगवान् के दर्शन, पूजा के त्याग की ओर लोगों की प्रवृत्ति हो रही है। आज भी यदि जयपुर जाग जाय, तो जैन-जीवन के लिए महत्व की सामग्री प्रदान कर सकता है, तथा राजस्थान की राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान बना सकता है। ऐक्य और धार्मिकता के द्वारा क्या दुर्लभ है ? पहले राज्य के उच्च पदों पर जैन लोगों की नियुक्ति होती थी।

यह नगर संवत् १७८४ में अजमेर के नरेश सवाई जयसिंह महाराज ने विद्याधर नामक प्रतिभाशाली जैन दीवान के परामर्श के अनुसार बसाया था। आज यह नगर भारत के सुन्दर नगरों में है यह गुलाबीनगर (pink city) के नाम से विख्यात है, कारण भवनों के निर्माण में लाल पाषाण का उपयोग हुआ है। भवन एक ढंग के हैं। एक-सी सड़कें शोभायमान होती हैं।

जयपुर से ही सुन्दर मूर्तियाँ बनकर आज भारत भर में जाती हैं। जयपुर के विद्वानों की हिन्दीभाषी सभी प्रांतों में धाक रही है। उनके बनाए साहित्य का ही अधिक प्रसार रहा है। छपाई के युग में अनेक आर्ष ग्रन्थ मूल तथा अनुवाद सहित छपकर प्रकाश में आए, इससे विवेकी व्यक्तियों को सम्यक् प्रकाश प्राप्त हुआ, अन्यथा मूल-परंपरा से संपर्क छोड़कर अपने अद्भुत तर्क के आधार पर विचित्र पंथों तथा शास्त्रों की जो रचना हुई उसका पता न चलता।

एक बार भादों में दशलक्षण पर्व जयपुर में व्यतीत करने का अवसर मिला था। अनन्त चौदस के दिन हम अकस्मात् अभिषेक दर्शनार्थ ऐसे मंदिरजी में चले गए, जहाँ जिन भगवान् पर जल की धारा भी नहीं की जाती थी, वहाँ थाली में ही जल की धारा छोड़ी जाती थी, घंटा बजता था, और मन में यह संकल्प होता था, कि हम भगवान् का ही अभिषेक कर रहे हैं। उस जल को गंधोदक मानकर ग्रहण किया जाता था, जिसका जिनेन्द्रदेव के शरीर में स्पर्श तक नहीं हुआ था। मैंने लोगों से पूछा कि यह क्या बात है, तब बताया गया, कि गुमान-पंथी भाइयों का यह मंदिर है। यहाँ भगवान् का अभिषेक नही करते हैं। इस पंथ के स्थापक पं. टोडरमलजी के छोटे पुत्र गुमानीरामजी थे।

इन लोगों का तर्क है, केवली भगवान् का अभिषेक नहीं होता है, अतः अभिषेक करना योग्य नहीं है। संभव है, उस समय संपूर्ण, महत्वपूर्ण ग्रन्थों पर लोगों का ध्यान नहीं गया होगा। शास्त्रों में नवदेवता कहे गए हैं (दशभक्ति, पृ. ३०६):

इतिपंच महापुरुषाः प्रणुताः जिनधर्म-वचन-चैत्यानि।
चैत्यालयाश्च विमलां दिशन्तु बोधिं बुधजनेष्टाम्॥

इस प्रकार अर्हंत सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु परमेष्ठी रूप पंचमहापुरुषों की स्तुति की गई। वे पंचमहापुरुष तथा जिनधर्म, जिनवाणी, जिनबिम्ब व जिनालय, ये बुधजनों को प्रिय निर्मल ऐसी बोधि को प्रदान करें। अभिषेक जिनबिम्ब का होता है, केवली भगवान् का अभिषेक नहीं होता है। दूसरी बात यह भी है कि इस विषय में आगम को देखा जाय, तो ज्ञात होगा कि जिनबिम्ब का जल, घी, दूध, दही तथा रस के द्वारा अभिषेक करना गृहस्थ का कर्त्तव्य कर्म है। बाहुबली भगवान् का श्रवणबेलगोला में जो अभिषेक घी, दूध, दही आदि से होता है, वही आगमोक्त पद्धति है। प्रायः सभी प्रतिष्ठा-ग्रंथों में पूजा के पूर्व में किये जाने वाले अभिषेक का यही स्वरूप कहा गया है।

सांस्कृतिक महत्वपूर्ण केन्द्र

जयपुर के शास्त्र भंडार में महत्वपूर्ण ग्रंथों का संग्रह है। जैन संस्कृति के लिए उपयोगी विपुल सामग्री जयपुर में इतनी विद्यमान है कि उसका वर्णन स्वयं ही एक ग्रंथ का रूप धारण कर ले। इस नगर में बड़े-बड़े धर्मात्मा पुरुष हुए हैं।

अमरचन्दजी दीवान जैसे धार्मिक पुरुष यहाँ ही हुए, जिन्होंने शेर को माँस नहीं खिलवाया। उस क्षुधित शेर के समक्ष मधुर मिष्ठान्न से भरी थाली रखवा कर कहा था - **'मृगराज, यदि भूख शांत करना है तो यह मधुर भोजन खा लो। यदि मांस की लालसा है, तो मेरे शरीर से उसे पूर्ण करो, मैं दूसरे का मांस खिलवाकर दुर्गति को नहीं जाना चाहता हूँ। मेरा शरीर चाहते हो, तो मैं तैयार हूँ।'**

'इस आत्मवान् तेजस्वी व्यक्ति की वाणी से मृगराज प्रभावित हुआ और उसने थाली से भरी हुई मिठाई को चुपचाप खा लिया।' आत्म-तेज विभूषित आत्माओं के प्रभाव से ऐसे कार्य बन जाते हैं, जिनके विषय में तर्कशास्त्र की प्रतिक्रिया हतप्रभ हो जाया करती है।

ऐसी प्रसिद्धि है कि टोडरमलजी की प्रतिभा पर मुग्ध हो इन दीवानसाहब ने उनको आजीविका की चिन्ता से मुक्त करके जैन साहित्य की सेवा में ही संलग्न रहने की सामग्री उपस्थित की थी। इससे थोड़े जीवन में टोडरमल जी महान् कार्य कर गये।

यहाँ टोडरमलजी ने गोम्मटसार की भाषा टीका विक्रम संवत् १८१८ में पूर्ण की थी, और जयचन्द्रजी ने समयसार की टीका १८६४ में समाप्त की थी। इस प्रकार जयपुर का हिन्दी जैन-साहित्य के निर्माण तथा विकास में बड़ा स्थान है। धार्मिकों का अच्छा समुदाय था।

मोक्षभिलाषी व्यक्ति का कर्तव्य है कि आगम के अनुसार प्रवृत्ति करे। आगम सर्वज्ञ

भगवान् की वाणी है।

आगमपंथी बनना कल्याणकारी है

आचार्य शान्तिसागर महाराज ने आगम के अनुसार धर्म का उपदेश दिया है। उनका एक ही पंथ है, वह है निर्ग्रन्थ पंथ। रूढ़ि-परम्परा के बीच में निमग्न व्यक्ति को सम्यक्त्व पथ पर लगाना साधारण व्यक्ति का काम नहीं है। यह तो आचार्य महाराज की असाधारण आत्मशक्ति तथा प्रभाव है, जो उन्होंने सर्वत्र आगमोक्त पद्धति का प्रचार करा दिया है। पंथभेद के झगड़े के अवसर पर महाराज से कोई मार्ग पूछता था, तो वे आगम का मार्ग भर बता देते थे। उस निमित्त से वे संक्लेश की सामग्री नहीं इकट्ठी करते थे। वे सूर्य के समान कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य पथ का प्रदर्शन कर देते थे। आत्मकल्याण के प्रेमी तत्काल उनके कथन को शिरोधार्य करते थे।

जो जयपुर धार्मिकता का किला था, वह शिथिलाचार प्रचुर होता जा रहा था। उस समय आचार्य महाराज ने अपनी सन्मार्ग देशना द्वारा बहुतों को धर्ममार्ग में स्थिर किया। विघ्नों के विषधरों से वे विचलित नहीं हुए। सदाचार को लुप्त करने वाली प्रवृत्तियों के विरोध में उन्होंने निर्भय होकर उपदेश दिया व प्रचार किया। उनके समक्ष जनता के संतोष और प्रसन्नता के स्थान में आगम की आज्ञा का पालन करना मुख्य कार्य था। आज महाराज के युक्तिपूर्वक कथन तथा अपूर्व प्रभाववश जो जयपुर तथा अनेक स्थानों के लोगों ने शुद्ध खानपान की प्रतिज्ञा ले ली थी, उसके कारण मुनियों तथा उच्च श्रावकों को प्रत्येक स्थान में अनुकूलता दिखाई पड़ती है, अन्यथा आज के युग में शुद्ध प्रवृत्ति वाले परिवारों को प्राप्त करना बड़ी समस्या रहती। दिल्ली चातुर्मास के समान जयपुर में भी आचार्यश्री का संघ बोरडी का रास्ता, पाटोदी का मंदिर आदि विविध स्थानों में रहा था, इससे उस विशाल नगर की यत्र-तत्र बिखरी हुई समाज को धर्मलाभ हो सका।

चातुर्मास का कार्य

जयपुर में चातुर्मास व्यतीत करके आचार्य संघ ने रत्नत्रय धर्म का खूब उद्योत किया तथा अनेक निकट भव्यों को संयम-सुधा का पान कराया। अब तक के चातुर्मासों के वर्णन से तथा श्री गुरुदेव के पुण्य विहार की वार्ता से यह स्पष्ट होता है कि वे पाप-प्रवृत्तियों का उन्मूलन करते हुए उज्ज्वल आचार-विचार से भव्य जीवों को नवजीवन प्रदान करते थे। जिस प्रकार सूर्य अपनी रश्मिमाला द्वारा विश्व के अंधकार को दूर करता हुआ उसे आलोक प्रदान करता है, उसी प्रकार आचार्यश्री द्वारा मोहान्धकार का निष्कासन होते हुए वीतराग भावना का प्रकाशन होता था। यही कार्य उन्होंने आगामी विहार तथा चातुर्मासों द्वारा सम्पन्न किया है। एक महाकवि का कथन है, 'महान् आत्माओं का जन्म लोक के अभ्युदय

के हेतु होता है।' आचार्य महाराज का कार्य आत्मसाधना तथा प्राणियों को कल्याण पथ-प्रदर्शन का सतत चलता जाता था। यही तो उनके जीवन का व्रत रहा है।

ब्यावर

जयपुर के समान उनका उत्तरप्रांत में छठवाँ चातुर्मास ब्यावर में सम्पन्न हुआ। ब्यावर में दि. जैन महासभा का अधिवेशन हुआ था।

सेठ चम्पालालजी रानीवाल ने सपरिवार आचार्य संघ की अपूर्व भक्ति की थी। रायबहादुर धर्मवीर सेठ टीकमचन्दजी सोनी गुरुभक्ति से आकर्षित होकर प्रतिदिन अजमेर से ब्यावर आकर आहार की विधि लगाते थे।

आहार के उपरांत वे प्रतिदिन स्वधाम को वापिस जाते थे। ऐसी गुरुभक्ति करने वाले विरले ही भाग्यवान् होते हैं।

उदयपुर

आचार्य संघ के द्वारा राजस्थान में अच्छी धर्म-प्रभावना हुई। आचार्यश्री का आगामी चातुर्मास उदयपुर में सम्पन्न हुआ था। वहाँ भी उनके द्वारा रत्नत्रय धर्म का महान् प्रचार हुआ।

गोरल

उदयपुर चातुर्मास के बाद महाराज ने धर्मप्रभावना करते हुए ईडर से सात मील दूरी पर गोरल नामक स्थान में सन् १९३५ में चातुर्मास किया था। वहाँ सोलापुर की ब्र. कंकूबाई ने क्षुल्लिका दीक्षा ली थी। उनका नाम जिनमती अम्मा रखा गया था। अम्मा प्रख्यात् कोट्याधीश महान् उद्योगपति सेठ बालचन्द हीराचन्द की बहिन थी। आचार्य महाराज के पवित्र प्रभाव से बड़े-बड़े लोगों ने संयम की सच्ची महत्ता को कारण जानकर उसकी शरण ली।

प्रतापगढ़

इसके अनंतर महाराज ने संघपति सेठ पूनमचन्द घासीलाल के निवास स्थान प्रतापगढ़ में चातुर्मास किया। यहाँ आचार्य महाराज के संघ में महाराज के सबसे छोटे भाई ब्र. कुंमगौड़ा पाटील भी थे। दोपहर के समय ब्र. कुंमगौड़ा का उपदेश हुआ करता था। यहाँ से विहार कर महाराज का संघ बड़वानी सिद्धवरकूट होता हुआ मुक्तागिरि पधारा था।

गजपंथा

इसके अनन्तर महाराज ने गजपंथा की ओर विहार किया। वहाँ के चातुर्मास में बड़ी धर्मप्रभावना हुई। गजपंथा में पंचकल्याणक महोत्सव बड़े आनन्द के साथ हुआ था।

चारित्र चक्रवर्ती

यहाँ पर आचार्य महाराज को समस्त जैन संघ ने 'चारित्र चक्रवर्ती' पद से अलंकृत कर अपने को धन्य समझा। इस अवसर पर हमें भी पहुंचने का सौभाग्य मिला था। नागपुर के धनिक त्यागी श्रीमान् फतेचन्दजी ने ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण की थी। उक्त ब्रह्मचारीजी ने अपने जीवन में मुक्तागिरि सिद्ध क्षेत्र के जीर्णोद्धार का महत्वपूर्ण कार्य किया। नागपुर में कई लाख खर्च कर उन्होंने सुन्दर दि. जैनधर्मशाला बनवाई थी। वह सार्वजनिक है।

महाराज ने बारामती में संवत् १९९५ अर्थात् सन् १९३९ का चातुमार्स व्यतीत किया। यहाँ पर्यूषण पर्व में आचार्यश्री के समीप पहुंचने का हमें सौभाग्य मिला था। इसके अनन्तर विहार करते हुए आचार्य महाराज मुक्तागिरि पधारे थे। पश्चात् वे इन्दौर आये थे। यहाँ रावराजा सर सेठ हुकमचन्दजी ने आचार्यश्री से ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण किया था। बड़वानी तथा सिद्धवरकूट की वंदना के उपरांत संघ ने प्रतापगढ़ में पुनः चातुर्मास किया।

इसके पश्चात् विहार करते हुए सन् १९४१ में कोरोची चातुर्मास किया। यह पूना से १८३ मील पर है। इसके बाद डिग्रज में चातुर्मास हुआ। आगामी चातुर्मास कुन्थलगिरि में हुआ। यहाँ धर्मप्रभावना के अनंतर महाराज फलटन पधारे थे।

इसके अनन्तर विहार करते हुए वे सन् १९४६ में कवलाना पहुँचे। सन् १९४६ के अगस्त में बम्बई में हमने जैन राजनैतिक स्वत्वरक्षक समिति की विशेष बैठक बम्बई में बुलाई थी। जिसमें इस महत्वपूर्ण विषय पर विचार हुआ था कि केबिनेट मिशन (Cabinet Mission) के द्वारा भारतवर्ष की स्वराज्य प्रदान करने की योजना को दृष्टिपथ में रखते हुए जैन समाज को अपने स्वतंत्र अस्तित्व के विषय में पूर्णतया सतर्क रहना चाहिए, जिससे बहुसंख्यक वर्ग में उसका विलीनीकरण होकर अस्तित्व समाप्त न हो जाय।

इस महत्वपूर्ण बैठक में निर्णीत प्रस्ताव के उत्तर में सरदार वल्लभभाई पटेल ने अपने पत्र द्वारा जैन समाज को यह विश्वास दिलाया था कि भारतवर्ष के स्वाधीन होने पर प्रत्येक धर्म की स्वतंत्रता को बाधा नहीं पहुँचेगी। बम्बई की मीटिंग के उपरांत हम अपने छोटे भाई डॉ. सुशीलकुमार दिवाकर के साथ कवलाना आचार्य श्री के दर्शनार्थ पहुंचे थे। वहाँ उनसे महत्वपूर्ण चर्चा द्वारा अपूर्व प्रकाश प्राप्त किया था।

सोलापुर चातुर्मास

इसके अनंतर सन् १९४७ का चातुर्मास सोलापुर में हुआ था। वहाँ दशलक्षण पर्व में हमें पहुँचने का सौभाग्य मिला था। यहां शास्त्र पढ़ने की आज्ञा आचार्यश्री ने हमें

दी थी। सूक्ष्म तत्त्वचर्चा द्वारा अपूर्व आनंद आया था । यहाँ पर ही आचार्य महाराज के नेत्रों में कांचबिन्दु रोग का पता चला था । डॉक्टर ने आँख के ऑपरेशन की सलाह दी थी किन्तु उसे महाराज ने पसंद नहीं किया था । नेत्रविशेषज्ञ डॉक्टर सरदेसाई ने कहा था कि- ऑपरेशन करने पर कुछ प्रयोग असफल हो जाते हैं, जिससे नेत्रों की ज्योति चली जाती है। इस पर महाराज ने विचारा कि यदि डॉक्टर के प्रमाद आदि के कारण कदाचित् असमय में ज्योति चली गई, तो तत्काल समाधिमरण लेना पड़ेगा, क्योंकि आँखों के चले जाने के बाद यत्नाचारपूर्व प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। ऐसी स्थिति में महाराज ने ऑपरेशन के अवलंबन को दूरदर्शी रूप में अनुभव करके नहीं कराया ।

दक्षिण प्रान्त में संयम की अनुकूलता

इस प्रान्त में यह विशेष बात है कि कोल्हापुर, बेलगांव, सांगली आदि के आसपास के निकटवर्ती ग्रामों में जैनियों की संख्या बहुत है। हजार घर वाले ग्राम में सहज ही पचहत्तर प्रतिशत जैनियों की संख्या का पाया जाना साधारण बात समझी जाती है। यहाँ मुनिजीवन व्यतीत करने के लिये सर्वप्रकार की अनुकूलता पायी जाती है। श्रावक समुदाय प्रायः कृषिजीवी हैं। वे शुद्ध खानपान किया करते हैं। शुद्ध घी, दूध, जल, भोजनादि की स्वतः अनायास व्यवस्था पायी जाती है। जिस तरह अन्य प्रांतों में साधु के आहार कराने के लिए आहार आदि की व्यवस्था करने में लोगों को अपने प्रांत में फैले शिथिलाचार के जाल के कारण कठिनता मालूम पड़ती है, वैसी स्थिति यहाँ नहीं है। यह प्रान्त समशीतोष्ण कटिबंध में है। यहाँ न ग्रीष्म का संताप प्रचंडता दिखाता है और न ठंड का प्रकोप ही असह्य पीड़ा उत्पन्न करता है। ऐसी स्थिति में यह भूमि संसार से विरक्त व्यक्तियों को श्रेष्ठ दिगम्बर मुद्रा धारण करने की सहज प्रेरणा देती है।

- दिगम्बर दीक्षा, पृष्ठ ११२

धर्म
शासन
प्रतिज्ञा - १
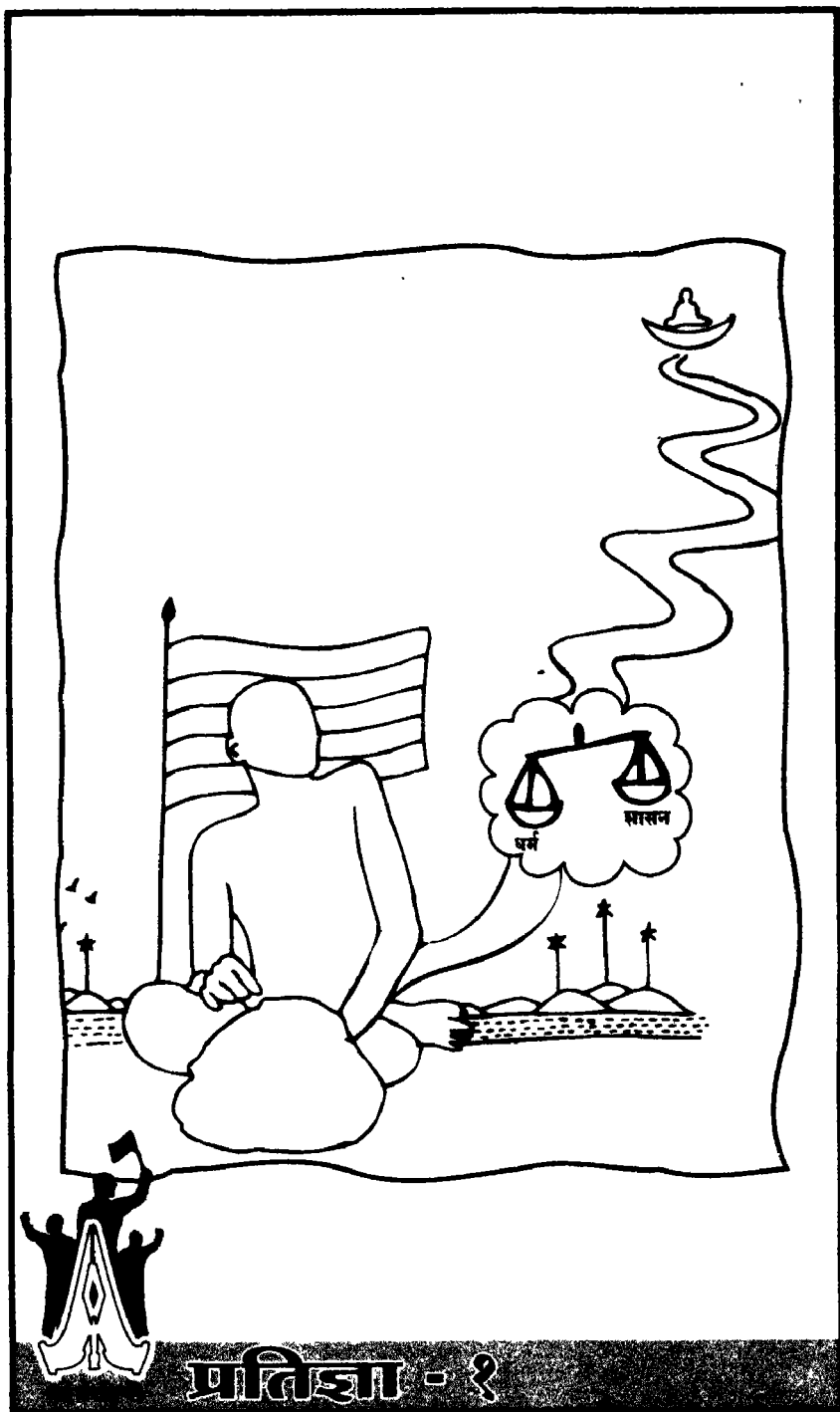
प्रतिज्ञा-9

फलटण

सोलापुर के अनन्तर महाराज का चातुर्मास फलटण में हुआ। यहाँ ही महाराज ने धार्मिक स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए लोकोत्तर त्याग किया था।

इस सम्बन्ध में कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है। बम्बई सरकार ने हरिजनों के उद्धार के लिए एक हरिजन मंदिर प्रवेश कानून सन् १९४७ में बनाया। उसके नियम नं. २ब में लिखा था कि '**हिन्दू शब्द में जैन का समावेश है।**' इस छोटे-से नियम ने अनेक उपद्रवों के उत्पन्न होने के योग्य वातावरण उत्पन्न कर दिया। जब जैनियों में हरि अर्थात् विष्णु के आराधक हरिजनों का अभाव है, तब वस्तुतः इस उपधारा का कोई वास्तविक उपयोग नहीं है, फिर भी सुधार के जोश में यह कानून जैनियों पर भी लादा गया था।

जाल रचना

इस कानून का आश्रय लेकर साँगली के हरिजन सेवा संघ के मंत्री ने ४ अगस्त सन् १९४८ को कुछ महतरों चमारों आदि को इकट्ठा कर जैन मंदिर में जबरदस्ती ले जाने का जाल रचा।

अप्रिय अतीत

फलटण में पहले धर्मान्ध कुछ हिन्दुओं ने एक ऐतिहासिक जैनमंदिर को हड़पकर उसे हिन्दू मंदिर बना लिया और उसे जब्रेश्वर का नाम दे दिया। उस मंदिर के बाहर के भाग में कुछ जैन मूर्तियाँ आज भी विद्यमान हैं, फिर भी वह मंदिर जैनियों के हाथ से निकल गया। कोल्हापुर का प्रसिद्ध जैनमंदिर आज हिन्दू बन गया है। वहाँ नेमिनाथ भगवान के स्थान में शेषशायी विष्णुदेव विराजमान हैं। मैसूर का चामुण्डी पर्वत पहले जैनियों का तीर्थ था। आज वह भी हिन्दू मंदिर हो गया है। दक्षिण भारत के वृद्ध जैन यह बात जानते हैं कि उन पर धर्मान्ध वैदिकवर्ग ने कब और कैसे अत्याचार किए। सैकड़ों जैन मन्दिरों में जिनेन्द्र की मूर्तियों का निर्दयतापूर्वक अपहरण अथवा विनाश करके रक्त वर्ण रंजित पाषाणपिण्ड स्थापन कर उन्हें हिन्दू मंदिर बनाने का कार्य किया गया। बहुमूल्य जैन शास्त्रों का विनाश किया गया। ऐसे ही अत्याचारी धर्मान्ध वर्ग ने दक्षिण में अपने दुष्ट भावों को द्योतित करने के लिए '**साँप सोडावा पण जैन मारवा**' (साँप को भले ही छोड़ दो, किन्तु जैनियों का अवश्य संहार करो) यह कहावत बना डाली है। यह दृष्टि "हस्तिना पीड्यमानोपि न गच्छेज्जैन-मन्दिरम्"[1] की अपेक्षा अधिक भीषण और कटुतापूर्ण है। यह

---

१. हाथी द्वारा पछाड़े जाने पर भी जैन मंदिर में प्रवेश नहीं करना चाहिए।

अत्याचार को प्रेरणा देती है। ऐसे ही धर्मान्धों के कारण ऐसे चिन्तक-वर्ग का जन्म हुआ, जो उन्नति का प्राथमिक कदम ऐसे धर्मों से छुटकारा पाने को मानता है। पं. जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है-" मजहब में मेरे लिए कोई आकर्षण न था। इसने बहुत-से ऊँचे किस्म के मर्दों और औरतों को पैदा किया है और साथ ही तंग नजर और जालिम लोगों को भी"(**हिन्दुस्तान की कहानी, पृ. १७**)। अत्याचारी बहुसंख्यक वर्ग जब चाहे तब शांतिप्रिय अल्पसंख्यकों को कष्ट में डाल सकता है। धर्मान्ध भगवान् को भूल जाता है। वह तमोगुणी आसुरी वृत्ति का हो जाता है।

सर्व परिस्थिति का पर्यालोचन कर अत्यंत अनुभवी आचार्य महाराज ने सोचा, अंतरात्मा ने उन्हें कड़ा कदम उठाने की प्रेरणा की। उन्हें यह प्रतीत हुआ कि यदि चुपचाप बैठे रहे, तो अत्याचारी लोग प्रत्येक जैनमंदिर में हरिजन-मंदिर-प्रवेशाधिकार के नाम पर घुसेंगे और अवसर पड़ने पर महत्वपूर्ण जिनमंदिरों को हजम कर लेंगे। उन्होंने किसी से परामर्श नहीं किया।

भीष्मप्रतिज्ञा

इमरसन ने लिखा है-" **Every great man is unique**"(प्रत्येक महापुरुष अपूर्व होता है), इसलिए इन लोकोत्तर महात्मा ने जिनेंद्र भगवान् को साक्षी करके प्रतिज्ञा कर ली कि " जब तक पूर्वोक्ति बंबई कानून से आई हुई विपत्ति जैनधर्म के आयतनों-जिन मंदिरों से दूर नहीं होती है, तब तक मैं अन्न नहीं ग्रहण करूँगा।"

इस समाचार ने देशभर में फैलकर जैनसमाज मात्र को चिन्ता के सागर में डुबा दिया। फलटण से हमारे पास तार से समाचार आने पर आँखों के सामने अंधेरा छा गया। शीघ्र ही बम्बई में अगस्त सन् १९४८ के अन्तिम सप्ताह में प्रमुख जैनबंधुओं की एक बैठक हीराबाग की धर्मशाला में हुई। इसके अनन्तर एक सितम्बर को सरसेठ भागचन्दजी सोनी, सेठ राजकुमारजी इन्दौर, श्री तलकचंद शाह वकील के साथ हम फलटण पहुंचे।

सबने महाराज से प्रार्थना की कि राजनीति का यंत्र मंद गति से चलता है। कायदे की बात का सुधार वैधानिक पद्धति से ही होगा। यह बात बहुत समयसाध्य है। अतः आप अन्न ग्रहण कीजिए । सारा समाज आपकी इच्छानुसार उद्योग करेगा।

धर्माचार्य की दृष्टि

महाराज ने कहा-"हमने जिनेंद्र भगवान् के सामने जो प्रतिज्ञा कर ली है क्या उसे भंग कर दें ?"हम सब लोग चुप हो गये। हजारों व्यक्तियों ने आचार्यश्री की प्रतिज्ञापूर्ति पर्यंत अनेक संयम सम्बन्धी नियम लिए। जो लोग यह सोचते थे कि मुनियों को राजनीति में न पड़कर आत्म-हित करना चाहिए, उनको महाराज कहते थे-"जैनधर्म के मुख्य अंग

जैनमंदिर के संरक्षण निमित्त उद्योग करना हमारा कर्त्तव्य है, क्योंकि इस विषय में गृहस्थ लोग चुप होकर बैठ गये। धर्म पर राजनीति का हस्तक्षेप कैसे उचित कहा जा सकता है। शासन-सत्ता का धर्म पर आक्रमण न रोका जाय, तो भविष्य में बड़ी विपत्ति आये बिना न रहेगी।''

कोई यह सोचे कि धर्म तो आत्मा का गुण है, उसे कौन धक्का लगा सकता है, इस पर महाराज ने कहा था-''जब तक मंदिर हैं, तब तक जैनधर्म है। प्रतिमाजी हमारा प्राण है। धर्म का लोप देखते हुए हम कैसे चुप रहें ? गृहस्थों ने अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं किया, इससे हमने धर्म के वास्ते अन्न त्याग किया है। हम आज ही चारों प्रकार का आहार छोड़कर सल्लेखना करने को तैयार हैं। यद्यपि हमें भगवान् की जरूरत नहीं है, क्योंकि वे हमारे हृदय में हैं, किन्तु हमें अपने दूसरे त्यागी भाइयों का ध्यान है। जब जैनमंदिर के विषय में अन्य लोगों के हाथ में सत्ता दी जाने लगी, तब भी क्या चुप बैठना ? धर्म पर आक्रमण होते देख डरकर बैठ जाना ठीक नहीं है। हम तो एकान्त में भी बैठकर मूर्ति की आराधना कर लेंगे, वहाँ कौन आ जायगा ? किन्तु हमें अपने त्यागी भाइयों की फिकर है।''

कोई-कोई यह सोचते हैं-''बहुसंख्या से मिलकर रहो, अपने स्वार्थ का ख्याल करते हुए काम करो। चतुरता, स्वार्थसिद्धि तथा लाभ इसी में है। यश भी इसी में है कि अपने स्वतंत्र अस्तित्व को हिन्दू नाम में ऐसे ही विलुप्त हो जाने से बड़ी-बड़ी आफतें आ जायेंगी। देखते नहीं हो, जमाना कैसा खराब आ गया है।''

ऐसे डरने वालों की उपेक्षा करते हुए इन मनस्वी महात्मा ने कहा-''जैनधर्म स्वतंत्र है। अतः जैन मन्दिर हिन्दू मंदिर नहीं हैं। इससे हिन्दुओं का चाहे वे हरिजन हों या हरिजन न हों, जैन मंदिर से क्या सम्बन्ध है ?''

अपने को जैन कहने में भीत होने वालों का भ्रम-निवारण करते हुए उन्होंने कहा था-'' हमें अपने बाप का नाम लेने में फाँसी दी जाती है और गोली मारी जाती है, तो हमें वह स्वीकार है, मगर डरकर दूसरे को अपना बाप नहीं बोलेंगे। इससे व्यभिचार व जातपने का दोष आयेगा।''

जो घबराकर यह सोचते थे कि आचार्य महाराज की इच्छा तीन जन्म में भी पूरी नहीं हो सकती, अब तो हरिजनों का ही राज्य है, जैनसमाज की कौन सुनने वाला है, उनके निराशा के अन्धकार को दूर करते हुए महाराज का कथन था-''अभी जैनधर्म का लोप नहीं होगा। ऐसी भगवान् की वाणी है। वह मिथ्या नहीं है। हम खातरी से कहते हैं, कि यह भ्रष्टाचार अधिक दिन नहीं टिकेगा।''

अद्भुत आत्मविश्वास

''हमारा विश्वास है कि अभी धर्म का लोप नहीं होगा। जब जैनधर्म का लोप होगा तब दुनिया से सबके धर्मों का भी लोप हो जायगा।''

जो यह सोचते थे मंदिर में कोई भी आवे, उसमें क्या हानि है, उसके विषय में महाराज का कथन था, "मंदिर जैनों के आत्म-धर्म-साधन का स्थान है। वह अजैनों के आत्मधर्म साधन का स्थान नहीं है, इसलिए उनको वहाँ आने का प्रयोजन ही नहीं है।"

महाराज ने एक दिन कहा था, "यदि वह धर्मसंकट दूर न हुआ, तो इस जन्म में हम अन्नग्रहण न करेंगे। हमारा इसी तरह शरीरान्त हो जायगा।"

मैंने कहा, "महाराज! यदि आप इस जन्म में अन्न-ग्रहण न करेंगे, तो दूसरे जन्म में भी अपको अन्न-ग्रहण नहीं होगा, कारण महाव्रती जीव देवपर्याय को प्राप्त करता है, वहाँ अन्नाहार नहीं है।"

जैनसमाज में अन्नत्याग से भीषण चिंता का बादल छा गया। सभी लोग अपना-अपना प्रयत्न करते थे। अधिकारियों से मिलते थे, किन्तु कार्य फलप्रद नहीं हो रहा था। जब हमने डा. राजेन्द्रप्रसादजी, अध्यक्ष, भारतीय गणतंत्र शासन को तार देकर परिस्थिति स्पष्ट की, तब डाक्टर साहब ने हमें इस प्रकार उत्तर दिया था।

केम्प, पिलानी (जयपुर राज्य), ३० अगस्त १९४८

प्रिय सुमेरुचंद्रजी, आपका तार मिला, किन्तु अस्वस्थ होने के कारण मैं उस पर पहले विचार न कर सका। मैंने उसे राजकीय मन्त्रिमंडल के पास उचित जाँच तथा कार्यवाही निमित्त भेज दिया है।

- आपका विश्वसनीय राजेन्द्रप्रसाद[1]

इसके अनंतर २९ अक्टूबर, सन् १९४८ में डाक्टर राजेन्द्रप्रसादजी जबलपुर में पधारे थे। उस समय हम राजा गोकुलदास के महल में उनसे मिले थे। हमारे साथ हमारा अनुज चि. अभिनंदनकुमार दिवाकर (एडवोकेट) भी था। राष्ट्रपति से भेंट के लिए हमने २८ अक्टूबर को जबलपुर के महाकौशल कांग्रेस के अध्यक्ष श्री गोविन्ददासजी के पते पर जवाबी तार दिया था। किन्तु कांग्रेस को कलंकित करने वाले कलुषित लोगों के कर में

---

1. Camp : Pilani, Jaipur State; August 30, 1948.

   Dear Mr. Sumerchand,

   I received your telegram but could not attend to it earlier on account of indisposition. I forwarded it for necessary enquiry and action to the state Ministry.

   Yours sincerely,
   (Sd) Rajendra Prasad

   Shri Sumerchand Diwaker,

   Hony. Secretary, All India Jain Political Rights Preservation Committee, Seoni.

वह तार आ गया इससे कहते हैं, वह छुपा दिया गया। दूसरे दिन पुनः जवाबी तार दिया जिसमें पहले तार का उल्लेख किया गया था।[1]

सौभाग्य से यह तार राजेन्द्र बाबू के हाथ में पहुँच गया। इसलिए सर्वप्रथम भेंट के लिए हमें अवसर प्राप्त हुआ। उस समय इस प्रांत के मुख्यमंत्री रविशंकर शुक्ल तथा गृहमंत्री पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र भी उपस्थित थे। हमने राष्ट्रपति के समक्ष आचार्य महाराज के अन्नत्याग से उत्पन्न परिस्थिति पर प्रकाश डालकर भारत सरकार के सहयोग की चर्चा की। उसे सुनते ही सचिन्त हो राजेन्द्र बाबू ने कहा -" आप आचार्य महाराज को हमारा प्रणाम कहिये, तथा अन्न ग्रहण करने का अनुरोध करिये। जैनधर्म पर कभी संकट नहीं आयगा। बंबई कानून के विषय में हम विचार करेंगे।"

जब हम श्री तलकचंद वकील के साथ मुंबई सरकार के गृहमंत्री श्री मोरारजी देसाई से मिले थे, तब उन्होंने कहा था कि -"आप आचार्य महाराज को हमारा प्रणाम कहिए तथा अन्नग्रहण करने की प्रार्थना कीजिए।" सरकारी दृष्टिकोण उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया था -" जैनमन्दिरके विषय में हरिजनों को उतने ही अधिकार प्राप्त हैं, जितने जैनियों को प्राप्त हैं। यदि जैनी मूर्ति का स्पर्श करके पूजा करता है, तो ऐसा हरिजन भी कर सकेंगे।" उस समय समझ में आया कि बंबई कानून की ओट में जैनियों के अधिकारों को स्वाहा करने का भीषण जाल रचा गया है। इसीलिए आचार्य महाराज ने अपने दिव्यज्ञान से उस कुचक्र को जानकर उसके विरुद्ध अपने प्राण की बाजी लगा दी थी।

श्री देसाई की चर्चा से बंबई शासन के अपवित्र अंतःकरण का स्पष्टीकरण हुआ। उस समय आचार्य महाराज का स्वास्थ्य बहुत क्षीण होता जा रहा था। इससे सभी जैनसमाज की चिंता की सीमा नहीं थी। लोकमत को जगाने के लिए हमने सार्वजनिक पत्रों में चर्चा चलाई। जून, सन् १९४९ के ब्लिट्स नाम के अंग्रेजी पत्र में हमारा समाचार प्रगट हुआ था (अगले पृष्ठ के फुट नोट में)[1]।

---

1. Rashtrapati Rajendra Prasadji Care Govinddasji Jubbulpore Reply-paid Telegram. Reference your letter from pilani our replypaid telegrams. Bombay temple entry act still includes Jains under Hindoos although Jainism is independent. His Holiness Acharya Shantisagerji's fast trangressed seventy days. Jain Samaj worried beyond expression. Request few minutes interview. Pray wire earliest time. All India Jains shall be obliged.

   Sumerchand Diwaker. Secretary All India Jain Political Committee. Camp Jubbulpore 28-10-48

   Next telegram sent to him reads thus : Reply paid. "Reference our yesterday's telegram. No reply received yet. Pray communicate earliest interview time. -Sumerchand Diwaker"

हमने पंडिता चंदाबाई, आरा को पत्र देकर प्रेरणा की, कि उनके धार्मिक परिवार के प्रयत्नों से आचार्यश्री की प्रतिज्ञापूर्ति का सफल उद्योग हो सकता है, क्योंकि सन् १९४२ में जब हम डा. राजेन्द्रप्रसादजी से मिले थे तब उनके द्वारा बाबू निर्मलकुमारजी रईस, आरा का स्नेहपूर्ण शब्दों में उल्लेख सुना था।

राजेन्द्र बाबू साधु स्वभाव व्यक्ति थे। इसलिए उनके द्वारा एक महान् साधु के जीवन का संकट दूर करने का उद्योग सफलता प्राप्त करायेगा, ऐसी आशा होती थी।

उक्त बाबू साहब की एक महत्व की कृति जैनसमाज के लिए चिरस्मरणीय हो गई है। हमने सन् १९४२ में उनसे वर्धा में भेंट की थी। उस समय उनसे कहा था - बाबू साहब ! हम कुछ वर्ष पूर्व मध्यप्रदेश के गवर्नर सर हेनरी ट्वाइनम से महावीर जयन्ती की छुट्टी के विषय में मिले थे।

तब उन्होंने हमसे पूछा था-"जब अन्य प्रान्तों में भी जैनी हैं तब मध्यप्रदेश सरकार इस विषय में क्यों प्रारम्भिक कदम उठावे ?" इस प्रश्न की राजेन्द्र बाबू के समक्ष चर्चा करते हुए मैंने कहा-"भगवान् महावीर बिहार प्रान्त की विभूति थे। इसलिए बिहार प्रान्त के रत्न से मैं नम्रतापूर्वक पूछता हूँ कि क्यों न बिहार प्रान्त की सरकार अपने भगवान् महावीर के सार्वजनिक सम्मान निमित्त छुट्टी घोषित करे ?"

उन्होंने कहा-"हमारे हाथ में अभी क्या है ? हम तो शीघ्र ही गिरफ्तार होने वाले है।"

मैंने कहा था-"आज नहीं तो कल, शासन-सत्ता आपके हाथ में आयेगी, इसलिए उस समय हमारी बात को पूर्ण कीजिए।" वे चुप हो गए। मौनं सम्मति लक्षणम्।

जेल से छूटने के उपरान्त कांग्रेस के हाथ में शासन-सूत्र आया। मैंने उक्त वार्तालाप

---

1. (Nagpur, June 4, 1949) Appeal by Jains to save life of Holy monk now on hunger strike, By S.C. Diwaker Shastry. "Jains all over India are worried over the fast undertaken by His Holiness Charitra Chakravarty Acharya Shri Santisagarji Swami, the great Jain monk at Gajpantha Hill near Nasik (Bonbay)

They are depressed at the indifference of the Central and Bombay Governments towards his ten month's old hunger strike started in order to get the Bombay Harijan Temple Entry Act, 1947 amended so as to exclude Jain Temples from its application as has been done by the C.P. and Berar Goverment in view of the fact that there are no Harijans in the Jain fold.

According to the latest news from Nasik, the condition of Swamiji is causing great anxiety since he is having fever and fits. Swamiji is now 78 years old. If the Provincial and Central Governments do not immediately intervene, it is feared a most precious life will be lost to the country in general and to Jains in particular."

Blitz (Weekly News paper), Bombay.

की याद दिलाई। कुछ समय बाद यह ज्ञात हुआ कि बिहार प्रान्त की सरकार ने चैत्र सुदी त्रयोदशी को महावीर-जयन्ती की छुट्टी घोषित कर दी। इससे आशा होती थी, कि साधु हृदय राजेन्द्र बाबू के प्रयत्न से जैन गुरु का संकट दूर होगा।

पंडिता चंदाबाई अपने भतीजे बाबू चक्रेश्वरकुमारजी को साथ लेकर बम्बई रवाना हुईं। उनका तार पाते ही हम भी बम्बई पहुँचे। मुख्यमंत्री श्री वी.जी. खेर से चर्चा हुई, किन्तु अन्तःकरण की शुद्धता न होने के कारण स्थिति में कोई सुधार न हुआ।

उस समय बड़ा विचित्र वातावरण था। महाराज के समक्ष अपनी भक्ति की दुहाई देने वाले अनेक धनी-मानी लोग परोक्ष में यही कहते थे कि महाराज ने व्यर्थ में अन्नत्याग करके वज्र तुल्य शासन से सिर रगड़ने का कार्य किया।

ऐसे लोगों से मुझे अनेक बार मिलने का मौका मिला। मैं बड़ी दृढ़तापूर्वक उन शिथिल मनोवृत्ति वाले सज्जनों से कहता था कि "आप साथ दें अथवा न दें, हम तो आचार्यश्री को अन्नग्रहण कराने के उद्योग में पीछे न हटेंगे। यदि शासक अत्याचारी बनकर धर्म पर आक्रमण करता है, तो हम उसके विरोध में अपनी आवाज को उठाये बिना न रहेंगे। अत्याचारी के कार्य की कभी भी हम अनुमोदना नहीं करेंगे।" मैंने अपने सभी सार्वजनिक कामों को बन्द कर इसी क्षेत्र में सारी शक्ति लगा कर उद्योग आरम्भ किया था। इसीलिए मैंने रामटेक गुरुकुल के संचालन से त्यागपत्र दे दिया था। इस बीच में मैं राष्ट्र के श्रेष्ठ अधिकारियों से मिला। उच्च विधान-शास्त्रियों आदि से भी भेंट की। विरोधी लोग हमारे कार्यों को ज्ञात कर उपद्रव और उत्पात करेंगे, इसलिए हम प्रयत्नपूर्वक अपने कार्यों को समाचार-पत्रों में प्रगट होने से बचाते थे।

बम्बई कानून के समान कानून तो मध्यप्रदेश में भी आया था, किन्तु हमने एक जैन शिष्ट-मंडल ले जाकर प्रांतीय सरकार के समक्ष निवेदन किया, तो बुद्धिमान मंत्रिमंडल ने जैनियों को कानून के भार से मुक्त कर आभारी किया तथा [1]एक विशेष पत्रक निकालकर भ्रम का निवारण भी किया।

मध्यप्रदेश की विधान-सभा के तत्कालीन अध्यक्ष श्री घनश्यामसिंह गुप्त से अनेक बार परामर्श किया। एक बार उनसे आवश्यक परामर्श निमित्त ज्वर की स्थिति में हम

---

1. Entry into Jain Temples. Nagpur, 12th Dec. 1947.

A press note says : "Governments have requesting that the provisions of The C.P. & Berar Temple Entry Authorisation Act 1947 should not be applied to the Jain temples. Section 2B of Act defines the word 'Temple' clearly enough to show that the Act applies to Hindu temples only and Jain temples are not therefore effected by the Act.

(Nagpur English Daily The Hitvada of 14-12-47)

उनके निवासस्थान दुर्ग पहुंचे थे। इस प्रकृति के विरुद्ध प्रवृत्ति के फलस्वरूप लगभग २ माह पर्यन्त हम बीमार रहे थे।

डॉ. राजेन्द्रप्रसादजी ने एक महत्वपूर्ण पत्र द्वारा सरदार वल्लभभाई पटेल से उचित कार्य करने के लिए प्रेरणा की थी। श्री सेठ बालचन्द हीराचन्द, बम्बई ने भी महत्वपूर्ण उद्योग किया था। इस प्रकार धार्मिक बहुसंख्यक जैनसमाज आचार्य महाराज की इच्छापूर्ति के विषय में शक्तिभर प्रयत्न कर रही थी। दूसरे विचार वाले थोड़े-से व्यक्ति सुधार के नाम पर महाराज के मार्ग में विघ्न उपस्थित करने में लगे थे।

आचार्य शान्तिसागर महाराज की शरीरस्थिति चिन्ताजनक होती जा रही थी, किन्तु उनका निश्चय मेरुसदृश अचल था। महाराज ने कहा कि -" राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री श्री नेहरू इस प्रकार की सूचना निकाल दें कि जैनमन्दिर में दूसरे धर्मवाले स्थानीय जैनपंचायत की आज्ञा लेकर ही जा सकेंगे तथा बिना अनुज्ञा प्राप्त किये उनको अधिकार न होगा।" इस सम्बन्ध में मैंने राष्ट्रपति को ५ अगस्त, सन् १९५० को पत्र लिखा था।

राष्ट्रपतिजी की ओर से २१ अगस्त को यह उत्तर प्राप्त हुआ," इस विषय में राष्ट्रपति की हैसियत से वे प्रत्यक्ष रूप में कुछ नहीं कर सकेंगे। इस सम्बन्ध में आपको भारत सरकार से निवेदन करना चाहिए।" [१]

राष्ट्रपतिजी की ओर से प्राप्त पत्र इस प्रकार था :

Governments House, New Delhi. 21st August, 1950

Dear sir, your leter dated the 5 th August, 1950, has been received by the President. He regrets very much that it is not possible for him to issue the kind of statement which you want him to do. It is a matter with which as President he cannot directly deal. If anything has to be done you have to approach the Government.

Your faithfully,
Sd/-Chakradhar Saran Private Secretary.

To, Shri S.C. Diwaker, Hony. Secretary
Jain Political Rights preservation Committee, Seoni (M.P.)

---

१. इसके आगे का प्रकरण कि 'केन्द्रिय सरकार आचार्य श्री के पक्ष में कैसे आई ?' चूंकि पंड़ितजी किन्हीं कारणों से नहीं देपाये, अतः उसे ही हम यहाँ भविजनों के बोधनार्थ पुस्तक के अंत में परिशिष्ट अंतरे के अंतर्गत प्रतिज्ञा-२ शीर्षक से आचार्य श्री के पक्ष में दिये गये बंबई हाई कोर्ट के निर्णय के हिंदी अनुवाद सहित आचार्य वर्द्धमानसागरजी व अन्य आचार्यों, मुनिवर्यों व विद्वानों के परमर्शानुसार सन् १९५१ के जैन बोधक के श्री आचार्य शांतिसागर विशेषांक से लेकर दे रहे हैं, क्यों कि बगैर इसके इस विषय से संबंधित इतिहास अधूरा सा प्रतित होता है॥ इसीके साथ हम आचार्य विद्यासागरजी द्वारा विरचित शांतिसागर विनयांजलि व आचार्य शांतिसागर जी के सुशिष्य मुनिवर्य कुंथुसागर विरचित शांतिसागर-चारित्र(संस्कृत भाषा में छंद बद्ध रचना) भी प्रकाशित कर रहे हैं॥ - संयोजक

२६ जनवरी, सन् १९५० में भारतीय संविधान गणतंत्र भारत में प्रचलित हुआ। उसके नियम नं. २५ (२ब) तथा नियम नं. २६ तथा २९ के अनुसार हम इस निर्णय पर पहुंचे कि भारतीय संविधान के अनुसार जैनमंदिर में इतर संप्रदाय वाले को कोई अधिकार नहीं प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में जब हमने तत्कालीन, कांग्रेस अध्यक्ष श्री पुरुषोत्तमदास टंडन से दिल्ली पहुंचकर कांग्रेस भवन में चर्चा की, तब उन्होंने कहा-"मन्दिर कोई क्लब या खेल का स्थान नहीं हे, जहाँ हर कोई आवे या जावे। मन्दिर तो आराधना का स्थल है। शैव मंदिर में शाक्त सम्प्रदाय वालों को घुसने का कैसे अधिकार होगा ? इसी प्रकार जैनमन्दिर में दूसरों को कभी भी अधिकार नहीं हो सकता है।

अनेक हाईकोर्ट के न्यायाधीशों से हमने चर्चा की। उसमें हमारे दृष्टिकोण का ही समर्थन प्राप्त हुआ।

एक प्रमुख न्यायाधीश ने कहा - जिस सम्प्रदाय की पूजा का स्थान है, वहाँ दूसरे सम्प्रदाय वाले को अधिकार नहीं हो सकता। इंग्लैण्ड में ऐसे मामले चल चुके हैं। उनमें यह निर्णीत हुआ कि रोमन कैथलिक वर्ग के गिरजा में प्रोटेस्टेंट नाम के दूसरे वर्ग को कोई अधिकार नहीं है, भले ही बहुमत उनका समर्थक हो।

विधान-शास्त्र के प्रकांड विद्वान् तथा देशबन्धु श्री सी.आर. दास के छोटे भाई प्रसन्नरंजन दास को हमने पत्र देकर उपरोक्त दृष्टिकोण को प्रश्नोत्तर के रूप में भेज कर उनका विचार जानना चाहा। उस समय उन्होंने हमारे प्रश्न को अत्यन्त महत्वपूर्ण बताते हुए आगामी अवकाश मिलने पर उत्तर देने का वचन दिया था।[1]

एक बार भारत सरकार के मुख्य वकील (**Attorney General**) श्री मोतीलाल सीतलवाड़ से लगभग आध घंटे तक नई दिल्ली में चर्चा हुई थी। मेरे साथ मेरा छोटा भाई एडवोकेट अभिनन्दनकुमार भी था। श्री सीतलवाड़ से ज्ञात हुआ था कि इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण के लिये सुप्रीम कोर्ट (सर्वोच्च न्यायालय) में कार्यवाही की जा सकती है। साधारण वकील लोग यही सोचा करते थे कि यह मामला हाईकोर्ट में भी नहीं पेश हो सकता है, इसलिए मैंने श्री सीतलवाड़ से पूछा-"सुप्रीमकोर्ट में इस सम्बन्ध में कैसे विचार हो सकता है ?" तब उन्होंने बताया था कि यह प्रश्न मौलिक अधिकार (Fundamental rights) से संबंधित है, इसलिये यह सीधे सर्वोच्च न्यायालय में पेश हो

---

1. Patna 6th Sep. 1950.

   Dear Mr. Diwaker, I am at present too much busy to answer the very important question which you have put to me. I shall have no time till the middle of October. If your should then write to me, I shall endeavour to do my best to give you satisfactory reply.

   - Sd/P.R. Das.

सकता है। उनसे यह भी ज्ञात हुआ था कि चार-पाँच सप्ताह में निर्णय हो सकता है। उन्होंने सरकारी वकील होने के कारण अपना अभिमत नहीं बताया था।

इस प्रकार विविध साधनों के द्वारा भारतीय संविधान के नियमों को अपने अनुकूल ज्ञात कर हमने जैन प्रमुख लोगों के समक्ष कानूनी कार्यवाही करने की सलाह दी। इस संबंध में दिगंबर जैन महासभा की विशेष बैठक होकर एक उपसमिति का निर्माण हुआ तथा कानूनी कार्यवाही करने का निश्चय भी हो गया।

अद्भुत काण्ड

इसके अनंतर एक अद्‌भुत घटना हो गई। २८ नवंम्बर, सन् १९५० को अकलूज पहुँचकर सोलापुर के कलेक्टर ने रात्रि के समय दि. जैन मंदिर का ताला तुड़वाकर उसके भीतर मेहतरों तथा चमारों आदि का प्रवेश कराया तथा जिन जैन बन्धुओं ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई उनको गिरफ्तार कर लिया। इससे सारे समाज में सनसनी फैल गयी।

जबरदस्ती मंदिर प्रवेश

जबरदस्ती मंदिर में प्रवेश कराना तो गांधीजी को भी प्रिय न था। उन्होंने १९३२ में २३ दिसंबर को पूना के यरवदा जेल से श्री अमृतलाल सूरजमल जवेरी, मंत्री, जैन युवक सभा, पाटन को तार भेजा था :-

"आपका तार मिला, मुझे इस विषय में जरा भी संदेह नहीं है कि जैन मंदिर में जबरदस्ती किसी को ले जाना योग्य नहीं है। विशेष कर ऐसे लोगों को ले जाना कदापि उचित नहीं है, जो उस संप्रदाय के नहीं है, जिनके लिए यह मंदिर बनाया ही नहीं गया है।"[1]

गांधीजी के इस तार का कलेक्टर की कानूनी दृष्टि में कोई महत्व नहीं रहा। इससे उन लोगों का भ्रम दूर हुआ जो पं. जवाहरलाल नेहरू के इस पत्र को पाकर कि" जैनधर्म, हिन्दूधर्म का भेद नहीं है," इससे आचार्य महाराज को अन्नग्रहण कराने को प्रेरणा कर रहे थे।

२८ दिसम्बर सन् १९५० को बंबई में जैन महासभा की विशेष बैठक में ११ व्यक्तियों की विशेष उपसमिति इस संबंध में कार्यनिमित्त बनाई गई।

उस उपसमिति में कानूनी सलाह प्राप्त करने के अनंतर कानूनी कार्यवाही करने का

---

1. **Poona Dated A.M. 23 September, 1932**
"Amritlal Surajmal Javeri, Secretary,ain Yuvak Sabha, Patan. Your wire. I have no doubt that forcible entry into Jain temples by any body is unwarranted and certainly by those who do not belong to those for whom temple built".

- Gandhi.

अधिकार दिया गया था। इस सम्बन्ध में जो खर्चा लगेगा, उसे देने की प्रतिज्ञा कलकत्ता निवासी गुरुभक्त सेठ गजराज जी गंगवाल ने आचार्यश्री के समक्ष की थी। हम भी उस समिति के सदस्य थे।

४ सितम्बर, सन् १६४६

कवलाना चातुर्मास के समय महाराज का शरीर १५ मिनट तक ठंडा पड़ गया था। सांस रुक गयी थी। करवट तक बदलना कठिन हो गया था। इससे सारे भारतवर्ष के प्रमुख श्रीमान् तथा धीमान् महाराज के पास पहुंचे थे। उस समय सभी विद्वानों ने आचार्य महाराज के समक्ष कहा था कि" दिगम्बर जैनशास्त्रों में शूद्रों के जिनमंदिर के भीतर प्रवेश करने की आज्ञा नहीं है।"

हड़ताल

गुरु चरणों के प्रति भक्ति प्रदर्शित करते हुए १५ अगस्त सन् १६४६ को उनके अन्नत्याग के वर्ष पूर्ण होने पर दिगम्बर जैनसमाज ने भारतव्यापी हड़ताल द्वारा यह स्पष्ट कर दिया था कि बहुसंख्यक जैन वर्ग आचार्य महाराज के चरणों का अनुगामी है। अकलूज कांड होने पर बम्बई के बैरिस्टर सर एन.पी. इंजीनियर, बम्बई के द्वारा दरख्वास्त बनाकर बम्बई हाईकोर्ट में पेश कर दी गयी। उपसमिति के परामर्श के अनुसार हम १० फरवरी सन् १६५१ को पटना में बैरिस्टर पी.आर. दास से उनके निवास स्थान शांतिनिकेतन में मिले।

पटना में परामर्श के उपरान्त प्रस्थान कर हम सेठ गजराजजी श्री तिलकचंद शाह वकील, श्री मणिकचंद्र दोशी वकील, फलटण के साथ प्रभात में पारसनाथ (शिखरजी) पहुंचे। वंदना करके वापिस आये तथा वहाँ होने वाले पंचकल्याणक महोत्सव के ज्ञानकल्याणक समारंभ में सम्मिलित हुए।

हजारों लोग उपस्थित थे। उन्होंने हमसे बम्बई मंदिर में प्रवेश कानून के संबंध में की गयी कार्यवाही तथा आचार्य महाराज के स्वास्थ्य इत्यादि के विषय में अपने भाषण द्वारा स्पष्टीकरण की इच्छा व्यक्त की। हमने उदाहरण सहित[1] सब बातों पर प्रकाश डालते हुए सभी श्रावकों आदि से अनुरोध किया था कि वे जिनेन्द्र भगवान् की आराधना द्वारा धर्मसंकट निवारण के कार्य में बड़ी सहायता कर सकते हैं, क्योंकि जिनेन्द्र की भक्ति

---

१. **सर एम. वरदाचार्य :** फेडरल कोर्ट के न्यायाधीश सर एम. वरदाचार्य के विषय में सर मारिस ग्वायर, प्रधान न्यायाधीश, फेडरल कोर्ट ने अमेरिकन पत्रकार लुईफिशर से कहा था, " नई दिल्ली में अकेले वरदाचार्य ही एकमात्र राजनीतिक दार्शनिक थे।" उक्त विद्वान् से जब लुई फिशर ने अस्पृश्यता के संबंध में प्रश्न किया, तो न्यायमूर्ति वरदाचार्य ने कहा था, " यदि आप आत्मा के आगमन में विश्वास करते हैं तो आपको मालूम होना चाहिए कि यदि किसी आत्मा ने एक जन्म में कुकर्म किये हैं तो दूसरे जन्म में उसका हरिजन के घर में जन्म हो सकता है।" -लुई फिशर - एक महान् नैतिक चुनौती, पृ. १६८-१६६।

अचिन्त्य सिद्धियों की जननी है। त्यागी समुदाय ने हमारा समर्थन किया था।

गद्य चिंतामणि में आचार्य वादीभसिंह ने लिखा है, "जिन भगवान् के चरणकमल की भक्ति का शीकर (जलकण) सुरेन्द्र तथा असुरेन्द्र के पदों को प्राप्त कराता है।"[१]

हमारी तो यह धारणा है कि जब भी जैनधर्म पर संकट आवे, तब समाज के धार्मिक व्यक्तियों को समुदाय रूप से जिनेन्द्र की आराधना, पूजा, जाप आदि करना चाहिए। इस अंग की उपेक्षा के कारण ही अनेक उद्योगों में असफलता का दुःख भोगना पड़ा है। इस कारण हम जहाँ भी गये और धार्मिक बंधुओं से मिलना हुआ, वहाँ हमने पंचपरमेष्ठी की आराधना करने की ही प्रेरणा की।

चिन्ता

हम बम्बई से चलकर १२ जुलाई, सन् १९५१ को अपने छोटे भाई शान्तिलाल के साथ आचार्य महाराज के पास पहुँचे थे। उस समय महाराज को केस की विशेष चिन्ता थी। क्योंकि जैनपक्ष के वकील सर इंजीनियर यूरोप में थे और दास बाबू के आने का पक्का समाचार नहीं आया था। सेठ गजराजजी के पास आचार्यश्री के तरफ से तीन तार गये, रजिस्टर्ड पत्र भी गया, किन्तु वहाँ का उत्तर न आने से महाराज के मन में ऐसा लगा कि इस सम्बन्ध में कहीं हमें भ्रम में तो नहीं डाला गया है। मैंने कहा- "महाराज, गजराजजी बाहर होंगे, इससे उत्तर नहीं आया।" पश्चात् मैंने गजराजजी को तार भेजा किन्तु इस विषय में महाराज से कुछ भी परामर्श नहीं किया था।

तार में लिखा था कि आचार्य महाराज मामले के बारे में बहुत चिन्तित हैं, क्या आप बैरिस्टर दास को लेकर पेशी पर बम्बई पहुंचेगे ? उत्तर में १३ जुलाई, सन् १९५१ को कलकत्ते का तार मिला।[२]

आचार्यश्री से कहा- "इस प्रकार का तार गजराजी का कलकत्ते से आया है कि वकील दास बाबू की व्यवस्था हो गई। वे ता. २३ को केस में शामिल होंगे। ता. १७ को दिल्ली के इंपीरियल होटल में परामर्श होगा। वे सालीसिटर के साथ ता. १७ को दिल्ली पहुँच रहे हैं। मैं तथा तलकचन्दजी अवश्य ता. १७ को दिल्ली परामर्श के लिए पहुंचें।"

गुरु आज्ञा

तार को सुनते ही आचार्यश्री की ओर से आदेश मिला, "जब तक केस पूरा नहीं होता

---

१. यदीय-पादाम्बुजभक्तिशीकरः सुरासुराधीश-पदाय जायते ॥

२. Sumerchand Diwakar c/o Chandulal Joti-chand, Baramati arranged with Das. Will Join case 23rd. Consultations will be held New Delhi Imperial Hotel on 17th with Das. Myself with Solicitor going Delhi on 17th. You and Talakchand must reach 17th Delhi for consultations. - Gajraj.

है, तब तक तुम सिवनी मत जाना और केस का ही काम करना।'' गुरुदेव के आदेश को हृदय से शिरोधार्य किया। १५ जुलाई, असाढ़ सुदी एकादशी, रविवार को आचार्य महाराज तथा नेमिसागर महाराज का केशलोंच ३ बजे दिन को बारामती के मन्दिर की धर्मशाला में सम्पन्न हुआ। अजैन लोग भी बहुत थे। केशलोंच के पूर्व आचार्य महाराज ने बारामती में चातुर्मास करने की प्रतिज्ञा की थी। यद्यपि पूर्णिमा को अभी चार दिन शेष थे, किन्तु पंचांग को देखकर आगे शुभ मुहूर्त न होने से एकादशी को निश्चय किया।

परेशान

हम असाढ़ सुदी एकादशी की रात्रि को बारामती से चलकर शहा वकील के साथ बम्बई पहुँचे। वहाँ हमारे छोटे भाई अभिनन्दनकुमार का बड़ा चिन्ताप्रद पत्र मिला कि वृद्ध पिताजी को मंदिर में पूजा करते समय चक्कर आ गया। वे गिर पड़े, मस्तक पर गहरी चोट आई। इसके साथ में यह भी दुःखद समाचार था कि हमारी छोटी बहिन कमलाबाई भयंकर बीमार है और डाक्टरों ने उसे प्लूरिसी का रोग बताया है। इस पत्र के बाँचते ही अद्भुत परेशानी सामने आ गई। कुटुम्ब का ममत्व सिवनी को वायुयान तक से दौड़ने को कहता था, तो आचार्य महाराज की आज्ञा धर्म सेवा को स्मरण कराती थी।

कुछ क्षणों में मोह का भाव दबा, मंगलमय आचार्य परमेष्ठी की आज्ञानुसार धर्मसेवा का ही निश्चय किया। हमने यही सोचा कि वीतराग शासन के प्रसाद से आकुलता दूर होगी। हुआ भी ऐसा ही। कुछ काल के बाद संतोषप्रद संवाद प्राप्त हुआ। यथार्थ में धर्म की भक्ति का अचिन्त्य माहात्म्य है। तीर्थंकर की शरण लेने से कभी भी दुःख नहीं टिक सकता।

वहाँ हम लोगों ने हाईकोर्ट में जाकर पता लगाया तो ज्ञात हुआ, कि पेशी ता. २३ के स्थान में ता. २४ जुलाई, श्रावण कृष्ण षष्ठी, दिन मंगलवार को रखी गयी है। कई लोग सोचते थे, सर एन. पी. इंजीनियर बैरिस्टर की प्रतीक्षा करना आवश्यक है। किन्तु आचार्य महाराज का हृदय कहता था देर नहीं होनी चाहिए। उनके हृदय की प्रेरणा के अनुसार पेशी समीप ही रही। अब देहली पहुँचकर बैरिस्टर दास से परामर्श करने की बात थी। पटना में दास बाबू को श्री शहा वकील तथा हमने सारी ज्ञातव्य बातें कह दी थीं, अतः अब यदि परामर्श-योग्य स्थान बम्बई है, जहाँ श्री दास बाबू पेशी के पूर्व आवें तो वहाँ के वकील श्री पालखीवाला, श्री वोरा बैरिस्टर तथा श्री रमणलाल कोठारी, सालीसिटर नन्दलाल एण्ड कम्पनी के साथ सम्यक् परामर्श हो।

यही सोचकर हमने सर सेठ भागचन्द की पेढ़ी जुहार पैलेस पर जाकर उनके प्रमुख मुनीम सुन्दरलालजी से परामर्श किया। उन्होंने कहा, मैंने अभी थोड़ी देर पहले अजमेर से सेठ साहब से बात की थी, आप उस समय आ गये होते तो बड़ा अच्छा होता।

अस्तु, फिर उन्होंने फोन किया, तो वहाँ की लाइन में गड़बड़ी हो गई। अब फोन आता है। थोड़ी देर में आता है। ऐसी प्रतीक्षा में एक घंटे से अधिक समय व्यतीत हो गया। कदाचित् फोन मिल जाता तो हम लोगों का दिल्ली पहुँचना शायद स्थगित हो जाता, किन्तु उस भूमि के स्पर्श का निमित्त था अतः अपने ठहरने के स्थान पर आए तो ज्ञात हुआ कि अजमेर से सर भागचन्दजी का हमारे नाम पर फोन आया था। वे दिल्ली के लिए रवाना हो गए तथा हमें और शहा वकील को रात्रि के वायुयान से आने को कहा है। हवाई जहाज का टिकट आ गया। हम रात को डेढ़ बजे रवाना हो गए। प्रभात में ५.३० बजे दिल्ली के वेलिंगडन एरोड्रोम में उतर पड़े। बम्बई शीतल वातावरणयुक्त था और दिल्ली में भीषण गर्मी थी। वहाँ पहुंचकर पता चलाया तो ज्ञात हुआ कि सेठ गजराजजी को कारणवश विलम्ब हो गया है। वे सालीसिटर के साथ ता. १८ के प्रभात में आए। ता. १८ को बैरिस्टर दास से केस पर चर्चा हुई। वहाँ दास बाबू ने कहा कि आप लोगों को तुरंत बम्बई पहुंच कर योग्य साक्षी तैयार करना चाहिए। हाईकोर्ट साक्षी कैसे लेगी ? यदि साक्षी (evidence) की स्थिति आई, तो न्यायालय इस मामले को नीचे की अदालत में भेजे बिना न रहेगी। यह जानते हुए भी बड़े वकील की बड़ी बात विचार कर ता. १८ की रात्रि को हवाई जहाज में सीट बुक करने के लिए फोन से बात की, तो ऐरोड्रोम दफ्तर से कहा गया, केवल दो सीटें बाकी है, 'शीघ्रता कीजिए' नहीं तो ता. १९ को सीट मिलेगी।

हमने शहा वकील से कहा अपने लिए ही वे स्थान सुरक्षित प्रतीत होते हैं। वायुयान से हमने दिन में ही अनेक बार प्रवास किया है। उसकी दुर्घटनाओं का वर्णन पत्रों द्वारा प्रगट होने से रात्रि के प्रवास के प्रति कुछ कम इच्छा होती थी, किन्तु हमने यही सोचा, धर्म का श्रेष्ठ कार्य करते हुए विपत्ति का क्या भय और यदि कदाचित् वह आई तो श्रेष्ठ सेवा करते रहने में भविष्य की भी भीति नहीं है।

दिल्ली में मुनिराज श्री नमिसागर महाराज तथा अन्य महान् तपस्वियों के दर्शन किए। उन लोगों ने आचार्य शांतिसागर महाराज के समान एकादशी को चातुर्मास का निश्चय न कर पूर्णिमा को ही एकत्रित होकर देहली चातुर्मास का निश्चय किया। खूब समुदाय था। आचार्य शांतिसागर महाराज के स्वास्थ्य आदि की बातें सुन कर सबको संतोष हुआ। हमने सबसे यही अनुरोध किया कि धर्मसंकट निवारणार्थ अधिक से अधिक जिनेन्द्र-स्मरण करें।

हम लोग मध्य रात्रि को दिल्ली से चलकर विमान में सोते हुए सबेरे ता: १९ को पुनः बम्बई आ गए। अब पेशी को पाँच दिन शेष हैं। कार्य बहुत अधिक था। बम्बई की धार्मिक समाज ने क्षुल्लक सूरिसिंहजी के नेतृत्व में जाप की विशिष्ट विधि चंद्रप्रभु-

जिनालय, भूलेश्वर में की। सभी धार्मिक लोग जिनेन्द्रस्मरण करने में संलग्न थे।

जिनेन्द्र देवकी स्तुति करने से विघ्नों की राशि शाकिनी, भूत, सर्प दूर हो जाते हैं, विष भी निर्विषता को धारण कर लेता है। उस अवसर पर हमने अपने भाषण में कहा था, जो भाई और बहिन जाप में बैठने में असमर्थ हैं वे भी अपने अपने स्थानों में ही महामंत्र का जाप करें। आज के शासन में धर्म की प्रतिष्ठा का कार्य सामान्य नहीं है।

ता. २१ शनिवार को दास बाबू के बम्बई आने पर उनके निवासस्थान पर संध्या को काफी परामर्श होता रहा। हम, सर सेठ भागचंदजी सोनी, सेठ रतनचंद हीराचंदजी, सेठ राजकुमारसिंहजी और श्री फूलचंद कोठड़िया वकील, पूना, अकलूज के लोग आदि उपस्थित थे। दास बाबू ने केस को तैयार किया। बैरिस्टर पालकीवाला, बैरिस्टर बोहरा, श्री रमणलाल कोठारी सालीसिटर, श्री शाह वकील आदि सभी लोग यथा-शक्ति प्रयत्नशील थे। बम्बई में निरन्तर कार्य में संलग्न रहने से समय के बीतने का पता नहीं चलता था।

हाईकोर्ट बम्बई

अब ता. २४ जुलाई १९५१का मंगलमय दिवस आया। हमने बड़े आनन्द से भगवान् की पूजा की। तैयार होकर हाईकोर्ट में काफी समय पहले पहुँच गए, क्योंकि टाइम्स ऑफ इंडिया आदि दैनिक पत्रों में केस का वर्णन आ जाने से बड़े-बड़े लोगों की दिलचस्पी जागृत हो उठी थी। बैरिस्टर दास बाबू की बहस सुनने को अनेक विधि-विशेषज्ञ (वकील) आ गए थे।

११ बजे चीफ जस्टिस श्री एम.सी. चागला तथा जस्टिस श्री गजेन्द्र गड़कर आ गए। उनके सामने की पंक्ति में बैरिस्टर पी. आर. दास तथा उनके सहयोगी बैरिस्टर थे, दूसरी ओर सरकारी वकील (बैरिस्टर), आमीन तथा एडवोकेट जोशी आदि थे।

न्यायाधीशों के आते ही अखंड सन्नाटा हो गया। चीफ जस्टिस ने पिछले एक मामले का फैसला पढ़ना प्रारम्भ किया। वह शायद पचास पृष्ठ लम्बा था। करीब-करीब उतना ही नहीं, तो उसका छोटा भाई सरीखा दूसरा फैसला जस्टिस गजेन्द्र गड़कर ने बाँचना प्रारम्भ किया। प्रतीक्षा के कारण एक-एक मिनट गिनते-गिनते डेढ़ बज गया। दास बाबू भी काफी श्रान्त दिखने लगे। सत्तर वर्ष से अधिक उनकी अवस्था भी हो गई थी। यह प्रतीत होता था कि नाश्ता (**Lunch**) के बाद ही केस लिया जायगा।

घड़ी में पौने दो हुए थे कि प्रधान न्यायाधीश श्री चागला ने पूछा "**Well, what is your case?**" (कहिए दास बाबू ! आपका क्या मामला है।)

एकदम गम्भीर वातावरण हो गया। दास बाबू ने केस की कथा प्रारम्भ की कि अकलूज जिला सोलापुर में एक स्थान है, वहाँ के जैनमन्दिर का ताला सोलापुर के कलेक्टर ने

तुड़वाकर वहाँ अजैनों को जबरदस्ती घुसेड़ा है। यह कलेक्टर का कार्य अन्यायपूर्ण है।

श्री दास अपनी बात कह ही रहे थे कि जज गजेन्द्र गड़कर महाशय ने पूछा-"श्री दास! यह बताइये क्या आप वर्णाश्रम धर्म मानते हैं ? यदि हाँ, तो आप अस्पृश्यों के प्रति मन्दिर-प्रवेश प्रतिषेध की नीति को अवश्य मानते होंगे?"

दास बाबू ने उत्तर दिया-"मैं तो जैन नहीं हूँ, मुझे नहीं मालूम जैन लोग वर्णाश्रम व्यवस्था मानते हैं या नहीं ?"

दास बाबू ने आगे यह कहा-"हमने जैनमंदिर में घुसने वालों को अजैन समझकर रोका है, हम नहीं जानते वे हरिजन हैं या सवर्ण हैं।"अपने विषय को स्पष्ट करते हुए उन्होंने पटना हाईकोर्ट के एक पुराने मुकदमे का उल्लेख करते हुए कहा "एक बार बिहार प्रांत के राजगिरि ग्राम का मामला अदालत में पहुँचा। बात यह थी कि राजगिरि में जो गरम पानी के झरने हैं, वे हिन्दुओं के अधिकार में थे। मुसलमान लोग वहाँ अधिकार जमाना चाहते थे। अतः उन्होंने अपनी ओर से प्रमाण पेश किए थे कि उन लोगों ने बिना रोक-टोक के कुंडों में स्नान किया है। उसके जवाब में हमने कहा था"नहाने वालों के मुख पर मुसलमान नहीं लिखा था, जिससे हम यह जानते कि ये मुसलमान लोग यहाँ आए हैं। हमने उनको हिन्दुओं के समान ही समझ कर प्रवेश करने दिया था। इसी प्रकार जैन मंदिर में यदि कभी हिन्दू भी गए हैं, तो हमने उनको जैन समझ कर ही जाने दिया है। अजैन जानकर नहीं!"

इस पर जस्टिस गजेन्द्र गड़कर ने कहा-" श्रीयुत दास ! यह बात यहाँ नही लागू होती है। अकलूज एक छोटी-सी बस्ती है। वहाँ सब लोग एक-दूसरे को पहचानते हैं कि कौन किस जाति का है आदि, अतः अकलूज के विषय में यह नहीं कहा जा सकता है कि प्रवेश करने वाले अजैनों को हमने जैन जानकर ही आने दिया।

श्री दास ने अपना विषय स्पष्ट करते हुए कहा-" यदि हिन्दू लोग किसी विशेष जैन मंदिर में अधिकार अथवा रिवाजपूर्वक आते रहे हैं, तो वह अधिकार हरजिनों को भी प्राप्त होगा यह बात हमें मान्य है। किन्तु यदि इस मन्दिर में हिन्दुओं को भी अधिकार नहीं रहा है तो हरिजनों को भी अधिकार नहीं रहता है।"

गंभीर स्थिति

इस प्रकार बहस चल रही थी कि न्यायाधीश जलपान के लिए दो बजे उठ गए। उस समय न्यायाधीश का रंगढंग ऐसा दिखा कि अब मामला खारिज होने में देरी नहीं है। जजों के प्रश्नों के आगे जैनों के तरफ का उत्तर असरकारी नहीं दिखता था। सैकड़ों जैन भाइयों के चेहरों पर उदासी छा गई। हमारे मन में इस बात की चिन्ता थी कि कहीं अपने विरुद्ध निर्णय हुआ, तो इसका आचार्य महाराज पर

अच्छा असर नहीं पड़ेगा।

आचार्यश्री की आराधना

उस समय पास में बैठे हुए उसी दिन बारामती से आये सेठ तुलजाराम चतुरचंद ने सुनाया कि-"आचार्य महाराज ने तीन दिन से बिल्कुल भी आहार नहीं लिया है। वे दिन-रात भगवान् के जाप में ही लगे हैं। वे किसी से कुछ भी बातचीत न करके निरन्तर प्रभु नाम स्मरण ही में संलग्न हैं। कुटी के बाहर कुछ क्षणों को आये थे। शौचादि से निवृत्त हो देवदर्शनादि के बाद जाप जपने में लग जाते हैं। यह बात सुनते ही मन में विचार होने लगा, इतने बड़े महापुरुष की जिनेन्द्र आराधना अवश्य कार्य करेगी।"

बैरिस्टर दास पूर्ण निराश से दिखते थे। उनकी बोली भी ऐसी सान्त्वना देने वाली और आगे की तैयारी की प्रेरणाकार हो गई थी, जैसा कि वकील लोग असफल होने पर किया करते हैं।

आशा की किरण

लगभग १५ मिनट के बाद न्यायाधीश आए, और मामला पुनः आरम्भ हो गया। उसी समय मेरी दृष्टि में एक बात आई । मैं बैरिस्टर दास की पिछली पंक्ति में था। दास बाबू ने जरूरी कागज निकाले तो अकस्मात् दावात उलट गई और उनके सब कागज श्यामवर्णी बन गए। मैंने सोचा शकुन तो अच्छा दिखता है, किन्तु सामग्री तो पराजय का ही निश्चय कराती है।

प्रधान न्यायाधीश ने एडवोकेट जनरल श्री आमीन से पूछा-"आपको क्या कहना है ?" सरकारी वकील ने कहा-"बम्बई कानून के द्वारा सभी जैन मंदिर हिन्दुओं की पूजा के लिए उन्मुक्त हो जाते हैं, इससे उनमें जाकर पूजा करने का अधिकार हरिजनों को भी प्राप्त हो जाता है।"जस्टिस गजेन्द्र गड़कर ने पूछा," एडवोकेट जनरल महाशय, यह बताइए कि क्या इस कानून से सभी जैनमन्दिर हिन्दू मंदिर रूप में हो जाते हैं।"

एडवोकेट जनरल ने कहा-"जी हाँ ! सभी जैनमन्दिर हिन्दू बन जाते हैं।"

इस पर रुष्ट से होते हुए जज ने पूछा,"क्या कानून का यह अभिप्राय है कि जो जैन संप्रदाय हजारों वर्षों से चला आया है, उसे जरासी कलम चलाकर खतम कर दिया जाय ? कानून का यह कदापि रुख नहीं हो सकता है कि हरिजनों के उद्धार के उद्देश्य से बनाए गए कानून द्वारा संपूर्ण जैनियों को समाप्त करके हिन्दू बना दिया जाय।"उन्होंने यह भी कहा, "आपके हरिजनों के हित की भावना का मैं आदर करता हूँ, किन्तु यह बात नहीं मान सकता हूँ कि इस कानून के द्वारा जैनियों का अस्तित्व ही समाप्त कर दिया गया।"

चीफ जस्टिस ने पूछा-"श्री एडवोकेट जनरल ! यह बताइये कि आपके कलेक्टर को

जैन मन्दिर का ताला तोड़कर ८बजे रात को हरिजनों को मन्दिर में ले जाने का अधिकार किसने दिया था ? क्या उसके हाथों में कानून आ गया था। उसे केवल इतना ही अधिकार था कि रोकने वालों पर दावा दायर करना, किन्तु मन्दिर का ताला तोड़कर घुसने का तरीका तो बहुत बड़ी ज्यादती थी।''

हाईकोर्ट का निर्णय

इसके अनन्तर ही चीफ जस्टिस ने कहा, हम निर्णय घोषित करते हैं। उन्होंने जस्टिस गजेन्द्र गड़कर से पूछा'' क्या आप फैसला बोलते हैं ?''

उन्होंने कहा, ''आप ही बोलिए।''

श्री जस्टिस चागला ने फैसला आरम्भ किया , ''बम्बई कानून का लक्ष्य हरिजनों को सवर्ण हिन्दुओं के समान मन्दिर-प्रवेश का अधिकार देना है। जैनियों तथा हिन्दुओं में मौलिक बातों की भिन्नता है। उनके स्वतन्त्र अस्तित्व तथा उनके धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार शासित होने के अधिकारों के विषय में कोई विवाद नहीं है, अतः हम एडवोकेट जनरल की यह बात अस्वीकार करते हैं कि कानून का ध्येय जैनों तथा हिन्दुओं के भेदों को मिटा देना है।''

''दूसरी बात यह है कि यदि कोई हिन्दू इस कानून के बनने के पूर्व किसी जैन मंदिर में पूजा करने के अधिकार को सिद्ध कर सके, तो वही अधिकार हरिजन को भी प्राप्त हो सकेगा। अतः हमारी राय में प्रार्थियों का (petitioner's) यह कथन मान्य है कि जहाँ तक इस सोलापुर जिले के जैन मन्दिर का प्रश्न है, हरिजनों को उसमें प्रविष्ट होने का कोई अधिकार नहीं है, यदि हिन्दुओं ने यह अधिकार कानून, रिवाज या परम्परा के द्वारा सिद्ध नहीं किया है।''

'' कलेक्टर का कार्य भी कानून के अनुसार ठीक नहीं था। कानून के नियम के नियम नं. ४ के अनुसार कलेक्टर को इस बात का संतोष हो जाय कि इस अकलूज के जैन मंदिर में हिन्दुओं को कानून, रिवाज या परम्परा के अनुसार अधिकार था, तो उसे यह करना उचित होगा कि उस जैन पर कार्यवाही करे जो इस कानून के द्वारा प्रदत्त अधिकार में बाधा डालता है। किन्तु नियम नं. ४ के सिवाय कलेक्टर को ताला तोड़ने का अथवा हरिजनों को मन्दिर में प्रविष्ट कराने में सहायता देने का अधिकार नहीं था।''

निर्णय के पश्चात्

इस निर्णय को सुनते ही सबको आश्चर्य हुआ। कानून के विशेषज्ञ चकित हुए कि जहाँ मामले में पराजय की स्थिति थी, वहाँ धर्मपक्ष की पूर्णतया विजय हो गई। उस समय इस प्रसंग में जिसको जितना अधिक श्रम उठाना पड़ रहा था, उसके आनन्द की

मात्रा उतनी ही अधिक थी। धार्मिक जैन समाज के हर्ष की सीमा न थी।

महाराज की तपस्या

वर्तमान शासन में जिनेंद्र की आज्ञा की पूर्ण रक्षा होना अलौकिक बात है। हम तो इस प्रसंग में सम्पूर्ण बातों से परिचित रहे हैं। उस निकट परिचय के आधार पर यह कहना पूर्णतया सत्य है कि इस सफलता का श्रेय उन परमपूज्य चारित्र चक्रवर्ती ऋषिराज को है, जिन्होंने जिनशासन के अनुरागवश तीन वर्ष से अन्न छोड़ रखा था। यह उनकी प्रवचन-भक्ति तथा प्रवचनवत्सलत्व भावना का विशेष प्रभाव था, तथा हजारों, लाखों नर-नारियों की पंचपरमेष्ठी की भक्ति का प्रसाद था, जो धर्म की नौका बच गई।

उस समय आचार्य महाराज के जिनशासन में प्रगाढ़ भक्तिपूर्ण शब्द समझ में आए, जो उन्होंने कई बार कहे थे कि "**अभी धर्म-ध्वंस का समय नहीं आया है। अभी हजारों वर्ष पर्यन्त जैनधर्म जीवित रहेगा।**"उनके मुख से ये भी शब्द सुने थे कि "इससंकट को दूर होते देर न लगेगी।"इस धार्मिक सफलता पर जिन्हें आनन्द हुआ, उन्होंने पुण्य का संचय किया होगा। कुछ ऐसे भी व्यक्ति रहे जिनको असह्य वेदना हुई। किन्तु अब यह ऐसी वस्तु नहीं है, जो कोई नेता या और दूसरों के द्वारा बदली जा सके या अखबारी आन्दोलन के द्वारा उलटाई जा सके। उन श्रावक कुल संभूत व्यक्तियों की वृत्ति पर दया आती है, जो आचार्य परमेष्ठी के विरोध में जाल बुनते रहे थे, किन्तु स्वयं वे उसमें ही आक्रान्त हो गए। जिनागम में जो बात नहीं कही गई है, उसे जिनागम का अंग बताना श्रुत का अवर्णवाद है, जिससे दर्शनमोह का आस्रव होता है।

ऐसा अनुभव में आता है कि किन्ही व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण सदा शासन सत्ता की हाँ में हाँ मिलानेवाला वर्ग तैयार हुआ करता है। धर्मभक्ति से पराङ्मुख हो राष्ट्रभक्ति वाले भ्रांत भाइयों ने अपने ही धर्म के कार्य को नष्ट करने को क्या-क्या विनिन्दित कर्म नहीं किये ? यह देख कलिकाल की महिमा याद आ जाती है। इस विकट परिस्थिति में आचार्य महाराज की आध्यात्मिक साधना तथा अन्य जिन-धर्म सेवकों की भक्ति ने संकट से जिनमंदिरों की शुद्धता की रक्षा की। पं. आशाधरजी ने जिनमंदिर की विशेषता लिखी है- "**दलितकलि-लीला-विलसितम्**"इनके द्वारा कलिकाल की लीला का विलास नष्ट हो जाता है। बहुत से विघ्नकारी तो वे लोग थे, जो कभी जिनमंदिर जाकर दर्शन भी नहीं करते थे, उन्हें दूसरों के दर्शन की फिकर थी। यह तीव्र कषाय का कार्य है।

सफलता का श्रेय

आचार्य महाराज को केस की सफलता का तार भेज दिया गया। ता. २४ जुलाई की रात्रि को बम्बई के श्री चन्द्रप्रभ-विद्यालय में सभा हुई। उसमें अनेक धर्मबन्धुओं ने भाषण द्वारा सेवा करने वाले भाइयों के कार्य की सराहना की। हमने कहा था कि "इस

महान् कार्य की सफलता के मुख्य कारण रत्नत्रय मूर्ति आचार्य शांतिसागर महाराज हैं और फिर ज्ञात-अज्ञात सेवक हजारों-लाखों नर-नारी हैं, जिन्होंने व्रत धारण किए, जाप किए तथा आध्यात्मिक साधना द्वारा सफलता का उद्योग किया। यह सोचना ठीक नहीं है कि जो व्यक्ति सामने आते रहे, उन्होंने ही सब कुछ किया।

स्वप्न

उस भाषण में हमने आचार्य महाराज के एक महत्वपूर्ण स्वप्न का उल्लेख किया, जो आचार्य महाराज ने देखा कि एक मुर्दा उनके पास आ रहा है। उसका सब लोगों ने ईंधन डालकर दाह किया, किन्तु वह पूरा नहीं जला। इससे महाराज ने उसमें लकड़ी डाली और वह तत्काल भस्म हो गया।

इस स्वप्न का अर्थ बारामती में समझ में नहीं आ पाया था, किन्तु फैसला होने के बाद ज्ञात हुआ कि वह संकट का शव था। सबके उद्योग करने पर भी वह विपत्ति बनी रही। अंत में आचार्य महाराज ने अपनी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा योगदान किया। इससे उस संकट की समाप्ति हो गई। स्थूल भाषा में वह हरिजन मंदिर-प्रवेश कानून द्वारा लाई गई विपत्ति का शव था। शव इसलिए था कि वह प्रारंभ से ही मृतक सदृश था।

ता. २४ की रात्रि को दक्षिण की बहुत-सी मंडली के साथ हम आचार्यश्री के पास बारामती चलने को रवाना हुए। बार-बार यही विचार मन में आता था कि जब तक आचार्यश्री ने अन्नग्रहण नहीं किया, तब तक सफलता नहीं मानी जायगी अपना हाईकोर्ट या सुप्रीमकोर्ट तो महाराज का निर्णय हैं।

महाराज के पास पहुँचे, तो उनकी पूर्ण चिंता तार आने पर भी दूर नहीं हुई थी।

वे बोले-" तार में तुम्हारे या शहा वकील के दस्तखत न होने से हमें पूरा संतोष नहीं हुआ और संदेह बना रहा।" इससे ज्ञात हुआ कि आचार्य महाराज भावावेश से भुलावे में आने वाले व्यक्ति नहीं है।

हम लोगों ने कहा -"महाराज, सफलता का तनिक भी रूप पहले नहीं दिख रहा था, किन्तु सहसा न्यायाधीशों ने ही सच्चे वकीलों का काम किया। गजेन्द्र गड़कर जज का भय था; किन्तु वे ही सरकारी वकील को अपने प्रश्नों द्वारा अवाक् कर देते थे। यह सब आपके चरणों का प्रसाद है।"

आचार्य महाराज ने कहा-"हमारा कुछ नहीं है। सब महावीर भगवान् की कृपा है। हमने कह दिया था, यह संकट अधिक दिन तक नहीं रहेगा।"

आचार्यश्री से प्रार्थना

हमने तथा उपस्थित मंडली ने महाराज से विनय की-" महाराज, सेवा करने वाला

काम पूरा करने पर अपनी मजदूरी माँगता है। आपके १९४८ अगस्त से अन्नत्याग से हमने सभी कार्यों को बंद कर दिया था, अब काम पूरा हो गया। इससे आपसे हमें अपनी मजदूरी चाहिए। मजदूरी यही है कि आप अब अन्न ग्रहण करें।"

अकंपन ऋषि

महाराज बोले-"यह बच्चों का खेल नहीं हैं। अभी हम हाईकोर्ट का सील लगा फैसला देखेंगे और विचारेंगे। सुप्रीमकोर्ट की अपील की अवधि को भी समाप्त होने दो।" उस समय म्याद आदि के प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए हमें रक्षाबंधन का दिन आहार के लिए उपयुक्त दिखा। हमने सोचा, रक्षाबंधन की पुनरावृत्ति-सी हो जायगी, कारण इस युग में अधर्म के आतंक के समक्ष अकंपित रहने वाले आचार्य महाराज भी अकंपन आचार्य तुल्य लगते थे। अभी हाईकोर्ट का निर्णय समक्ष नहीं था, इससे हम लोगों को चुप होना पड़ा। तीन-चार रोज आचार्य महाराज के चरणों के समीप बारामती में पुनः रहने का सौभाग्य मिला। हमने देखा, अब आचार्य महाराज की आत्मा पूर्णतया निर्द्वन्द्व हो गई। उनके मन में बड़े उज्ज्वल विचार आने लगे।

तीन सप्ताह के प्रवास के पश्चात् सिवनी आना हो गया, किन्तु बार-बार मन में यही लालसा थी कि वह दिन धन्य होगा, जब ये महान् तपस्वी आहार ग्रहण करेंगे। हाईकोर्ट के निर्णय की कापी भी देख ली। उसमें आचार्यश्री की प्रतिज्ञा की पूर्ति देखकर हमने बारामती के चंदूलालजी सराफ आदि को लिखा कि महाराज से आहार के लिए प्रार्थना करें, तो उत्तर निराशापूर्ण मिला। हमने श्री फूलचंद कोठडिया वकील, पूना तथा तलकचंदजी वकील को पत्र देकर आग्रह किया कि महाराज आप लोगों के अत्यन्त समीप हैं, आप उनके चरणों में जाकर आग्रह कीजिए कि आपको अन्न आहार न ग्रहण करना ठीक नहीं है। सारे भारतवर्ष का समाज चिंतायुक्त है। रक्षाबंधन का दिन बड़ा श्रेष्ठ होगा। दोनों धार्मिक वकीलों ने गुरुचरणों में पहुँच कर प्रार्थना की, लोगों ने भी अत्यधिक आग्रह किया।

१६ अगस्त सन् १९५१ का रक्षाबन्धन

तब महाराज ने कहा-"हमें अपनी तो फिकर नहीं है, किन्तु हमारे निमित्त से हजारों व्यक्तियों ने जो त्याग कर रखा है, उनका विचार कर हम कल आहार कर लेंगे।" यह बात ता. १५ अगस्त को ज्ञात कर बारामती के भाइयों को अपार आनन्द हुआ। हमें ता. १६ के प्रभात में तार मिला"**Acharya Maharaj taking Anna today.**" इसे पाते ही अवर्णनीय आनन्द मिला, किन्तु शंकाशील मन में यह विचार आया, कि अंग्रेजी की कहावत"**There is many slip between the lip and the cup.**" के अनुसार अभी भी अन्तराय आ सकता है।"आचार्य महाराज आज अन्न ग्रहण करेंगे।" 'करेंगे'

के स्थान में किया देखने की लालसा थी, कि गुरुभक्त सेठ चन्दूलालजी सराफ का दूसरा तार आया, उसमें लिखा था, "आचार्य महाराज ने अन्न ग्रहण कर लिया।" उस समय जो आनन्द आया, वह लेखनी द्वारा व्यक्त नहीं हो सकता, वाणी द्वारा भी प्रकाश्य नहीं है।बारामती का आनन्द तो अपूर्व था, जहाँ रक्षाबन्धन के दिन इस युग के अकम्पन ऋषिराज शांतिसागर महाराज ने तथा उनके अतिशयभद्र वीतरागी तपस्वी शिष्य मुनि नेमिसागरजी ने अन्नाहार लिया।

११०५ दिन बाद अन्नाहार

आचार्य महाराज का अन्नाहार ११०५ दिनों के पश्चात् हुआ था। रोगी व्यक्ति को जब दो-चार दिन को भी अन्न नहीं मिलता है, तो वह निरन्तर अन्न को ही तरसता है। 'अन्नं वै प्राणाः' अन्न को तो प्राण कहा है। वैदिक साहित्य में अन्न को तो 'ब्रह्म' कहा गया है, उस अन्न का प्रतिज्ञापूर्ति पर्यन्त त्याग करके प्रतिज्ञापूर्ण होने पर ११०० दिन से अधिक काल व्यतीत होने के उपरान्त आहार करना असाधारण स्थान रखता है। आचार्यश्री की तपस्या उच्च रही है। वे यथार्थ में 'तपोधन' थे।

अपूर्व दृश्य

बारामती में एक पण्डाल में भी बड़ा चौका बनाया गया था। सौभाग्य से उसमें ही महाराज का आहार हुआ था। सभी लोगों को इस मंगल प्रसंग पर उत्तम पात्र की सेवा का अपूर्व सौभाग्य मिल सका। आहार के मंगलमय ऐतिहासिक अवसर पर आकाश से थोड़ी-थोड़ी जलबिन्दुओं की वर्षा हो रही थी, मानो मेघकुमार जाति के देव अपना आनन्द व्यक्त कर रहे हों। अद्‌भुत दृश्य था वह। प्रकृति भी पुलकित हो रही थी।

महान् तपस्वी की ११०० दिन बाद पूर्ण हुई सफलता पर आसपास के सभी लोगों में चर्चा थी। लोग महान् आचार्यश्री के तपःपूत जीवन के प्रति श्रद्धापूर्ण उद्‌गार व्यक्त करते थे। बम्बई आदि बड़े-बड़े नगरों के विचारकवर्ग बातें करते थे, तपस्वी का नाम ले इन्द्रियों का पोषण करने वाले साधु दुनिया भर में मिलते हैं, किन्तु ऐसे महात्मा कहाँ हैं, जिन्होंने अपने पवित्र धर्म और संस्कृति के संरक्षणार्थ प्रिय प्राणों की परवाह नहीं की, किन्तु जिनके पुण्य से उनकी तपस्या सफल हुई और जैनधर्म की पवित्रता अक्षुण्ण रह गई।

लाखों सात्त्विक संस्कृति के समाराधकों ने साधुशिरोमणि को शतशः परोक्ष प्रणाम किया। हमारी भी इन महान् ज्योतिर्धर की सफल तपस्या को प्रणामांजलि है। इस धर्म-संरक्षण के कार्य में फलटण, कवलाना, गजपंथा के तीन चातुर्मास व्यतीत हुए तथा बारामती के १९५२ के चातुर्मास को सफलता का श्रेय प्राप्त हुआ।

****

आगम
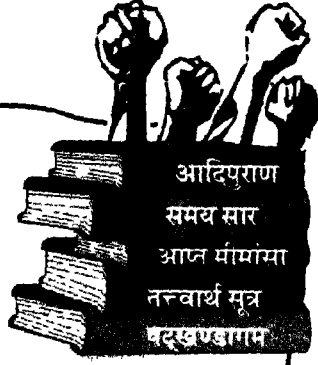
आगम

अब आचार्यश्री की दृष्टि आत्मा की ओर अधिक केन्द्रित हो गयी। उन्होंने कहा था, "धर्म का संकट चूँकि दूर हो गया है, अत: अब हमें कोई विकल्प नहीं है। अब आनन्द से भगवान का नाम लेना है और आत्मा का ध्यान करना है। अब हमें और क्या करना है ?"

षट्खण्डागम के सूत्र में संजद शब्द के विषय में खुलासा

षट्खण्डागम के सूत्र में संजद शब्द के विषय में आचार्यश्री ने कहा कि क्यों इस शब्द के बारे में उन्होंने विशेष ध्यान दिया ? वे कहने लगे, "हमने फतेहचन्द ब्रह्मचारी के द्वारा तुमको पत्र भिजवाया कि तुम हमें धवल ग्रंथ के सूत्रों की नकल करके भेज दो। 'तुम्हारा पत्र आया कि महाराज ! चालीस हजार श्लोक प्रमाण सारा ग्रंथ सूत्ररूप ही है। उसमें चार-पाँच हजार श्लोक प्रमाण ग्रंथ नष्ट हो गया है।' इस समाचार को प्राप्त करके हमें ऐसी चिन्ता हुई, जिस प्रकार श्रुतसंरक्षण के लिए धरसेन स्वामी को हुई थी। उस दिन रात्रि को हमने बहुत विचार किया कि भगवान् महावीर की वाणी इन सूत्रों में थी, यदि वह चार-पाँच हजार श्लोक नष्ट हो गये हैं, तो आगे इसकी किस प्रकार रक्षा की जाय ?"

आगम रक्षण की भावना

दूसरे दिन हमने श्रावकों से कहा, हमारे मन में ऐसी इच्छा होती है कि सिद्धांतग्रंथों के रक्षण के लिए उनको ताम्रपत्र में खुदवाया जाय। उस समय संघपति गेंदनमल ने कहा, "महाराज, यह काम मैं कर दूँगा।" हमने गेंदनमल से कहा, "यह काम सबके तरफ से होना चाहिए। एक पर बोझ न हो।" इतना कह हम सामायिक को चले गये। बाद में आने पर लोगों ने धड़ा-धड़ चंदा करके डेढ़ लाख का फंड तुरंत कर दिया। हमने कभी किसी से रुपया देने को नहीं कहा। हमने जिंदगी में कभी किसी से रुपया नहीं माँगा। हमारी ऐसी आदत नहीं है।"

विशेष निमित्त

पुन: महाराज ने कहा, "सच पूछो तो इस कार्य में तुम निमित्त हो। तुम्हारे कारण धवलादिशास्त्रों का ताम्रपत्र में रक्षण का महान् कार्य हुआ।"

मैंने कहा- "महाराज ! मेरे निमित्त से यह बड़ा काम कैसे हो सकता है ?"

महाराज ने कहा- "क्या हमें मिथ्या बात करनी है। जो सत्य बात है, वह कहते हैं। तुम्हारे पत्र के कारण ही हमें प्रेरणा मिली और यह काम महावीर भगवान् की कृपा से हो गया है। अब काम बराबर हो रहा है, इसकी भी अब हमें कोई चिन्ता नहीं है। हमें पूरा

विश्वास हो गया है कि यह काम पूर्ण हो जायेगा।"

मार्मिक बात

महाराज ने कहा, "धवल ग्रंथ की जो प्रतियाँ छपी और उत्तर भारत में प्रचार में आई, उन सब में तेरानवे सूत्र में[1] संजद पद नहीं रहा। हमारी प्रेरणा से ग्रंथ का ताम्रपत्र का कार्य हुआ। इससे संजद शब्द जोड़ने की लोगों की कल्पना हुई। स्त्री के द्रव्य से यदि संजदपना प्रसिद्ध हुआ, तो इसके कारण हम ही हुए, अथवा पूर्व छपे ग्रंथ से द्रव्य स्त्री के संजदपने का अभाव ज्ञात होने से दिगंबर आगम परंपरा का लोप नहीं होता था। हमने आगम-रक्षा के उद्देश्य से कार्य करवाया और उसका फल दिगम्बर परंपरा का ही उच्छेद होने लगा। अतएव इसका दोष हम पर आता है, इसलिए हमने इस प्रश्न पर बहुत विचार किया है। बड़े-बड़े विद्वानों से चर्चा की है। पूर्वापर विचार किया है। यह सोचना बिल्कुल भूल है कि हम किसी के कहने में आ गये हैं। हमारी प्रकृति स्वतंत्र है। पूर्ण विचार के बाद हम अपनी राय बनाते हैं। गत वर्ष अर्थात् सन् १९५० में धवल सिद्धांत-ग्रंथ को ताम्रपत्र में उत्कीर्ण करने का कार्य पूर्ण हुआ।"

निर्णय

"उस समय ग्रंथ-समर्पण करते समय तलकचंद शहा वकील ने गजपंथा में आधा घंटा तक भाषण दिया और समाज की ओर से हमसे आग्रह किया कि हम संजद पद के विवाद के विषय में अपना भाव प्रगट करें, कारण पंडित लोग एकमत नहीं हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में हमारा निर्णय सबको मान्य होगा।"

"उस समय वहाँ भावपक्ष वाले तथा द्रव्य पक्ष वाले विद्वान् भी मौजूद थे, उन्होंने कोई विरोध नहीं किया और न यह कहा कि आप अभी निर्णय मत कीजिए, कारण हम लोगों का इस संबंध में विरोध है। 'जिनवाणी-जीर्णोद्धारक संघ के ट्रस्टी तथा सदस्य लोग हमारा निर्णय मान्य करेंगे, उनको दुनिया भर के लोगों के विवाद से प्रयोजन नहीं है।' ऐसी बात भी शहा वकील ने कही।"

"हमने सोचा कि समाज के विद्वानों में एक मत नहीं है। दोनों पक्ष में समाज के बड़े-बड़े विद्वान् हैं। ट्रस्टी लोग हमसे आग्रह करते हैं कि हम निर्णय दें कि दोनों पक्ष के विद्वानों के कथन को पूर्ण रीति से विचारने के बाद किस प्रश्न की बात धर्म तथा आगम परम्परा के अनुकुल हमको जँचती है। ऐसी स्थिति में हमने निर्णय दिया था कि उभय पक्ष के विद्वानों के कथन पर पूर्ण रीति से विचार किया तथा मूल सूत्रों पर भी ध्यान दिया, तो हमें यही प्रतीत हुआ कि सूत्र नं. ९३ में द्रव्यस्त्री का कथन है। द्रव्यस्त्री के पाँच ही गुणस्थान होते हैं, वह

---

१. सम्मामिच्छाइट्ठि-सम्माइट्ठि संजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ति याओ॥ ९३, धवला पु. १॥

महाव्रती नहीं होती है, इससे सूत्र में संजद शब्द नहीं बताने वाला पक्ष ठीक है।"

"इसके बाद समाज में बहुत विवाद उत्पन्न हुआ, तब हमने दो-दो बार यह समाचार प्रगट करवाया कि यदि कोई विद्वान् हमारे पास आकर हमारी बात को दोषयुक्त बतावेंगे, तो हम अपनी भूल को सुधारेंगे, तथा अपनी भूल का प्रायश्चित्त भी कर लेंगे, किन्तु हमारे पास कोई भी विद्वान् नहीं आया और न आंदोलन ही रुका।"

"अब हम संजद-चर्चा के विषय में कुछ नहीं बोलना चाहते। इस सम्बन्ध में हमारा कोई विकल्प भी नहीं है। जिनवाणी-जीर्णोद्धारक संघ के ट्रस्टी लोगों को अधिकार है कि वे अपनी इच्छानुसार जैसा उचित समझें, वैसा करें। हम अपना निर्णय दे चुके, अब हम इस विचार में नहीं पड़ना चाहते हैं।"

महाराज की सरलता

आचार्य महाराज के पास हठवाद नहीं है। वे बालक की भी युक्तिपूर्ण बात को मानने को तैयार हैं। इस प्रसंग में वे भूलसुधार कर प्रायश्चित्त तक लेने की घोषणा कर चुके, फिर भी दूसरे पक्ष के लोग नहीं आए ? इसका क्या कारण है ? आचार्यश्री की विद्वत्ता तथा अनुभव विख्यात थे। उनके समक्ष आकर चर्चा चलाना साधारण कार्य नहीं था। पत्रों में लेख लिख देना दूसरी बात है, किन्तु समक्ष में पूर्वापर विचार कर प्रश्नों का उत्तर देते समय पता चलता है कि कौन कितने पानी में है। आचार्यश्री की दृष्टि यह है, जो सत्य है यह हमारा है, न कि जो हमारा कथन है वही सत्य है।

सन् १९५१ के अश्विन मास में बारामती में संजद शब्द के विषय में कई दिन तक सूक्ष्म चर्चा चलती रही। उस समय उपस्थित विद्वान्, आचार्यश्री की असाधारण विचारशक्ति, धारणाशक्ति, षट्खंडागम सूत्रों का गम्भीर चिंतन आदि देखकर प्रभावित हुए थे। भाववेद की अपेक्षा संजद शब्द रखना ठीक है, ऐसे भावपक्ष के समर्थक विद्वानों को भी आचार्यश्री का युक्तिवाद अनुकूल लगा और उन्होंने आचार्यश्री का समर्थन किया।

मूल प्रति संबंधी भ्रम

इस चर्चा के विषय में जनसाधारण में यह भ्रम उत्पन्न किया गया है कि भूतबलि पुष्पदन्त स्वामी द्वारा लिखित मूल प्रति के पाठ में परिवर्तन किया जा रहा है। यह बात मिथ्या है। मूल प्रति नष्ट हुए एक हजार वर्ष से अधिक हो गये। अभी मूडबिद्री में जो प्रति ताड़पत्र पर लिखित है, वे लगभग चार-पाँच सौ वर्ष प्राचीन हैं। उनमें भी अनेक जगह पाठ त्रुटिपूर्ण हैं। कहीं न्यून, कहीं अधिक और कहीं अशुद्ध पाठ पाया जाता है। ताड़पत्र की प्रति के अनुसार दो विद्वानों द्वारा तुलना की गई महाबंध की प्रतिलिपी के भीतर अनेक अशुद्धियों का सद्भाव हमें ग्रंथ का अनुवाद तथा सम्पादन करते समय ज्ञात हुआ।

यदि प्रतिलिपि में शोधन की विवेक दृष्टि न रखी जाय, तो बड़े-बड़े संपादक विद्वानों को नियुक्त करने का क्या प्रयोजन रहता है ? 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' की नीति से बड़ा अनर्थ हो जाता है। धवल शास्त्र की आरा की प्रति में तिर्यंचों के 'संजद' शब्द का उल्लेख आया है। तो क्या पशुओं को चौदह गुणस्थानवर्ती मान लेना होगा ? धवलग्रंथ की अमरावती में मुद्रित प्रति में सम्यक्त्व मार्गणा का वर्णन करने वाले १६४ नंबर के सूत्र में क्षायिक सम्यक्त्वी का पाठ नहीं लिखा है :

मणुसा असंजद-सम्माइट्ठि-संजदासंजद-संजदट्ठाणे। अत्थि सम्माइट्ठि वेदय-सम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी॥ १६४, धवला पु. १॥

पाँच प्रकाण्ड विद्वानों की तीक्ष्ण दृष्टि से संपादित ग्रंथ के मूल प्रकाशन में त्रुटि हो सकती है, तो ऐसी भूल अन्यत्र हो जाना क्या सम्भव नहीं है ? जब ताड़पत्र की प्रति में अनेक त्रुटियाँ पाई जाती हैं, तब सूत्र नं. ९३ में संजद शब्द की त्रुटि का होना असम्भव नहीं है।

संजद शब्द में क्या बाधा

यहाँ यह प्रश्न अवश्य उठेगा कि संजद शब्द के मानने में क्या बाधा है ? इस संबंध में आचार्य महाराज ने सूक्ष्म विचार किया। वर्षों चिन्तन किया है। अनेकों रात्रियाँ इस विचार में निमग्न हो निद्राहीन व्यतीत की हैं। उनका कथन है कि "षट्खंडागम के सूत्रों में द्रव्य तथा भाव का वर्णन है। एकेन्द्रिय का कथन दो, तीन आदि इंद्रिय वाले जीवों का कथन है। जब इनका कथन है, तब द्रव्य स्त्री का कथन करने वाला सूत्र बताओ।"

"तीर्थंकर की माता सदृश स्त्रियों का वर्णन ग्रंथकार भूल जाय और निगोदराशि तक का कथन करें, यह बात संभवनीय नहीं है। यदि ग्रंथ में द्रव्यस्त्री का वर्णन कहीं आया होता, तो सूत्र ९३ में विवाद ही नहीं होता। वही महत्व का सूत्र है, जिसमें द्रव्य का कथन है। टीकाकार वीरसेन स्वामी ने द्रव्य भाव का वर्णन अपनी टीका में किया है, इससे उनके कथन के विषय में भ्रम नहीं रहता, किन्तु सूत्रकार के शब्दों में द्रव्यस्त्री का कथन यदि न माना जाय तो ग्रंथकार का अपूर्ण वर्णन कहा जायगा और यदि द्रव्य स्त्री का कथन मानते हो, तो संजद शब्द का सद्भाव मानना दिगम्बर संस्कृति के प्रतिकूल है। स्त्री के दिगम्बरत्व नहीं होता है, फिर भी द्रव्यस्त्री के संयतपना माना जाय, तो सवस्त्र मुक्ति माननी पड़ेगी। इससे दिगम्बर धर्म का लोप हो जाता है।"

बड़ी बाधा

"तर्क की अपेक्षा यह भी कहा जाय कि ९३ नम्बर के सूत्र से संजद शब्द नहीं निकालना था, कारण वहाँ भाव की अपेक्षा वर्णन था, तो कोई विशेष तत्त्व का घात नहीं होता कारण भावस्त्री के चौदह गुणस्थानों का वर्णन अनेक जगह आ ही गया है। अतः

सिद्धांत का जरा भी लोप नहीं होता है। यदि दोष है, तो रंचमात्र है, किन्तु यदि वह वर्णन द्रव्य की अपेक्षा कहा तो वहाँ संजद शब्द होना था, किन्तु प्रतिलिपिकार के प्रमादवश वह आ गया और विद्वान् संशोधकों ने भी उसे रख दिया, तो गर्दन कटने सदृश बात हो गई, कारण मूलसूत्रकार की दृष्टि में द्रव्यस्त्री को निर्वाण मानना होगा, ऐसा होने से सत्यधर्म का लोप हो जायगा।''[१]

अतएव यह विषय साधारण नहीं है। उस पर संस्कृति के जीवन मरण की बात निर्भर है।

इस विषय में हमने विशेष प्रकाश 'सैद्धांतिक चर्चा' नामक दिगम्बर जैन समाज, बम्बई की ओर से प्रकाशित पुस्तक में 'आचार्य महाराज के आदेश पर एक दृष्टि' निबन्ध में की है। अतएव उस पर विशेष विवेचन यहाँ करना आवश्यक नहीं प्रतीत होता है।

हमारी दृष्टि से आचार्य महाराज का निर्णय मूलसूत्रकार के कथन के अनुरूप है।

मूल प्रति नष्ट हो चुकी है

जनसाधारण तो इस सूक्ष्म चर्चा की गहराई को नहीं जान पाते। उनको भड़काने के लिए इतना ही कहा जाता है, कि आचार्य महाराज ने मूल प्रति में परिवर्तन कराया है, यह बात रंचमात्र भी नहीं है। जैसा पहले कहा जा चुका है, कि मूल प्रति नष्ट हुए बहुत समय हो गया, जबकि भारत की भूमि पर यवनों का आना भी नहीं हुआ था। उत्तर प्रति विद्यमान है जो, अनेक जगह भूलों से भरी है। संशोधक लोग सूक्ष्मदृष्टि से त्रुटियों को दूर कर ग्रंथकार के भाव के अनुरूप सुधार करते हैं। यही बात संजद शब्द के बारे में हुई है।

निर्णय

एक बात और भी लिखना जरूरी है कि आचार्य महाराज ने अपनी राय नहीं दी थी। दोनों पक्षों के विद्वानों की सामग्री आचार्य महाराज के पास पेश हुई। जीर्णोद्धारक संघ के ट्रस्टियों ने पंडितों के बीच विवाद का अंत न देखकर आचार्य परमेष्ठी से प्रकाश पाने की प्रार्थना की, क्योंकि आचार्यश्री का अनुभव महान् है। आचार्यश्री को भय है कि यदि हमने कषायवश मिथ्या कथन कर दिया, तो हमारा कल्याण न होगा। वे वीतराग हैं, ऐसे व्यक्ति को न्यायाधीश चुनकर निर्णय माँगा गया, तब उन्होंने अपने विवेक, तत्त्वचिंतन, धर्म की परम्परा, ग्रंथकार की तत्त्व विवेचना-पद्धति आदि को ध्यान में रखकर निर्णय दिया कि उभय पक्ष के विद्वानों के कथन को तौलने पर हमें यह कथन ठीक लगता है कि सूत्र सं. ९३ का निर्दोष शुद्ध रूप यह है-

''सम्मामिच्छाइट्ठि असंजदसम्माइट्ठि संजदासंजदट्ठाणे णियमा

---

१. श्वेताम्बर विद्वानों ने 'संजद' शब्द के आधार पर षट्खंडागम को स्त्रीमुक्ति पोषक श्वेताम्बर ग्रंथ लिखना शुरू कर दिया है।

पज्जत्तियाओ ॥६३॥"

सूत्र सं. ९२ इस प्रकार है-"मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ, सिया अपज्जत्तियाओ ॥"

एक बात और विचारणीय है कि यदि भावभेद की अपेक्षा कथन माना जाय, तो भाव स्त्री के पर्याप्त तथा अपर्याप्त अवस्था में मिथ्यात्व, सासादन गुणस्थान के समान सयोगकेवली गुणस्थान का भी उल्लेख होना आवश्यक था, कारण केवली के समुद्घात काल में अपर्याप्तपना भी पाया जाता है। इसका उल्लेख नहीं होना भी इस बात का निश्चायक है कि यह प्रकरण द्रव्यस्त्री का ही है। आचार्य महाराज के द्वारा जैसे हरिजन मंदिर प्रवेश संबंधी भ्रम दूर हुआ, उसी प्रकार संजद शब्द के विषय में भी प्रकाश प्राप्त हुआ व ऐसे ही और भी बातों पर महत्वपूर्ण समाधान प्राप्त होता था।

महाराज का जाप ध्येय

एक दिन आचार्य महाराज कहते थे, "अब हमारी निद्रा बहुत कम हो गई है।"

मैंने पूछा महाराज, "तब आप क्या करते हैं।"

महाराज ने कहा, "हम तत्त्वों का विचार करते हैं या जाप करते हैं।"

उन्होंने यह भी कहा था, "जब हम लम्बे उपवास करते हैं, तब तत्त्व चिंतन में चित्त बहुत लगता है।" महाराज ने कहा था "हम जाप अपने रोग को दूर करने को नहीं करते हैं। रोग शरीर में है। शरीर हमारा नहीं है, अतः रोग की क्या चिन्ता करना ?"

महाराज ने कहा, "यह शरीर ही रोगमय है, शास्त्रों में एक कथा आई है। एक मुनि के शरीर में भयंकर रोग उत्पन्न हो गया था, इससे असह्य दुर्गन्ध निकला करती थी। उस समय एक विद्याधर दंपत्ति का वहाँ आना हुआ, विद्याधर दंपत्ति ने मुनि के शरीर पर अत्यंत सुवाससंपन्न केशर का लेप करके अपने इष्टस्थान को प्रस्थान किया। वापिस लौटते समय उनके मन में मुनिराज के पुनः दर्शन की लालसा उत्पन्न हुई, तो यहाँ अद्भूत दृश्य देखते हैं। उस सुवास के कारण अनेक भ्रमरों ने आकर शरीर को बहुत पीड़ा पहुँचाई। अतः उन्होंने सुवासपूर्ण केशर की राशि बाहर एक जगह डाल दी, इससे भ्रमर पंक्ति वहाँ गुंजार करने लगी, इस प्रकार उनका उपसर्ग दूर हुआ और तत्काल उन्हें केवलज्ञान हो गया।"

महाराज में सम्यक्त्व के अंगों का सद्भाव

आचार्य महाराज का जीवन लोकोत्तर रहा है। निकट से निरीक्षण करने पर सम्यक्दर्शन के आठ अंगों का अस्तित्व सुस्पष्ट रूप से उनके जीवन में दिखाई देता है। निःशंकित अंग तो स्पष्ट है। जिनेन्द्र के कथन में न तो रंचमात्र संदेह है और न किसी प्रकार का भय विद्यमान है। आकांक्षा का भी नामोनिशान नहीं है। श्रद्धा को विचलित करने के अनेक

प्रसंग आए, किन्तु उनकी दृष्टि अमूढ़ता से अलंकृत रही है। जुगुप्सा ग्लानि का भी इसमें दर्शन नहीं होने से वे निर्जुगुप्सासंपन्न थे। सुन्दर वस्तु में अनुरक्ति नहीं, असुन्दर वीभत्स पदार्थ में ग्लानि नहीं। उनकी संतुलित दृष्टि पुद्‌गल के परिणमनों को देखती हुई राग तथा द्वेष की विकृति से विमुक्त दिखती थी।

एक दिन बारामती में मैंने देखा था कि महाराज बैठे हैं। एक बच्चे ने पास की भूमि को ही गंदा कर दिया है। मैं पास से जरा दूर सरक गया। मेरे मन में तो ग्लानि का भाव जगा, किन्तु आचार्य महाराज ने उस पर ध्यान नहीं दिया और न ग्लानि ही प्रदर्शित की। स्थान तो तत्कालही स्वच्छ कर दिया गया, किन्तु इस प्रसंग ने निर्विचिकित्सा अंग का प्रत्यक्ष दर्शन करा दिया।

साधर्मियों पर अपार वात्सल्य है। दूसरे के दुःख दूर करने को वे एक क्षण भी देर नहीं करते थे। दया का अक्षय भंडार उनके पास था।

धर्मप्रभावना की तो वे साक्षात् मूर्ति थे। सिंहनिष्क्रीडित सदृश तपश्चर्या द्वारा उन्होंने इतनी प्रभावना की थी कि उसे देख लोगों को ऐसा लगता था मानो महाराज के जीवन में चतुर्थकालीन मंगल प्रवृत्तियाँ तथा अद्‌भूत शक्तियाँ विद्यमान हैं। कितने धर्म के महोत्सव इन विभूति के साधुत्व अंगीकार करने के अनन्तर हुए, इसकी गणना करना कठिन है। उनकी साक्षात् मूर्ति की बात दूसरी, उनकी सौम्य मुद्रायुक्त चित्त के दर्शन से बड़े-बड़े लोगों का मन उनकी ओर खिंचता था तथा हृदय उनकी अभिवंदना करता था।

महान् प्रभावपूर्ण जीवन

सन् १९५० के भाद्रपद में मैंने देखा, भारत सरकार के मंत्री श्री गुलजारीलालनंदा महाराज की सेवा में आये थे। उन्होंने अत्यंत भक्ति से प्रणाम किया था। आन्तरिक समाधान को प्राप्त कर वे चले गये। बम्बई सरकार के अर्थमंत्री दीवान बहादुर ए. बी. लट्ठे अनेक बार महाराज की सेवा में आये थे। एक बार उनके जीवन में गम्भीर विचार उत्पन्न हुए और उन्होंने पंच अणुव्रत ग्रहण कर महाराज का शिष्यत्व स्वीकार किया था।

जयपुर चातुर्मास के समय मजिस्ट्रेट ने आकर आचार्य महाराज से पंचम प्रतिमा के व्रत लिये थे। उनकी धर्मपत्नी ने भी संयम धारण करने में पतिदेव का अनुकरण किया। अजमेर के ट्रेजरी आफीसर बाबू मांगीलालजी दोशी ने सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा ली थी। महाराज के पास क्षुल्लक, ऐलक बनने वाले मुनिपद को स्वीकार करने वाले अनेक व्यक्ति थे। इस तरह आचार्यश्री तथा उनके जीवन द्वारा धर्म की अद्‌भुत प्रभावना तथा जागृति हुई थी। यदि यह कहा जाय कि लोगों में ऐसी प्रभावना करने वाली दूसरी आत्मा न देखी और न सुनी, तो तनिक भी अत्युक्ति नहीं होगी।

आध्यात्मिक कलाकार

संयम से गिरते हुए व्यक्ति को किस प्रकार धर्म में स्थिर करना, यह कला तो सच्चे कलाकार सदृश इन गुरुचरणों में ही सीखी जा सकती थी। आज के युग में किसी में थोड़ा-सा दोष देखा, तो अखबारों में लेख द्वारा महा ढोल बजने लगता है। कई पत्र वाले ताजे समाचार जानकर उसको स्थान देते हैं। कई संपादक संयम से ऐसा ही वैरभाव रखते हैं, जैसे व्याघ्र गौवत्स से। अत: वे उनमें मसाला लगाकर समाचार प्रकाशित करते हैं, किन्तु आचार्य महाराज अपने प्रेममय शासन द्वारा कुपथ पर जाने वालों को धर्म मार्ग में स्थिर करते थे। जीवन में भूल देखकर उपगूहन अंग पालन करते हुए उस जीव का कल्याण करने में भी आचार्य महाराज का असाधारण स्थान था। किसी साधु में जरा सा दोष दिखा कि हमारे मन में उसका हल्ला मचाने का शौक पैदा हो जाता है। आचार्य महाराज की पद्धति भिन्न थी। सदाचार में शिथिलता देख, आज समाज में जो ढोल पीटने की प्रवृत्ति है, वह ठीक नहीं है।

भ्रष्ट साधु

आचार्य महाराज एक दिन कह रहे थे, ''भ्रष्ट साधु को एकान्त में समझाना। शान्तिपूर्वक समझाने पर भी वह न माने, तो उसकी भक्ति करना छोड़ दो, किन्तु इसका आंदोलन नहीं करना। ऐसा करने से सम्यक्त्व की हानि होती है, उपगूहन अंग नहीं पलता है।''

सम्यक्दर्शन पर प्रकाश

एक बार शेडवाल में आचार्य महाराज के मुख से सम्यक्दर्शन का अनुभूति पुरस्सर बड़ा मार्मिक और अत्यंत सुन्दर विवेचन सुना था। महाराज ने कहा था, ''जब तक जीव का संसार तट निकट नहीं आता है, तब तक वह आत्मा के हित में प्रवृत्त नहीं होता है। संसार के निकट आते ही वह मोक्षमार्ग में लग जाता है। आसन्न-भव्यता संसार से छूटने में बड़ा कारण है।

महाराज ने इस संबंध में एक कथा सुनाई थी। एक वैश्य पुत्र एक श्रेष्ठि कन्या पर आसक्त हो गया। कमाई करने हेतु वह वैश्य पुत्र विदेश गया। उस पमय यह बात निश्चित हुई थी कि यदि वह बारह वर्ष के भीतर वापिस आ जायेगा तो उस श्रेष्ठि कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया जायगा, अन्यथा नहीं।

कुछ ऐसी विषम परिस्थिति आ गई कि बारह वर्ष के भीतर वह न लौट सका। इसलिए वह कन्या दूसरे व्यक्ति से विवाही गई। पश्चात् प्रवासी वणिक आया। उसे बड़ी निराशा हुई तथा भयंकर विद्वेष-अग्नि उसके अंत:करण को जलाने लगी। एक दिन उसने द्वेषवश उस दम्पत्ति को मार डाला। रागवश जो कन्या उसकी आसक्ति तथा ममता का केन्द्र थी, वही उसकी द्वेषाग्नि का हेतु बनी। भावों का विचित्र परिणमन होता है। वे स्त्री और पुरुष मर कर

जन्मान्तर में पति-पत्नि होते रहे तथा एक बार वे देव पर्याय में पहुँचे।

इस वणिक पुत्र ने मरण कर पीछा किया और प्रत्येक पर्याय में पूर्व बैर के कारण विनाश कार्य करता रहा। इसी जीव ने एक बार सत्समागम को प्राप्त कर महाव्रत धारण किया। घोर तप किया। एक बार मुनिराज के दर्शन को वे देव-देवी आये। मुनिराज को पूर्व बैर विरोध की बात स्मरण कराई, तो इन मुनिश्वर ने उस दुष्कृत्व के प्रति खेद भाव व्यक्त किया। इसके अनन्तर उन दोनों सुर पति ने पुनः प्रश्न किया "भगवन्! यदि वे विरोधी जीव आपके समीप आ जावें, तो आप क्या करेंगे?" मुनिराज ने कहा - "हम उनसे क्षमा माँगेगे।" उन्होंने कहा, "हे स्वामिन्! वे और कोई नहीं, हम ही हैं। तब मुनिराज ने उनसे अपने अपराधों की क्षमा माँगी। अब वे शल्य रहित हो गए। उन्होंने घोर तपस्या की और मोक्ष पदवी प्राप्त की। इस कथा में यह रहस्य है, कि जब तक संसार निकट नहीं रहता, तब तक विवेक का भाव नहीं जागता है।"

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है कि नर, तिर्यंच, देव, नारकी इन चारों गति वाला, भव्य, संज्ञी, सुविशुद्ध, जागृत, पर्याप्तक तथा संसार के तट के निकट वाला जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

मरीचिकुमार का संसार तट निकट नहीं आया था, इससे धर्मतीर्थंकर आदिप्रभु के पुत्र भरतेश्वर सदृश तत्त्वज्ञानी के सुसंस्कार-संस्कृत गृह में जन्मधारण करते हुए तथा श्रेष्ठ सामग्री समन्वित होते हुए भी उस जीव को बोधि का लाभ न हुआ और संसार का तट निकट आ जाने पर क्रूरता की मूर्ति मृगेन्द्र बनने पर सर्वसाधन शून्य वही जीव दया का सागर बन गया और उसने महावीर बनने का पराक्रम प्रारंभ करके कुछ ही भवों में महति-महावीर-वर्धमान की महिमा को प्राप्त किया, जिनके पुण्यतीर्थ की छाया में सभी लोग विद्यमान हैं। संसार से निकलने की समीपता यदि कुछ कम हो, तो जीव के हाथ में आया हुआ सम्यक्त्व रत्न भी छूट जाता है।

ऐसे अवसर एक-दो-चार बार नहीं आते। उपशम और क्षयोपशम सम्यक्त्व असंख्य बार तक आते हैं, अपनी ज्योति को दिखाते हैं और फिर छोड़कर चले जाते हैं।

कार्तिकेय स्वामी ने कहा है कि यह जीव अधिक से अधिक असंख्यात् बार तक उपशम, क्षयोपशम सम्यक्त्व, अनंतानुबंधी कषाय के विनाश तथा देशव्रत को प्राप्त करके छोड़ दिया करता है।[1]

सम्यक्त्व के साथ जब तक चारित्र का पूर्ण योग नहीं है, तब तक जीव को निःश्रेयस का लाभ नहीं होता है।

---

१. गिण्हदि मुंचति जीवो वे सम्मत्ते असंखवाराओ।
पढमकसायविणासं देसवयं कुणइ उक्किट्ठं॥

एक बार मैंने आचार्यश्री से पूछा था, "महाराज ! आज लोग चारित्र को व्यर्थ की वस्तु सोचकर सम्यक्त्व को ही सार रूप मानते-बताते हैं। मोक्ष का उपाय क्या है ?

महाराज ने कहा, "सम्यक्त्व के होते हुए भी जीव मोक्ष नहीं पाता है। ज्ञान की स्थिति निराली है। 'वह तो गंगा गए गंगादास, जमुना गए जमुनादास' के समान श्रद्धा के अनुसार अपना रंग पलटता है। वही ज्ञान सम्यक् श्रद्धा सहित सम्यक्त्व हो जाता है, और उसके अभाव में वही ज्ञान मिथ्या हो जाता है, इसलिए ज्ञान का भी मूल्य नहीं है।"

मूल्य किसका

मैंने कहा, "तब फिर मूल्य किसका है ?"

महाराज ने कहा, "मूल्य है सम्यक्चारित्र का। सम्यक्चारित्र होने पर नियम से मोक्ष होता है।"

मैंने कहा, "महाराज ! आपका उत्तर बड़ा मार्मिक है। आपने सम्यक् शब्द युक्त चारित्र को पकड़कर सम्यक्त्व को भी बुला लिया और सम्यक्त्व होने से उसका अभिन्न हृदय मित्र ज्ञान भी आ गया।"

महाराज ने कहा, "सम्यक्त्व और चारित्र का घनिष्ट सम्बन्ध है, तब एक की ही प्रशंसा क्यों की जाती है।

"सम्यक्त्व की प्राप्ति दैव के अधीन है, चारित्र पुरुषार्थ के अधीन है।" यह कहते हुए आचार्य महाराज ने कहा, "उपादान सम्यक्त्व है और उसका निमित्त कारण चारित्र। निमित्त भी बलवान् है। एक भव्य द्रव्यलिंगी मुनि मरकर देव पर्याय में गया, वहाँ से समवशरण में जाकर वह सम्यक्त्वी बन जाता है।"

क्या सम्यक्त्व दैवाधीन है ?

सम्यक्त्व की प्राप्ति दैव के अधीन है, यह बात किस अपेक्षा से कही गई यह विचारणीय है। जब पुरुष आत्मा का पर्यायवाची है और उस आत्मा की शुद्ध अवस्था की प्राप्ति मोक्ष पुरुषार्थ है, तब सम्यग्दर्शन को पुरुषार्थ मानना चाहिए, क्योंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप मोक्ष है। मोक्ष पुरुषार्थ है, अतः रत्नत्रय भी पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। इस दृष्टि से जब सम्यक्दर्शन पुरुषार्थ सिद्ध होता है, तब उसे दैव के अधीन कैसे कहा जायेगा, यह समस्या विचारणीय है ?

जिनागम के परिशीलन से ज्ञात होता है कि सम्यक्त्व की उपलब्धि बुद्धिपूर्वक पुरुष प्रयत्न के साथ अन्वय-व्यतिरेकता नहीं रखती है। यथासम्भव सब उपायों के करते हुए भी द्रव्य लिंगी मुनि उस सम्यक्त्व को नहीं प्राप्त कर पाता है और दूसरा जीवन बिना

प्रयत्न किए कर्म के विशेष क्षयोपशम से नित्य-निगोद की विकास विहीन स्थिति से निकलकर मनुष्य पर्याय पाता है, आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त में सम्यक्त्वी बनकर सकलसंयमी हो केवली बन निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। भरतेश्वर के पुत्र भद्रविवर्धन आदि निगोद से आकर तिर्यंच पर्याय पाकर दूसरे भव में मनुष्य हो दीक्षा ले मोक्ष गये थे। उस जीव के बुद्धिपूर्वक पौरुष के बिना ही संसार भ्रमण समीप आ जाने से सब बातों की अनुकूलता हो जाती है।

जब तक संसार सिन्धु का तट समीप नहीं आया है, तब तक संतरण निमित्त हस्त-चरण संचालन से क्या इष्ट सिद्धि होगी ? इसीलिए आसन्नभव्यता को सम्यक्त्व का विशिष्ट कारण कहा गया है।

सोमदेव सूरि ने यशस्तिलक में लिखा है :-

आसन्नभव्यता-कर्म-हानि-संज्ञित्व-शुद्धपरिणामाः।
सम्यक्त्व - हेतुरन्तर्बाह्योप्युपदेशकादिश्च ॥

आसन्न अर्थात् निकट भव्यपना, कर्म की विशेष निर्जरा, संज्ञीपना, शुद्ध परिणाम से सम्यक्त्व के अंतरंग कारण हैं तथा बाह्य कारण उपदेशादिक हैं।

अकलंक स्वामी का कथन है, "अनादि मिथ्यात्वी जीव काललब्धि आदि के द्वारा सम्यक्त्वघातक कर्म पुंज का उपशमन करता है। यह सम्यक्त्व उसे प्राप्त होता है, जिसके पंचपरावर्तन रूप संसार में अर्द्धपुद्गल परावर्तन रूप परिभ्रमण का काल शेष रह गया है। दूसरी बात कर्मों की स्थिति के सम्बन्ध में है। जिसके आगामी बंधने वाले कर्म अन्तः कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण स्थिति से अधिक नहीं बँधते हैं तथा पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति संख्यात हजार सागर न्यून अंतः कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण होती है, उसके ही सम्यक्त्व हो सकता है, इस प्रकार की आंतरिक सामग्री की उपलब्धि बुद्धिपूर्वक पुरुष प्रयत्न द्वारा साध्य नहीं होती। सातवें नरक का नारकी जीव अन्तरंग सामग्री की अनुकूलता तथा वेदनाभिभव रूप निमित्त द्वारा सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। वहाँ कौन-सा बुद्धिपूर्वक प्रयत्न-पुरुषार्थ उस जीव के होता है ? अवस्था विशेष में जीव के भावों का तद्रूप परिणमन होता है। जैसे एक विद्वान् ने कहा है कि माता के साथ श्रृंगार रस के गीत बालिका भी गाती है, किन्तु उसे वह स्वाद प्राप्त नहीं होता है, जो वयस्क हो जाने वाली माता को प्राप्त होता है। उसकी अवस्था अभी कली के रूप में है। वह कली जब विकसित हो जाती है, तब उसे भी उन गीतों से रागात्मक रस मिलने लगता है।

इसी प्रकार संसार सिंधु के तट की समीपता आने पर जीव को आत्मकल्याण की बातों में रस आने लगता है। वह रस का उद्गम अवस्था-विशेष जन्य है, इसी प्रकार आत्मतत्त्व में रुचि होकर सच्चा रस तब आता है, जब कर्मोदय की मंदता होती है तथा

अन्य प्रकार की अनुकूल सामग्री प्राप्त होती है। इस सामग्री की अनुकूलता को ही दैव की कृति कहा गया है, कारण कि यह बुद्धिपूर्वक किए गये पुरुष प्रयत्न द्वारा साध्य नहीं है। पुराकृत कर्म को दैव कहते हैं।

प्राक्तन कर्म की अनुकूलता आज के पौरुष के आधीन कैसे कही जा सकती है ? इसी से सम्यक्त्व की उत्पत्ति के लिए दैव अर्थात् पूर्व कर्मोदय की अनुकूलता आवश्यक है। यदि पूर्व कर्मोदयवश जीव असंज्ञी पर्याय में है, तो वह कभी भी सम्यक्त्व को नहीं प्राप्त कर सकेगा। यदि उसके अपर्याप्त नामकर्म का उदय है, तो भी वह उस तिथि को प्राप्त नहीं कर सकेगा। संज्ञीपना, पर्याप्तपना, आदि कर्मोदय के अधीन है। कर्मों का अनुकूल उदय तथा विशिष्ट रूप से पूर्णतया निरपेक्ष पुरुषार्थ इष्टसाधक नहीं होता है। पंचाध्यायी का कथन बड़ा मार्मिक है। दैव से कालादि की संलब्धि होने पर, संसार सिन्धु के समीप आने पर व भव्यभाव के विपाक होने पर जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।[1]

इससे स्पष्ट होता है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति में दैव-प्राक्तन कर्म की अनुकूलता कारण है। जिनके मन में यह संदेह रहा हो कि हमारे पोषण से- बुद्धिपूर्वक प्रयत्न से सम्यक्त्व होता है, इसमें दैव का सम्बन्ध नही होता, उनका समाधान पंचाध्यायी के इन शब्दों से हुए बिना न रहेगा "प्रयत्नमंतरेणापि दृङ्-मोहोपशमो भवेत्।।" ३७९ - बिना प्रयत्न के भी दर्शनमोहनीय का जीव उपशम होता है। आत्मा की कथा कहना, श्रुत का अभ्यास करना, गुरुका सान्निध्य मिलना, जिनबिम्ब का दर्शन आदि सम्यक्त्व के निमित्त हैं, किन्तु अन्तरंग में कर्म की अनुकूलता आवश्यक है। संसार के जीव समनस्क होने पर मनोयोगपूर्वक काम करते हैं, ऐसे मनोयोगपूर्वक कार्य करने से भी सम्यक्त्व प्राप्ति का निश्चय नहीं होता है। जैसे बिजली का बटन दबाते ही प्रकाश होता है, इसी प्रकार प्रयत्न करते ही सम्यक्त्व का प्रकाश नहीं मिलता है। जिस जीव का संसार परिभ्रमण पूर्ण हो जाता है, उसके अन्धकारमय मोही जीवन में स्वयं आत्मप्रकाश का दर्शन होने लगता है, जैसे प्रभात में सूर्योदय के समय समीप आने पर अन्धकार स्वयं ही दूर होने लगता है। सम्यक्त्व की निधि पाने के पश्चात् भी मोक्षमार्ग में उन्नति के लिए दैव की अनुकूलता आवश्यक रहती है, जैसे सम्यक्त्व होने पर भी महाव्रत को धारण करने के लिये पुरुष पर्याय तथा पिण्ड शुद्धि आदि की आवश्यकता पड़ती है, वैसे ही -

सद्गुरु देहि जगाय, मोह नींद जब उपशमै।
तब कछु बनै उपाय, कर्मचोर आवत रुकै।।

---

१. दैवात्कालादि संलब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे ।
भव्यभाव विपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ।। ३७८ ।।

जैसे प्रत्याख्यानावरण कषाय के अनुदय होने पर ही महाव्रत रूप आत्म-विशुद्धि प्राप्त होती है, किन्तु इस कषाय के उदयभाव के लिये द्रव्य पुरुष वेदी रूप सामग्री का होना आवश्यक है। उच्च कुल में जन्म लेना भी आवश्यक है। यह सामग्री पूर्व कर्म के आधीन है। आज का पौरुष आगामी देव का रूप धारण करता है। अतएव सम्यक्त्व की उपलब्धि में आचार्य शांतिसागर ने जो दैव को कारण बताया था, वह युक्ति, अनुभव तथा आगम से समर्थित है।

संयम की पौरुष-साध्यता

इस संबंध में यह बात विशेष विचारणीय है कि सम्यक्त्व तो दैवाधीन है और चारित्र पुरुषार्थ के आधीन। इस सिद्धांत के विपरीत यदि सम्यक्त्व को पौरुष के आधीन मानकर प्रयत्न किया जाय और चारित्र को पुरुषार्थ के अधीन न मानकर दैव के आश्रित छोड़ दिया जाय, तो इसका ऐसा ही विपरीत फल होगा, जैसे शरीर में लगाने के विष को पी लिया जाय, और पीने की औषधि का शरीर में लेप कर दिया जाय। इससे जैसे नीरोगता का लाभ न हो, उल्टे संकट की वृद्धि होती है, इसी प्रकार प्रयत्न-साध्य संयम को स्वयं प्राप्तव्य समझ उसके विषय में परवाह नहीं करने से और अपने पारुष की पहुँच से परे सम्यक्त्व के लिये प्रयत्न करने वाले व्यक्ति का वास्तविक कल्याण नहीं होता है। निश्चित को छोड़कर अनिश्चित के पीछे जाने वाले की कामना कैसे पूर्ण होगी ? अतः पौरुष-साध्य संयम तथा व्रताचरण के विषय में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

संयमरूपी वृक्ष मानव-जीवनरूपी भूमि में ही लगता है। अन्य पर्यायों में वह वृक्ष जमता नहीं है। मनुष्य-भव की प्राप्ति दुर्लभ है। अतः उसे प्राप्त करके उसका सार व्रत धारण करना श्रेयस्कर है। चारित्र के सन्मुख होने से जीव विषयभोगों के विमुख स्वयं बनता है, इससे विषयों की लंपटता दूर होती है तथा जीव ऐसे दैव का निर्माण करता है, ऐसा भाग्य बनाता है- जिससे इसे सुख और शांति का लाभ सदा हो। दैव कोई आकाश से टपकने वाली वस्तु नहीं है। आज के पौरुष द्वारा किया गया जो कार्य है, उससे कर्मों का बंध होता है, आगामी जीवन में आज के पौरुष का फल दैव संज्ञा को प्राप्त करता है। आज समुद्र में पड़ती हुई सूर्य की उष्ण किरणें उस जल को वाष्प रूप में बदलकर कल मेघ संज्ञा को प्राप्त कराती है, वस्तुतः जल ही मेघरूप परिणत हुआ है, इसी प्रकार का बुद्धिपूर्वक किया गया हमारा कार्य आगे जाकर उदयकाल में दैव रूप से कहा जाता है। अतः हमारे पौरुष की पहुँच के परे रहने वाले सम्यक्त्व के पीछे दौड़ना ऐसा ही है, जैसे नाभि में कस्तूरी को न जानने वाले हरिण का सुदामा के मूल स्रोत के अन्वेषण निमित्त आसपास खोज का कार्य करना है।

अद्भुत निधि

यदि समयक्त्व ऐसी अद्भुत निधि न होती, तो बुद्धिजीवी विद्वान् जैसे विश्वविद्यालयों से धड़ाधड़ उत्तीर्ण हो प्रमाणपत्र प्राप्त करते हैं, वैसे ही अध्यात्मचर्चा में दक्षता प्राप्त कर तथा अध्यात्म ग्रंथों को कण्ठस्थ करके न जाने कितने ही जीव समयक्त्व की डिग्री पा लेते, किन्तु उसकी डिग्री ऐसी सरल नहीं है। ऐसी स्थिति में आत्मकल्याण के लिए अशुभ को त्यागकर शुभोपयोग के साधन में जीव का कल्याण नहीं हो सकता है।

अशुभ भाव को त्याग कर सदा धरो शुभ भाव ।
शुद्धभाव आदर्श हो यह आगम का भाव ॥ १ ॥
हिंसादिक दुर्भाव हैं, जिन पूजादि सुभाव ।
दया-दान-व्रत धारकर लागहु मोक्ष उपाय ॥ २ ॥

शुभोपयोग के लिए बाह्य वातावरण तथा अन्य साधनों का महत्व नहीं भुलाया जा सकता है। इस विषय के कुछ उदाहरण अपवादरूप में उपस्थित किये जा सकते हैं, किन्तु वे अत्यन्त अल्प संख्या वाले होंगे। अधिकतर ऐसा ही अनुभव मिलेगा, जिससे निमित्त कारण की आवश्यकता को स्वीकार करना पड़ेगा। निमित्त का एकान्त पक्ष योग्य नहीं है।

अध्यात्म शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् अमृतचन्द सूरि ने लिखा है कि परिणामों की निर्मलता के लिए हिंसा के आयतनों-निमित्तों को दूर करना चाहिए। यदि निमित्त कुछ कार्य न करता, तो ऐसा कथन क्यों किया गया ? यदि निमित्त कुछ नहीं करता है, तो तीर्थंकर प्रकृति के बंध के लिए भावों को ही कारण कह देते, केवली अथवा श्रुतकेवली का सान्निध्य तथा नरत्व की आवश्यकता क्यों कही गई है ? इसीसे आचार्य शांतिसागर महाराज ने कहा था, "निमित्त का एकान्त मिथ्यात्व है। निमित्त पुष्प सदृश है, वह फल को प्राप्त करा देता है।" यदि अकार्यकारी निमित्त को मान उसका आश्रय लिया जाता है, तो आकाशकुसुम का भी अवलम्बन मानना होगा, वह भी अकार्यकारी है।

कारण युगल

स्वामी समंतभद्र ने निमित्त तथा उपादान कारणों की पूर्णता को ही कार्य का जनक बताया है। उपादान शक्ति तो सदा वस्तु में विद्यमान रहती है, योग्य निमित्त उस शक्ति को व्यक्त करने में योगदान करता है। सुवर्ण पिण्ड में कुंडल आदि रूप परिणमन का सामर्थ्य है। जब स्वर्णकार तथा यंत्रादि का निमित्त मिलता है, तब निमित्त-उपादान योग द्वारा इष्ट रूप सुवर्ण का परिणमन होता है। देखिए समंतभद्र स्वामी क्या कहते हैं - "**यद्वस्तु बाह्यं गुण-दोष सूतेर्निमित्तम्**" (यदि बाह्य पदार्थ गुण-दोष की उत्पत्ति में कारण होते तो..) :

"हे जिनेन्द्र ! आपके मन में कार्य के विषय में यह उपादान कारण तथा सहकारी कारण की संपूर्णता ही द्रव्यगत स्वभाव है। यदि निमित्त तथा उपादान कारण की पूर्णता न मानी

जाय, तो पुरुषों के मोक्ष की सिद्धि भी नहीं हो सकती है। अतः इस निमित्त तथा उपादान कारण की उपयोगिता को बताने के कारण, हे भगवन्! आप सुधी समाज द्वारा वंदनीय हैं।"[1]

इस कारिका की टीका करते हुए आचार्य प्रभाचन्द्र ने भी लिखा है-"उपादान कारणं सहकारिकारणमपेक्षते, तच्चोपादानकारणम्" अर्थात् उपादान कारण सहकारी कारण की अपेक्षा करता है और सहकारी कारण उपादान कारण की अपेक्षा करता है। कार्य की सिद्धि के लिये उपादान और निमित्त की सापेक्षता कारण है। चूंकि उपादान और निमित्त परस्पर निरपेक्ष होकर इष्ट कार्य को उत्पन्न करने में असमर्थ रहते हैं, अतः इसके विपरीत श्रद्धा सम्यक्त्वी की नहीं होती है। सम्यक्त्वी स्वच्छंद न हो, आगमानुसारी होता है।

स्याद्वाद शैली की शरण हित-प्रद

इस प्रकार महान् आर्षवाणी के प्रकाश में भैया पं भगवतीदास के निमित्त-उपादान संवाद का सुसंगत भाव यही होगा कि इनका एकांत पक्ष तर्क तथा प्रमाण-बाधित है। निमित्त को नगण्य गिनने से विश्व की समस्त तत्वव्यवस्था में गड़बड़ी आ जायेगी। सरोवर, पवन का संचार न होने पर शांत दिखता है। पवन संचार से जल में लहरें उठती हैं। जल रूप उपादान के साथ पवन संचार रूप निमित्त जैसे लहरों का उत्पादक है, उसी प्रकार अंतरंग उपादान सामग्री के साथ निमित्त कारण का योगदान भी चाहिए। एक कारण से काम नहीं बनेगा।

व्यवहार चारित्र से क्या लाभ ?

अतएव-वचन-पक्ष को छोड़कर स्याद्वाद पद्धति की शरण लेना श्रेयस्कर होगा। असली अध्यात्मवाद स्याद्वादशैली के साथ शत्रुता धारण करेगा, यह स्वप्न में भी कल्पना नहीं करनी चाहिए। परमागम के प्राण अनेकान्तवाद का दास जहाँ नहीं होगा, वहाँ अध्यात्म विद्या के देवता के स्थान में नकली तत्वभक्षिणी अध्यात्म विद्या नाम की राक्षसी का निवास मानना होगा, जो जीवों को भ्रम में भुलाकर दुर्गति का पात्र बनाती है। इसी कारण आचार्य शांतिसागर महाराज व्यवहार-चारित्रपालन की प्रेरणा करते थे क्योंकि इस मार्ग से निश्चय सम्यक्त्व प्राप्ति का सुयोग आता है।

सदाचार की शक्ति

इस जीव को नरक पशु रूप दुर्गति के पतन से बचाने की शक्ति गृहीतमिथ्यात्वसहित तपस्या तक में पाई जाती है। चौबीस ठाणा चर्चा में लिखा है कि परमहंस नामा परमती, सहस्रार ऊपर नहिं गती"- मिथ्यात्व के आराधक परमहंस साधु बारहवें स्वर्ग पर्यन्त

---

१. बाह्येतरोपाधि-समग्रतेयं, कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां, तेनाभिवंद्य स्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥ ६० ॥

जाते हैं, क्योंकि इंद्रियों का दमन करके, वे पुण्यकर्म का संचय करते हैं। सम्यक्त्व के अभाव में किया गया द्रव्यलिंगी मुनि का तप उसे अन्तिम ग्रैवेयक तक पहुँचाता है। यदि उस तप के साथ सम्यक्त्व का अमृत संयोग मिल जाय, तो निर्वाण को प्राप्त करने में देर नहीं लगती है। संयम के धारण करने से जीव नरकादि गतियों में नहीं जाता, भले ही यह संयम सम्यक्त्वरहित क्यों न हो।

अत: जब तक जीव को काललब्धि आदि साधन-सामग्री नहीं प्राप्त हुई है, तब तक भी संयम की शरण लेना श्रेयस्कर है। सदाचरण रूप प्रवृत्ति कभी भी पतन का कारण नहीं होगी, ज्ञानावरण के विशेष क्षयोपशमवश किसी की तपश्चर्या में चतुरता की कला को देख सम्यक्त्व प्राप्तिरूप अमृत बेला की कल्पना करना अयोग्य है 'तुष-माष-भिन्नं' दाल और छिलका जुदा है, इसी प्रकार मेरी आत्मा कर्म से पृथक् है, इस अल्प ज्ञान के द्वारा शिवभूति मुनि ने जीवन को सुविकसित कर सर्वज्ञ केवली का पद प्राप्त कर लिया और तत्त्व विवेचना से विश्व को चकित करने वाला ग्यारह अंग और नौ पूर्व का पाठी व्यक्ति, महापंडित मिथ्यात्व के पंक में ही निमग्न रहा आता है। तुम्हारी काललब्धि आई है या नहीं, आने को है, इसे सिवाय महान् ज्ञानधारी मुनि के अन्य नहीं बता सकता है। मोक्षपाहुड में कुंदकुंद स्वामी ने लिखा है, सम्यक्त्व के अभाव में भी व्रतधारण करके स्वर्ग जाना अच्छा है, व्रत रहित होकर नरक में कष्ट भोगना अच्छा नहीं है। जब तक काललब्धि आदि सामग्री नहीं प्राप्त होती है, तब तक यही मार्ग हितकारी है। उनकी महत्वपूर्ण देशना इस प्रकार है - वरं वय तवेहि सग्गो मा दुक्खं णिरय इयरेहिं ॥

एकान्त के चक्कर से बचो

इसलिए निरापद मार्ग यही है कि जिनेन्द्रभक्ति, शास्त्राध्ययन, व्रताचरण, सत्पात्र की समाराधना आदि व्यवहार धर्म की शरण ली जाय, कल्याणकारी उद्योग में निरत रहने वाला मानव, अंतरंग सामग्री का लाभ होने पर नि:श्रेयस को प्राप्त्र करता है।

कर्तव्य

परमागम के प्रतिकूल प्रवृत्ति तथा प्रतिपादन में पटु पुरुष पर-प्रतारणा के साथ स्वप्रतारणा के फलस्वरूप संसार सिन्धु के तल में निमग्न होता है, अत: एकांतवादियों के चक्कर से बचकर आचार्य शांतिसागर महाराज की देशना से लाभ लेना मंगलमय है। एकान्तपक्ष मिथ्यात्वी जीव में पाया जाता है। वह नियम से दुर्गति का पात्र होता है।

जटिल समस्या

एक दिन मैंने आचार्य महाराज से पूछा था-"महाराज ! आज का युग संयम की साधना के पूर्णतया प्रतिकूल है। जीवन निर्वाह के लिए भोजन की सामग्री तक पाना कठिन हो गया

है, इसलिए दो जैन प्रोफेसरों ने पूना में हमसे पूछा था कि आज के युग में हिंसा किए बिना निर्वाह कैसे होगा ? अनाज की उपज कम हो गई है, इसलिए माँस भक्षण की प्रेरणा दिए बिना जीवन-यात्रा नहीं बन सकती है। बन्दर आदि धान्य-घातक जानवरों को मारे बिना अन्य उपाय नहीं है। ऐसे समय में जैनधर्म के अनुसार कैसे लोकहित का संपादन हो सकता है ? राष्ट्र के हित के लिए जीवों का वध करना आवश्यक कर्तव्य हो गया है। इसी से भारत सरकार बन्दरों आदि घातक जानवरों के मारने को उत्साहित करती है।

'अहिंसा भक्त भारत सरकार का सूचना-विभाग बताता है कि बम्बई में भारत सरकार ने १२ लाख रुपयों के खर्च से ऐसा कारखाना तैयार किया है कि उसमें प्रतिदिन १५ टन मछलियाँ जमा की जावेगी तथा २५० टन मछली (आपात) समय के लिए सुरक्षित रखी जायेंगी इत्यादि। प्रतिदिन लगभग २० टन बर्फ भी तैयार किया जायगा, जिससे कि मछलियों को ठंडा करके जमाया जा सके। उस सरकारी सूचना-विभाग ने यह भी बताया है कि इससे महिनों पर्यन्त मछलियों का रंग, रूप, स्वाद ज्यों का त्यों बना रहेगा। (उद्योग-भारती,कलकत्ता, दिसम्बर ५१)

सामयिक अन्न संकट में क्या करें

दैनिक सन्मार्ग, ३ सितम्बर सन् १९५१ में अहिंसावादी भारत सरकार की हिंसक प्रवृत्ति के विषय में यह समाचार छपा था कि करनाल जिले में जंगली पशुओं की हत्या के हेतु पंजाब सरकार ने दस हजार रुपयों के इनाम की घोषणा की है। बन्दर मारने पर प्रत्येक बन्दर पीछे २ रुपये इनाम मिलेगा। प्रमाण के लिए मरे बन्दरों की पूँछें प्रथम श्रेणी के न्यायाधीश के सामने पेश करनी होगी। सन् १९५० में २७२५१ बन्दर मारे गए थे। ५०१६ गीदड़ों का नाश किया गया था। इनके नाश का कारण यह बताया जाता है वि इनके कारण आवश्यक अन्न को क्षति पहुँचती है। भारत सरकार ने जापान के हिंसक विशेषज्ञों को बुलाकर मछली मारने के कार्य में अपना लम्बा कदम उठाया। केरल प्रांत में मेढकों को मारकर उनके पैरों को अमेरिका भेजा जाता है। इस प्रकार असंख्य जीवों के संहार द्वारा धनसंचय का उद्योग चल रहा है। जीववध के क्षेत्र में धर्मभूमि भारत के कर्णधार भयंकर रूप से बढ़ रहे हैं। जितनी हिंसा हिंसक देशों में हो रही है, उससे अधिक भारत में हो रही है। कैसा अहिंसाभक्त शासन है यह और कैसी यह सत्य की आराधना है ?

महाराज का अनुभव-पूर्ण मार्गदर्शन

आचार्य महाराज ने कहा, "निरपराध प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए। इस महान् पाप से न व्यक्ति पनपता है और न राष्ट्र की ही वास्तविक उन्नति संभव है। बेचारे बन्दर आदि निरपराध जीव हैं, जो भय दिखाने से भाग जाते हैं। उनका प्राण लेना संकल्पी

हिंसा है। अपने पेट के योग्य वे अनाज लेते हैं, उनका मनुष्यों की तरह संग्रह नहीं करते। उनका घात करने से कभी भी सुख नहीं होगा। खेती में तीन चतुर्थांश भाग पशुओं का रहता है। आखिर वे प्राणधारी प्राणी किस वस्तु पर जीवित रहेंगे ? आज जो उपज एकदम कम होने लगी है, इसका कारण यथार्थ में पशु की हिंसा है। उनका नाश होने से उनका भाग कम उत्पन्न होने लगा है। पहले खेतों में जाकर अनाज खाते हुए आनंद से झूमते-झूमते हरिण आदि पशुओं की आत्मा अपना प्रेममय आशीर्वाद देती थी, इससे एक मन के स्थान में दस मन धान्य होता था।" कसाई सदृश क्रूर हृदय का व्यक्ति भगवती अहिंसा के अद्‍भुत सामर्थ्य को नहीं समझ पाते।

खोटी राजपद्धति

आचार्य महाराज ने पूछा, "क्या पहले भी कभी राजाओं ने आज की तरह बन्दर आदि अन्न खाने वाले जीवों की हत्या का काम करवाया था ?" उन्होंने कहा "पहले राजा नीति से शासन करते थे। अनीति तथा अधर्म से राज्य करने वालों का शासन अधिक दिन तक नहीं टिकता है ? आज की राजनीति में धर्म-अधर्म को एक साथ चलाया जा रहा है। दूध और जहर को एक साथ रखने से दूध भी जहर हो जाता है। हिंसा, झूठ, चोरी, अति-लोभ आदि पापों के छुड़ाने से राज्य अच्छी तरह से चलता है। सब जीवों का उद्धार करने वाला ही तीर्थंकर भगवान् का शासन है, वह किसी भी अवस्था में संकल्पी हिंसा की अनुमति नहीं देता है। पंच पापों का त्याग कराकर तीर्थंकर जग का उद्धार करते हैं।"

दया पथ पर महाराज का विश्वास

आचार्य महाराज का दृढ़ विश्वास है कि जीव-वध बंद करने से, पशुओं का बलिदान रोकने से पृथ्वी की उर्वरा शक्ति बढ़ेगी। इतना धान्य होगा कि लोग खा नहीं सकेंगे। जीवों का विनाश जितना अधिक किया जायगा, उतनी ही भूचाल, टिड्डीदल, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि की विपत्ति आयेगी।

यदि सूक्ष्मता से पर्यालोचन किया जाय, तो प्रतीत होगा कि अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूचाल आदि के कारण वे प्रांत अधिक पीड़ित हुए तथा हो रहे हैं, जहाँ जीव-वध तथा क्रूरतापूर्ण आदि कार्यों का नग्न नृत्य हो रहा है। आज बंदर आदि निरपराध शाकाहारी जीवों का वध करके भारत शासन ने जितना अनाज-बचाया, उससे लाखों गुना धान्य शहर में असावधानी (Negligence) से नष्ट हो गया, सड़ गया और असम वितरण (Maldistribution) द्वारा खराब हुआ है। जिन जीवों का प्रकृति की गोद में पोषण हो रहा था, उन निर्दोष जीवों को हत्या हेतु सर्व-रक्षक शासन का कसाई या वधिक के समान कार्य करने का परिणाम यह हुआ, कि प्रकृति ने टिड्डीदल, भूचाल, अतिवृष्टि,

अनावृष्टि आदि प्राकृतिक अस्त्रों द्वारा ऐसी भीषण त्राहि-त्राहि की स्थिति उत्पन्न कर दी, जिसकी भारतीय मस्तिष्क ने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी। लोग कहते हैं कि ठोकर खाने के बाद मूर्ख की भी बुद्धि ठिकाने आ जाती है, किन्तु आश्चर्य है कि अहिंसा का दंभ रचनेवाले शासन की छत्रछाया में हिंसा की वृद्धि द्वारा प्राप्त दुष्परिणाम को देखते हुए भी अहिंसा की आराधना का विचार तक नहीं उत्पन्न होता है ?

करुणाभाव

करुणावान् जीवों की वृद्धि होने पर प्रेमपूर्ण परमाणुओं की राशि सर्वत्र होकर भूतल के अंश-अंश में समृद्धि के कणों को भरती है, वह एक कल्याणकारी तथा आनन्ददायी वृत्त (Happy Circle) को उत्पन्न करती है, जिससे सर्वत्र समृद्धि का साज सजा हुआ दिखाई पड़ता है, किन्तु क्रूरता, हिंसा, संहारभावना के कारण घातक परमाणुओं के वातावरण में व्याप्त होने से निरोग व्यक्ति भी मृत्यु की गोद में पहुँचने लगते हैं, इसी प्रकार शासन की घातक प्रवृत्तियों और यम को आनन्दित करने वाली हिंसामयी योजनाओं के द्वारा वनस्पति के कण-कण की उर्वरा शक्ति न्यून होती जाती है। करुणामय शासन की अभयपूर्ण छाया में वनस्पति भी अपने उल्लास से धान्य, फलादि से परिपूर्ण विकास द्वारा आनंद को अभिव्यक्त करती है।

करुणाप्रसार की योजना हो

जैसे उन्नति की अनेक योजनाएँ बनाई जाती हैं, इसी प्रकार यदि पाँच वर्ष के लिए राष्ट्र के कर्णधार हिंसादि पापाचारों को रोकने की योजनाओं को कार्यान्वित करें और रक्तरंजित भूतल को करुणा की पुण्य-धारा से धोवें, तो अद्‌भुत विकास और अभ्युदयपूर्ण स्थिति का पुनः दर्शन होगा। प्रजा को प्राण देनेवाले प्रजापति ने भी यदि वधिक का वेष बना लिया हो, तो भूमि से समृद्धि के अधिदेवता कूच कर जाते हैं और वह स्थान चील, गिद्ध आदि मांस-भक्षी जीवों के लिये विहारभूमि बन जाता है। अतएव कैसी भी कठिन अवस्था आवे, जैनधर्म संकल्पी हिंसा द्वारा प्राणपोषण के पथ का प्रदर्शन नहीं करेगा। स्वामी समंतभद्र ने लिखा है "यदि ऐसा दुर्भिक्ष आ जाय कि मानव के रूप में जीवन नहीं चल सकता और राक्षस की वृत्ति स्वीकार करना अनिवार्य हो जाये, तो अपने आत्म हितार्थ अहिंसा का पालन करते हुए समाधि-मरण स्वीकार कर लो।"

नवधा-भक्ति का कारण

आचार-शास्त्र पर आचार्य महाराज का असाधारण अधिकार था, यही कारण है कि सभी उच्च श्रेणी के विद्वान् आचार-शास्त्र की शंकाओं का समाधान आचार्य महाराज से प्राप्त करते थे। आचार्यश्री की सेवा में रहने से अनेक महत्व की बातें ज्ञात हुआ करती थी। यथा शास्त्र में कथित नवधा-भक्ति के संबंध में आचार्यश्री ने कहा था,

"नवधा-भक्ति अभिमान-पोषण के हेतु नहीं है। वह धर्मरक्षण के लिए है। उससे जैनी की परीक्षा होती है। अन्य लोग धोखा नहीं दे सकते हैं।"

क्षुल्लक की चर्चा

क्षुल्लक के संबंध में महाराज ने कहा - "वह चार पाँच घर से भोजन माँग कर ला सकता है और एक घर में बैठकर वहाँ से जल माँग कर भोजन कर सकता है। वह चार-चार हाथ लम्बे दो वस्त्र रखे, दो लंगोट रखे। यदि माँगकर भोजन नहीं करता है, तो दो रूमाल रखना नहीं चाहिए? बर्तन भी न रखे। बर्तन रखता है, तो रूमाल भी रखना चाहिये। क्षुल्लक को समुदाय रूप से अर्घ देना चाहिए। क्षुल्लक की प्रदक्षिणा नहीं करना चाहिए। पाद-प्रक्षालन आवश्यक नहीं है। गंधोदक नहीं लेना चाहिए। जो वर्ग जिसके पास श्रावक के अणुव्रत नहीं है, ऐसे व्रतविहीन(असंयमी) व्यक्ति के पाँव धोकर उस जल को गंधोदक मानकर मस्तक पर लगा रहा है, वह सम्यक्पथ से पूर्णतया शून्य है।"

चातुर्मास

पहले चातुर्मास श्रावक तथा सप्तम प्रतिमाधारी भी किया करते थे। अतः हमने महाराज से पूछा, "चातुर्मास के विषय में किस प्रतिमाधारी को आज्ञा है?"

महाराज ने कहा, "८ वीं प्रतिमा से चातुर्मास करने की विधि है।"

प्रतिमाधारियों को मार्गदर्शन

प्रतिमाधारियों के विषय में महाराज से यह ज्ञात हुआ कि "चौथी प्रतिमा तक ठंडा जल पीता है। सातवीं प्रतिमा तक स्नानादि व्यवहार में शीतल जल को काम में लाता है। सचित्त त्याग प्रतिमा में सचित्त भक्षण का त्याग है। व्रत प्रतिमा से छठवीं प्रतिमा पर्यन्त दो बार भोजन तथा अनेक बार जल लेगा। सातवीं प्रतिमा में एक बार भोजन, संध्या को केवल फलाहार लेवे। पाक्षिक श्रावक रात्रि में जल, तांबूल, औषधि ग्रहण करता है। प्रोषधोपवास व्रत में जघन्य से एकासना करे। चावल का पानी लेना आचाम्ल निर्विकृति है।

सामायिक

एक बार एक सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक को डाक्टर ने बिस्तर से उठने की मनाई कर दी थी। सामायिक के समय वे उठकर आसन पर बैठ कर सामायिक करते थे, इससे रोग बढ़ता था। यह देखकर मैंने आचार्य महाराज से पूछा, "महाराज ऐसी स्थिति में यह श्रावक क्या करे?"

महाराज ने कहा, " रुग्ण होने पर लेट कर भी सावद्य- योग त्यागकर सामायिक की जा सकती है। बीमार आदमी बिस्तर पर भी सामायिक कर सकता है।"

मैंने पूछा, "महाराज ! प्रतिमाधारियों को शुद्ध घृत की उपलब्धि कठिन हो गई है। किन्तु शरीर के लिए जीवन-तत्त्व की दृष्टि से स्निग्ध वस्तु आवश्यक है, अत: यदि वह शुद्ध तेल की घानी में शुद्ध तिलहन को पिरवाकर तेल लेवे, तो क्या हानि है ?

महाराज ने कहा, "व्रती शुद्ध घानी का निकला शुद्ध तेल ले सकता है।"

मैंने पूछा, "महाराज ! हमारे बाबाजी महान् धर्मात्मा थे। वे कहा करते थे कि यदि मैं मरणासन्न हो जाऊँ और रात्रि को प्यास के लिये पानी मॉंगू तो न देना। बीमारी की स्थिति में उनका बोलना बंद हो गया। लोगों की परवाह न कर उनकी प्रतिज्ञा के अनुसार जल नहीं दिया गया। इस विषय में ऐसा विकल्प उठा करता था कि यदि जल दे देते, तो उनको शायद लाभ हो जाता।"

महाराज ने कहा, "अच्छा हुआ जो उनकी प्रतिज्ञा के अनुसार जल नहीं दिया। सदा प्रतिज्ञा की रक्षा करनी चाहिए। जल नहीं मिलने से एक दिन में मरण नहीं हो जाता। आठ रोज भी बिना जल के रहा जा सकता है। "

मैंने पूछा, "महाराज ! एक सुशिक्षित त्यागी को सामायिक के समय स्तोत्रपाठादि करते देखा, तो ऐसा करना क्या उचित है ?"

महाराज ने कहा, "स्तोत्रपाठ स्वाध्याय है। सामायिक नहीं है।"

वास्तुशुद्धि का प्रयोजन

मैंने पूछा, "महाराज ! गृह आदि बनाने के बाद वास्तुशुद्धि का क्या प्रयोजन है ?

महाराज ने कहा, "गृहनिर्माण में हिंसा होती है, वृक्षादिकों को घात होता है। इससे भगवान् के अभिषेकपूर्वक विधान करने से वह स्थान शुद्ध होता है, उत्तम पात्र को आहार के योग्य होता है।

मैंने पूछा, "महाराज ! कुआँ बनवाने के बाद वास्तु शुद्धि के समान, उसकी भी शुद्धि करना आवश्यक है क्या ?"

महाराज ने कहा, "कुएँ की शुद्धि होने के उपरांत वहाँ का जल भगवान् के अभिषेक के योग्य हो जाता है। कुआँ बनाने में जो जीवों का घात होता है, उस दोष की शुद्धि हेतु विधान करना आवश्यक है।"

व्रती के विषय में

महाराज ने कहा, "व्रती को खोटी साक्षी देने नहीं जाना चाहिए। नल का पानी नहीं पीना चाहिए। जिस कुएँ में चमड़े की मोट चलती है, उसमें मोट बंद होने के दो घंटे बाद पानी लेवें। व्रतों से नहीं घबड़ाना चाहिए। चक्रवर्ती तक ने बारह व्रत पाले हैं। व्रती सावद्य दोष त्यागकर दो बार सामायिक करें। उसका जघन्यकाल दो घड़ी है। उसमें

भगवान् का जप करें तथा एक-देश आत्मचिंतन करें।

जघन्य प्रोषधोपवास में छह रस रहित आहार लेना उत्कृष्ट है। बारामती में कुछ बम्बई की धार्मिक मण्डली ने आचार्यश्री से बम्बई की ओर विहार करने की प्रार्थना की थी। महाराज ने उसमें से एक पण्डित से व्रती बनने को कहा। बम्बई की परिस्थिति देख वे विचार में पड़ गए। तब महाराज ने कहा, "हम तुम्हें स्वर्ग ले जाते हैं, तो तुम सुनते नहीं हो, और तुम हमें व्यर्थ में बम्बई ले चलने को तैयार होते हो।"

त्यागधर्म

नीरा में जैनमित्र के संपादक श्री मूलचन्द कापड़िया ने 'दिगम्बर जैन' का 'त्याग' विशेषांक पूज्यश्री को समर्पित किया। उनके साथ मुम्बई के प्रख्यात गुजराती दैनिक के संवाददाता भाई साखरचन्दजी घड़ियाल थे। उस समय आचार्य महाराज पूना के समीपस्थ नीरा स्टेशन के पास थोड़ी दूर एक कुटी में विराजमान थे। आचार्यश्री ने कापड़ियाजी से कहा, "तुमने त्यागधर्म अंक निकाला है, यह तो बताओ कि तुमने क्या त्याग किया है ? वे चुप हो गए।"

निवासकाल

कुछ समय के बाद पूज्यश्री का आहार हुआ। पश्चात् आचार्य महाराज सामायिक को जा रहे थे। सम्पादकजी तथा संवाददाता महाशय महाराज की सेवा में आये। कापड़ियाजी ने पूछा- "महाराज,आप अभी यहाँ कब तक हैं ?"

महाराज ने कहा- "हमें नहीं मालूम। सामायिक तक तो यहाँ ही हैं। आगे का क्या निश्चय ?"

जैनमित्र संपादक ने कहा- "महाराज ! हमें अभी रेल से जाना है।"

महाराज ने कहा- "तुमको इतनी जल्दी क्या है ?"

उन्होंने कहा- "महाराज ! अभी फुरसत नहीं है।"

महाराज ने पूछा- "फुरसत कब मिलेगी कापड़िया ! तुम इतने वृद्ध हो गए। अब कब फुरसत मिलेगी ?"

इस प्रश्न का उत्तर वे क्या देंगे ? परिग्रह की आराधना में निमग्न सारे संसार के समक्ष आचार्य देव का यह महान् प्रश्न है- "अब कब फुरसत मिलेगी ?"

सचमुच में परिग्रह में फँसा हुआ जीव फुरसत नहीं मिलने की बात कहा करता है और एकाएक यमराज का गिरफ्तारी वारंट आ जाता है, तब इसे आत्म समर्पण कर देना पड़ता है। उस समय कहीं इसे फुरसत मिल पाती है।

महाराज ने बताया था- "एक व्यक्ति ने हमें आहार दिया। हम सामायिक को बैठ गए। सामायिक पूर्ण होने पर हमें यह खबर दी गई कि आपको आहार देने वाले व्यक्ति का

प्राणांत हो गया।"

इसलिए आचार्यश्री ने कहा था कि सामायिक तक तो वे यहाँ हैं, आगे का हमें नहीं मालूम। लगभग १९३६ की घटना है। एक धर्मात्मा श्रावक ने आचार्य देशभूषण महाराज को कामठी में प्रणाम किया। उसी क्षण उसकी मृत्यु हो गई। जीवन का कोई भरोसा नहीं है।

विवेकशून्य भक्ति

बारामती में एक धुरन्धर शास्त्रीजी आये। उन्होंने महाराज के चरणों पर पुष्प रख दिया। महाराज ने पूछा, "यह क्या किया ?"

वे बोले-"महाराज देव, गुरु, शास्त्र समान रूप से पूज्यनीय हैं। देव की पुष्प से पूजा के समान आपकी चरणपूजा की है।

महाराज ने कहा, "ऐसा करोगे तो बड़ा अनर्थ हो जायेगा, भगवान् के अभिषेक के समान शास्त्र का अभिषेक नहीं किया जाता है। हर एक बात की मर्यादा होती है।"

अपने वचन के पक्ष में पोषणार्थ पुनः शास्त्रीजी ने पूछा, "महाराज ! चरणों पर पुष्प रखने से क्या बाधा हो गई ?"

महाराज ने कहा -"शरीर की उष्णता से जीवों का प्राणघात हो जायगा, अतः ऐसा नहीं करना चाहिए।"

इसके पश्चात् महाराज ने भक्तों की अद्भूत लीला का एक पुराना उदाहरण बताया। शीत ऋतु थी। एक दिगम्बर मुनिराज पूना जिले में एक नगर में आए। भक्तों ने उनका पंचामृत अभिषेक किया, क्योंकि उन्होंने देव के समान गुरु को भी समझा। अतः उन्होंने ठंडे जल के भरे घड़ों से, गन्ने के रस से भरे घड़ों आदि से उनका अभिषेक कर डाला। इस मूढ़-भक्ति से उनको सन्निपात हो गया और वे मर गये।" यह कहते हुए सस्मित वदन महाराज ने भक्त शास्त्री से कहा, "मर्यादा के भीतर ही भक्ति रखना ठीक है।"

मैंने महाराज से कहा-"महाराज ! एक समाज के विख्यात ग्रंथकार ब्रह्मचारीजी की मृत्यु के उपरांत उनके शरीर को स्नान कराया गया। उनके मस्तक में 'ॐ' लिखा गया, तो क्या ऐसा करना उचित है?"

महाराज ने कहा-"ऐसा नहीं करना चाहिए। मुनिराज की मृत्यु होने पर उनकी देह को पद्मासन करो। पंचामृत से शरीर के पृष्टभाग का स्नान कराओ, कमंडलु को आगे रखो और गर्दन के पीछे पिच्छि को रखकर शरीर का दाह करो। दाह करने के बाद शरीर की भस्म को आदरपूर्वक लगाओ।"

मैंने पूछा-"महाराज ! पृष्ठ भाग का स्नान करे, आगे के भाग का क्यों नहीं"?

महाराज ने कहा -"कदाचित् उसमें प्राण आ जावें, और जलादि मुख के भीतर चला जावे, तो दूषण आ जायगा"।

महत्वपूर्ण सूचना

गृहस्थों के सम्बन्ध में महाराज ने कहा, "गृहस्थ की मृत्यु होने के बाद शरीर के दाह हो जाने पर अवशेष हड्डी आदि को नदी में कभी न डालो। उस क्षार से बहुत से जीव मर जाते हैं। जमीन में गड्ढा करके अवशेषों को गाढ़ देना चाहिए।"

लोकरुढ़िवश मृत व्यक्ति की अस्थि का नदी में डालने की सार्वजनिक प्रवृत्ति का धर्मात्माओं को अनुकरण नहीं करना चाहिए।

व्रतों के विषय में

व्रतों के विषय में महाराज ने कहा, "सोलहकारण सोलह दिन का भी किया जाता है। कोई-कोई व्रत ऐसे हैं, जिनमें बाधा आने पर पूरा व्रत पुनः करना पड़ता है। अष्टाह्निका या दशलक्षण व्रत में जिस वर्ष विघ्न आवे, उसकी पूर्ति आगामी वर्ष कर लेवें, अधिक सुघड़ाई ठीक नहीं है। इसको स्पष्ट करने के लिए महाराज ने उस सुघड़ गृहस्थ की कथा बताई जिसे संदेह हो गया था कि मेरे पैर में कौन सा मलिन पदार्थ लग गया है, अतः उसने हाथ लगाकर देखा, नासिका से स्पर्श किया, इस प्रकार उस मलिन वस्तु से हाथ, पैर, नासिका सब मलिन हो गए।"

आहार ग्रहण

एक दिन महाराज के जीवन के सम्बन्ध में यह बात उनसे सुनने में आई थी कि "पहले १० या १२ वर्ष पर्यन्त हम दूध, चावल मात्र आहार में लेते थे। आहार करने में पाँच मिनिट से अधिक समय नहीं लगता था। उस समय हमारे दाँत थे। अब दाँत न रहने से देर लगती है। गृहस्थावस्था में पाँच वर्ष पर्यन्त हमने एक बार भोजन तथा जल का नियम पालन किया था।"

डिग्रज मन्दिर की विशेषता बतलाते हुए एक दिन महाराज ने बताया था कि दक्षिण में डिग्रज का जिनमंदिर बनाने में छने पानी का उपयोग किया गया है।

सुखी श्रीमंत

एक दिन महाराज ने कहा, "धर्म श्रेष्ठ है, धन नहीं। धर्मपालन करने वाला श्रीमंत सुखी रहता है। पश्चिम के देशों में धन वैभव कितना ही अधिक हो, किन्तु सुखी श्रीमंत भारत में ही मिलेंगे।

बालकों पर प्रेम

वीतरागता की सजीव मूर्ति होते हुए आचार्यश्री में अपार वात्सल्य पाया जाता था। लगभग १९३८ (संवत्) के भाद्रपद की बात है। उस समय महाराज ने बारामती में सेठ

रामचन्द्र के उद्यान में चातुर्मास किया था।

एक दिन अपराह्न में महाराज का केशलोंच हो रहा था। उनके समीप एक छोटा तीन वर्ष की अवस्था वाला स्वस्थ सुरूप तथा नम्न मुद्रा वाला बालक महाराज को केशलोंच करते देखकर नकल करने वाले बंदर के समान अपने बालों को पकड़कर धीरे धीरे खींचता था। उस बालक को देखकर महाराज का मुख सस्मित हो गया और उन्होंने सहज आशीर्वाद दे उसके सिर पर अपनी पिच्छि से स्पर्श कर दिया। लोच के उपरांत जब महाराज का मौन खुला, तब मैंने महाराज से पूछा- "महाराज! इस बालक के मस्तक पर आपने पिच्छि का स्पर्श क्यों करा दिया?"

जब वे कुछ न बोले, तब मैंने कहा - "महाराज! मुनिपद को बालकवत् निर्विकार कहा गया है। 'स्वपक्षदर्शनात् कस्य न प्रीतिरुपजायते' - अपने पक्षवालों को देखकर किसे प्रेम उत्पन्न नहीं होता है। प्रतीत होता है, इसी कारण से उस बालक पर आपका वात्सल्य जागृत हो गया?"

महाराज के सस्मित मुख से प्रतीत होता है कि मौन द्वारा मेरा समर्थन किया।

आज का मनुष्य अपनी निर्भय स्थिति को सुरक्षित रखने के लिये उचित-अनुचित का विचार न कर स्वार्थसाधन को ही पराकाष्ठा माने हुए है। नैतिकता और सदाचार की मोहक बातें दूसरों को सुनाने के लिए है। आज का मानव एक ऐसी खाई के ऊपर से आँख पर पट्टी बाँधकर चल रहा है कि उसके गिरते ही उसकी हड्डी पसली टूटे बिना न रहेगी। डॉ. राधाकृष्णन के शब्दों में "घातक अस्त्र तथा संपत्ति राशि को ही हमने उन्नति का उपाय समझ लिया है। जो लोग हमारे लोभ एवं अन्याय के शिकार हैं, उनसे अपनी रक्षा करने के लिए हम नवयुवकों को ऐसी शिक्षा देते हैं, जिससे वे मरने-काटने तथा विनाश करने के लिए उत्साहित हों। यदि हमारे विचारों तथा व्यवहार में प्रबल परिवर्तन न हुआ, तो मनुष्य जाति का विनाश अवश्यंभावी है, वह भी किसी प्राकृतिक दुर्घटना अथवा रोग के कारण नहीं, वरन् इस सभ्यता के कारण, जो मानव तृष्णा एवं वैज्ञानिक प्रतिभा का एक विलक्षण संमिश्रण है।"(स्वतंत्रता और संस्कृति, पृष्ठ १६७-१६८)

विश्वनंदन वन कैसे बनेगा?

आचार्यश्री ने कहा, "उन्नति की बड़ी-बड़ी योजनाओं के सुन्दर प्रस्तावों से विश्व का कल्याण नहीं होता। संसार के जीव अथवा उनके समुदाय रूप राष्ट्र तब ही सुखी होंगे, जब वे हिंसा, लंपटता, झूठ, चोरी तथा अधिक तृष्णा का त्याग करेंगे, तब ही आनन्द और शान्ति की प्राप्ति होगी।"

आचार्य महाराज तो अहिंसा की साधना के लिए मांस त्याग को आवश्यक मानते थे। यदि मांसाहार पाप नहीं, तो फिर और किस वस्तु को पाप कहा जा सकता है?

ऐसे हिंसाप्रचुर वातावरण में आचार्य महाराज ने श्रेष्ठ अहिंसाव्रत के पालक दिगम्बर मुद्राधारी अनेक मुनियों को उत्पन्न कर दिया तथा अनेक स्त्रियों को आर्यिका की दीक्षा दी। इससे चतुर्विध संघ का दर्शन होने लगा। उनके चारित्र रूप शासन की बहिर्जगत् तथा अंतर्जगत् में वृद्धि हुई हैं। विषयान्ध व्यक्ति की आँखें इस चारित्र के तेज को देखते समय बंद हो जाती है। मुमुक्षु तथा भद्र प्राणी ही उसका महत्व जानते हैं।

गुरुकृपा

गजपंथा के पंचकल्याणक महोत्सव से मैं जब चलने लगा, तब मैं महाराज की सेवा में पहुँचा। महाराज ने कहा, "तुम्हारे पिताजी का तार आया है। इससे घर जा सकते हो, किन्तु भूलना मत कि शास्त्रों में पाँच प्रकार के पिता कहे गए हैं। उनमें गुरु का स्थान भी है, फिर कब आओगे ?"

मैंने कहा, "महाराज, बिना पुण्योदय के आपके दर्शन नहीं हो सकते, शीघ्र ही आने का प्रयत्न करूँगा।"

मांगीतुंगी क्षेत्र में आचार्य संघ विराजमान था। वहाँ पंचकल्याणक पूजा थी। वहाँ आचार्य महाराज के दर्शन हुए। वहाँ से महाराज का विहार हो गया। रास्ते में महाराज के समीप पहुँचने का मौका मिला।

एक खेत में मुनि महाराज को बैठे देखकर बड़ा अच्छा लगता था। विकृतिविहीन प्रकृति के मध्य प्राकृतिक मुद्रा तथा प्राकृतिक जीवन वाले महापुरुष की स्वाभाविक शोभा निराली होती है। मैंने गुरुदेव को प्रणाम किया और कहा, "महाराज, आपके चरणों में आने से बड़ी शांति मिलती है।"

महाराज ने कहा, "तो फिर क्यों जाते हो ?"

इस प्रश्न का क्या उत्तर हो सकता है ? सोचकर कहा, "महाराज, निरन्तर आपके सान्निध्य में रहने के योग्य मेरा सौभाग्य नहीं है। बिना पुण्य महापुरुषों के चरणों में निवास करने का भाग्य कहाँ ?"

महाराज ने कहा, "तुम तो अपनी बात की वकालत करते हो।"

मैंने कहा, "मैंने वकालत तो पास की, किन्तु वकालत कभी की ही नहीं। हाँ ! आपके धर्मपक्ष की ही वकालत करता हूँ।"

सस्मित वदन से गुरुदेव ने आशीर्वाद दिया। मैं रवाना हो गया।

सन् १९४३ का सितम्बर माह

१९४३ के सितम्बर में मैंने देखा, आचार्य महाराज मूल संस्कृत के ग्रंथों को बड़े ध्यान से बाँच रहे थे। देखा, तो मोती सरीखे मनोज्ञ अक्षरों में अलंकृत हस्तलिखित संस्कृत की

प्रति है, जो आचार्य महाराज के सुयोग्य शिष्य मुनि १०८ धर्मसागर महाराज ने गुरुदेव के स्वाध्याय के निमित्त लिखी थी।

मन में यह इच्छा हुई कि गुरुदेव से पूछूँ आपके जीवन पर किन ग्रंथों का प्रभाव पड़ा जिससे पता चलेगा कि किस महामुनि की वाणी ने इस पवित्र जीवन को आलोकित किया है। मैंने पूछा, "महाराज ! भगवान् की वाणी होने के कारण सभी आगम ग्रंथ अच्छे हैं, फिर भी कौन से शास्त्र आपको विशेषकर आनंदप्रद मालूम पड़ते हैं ?"

महाराज ने कहा, "अब हमें द्रव्यानुयोग के शास्त्र अच्छे लगते हैं।"

मैंने पूछा, "महाराज ! प्रारंभ में कौन से शास्त्र आपको विशेष प्रिय लगते थे और किन ग्रंथों ने आपके जीवन को विशेष प्रभावित किया ?

किन ग्रंथों का प्रभाव पड़ा

महाराज ने कहा, "जब हम पंद्रह-सोलह वर्ष के थे तब हिन्दी में समयसार तथा आत्मानुशासन बाँचा करते थे। हिन्दी रत्नकरंडश्रावकाचार की टीका भी पढ़ते थे। इससे मन को बड़ी शांति मिलती थी। आत्मानुशासन पढ़ने से मन में वैराग्य भाव बढ़ता था। इसमें वैराग्य तथा स्त्रीसुख से विरक्ति का अच्छा वर्णन है। इससे हमारा मन त्याग की ओर बढ़ता था। इरादा १७-१८ वर्ष की अवस्था से ही मुनि बनने का था।"

महाराज ने यह भी बताया कि आत्मानुशासन की चर्चा अपने श्रेष्ठ सत्यव्रती मित्र रुद्रप्पा नामक लिंगायतबंधु से किया करते थे। इन दोनों महापुरुषों का परस्पर में तत्त्व विचार चला करता था। महाराज ने कहा था कि "आत्मानुशासन की कथा रुद्रप्पा को बड़ी प्रिय लगती थी।"

पथ प्रदर्शक

महाराज ने यह भी कहा, "शास्त्रों में स्वयं कल्याण नहीं है। वे तो कल्याण के पथ-प्रदर्शक हैं। देखो ! सड़क पर कहीं खम्भा गड़ा रहता है, वह मार्गदर्शन कराता है। इष्ट स्थान पर जाने को तुम्हें पैर बढ़ाना होगा। वासनाओं की दासता का त्याग ही कल्याणजनक है।"

****

महान् अनुभवी ज्ञाता एवं सुलझी हुई विद्वतता

एक दिन महाराज कहते थे कि "हम प्रतिदिन कम से कम ४० या ५० पृष्ठों का स्वाध्याय करते हैं।" धवलादि सिद्धांत ग्रंथों का बहुत सुन्दर अभ्यास महाराज ने किया था। अपनी असाधारण स्मृति तथा तर्कणा के बल पर वे अनेक शंकाओं को उत्पन्न करके उनका सुन्दर समाधान करते थे।- दिगम्बर दीक्षा, पृष्ठ १०७

ज्योतिषियों की दृष्टि में आचार्य श्री

एक बार एक उच्चकोटि के ज्योतिषशास्त्र के विद्वान् को आचार्य महाराज की जन्मकुण्डली दिखाई थी। उसे देखकर उन्होंने कहा था- "जिस व्यक्ति की यह कुण्डली है, उनके पास तिलतुष मात्र भी संपत्ति नहीं होनी चाहिए, किन्तु उसकी सेवा करने वाले लखपति, करोड़पति होने चाहिए।"

उन्होंने यह भी कहा था कि- "इनकी शारीरिक शक्ति गजब की होनी चाहिए। बुद्धि बहुत तीव्र बताई थी और उन्हें महान् तत्त्वज्ञानी भी बताया था।"

महाराज के चरणों का आश्रय लेने से विपत्ति नहीं आती, यह साथ के लोगों ने भी देख लिया। उनको सकट मुक्त होने का हर्ष तो था ही, साथ ही महाराज के प्रति उनकी आंतरिक श्रद्धा और भी बलवती हो गयी।

-प्रभावना, दैवज्ञ का कथन, पृष्ठ २०७

आचार्य श्री का संग अर्थात् मंगल ही मंगल

बारामती के गुरुभक्त शिरोमणि सेठ चंदूलाल सर्राफ से हमने पूछा था - "आप महाराज की सेवा में प्रायः रहते हैं। क्या विशेषता उनके बारे में देखने में आई ?"

उन्होंने कहा था-"महाराज के साथ में कभी भी कष्ट नहीं हुआ। कभी कोई संकट नहीं आया। हम भयंकर से भयंकर जंगल में पड़े रहे, कभी भी चोरी नहीं हुई। कभी बीमारी की विपत्ति नहीं भोगने में आई।"

वे कहने लगे-"कदाचित् संकट का समय आया और हम लोगों ने आचार्य महाराज का पुण्य स्मरण किया, तो उनका नाम लेते ही संकट दूर हुआ है।"

-प्रभावना, महाराज का प्रभाव,पृष्ठ २०६

प्रकीर्णक

प्रकीर्णक

जिस प्रकार अमृतरस पान करने वाला व्यक्ति पुनः उस सुधा का रसास्वादन करना चाहता है, इसी प्रकार आचार्य महाराज का पुण्य जीवन रहा है। जितना अधिक उनके जीवन का निकट से अध्ययन किया जाता था तथा उनके पुण्य संपर्क में मनुष्य-जीवन के मंगल क्षण व्यतीत किये जाते थे उतना ही महान् पवित्र तथा स्फूर्तिपूर्ण उनका जीवन विदित होता था। उनके जीवन में शांति, सौंदर्य और कल्याण का अपूर्व समन्वय रहा है। यदि सहृदय साहित्यकार, लेखक, कवि और कलाकार इनके पास पहुँचता था, तो प्रत्येक सरस्वती के सेवक को चमत्कारप्रद विपुल ज्ञानभंडार मिले बिना नहीं रहता था।

आत्मस्मृति तथा शरीरविस्मृति

उनका तप:पुनीत जीवन विलक्षण था। माया के जाल से विमुक्त ऐसी संयम-मूर्ति आत्मा का आज के भोगमग्न संसार में दर्शन होना वास्तव में लोकोत्तर पुण्य की बात है। सन् १९५२ के आरंभ में आचार्य महाराज दहीगाँव नाम के तीर्थक्षेत्र में विराजमान थे। एक दिन वहाँ के मंदिर से दूसरी जगह जाते हुए उनका पैर ठीक सीढ़ी पर न पड़ा, इसलिए वे जमीन पर गिर पड़े। यह तो बड़े पुण्य की बात थी कि वह प्राण लेने वाली दुर्घटना एक पैर में गहरा घाव ही दे पाई। महाराज के पैर में डेढ़ इंच गहरा घाव हो गया, जिसमें एक बादाम सहज ही समा सकती थी। उस स्थिति में महाराज ने पैर में किसी प्रकार की पट्टी वगैरह नहीं बँधवाई, एक साधारण-सी निर्दोष औषधि पैर में लगती थी। वे ऐसी वस्तु का उपयोग नहीं करते, जिसमें शराब, मांस, चर्बी आदि हो।

निर्ममता

उनके पास सिवनी से दो व्यक्ति दर्शनार्थ पहुँचे थे। उन्होंने आकर हमें सुनाया कि महाराज के पास हमें तीन-चार घंटे रहने का सौभाग्य मिला था। उस समय हम लोगों ने यह विलक्षण बात देखी कि पैर में भयंकर चोट होते हुए भी उन्होंने हमारे सामने एक बार भी अपने पैर के घाव की ओर दृष्टि नहीं दी। उनकी शरीर के प्रति कितनी ममता थी इसका ज्ञान उनके पैर के घाव के प्रति उपेक्षा-भाव से स्पष्ट होता था। जब तक शरीर है, तब तक उसमें न्यूनाधिक ममता छोटे-बड़े सब में पाई जाती है, किन्तु महाराज की लोकोत्तर आत्मा थी। भेदविज्ञान के द्वारा चैतन्य ज्योतिर्मय आत्मा का वे सदा दर्शन करते थे। इसलिए शरीर की ओर उनका क्यों ध्यान जायगा। जैन पुराणों में सुकुमाल

मुनि, गजकुमार मुनि, सुकौशल मुनि आदि का पवित्र चरित्र बताया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि जानवरों के द्वारा शरीर के खाये जाने पर अथवा अग्नि के द्वारा देह का दाह होने पर भी वे अपनी आत्मा की आराधना से विचलित नहीं हुए थे। उस निःस्पृहता और वीतरागता की झलक आचार्य महाराज के जीवन में भी मिलती है।

धनकुबेरों को अकिंचनता का पाठ

एक दिन फलटण में हीरक जयंती के समारंभ में आगत अनेक धनकुबेर धनिकों का समुदाय महाराज की सेवा में १४ जून,१९५२ को उपस्थित था। उस समय महाराज ने उन श्रीमंतो से कहा, "देखो, कर्मों के बन्धन से छूटकर मोक्ष पाने के लिए आप सबको हमारे समान दिगंबरत्व को धारण करना होगा, क्योंकि इस पद को अंगीकार किये बिना मोक्ष को प्राप्त करने का अन्य मार्ग नहीं है।" उन्होंने यह भी कहा था कि "यह जीव आगे दुःखी न हो, इससे प्रत्येक व्यक्ति को व्रत धारण कर व्रती बनना चाहिए ।"

उदात्त दृष्टि

एक दिन पूर्व १३ जून को जब आचार्य महाराज के प्रति भारतवर्ष के प्रमुख दिगम्बर जैन बंधुओं ने, संस्थाओं ने तथा पंचायतों ने आचार्य महाराज के द्वारा किये गये अनंत उपकारों पर श्रद्धा के सुमन चढ़ाये और उनके गुणों का वर्णन किया था, तब आचार्य महाराज ने कहा था, "इस श्रद्धांजलि से हमें रंचमात्र भी हर्ष नहीं है। हमें अपनी प्रशंसा सुनकर राई बराबर भी आनन्द नहीं होता है, इस प्रशंसा से स्वर्ग नहीं मिलता है। तुम हमारी किस बात की प्रशंसा करते हो ? तुमने श्रद्धांजली अर्पित की अथवा निंदा की, तो क्या हुआ ? हमारी दृष्टि में दोनों का कोई मूल्य नहीं है।"

स्वाश्रयी दृष्टि

"तुम हमारी मूर्ति बनाकर पूजो, तो इससे हमारा क्या हित होगा। हमारी आत्मा एक है। सुख-दुःख भोगने वाला वही एक है। इसमें कोई भी सहायक नहीं है। भगवान् भी सहायक नहीं है। जैसा आत्मा करेगा, वैसा भोगेगा। समस्त जगत् अनित्य है। बड़े-बड़े ऋद्धिधारी महान् ज्ञान के धारक मुनि नहीं रहे, तब हम क्या चीज हैं ?"

इस पर हमारे सबसे छोटे भाई सन्मति कुमार दिवाकर ने कहा, "महाराज ! आपका गुणगौरव करने से भव्य जीवों को पुण्य लाभ होता है, इसलिए आप उसे निरापयोगी क्यों कहते है ?" पूज्य श्री इस मधुर बात को सुनकर चुप हो गए।

समता

महाराज ने कहा, "हमारे लिए पाप और पुण्य दोनों समान है। वे दोनों ही बेड़ी के समान हैं। श्रद्धांजली से या निन्दा से हमें क्या है ? यह उत्सव तुम लोगों को बड़े महत्त्व

का दिखता है, किन्तु इसमें हमें कोई महत्व की बात नहीं दिखती। तुम धर्म की प्रभावना करो, इससे हमें क्या है। हम तो चाहते हैं कि लोगों के प्रशंसा के शब्द तक हमारे कान पर नहीं आवें। हम निन्दक और वंदक, दोनों को एक समान मानते हैं। तुम अखबार छाप कर हमारी स्तुति करते हो, किन्तु हम तो अखबार देखते तक नहीं।" उस समय महाराज के मुखमंडल पर अपूर्व वैराग्य था। उनके गुणगौरव समारंभ को देखकर सभी धार्मिक जनों के हर्ष का पारावार न था, किन्तु महाराज की मानसिक-स्थिति वास्तव में विलक्षण थी। यथार्थ में वे लोकोत्तर महापुरुष थे। वास्तव में वे महात्मा और महायोगी थे।

१२ जून का मार्मिक उपदेश

पुरुषार्थ का महत्व : आचार्य महाराज ने १२ जून, सन् १९५२ को हीरक जयंती के अवसर पर अपने मार्मिक भाषण में कहा था-"धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं। इनमें मोक्ष श्रेष्ठ है। धर्म की आराधना द्वारा अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसलिए धर्म पुरुषार्थ महत्त्व का है।"

जिनवाणी का अध्ययन : "आचार्य उमास्वामी ने 'सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र को मोक्ष का मार्ग कहा है', केवल सम्यक्त्व के बाद ही मोक्ष नहीं होता है। जिनेन्द्र भगवान् की वाणी पर श्रद्धान करने से समयक्त्व होता है। जिनेन्द्र भगवान् की वाणी का एक वाक्य तक उस जीव का कल्याण करता है, तब संपूर्ण जिनागम का स्वाध्याय क्या नहीं करेगा ? इस पंचम काल में केवली भगवान् नहीं हैं, इस समय किसका अवलंबन किया जाय ? जिन भगवान् की वाणी के सिवाय अन्यत्र कल्याण नहीं है। जिनेन्द्र भगवान् की वाणी पूर्णतया सत्य है।"

भगवान् ने कहा है कि-"जिनेन्द्र का मन्दिर नहीं होगा, तो श्रावकों का धर्म भी नहीं रहेगा और श्रावकों के अभाव में मुनिधर्म कैसे रहेगा ? मुनिधर्म जब तक रहेगा, तब तक जिनधर्म रहेगा। इसी दृष्टि से धर्म के आधारस्तंभ जिनमंदिरों की पवित्रता के रक्षण निमित्त हमें प्रयत्न करना पड़ा था। यदि भगवान् का स्थान नहीं रहा, तो हम भी नहीं रहेंगे। हमें भगवान् की आज्ञा माननी चाहिए।"

"भगवान् की वाणी में लिखा है कि अभी जिनधर्म का लोप नहीं होगा। यह बात कभी झूठ नहीं होगी। अज्ञान के अंधकार में चलने वाले जीवों को शास्त्र अजीव होते हुए भी मोक्ष का मार्ग बताता है। जो बात आदिनाथ भगवान् ने कही थी, वही बात दूसरे तीर्थंकरों ने बतायी। कोड़ा-कोड़ी सागरों पर्यन्त काल बीतने पर भी जिनेन्द्र की वाणी में कोई अन्तर नहीं पड़ा है, इसलिए महावीर भगवान् के मोक्ष जाने के २५०० वर्ष के भीतर कोई अन्तर नहीं हुआ है, इस बात पर दृढ़ श्रद्धा रखना चाहिए।"

पंचपाप त्याग : महाराज ने कहा-"शास्त्रों में लिखा है कि जीव को पंचपापों का त्याग करना चाहिए। इस पापत्याग से यह जीव हीन गतियों में नहीं जाता है। व्रती जीव देवगति में ही जाता है, इसलिये पापों का त्याग करना चाहिये । सम्यक्दर्शन तो देखने में नहीं आता है। किन्तु व्रत धारण किया है यह बात प्रत्येक के देखने में आती है, इसलिए सब लोगों को हिंसादि पापों का त्याग कर व्रती बनना चाहिए।"

१४ जून का मार्मिक उपदेशमार्दव परिणाम

मार्दव परिणाम : महाराज ने ता. १४ को अपने मार्मिक उपदेश में कहा था-"हमें घर छोड़कर दीक्षा लिए हुए करीब ४० वर्ष हो गए। आप लोग हमारी प्रशंसा करते हैं, यह अच्छा नहीं लगता है। हम केवली, अवधिज्ञानी, ऋद्धिधारी अथवा महिमाशाली मुनि नहीं हैं। अढ़ाई द्वीप में विद्यमान समस्त मुनियों में हमारा अन्तिम स्थान है। हमारी जयंती से क्या प्रयोजन है ? हम तो रोक रहे थे, किन्तु लोग रुकते नहीं हैं।"

दयाधर्म : उन्होंने कहा था-"धर्म का रक्षण करो तो वह आपका भी रक्षण करेगा। इस धर्म का मूल दया है, इस धर्म से न केवल मोक्ष, बल्कि अर्थ का भी लाभ होता है। आज प्रजा[1] में गड़बड़ी है, धन-धान्य का कष्ट है, संकटों की सीमा नहीं है। इसका क्या कारण है ? यदि लोग दयामय धर्म का रक्षण करें तो वह धर्म तुम्हारे संकटों को दूर करेगा। केवल मनुष्य की अहिंसा के द्वारा गांधी ने लोक सफलता प्राप्त की है।"

दीप शिखा सम श्री जिनवाणी : उन्होंने कहा था-"जिनेन्द्र की वाणी में श्रद्धान रखो, वह दीपक के समान है, मोह की अँधियारीयुक्त रात्रि में जिनवाणीरूप दीपक को नहीं भूलना चाहिए। इससे काँटा गड़ने अथवा गड्ढे में गिरने आदि का भय नहीं रहता है। जिनवाणी के मंत्र को पाकर कुत्ते के जीव ने देव पद पाया था। केवली भगवान् सूर्य के समान है। उनकी वाणी दीपक के समान है। उनकी वाणी का साक्षात् जिनेन्द्र के समान आदर करना चाहिए। जिनेन्द्र की वाणी में अपार शक्ति है। उसमें हमारा विश्वास नहीं है, इसलिए हम असफल होते हैं।"

पंचमकाल का बाल्य-काल : उन्होंने कहा था-"अभी पंचमकाल का बाल्यकाल है, इसलिए जिनधर्म का लोप नहीं होने वाला है। भगवान् की वाणी औषधि के समान है और पापों का त्याग करना उस औषधि ग्रहण के लिए पथ्य के समान है। लोग धर्म की बातें जानते हैं किन्तु उनमें श्रद्धा का अभाव है। हिंसा करना महापाप है धर्म का प्राण तथा जीवन-सर्वस्व यह अहिंसा धर्म है। शासन सत्ता को भी इस अहिंसा धर्म को नहीं भूलना

---

१. कुंदकुंदस्वामी ने रयणसार में दयादिसद्धर्मे (६५) शब्द द्वारा दयाभाव को समीचीन धर्म कहा है । गौतम गणधर ने कहा है कि धर्मस्य मूलं दया ।

चाहिए। इसके द्वारा ही सच्चा कल्याण होगा।"

"कोई-कोई सोचते हैं कि जिस जैनधर्म में साँप-बिच्छू को मारना निषिद्ध माना गया है, उसके उपदेश के अनुसार राज्य की व्यवस्था कैसे हो सकेगी ? यह धारणा ठीक नहीं है। जैनधर्म में सर्वदा संकल्पीहिंसा (Intentional Injury) न करने की आज्ञा है। गृहस्थ विरोधी हिंसा नहीं छोड़ सकता है। जैनधर्म के धारक चक्रवर्ती, मण्डलेश्वर, महामण्डलेश्वर आदि बड़े-बड़े राजा हुए है। गृहस्थ के घर में चोर घुस गए अथवा आक्रमणकारी आ गए, तब वह क्या उन्हें नहीं मारेगा ? वह निरपराधी जीव की हिंसा नहीं करेगा। वह मांस नहीं खायेगा। वह शिकार नहीं खेलेगा। इस प्रकार निरपराधी जीव की रक्षा करते हुए तथा संकल्पी हिंसा का त्याग करके जैननरेश अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा स्थापित करता है।

अहिंसा की प्रधानता : महाराज ने कहा - "श्रावकों के अष्टमूलगुणों में यही अहिंसा का भाव है। मुनियों के अट्ठाईस मूलगुणों तथा चौरासी लाख उत्तरगुणों में भी यही अहिंसाप्रधान है। जीव, पुद्गल कर्म सब अलग-अलग हैं। इस बात का श्रद्धान करना चाहिए। तत्त्वश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन की पहचान प्रशम, संवेग, अनुकम्पा तथा आस्तिक्य भाव द्वारा होती है। यदि तुम्हें कल्याण करना है, तो जिनवाणी तथा आत्मा पर विश्वास रखो।"

नश्वरता : उपदेश के अन्त में आचार्य महाराज ने कहा था-"जगत् के सभी पदार्थ विनाशीक हैं। अभी राम नहीं हैं, कृष्ण नहीं हैं, इसी प्रकार दूसरे भी नहीं रहेंगे। इस शरीर को छोड़कर दूसरी देह को धारण करना पड़ेगा, इसलिए आगे के मकान की व्यवस्था क्यों नहीं करते ? हमारा यही कहना है कि अहिंसा के मार्ग में लगो, इसके द्वारा तुम्हारा और संसार का कल्याण होगा।"

१९५२ की जुलाई का द्वितीय सप्ताह

१९५२ की जुलाई के द्वितीय सप्ताह में भगवान् बाहुबली के महामस्तकाभिषेक के संबंध में राज्य के अधिकारियों से जैन प्रतिनिधि के रूप में चर्चा तथा परामर्शनिमित्त मैसूर, श्रवणबेलगोला, बंगलोर पहुँचने का अवसर मिला। १३ जुलाई सन् १९५२ का रविवार का मध्याह्न-काल जीवन के लिए चिरस्मरणीय स्वर्णक्षण था, जब भगवान् गाम्मटेश्वर स्वामी के अचिन्त्य चरणों के दर्शन का पुण्य सौभाग्य मिला। नेत्रों का पाना कृतार्थ प्रतीत हुआ।

लोणंद चातुर्मास

वहाँ से अपने भाई अभिनन्दनकुमार (एम.ए., एल.एल.बी.) के साथ लौटते हुए १९

जुलाई को प्रभात काल में आचार्य महाराज की सेवा में पहुँचने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वे लोणंद (पूना) में अपना वर्षाकाल व्यतीत कर रहे थे। उनके समीप आने पर अनेक महत्त्वपूर्ण चर्चा करने का और महाराज के अनुभव प्राप्त करने का प्रसंग मिला। हमारा विचार महाराज के ज्येष्ठ बंधु १०८ वर्धमानसागर मुनिराज के दर्शनार्थ जाने का हो रहा था।

अलौकिक अनासक्ति

हमने पूछा- "महाराज ! वर्धमान स्वामी ने कहाँ चातुर्मास किया है।"

महाराज ने कहा- "हमें नहीं मालूम।"

दूसरे भाईयों ने बताया कि वे किनीग्राम कोल्हापुर में विराजमान हैं। उस समय आचार्य महाराज की अलौकिक वृत्ति का पता लगा। यथार्थ में जो आगम में, **'मुनिनाम् अलौकिकी वृत्तिः'** कहा है, उसका मर्म ज्ञात हुआ कि इन महात्माओं को दुनिया के बारे में परिचय प्राप्त करने की तनिक भी इच्छा नहीं होती। अन्तरंग-बहिरंग त्यागी मुनीश्वर मुख्यतया अपना मन आत्मा की ओर केन्द्रित रखते हैं। बाहरी बातों से उनका क्या प्रयोजन ? आत्मा के वैभव को देखने वाले तथा स्वानुभूति के मधुर रसपान में निमग्न रहने वाले मुनीन्द्रों को बाह्य बातों के विषय में जानकारी प्राप्त करना क्यों अच्छा लगेगा ?

इस प्रसंग ने यह स्पष्ट कर दिया, कि वे जगत् के जाल से कितने दूर है। वास्तव में उनके शरीर के समान उनका अन्तःकरण भी दिगम्बर है। केवल बाह्य नग्नता का कोई महत्त्व नहीं है। महाराज ने कहा था केवल- "नग्नता महत्वपूर्ण नहीं हैं, बन्दर भी नग्न है, पशु भी नग्न है। मनुष्य में नग्नता के साथ विशेष गुण पाये जाते हैं, इसलिए उसका दिगम्बरत्व पूज्यनीय होता है।"

सर्व सौख्यप्रदायी धर्म

जैनधर्म के विषय में उन्होंने कहा था-"यह धर्म अत्यन्त निरुपद्रवी है। इसमें एक इन्द्रिय जीव से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों पर समता तथा दया का भाव पाया जाता है। दूसरों को कष्ट न देना इस धर्म का मुख्य लक्ष्य है।"

धर्म के क्षेत्र में अकर्मण्यता ठीक नहीं है

आज के युग में यह कहा जाता है कि-"धर्म का पालन कठिन है। यह ठीक है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि धर्म को बिलकुल भुला दिया जाय। अगर पूर्णरूप से उसका पालन नहीं होता है, तो जितनी शक्ति है उतना तो पालन करो, किन्तु जितना पालन करते हो उसे अच्छी तरह से पालो। अकर्मण्य बनकर चुपचाप बैठना ठीक नहीं है और न स्वछंद बनने में ही भलाई है। शक्ति को न छुपाकर इस धर्म का पालन करना प्रत्येक समझदार व्यक्ति का कर्तव्य है।"

महाराज ने कहा-"इस मुनिधर्म का पालन करना बच्चों का खेल नहीं है। मुनिधर्म अत्यंत कठिन है, प्राणों की भी आशा छोड़कर मुनिपद अंगीकार किया जाता है। जब भी इस धर्म का पालन असंभव हो जाय तब समाधिमरण करना आवश्यक कर्तव्य हो जाता है।"

महाराज ने कहा-"इसका मूल आधार संसार तथा भोगों से उदासीनता और सम्पूर्ण आशाओं का परित्याग है। इसके लिए सदा अनित्य भावना अन्त:करण में विद्यमान रहना चाहिए। जब बड़े-बड़े चक्रवर्ती इस जग को छोड़कर चले गये, तब सामान्य मनुष्य की क्या कीमत है ? राज्य से बढ़कर और क्या चीज है, उसको भी छोड़कर महापुरुषों ने मुनिजीवन को स्वीकार किया है। अब प्रश्न होता है, मुनि बनने का क्या उद्देश्य है ?"

मुनि बनने का क्या उद्देश्य है ?

"कर्मों की निर्जरा करना मुनिजीवन का ध्येय है। मुनिपद को धारण किए बिना कर्मों की निर्जरा नहीं होती। गृहस्थ जीवन में सदा बंध का बोझा बढ़ता ही जाता है। उनके पास कर्म निर्जरा के साधन नहीं है। इसलिए निर्जरा के लिए त्यागी बनना आवश्यक है।"

जो यह सोचते हैं कि पेट भरने के लिए मुनिवृत्ति धारण की जाती है, वे उसके मर्म को नहीं जानते। वेष धारण करने मात्र से कर्मों की निर्जरा नहीं होती। नग्नता तो पशुओं में भी पाई जाती है, किन्तु उनमें आन्तरिक निर्मलता का अभाव है।"

मार्मिक बात

महाराज ने कहा-"परिग्रह का त्याग करके दिगम्बरवृत्ति धारण करना इसलिए आवश्यक है, कि परिग्रह से आरम्भ होता है और आरम्भ के द्वारा जीवों का घात होता है, इसलिए पूर्णतया अहिंसा का रक्षण नहीं होता अत: परिग्रह का परित्याग करना आवश्यक है। वह ममत्व-त्याग दिगम्बरत्व के बिना नहीं होता। ऐसे दिगम्बरत्व के बिना मोक्ष नहीं मिलता यह निश्चित बात है। नग्नता बालक के समान विकार-रहित होनी चाहिए।"

महाराज के चरणों की वंदना बड़े-बड़े नरेशों ने की है। बड़े-बड़े नरेशतुल्य वैभव वाले धन कुबेर उनकी चरणरज को अपने मस्तक में लगाकर अपने को कृतार्थ अनुभव करते हैं। उन्होंने हर प्रकार के समृद्ध व्यक्ति के जीवन को देखा है।

सुखी निर्ग्रन्थ है

वे कहने लगे-"हमने खूब देखा है, इस दुनिया में कोई भी सुखी नहीं है। कोट्याधीशों को देखा है, राजा तथा रंक को देखा है। हमने सभी को दु:खी पाया है। यथार्थ में दु:ख देने वाला कर्म है। उसकी निर्जरा द्वारा सुख मिलता है। निर्ग्रन्थ अवस्था में वह आनन्द प्राप्त होता है।"

अहिंसाधर्म अपरिवर्तनीय है

आज के युग में लोकप्रवाह के अनुसार धर्म में परिवर्तन की बात सोचते हैं उसके संदेह का निवारण करते हुए महाराज ने कहा था-"जैसे औषधि में फेरफार करने से रोग दूर नहीं होता है, उसी प्रकार जिन भगवान् के द्वारा बताये गए मार्ग का उल्लंघन करने से कर्मों के रोग का क्षय नहीं होता। आगम के मार्ग को छोड़कर जाने से तथा मनमाने रूप में प्रवृत्ति करने से सिद्धि नहीं मिलती। जैसे मार्ग छोड़कर उल्टे रास्ते से जाने वाले को अपने इष्ट ग्राम की प्राप्ति नहीं होती उसी प्रकार मोक्ष नगर को जाने के लिए अहिंसा का मार्ग अंगीकार करना आवश्यक है। अहिंसामय जीवन व्यतीत करने के लिए मुनिपद धारण करना आवश्यक है। इसके सिवाय अन्य उन्मार्ग है।"

महाराज ने कहा-'जिनवाणी हमारा प्राण है'

जिनवाणी के प्रति महाराज का अगाध प्रेम है। महान् श्रद्धा है। वर्णनातीत अनुराग है। उन्होंने धवलादि ग्रंथों के संरक्षण की ओर उल्लेख करते हुए कहा था-"भगवान् की वाणी होने के कारण ये ग्रंथ सचमुच हमारे जीवन हैं। इनका रक्षण किया तो समझना चाहिए कि हमारे प्राणों की रक्षा कर ली।" इन ग्रंथों के रक्षण की महाराज को कितनी चिन्ता रही यह माया के जाल में फँसा हुआ मनुष्य नहीं जानता।

श्रुतरक्षण की चिन्ता

वे बोले-"हमें भगवान् की वाणी की कितनी चिन्ता है, इसे तुम लोग क्या जानो ? वंध्या प्रसव-वेदना को क्या समझे ? श्रुत का रक्षण कर धरसेन स्वामी ने बड़ा उपकार किया। उनके उपकार को कैसे भूला जाय ? इसीलिए तो फलटण के मन्दिर में उनकी मूर्ति विराजमान करवायी है।" वे बोले - "अरे बाबा ! यह जिनवाणी हमारा प्राण है।"

धर्म में अपारशक्ति

जो समझते हैं आज धर्म में कोई सामर्थ्य नहीं रहा है उनका संदेह निवारण करते हुए महाराज ने कहा-"आज भी धर्म में अपारशक्ति है। तुम्हारे भाव में शक्ति होना चाहिए। परिणामों में चंचलता रही तो कुछ नहीं हो सकता। भगवान् की भक्ति करने से उनके भक्त आप ही आप सहायता करते हैं।"

चेतावनी

जो धर्म को छोड़कर अन्यायपूर्ण आचरण करते हैं, उन अविवेकियों को सचेत करते हुए महाराज ने कहा था-"मर्यादा के बाहर अन्यायपूर्ण प्रवृत्ति करने वाले को अपने दुष्कर्म का फल नियम से प्राप्त होता है। अन्यायी का पतन निश्चित है।"

स्वजीवन

अपने विषय में उन मुनिनाथ ने कहा था, "हमें अपनी आत्मा के सिवाय परपदार्थ की चिन्ता नहीं है। हम तो हनुमान सरीखे हैं। जिनका मन्दिर गाँव के बाहर रहता है। गाँव के जलने से हनुमान का क्या बिगड़ता है ? इसी प्रकार संसार में कुछ भी हो जाय, तो हमें उसका क्या डर ? हम किसी से नहीं डरते, केवल जिनेन्द्र भगवान् की वाणी से डरते हैं।"

बालकों पर अनुराग

मैंने देखा, कि निर्विकार वृत्ति वाले बालकों के प्रति महाराज का नैसर्गिक अनुराग रहा है। एक दिन सेठ चन्दूला[illegible] सर्राफ का छोटा बालक महाराज के सामने आकर खड़ा हो गया। उसे देखकर महाराज बोले-"क्या सीखते हो सेठजी ? वह बच्चा चुप रहा। महाराज के मुखमंडल पर मधुर हास्य की आभा अंकित हो गयी।

क्या धर्म सरल है?

हमारे भाई अभिनन्दन कुमार (एडवोकेट) ने गुरुदेव से कहा-"महाराज ! श्रवणबेलगोला से लौटते समय बंगलोर में एक विद्वान तथा प्रभावशाली श्वेताम्बर साधु मिले थे। उन्होंने कहा था कि यह जैनधर्म अत्यन्त सरल है । हर एक व्यक्ति बिना कठिनता से पालन कर सकता है।"

महाराज ने सस्मित वदन से कहा-"अरे ! यह धर्म सरल नहीं है। इसका पूर्णरीति से पालन करना अत्यंत कठिन है। इसका यह अर्थ नहीं है कि फिर कोई दूसरा इसे पाल ही नहीं सकता। तुम्हें पूरा पालन करने को कौन कहता है ? जितनी शक्ति है उसके अनुसार ईमानदारी के साथ यदि थोड़ा भी इस धर्म का श्रद्धा तथा दृढ़तापूर्वक पालन किया, तो तुम्हारा कल्याण होगा। अनेक जीवों ने दृढ़तापूर्वक थोड़ा-सा इन दयामय धर्म का पालन कर सुख प्राप्त किया है। इस दृष्टि से वह सरल भी है।"

केशलोच

महाराज ने बताया था, "हमने क्षुल्लक अवस्था में ही केशलोंच करना आरंभ कर दिया था। क्षुल्लक बनने के पहले केशों का लोच करना मार्ग के विरुद्ध है।"

तपस्वी मुनियों का चरित्र

उन्होंने हमारी प्रार्थना पर अपने संपर्क में आने वाले कुछ मुनियों का चरित्र संक्षेप में बताया था :

१. उन्होंने कहा था-"एक सिद्धप्पा स्वामी नाम के निर्ग्रन्थ मुनि थे। वे सदा 'णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं' यह जाप करते रहते थे।"

२. "दक्षिण के गुड़मंडी ग्राम में एक और मुनराज थे। उनकी तपस्या महान् थी।

उन्होंने ७ वर्ष पर्यन्त निद्रा-विजय तप का अभ्यास किया था। वे जमीन पर लेटते नहीं थे। वे एक ऐसी गुफा में रहते थे जिसमें बैठने और खड़े रहने के सिवाय लेटने का स्थान नहीं था। उनका आहार भी अत्यंत अल्प केवल चावल था।"

महाराज ने यह भी कहा-"पहले हम भी अष्टमी और चतुर्दशी को निद्रा नहीं लेते थे।"

महाराज की दृष्टि बड़ी मार्मिक और लोकोत्तर रही है। जिस दृष्टि से जगत् बाह्य पदार्थों को देखता है, उससे विलक्षण उनकी दृष्टि थी। भगवान् बाहुबली के अपूर्व सौन्दर्य तथा महत्ता को विधर्मी भी स्वीकार करते हुए उन देवाधिदेव को शतशः प्रणाम करते हैं।

बाहुबली स्वामी के विषय में आलौकिक दृष्टि

जब हमने पूछा- "महाराज गोम्मटेश्वर की मूर्ति का आपने दर्शन किया है उस सम्बन्ध में आपके अंतरंग में उत्पन्न उज्ज्वल भावों को जानने की बड़ी इच्छा है।"

उस समय महाराज ने जो उत्तर दिया था उसे सुनकर हम चकित हो गये। उन्होंने कहा था-"बाहुबली स्वामी की मूर्ति बड़ी है। यह जिनबिम्ब हमें अन्य मूर्तियों के समान ही लगी। हम तो जिनेन्द्र के गुणों का चिन्तवन करते हैं, इसलिए बड़ी मूर्ति और छोटी मूर्ति में क्या भेद है ?" इससे आचार्य महाराज की मार्मिक दृष्टि का स्पष्ट बोध होता है। प्रत्येक बात में आचार्य महाराज की लोकोत्तरता मिलती है।

इसके अनंतर हमें सन् १९५२ में पुनः लोणंद आकर पर्यूषण पर्व में महाराज के पुण्य चरणों में रहने का सौभाग्य मिला। वहाँ प्रतिदिन शास्त्र पढ़ता था। उस समय बीच-बीच में मार्मिक प्रश्नों द्वारा अनेक सुन्दर समाधानों से आचार्य महाराज श्रोतृमंडल को कृतार्थ करते थे। उस समय महाराज से उनके व्यक्तिगत अनुभव की अनेक बातें सुनने में आती थीं।

कषाय की तलवार अलग करो

एक दिन लोणंद के नवीन मंदिर-निर्माण के समय कुछ विवाद की बात उठी। उस समय समन्वय का मार्ग सुझाते हुए महाराज ने कहा था-"यदि कषाय की तलवार दूर कर बात करो तो तुम्हें ठीक-ठीक बात का पता चल जावेगा।"

कितनी सत्य बात है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के कारण ही हम सत्य का दर्शन नहीं कर पाते और व्यर्थ के विवाद में फँसे-फँसे बकवाद करते हैं।

वहाँ मुनि नेमिसागर महाराज ने सत्रह उपवास किए थे, इसलिए आचार्य महाराज उनके विषय में विशेष ध्यान रखते थे। एक दिन वे शास्त्र सुन रहे थे, किन्तु आचार्य महाराज ने उनकी शरीर स्थिति का ध्यान रखकर उन्हें विश्राम के हेतु उठवाया था। इससे उनकी कुशल दृष्टि और करुणा भाव स्पष्ट होता है।

परोपकारिता

वहाँ एक बालक एक विषैले वृक्ष को तोड़ रहा था जिसके दूध से शरीर फूल जाता है। उस बच्चे के माता-पिता को भी अपने बालक का ध्यान न था। सहसा महाराज की दृष्टि उस बालक पर पड़ी उन्होंने बालक के माता-पिता को बालक के संरक्षण के निमित्त सावधान किया। आत्मकल्याण के साथ वे लोकहित की दृष्टि में रखते थे।

उपवास

उपवास के विषय में उन्होंने कहा था, "जब तक धर्मध्यान रहे, तब तक उपवास करना चाहिए। आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान उत्पन्न होने पर उपवास करना हितप्रद नहीं है।"

वैभवशाली दयापात्र है

दीन और दुखी जीवों पर तो सबको दया आती है। सुखी प्राणी को देखकर किसके अन्त:करण में करुणा का भाव जगेगा ? आचार्य महाराज की दिव्य-दृष्टि में धनी और वैभव वाले भी उसी प्रकार करुणा और दया के पात्र हैं, जिस प्रकार दीन, दुखी तथा विपत्तिग्रस्त दया के पात्र हैं। एक दिन महाराज कहने लगे, "हमें सम्पन्न और सुखी लोगों को देखकर बड़ी दया आती है।"

मैंने पूछा, "महाराज ! सुखी जीवों पर दयाभाव का क्या कारण है?" महाराज ने कहा था- "ये लोग पुण्योदय से आज सुखी हैं, आज सम्पन्न हैं, किन्तु विषयभोग में उन्मत्त बनकर आगामी कल्याण की बात जरा भी नहीं सोचते, जिससे आगामी जीवन भी सुखी हो।" जब तक जीव संयम और त्याग की शरण नहीं लेगा, तब तक उसका भविष्य आनन्दमय नहीं हो सकता। इसलिए हम अपने भक्तों को आग्रहपूर्वक असंयम की ज्वाला से निकालकर संयम के मार्ग में लगाते हैं। महाराज ने यह महत्व की बात कही थी, "हमने अपने बड़े भाई देवगोंडा को कुटुम्ब के जाल से निकालकर दिगम्बर मुनि बनाया। उसे वर्द्धमानसागर कहते हैं। छोटे भाई कुमगौंडा को ब्रह्मचर्य प्रतिमा दी और उसे मुनि दीक्षा देते, किन्तु शीघ्र उसका मरण हो गया।"

विशेष दया पात्र

"हमारे मन में उन लोगों पर बड़ी दया आती है, जो खूब सेवा,भक्ति करते हैं, जो हमारे पास बार-बार आते हैं, किन्तु व्रत पालन करने से डरते हैं।"

यथार्थ में लोकोद्धार के लम्बे-लम्बे भाषण देने से या बड़ी-बड़ी सुन्दर योजनाओं के बनाने से लोक का सच्चा अभ्युदय नहीं होता। लोकहित का सच्चा उपाय गुरुदेव की दृष्टि में संयम-मार्ग का अपनाना है। आत्मोत्कर्ष की श्रेष्ठ कला सदाचार और इंद्रिय-जय का पथ है।

उपवास से क्या लाभ है ?

उपवास से क्या लाभ होता है इस विषय में उन्होंने अपनी अनुभव-पूर्ण वाणी से कहा था-"मदोन्मत्त हाथी को पकड़ने के लिए कुशल व्यक्ति उसे कृत्रिम हथिनी की ओर आकर्षित कर गहरे गड्ढे में फँसाते हैं। उसे बहुत समय तक भूखा रखते हैं। इससे उस हाथी का उन्मत्तपना दूर हो जाता है और वह छोटे-से अंकुश के इशारे पर प्रवृत्ति करता है। वह अपना स्वच्छंद विचरना भूल जाता है। इसी प्रकार इंद्रिय और मन उन्मत्त होकर इस जीव को विवेकशून्य बना पापमार्ग में लगाते हैं। उपवास करने से इंद्रिय और मन की मस्ती दूर हो जाती है और वे पापमार्ग से दूर हो आत्मा के आदेशानुसार कल्याण की ओर प्रवृत्ति करते हैं।"

संयम का ध्येय कर्मों को धक्का मारकर निकालना है

महाराज ने कहा-"संयम का लक्ष्य इन्द्रिय एवं मन को जीतना है। संयम का ध्येय चिरसंचित कर्मों को धक्का मारकर निकालने का है। संयम करने वाला तपस्वी दैव की छाती पर सवार होकर कर्मक्षय करता है। तपस्या कर्मक्षय की दवाई है।"

अपूर्व अनुभव

मैंने कहा-"महाराज ! यह औषधि तो बड़ी कड़वी है।"

महाराज ने कहा-"अच्छी औषधि कड़वी ही लगती है। रोगी को शक्कर-घी की दवाई नहीं दी जाती। उसे दी जाती है कटु औषधि, जिससे शरीर में घुसा हुआ रोग दूर होता है। इसी प्रकार जन्म-मरण, संकुल संसार परिभ्रमण का रोग दूर करने को तप कारण है। उसके द्वारा मिथ्यात्वी को भी नवग्रैवेयक तक का सुख मिलता है।"

तप के विषय में महाराज ने बड़े अनुभव की बात बताई थी, "शरीर पर एकदम बड़ा बोझा डाल दिया जाय, तो वह उसे नहीं सँभाल पाता है, किन्तु यदि धीरे-धीरे बोझा बढ़ाया जाय तो वह सहन हो जाता है। इसी प्रकार थोड़ा-थोड़ा व्रत तथा उपवास का भार बढ़ाने से आत्मा को पीड़ा नहीं होती और धीरे-धीरे उसकी शक्ति बढ़ती जाती है।"

महाराज ने कहा था, "हमने यह अपने अनुभव की बात कही है ।"

गरीबी का सफल इलाज

आज जगत् में कोई गरीबी के कारण दु:खी है। वह धनवान को सुखी देखकर अन्तर्दाह मे संतप्त होता हुआ उसके समान सम्पत्तिशाली बनना चाहता है। उनके लिए कोई-कोई यह उपाय सोचते हैं कि उस धनी के धन को छीन लिया जाय। बस, इसके सिवाय निर्धनता की पीड़ा से बचने का कोई दूसरा उपाय नहीं है।

इस संबंध में आचार्य महाराज ने कहा था, "गरीबी के संताप को दूर करने के लिए

अव्यर्थ और निर्दोष औषधि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा अतिलोभ का परित्याग करके दयामय जीवन व्यतीत करना है।"

जगत् में रूप, विद्या,धन में से कोई एक भी बात होती है तो जीव आदर को प्राप्त करता है, किन्तु तीनों विशेषताओं से शून्य वह बलदेव का जीव सर्वत्र तिरस्कार का पात्र बना। उसने सदगुरु की शरण ली, जिन्होंने उसके दुःख दूर करने का उपाय अहिंसापूर्ण तपस्या करना बताया। वह उग्र तपश्चर्या में निमग्न हो गया, जिसके फलस्वरूप वह विद्या, बल, वैभव तथा सौन्दर्यसम्पन्न बलराम के रूप में उत्पन्न हुआ। इसलिए महाराज ने कहा था- "सुखी बनने का उपाय धन की छीना-झपटी, कलह, अनीति तथा अत्याचार नहीं है। उसका प्रशस्त मार्ग है , इन्द्रियों का निग्रह और संयम की साधना।" महाराज ने कहा था, "पवित्र पुरुषार्थ के द्वारा सुख पाना हमारे हाथ में है। मोक्ष प्राप्ति के निश्चित समय के बीच में यदि संयम और व्रतपालन किया तो जीव उस सुख को प्राप्त करता है जिसकी सब कामना करते है और उस विपत्ति से बचाता है जिससे सब डरते हैं। संयम-पालन करने के लिए दैव का अवलम्बन छोड़ पुरुषार्थ का आश्रय लेना चाहिये। विपत्ति के आने पर हिम्मत हारना सच्चे पुरुषार्थ का धर्म नहीं है।"

महाराज ने यह भी कहा कि-"जब पाप कर्मोदय का तीव्र वेग हो उस समय शांत रहना चाहिए और जब कर्म का वेग कुछ मन्द हो तब पुरुषार्थ करना चाहिए।"

सुन्दर शिक्षा

अपना व्यक्तिगत अनुभव बताते हुए उन्होंने कहा था-"जब भोजग्राम में वेदगंगा और दूधगंगा के संगम में हम तैरते थे उस समय मध्य में पानी का वेग रहने से उसके विरोध में शक्ति न लगा हम चुपचाप शांत रहते थे, और जहाँ वेगवती धारा से दूर हुए कि हाथ-पैर हिलाते ही किनारे पर पहुँच जाते थे। इसी प्रकार पापोदय का वेग हो तब कुछ समय बिना घबड़ाए हुए शांत रहना चाहिए तथा वेग मन्द होते ही संयम पालने में पुरुषार्थ करके सदा के लिए संकटमुक्त होना चाहिए।"

शास्त्र समुद्र है, जीव मछली है

प्रसंगवश शास्त्र के सम्बन्ध में उन्होंने कहा था-"शास्त्रों में इतनी सुन्दर बात निकलती है कि उसकी महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता । शास्त्र जलधि है, जीव मछली है। उसमें जीव जितना घूमे और अवगाहन करे उतना ही थोड़ा है।"

रोगी को मार्गदर्शन

महाराज ने कहा था-"जो लोग शरीर को रोगी देख संयम से डरते हैं, उन्हें रोग से न डर कर यथाशक्ति संयम का पालन करना चाहिए।"

अपनी आँख में काँच बिन्दू रोग को लक्ष्य में करते हुए उन्होंने कहा था, "देवों को चकित करने वाले सौन्दर्य वाले सनत्कुमार चक्रवर्ती ने जब मुनिपद धारण किया था, तब उनके अपूर्व सुन्दर पुंज शरीर को रोग ने जर्जरित कर दिया था। उनकी तुलना में हम क्या चीज हैं ?" वे बोले-"रोग के डर से हम क्या व्रत-उपवास नहीं करेंगे ? रोगी होने पर कभी भी व्रत-पालन में शिथिलता नहीं आने देना चाहिये।"

आचार्य महाराज की उपरोक्त वाणी प्रत्येक को ध्यान में रखना चाहिए। उसे भूलने से बड़ा अनर्थ होता है। कुछ समय पूर्व एक बड़े तपस्वी रोगी हो गये थे। कुछ लोगों ने शिथिलाचार के गड्ढे में उतारकर जीवनभर की संयम निधि को नष्ट कर दिया। धर्मात्मा पुरुषों को शिथिल मार्ग की ओर ले जानेवाले व्यक्तियों को चाहे वे बड़े विद्वान् हों या श्रीमान् हों या त्यागी रूपधारी हों, सर्पराज सदृश जानकर उनके जहर से अपने पुण्य संयमी जीवन को बचाना चाहिए। संयम को पालते हुए मृत्यु अमृतकुम्भ सदृश है, उसके बिना वह विषकुम्भ तुल्य है।

सामयिक बात

महाराज सामयिक बात कहने में अत्यंत प्रवीण थे। एक दिन की बात है, शिरोड के वकील महाराज के पास आकर कहने लगे-"महाराज, हमें आत्मा दिखता है। अब और क्या करना चाहिए ?" कोई तार्किक होता, तो वकील साहब के आत्मदर्शन के विषय में विविध प्रश्नों के द्वारा उनके कृत्रिम आत्माबोध की कलई खोलकर उनका उपहास करने का उद्योग करता, किन्तु यहाँ सन्तराज आचार्य महाराज के मन में उस भोले वकील के प्रति दया का भाव उत्पन्न हुआ। उन्होंने कहा-"अब तुम्हें मांस, मदिरा आदि छोड़ देना चाहिए; इससे आत्मा का अच्छी तरह दर्शन होगा।" अपनी बात को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा था-"पाप का त्याग करने से यह जीव देवगति में तीर्थंकर की अकृत्रिम मूर्तिदर्शन आदि द्वारा सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा और तब यथार्थ में आत्मा का दर्शन होगा।"

अपूर्व स्थिरता

महाराज की तपस्या अद्भुत है। एक बार वे मुक्तागिरि क्षेत्र से इन्दौर की तरफ जाने को उद्यत हुए। रास्ते में भीषण उष्णता से सारा पर्वत और उसकी पार्श्वभूमि आग-सी हो रही थी। इस समय मुनि नेमिसागर जी को भयंकर लू (**Sun-Stroke**) लग गई और उनकी ऐसी चेष्टा हो गई थी, जिससे ऐसा दिखने लगा था कि उनकी आत्मा अब शरीर में अधिक देर तक नहीं रहेगी। उस समय की गर्मी का इस पर से अनुमान हो सकता है कि साथ के चलनेवाले किन्हीं लोगों ने उस जलशून्य प्रदेश में अत्यंत तृषित हो मुनियों के कमण्डलु का पानी तक पी लिया था। संध्या के समय नेमिसागरजी की प्रकृति कुछ

ठिकाने आई और तब यह दिखा कि अब इतना खतरा नहीं है। उस भीषण परिस्थिति में आचार्य महाराज की दृढ़ता में तनिक भी अंतर नहीं पड़ा था। कठिन परिस्थिति में वज्र की भाँति दृढ़ रहना उनकी सर्वदा विशेषता रही है।

विधिमार्ग का उपदेश

शास्त्रों में धर्म का कथन कहीं उत्सर्ग मार्ग से किया है और कहीं अपवाद मार्ग का निरुपण किया जाता है। इस विषय में आचार्य महाराज ने कहा था-"हम अपने उपदेश में विधिमार्ग, उत्सर्गमार्ग का कथन करते हैं हम अपवाद का कथन नहीं करते हैं।"

परमार्थ दृष्टि

तत्त्वों को निरन्तर परिशीलन करते रहने से उनकी आत्मा बहुत सुसंस्कृत हो गई थी। अत: वे परमार्थ दृष्टि के प्रकाश में अपनी आत्मा को चतुर्गति के चक्र में दु:खी नहीं मानते हैं। आचार्य शुभचन्द्र स्वामी के शब्दों में इसे कर्मों का खेल ही मानते हैं। अत: वे कहने लगे-"हमें चारों गतियाँ समान हैं। जैसा हमारा कर्म होगा, उसी प्रकार की हमारी गति होगी। हमें नरक पर्याय में पहुँचने का भी भय नहीं है। नरक गति के दु:ख शरीर तक ही सीमित हैं। उससे हमारी आत्मा को क्या होगा ? शरीर और आत्मा एक नहीं है।"

निश्चय पर श्रद्धा

महाराज ने कहा था-"हम व्यवहार-धर्म का पालन करते हैं, भगवान् का दर्शन करते हैं, अभिषेक देखते हैं, प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान करते हैं, सभी क्रियाओं का यथाविधि पालन करते हैं, किन्तु हमारी अंतरंग श्रद्धा निश्चय पर है। जिस समय जो भवितव्य है, उसे कोई भी अन्यथा नहीं परिणमा सकेगा, किन्तु हमारा निश्चय का एकांत नहीं है, दूसरों के दु:ख दूर करने का विचार करुणावश है।"

पूर्व के मुनि

मेरे प्रश्न के उत्तर में महाराज ने बताया कि-"उनके मुनि जीवन के पूर्व में वे दस-बारह मुनियों को देख चुके हैं। उस समय मुनि जीवन की निर्दोष परिपालना नहीं होती थी। उपाध्याय द्वारा श्रावक के घर में मुनिराज के आहार का निश्चय होने पर दूसरे दिन वह मुनिराज को उस घर पर ले जाता था और वहाँ आहार होता था। उस समय घर में निरन्तर घंटा बजता रहता था, जिससे अयोग्य शब्दादि के सुनने से अंतराय नहीं होवे। वे मुनि आहार के समय पूर्ण दिगम्बर रहते थे। अन्य समय में वे खण्डवस्त्र धारण करते थे।"

आगमानुकूल आचरण

यह बात सुनकर मैंने कहा, "महाराज, आपने भी कुछ समय तक ऐसी ही वृत्ति धारण

की होगी ?"

उन्होंने कहा, "हमने आगम के विपरीत आचरण नहीं किया। हम शास्त्र पढ़ते रहते थे, इससे हमें कर्तव्य-पथ का स्वयं बोध हो जाता था।"

मुनिपद की बात तो दूसरी, क्षुल्लक व्रत लेने पर हमने उपाध्याय द्वारा पूर्वनिश्चित घर में आहार नहीं किया। इस कारण हमें दीक्षा लेने के बाद दो-तीन वर्ष पर्यन्त बहुत कष्ट सहन करना पड़ा, कारण लोगों को यह पता नहीं था कि अनुद्दिष्ट आहार किस प्रकार दिया जाता है। प्रभात में हम मंदिर से धर्मसाधना के उपरांत आहार के लिए निकलते थे। घर जाते हुए किसी श्रावक के पीछे-पीछे जाते थे। यदि उसने मुँह फेरकर हमें देख लिया और आहार के लिए अनुरोध किया, तो उसके घर जाते थे, अन्यथा दूसरे घर के सामने जाते थे, वहाँ के गृहस्थ ने यदि नहीं पड़गाहा, तो हम वापिस लौट आते थे और उस दिन उपवास करते थे।

दूसरे दिन भी ऐसा ही करते थे, और कभी-कभी दूसरे दिन और तीसरे दिन भी योग नहीं मिलता था, इससे हम समताभावपूर्वक उपवास करते जाते थे। इससे हमारे अन्तःकरण में कोई सन्ताप नहीं होता था। हमारा यह पक्का निश्चय था कि भगवान् की आज्ञा के खिलाफ जरा भी काम नहीं करेंगे, भले ही हमारे प्राण चले जावें। उस समय उपाध्याय लोग हमारे विरुद्ध हो गये थे, कारण उनके द्वारा निश्चित किये गये घर में आहार को न जाने से उनकी हानि होती थी, क्योंकि जिस घर में साधु का आहार होता था, वहाँ उपाध्याय भी सानन्द भोजन करता था। हमारी प्रवृत्ति से उपाध्यायों का स्वार्थपोषण रुक गया, इससे वे हमारे मार्ग के कंटक हो गए। मुनिगण भी हमारे प्रतिकूल हो कहने लगे थे कि इस काल के अनुसार तुमको प्रवृत्ति करना चाहिए अथवा प्राण-विसर्जन करना होंगे। समय को ध्यान में रखना चाहिए।

सन्मार्ग दर्शन

इस कठिन परिस्थिति में हमने आगम-कथित मार्ग का परित्याग नहीं किया। हम सोचते थे, जब तक अन्तराय कर्म का उदय होगा, तब तक आहार का योग नहीं मिलेगा। धीरे-धीरे लोगों को हमारी प्रवृत्ति का बोध हो चला और फिर प्रतिकूल परिस्थिति अनुकूल बनती गई।

इससे यह ज्ञात होता है, कि महाराज ने मुनिमार्ग की शिथिलता को सुधारने में सच्चे सुधारक का कार्य किया था। मिथ्या प्रवृत्ति को दूर करके सच्ची बातों का प्रचार ही सच्चा सुधार है। आज विषयलोलुपी लोग धर्ममार्ग को छोड़कर पतनकारी क्रियाओं में प्रवृत्ति को सुधार का कार्य कहते हैं। सच्चा सुधार आचार्य महाराज सदृश आत्मबली महान् आत्माओं द्वारा सम्पन्न होता है। असंयमी जीवन की वृद्धि करते हुए जो अपने

मस्तक पर सुधारकपने का मुकुट बाँधते हैं, वे जीव आत्मवंचना करते हुए दुर्गति में अवर्णनीय कष्ट भोगा करते हैं। जब जीव संयम तथा त्याग के पथ में प्रवृत्त होता है, तब ही जीवन में सुधार के सद्भावों का जागरण होता है। पतनकारी आचार-विचार पोषक का स्वयं को सुधारक कहना धीवर को दयासागर कहने समान है। सच्चा सुधारक स्व-पर कल्याण में प्रयत्नशील रहता है।

उपवास में आत्मजागृति का अपूर्व उदाहरण

संयमी जीवन से आत्मा की भोगासक्ति दूर होती है और जीव को आत्मा का कल्याण दिखाई पड़ता है। महाराज ने बताया था, कि जब उन्होंने जयपुर में चातुर्मास किया था, तब एक गुलाबबाई नाम की महिला ने बत्तीस उपवास किए थे। उपवास पूर्ण होते ही उसके भावों मे इतनी विशुद्धि हुई कि उसने तैंतीसवें दिन केशों का लोंच करके आर्यिका की दीक्षा ले ली थी। देखने वाले लोग चकित हो गये। वास्तव में ऐसी सत्प्रवृत्तियों द्वारा जीवन का सुधार होता है। इसे सुधार कहा जायगा। हीनाचार को सुधार मानना अनुचित है।

आत्मकल्याण के हेतु यथाविधि उपवास करने से इन्द्रियाँ, मन के अधीन न रहकर, आत्मा के इशारे पर चला करती हैं। मन भी चंचलता को दूर करके स्थिर हो आत्मा के चिंतन में सहायक होता है।

बहुमूल्य अनुभव

यह बात हमें १०८ नेमिसागर महाराज के जीवन में प्रत्यक्ष दिखाई दी। उनके उपवास का सम्भवतः १६ वाँ दिन था। हम आचार्य महाराज से अनेक धार्मिक विषयों की चर्चा करते थे। उनके समीप में थोड़ी दूर पर अपनी कुटी में नेमिसागर महाराज विराजमान थे। मैंने उनके समीप जाकर कुशल वार्ता पूछी और पश्चात् कहा-"महाराज, इस समय आपकी क्या स्थिति है ?"

उन्होंने कहा था-"बहुत शांति है। कोई भी आकुलता नहीं है। बाहरी बातों की तरफ मन नहीं जाता है।"

मैंने पूछा-"महाराज ! हम लोग अभी बातें कर रहे थे, वे तो आपके सुनने में आई होंगी।"

उन्होंने कहा-"हमें नहीं मालूम कि आप लोग आचार्य महाराज से क्या-क्या बातें कर रहे थे। हमारा ध्यान दूसरी ओर नहीं जाता है। इससे हमें बाहरी बातों का पता ही नहीं चलता है।"

ऐसे समय में आत्मा की अन्तर्मुखता वृद्धिगत होती है और वह विलक्षण शांति को प्राप्त करती है; इससे कर्मों की अधिक निर्जरा होती है।

अप्रैल सन् १९५२ की महावीर जयंती के अवसर पर चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को विंध्यप्रदेश के लेफ्टनेंट गवर्नर की अध्यक्षता में रीवा में प्रभावशाली जैन महोत्सव हुआ था।

आत्मा का भोजन

दूसरे दिन प्रीतिभोज था। उस दिन हमारा उपवास था। लेफ्टेनेंट गवर्नर सा. ने हम से जैन उपवास के विषय में चर्चा छेड़ दी।

उस समय मैंने कहा था, "जैन उपवास का लक्ष्य आत्मा की निर्मलता का संपादन करना है। उस समय लौकिक कार्यों में लगे रहने पर उसे उपवास न कहकर लंघन कहते हैं।"

मैंने उन्हें कहा था, "लोग यह सोचते हैं कि उपवास के दिन आत्मा को जरा भी भोजन नहीं मिलता है। यह बात वास्तविक नहीं है। यथार्थ बात तो यह है कि उस दिन शरीर को भोजन नहीं मिलता है किन्तु आत्मा को निरन्तर सद्विचार तथा पुण्यभावना रूप श्रेष्ठ आहार प्राप्त होता है।" मैंने कहा था-"It is fasting of the body but feasting of the soul. (शरीर की अपेक्षा उपोषण है, किन्तु आत्मा की दृष्टि से वह उपोषण नहीं है।) उस समय तो आत्मा बढ़िया-बढ़िया मधुर आहार करती है।"

आत्मबल

आत्मबल जागृत होने पर बड़े-बड़े उपवास आदि तप सरल दिखते हैं। बारहवें उपवास के दिन लगभग आधा मील चलकर मन्दिर से आते हुए पूज्य नेमिसागर मुनिराज ने कहा था-"पण्डितजी ! आत्मा में अनंत शक्ति है। अभी हम १० मील पैदल चल सकते हैं।"

मैंने कहा था-"महाराज, आज आपके बारह उपवास हो गये है।" वे बोले, "जो हो गये, उनको हम नहीं देखते हैं। इस समय हमें ऐसा लगता है, कि अब केवल पाँच उपवास करना है।"

मैंने उपवास के सत्रहवें दिन पूछा कि-"महाराज ! अब आपके पुण्योदय से सत्रहवाँ उपवास का दिन है तथा आप में पूर्ण स्थिरता है। प्रमाद नहीं है, देखने में ऐसा लगता है मानों तीन-चार उपवास किए हों।"

उपवास के समय आत्मा का उद्बोधन

वे बोले-"इसमें क्या बड़ी बात है, हमें ऐसा लगता है कि अब हमें केवल एक ही उपवास करना है।" उन्होंने यह भी कहा था-"भोजन करना आत्मा का स्वभाव नहीं है। नरक में अन्न-पानी कुछ भी नहीं मिलता है। सागरों पर्यन्त जीव अन्न-जल नहीं पाता है, तब हमारे इस थोड़े से उपवास की क्या बड़ी चिन्ता है ?"

उस समय उनके समीप बैठने में ऐसा लगता था, मानों हम चतुर्थकालीन ऋषिराज के पाद-पद्मों के पास बैठे हों।

अठाहरवें दिन संघपति गेंदनमलजी, दाड़िमचन्दजी, मोतीलालजी जवेरी बम्बई वालों के यहाँ वे खड़े-खड़े करपात्र में यथाविधि आहार ले रहे थे। उस दिन पेय वस्तु का विशेष भोजन हुआ था। गले की नली शुष्क हो गई थी, अत: एक-एक घूँट को बहुत धीरे-धीरे वे निगल रहे थे। उस समय प्रत्येक दर्शक के अन्त:करण में यही बात आ रही थी कि इस पंचमकाल में हीन संहनन होते हुए भी वे मुनिराज चतुर्थकालीन पक्षाधिक उपवास करने वाले महान् तपस्वियों के समान नयनगोचर हो रहे हैं।

गुरु-भक्त नेमिसागर महाराज ने कहा-"उपवास शांति से हो गये, इसमें शांतिसागर महाराज का पवित्र आशीर्वाद ही था।"

महाराज का दूरदर्शीपन

उस अवसर पर आचार्य महाराज ने कहा था-"नेमिसागर को उपवास देते समय हमारी भी इच्छा ऐसे उपवास की हुई थी, किन्तु वृद्धावस्था का विचार कर हमने ऐसा नहीं किया और दो उपवास के बाद आहार लेने का क्रम रखा।"

यथार्थ में आचार्य महाराज का प्रत्येक कार्य दूरदर्शिता एवं विवेकपूर्ण होता है।

विचित्र प्रश्न

इस प्रसंग पर आचार्य महाराज ने एक सुन्दर बात सुनाई थी, जयपुर चातुर्मास में बहुत लोगों ने व्रत-नियम लिए थे। कई ने दीक्षा ली थी। यह देखकर एक आदमी उनके पास आकर बोला-"महाराज ! यदि आपके उपदेश को मानकर सभी लोग मुनिपद धारण कर लेंगे तो उनकी सँभाल कैसे होगी। उनको आहार कौन देगा ?"

महाराज ने कहा था-"भाई ! सभी आत्माओं में पवित्रता उत्पन्न नहीं होती है। फिर भी तुम तर्क द्वारा यह बात कहते हो, तो हमारा यह उत्तर है, कि यदि मुनि बनने पर किसी को आहार न मिले, तो इस बात की हम जमानत लेते हैं। देखें, ऐसा व्यक्ति कौन रहता है, जिसे मुनिपद धारण करने पर आहार का लाभ न मिले।"

महाराज जैसे जमानत लेने को तैयार होते हैं, तब वे शंकाकार चुप हो गये। यहाँ तो महाराज ने जमानत देने की बात बताई थी। एक बार उन्होंने जमानत लेने की भी मधुर बात सुनाई थी।

विनोद में धर्मसंरक्षण का रहस्य

पायसागरजी के दीक्षा के अंतरंग के भाव थे, किन्तु उनकी पूर्व स्वच्छंद प्रवृत्तियों को ही लक्ष्य-बिन्दु में रखने वाले लोग महाराज से कहते थे-" महाराज ! ऐसे व्यक्ति को दीक्षा न

दीजिये। यह नाटकीय व्यक्ति रहा है, इसे दीक्षा को लेकर उसे छोड़ते देर न लगेगी।"

महाराज ने पायसागरजी की उच्च आत्मा को परख लिया था, इससे उनकी भावना पायसागरजी को दीक्षा देने की हो रही थी। उस समय महाराज ने पूछा-"पायसागर दीक्षा लेकर नहीं छोड़ेगा, इसका क्या प्रमाण है ? कौन जमानतदार है ?"

जमानत

उस समय पायसागरजी की वैराग्यभावपूर्ण मनोवृत्ति को पूर्णतया समझने वाले उनके एक श्रीमंत कुटुम्बी महाराज के समक्ष आकर बोले-"महाराज ! मैं इस बात की जमानत लेता हूँ। यदि इन्होंने दीक्षा छोड़ दी, तो मैं इस दीक्षा को आपके चरणों के समीप ग्रहण करूँगा।"

इस प्रकार योग्य जमानतदार को देखकर मधुर विनोदमय वातावरण में पायसागरजी की दीक्षा का निश्चय हुआ था। उनकी दीक्षा ऐसी ही सच्ची वैराग्ययुक्त निकली, जिस प्रकार विविध प्रकार के अभिनय करने में निपुण ब्रह्मगुलाल की मुनि दीक्षा हुई थी। पायसागर महाराज के द्वारा महान् स्व-पर कल्याण हुआ। उनके मार्मिक तथा अन्तस्तलस्पर्शी आध्यात्मिक उपदेश को सुनते ही सभी जैन- अजैन आनन्दविभोर हो जाते थे, तथा पाप प्रवृत्तियों का परित्याग करने को उत्साहित होते थे।

आचार्य महाराज ने जिस-जिस व्यक्ति को स्वयं परीक्षा करके दीक्षा तथा अन्य व्रतादि दिए हैं, उन लोगों का जीवन अपूर्व सौरभसंपन्न तथा आत्मविकासपूर्ण रहा है।

उनके व्यक्तित्व का ऐसा प्रभाव पड़ता था, कि उनके समीप कठिन से कठिन व्रत लेने का आत्मा में बल जागृत हो जाता था। असंयम के प्रवाह के विरुद्ध संयम की नौका को ले जाने वाले उन जैसे चतुर नाविक सदृश आत्मतेज तथा जिन-भक्ति युक्त आत्मा की कल्पना भी कठिन है।

अनशनादि तप करने का हेतु

एक दिन बाह्य तप का वर्णन करते हुए मैंने कहा था-"अनशनादि के धारण करने से मन की चंचलता दूर होती है, तथा चित्त स्थिर होता है।"

इस पर आचार्य महाराज ने कहा था-"इसका क्या यह अर्थ है, कि हम जो अनशन करते हैं, बेला,तेला आदि करते हैं, वह मन की चंचलता दूर करने को करते हैं, अर्थात् हमारा मन चंचल है यह बात इससे सिद्ध होती है।"

मैंने पूछा-"महाराज ! आपके उपवासादि करने का क्या प्रयोजन है, जब आपके मन में चंचलता नहीं है ?"

उन्होंने कहा था-"हमने पूर्व में मिथ्यात्व की अवस्था में जो महान् कर्मों का बंध

किया है, उसकी निर्जरा करने के हेतु हम उपवासादि निरंतर किया करते हैं। तप के द्वार कर्मों की निर्जरा होती है, संवर भी होता है। इससे मन में चंचलता न होते हुए भी हम उत्त ध्येय की सिद्धि के हेतु उपवासादि तप करते हैं।''

कर्मक्षय की भूमि कर्मभूमि

इस प्रकार की अनेक मार्मिक बातें आचार्य महाराज के मुख से सुनाई पड़ती हैं। तत्त्वार्थ सूत्र के तृतीय अध्याय में कर्मभूमि का सूत्र आया :

भरतैरावतविदेहा:कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्य: ॥३-३७॥

महाराज ने मुझसे पूछा, "कर्मभूमि का क्या अर्थ है ?"

मैंने कहा, "असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, विद्या इन षट् कर्मों के द्वारा यह जीविका की जाती है, इससे भरतादि क्षेत्रों को कर्मभूमि कहा गया है।"

महाराज ने कर्मभूमि का अर्थ इस प्रकार कहा, "कर्मक्षय की भूमि कर्मभूमि है इस भूमि में समस्त कर्मों का क्षय किया जाता है इससे इसे कर्मभूमि कहते हैं।"

कर्म क्षय को केन्द्र बिन्दु बनाते महर्षि इस भूमि को कर्मक्षय की भूमि मानते हैं

जब महाराज ने निर्वाण-दीक्षा (मुनि-दीक्षा) लेने का निश्चय किया, तब वे उसके पूर्व मंगलमय भगवान् गोम्मटेश्वर की लोकोत्तर मूर्ति के दर्शनार्थ श्रवणबेलगोला गये थे वहाँ का संस्मरण बड़ा मधुर है।

श्रवणबेलगोला का सुन्दर संस्मरण

महाराज ने कहा- "जब हम वहाँ पहुँचे, तब महाराज मैसूर धर्मभक्त श्रीमंत कृष्णराज वाडियर बहादुर भगवान् बाहुबलि की वंदनार्थ आने वाले थे, उसकी सब व्यवस्था हो रही थी। पुलिस तथा सैन्य का पहरा लग गया था। पर्वत पर कोई आदमी नहीं जा सकता था

उस समय क्षुल्लक विमलसागरजी ने प्रभावशाली जैन सेठ एम. एल. वर्धमानैय्या से हमारा परिचय देते हुए कहा कि- "इनको पर्वत पर जाने की व्यवस्था कराइये।"

उस समय वर्धमानैय्या सेठ का राज्य में बड़ा प्रभाव था।

वर्धमानैय्या सेठ ने कहा, "महाराज ! कल मैसूर के नरेश के आने पर कोई भी आदमी न जा सकेगा। इससे आप आज ही संध्या को हमारे साथ ऊपर चलिए। वहाँ ही रात्रि को रहिए तथा दूसरे दिन वापिस लौट आइये।"

इससे हम संध्या को ही वर्धमानैय्या सेठ के साथ पर्वत पर चले गये। वह रात्रि हमने बाहुबली स्वामी के चरणों में व्यतीत की थी। वे क्षण अपूर्व थे। दूसरे दिन सूर्योदय होने पर हमने मूर्ति के सामने के शिखर पर से देखा कि राजकीय वैभवसहित मैसूर के नरेश कृष्णराज वाडियर का वहाँ आना हुआ।"

मैसूर के नरेश द्वारा भक्तिपूर्वक वंदना

"वह नरेश बड़ा धार्मिक था। पहले कृष्णराज महाराज ने बड़े भाव-भक्ति पूर्वक बाहुबली स्वामी की वीतराग छवि का दर्शन किया, पश्चात् रुपयों से भरी हुई एक चाँदी की थाली लेकर भगवान् के चरणों का वंदन किया। इसके अनन्तर थाली को भी भगवान् के चरणों में चढ़ाकर उन्होंने भगवान् के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया। बहुत गम्भीरता पूर्वक दर्शन के उपरांत भगवान् की ओर दृष्टि डालते हुए बिना पीठ किये हुए विनयपूर्वक धीरे-धीरे पीछे आये तथा पर्वत से नीचे उतर आए।"

एक समृद्धशाली नरेश द्वारा रजत मुद्राओं से पूर्ण रजतपात्र द्वारा भगवान् गोम्मटेश्वर की पूजा तथा अभिषेक का दृश्य सचमुच में बड़ा रम्य रहा होगा, इसी कारण आचार्य महाराज को यह बात जैसी की तैसी याद रही।

मुनि अनंतकीर्तिजी से भेंट

श्रवणबेलगोला में उनको मुनिराज अनंतकीर्ति निल्लीकार का दर्शन हुआ था। अनंतकीर्ति महाराज ने एक विशेष संदेश इनके द्वारा कोल्हापुर के दानवीर धार्मिक श्रीमंत सेठ भूपालप्पा जिरगे के पास भेजा था। उसमें उन्होंने उत्तरभारत की यात्रा की भावना प्रदर्शित की थी। अनंतकीर्ति महाराज का स्वर्गवास सन् १९२१ के लगभग मोरेना में हुआ था।

जीवन का क्या भरोसा

एक दिन अनुप्रेक्षा पर मैं विवेचन कर रहा था। उस समय महाराज ने सुनाया था-"इस संसार की अनित्यता का हम रोज विचार करते है। एक समय एक व्यक्ति ने भक्तिपूर्वक हमें आहार कराया। उसके अनन्तर वह अपने घर गया। यहाँ भोजन करने को एक ग्रास हाथ में लिया ही था कि तत्काल उसके प्राण चले गये। वह अकाल मरण की घटना कोगनोली ग्राम में हुई थी।" यथार्थ में जगत् की इस गतिविधि के कारण सत्पुरुष विरक्ति धारण करते हैं।

लोगों को कल्याण की नहीं सूझती

बंबई के संघपति सेठ दाड़िमचन्दजी ने लोणन्द आकर प्रभात में आचार्यश्री को प्रणाम किया। उस समय महाराज को यह समाचार ज्ञात हुआ कि उक्त सेठ जी की नातिन का पति एक दिन की बीमारी में मर गया। इस तरह उनकी नातिन के सिर पर बाल-वैधव्य की विपत्ति आ गई।

उस समय एक सज्जन ने आचार्यश्री से कहा-"महाराज, यदि आप अवधिज्ञानी होते तो लोग अपने भविष्य का ज्ञान करके ऐसी दुर्घटनाओं से सतर्क रहते।"

इस पर महाराज ने कहा-"आज यदि अवधिज्ञानी भी होते तो क्या विशेष बात ज्ञात

होती ? संसार में जो दुःख-सुख भोगना है, वे तो भोगना ही पड़ेंगे। आज अवधिज्ञा नहीं हैं तो क्या हुआ ? पहले एक कोटि की आयु होते हुए भी लोग आठ व की अवस्था में मुनि बन तप करते थे। आज प्रायः लोगों का जीवन १०० वर्ष के भीत रहता है। थोड़ा सा जीवन शेष रहने पर भी लोगों को अपना कल्याण नहीं सूझता जिनकी ६० वर्ष से अधिक आयु हो गई , वह यदि जीवित रहेगा तो २० वर्ष के लगभग इसलिए ऐसे अल्प समय के रहने पर अपने कल्याण की ओर बढ़ने में तनिक भी प्रमा नहीं करना चाहिए।''

सांसारिक भोगों की सेवा में जो विपत्ति आती है, उसकी गधे की लात खाने तुलना करते हुए कहा था-''गधे की पूँछ पकड़कर लात खाते जाना अच्छा नहीं। ह अपने प्रेमी भक्तों को धक्का लगाकर असंयम के गड्ढे से निकालते हैं जिससे आंख ब होने के पहले-पहले वे अपना हित कर लें।''

आँख बन्द होने के पूर्व हित कर लो

हमने अपने भाइयों को गृहजाल से निकाला। अरे भाई ! जंगल में आग लगने पर व आग कई दिन तक लगती है, तब कहीं वन का दाह होता है। इसी प्रकार बहुत प्रयत करने पर कर्मों का दाह होता है । कर्मों की राशि एक दिन में नहीं जल जाती है।

इतने में पास बैठे हुए क्षुल्लक सुमतिसागरजी ने कहा-''आचार्य महाराज ने जबरदस्त झटका देकर गृहजाल से हमारा इस प्रकार उद्धार किया है, जिस प्रकार कोई सराफा चाँ के तार को अपने यंत्र से झटका देकर खींचता है।''

धनिकों का नहीं, संयम का मूल्य

महाराज ने कहा था-''हमारी दृष्टि के आगे लखपति, करोड़पति वैभवशाली व मूल्य नहीं है। लाखों रुपया दान देने वाले धनिकों की अपेक्षा इस क्षुल्लक (सुमतिसागरज का हमारी दृष्टि में मूल्य ज्यादा है। कारण यह आरम्भ परिग्रह का त्यागी है, इससे उस कर्मों की विशेष निर्जरा होती है।''

पागलपन छोड़ो

''इसलिए हमारा सभी से यही कहना है कि पागल के समान प्रवृत्ति को छोड़व विवेकी पुरुष के समान कार्य करना चाहिए। अज्ञानी लोग साधु को पागल समझते हैं किन्तु साधु मोही जगत् को पागल सदृश जानता है। कारण भोगी मानव झूठी दुनिया ममत्व करके दुःखी होता है। वास्तव में संसार का प्रयोग झूठा है।''

महाराज की आलोचना इतनी मार्मिक और तत्त्वस्पर्शी होती थी, कि प्रकाण्ड विद्वा की तर्कणा-शक्ति उसके आगे कुंठित हो जाती थी। आजकल जिस तरह से विलासि

का प्रवाह जगत् में बह रहा है, उसी प्रकार आत्मा की बातें बनाने वालों की भी संख्या वर्धमान दिखती है। आज का बुद्धिजीवी मनुष्य वैसे लोकविद्या के कठिन-कठिन ग्रंथों में प्रवीणता प्राप्त करता है, इसी प्रकार कोई-कोई अध्यात्म शास्त्रों के थोड़े से पद्यों को कंठस्थ करते हुए उनका मनोहर विवेचन करता है, जिसे सुनते ही लोग यह सोचने लगते हैं कि इनके मिथ्यात्त्व का अंधकार दूर हो गया और अब इनसा सम्यक्त्वी सत्पुरुष और कहाँ मिलेगा ?

आत्मा की बातें बनाने वालों में सम्यक्त्वी किसे माना जाय ?

ऐसे चित्रविचित्र वातावरण में सत्य की उपलब्धि के लिए महाराज ने एक बड़ी अनुभवपूर्ण बात कही थी। वे बोले-"सम्यक्त्वी जीव की परीक्षा आस्तिक्य गुण के द्वारा हो जाती है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा ये तीन गुण मिथ्यात्वी में भी दिखाई पड़ते हैं किन्तु आस्तिक्य गुण मिथ्यात्वी में नहीं पाया जाता।"

इस कथन के प्रकाश में आज जो सम्यक्दृष्टियों की बड़ी संख्या बताई जाती है उनकी वास्तविकता का सम्यक् परीक्षण हो जाता है। जो व्यक्ति वीतराग भगवान् की वाणी को न मानकर धर्म और सदाचार के विषय में जनता की भोगोन्मुख रुचि का ध्यान रख शिथिलाचार को स्वीकार करते हुए हर्षित होते हैं, साथ ही जो अध्यात्म शास्त्र की कथा करने में असाधारण कुशलता दिखाते हैं, उनकी कलई आचार्य महाराज के द्वारा उक्त परीक्षा पद्धति से खुल जाती है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शुक सदृश शास्त्रों का पाठ करनेवाले व्यक्तियों के मुख से आत्मकथा का मधुर वर्णन सुनने पर भी उनको आत्मानुभूति की निधिसम्पन्न मानना भयंकर भूल की बात होगी।

छिपकली की घटना

एक दिन व्रतों में शास्त्र का वाचन चल रहा था। एकदम एक बड़ी छिपकली सभा में आ गई। लोग सहसा उठ गये। उस समय महाराज ने पूछा-"क्या बात है ?" किसी ने कहा "महाराज, छिपकली निकलने से लोग उठ गये।"

सुनते ही महाराज के मुखमण्डल पर मधुर स्मित आ गई, और उन्होंने कहा-"एक छिपकली से इतना डरते हो, जब साँप आयगा तब क्या करोगे?"

उनके इन शब्दों को सुनकर मुझे स्मरण आ गया, कि इन महापुरुष के शरीर पर सर्पराज स्वछंद क्रीड़ा कर चुका है फिर भी ये अविचल रहे हैं, इसलिए इस छिपकली के प्रकरण को उन्होंने विनोद तथा करुणा के भाव से देखा। इस प्रसंग द्वारा गुरुदेव के श्रेष्ठपने का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हो जाता है।

एक दिन महाराज से पूछा-" महाराज ! व्रतादि के कठिन स्वरूप का विचार करने में

कैसे उनका ठीक अर्थ आपके ध्यान में आ जाता है?"

पूर्वसंस्कार

उन्होंने कहा था-"व्रतादिक में कठिन प्रसंग आने पर हमें कुछ ऐसी अनुभूति होती थी, कि यह बात हमारे पहले अनुभव में आई हो, इस पूर्वसंस्कार के कारण ह मार्ग की कठिनता दूर हो जाती थी।" उन्होंने यह भी बताया था कि सामायिक पूर्ण के पश्चात् वे अपनी शंकाओं पर विचार करते थे, उस समय विचार द्वारा अनेक शंक का समाधान सहज हो जाया करता था।

मनोरंजक घटना

क्षमा धर्म के दिन महाराज ने कहा था-"साधु का मुख्यधर्म क्षमाभाव है। कैस क्रोध उत्पन्न करने का प्रसंग आवे, साधु को क्षमा त्याग नहीं करना चाहिए।" इ कहते ही महाराज के स्मृतिपथ में एक पूर्व परिचित साधु की बात आ गई जिससे उ चेहरे पर हास्य की रेखा आ गई।

मेरे आग्रह करने पर उन्होंने बताया-"एक साधु थे। किसी गृहस्थ ने उनके हाथ अत्यंत उष्ण खीर डाल दी। उसकी उष्णता असह्य थी। उन्होंने वह खीर दाता गृहस्थ मुख पर उछाल दी।" महाराज ने कहा,-"मुनि को ऐसा नहीं करना चाहिए। असात उदय होने पर साधु को शांतिभाव का त्याग नहीं करना चाहिए।"

समाधि की तैयारी

अपने नेत्रों की ज्योति मन्द होती देख वे कहने लगे, यदि हमारी दृष्टि अधिक मन गई तो हमें समाधिमरण लेना पड़ेगा। मैंने कहा-"महाराज ! शरीर की स्थिति अ रहते हुए केवल आँख के कारण आहार का त्याग कर प्राणों का विसर्जन करं आत्महत्या का दोष नहीं आवेगा ?"

उन्होंने कहा-"निर्दोष रीति से महाव्रतों का पालन करना हमारा मुख्य कर्तव्य है। दृष्टि इतनी क्षीण हो जावे कि हम जीवों का पूर्णतया रक्षण न कर सकें, तब हमारे एकमात्र यही मार्ग होगा, कि हम इस अहिंसा के रक्षण हेतु शरीर को अन्न-पान देना कर दें। इसमें आत्मघात का दोष नहीं है। इसका लक्ष्य है व्रतों का निर्दोष रीति से पा करना।"

किसी ने कहा-" महाराज ! ज्योतिषी को बुलाकर आपकी आयु के विषय में लगाना चाहिए।"

महाराज बोले-"हमारा ज्योतिषी पर विश्वास नहीं है। वह कोई केवली या श्रुतके नहीं है। दूसरी बात यह है कि हमारा जीवन अधिक भी रहा और दृष्टि चली गई तो

ीवन का हमारा क्या प्रयोजन ? हमें उसको समाप्त करना होगा।" ज्योतिष शास्त्र दशांग वाणी का अंग मान कर वे उसे प्रमाण रूप मानते थे तथा अपने धार्मिक कामों ज्योतिष का आश्रय लेते भी थे, यहा उनका भाव वर्तमान के बहुत से झूठे ज्योतिषियों ा लक्ष्य कर उन पर अविश्वास व्यक्त करना था।

शास्त्रों में लिखा है कि समाधिमरण के लिए मुनि को निर्वाण-भूमि में जाना चाहिए ालिए अब आचार्य महाराज का विचार किसी निर्वाण-स्थल में रहने का हो रहा था।

महाराज के पुण्य प्रभाव की घटना २९ अगस्त को लोणन्द के एक अजैन बन्धु ने नाई। वहाँ के नाले के तट पर मुनियों के निवास के लिए पाषाण की कुटी बन रही थी। ाके भीतर एक बालक काम करता था। नींव कमजोर होने के कारण वह कुटी धाराशाई गई सैकड़ों मन-पाषाण-राशि के मध्य उस दीन बालक का रक्षण स्वप्न में भी संभव था, किन्तु पुण्योदय था, जिस कोने में वह बालक खड़ा था, वहाँ के कुछ षाण नहीं गिरे और वह बालक कहने लगा-"मुझे यहाँ से बचा लो।"

ोमूर्ति का प्रभाव

उस बालक को पूर्णतया सुरक्षित ज्ञात कर हजारों लोग उस स्थल पर आये। प्रत्येक मुख से यही बात निकल रही थी-"इन महात्मा की तपश्चर्या के प्रभाव से आज इस च्चे का जीवन बचा। कदाचित् कुटी के भीतर और साधुजन पहुँच जाते और उस काल वह गिर पड़ती तब न जाने क्या होता ? सौभाग्य से कोई क्षति नहीं हुई। यह तपोमूर्ति ा प्रभाव है।"

त्वचर्चा

तात्त्विक चर्चा में महाराज ने बताया था-" क्षुल्लक केशलोंच का अभ्यास करता , उससे नीचे की प्रतिमा वालों को केशों का लोंच नहीं करना चाहिए।"

"व्रती श्रावक को नल का पानी नहीं पीना चाहिए। वह नल के जल में स्नान करे तो ाधा नहीं है। पर्व में उपवास के बदले शक्ति न होने पर एकाशन करे।"

महाराज के पास वीतरागता का भण्डार भरा था। उनका अनुभव महान् था। उनका ीवन सुलझा हुआ था। वे तो भवसिन्धु में भटकने वाले नाविकों के लिए प्रकाश-स्तंभ **Light house**) के समान थे, जिनसे ज्योति पा जीवन-नौकायें डूबने से बचकर इष्ट थल को पहुँच सकती हैं। उनकी वीतरागता अलौकिक थी।

यथार्थ में उनके जीवन की महत्ता को प्रयत्न करते हुए भी प्रकाशित करने में हमारी स्थिति उस गूँगे के समान है, जो देवताओं के प्रिय सुधारस का पान करते हुए दूसरे लोगों ऽ समक्ष उनके माधुर्य का वर्णन नहीं कर सकता।

रत्नाकर के बाह्य भाग पर पड़े हुए कुछ रत्नों के समान इस शांति सिन्धु के जीवन की कुछ बातों का वर्णन किया है। यथार्थ में जैसे समुद्र के भीतर अत्यंत दीप्तिमय रत्न-राशि शोभायमान होती है, इसी प्रकार इन तपोमूर्ति मुनिनाथ की आत्मा अगणित अपूर्वताओं की आगार थी जिसका बाह्य जगत् को ज्ञान नहीं है।

शांति के सिन्धु की विशालता और गंभीरता का अनुमान केवल इस एक संस्मरण से हो जायेगा ऐसा हमें विश्वास है। मैंने कहा-"महाराज, आपने मुझ पर महाधवल ग्रंथ के संपादन आदि का पवित्र भार रखा है। जयधवल ग्रंथराज की सेवा का कार्य भी सौंपा है, और भी बड़े-बड़े कार्य वर्धमान भगवान् के शासन की सेवा निमित्त स्वीकार करते जाता हूं। आप जैसे तपस्वियों के आशीर्वाद में अपार सामर्थ्य है, महान् शक्ति है इसलिए आशीर्वाद देने की प्रार्थना है।"

साम्य दृष्टि

महाराज ने कहा था-"हम तुम्हें आशीर्वाद क्यों नहीं देंगे ? तुम जो जिनधर्म की सदा सेवा करते हो। हमारा आशीर्वाद तो उन जीवों के लिए भी है जो हमारा प्राण लेने का भी प्रयत्न करते हैं। विरोधी को भी हम आशीर्वाद देते हैं कि उनकी आत्मा का मिथ्यात्व दूर हो और वे मंगलमय धर्म की शरण में आवे। आत्मा का सच्चा कल्याण धर्म की शरण लेने में है।"

***

नग्नता महत्वपूर्ण नहीं है

महाराज ने कहा था केवल-"नग्नता महत्वपूर्ण नहीं है, बन्दर भी नग्न है, पशु भी नग्न है। मनुष्य में नग्नता के साथ विशेष गुण पाये जाते हैं, इसलिए उसका दिगम्बरत्व पूज्यनीय होता है।"

-पृष्ठ ३३६, प्रकीर्णक, अलौकिक अनासक्ति

परिक्षकों द्वारा की गई परीक्षा व आचार्य श्री

(कटनी, म.प्र. के) कुछ शास्त्रज्ञों ने सूक्ष्मता से आचार्यश्री के जीवन को आगम की कसौटी पर कसते हुए समझने का प्रयत्न किया। उन्हें विश्वास था कि इस कलिकाल के प्रसाद से महाराज का आचरण भी अवश्य प्रभावित होगा, किन्तु अन्त में उनको ज्ञात हुआ कि आचार्य महाराज में सबसे बड़ी बात यही कही जा सकती है कि वे आगम के बंधन में बद्ध प्रवृत्ति करते हैं और अपने मन के अनुसार स्वच्छंद प्रवृत्ति नहीं करते हैं।

मैंने (लेखक-पं. सुमेरूचंद्रजी दिवाकर ने) भी आचार्यश्री के जीवन का निकट निरीक्षण नहीं किया था। अतः साधु विरोधी कुछ साथियों के प्रभाववश मैं पूर्णतया-श्रद्धा शून्य था। कार्तिक की अष्टाह्निका के समय काशी अध्ययन निमित्त जाते हुए एक दिन के लिए यह सोचकर कटनी ठहरा कि देखें इन साधुओं का अन्तरंग जीवन कैसा है ?

उनके पास में पहुंच कर देखा, तो मन को ऐसा लगा कि कोई बलशाली चुंबक चित्त को खेंच रहा है। मैंने दोष को देखने की दुष्ट बुद्धि से ही प्रेरित हो संघ को देखने का प्रयत्न किया था, किन्तु रंचमात्र भी सफलता नहीं मिली। संघ गुणों का रत्नाकर लगा।

हृदय में यह भाव बराबर उठते थे कि मैंने कुसंगतिवश क्यों ऐसे उत्कृष्ठ साधु के प्रति अपने हृदय में अश्रद्धा के भावों को रखने का महान् पातक किया ? संघ के अन्य साधुओं का जीवन भी देखा, तो वे भी परम पवित्र प्रतीत हुए।'**सोना जानिए कसे, आदमी जानिए बसे**' -सुवर्ण की परीक्षा कसौटी पर कसे बिना नहीं होती है, आदमी की जाँच के लिए उसके साथ कुछ काल तक बातचीत होना आवश्यक है। जीवन तो आत्मा का गुण है, वह पुद्गल लेखनी के द्वारा कैसे बताया जा सकता है ? प्रत्यक्ष संपर्क से ज्ञात हो जाता है, कि इस आत्मा में कितनी पवित्रता और प्रकाश है ? मेरा सौभाग्य रहा जो मैं आचार्यश्री के चरणों में आया और मेरा दुर्भाव तत्काल दूर हो गया। मेरे कुछ साथी तो आज भी सच्चे गुरूओं के प्रति मलिन दृष्टि धारण किये हुए हैं : 'बुद्धिः कर्मानुसारिणी' खराब होनहार होने पर दुष्ट बुद्धि होती हैं।

-मुल शीर्षक : प्रभावना, पृष्ठ २०३-२०४

उपशीर्षक : आगम भक्त, आचार्य चरणों का प्रथम परिचय और पश्चात्ताप

सल्लेखना

सल्लेखना

अपने सीमित साधनों के मध्य रहने वाले मानव को यह पता नहीं चलता कि आगे कैसी विचित्र अघटित तथा अकल्पित बातें प्रत्यक्षगोचर हो जाती हैं। विधि सुघटित घटनाओं को विघटित करता है और अघटित घटनाओं का निर्माण करता है। ऐसी भी घटनायें प्रत्यक्षगोचर होती हैं; जिनकी मनुष्य ने कभी कल्पना भी न की थी।

अघटित-घटितं घटयति, सुघटित-घटितं च जर्जरी कुरुते।
विधिदेव तानि घटयति, यानि नरो नैव चिन्तयति।।

यम सल्लेखना

स्व. आचार्य शांतिसागर महाराज के चरणों के समीप रहने से मन में ऐसा विश्वास जम गया था, कि आचार्य महाराज जब भी सल्लेखना स्वीकार करेंगे तब नियम सल्लेखना लेंगे, यम सल्लेखना नहीं लेंगे। ऐसा ही उनका मनोगत अनेक बार ज्ञात हुआ था। मुझे दृढ़ विश्वास था कि, उनकी सल्लेखना नियम सल्लेखना के रूप में प्रारम्भ होगी किन्तु भविष्य का रूप किसे विदित था ? जिसकी स्वप्न में भी कल्पना न थी, वह साक्षात् हो गया। श्रमणराज आचार्य शांतिसागर महाराज ने यम सल्लेखना ले ली। उसे लिये चार दिन हो गये। कुंथलगिरी से भी मुझे कोई समाचार नहीं मिला।

२२ अगस्त १९५५ को १ बजे मध्याह्न में फलटण से इन्द्रराज गाँधी का तार मिला :

- **Acharya maharaj started yama sallekhana from four days, Starte first train kunthalgiri**-('आचार्य महाराज ने चार दिन हुए यम सल्लेखना ले ली है। शीघ्र ट्रेन से कुंथलगिरि पहुँचिये।')

मैं अवाक् हो गया। चित्त घबड़ा गया। अकल्पित बात हो गई। तत्काल ही मैंने गुरुदेव के दर्शनार्थ प्रस्थान किया।

मैं २२ अगस्त को २ बजे दिन की मोटर से नागपुर ७.३० बजे रात को पहुँचा वहाँ से रेल से शेगाँव गया। पश्चात् मोटर से देवलगाँव, बागरुल, जालना होते हुए ता. २३ की रात को १० बजे कुन्थलगिरि पहुँचा। उस समय मूसलाधार वर्षा हो रही थी। एक घंटा स्थान पाने की परेशानी के उपरांत मुझ अकेले को स्थान मिल पाया।

प्रथम दर्शन

मैंने २४ अगस्त के प्रभात में पर्वत पर कुटी में आचार्य शांतिसागर महाराज के दर्शन किये और नमोस्तु निवेदन किया। महाराज बोले, "बहुत देर में आये। आ गए, यह बहुत

अच्छा किया। बहुत अच्छा हुआ तुम आ गये। बहुत अच्छा किया।'' इस प्रकार चार बार पूज्यश्री के शब्दों को सुनकर स्पष्ट हुआ कि उन श्रेष्ठ साधुराज के पवित्र अंतःकरण में मेरे प्रति करुणापूर्ण स्थान अवश्य है।

मैंने कहा-'' महाराज ! श्रेष्ठ तपस्यारूप यमसमाधि का महान् निश्चय करके आपने जगत् को चमत्कृत कर दिया है। आपका अनुपम सौभाग्य है। इस समय मैं आपकी सेवार्थ आया हूँ। शास्त्र सुनाने की आज्ञा हो या स्तोत्र पढ़ने आदि का आदेश हो, तो मैं सेवा करने को तैयार हूँ।''

पूर्ण स्वावलम्बी

महाराज बोले-''अब हमें शास्त्र नहीं चाहिए। जीवन भर सव शास्त्र सुने। खूब सुने, खूब पढ़े। इतने शास्त्र सुने कि कण्ठ भर चुका है। अब हमें शास्त्रों की जरूरत नहीं है। हमें आत्मा का चिन्तवन करना है। मैं इस विषय में स्वयं सावधान हूँ। हमें कोई भी सहायता नहीं चाहिए।''

महाराज की वीतराग भावपूर्ण वाणी को सुन मन बड़ा सन्तुष्ट हुआ । सचमुच में जिस महापुरुष के ये वाक्य हों '**शास्त्र हृदय में भरा है**', उन्हें ग्रंथ के अवलम्बन की क्या आवश्यकता है ? उन्होंने शास्त्र पढ़कर उस रूप स्वयं का जीवन बनाया था। उनका जीवन ही शास्त्र सदृश था।

ता. २५ अगस्त को अष्टमी थी। मैंने पूछा,''महाराज ! नींद घंटा दो घंटा आती तो है न ?

महाराज -''निद्रा तो अति अल्प है''

आत्मा का ध्यान

प्रश्न-''महाराज ! आत्मध्यान का क्या हाल है ?''

महाराज -''आत्म-ध्यान सतत चालू आहे. (आत्मध्यान निरन्तर चलता है।)''

वीरसागरजी को आचार्य पद का दान

ता. २६ शुक्रवार को आचार्य महाराज ने वीरसागर महाराज को आचार्य पद प्रदान किया। उसका प्रारूप आचार्यश्री के भावानुसार मैंने लिखा था। भट्टारक लक्ष्मीसेन जी, कोल्हापुर आदि के परामर्शानुसार उसमें यथोचित परिवर्तन हुआ।

अन्त में पुनः आचार्य महाराज को बाँचकर सुनाया, तब उन्होंने कुछ मार्मिक संशोधन कराए।

उनका एक वाक्य बड़ा विचारपूर्ण था-''हम स्वयं के संतोष से अपने प्रथम निर्ग्रन्थ शिष्य वीरसागर को आचार्य पद देते हैं।''

मुनि वीरसागरजी को संदेश

आचार्य महाराज ने वीरसागर महाराज को यह महत्वपूर्ण संदेश भेजा था-

"आगम के अनुसार प्रवृत्ति करना, हमारी ही तरह समाधि धारण करना और सुयोग्य शिष्य को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करना, जिससे परम्परा बराबर चले।"

उन्होंने यह भी कहा था-"वीरसागर बहुत दूर है, यहाँ नहीं आ सकता अन्यथा यहाँ बुलाकर आचार्य पद देते।" उनके ये शब्द महत्त्व के थे, वीरसागर को हमारा आशीर्वाद कहना और कहना कि शांतभाव रखे; शोक करने की जरूरत नहीं है।"

उस समय महाराज का एक-एक शब्द अनमोल था। वे बड़ी मार्मिक बातें कहते थे। क्षु.सिद्धसागर (ब्र. भरमप्पा) को महाराज ने कहा था-"रेल मोटर से मत जाना।" इस आदेश के प्रकाश में उच्चत्यागी अपना कल्याण सोच सकते हैं, कर्तव्य जान सकते हैं। शिष्यों को व्रत ग्रहण करने की प्रेरणा करते हुए वे बोले-"स्वर्ग में आओगे, तो हमारे साथी रहोगे।"

अद्भुत दृश्य

यम समाधि के बारहवें दिन ता. २६ अगस्त को महाराज जल लेने को उठे। उनकी चर्या में तनिक भी शिथिलता नहीं थी। मंदिर में पंचामृत से किया गया भगवान् का अभिषेक उन्होंने बड़े ध्यान से देखा। आगम के परम श्रद्धालु वे ऋषिराज ऐसे अभिषेक को आगमानुकुल मानते थे। इससे समाधि की परम पावन बेला में भी वे अभिषेक देखकर निर्मलता प्राप्त करते थे। बाद में महाराज चर्या को निकले । हजारों की भीड़ उनकी चर्या देखने को पर्वत पर एकत्रित थी। अद्भुत दृश्य था। नवधाभक्ति के बाद महाराज ने खड़े-खड़े अपनी अंजुली द्वारा थोड़ा-सा जलमात्र लिया और पश्चात् वे क्षण भर में ही बैठ गये। कुछ क्षण बाद गमनकर अपनी कुटी में आये और पुन: आत्मचिन्तन में निमग्न हो गये। आत्मचिन्तन उनका अत्यन्त प्रिय, अभ्यस्त कार्य था। संसार को वह कार्य बड़ा कठिन लगता है। वास्तव में वे महान् योगी थे।

स्वाध्याय की प्रेरणा

एक दिन महाराज ने कहा था-" धर्म पर अविचल श्रद्धा धारण करो।" उन्होंने यह भी कहा था-"स्वाध्याय करो। यह स्वाध्याय परम तप है। शास्त्र के अभ्यास से आत्मा का कल्याण होता है। भगवान् की वाणी के द्वारा सम्यग्दर्शन का लाभ होता है।"

शास्त्रदान का उपदेश

गरीब लोग शास्त्र नहीं खरीद सकते। उनको शास्त्र का दान करो। शास्त्रदान में महान्

पुण्य है। भगवान की वाणी के द्वारा सम्यग्दर्शन का लाभ होता है।

आत्मध्यान

'आत्मा का चिंतन करो', यह बात दो या तीन वर्षों से वे पुनः-पुनः दोहरा रहे थे।

उन्होंने सन् १९५४ में फलटण में चातुर्मास के पूर्व सब समाज को बुलाकर कहा था-"तुम हमारा चातुर्मास अपने यहाँ कराना चाहते हो, तो एक बात सबको अंगीकार करनी पड़ेगी।"

सबने उनकी बात शिरोधार्य करने का वचन दिया।

पश्चात् महाराज ने कहा-"सब स्त्री पुरुष यदि प्रति दिन कम से कम पाँच मिनट पर्यन्त आत्मा का चिंतवन करने की प्रतिज्ञा करते हैं तो हम तुम्हारे नगर में चातुर्मास करेंगे, अन्यथा नहीं।"

श्रेष्ठ साधुराज के समागम का सौभाग्य सामान्य नहीं था। सब लोगों ने गुरुदेव की आज्ञा स्वीकार की थी। आत्मचिन्तन में उन्हें अपूर्व आनन्द आता था, इससे वे लोकहितार्थ उसकी प्रेरणा करते थे।

आत्मानुभव की चर्चा

आत्मानुभव के विषय में एक दिन फलटण में आचार्य महाराज ने बड़ी सुन्दर चर्चा की। उसे सुनकर सभी लोग आनन्दविभोर हो गये थे। उस समय हृदय यही अनुभव करता था, कि यह कथन तत्त्व के अंतस्तत्त्व को स्पर्श करने वाले सम्यग्ज्ञानी का है। शुक सदृश अध्यात्म ग्रंथों का वाचन या निरूपण करने वालों का नहीं है। फिर भी मन में शंका उत्पन्न हुई थी, अतः मैंने धीरे से नम्रतापूर्वक पूछा-"महाराज आप जो आत्मा के अनुभव की चर्चा कर रहे हैं, यह आगम के आधार पर कह रहे हैं या अनुमान से कह रहे हैं या अपने अनुभव से कह रहे है ?

महाराज ने कहा-"यह बात हम अपने अनुभव के आधार पर कह रहे हैं।"

इतना कहने के बाद उनकी मुद्रा अपूर्व गंभीर हो गई। मुझे आनन्द आया, क्योंकि इस कलिकाल में आत्मतत्त्व का रसास्वादन करने वाले महायोगी शांतिसागरजी और उनके पावन चरणों में बैठने का मुझे सौभाग्य मिल रहा है।

महाराज ने कहा-"निकट भव्य को आत्मस्वरूप का अनुभव होता है। जिसको संसार में बहुत समय तक परिभ्रमण करना है, उसे आत्मा का अनुभव नहीं होता है। अभव्य को भी आत्मा का अनुभव नहीं होता है।" कौन भव्य है ? कौन अभव्य है ? यह बात सर्वज्ञ ज्ञान गोचर है। अभव्य भी अध्यात्म ग्रंथ को पढ़कर तोता के समान आत्मतत्त्व पर आकर्षक उपदेश दे सकता है, वह एकादशांगी तक बन सकता है।

एक दिन महाराज को मैंने कुछ आध्यात्मिक सुन्दर श्लोक सुनाए, कारण शास्त्र में लिखा है कि क्षपक के समीप मधुर वाणी से ऐसी बात सुनावें जिससे उसके भावों में वीतरागता के परिणाम की तथा विशुद्धता की वृद्धि हो-**'प्रीणयेत् वचोमृतै:'**।

आध्यात्मिक सूत्र

माघनंदि आचार्य रचित आध्यात्मिक सूत्रों को मैं पढ़ने लगा।

मैंने कहा-''महाराज देखिये! जिस आत्मस्वरूप के चिन्तवन में आप संलग्न हैं और जिसका स्वाद आप ले रहे हैं उसके विषय में आचार्य के सूत्र बड़े मधुर लगते हैं,**चिदानंद-स्वरूपोहम्** (मैं चिदानन्द स्वरूप हूँ), **ज्ञानज्योति-स्वरूपपोहम्** (मैं ज्ञानज्योति स्वरूप हूँ), **शुद्धात्मानुभूति-स्वरूपोहम्** (मैं शुद्ध आत्मानुभूति स्वरूप हूँ), **अनंतशक्ति- स्वरूपोहम्** (मैं अनन्त स्वरूप हूँ), **कृतकृत्योहम्** (मैं कृत-कृत्य हूँ), **सिद्धं स्वरूपोहम्** (मैं सिद्ध स्वरूप हूँ), **चैतन्यपुंज-स्वरूपोहम्** (मैं चैतन्यपुंजरूप हूँ).....

इसे सुनकर महाराज ने कहा था-''**यह कथन भी आत्मा का यथार्थ रूप नहीं बताता है। अनुभव की अवस्था दूसरे प्रकार की होती है। जब आत्मा ज्ञानादिगुणों से परिपूर्ण है, तब बार-बार 'अहं' क्या कहते हो। मैं जो हूँ सो हूँ। बार-बार 'मैं', 'मैं'क्यों कहते हो**।'' यह कहकर गुरुदेव चुप हो गये। उक्त कथन महायोगी के अनुभव पर आश्रित है। उसकी गंभीरता मनीषियों के मनन योग्य है।

शान्त बनो

कुछ क्षण के पश्चात् अंत:प्रेरणा से धीरे-धीरे उन क्षपकराज ने कहा-''कर्मों का नाश करना है, तो शांत बनो। कर्मों का मूलोच्छेद शांत भाव से होता है। जब आत्मा अपने स्वरूप में स्थिर होकर शांत रहता है, तब कर्म घबड़ाकर भागते हैं। ''

आत्मभवन में निवास

मैंने जिनेन्द्र भगवान के स्तोत्र की चर्चा करते हुए उनके अपार सामर्थ्य पर कुछ प्रकाश डाला, तब महाराज कहने लगे-''हम स्तोत्र वगैरह सब पढ़ चुके हैं। उसे हम भली प्रकार जानते हैं किन्तु अब हम अपनी आत्मा के भीतर बैठ गये हैं। अब हमें अन्य बातों से कुछ भी प्रयोजन नहीं है। इस समय हम अपने घर में निज भवन में बैठे सदृश हैं।''

जलग्रहण का रहस्य

आचार्य महाराज ने यम सल्लेखना लेते समय केवल जल लेने की छूट रखी थी। इस सम्बन्ध में मैंने कहा-''महाराज! यह जल की छूट रखने का आपका कार्य बहुत महत्त्व का है। वास्तव में आपने विवेकपूर्ण कार्य किया है। आपके जीवन भर के कार्यों में हमें

विवेकपूर्ण प्रवृत्ति का ही दर्शन होता रहा है :

गौतम स्वामी ने जिनेन्द्र से पूछा था-"भगवन् ऐसा उपाय बताइये कि जिससे पापों का भार न उठाना पड़े।"

भगवान् ने कहा था-"विवेकपूर्वक कार्य करो जिससे तुम्हें पापों का बंध नहीं होगा।"[1]

यह सुनकर महाराज बोले-"हमने देखा है, जल नहीं ग्रहण करने के कारण आठ-दस त्यागियों की बुरी हालत हुई है अत: हमने जल का त्याग नहीं किया है।"

उन्होंने यह भी कहा था-"हमने पानी लेने की छूट इसलिए भी रखी है, कि इससे दूसरे त्यागी भाइयों का मार्गप्रदर्शन होता रहे। नहीं तो हमारा अनुकरण करने पर बहुतों की असमाधि हो जावेगी।"

मर्म की बात

एक दिन महाराज कहने लगे-" आत्मचिंतन द्वारा सम्यग्दर्शन होता है। सम्यक्त्व होने पर दर्शन मोह के अभाव होते हुए भी चारित्र मोहनीय कर्म बैठा रहता है। उसका क्षय करने के लिये संयम को धारण करना आवश्यक है। संयम से चारित्र मोहनीय नष्ट होगा। इस प्रकार सम्पूर्ण मोह के क्षय होने से, अर्हन्त स्वरूप की प्राप्ति होती है।"

जीवित समयसार

मैंने कहा-"महाराज! आपके समीप बैठने पर ऐसा लगता है कि हम जीवित समयसार के पास बैठे हों। आप आत्मा और शरीर को न केवल भिन्न मानते हैं तथा कहते हैं किन्तु प्रवृत्ति भी उसी प्रकार कर रहे हैं। शरीर आत्मा से भिन्न है। वह अपना स्वभाव नहीं है, परभाव रूप है, फिर खिलाने-पिलाने आदि का व्यर्थ क्यों प्रयत्न किया जाय ? यथार्थ में इस समय आपकी आत्मप्रवृत्ति अलौकिक है।"

कथनी और करनी

महाराज बोले-" आत्मा को भिन्न बोलना और विषयों में लगना कैसा आत्मचिन्तन है ? शरीर से आत्मा भिन्न है, अत: आत्मा का ही चिन्तन करना ठीक है। शरीर की क्या

---

१. कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सए।
कधं भुंजेज्ज भासिज्ज कधं पावं ण वज्झदि॥
जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सए।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झइ॥-मूलाचार,१०१४-१०१५

प्रश्न - भगवन् कैसे चलें? कैसे खड़े रहें? कैसे बैठें?कैसे शयन करें? कैसे भोजन करें? कैसे बोलें? किस प्रकार पाप नहीं बंधता है।

उत्तर - यत्नपूर्वक चलो, यत्नपूर्वक खड़े रहो, सावधानी से बैठो, सावधानी से शयन करो, सावधानी से भोजन करो, सावधानी पूर्वक सम्भाषण करो। ऐसा करने से पाप नहीं बंधता है।

बात है ? वह तो पर ही है। उसकी सेवा या चिन्ता क्यों करना ? उसका क्यों ध्यान करना ? देखो ! आत्मा के ध्यान से कर्मों का नाश होता है।''

हृदय में शान्ति

ऐसी मधुर चर्चा चल रही थी कि मन्दिर में अभिषेक की हजारों रुपयों की बोली का बड़े जोर से हल्ला मचना शुरू हो गया। उसको सुनकर मैंने कहा-'' महाराज ! इस पूजन की बोली आदि को बन्द करने से गड़बड़ी नहीं होगी । हल्ला नहीं होगा।''

महाराज बोले-''बाहर हल्ला हो, गड़बड़ी हो उससे हमें क्या है ? जब भीतर शान्ति है, तब बाहर की गड़बड़ी क्या करेगी ? आत्मा में शान्ति है, तो बाहर का हल्ला क्या करेगा ?''

जीवन द्वारा उपदेश

यम सल्लेखना के तेरहवें दिन पूज्यश्री को प्रणाम कर मैंने निवेदन किया था-''हम लोगों का महान् सौभाग्य है, जो आप सदृश निरन्तर आत्म स्वरूप का चिन्तवन करने में निमग्न साधुराज के पुण्य चरणों का आश्रय मिला है। आपने जीवन भर रत्नत्रय धर्म की आराधना की है। अब आपका जीवन स्वयं रत्नत्रय धर्म का उपदेश देता है।''

उनके पास पहुँचने पर मन में यह भाव पैदा होता था कि इस कुटी के भीतर एक महान् आत्मा विद्यमान है; जो कर्मों का भीषणता से क्षय करती हुई अपूर्व विशुद्धता को प्राप्त कर रही है। वह आत्मा मृत्यु को चुनौती देकर और उसे आमन्त्रित करके अन्त में मृत्युन्जय बनने का परम पुरुषार्थ कर रही है। मृत्यु के आगमन के पूर्व उसका नाम सुनते ही बड़े-बड़ों के होश ठिकाने आ जाते है, किन्तु आप मृत्यु को मित्र सदृश सोचकर उससे भेंट करने को तैयार बैठे हैं।

अकिंचनत्व की भावना

मैंने कहा-''महाराज ! आपके जीवन का प्रियग्रन्थ 'आत्मानुशासन' रहा है। उसमें गुणभद्रस्वामी ने बड़ी मार्मिक बात लिखी है। ग्रन्थकार महातपस्वी सत्पुरुष हुए हैं, ऐसा अन्य आचार्यों ने लिखा है। प्रतीत होता है कि पक्षोपवासादि के द्वारा प्राप्त प्रकाश से प्रेरित हो उन्होंने लिखा है- **'मैं तुझे एक ऐसी महत्त्व की बात कहता हूँ कि उससे तू त्रिलोक का स्वामी बन जायेगा। वह कथन योगियों के ही गोचर है। वह बात यह है कि तू 'अकिंचनोहं' -मैं अकिंचन हूँ ।' मेरे परमाणुमात्र भी पर पदार्थ नहीं हैं, ऐसा चिंतवन कर।** यही परमात्मपद का रहस्य है। आप भी उस अकिंचनत्व की

---

१. अकिंचनोहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः ।
योगिगम्य तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ।। आत्मानुशासन, ११० ।।

भावना कर रहे हैं तथा शरीर को आहारादि देना बंद करने के कारण प्रवृत्ति, द्वारा भी अकिंचन रूप हो रहे हैं।"

मार्दव परिणाम

महाराज बोले-"वे बहुत बड़े आचार्य हो गये हैं। हम उनके सामने क्या चीज हैं ?"

मैंने कहा-"महाराज ! आज आपके उपवास के दो सप्ताह हो रहे हैं। आपकी तपस्या और आत्मस्थिरता देखकर लोग चकित हैं।"

महाराज बोले-"हमने इस शरीर से सब प्रकार के सिंह निष्क्रीड़ित आदि तप किए। हमारे वज्र-वृषभ-संहनन नहीं है, इससे प्रायोपगमन रूप श्रेष्ठ संन्यास के स्थान में हमने इंगिनी मरणरूप संन्यास लिया है। सत्रह प्रकार के मरणों में तीन प्रकार के मरण (भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी, प्रायोपगमन) श्रेष्ठ कहे गये हैं।"

पूर्व के महान् आचार्यों का उल्लेख करते हुए महाराजश्री ने कहा-"पहले के बड़े-बड़े आचार्य लगभग १५ वर्ष की अवस्था में दीक्षित हुए थे। वे पहले गुरु के पास रहते थे, पश्चात् आचार्यपद ग्रहण करते थे।"

क्षुल्लक दीक्षा

ता. २८ अगस्त सन् १९५५, रविवार को आचार्य महाराज के समक्ष उनकी सुन्दर रीति से वैयावृत्य तथा परिचर्या करने वाले ब्र. भरमप्पा को क्षु. दीक्षा का समारम्भ हुआ। ब्र. भरमप्पा ने सर्व उपस्थित संघ से क्षमा माँगी। संघ ने उनकी दीक्षा की भावना की अनुमोदना की। आचार्य महाराज ने वीतरागता के भावों में निमग्न रहते हुए भी ब्र. भरमप्पा पर विशेष करुणावश दीक्षा समारम्भ में उपस्थित रहने की कृपा तथा अपने महान् सेवक भरमप्पा के मस्तक पर दीक्षा सम्बन्धी बीजाक्षरों का न्यास किया। दीक्षा की विधि विद्वान् तथा सहृदय भट्टारक लक्ष्मीसेनजी, कोल्हापुर द्वारा सम्पन्न हुई थी। कुछ समय के पश्चात ब्र. भरमप्पा के हाथ में पिच्छि कमण्डलु आ गये। महाराज ने आशीर्वाद देते हुए उनको 'सिद्धसागर' यह महत्वपूर्ण नाम प्रदान किया।

महाराज का आशीर्वाद

दीक्षा समारम्भ हो गया। इसके पश्चात् दूसरे दिन सायंकाल के समय पूज्यश्री ने कहा-"भरमा ! तुमने दीक्षा ली है। हमारा विश्वास है कि तेरी कुगति नहीं होगी। घबड़ाना मत। मिथ्यात्वी साधु भी तपस्या के द्वारा देव पदवी को प्राप्त करते हैं, तब तो तूने जिनेन्द्र कथित व्रत लिए हैं। निश्चय ही तेरी सद्गति होगी।"

संयम पालनार्थ मार्मिक प्रेरणा

महाराज अपने भक्तों को संयम धारणार्थ अधिक प्रेरणा देते रहते थे। उनके समीप बहुत

वर्षों से आने-जाने वाले कुछ शिक्षित और सम्पन्न भक्तों को वे व्रती बनने को कहा करते थे, परन्तु उन भक्तों के कान पर जूँ तक नहीं रेंगती थी। महाराज निराश नहीं होते थे।

वे साधुराज एक दिन कहने लगे-"नर्मदा नदी के पत्थर बहुत चिकने हो जाते हैं। पानी में निरन्तर रहते-रहते उन पर भी जल टिकने लगता है, किन्तु तुम लोगों के मन में हमारी बात क्यों नहीं टिकती है ?" पश्चात् महाराज बोले-"तुम व्रती नहीं बनते हो, नहीं बनना चाहते हो और हम निरन्तर तुमको यह कहते रहते हैं। यथार्थ में तुम तो बहुत अच्छे हो। हम ही अज्ञानी हैं।"

इसके बाद आचार्यश्री की करुणा प्रेरित यह वाणी निकली-"अरे ! क्या देखते हो। व्रत पालोगे, तो स्वर्ग में तुम हमारे साथी रहोगे। वहाँ भी मिलते रहेंगे। हमें वहाँ साथी चाहिए। देखो ! अभी तुमको इतना आग्रह करते हैं। स्मरण रखो आगे फिर शांतिसागर तुमको कहने नहीं आने वाला है। स्वर्ग में जाकर वहाँ से विदेह में पहुँच सीमंधर स्वामी के प्रत्यक्ष दर्शन कर सकोगे। उनकी दिव्यध्वनि सुन सकोगे। नंदीश्वर आदि के अकृत्रिम जिन बिम्बों का दर्शन कर सकोगे। इससे तुमको सम्यक्त्व मिल जायेगा। वहाँ से विदेह में उत्पन्न होकर मोक्ष जा सकोगे। सोचो ! एक बार फिर सोचो।"

महाराज की यह मार्मिक वाणी उन लोगों के मन पर असर कर गई और उन लोगों ने कठिन परिस्थिति होते हुए भी व्रत प्रतिमा धारण कर ली। कुंथलगिरि में उन बन्धुओं से भेंट हुई थी। उन्होंने अपनी कथा सुनाते हुए संयम धारणजनित शांति और संतोष को व्यक्त किया था। आज व्रती होकर उनका निधन हो गया। वे वास्तव में स्वर्गवासी बन गए। गुरुदेव का महान् उपकार था।

प्रायश्चित लो

एक व्यक्ति ने, जो अधिक वृद्ध हो गए थे, बताया था कि, महाराज ने हमें व्रत प्रतिमा दी थी तथा कहा था-"घबड़ाना मत। व्रतों को निर्दोष पालने का पूरा-पूरा प्रयत्न करते रहना। यदि दोष आ जावे, तो प्रायश्चित ले लिया करना। दोष आ जाने पर माह दो माह पर्यन्त णमोकार महामंत्र की विशेष रूप से चार माला और जप लिया करना।"

जनगौंडा पाटील को देशना

कुंथलगिरि में महाराज के स्व. छोटे भाई कुमगौंडा पाटील के चिरंजीव श्री जनगौंडा पाटील जयसिंगपुर से सपरिवार आए थे। आचार्य महाराज के चरणों को उन्होंने प्रणाम किया। बाल्यकाल में जनगौंडा आचार्य महाराज की गोद में खूब खेल चुके थे, जब महाराज शांतिसागरजी सातगौंड़ा पाटील थे। उस समय का स्नेह दूसरे प्रकार का था, अब का स्नेह वीतरागता की ओर ले जाने वाला था।

जनगौंड़ा को महाराज ने कहा-''देखो ! हमने यम समाधि ली है और हम अब शीघ्र जाने वाले हैं। तुमको भी संयम धारणा करना चाहिए। इसके सिवाय जीव का हित नहीं होता है।'' जनगौंड़ा ने कहा था-''महाराज, क्या करूँ ? जो आज्ञा हो, वह करने को तैयार हूँ।''

दिगम्बर दीक्षा का संकल्प

महाराज बोले-''तुमको हमारी ही तरह दिगम्बर दीक्षा धारण करनी चाहिए। इससे अधिक आनन्द और शांति का दूसरा मार्ग नहीं है।''

भावलिंगी श्रमण को मुनित्व सचमुच में आनन्द का भण्डार लगता है। जिनके मन में सम्यज्ञान तथा वैराग्य की ज्योति नहीं जगती है, उनको वह पद भयावह और कष्टपूर्ण प्रतीत होता है।

इष्ट बन्धु को धर्म में लगाना

सुभाषितकार कहता है- जो तुम्हारा इष्ट है, उसे धर्म के सन्मुख करो-'**इष्टं धर्मेण योजयेत्**।' इस नियमानुसार आचार्यश्री ने अपने पूर्व के स्नेहपात्र को श्रेष्ठ कल्याण की बात कही थी। जनगौंड़ा के पिता कुमगौंड़ा पर भी महाराज का बड़ा प्रेम था। एक दिन महाराज ने मुझसे कहा-''कुमगौंडा का असमय में मरण हो गया। हम उसे ब्रह्मचर्य प्रतिमामात्र दे पाये। हमारा इरादा उसे भी वर्धमानसागर की तरह मुनि बनाने का था। वर्धमानसागर भी पहले गृहस्थी के जाल में था। जिस प्रकार सुनार चाँदी के तार को यंत्र में से जोर से खींचता है, उसी प्रकार हमने उसे संयम की ओर खींचकर लगाया है।''

इस दृष्टि से महाराज ने जनगोंडा को मुनि बनने को कहा था।

जनगौंड़ा ने कहा था-''महाराज ! कुछ वर्षों की साधना के पश्चात् मुनि बनने की मैं प्रतिज्ञा करता हूँ।''

पश्चात् महाराज ने जनगौंड़ा की स्त्री लक्ष्मीदेवी को बुलाकर पूछा था-''यदि यह मुनि बनता है तो तुमको कोई आपत्ति तो नहीं है ?''

वह महिला बोली-''महाराज ! कल के बदले यदि वे आज ही मुनि बनना चाहें, तो मेरी ओर से कोई भी रोक-टोक नहीं है।'' यह बात सुनकर उन क्षपकराज को बहुत शांति मिली। महाराज ने उस बाई को व्रत प्रतिमा दी। क्षण भर में वे दम्पत्ति व्रती श्रावक बन गए।

मुनिपद की परम्परा का ध्यान

महाराज ने जनगोंडा से एक बात और कही थी-''तुम मुनि बन जाओ, तो अपने पुत्र को भी आगे मुनिपद धारण करने को कहना न भूलना। अपने घराने में मुनिपद धारण करने की परम्परा बराबर चलती जावे, यह ध्यान रखना।''

इस वर्णन को बाँचते समय वाचक के हृदय में ऐसा ही लगेगा, मानों वह ऐसे काल में पहुँच गया है, जहाँ संयम की सुधाधारा से समाज का हृदय धुला करता था। और महापुण्यशाली तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि श्रेष्ठ पुरुषों का सद्भाव था। कर्म का विपाक विचित्र होता है। श्रीजनगोंडा पाटील का सन् १९५९ में स्वर्गवास हो गया। वे मुझसे कहते थे कि शास्त्राध्ययन हेतु मैं मोरेना जाकर शीघ्र दीक्षा लेने की तैयारी कर रहा हूँ।

महाराज की प्रत्येक चेष्टा संयम को प्रेरणा प्रदान करती थी। उनके विनोद में भी आत्मा को प्रकाशदायिनी सामग्री मिला करती थी। २८ अगस्त को क्षु. सिद्धासगरजी की दीक्षा हुई थी। नवीन क्षु. जी ने महाराज के चरणों में आकर प्रणाम किया और महाराज से क्षमायाचना की।

महाराज बोले-"भरमा ! तुमको तब क्षमा करेंगे, जब तुम निर्ग्रन्थ दीक्षा लोगे।"

विनोद में संयम की प्रेरणा

ऐसी ही कल्याणदायिनी मधुर वार्ता एक कोल्हापुर के भक्त की है। उनका नाम बाबूराव मार्ले है। सम्पन्न होते हुए संयम पालना और संयमियों की सेवा-भक्ति करना उनका व्रत है। वे दो प्रतिमाधारी थे। वारसी से महाराज कुंथलगिरि को आते थे। महाराज का कमण्डलु हाथ में लेकर गुरुदेव के पीछे-पीछे चला करते थे। एक बार वे महाराज का कमण्डलु उठाने लगे, तो महाराज ने कह दिया-"तुम हमारे कमण्डलु को हाथ मत लगाना। उसे मत उठाओ।" ये शब्द सुनते ही मार्ले चकित हुए।

महाराज कहने लगे-"यदि दीक्षा लेने की प्रतिज्ञा करने का इरादा हो, तो कमण्डलु लेना, नहीं तो हम अपना कमण्डलु स्वयं उठावेंगे।"

वे भाई विचार में पड़ गए। महाराज के पवित्र व्यक्तित्व ने उस आत्मा के अंत: करण पर प्रभाव डाला। वे बोले-"महाराज ! कुछ वर्षों के बाद अवश्यमेव मैं क्षुल्लक की दीक्षा लूँगा। महाराज को सन्तोष हुआ।

कुतर्क का समाधान

यहाँ कोई यह कुतर्क कर सकता है, कि महाराज का ऐसा आग्रह करना अच्छा नहीं लगता। जिनको संयम या व्रत लेना होगा, वे स्वयं लेंगे। ऐसी प्रेरणा तथा आग्रह ठीक नहीं है।

शान्तभाव से विचार करने पर विदित होगा कि सन्मार्ग पर चलने के हेतु जीव को प्रेरणा देना आवश्यक है। पतन की ओर किसी को उपदेश की जरूरत नहीं पड़ती है। जल की धारा स्वत: नीचे की ओर जाती है, उसे ऊँचा उठाने के लिए और ऊपर की भूमि पर पहुँचाने के लिए विशेष बल तथा शक्ति की आवश्यकता पड़ा करती है। यही हाल जीव

की परिणति का है। उसे ऊर्ध्वमुखी बनाने के लिए सत्प्रयत्न तथा उद्योग अत्यन्त आवश्यक है। इस कारण वे सदा धर्मोपदेश दिया करते थे।

मार्मिक दृष्टि

एक बात और है, महाराज में यह विशेषता थी कि आदमी की सूरत देखकर उसे पूर्णतया पहिचान जाते थे। इस प्रवीणता के कारण अंत:करण पात्र-अपात्र का पहले ही विचार कर लिया करता था। पंजाब प्रान्त के एक शास्त्रीजी सुनाते थे-"मैं महाराज के पास गया। मैंने उनसे ब्रह्मचर्य प्रतिमा देने की प्रार्थना की। मुझे कई दिन तक लगातार उनके पीछे पड़ना पड़ा, तब योग्य मुहूर्त में गुरुदेव ने मुझे उक्त व्रत देकर मेरा जीवन मंगलमय बनाया।" मैंने भी देखा कि महाराज व्यक्ति की शक्ति, अवस्था, पात्रता आदि का भली प्रकार पूर्ण विचार करके ही व्रतादि देते थे।

एक समय एक व्यक्ति बड़ा व्रत माँग रहा था, किन्तु महाराज ने उसे छोटा व्रत दिया। मैंने कहा-"महाराज ! आपने ऐसा क्यों किया ? उसके भाव ऊँचे थे, तो आपको इच्छानुसार बड़ा व्रत देना था।"

जीव का कल्याण लक्ष्य हो

महाराज बोले-" उसकी अन्तरग स्थिति को हम जानते हैं। वह बड़े व्रत का निर्वाह नहीं कर सकेगा। जबरदस्ती व्रत लेकर उसको भंग करेगा। इससे उसकी आत्मा का अहित हो जायगा। हमें ऐसा काम करना है, जिससे उस जीव की भलाई तथा उत्कर्ष हो।" इस कथन पर हमारे पूज्य साधुओं को विशेष ध्यान देना स्व तथा पर का हितकारी रहेगा।

सप्तम प्रतिमा धारण

उक्त बाबूरावजी मार्ले ने महाराज का कमण्डलु उठा लिया, तब महाराज बोले- "देखो ! क्षण भर का भरोसा नहीं है। कल क्या हो जायगा यह कौन जानता है। तुम आगे दीक्षा लोगे, यह ठीक है किन्तु बताओ ! अभी क्या लेते हो।"

उक्त व्यक्ति की अच्छी होनहार होने से उसने कह दिया-"महाराज, मैं सप्तम प्रतिमा लेता हूँ।"

महाराज ने कहा-"अच्छा"। उन्होंने महाराज के चरणों को प्रणाम किया। महाराज ने पिच्छि सिरपर रखकर अपना पवित्र आशीर्वाद दिया। छोटे-से विनोद का इतना मधुर पवित्र परिपाक हुआ। एक व्यक्ति धन-वैभव के होते हुए भी गुरुदेव के प्रसाद से ब्रह्मव्रती हो गया।

ओजपूर्ण वाणी

महाराज की वाणी में बड़ा बल था। संयम को धारण न करने वाला भी हृदय से संयम का भक्त बन जाता था और उसके मन में भी संयम के प्रति हार्दिक ममता और प्रगाढ़

अनुराग जागृत हो जाता ता। अत्यन्त परिचित ब्र. बंडू को महाराज कहते थे-"अरे! तू सन्यासी हो जा। मरे साधु का कलेवर और प्राणधारी गृहस्थ समान हैं। इतना ही नहीं, साधु का मृत देह जो काम करता है, वह गृहस्थ भी नहीं करता है। मेरे पीछे तुझे कोई और कहने को आने वाला नहीं है। पीछी धारण कर मरो। ऐसे ही मत मरना। आत्मकल्याण करने के कार्य में रुको मत। मेरा बेटा है, भाई है, धन है, आदि की बात मत सोचो।"

अनुभूतिपूर्ण कथन

महाराज की यह वाणी बहुत गहरी अनुभूति को प्रदर्शित करती है-"अरे! निर्दयी होकर घर छोड़ना पड़ता है। निर्दय हुए बिना घर नहीं छूटता है। मेरे पीछे घर में सम्पत्ति रहेगी या नहीं रहेगी, यह ख्याल भी मत करो। घर के व्यक्तियों का पुण्य होगा, तो रहेगी। पुण्य नहीं होगा, तो सम्पत्ति नहीं रहेगी। लक्ष्मी पुण्य की दासी है।"

भीरु स्वभाव वालों के प्रति उपेक्षा

उनके ये वाक्य भी सत्य हैं-"जो व्रत लेने वाले नहीं हैं, उनको हम नहीं कहते हैं। इसमें हमारा धन व्यर्थ में जाता है। ऐसों से हम नहीं बोलते।" व्रती की वीर से तुलना करते हुए पूज्यश्री कहते थे-"डरपोक आदमी, हरिण और गाँव की चिड़िया अपना स्थान छोड़कर बाहर नहीं जाते हैं। वीर व्यक्ति अपना स्थान छोड़कर बाहर जाता है।"

वाहन में बैठनेवाले साधुओं को इशारा

जो साधु बनकर भी रेलगाड़ी आदि का मोह नहीं छोड़ते थे, उनके बारे में विनोदपूर्ण भाषा में आचार्य महाराज कहते थे-"हम तो दरिद्र साधु हैं। हमें पैदल गमन किए सिवाय साध्य नहीं है। इसके सिवाय गत्यंतर नहीं है। रेल में जाने वालों को तो विद्या सिद्ध है। वे क्षण भर में यहाँ से वहाँ चले जाते हैं। अन्य धर्म के साधु भी तो रेल में नहीं बैठते और पैदल चलते हैं किन्तु यहाँ के साधु वाहन का उपयोग करते हैं, उनको क्या कहना ?"

लोकोत्तर मनोभाव और वैराग्य

आचार्यश्री का हृदय लोकोत्तर था। उनकी मुद्रा क्षणभर में भी गम्भीर बन जाती थी। उनकी परिणति में विकार नहीं रहता था। एक समय मुनि वर्धमान स्वामी ने महाराज के पास अपनी प्रार्थना भिजवायी-"महाराज! मैं तो बानबे वर्ष से अधिक का हो गया। आपके दर्शनों की बड़ी इच्छा है। क्या करूं ?" इस पर महाराज ने कहा-"हमारा वर्धमानसागर का क्या सम्बन्ध ? गृहस्थावस्था में वह हमारा बड़ा भाई रहा है, सो इसमें क्या ? हम तो सब कुछ त्याग कर चुके हैं। पंच परावर्तन रूप संसार में हम अनादिकाल से घूमे हैं। उसमें सभी जीव हमारे भाई-बन्धु रह चुके हैं। ऐसी स्थिति में किस-किस को भाई, बहिन, माता, पिता मानना। हमको तो सभी जीव

समान हैं। हम किसी में भी भेद नहीं देखते हैं। ऐसी स्थिति में वर्धमानसागर बार-बार हमें क्यों दर्शन के लिये कहता है।''

उस व्यक्ति ने बुद्धिमत्तापूर्वक कहा-''महाराज ! वे आपके दर्शन अपने भाई के रूप में नहीं करना चाहते हैं। आपने उन्हें दीक्षा दी है, अत: वे अपने गुरु का दर्शन करना चाहते हैं।''

महाराज बोले-''यदि ऐसी बात है, तो वहाँ से ही स्मरण कर लिया करे। यहाँ आने की क्या जरूरत है ?''

कितनी मोहरहित, वीतरागपूर्वक परिणति आचार्यश्री की थी। विचारवान् व्यक्ति आश्चर्य में पड़े बिना न रहेगा। जहाँ अन्य त्यागी लौकिक सम्बन्धों और पूर्व सम्पर्कों का विचार कर मोही बन जाते हैं। वहाँ आचार्यश्री अपने सगे ज्येष्ठ भाई के प्रति भी आदर्श वीतरागता का रक्षण करते थे। वास्तव में वे पवित्र साधु थे। उनकी साधुत्व की कल्पना प्रारम्भ से ही उज्ज्वल थी। उनमें हीन संस्कार, हीन प्रवृत्तियों का लेश भी न था। वे अद्भुत मनस्वी मुनीश्वर थे। संयमविरोधी भी उनको देख प्रभावित होता था।

दातार को चेतावनी

सन् १९२५ की बात है। उस समय पूज्यश्री नसलापुर में विराजमान थे। मुनि नेमिसागरजी उस समय गृहस्थ थे। उनके हृदय में सत्य, श्रद्धा और सद्गुरु के प्रति निर्मल भक्ति का भाव नहीं उत्पन्न हुआ था।

श्री नेमण्णा ने महाराज से पूछा था-''साधु किसको कहते हैं ?''

महाराज ने कहा था-''जिनके पास परिग्रह न हो, कषाय न हो, दुनिया की झंझटें न हों, जो स्वाध्याय-ध्यान में लीन रहता हो, उसे साधु कहते हैं।''

धन के लालची साधुओं का वर्णन करते हुए महाराज ने कहा था-''ऐसे भी साधु बहुत होते थे, जो पैसा रखते थे। कमण्डलु में पैसे डलवाते थे। ऐसे साधु को पैसा देने वाला पहले दुर्गति को जाता है। तुम पैसा देकर के पहले स्वयं क्यों दुर्गति को जाते हो ?'' इससे आचार्यश्री की स्फटिक सदृश विशुद्ध दृष्टि स्पष्ट होती है। कोई गृहस्थ साधु के हितशत्रु किन्तु भक्तरूपधारी बनकर उनको रागादिवर्धक सामग्री देते हैं। इस धर्मविरुद्ध कार्य से ऐसे दातार कुगति में जाते हैं।

गंभीर समाधान

कुंथलगिरि आते समय मार्ग में महाराज से एक सुन्दर प्रश्न पूछा गया था, ''महाराज ! सुकुमाल मुनि का शरीर जब श्रृंगाली खा रही ती, तब उनको कष्ट होता था या नहीं ?''

महाराज बोले, ''ध्यान की निमग्नता में बाहर की स्थिति का पता नहीं चलता है। जब

मैं ध्यान करने बैठूँगा, तब तुम चाकू से मेरी अँगुली आदि काट करके देखोगे तो उस समय मुझे पता नहीं चलेगा।''

आगमानुसारी आचरण

प्रश्न-''महाराज ! आप तो महान् साधु हैं। आपके समक्ष रहने से सभी साधुओं का निर्वाह होता रहा है, आपके पश्चात् साधुओं का कैसे निर्वाह होगा ?

उत्तर-''जैसा आगम में कहा गया है, उसके अनुसार जो भी साधु चलेगा, उसकी रक्षा धर्म के द्वारा होगी। धर्माराधक की विपत्ति धर्म के प्रभाववश नियम से दूर होती है।''

इस वसुधातल पर पाए जाने वाली उनकी आत्मा लोकोत्तर थी, यह बात शत्रुभाव धारण करने वाला दुर्जनों का शिरोमणि भी स्वीकार करेगा। उनकी आत्मा भेदविज्ञान की दिव्य ज्योति से प्रकाशित थी। शरीर के प्रति आसक्ति या मोह क्या कहलाता है, यह बात उनमें तनिक भी नहीं थी। उनकी तत्त्वज्ञानी सदृश चेष्टाएँ मुनिपद स्वीकार करने के पूर्व से ही थीं। घर में निवास करते हुए वे सरोवर में विद्यमान सरोज सदृश अनासक्त थे। अब तो ये सर्वपरिग्रह त्यागी महामुनि थे। उनकी महिमा वाणी के अगोचर थी।

पूर्वभवों के संस्कार

सल्लेखना के तीसरे सप्ताह में उन गुरुदेव ने मुझसे कहा था-''हम अपने घर में पाहुने (मेहमान) सदृश रहते थे। हमारा प्रारम्भ से ही किसी के प्रति मोह-भाव नहीं था।''

यह निस्पृहता उनकी जन्म-जन्मान्तर की देन थी। इसी से तो उन्होंने कई बार कहा था-''हम पूर्वभवों में मुनिपद धारण कर चुके हैं, ऐसा हमें लगता है।''

सल्लेखना के समय भी उन साधुराज की वाणी से पुनः उसी कथन का प्रसंगवश समर्थन हुआ। ऐसी पूज्यतम एवं अत्यन्त विशुद्ध आत्मा की साधुत्व की स्थिति में अन्तःकरण वृत्ति की उच्चता का मूल्य बहिरात्मा वृत्ति में निमग्न लोग क्या आँक सकते है ? रत्नत्रय समलंकृत आत्मा की महत्ता को विषयान्ध तथा **'हिये की आँखों से हीन'** आदमी जान नहीं सकता है। जन्मान्ध सूर्य के दिव्य प्रकाश के सौन्दर्य का वर्णन नहीं कर सकता है। फिर भी आचार्यश्री के जीवन की बाहरी बातों से उनकी श्रेष्ठता अधम से अधम व्यक्ति स्वीकार किए बिना नहीं रह सकता ।

सल्लेखना के लिए मानसिक तैयारी

यम सल्लेखना लेने के दो माहपूर्व से ही उनके मन में शरीर के प्रति गहरी विरक्ति का भाव प्रवर्धमान हो रहा था। इसका स्पष्ट पता इस घटना से होता है। कुंथलगिरि आते समय एक गुरुभक्त ने महाराज की पीठ में दाद रोग को देखा। उस रोग से उनकी पीठ और कमर का भाग विशेष व्याप्त था।

दाद की दवा

भक्त ने कहा-"महाराज ! इस दाद की दवाई क्यों नहीं करते ? दवा लगाने से यह शीघ्र दूर हो जायगी।"

महाराज बोले-"अरे ! इसमें बहुत दवाई लगाई गई। तेजाब तक लगाया गया; किन्तु यह बीमारी हमारा पिण्ड नहीं छोड़ती है। हमारे पास एक दवाई है, उसे लगायेंगे तो यह रोग नष्ट हो जायगा और शरीर रोगमुक्त हो जायगा।

भक्त बोला-"अभी दवा क्यों नहीं लगाते ? आगे लगावेंगे, ऐसा क्यों कहते हैं ? बताईये, कौन दवा है ? मैं लगा दूँगा।"

महाराज बोले-" अरे ! वह दवा तू नहीं जानता। मैं उसे दो माह में लगाकर इस शरीर को पूरा ठीक कर दूँगा।"

शरीर में गहरी विरक्ति

इसके अनन्तर महाराज की मुद्रा गम्भीर हो गई और वे कहने लगे-"यह शरीर हमें बहुत दिनों से खूब तंग करने लगा है। पहले दाँतो ने तकरार की झगड़ा किया। वे सब चले गए। इसके बाद आँख ने गड़बड़ शुरु की। धीरे-धीरे एक आँख की ज्योति मन्द हो गई। बाद में दूसरी भी जाने को तैयार हो रही है। देखो ! हमने जीवन में किसी की गुलामी नहीं की। फिर भी इस आँख की खूब दवा की। सुबह-शाम दवा लगाते रहे। दवा लगाते-लगाते हम थक गए। अब शरीर की हमको फिकर नहीं है। थोड़े दिन में समाधि धारण कर इस शरीर को छोड़कर नवीन निरोग और स्वच्छ शरीर धारण करेंगे, तब कमर की दाद वगैरह अपने आप दूर भाग जायगी।"

आचार्यश्री की इस वाणी में उनकी यम-सल्लेखना के बीज अंकुरित पाए जाते थे। गुरुदेव की वाणी सुनकर बेचारा भक्त चुप हो गया। महाराज की अनासक्ति अद्भुत थी।

शरीर में भेद-बुद्धि

एक बार उन्होंने मुझसे सन् १९४६ में कवलाना में पूछा था-"क्यों पंडितजी ! चूल्हें में आग जलने से तुम्हें कष्ट होता या नहीं ?

मैंने कहा-"महाराज ! उससे हमें क्या बाधा होगी। हम तो चूल्हे से पृथक् हैं।"

महाराज बोले-"इसी प्रकार हमारे शरीर में रोग आदि होने पर भी हमें कोई बाधा नहीं होती है" यथार्थ में वे पहिले घर में पाहुने सदृश रहते थे और अहिंसा महाव्रती निर्ग्रन्थराज बनने पर तो वे इस शरीर के भीतर ही पाहुने सदृश हो गये थे। जब देह अपना नहीं है, उसका गुण, धर्म आत्मा से पृथक् है तब देह के अनुकूल या विपरीत परिणमन होने पर सम्यग्ज्ञानी सत्पुरुष क्यों राग या द्वेष धारण करेगा ? यह तत्त्व बौद्धिक स्तर (Intellec-

tual level) पर तो प्रत्येक विचारक के चित्त में जँच जाता है, किन्तु अनुभूति की दृष्टि से जब तक सच्चा सम्यग्दर्शन अन्त:करण में आविर्भूत नहीं होता है, और चारित्रमोह, मद नहीं होता है, तब तक इस जीव की प्रवृत्ति नहीं होती है। शास्त्र में इस कलिकाल में सम्यक्त्वी की संख्या दो चार कही है। यह कथन ऐसी आत्माओं को लक्ष्य करके ही कहा है। सम्यक्त्व की बातें करने वाले हजारों मिल जाएँगे। बातें बनाने में क्या कुछ लगता है ?

सल्लेखना का निश्चय

सल्लेखना करने का निश्चय उन्होंने गजपंथा में ही सन् १९५१ में किया था; किन्तु यम-सल्लेखना को कार्यरूपता कुंथलगिरि में प्राप्त हुई थी। महाराज ने सन् १९५२ में बारामती चातुर्मास के समय पर्यूषण में मुझसे कहा था कि-"हमने गजपंथा में द्वादशवर्ष वाली सल्लेखना का उत्कृष्ट नियम ले लिया है। अभी तक हमने यह बात जाहिर नहीं की थी। तुमसे कह रहे हैं। इसे तुम दूसरों से भी कहना चाहो, तो कह सकते हो।" इसके बाद से महाराज की संयम साधना, उपवासादि बड़े उग्र रूप से हो चले थे।

कुंथलगिरि चातुर्मास

सन् १९५३ में अर्थात् सल्लेखना से दो वर्ष पूर्व कुंथलगिरि में उनका चातुर्मास था, तब उनके उपवास बृहत् रूप में चल रहे थे। मैं व्रतों में पहुँचा, तो क्या देखता हूँ कि पंचमी से महाराज ने पाँच दिन का मौन और पंच उपवास का नियम कर लिया है। मैंने महाराज से कहा-"आपके चरणों में लाभ लेने की लालसा से भारत के बड़े-बड़े स्थानों के निमंत्रण को छोड़कर आपकी सेवा में सदा की भाँति आया हूँ। आपका मौन देखकर में चकित-सा हो गया। कम-से-कम धर्मशास्त्र की चर्चा के लिए तो मौन का बन्धन न हो।"

पाँच दिन पश्चात् महाराज ने आहार किया और पुन: पाँच उपवास की प्रतिज्ञा कर ली; किन्तु इस समय उन्होंने मौन नहीं लिया। महाराज बोले-"हमने सोचा, पंडित, इतनी दूर से हमारे पास आया है। तुम्हारा ख्याल करके हमने मौन नहीं लिया ।"

मैंने उनके पावन चरणों को प्रणाम किया और कहा-"महाराज ! आपने बड़ी दया की। इससे शेष व्रत के काल में आपके अमूल्य अनुभवों का लाभ सबको मिल सकेगा।"

महाराज ने अपनी तपस्या का कारण समाधिमरण की तैयारी बताया था। इसके पश्चात् मैंने 'भगवती आराधना' ग्रंथ को ध्यानपूर्वक पढ़ा, तब ज्ञात हुआ, कि आचार्य महाराज की नैसर्गिक प्रवृत्ति पूर्णतया शास्त्रसंगत रही थी। उनकी चर्या को देखकर शास्त्र के कठिन प्रश्नों का समाधान प्राप्त होता था।

मुनिपद के लिए आदर्श

महापुराण में सम्राट भरत के विषय में कथित जिनसेन स्वामी की एक बात इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। भरतेश्वर का चरित्र तथा उस महापुरुष की शरीर-रचना आदि को विविध शास्त्रपारंगत लोग प्रत्यक्ष देखकर अपना-अपना संशय दूर किया करते थे :

भरतेश्वर मूर्तिमान आयुर्वेद शास्त्र के समान दिखते थे-"**आयुर्वेदोनुमूर्तिमान्**"-(महापुराण, ४१-१४५)

और भी कहा है (महापुराण, ४१-१५०) :

अन्येष्वपि कला-शास्त्र-संग्रहेषु कृतागमाः।
तमेवादर्शमालोक्य संशयांशाद् व्यरंसिषुः॥

शास्त्रज्ञ लोग पूर्वोक्त शास्त्रों के सिवाय अन्य कलाशास्त्रों के संग्रह में भरतेश्वर को ही दर्पण समान देखकर संशय विमुक्त होते थे। भरतराज का स्वयं का जीवन कलावेताओं के लिए आदर्शवत् था।

इसी प्रकार यह कथन उचित है कि मुनि धर्म के शास्त्रों को पढ़ते समय आचार्य महाराज की प्रवृत्ति का विचार करते ही शंका दूर हो जाती थी। महाराज की प्रत्येक चेष्टा शास्त्र के विरुद्ध नहीं थी। वे आगम रूपी नेत्र से देखकर प्रवृत्ति करते थे। कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचनसार, गाथा २३४ में कहा है :

साधुओं के नेत्र आगम हैं, जीवों के चक्षु नेत्र हैं, देवों के चक्षु अवधिज्ञान है, सिद्ध सर्वतः चक्षु हैं।

न्यायपक्ष ग्रहण

ऐसी पुण्य जीवनी होते हुए भी दूसरे व्यक्ति की युक्तिपूर्ण बात तो स्वीकार करने में वे संकोच नहीं करते थे। महत्ता इस बात में नहीं है कि यदि मुख से अयोग्य बात निकल गई हो, तो उसको ही ठीक सिद्ध करने में अपने पांडित्य का प्रदर्शन किया जाय। वे आत्मशोधक महात्मा थे।

भ्रान्त विचार

किन्हीं-किन्हीं की यही धारणा रहती है कि मुख से जो भी बात निकल जाय, उसे ही ठीक सिद्ध करने में पांडित्य की प्रतिष्ठा है। एक समय महाराष्ट्र के एक बड़े नगर में महाराज विराजमान थे। मैं पर्यूषणपर्व में वहाँ तत्त्वार्थसूत्र पर विवेचन करता था। शास्त्र की एक शंका का ठीक समाधान मेरे ध्यान में नहीं आया। मैंने कहा-"इस विषय में मैं अभी कुछ नहीं कह सकता, पीछे शास्त्र देखकर कुछ कह सकूँगा।"

मेरे इस व्यवहार को देख शास्त्र के समाप्त होने पर एक वृद्ध शास्त्रीजी बहुत अप्रसन्न

हुए और कहने लगे-"पंडिताई की रक्षा के लिए तुम्हें कुछ भी उत्तर देकर उसका समर्थन करना चाहिए था।"

मैंने नम्रता से कहा-"पंडितजी ! मुझमें ऐसी पंड़िताई इसलिए नहीं है कि मैं यथार्थ में आप लोगों के समान पंडित नहीं हूँ, मैंने अंग्रेजी पढ़कर वकालत भी पास की है। आचार्य महाराज ने कहा था-**अन्याय पक्ष का पोषण पांडित्य का दूषण है, भूषण नहीं।**"

विचारपूर्ण प्रवृत्ति

आचार्य महाराज का कवलाना में दूसरी बार चातुर्मास हो रहा था। अन्न परित्याग के कारण उनका शरीर बहुत अशक्त हो गया था। उस समय उनकी देहस्थिति चिंताप्रद होती जा रही थी। एक दिन महाराज आहार के लिए नहीं निकल रहे थे। मैं उनके चरणों में पहुँचा।

महाराज बोले-"आज हमारा इरादा आहार लेने का नहीं हो रहा है।"

मैंने प्रार्थना की-"महाराज ! ऐसा न कीजिए। शरीर कमजोर है। चर्या को अवश्य निकलिये। यदि शरीर को थोड़ा जल भी मिल जायगा, तो ठीक रहेगा। यह शरीर रत्नत्रय साधन में सहायता देता है, इसलिए इसके रक्षण का उचित ध्यान आवश्यक है।"

मेरे आग्रह करने पर महाराज ने विचार बदल दिया और क्षण भर में वे चर्या को निकल गये थे। कुन्दकुन्द स्वामी ने रयणसार में कहा है :

बहुदुक्खभायणं कम्मकारणं विण्णमघणो देहो
तं देहं धम्माणुट्ठाणकारणं चेदि पोसए भिक्ख॥ ११६ ॥

अर्थ : शरीर अनेक दुःखों का भण्डार है। कर्मबंध का कारण है, आत्मा से भिन्न है। उस शरीर का साधु धर्मानुष्ठान का निमित्त कारण होने से इसे आहारग्रहण द्वारा पोषण प्रदान करते हैं।

इस आगम के प्रकाश में क्षीण शरीर आचार्य महाराज का आहार हेतु जाना पूर्णतया उपयुक्त था।

संशोधन में तत्पर

मैंने देखा है कि विरुद्ध पक्ष की युक्तियुक्त बात को वे प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार करते रहे। उनके मुख से मैंने बहुत बार यह सुना था-"यदि बालक भी हमें हमारी भूल बतायेगा, तो हम भूल को स्वीकार कर लेंगे।" माता सत्यवती से प्रसूत साधुराज की ऐसी प्रवृत्ति पूर्णतया स्वाभाविक तथा उचित भी थी ।

उनकी गुणग्रहिता का सुन्दर उदाहरण है।

एक छोटी बालिका गुरुदेव के दर्शन हेतु आई थी।

उससे पूछा गया- "बेटी ! तू किसकी ?"

वह चुप रही। तब पूछा, 'तू काय आई ची आहेस (तू क्या माता की है)?'

उसने कहा-"नहीं।"

फिर कहा-"बापाची (क्या पिता की है) ?"

उसने फिर नहीं कहा ।

फिर पूछा-"किसकी है ?"

उसने कहा, "मी माझी (मैं अपनी हूँ।)"

यह सुनते ही आचार्यश्री बहुत आनन्दित हो बोले-"इस बेटी ने मुझे समयसार सिखाया। वास्तव में यह जीव दूसरे का नहीं है, यह स्वयं अपना है।"

इसके पश्चात् गुरुदेव की इच्छानुसार उस बालिका को उचित पुरस्कार दिया गया था।

महत्त्वपूर्ण वार्तालाप

सत्ताईसवें उपवास के दिन भट्टारक लक्ष्मीसेन स्वामी, कोल्हापुर संस्थान ने आचार्य महाराज से पूछा-"महाराज ! शान्ति तो है ?"

महाराज-"पूर्ण शांति है, शरीर में भी शान्ति है।"

भट्टारक-"आप पुण्यवान् हैं। आपके पुण्य-प्रभाव से ही शांति है।"

महाराज-"बाबा ! हमारा पुण्य नहीं है। भगवान् देशभूषण कुलभूषण के प्रभाव से ऐसा है।" ऐसी पवित्र श्रद्धा गुरुदेव की थी।

दानवीर श्री भूमकर बारसी

कुंथलगिरि में आने वाले हजारों भाई ऐसे थे, जो अकेले आते थे। उनके भोजन का प्रबन्ध करने की उदारता बारसी के उदारहृदय विवेकी तथा दानशूर सेठ बालचंद लालचंद भूमकर ने की थी। श्री भूमकर की दानशीलता सचमुच में अपूर्व थी। श्रेष्ठ साधुराज शांतिसागर महाराज की सल्लेखना अलौकिक थी। उन गुरुदेव के दर्शनार्थ हजारों भाई आते-जाते थे। श्री भूमकर ने यह सूचना कर दी थी कि जिन भाई का प्रबन्ध न हो, वे सब हमारे खास भोजनालय में पधारकर भोजन करें। यह बुद्धिमत्तापूर्ण दानशीलता सराहनीय है। यह सामयिक विवेकपूर्ण दान अविवेकपूर्ण विपुल, लोकप्रशंसित दान की अपेक्षा बहुत ऊँचा और श्रेयोनुबंधी कार्य था। द्रव्यों के प्रमाण पर दान की उच्चता निर्भर नहीं रहती है। आज तो संघपति के दान का गौरवपूर्वक स्मरण किया जाता है उसका कारण उसके द्वारा सम्पन्न होने वाला श्रेष्ठ कार्य था। श्री भूमकर ने बहुत ही समयोचित तथा आदर्श कार्य किया था। इस सम्बन्ध की चर्चा भट्टारक जिनसेन स्वामी ने आचार्य महाराज से की, तब महाराज बोले-"बहुत पुण्य का काम किया है। अन्नदान से जीव सुखी होता है।"

पूज्यपाद स्वामी ने उपासकाचार शास्त्र में कहा है-

ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः।
अन्नदानात् सुखी नित्यं, निर्व्याधिर्भेषजाद्भवेत्॥

आत्महित में सर्वदा सजग

मैंने सल्लेखना के बीसवें दिन सुयोग पाकर कहा-"महाराज! समंतभद्र स्वामी ने स्वयंभूस्त्रोत में एक बड़ी सुन्दर बात कही है। शीतलनाथ भगवान् की स्तुति में वे कहते हैं कि- भगवन्! जगत् के प्राणी अपनी आजीविका तथा सुखोपभोग के योग्य सामग्री का अर्जन करने में दिन व्यतीत करके रात को श्रान्त हो सो जाते हैं, किन्तु आप दिन-रात प्रमाद का त्याग कर आत्महित के विशुद्ध पथ में सजग रहते हैं। इसी प्रकार आप भी चौबीसों घंटे आत्मकल्याण में निमग्न रहते हैं। धन्य है आपका जीवन और आपकी आत्मसाधना।"

अपने विषय में

महाराज बोले-"हमारा शरीर बहुत चलने वाला था। आँख ने गड़बड़ी कर दी। संयम निर्दोष पालने में विघ्न देखकर हमें समाधि धारण करनी पड़ी।"

इतने में एक भाई ने कह दिया-"महाराज! आप तो तीर्थंकर होंगे।"

महाराज बोले-"तीर्थंकर हों या केवली हों कुछ भी हों। मोक्ष मिलेगा, तो ठीक है।" कुछ क्षण के पश्चात् गुरुदेव बोले-"हमें उसकी भी लालसा नहीं है।"

कुछ प्रमादी अकर्मण्य बन धर्मतीर्थंकर बनने का स्वप्न देखते हैं। आचार्यश्री परम पुरुषार्थी बनकर जीवन-शोधन करते हुए मोक्ष पुरुषार्थ के लिए उद्योगशील रहते थे।

महाराज का शरीर

मैंने कहा-"महाराज! आपका यह शरीर हमारी दृष्टि से कल्याणदायी तथा ममत्व की वस्तु तो है ही, यह आपके लिए भी उपेक्षा का पात्र नहीं है। यह रत्नत्रय का साधक शरीर जब तक रहेगा, तब तक आपका महाव्रती का जीवन है। आप छठवें, सातवें गुणस्थान का आनन्द लेते रहेंगे। इसे छोड़ने में शीघ्रता की, तो आपकी भी हानि है। आपको अविरत नाम का चतुर्थ गुणस्थान प्राप्त होगा। अतः आपको जल ग्रहण नहीं छोड़ना चाहिए।"

महाराज-"हमने जल का त्याग कहाँ किया है?"

मैंने कहा-" आपने ४ दिन से जल लेना बंद कर दिया है। इससे सब लोग चिंतामग्न हो गए हैं। आगे जल लेने की हमारी प्रार्थना पर अवश्य ध्यान दीजिये।"

जल परित्याग का हेतु

हमारा तर्क तो महाराज को अनुकुल.लगा, किन्तु अब जल लेना सामान्य बात

नहीं थी। महाराज की क्रियाएँ अन्त तक आगम के अनुसार ही रही हैं। कोई सोच सकता है कि वे बैठे-बैठे कुटी के भीतर जल ले सकते थे, किन्तु ऐसी बात साधुओं के शिरोमणि शांतिसागर महाराज के विषय में नहीं सोचना चाहिए। डरकर या घबड़ाकर जिनेन्द्र की वाणी के विरुद्ध प्रवृत्ति करना उनके जीवन में तो क्या स्वप्न में भी नहीं पाया गया। जलग्रहण करने के लिए वे उसी प्रकार शरीर शुद्धि करने जाते थे, जैसे समाधि के पूर्व में जाया करते थे। वे पूर्ववत् ही नवधा भक्ति होने के बाद खड़े-खड़े अंजुलि में उष्ण जल लेते थे। शरीर इतना अशक्त हो गया था कि कम से कम दस मिनिट पर्यन्त शारीरिक श्रम के पश्चात् शुद्ध जल की दो-चार अँजुलियाँ लेना असंभव हो गया था। जल लेने में उनकी जितनी शक्ति का व्यय होता था, उसका बहुत अल्प अंश जलग्रहण द्वारा उनको प्राप्त होता था। इन अनेक बातों को सोचकर उन विवेकमूर्ति मुनिनाथ ने आगे जल नहीं लिया। संघ भक्त शिरोमणि सेठ गेंदनमलजी ने सन् १९७१ के हमारे बंबई में पर्यूषण के समय उपरोक्त बात का समर्थन किया।

तेजपुञ्ज शरीर

उनका शरीर आत्मतेज का अद्भुत पुञ्ज दिखता था। ३० से भी अधिक उपवास होने पर देखने वालों को ऐसा लगता था, मानो महाराज ने ५-१० ही उपवास किये हो। उनके दर्शन से जड़वादी मानव के मन में आत्मबल की प्रतिष्ठा अंकित हुए बिना नहीं रहती थी।

देशभूषण-कुलभूषण भगवान् के अभिषेक का जब उन्होंने अंतिम बार दर्शन किया था, उस दिन शुभोदय से महाराज के ठीक पीछे मुझे खड़े होने का सौभाग्य मिला था।

मैं महाराज के सम्पूर्ण शरीर को ध्यान से देख रहा था। उनके शरीर के तेज की दूसरों के शरीर से तुलना करता था। तब उनकी देह विशेष दीप्तियुक्त लगती थी। मुख मण्डल पर तो आत्मतेज की ऐसी ही आभा दिखती थी, जिस प्रकार सूर्योदय के पूर्व प्राची दिशा में विशेष प्रकाश दिखता है। उनके हाथ, पैर, वक्षःस्थल उस लंबे उपवास के अनुरूप क्षीण नहीं लगते थे, फिर भी दो माह से महान् तपस्या के कारण क्षीणतायुक्त शरीर और उस पर यह महान् सल्लेखना का भार, ये तब अद्भुत सामग्री का विचार, आत्म-शक्ति और उस तेज को स्पष्ट करते थे।

अभिषेक दर्शन

मैंने देखा, कि महाराज एकाग्रचित्त हो जिनेन्द्र भगवान की छवि को ही देखते थे। इधर-उधर उनकी निगाह नहीं पड़ती थी। मुख से थके माँदे-व्यक्ति के समान शब्द नहीं निकलता था। तत्त्वदृष्टि से विचार किया जाय, तो कहना होगा कि शरीर तो पोषक

सामग्री के अभाव में शक्ति तथा सामर्थ्यरहित हो चुका था, किन्तु अनन्तशक्तिपुञ्ज आत्मा की सहायता उस शरीर को मिलती थी, इससे ही वह टिका हुआ था। और आत्मदेव की आराधना में सहायता करता था।

सल्लेखना के ३० वें उपवास के लगभग महाराज ने मंदिर जाकर भगवान् के दर्शन कर अभिषेक देखा। अन्तिम क्षण के पूर्व में जिनेन्द्र देव के पंचामृत अभिषेक के गंधोदक को भक्तिपूर्वक ग्रहण किया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि उन आगमप्राण साधुराज की दृष्टि में पंचामृत अभिषेक का अवर्णनीय मूल्य था। इधर श्रेष्ठ समाधि धारणरूप निश्चय दृष्टि और इधर जिनेन्द्र भक्ति आदि रूप व्यवहार दृष्टि द्वारा आचार्य महाराज की जीवनी अनेकांत भाव को घोषित करती थी।

किन्हीं ने यह धारणा बना ली है कि जिनेन्द्र का अभिषेक जैन संस्कृति के प्रतिकूल है। उन्हें आगम को देखना चाहिए। त्रिलोकसार में लिखा है कि स्वर्ग में जन्मधारण करने के उपरान्त सम्यक्त्वी देव जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक और पूजा करते हैं- **'जिणाभिसेयं पूजं कुव्वतिं सद्दिट्ठी'** (५५२)। ऐसी आगम की देशना के विरुद्ध प्रचार करके समाज का अहित करते हुए उन शास्त्रियों को संकोच नहीं होता। तिलोयपण्णत्ति में भी अभिषेक का कथन है कि नंदीश्वर द्वीप में जाकर देवेन्द्र महान् विभूति के साथ सुवर्णकलशों से भरे सुगन्धित निर्मल जलसे भगवान् का अभिषेक करते हैं (५-१०४)। भगवान् बाहुबली का महाभिषेक भी स्मरण योग्य है। क्षत्रचूडामणि में लिखा है कि जीवंधर स्वामी ने राजपुरी के जिनालय में अभिषेक हेतु गमन किया था (१०-४१)।

उपरोक्त कथन के सिवाय महर्षि पूज्यपाद आदि के ग्रंथों में क्षीरादि से भी अभिषेक का वर्णन आता है। आगम प्राण व्यक्ति को शास्त्रानुसार आचरण करना चाहिए। यदि अभिषेक आगम विरुद्ध होता, तो आचार्य महाराज सल्लेखना काल में उसे देखने में कभी भी प्रवृत्ति न करते। अत: मिथ्याप्रचार से भ्रम में नही पड़ना चाहिए।

शिक्षाग्रहण

आज अपने आपको परम आध्यात्मिक समझने वाले व्यक्तियों को आचार्यश्री के जीवनरूपी मानस्तम्भ के द्वारा अपना अध्यात्मिक ज्ञान का अहंकार दूर करना श्रेयस्कर है। भले आदमी कम-से-कम इतना तो सोच सकते हैं कि जब साधुशिरोमणि शांतिसागर महाराज सदृश सत्पुरुष को जिन-दर्शनादि द्वारा आत्मशुद्धि में सहायता प्राप्त होती थी और इसलिए जीवन भर इन मंगल-प्रवृत्तियों का उन्होंने परित्याग नहीं किया, तब आर्त्त, रौद्रध्यान में निमग्न रहने वाला साधारण श्रेणी का व्यक्ति, जो प्राय: आरम्भ और विषयों की सेवा में काल व्यतीत किया करता है, यदि जिन-दर्शन पूजा आदि व्यवहार-धर्म छोड़ता है अथवा उसका तिरस्कार करता है तो, आगम के प्रकाश में वह अपने उत्कर्ष

तथा कल्याण के पथ पर कुठाराघात करता है। आज के समय में, समाज के मध्य निश्चय और व्यवहार-पक्ष की रस्सा-खिंचाई के संघर्ष में, आचार्य शांतिसागरजी की जीवनी पूर्ण समाधानप्रद सामग्री प्रस्तुत करती है।

मुनिबन्धु को संदेश

उस समय ६२ वर्ष की वय वाले मुनिबन्धु चारित्रचूड़ामणि श्री १०८ वर्धमान सागर महाराज के लिये पूज्यश्री ने संदेश भेजा था कि-"अभी १२ वर्ष सल्लेखना के ६-७ वर्ष तुम्हारे शेष हैं। अतः कोई गड़बड़ मत करना। जब तक शक्ति है तब तक आहार लेना। धीरज रखकर ध्यान किया करना। हमारे अंत पर दुःखी नहीं होना और परिणामों में बिगाड़ मत लाना। शक्ति हो तो समीप में विहार करना। नहीं तो थोड़े दिन शेडवाल बस्ती में और थोड़े दिन शेडवाल के आश्रम में समय व्यतीत करना। अपने घराने में पिता, पितामह आदि सभी सल्लेखना करते आये हैं, इसी प्रकार तुम भी उसी परम्परा का रक्षण करना। इससे स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त होता है। अच्छे भाव से ध्यान करते गए, तो स्वर्ग मिलेगा, मोक्ष मिलेगा, इसमें संदेह नहीं है।"

भट्टारक युगल को उपदेश

कुंथलगिरि में आचार्यश्री के समीप भट्टारक लक्ष्मीसेनजी कोल्हापुर मठ वाले थे। भट्टारक जिनसेन स्वामी भी सदा की भाँति गुरुदेव की सेवा में विद्यमान रहते थे। एक दिन पूज्य महाराज ने दोनों भट्टारकों को यह महत्वपूर्ण बात कही थी, "धर्म का रक्षण करो, समाज का रक्षण करो और साधु-संतों का रक्षण करो।"

भट्टारक लक्ष्मीसेनजी का अब निर्ग्रन्थ होने के उपरांत स्वर्गवास हो गया।

श्रद्धा, स्वाध्याय, प्रचार

आचार्यश्री ने यमसल्लेखना लेते हुए तीन बड़ी महत्वपूर्ण बातें कही थी-"१. जिनेन्द्र भगवान् की वाणी पर विश्वास करो। २. स्वाध्याय का प्रचार करो।" उक्त दोनों बातों के सिवाय उन महापुरुष ने यह भी कहा था कि-"३. जैनधर्म का प्रचार करो।" आचार्य महाराज की उपरोक्त तीनों बातें इस युग की दृष्टि से रत्नत्रय सदृश हैं।

आज का युग

आज के युग में जो भी व्यक्ति लक्ष्मी का कृपापात्र बना, या जिसके पास लौकिक ज्ञान का थोड़ा सा अंश आया, वह अहंकार-मूर्ति तुरन्त ही अपने को महान् ज्ञानी मानकर जिनागमन पर संदेह करना प्रारंभ कर देता है। हमें ऐसे सत्पुरुषों के दर्शन का अनेक जगह सौभाग्य मिला करता है, जो भद्रता के नाते आगम के विषयों से स्वयं को अत्यंत अपरिचित बताते हुए भी उन ऋषि वाक्यों को सदोष कहने में संकोच करते हैं।

स्वच्छ जीवन का पोषण

शास्त्रों से परिचित धन के लोलुपी कुछ भाई भी ऐसे लोगों की हाँ में हाँ मिलाकर वीतरागवाणी को सकलंक बनाने की दु:खद चेष्टा करते हैं। विद्वत्ता का गौरव भूलकर वे लोग द्रव्य के दास बनकर आगम की आज्ञा के लोप करने पर प्राप्त होने वाले नरक तिर्यंच गति के दु:खो को भूलकर अपने मालिकों की स्वच्छंद प्रवृत्ति का पोषण करने लगे हैं। इस स्थिति में उन श्रीमानों की भी परमार्थदृष्टि से बड़ी दुर्गति होती है। कारण धन का मद उनको अपनी मोहमयी वाणी रूपी मदिरा पिलाकर, उनको निरर्गल बना देते हैं। ऐसी स्थिति में यह अत्यंत आवश्यक है कि नर जन्म और श्रावक का कुल पाने वाले व्यक्ति को वीतराग की वाणी के प्रति श्रद्धा धारण करनी चाहिए।

समझदार आदमी जिनागम का जैसा-जैसा व्यवस्थित अभ्यास या स्वाध्याय करता जायगा, वैसा-वैसा उसका विश्वास विशुद्ध होगा । और उनकी श्रद्धा बलवती होती जायगी। पहले लोगों की शास्त्र, स्वाध्याय तथा चर्चा में रुचि रहा करती थी। किन्तु आज लोगों का झुकाव लौकिकता की ओर अधिक रहा करता है। ऐसे लोग शास्त्रों को पढ़कर विषय पोषण की सामग्री खोजते फिरते हैं। समाज के अत्यन्त वृद्ध, करुणाशील, अनुभवी तथा तपस्वी धर्मगुरु ने स्वर्गयात्रा करने के पूर्व जो उक्त बात कही है, उसके अनुसार प्रवृत्ति करना हमारे लिए हितकारी है।

स्वाध्याय प्रचार

दूसरी बात महाराज ने स्वाध्याय-प्रचार की कही थी। आज जनसाधारण के हाथ में जब अल्प मूल्य में उपयोगी साहित्य मुद्रित होकर आवे, तो स्वाध्याय का प्रचार हो; लेकिन ग्रंथ-विक्रेता महाशय जिनवाणी को बहुमूल्य में बेचकर सुखोपभोग की सामग्री इकट्ठी करना चाहते हैं। शास्त्रों को बेचकर धनी बनने वालों की दुखद कथा सुनाते हुए एक अनुभवी समाज-नेता ने बताया था कि ऐसा करने से बहुत से अर्थ-लोलुपी आगम विक्रेताओं पर किस प्रकार से असाता का पहाड़ टूटा है, फिर भी उनकी आँखों पर पट्टी बंधी हुई है, अत: आवश्यक है कि समाज का विचारक वर्ग इस बात की व्यवस्था करे ताकि ज्ञानसंवर्धन तथा जीवन को विमल बनाने वाले जैन-साहित्य कम से कम मूल्य में समाज तथा जनता को प्राप्त हो सके। खेद है कि सम्पन्न लोगों की संस्थाओं में भी शास्त्र द्वारा अर्थार्जन की दृष्टि प्रमुख रहती है। आचार्यश्री ऐसी वृत्ति को अहितकारी सोचते थे। समाज के सहृदय विद्वानों, कार्यकर्ताओं तथा दानियों को ऐसा उद्योग करना चाहिए, जिससे अल्प तथा उचित मूल्य में सुन्दर तथा मनन करने योग्य साहित्य का प्रकाशन सम्भव हो सके। स्व. राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू ने सामायिक जैन-साहित्य के

प्रकाशन तथा प्रचार की इच्छा व्यक्त की थी। जगत् जैन धर्म को जानना चाहता है।

कई लोग बिना आगा-पीछा सोच जघन्य श्रेणी का साहित्य छाप कर उसे बाँटने में धर्म प्रभावना की कल्पना करते हैं। निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने वाले इस सुझाव से सहमत होंगे कि जो भी धर्म प्रभावना करने वाला साहित्य प्रकाश में आवे। उससे स्वार्थ पोषण का सम्बन्ध न हो। तत्त्वार्थराजवार्तिक में अकलंक स्वामी ने लिखा है कि जो शास्त्र को बेचकर अपना स्वार्थसिद्ध करना चाहते है, वे आगे वज्रमूर्ख बने बिना न रहेंगे। हमारा परम कर्तव्य है कि जीव को अनन्त कल्याण प्रदान करने वाली जिनवाणी को जन-जन की वाणी बनावें। जिनवाणी के द्वारा अंतरंग-बहिरंग समृद्धि प्राप्त होती है । ये शब्द ध्यान में रहना चाहिए। जो विशुद्ध मति इस जिनवाणी को अपने मन में धारण करता है वह सुरेन्द्र नरेन्द्र की सम्पत्ति को प्राप्त करता है। केवलज्ञान को भी प्राप्त करता है।

धर्मप्रचार

आचार्य महाराज की तीसरी बात बहुत महत्त्वपूर्ण है-"जैन धर्म का प्रचार करो।" आचार्य महाराज का कथन साम्प्रदायिकता के मोहवश नहीं था। वे जानते थे कि जैन धर्म की रत्नत्रयमयी धर्म देशना के प्रभाव से यह जीवन अनंत संसार के संताप से मुक्त होकर अविनाशी शांति को प्राप्त करके सिद्ध परमात्मा बनता है, इसलिए वे समस्त जीवों के कल्याण की भावना से समाज को कहते हैं- "जैन धर्म का प्रचार करो।" इस युग में एक आत्मा ने महाराज शांतिसागरजी के रूप में रत्नत्रय की आराधना तथा उज्ज्वल तपस्या द्वारा जो वीतराग शासन की प्रभावना की वह लाखों लोग न कर सकें। बड़े-बड़े दानी या विद्वान् भी न कर सके।

सदाचार

इसका रहस्य यह है कि यदि धर्म की प्रभावना करने वाले व्यक्ति सदाचारसम्पन्न हों, सुश्रद्धा समलंकृत हों, अध्ययनशील हों तो उनकी वाणी आज के ज्ञानपिपासु, चिंतनप्रधान जगत् के मन पर प्रभाव डाल सकती है। आज धर्म प्रभावना के लिए उद्यत प्राय: ऐसे सत्पुरुषों के दर्शन होते हैं, जो श्रावक के कर्तव्यों, देवदर्शन, पूजन सदृश कार्यों से पूर्णतया विमुख रहते हैं असंयम का मुकुट उनके मस्तक पर शोभायमान रहता है। अभक्ष्य पदार्थों के सेवन करने की तथा उसे उचित सिद्ध करने की सिद्धहस्तता रहती है। ऐसों से धर्म की प्रभावना होती है, या तिरस्कार होता है, यह विवेक व्यक्ति अपने हृदय पर हाथ रखकर विचार कर सकता है।

कर्तव्य

सद्धर्म की प्रभावना तथा प्रचार के लिए तत्पर व्यक्ति को रत्नत्रय समलंकृत होना

चाहिए। शराब पीने वाला किस प्रकार मद्य-त्याग का उपदेश देकर लोगों को प्रभावित कर सकता है?

अत: यह आवश्यक है कि धर्मप्रचार के योग्य इस युग में समाज वीतरागशासन की लोक में प्रतिष्ठा-वृद्धि निमित्त का निर्माण करें। ज्ञानवान संयम को धारण करें और संयमी व्यक्ति सरस्वती के प्रति विरक्ति का भाव त्याग उसकी आराधना करें, ऐसे लोगों द्वारा ही धर्म का प्रसार होता है। भगवती आराधना में लिखा है-"**श्रेयोर्थिना जिनशासनवत्सलेन-कर्तव्य-एव नियमेन हितोपदेश:**"(कल्याण चाहने वाले जिनशासन के प्रेमी सत्पुरुष को नियम रूप से हित का उपदेश देना चाहिए।)

त्यागियों के लिए विचारणीय

आचार्य शांतिसागर महाराज की धर्मप्रचार की बात त्यागियों के बहुत काम की है। धर्म प्रभावना द्वारा यह जीव तीर्थंकर की पदवी तक को प्राप्त करता है। प्राय: देखने में आता है कि त्यागी लोग व्रत लेने के बाद स्वाध्याय से इस तरह विमुख रहते हैं, जिस प्रकार वे सांसारिक प्रपंच की बातों से अलग रहते हैं। उनमें से कुछ लोगों से बात करने का मौका आया, तो वे शिवमूर्ति साधु को अपना आदर्श बताते हैं, जिन्होंने 'तुष-मास भिन्नं' अर्थात् तुष और उड़द जैसे भिन्न हैं ऐसे ही शरीर और जीव जुदे-जुदे हैं। मात्र ज्ञान द्वारा कैवल्य को प्राप्त किया था। आश्चर्य है कि शास्त्रों से अनुचित स्वार्थ की सिद्धिकी जाती है। उचित तो यह था कि उससे आत्मा के लिये प्रेरणा प्राप्त करनी थी। ऐसे लोग यह भूल जाते हैं कि अभीक्ष्णज्ञानोपयोग के द्वारा यह जीव सुरेन्द्र-वंद्य-जिनेन्द्र की पदवी पाता है। तीर्थंकर बनता है। आर्ष आगम का अभ्यास अकथनीय कल्याणप्रद है।

मिथ्याधारणा

कोई - कोई सम्यक्त्व की चर्चा के विषय में महान् प्रेम दिखाते हुए संयमी के प्रति तिरस्कार की भावना व्यक्त करते हैं और अपना आदर्श अंतर्मुहूर्त में सिद्धि प्राप्त करने वाले चक्रवर्ती भरत को कहते हैं। ऐसे लोग यह स्मरण रखने की कृपा नहीं करते हैं कि चक्रवर्ती भरतसदृश अल्पतम काल में सिद्धि, आदिनाथ भगवान् से लेकर वीर भगवान् तक २४ तीर्थंकरों में किसी को न मिली, तब क्या हमें तीर्थंकरों से भी अपने को बड़ा और विशुद्धि का भण्डार सोचना चाहिए? भरतराज देशव्रती थे यह स्मरण रहना चाहिए।

हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि आज के लोगों में युक्तिसंगत बात को शिरोधार्य करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। वैज्ञानिक अनुसंधानों आदि के प्रभाववश प्राय: शिक्षित वर्ग के अंत:करण पर मूढ़ता से प्रसूत तथा विज्ञान विरुद्ध मान्यताओं का भार नहीं लादा जा सकता है। जैन धर्म का कथन अनुभवयुक्त तथा विज्ञान के पूर्णतया अनुरूप है।

उसके तत्त्व का निरूपण करने वाले निस्पृह, सहृदय और सच्चरित्र व्यक्ति होने चाहिए और ऐसे धर्म सेवकों के साथ धनिकों में विवेक चाहिए, विद्वानों में संयम चाहिए और त्यागियों में विद्या का रस उत्पन्न होना चाहिए। इस प्रकार की सामग्री का समागम होने पर जैनधर्म की प्रभावना हो सकती है।

आगम की उक्ति

उत्तरपुराण (६१-७) में गुणभद्रस्वामी ने लिखा है कि विद्वत्ता के साथ संयम तथा सदाचरण का समागम आवश्यक है :

विद्वत्त्वं सच्चरित्रत्वं मुख्यं वक्तरि लक्षणम्।
अबाधितस्वरूपं वा जीवस्य ज्ञानदर्शने ॥

अर्थ : जिस प्रकार ज्ञान तथा दर्शन जीव के अबाधित लक्षण हैं, उसी प्रकार विद्वत्ता तथा सदाचार वक्ता के मुख्यलक्षण है।

जैनधर्म की अर्जित अवस्था की झाँकी देखने पर ज्ञात होता है कि उस समय प्रकाण्ड धर्माचार्य थे जो ज्ञान के पारगामी थे और श्रेष्ठ संयम के धारक थे। ऐसे महान् आचार्यों का कार्य आज का गृहस्थ यदि करना चाहता है, तो उसमें कम से कम सज्जन मनुष्य के गुण तो होना ही चाहिए और उसे सामान्य श्रावक के सदाचार की परीक्षा में तो उत्तीर्ण होना चाहिए। हमारा तो विश्वास है कि संयम का शत्रु, सद्धर्म की ध्वजा की इज्जत कभी भी नहीं बढ़ा सकता। स्याद्वाद के ध्वज को हाथ में उठाने वालों को पापी, पाखण्डी और प्रतारणा में प्रवीण न होकर मार्दव, आर्जव तथा संयम आदि सद्गुणों का प्रगाढ़ प्रेमी होना चाहिए। आज के अनुकूल युग में हमें जैन धर्म की प्रभावना के कार्य में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

असाधारण व्यक्तित्व

आचार्य महाराज का व्यक्तित्व असाधारण रहा है। सारा विश्व खोजने पर भी वे अलौकिक ही लगेंगे। ऐसी महान् विभूति के अनुभवों के अनुसार प्रवृत्ति करने वालों को कभी भी कष्ट नहीं हो सकता। एक दिन महाराज ने कहा था-"हम इंद्रियों का तो निग्रह कर चुके हैं। हमारा ४० वर्ष का अनुभव है। सभी इंद्रियाँ हमारे मन के आधीन हो गई हैं। वे हम पर अपना हुकम नहीं चलाती है।"

उन्होंने कहा था-"अब प्राणी संयम अर्थात् पूर्णरूप से जीवों की रक्षा पालन करना हमारे लिए कठिन हो गया है। कारण नेत्रों की ज्योति मन्द हो रही है। अत: हमें सल्लेखना की शरण लेनी पड़ेगी। हमें समाधि के लिये किसी को णमोकार तक सुनाने की जरूरत नहीं पड़ेगी।

सेवक की स्मृति

पहले नसलापुर के जैनबन्धु श्री हनगोंड़ा ने बड़ी भक्ति पूर्वक महाराज की सेवा की थी। सल्लेखना के १६ वें दिन सहसा महाराज को उनकी स्मृति आ गई। उसी समय हनगोंड़ा ८० वर्ष के हो गये थे। यहाँ महाराज को उसकी याद आयी, उधर वह एक दिन पूर्व ही कुंथलगिरि आ गये थे। वे महाराज की सेवा में पहुँचे।

अमृतवाणी

उन्होंने परम करुणा-भावपूर्वक उससे कहा-"तुमने हमारी बहुत सेवा की।"

यह कहकर उन्होंने आशीर्वाद दिया। वे फूटफूट कर गुरुचरणों की ममता के कारण रोने लगे। महाराज ने सांत्वना के यह शब्द कहे-"अरे यह संसार असार है। दु:ख करने में सार नहीं है।" गुरुदेव की वाणी सुनकर वे गुरुचरणों के प्रेमी ग्रामीण कुटी के बाहर आ गये।

विशुद्ध स्मरण शक्ति

सल्लेखना के समय ८४ वर्ष की आयु में लम्बे उपवासों के होते हुए भी महाराज की स्मृति आदि पूर्ववत् शुद्ध थी।

अभिषेक हेतु आदेश

वे भगवान् का अभिषेक देख रहे थे। समाधि का वह १८ वाँ दिन था महाराज ने प्रबंधकों से कहा था, "जब तुम लोग पूजा की बोली द्वारा हजारों रुपया वसूल करते हो, तब अभिषेक के लिए केशर, दूध, दही आदि के परिमाण में क्यों कमी करते हो।"

दूसरे दिन से बड़े वैभव पूर्वक अभिषेक होने लगा। उस अभिषेक को ध्यान पूर्वक देखने पर उनके हृदय को बड़ा संतोष मिलता था।

विचारणीय

यदि वह घी, दूध, दही आदि के द्वारा किया गया जिनेन्द्र का अभिषेक आचार्यश्री की अत्यंत विरक्त तथा यम-सल्लेखना के शिखर पर समारूढ़ आत्मा को शांति प्रदान न करता तो वे देह की क्षीण अवस्था में क्यों बहुत समय बैठकर अभिषेक दर्शन में अपना बहुमूल्य समय देते ? आचार्यश्री की प्रवृत्ति आगम विरुद्ध कभी नहीं रही है। अत: इस कार्य में हमारा कर्तव्य है कि क्षपकराज की जीवनी से अपने कल्याण की बात ग्रहण करें और पक्ष मोह को छोड़ें । उनके चरणों का अनुगमन करना श्रेयस्कर है।

वैराग्य-भाव

कुछ विवेकी भक्तों ने गुरुदेव से प्रार्थना की थी-"महाराज अभी आहार लेना बन्द मत कीजिए । चौमासा पूर्ण होने पर मुनि, आर्यिका आदि आकर आपका दर्शन करेंगे।

चौमासा होने से वे कोई भी गुरुदर्शन हेतु नहीं आ सकेंगे।''

महाराज ने कहा था-''प्राणी अकेला जन्म धारण करता है, अकेला जाता है, 'येसी एकला जासी एकला, साथी कुणि न कुणाचा.(कोई किसी का साथी नहीं है।)'क्यों मैं दूसरों के लिए अपने को रोकूँ, हम किसी को न आने को कहते हैं, और न जाने को कहते हैं।''

संघपति सेठ गेंदनमलजी ने कहा-''महाराज! जो आपके शिष्य हैं वे अवश्य आवेंगे।''

महाराज-''उनके लिए हम अपनी आत्मा के हित में क्यों बाधा डालें।''

इसके पश्चात् ही महाराज के मन के कुंथलगिरि के पर्वत के शिखर पर जाने का विचार आया। यह ज्ञात होते ही भट्टारक जिनसेन स्वामी ने कहा,''महाराज! आज का दिन ठीक नहीं है। आज तो अमावस्या है।''

सामान्यतः आचार्यश्री के जीवन में सभी महत्त्व के कार्य मुहूर्त के विचार के साथ हुआ करते थे, किन्तु उस समय उनका मन समाधि के लिये अत्यंत उत्सुक हो चुका था। वैराग्य का सिंधु वेग से उद्वेलित हो रहा था। इससे वे बोल उठे- ''*महावीर भगवान् अमावस्या को ही तो मोक्ष गए हैं। इसमें क्या है ? भवितव्यता* अलंघनीय है।''

भगवान की कृपा

महाराज की महावीर भगवान् के प्रति अपार भक्ति रही है। जबकि कोई महत्त्व का धार्मिक कार्य उनके प्रयत्न से सम्पन्न हो जाता था, तब वे कहा करते थे-''महावीर भगवान् की कृपा है, उससे ऐसी बात बन गई।'' अपने कार्य को महत्व देना और अहंकार की बातें करना मैंने उनमें कभी नहीं पाया। एक दिन महाराज ने कवलाना में कहा था- ''आज महावीर भगवान् हमारे बीच में नहीं हैं तो क्या हुआ, उनकी वाणी तो विद्यमान है, उससे हम अपनी आत्मा का अच्छी तरह कल्याण कर सकते हैं।''

सुन्दर प्रायश्चित

महाराज का अनुभव और तत्त्व को देखने की दृष्टि निराली थी। एक बार महाराज बारामती में थे। वहाँ एक सम्पन्न महिला की बहुमूल्य नथ खो गई। वह हजारों रुपये की थी। इससे बड़ों-बड़ों पर शक हो रहा था। अंत में खोजने पर उसी महिला के पास वह आभूषण मिल गया। वह बात जब महाराज को ज्ञात हुई, तब महाराज ने उस महिला से कहा-''तुम्हें प्रायश्चित्त लेना चाहिए। तुमने दूसरों पर प्रमादवश दोषारोपण किया।''

उसने पूछा-''क्या प्रायश्चित्त लिया जाय ?''

महाराज ने कहा-''यहाँ स्थित जिन लोगों पर तुमने दोष की कल्पना की थी, उनको

भोजन कराओ।''

महाराज के कथनानुसार ही कार्य हुआ था।

वर्धमान महाराज से मार्मिक बातचीत

शेडवाल जाते हुए वर्धमान स्वामी को आचार्यश्री के दर्शन का सौभाग्य मिला। उन्होंने आचार्य महाराज से कहा था-''महाराज! आपने तो १२ वर्ष की समाधि का नियम लिया है। मुझे आपका क्या आदेश है।

महाराज-''तुम भी हमारी तरह नियम ले लो।''

उन्होंने १२ वर्ष की समाधि का नियम ले लिया। पश्चात् आचार्यश्री ने कहा,''तुम अब विशेष भ्रमण मत करो। जहाँ समय ठीक पले, वहाँ काल व्यतीत करो। अब अधिक भ्रमण ठीक नहीं है। अब बुढ़ापा बहुत आ गया है।'' उस समय वर्धमान स्वामी की अवस्था लगभग ६३ या ६४ वर्ष की थी। वहाँ जब दोनों भाई अथवा परमार्थ की भाषा में दोनों गुरु-शिष्य मिलते थे, तब वे एकान्त में संयम तथा धर्म की ही बातें करते थे। धन्य था उन साधु युगल का पवित्र जीवन।

लोककल्याण की उमंग

कुंभोज बाहुबली क्षेत्र पर आचार्यश्री पहुँचे। उनके पवित्र हृदय में सहसा एक उमंग आई, कि इस क्षेत्र पर यदि बाहुबली भगवान् की एक विशाल मूर्ति विराजमान हो जाय, तो उससे आसपास के लाखों की संख्या वाले ग्रामीण जैन कृषक-वर्ग का बड़ा हित होगा। महाराज ने अपना मनोगत व्यक्त किया ही था, कि शीघ्र ही अर्थ का प्रबन्ध हो गया और मूर्ति की प्राप्ति के लिए प्रयत्न प्रारम्भ हो गया। उस प्रसंग पर आचार्य महाराज ने ये मार्मिक उद्गार व्यक्त किये थे-''दक्षिण में श्रवणबेलगोला को साधारण लोग कठिनता से पहुँचते हैं, इससे सर्वसाधारण के हितार्थ बाहुबली क्षेत्र पर २८ फुट ऊँची बाहुबली भगवान् की मूर्ति विराजमान हो। मेरी यह हार्दिक भावना थी। अब उसकी पूर्ति हो जायगी, यह संतोष की बात है।''

महाराज की इस भावना का विशेष कारण है । महाराज मिथ्यात्व त्याग को धर्म का मूल मानते रहें हैं। भोले गरीब जैन अज्ञान के कारण लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता के फंदे में फँस जाते हैं। इससे उन्होंने दक्षिण में विहार करते समय मिथ्यात्व के त्याग का जोरदार उपदेश दिया था। जो गृहस्थ मिथ्यात्व का त्याग करता था, वही महाराज को आहार दे सकता था। दक्षिण में लोग प्राय: स्वत: ही शुद्ध आहार पान किया करते है, इससे उनको आहार-पान के विषय में उपदेश देने की आवश्यकता नहीं थी। महाराज लोगों से कहते थे-''कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र का आश्रय कभी मत ग्रहण करो। कुगुरु

की वंदना मत करो। उनकी बात भी मत सुनो। यह संसार बढ़ाने का कारण है। इससे बड़ा कोई पाप नहीं है। मिथ्यात्व से बड़ा पाप दूसरा नहीं है। इस विशाल मूर्ति की भक्ति द्वारा साधारण जनता का अपार कल्याण होगा। सचमुच में मूर्ति कल्पवृक्ष होगी।'' आज महाराज की भविष्यवाणी अक्षरशः चरितार्थ हो रही है।

सबकी शुभकामना

आचार्य महाराज वास्तव में लोकोत्तर महात्मा थे। विरोधी या विपक्षी के प्रति भी उनके मन में सद्भावना रहती थी। एक दिन मैंने कहा-''महाराज ! मुझे आशीर्वाद दीजिये, ऐसी प्रार्थना है।''

महाराज ने कहा था-''तुम ही क्यों जो भी धर्म पर चलता है, उसके लिये हमारा आशीर्वाद है। जो हमारा विरोध करता है, उसे भी हमारा आशीर्वाद है कि वह सद्बुद्धि प्राप्त कर आत्मकल्याण करे।''

विशाल हृदय

सल्लेखना के समय कुंथलगिरि में हमें महाराज के विशाल हृदय और लोकोत्तर भाव का दर्शन हुआ। जो लोग महाराज के प्रति कलुषित प्रवृत्ति वाले रहे थे वे लोग भी उन साधुराज के लिए विशेष धर्म -प्रेम के पात्र थे। असली भक्तों को जहाँ स्थान नहीं मिलता था, वहाँ वे लोग उन्हें घेरे रहते थे।

चन्दनतुल्य जीवन

वे चंदन के वृक्ष के समान थे, जो सर्पराज को भी आश्रय देता है। चंदन के साथ उनका सादृश्य सार्थक है। स्वर्गारोहण के उपरांत उनका देह (शरीर) चंदन, कपूर आदि से भस्म हुआ था। उस समय समझ में आया कि चन्दन के समान ये सदा सुवास देते थे। इससे चंदन की लकड़ी द्वारा ही उन सद्गुणों के पुंज-रूप आत्मा के आश्रय-स्थल शरीर को दाह योग्य समझा गया था। वे चन्दन के समान ही गुणधर्म वाले थे। येलगुल में जिस घर में उनका जन्म हुआ था। वहाँ चन्दन का वृक्ष हमने १९७० में जाकर प्रत्यक्ष देखा।

सच्चा साम्य भाव

कुंथलगिरि में महाराज के अत्यंत निकट आने जाने वाले कई व्यक्तियों की विरोधियों के रुप में प्रसिद्ध रही थी। उनके विरुद्ध कृत्यों से महाराज भी सुपरिचित थे। सामान्य श्रेणी का साधु ऐसे व्यक्तियों को अपने पास भी न प्रवेश करने देता; किन्तु धन्य हैं वे आचार्य-शिरोमणि साधुराज श्रीशांतिसागरजी जिन्होंने राग तथा द्वेष का त्याग करके भक्तों-अभक्तों, मित्रों -अमित्रों आदि सभी पर सामान्यभाव धारण किया था।

कुंथलगिरि के पर्वत पर वे साम्यभाव से समलंकृत लोकोत्तर महापुरुष लगते थे। ऐसे

महापुरुष की गम्भीरता और उच्चता को राग-द्वेष के पंक में लिप्त मानव नहीं जान सकता है। वे असिता या पुष्पमाला में भेद नहीं करते थे। सर्पराज को भी वे उसी स्नेह से कृतार्थ करते थे, जिस करुणा द्वारा वे भक्तजनों को उपकृत करते थे। इसका यह अर्थ नहीं है कि दुष्ट व्यक्ति तथा साधु समान हो गए। वे स्वभावानुसार भिन्न ही रहते हैं और अपनी-अपनी कषायानुसार भावी जीवन का निर्माण करते हैं।

श्रेष्ठ महात्मा राग द्वेष की मलिनता से ऊँचे उठकर साम्यभावरूप वीतरागता को प्राप्त करते हैं। यह वीतरागता ही मोक्ष की जननी है। वीतराग और वीतरागता के आश्रय से जीव का उत्कर्ष होता है। सराग और सरागता की समाराधना से आत्मा का पतन होता है। इससे आत्मा संसार में परिभ्रमण करती है। महाराज के विषय में यह श्लोक पूर्णतया चरितार्थ होता था, कारण वे, सच्ची तथा शाश्वतिक शांतिदायिनी जननी समाधि की गोद में विराजमान थे :

साम्यं मे सर्वभूतेषु, वैरं मम् न केनचित्।
आशां सर्वां परित्यज्य, समाधिमहमाश्रये ॥ ३ ॥

अर्थ : मैं सम्पूर्ण आशाओं को त्यागकर समाधि की शरण ग्रहण करता हूँ। सम्पूर्ण प्राणधारियों के प्रति मेरे हृदय में समता का भाव है। किसी भी जीव के प्रति मेरे मन में विरोध नहीं है।

आचार्य की दृष्टि

आचार्यश्री की समाधि का निकट से निरीक्षण करने पर उक्त पद्य की अक्षरशः अन्वर्थता दिखी। उनका आत्मविश्वास सामायिक के इस पद्य में निबद्ध है-

एको मे शाश्वतश्चात्मा, ज्ञान दर्शन लक्षणः ।
शेषा बहिर्भवाः भावा :, सर्वे संयोगलक्षणाः ॥१० ॥

अर्थ : मेरी आत्मा का स्वरूप ज्ञान और दर्शन है। मेरी आत्मा अकेली है। वह अविनाशी है। इसके सिवाय बाह्य पदार्थ मुझ से भिन्न हैं। उनका मेरे साथ संयोग मात्र है। वे मेरे साथ तादात्म्य नहीं हैं।

आगम का सार

आचार्य महाराज ने सल्लेखना के २६ वें दिन के अमर संदेश में कहा ही था-"जीव एकला आहे, एकला आहे! जीवाचा कोणी नांही रे बाबा! कोणी नांही.(जीव अकेला है, अकेला है। जीव का कोई नहीं बाबा, कोई नहीं है।)"

इसके सिवाय गुरुदेव के ये बोल बड़े अनमोल रहे-"जीवाचा पक्ष घेतला तर पुद्गलाचा घात होतो। पुद्गलाचा पक्ष घेतला तर जीवाचा घात होतो। परन्तु मोक्षाला जाणारा

जीव हा एकलाच आहे पुद्‌गल नांही.(जीव का पक्ष ग्रहण करने पर पुद्‌गल का घात होता है, पुद्‌गल का पक्ष ग्रहण करो, तो आत्मा का घात होता है, परन्तु मोक्ष को जाने वाला जीव अकेला ही है, पुद्‌गल के साथ में मोक्ष नहीं जाता है।)''

अग्नि में तपाया गया सुवर्ण जिस प्रकार परिशुद्ध होता है, उसी प्रकार सल्लेखना की तपोग्नि द्वारा आचार्य महाराज का जीवन सर्व प्रकार से लोकोत्तर बनता जा रहा था। दूरवर्ती लोग उस विशुद्ध जीवन की क्या कल्पना कर सकते हैं ?

सल्लेखना की बेला में महाराज केवल प्रशममूर्ति दिखते थे। उस समय वे नाम निक्षेप की दृष्टि से नहीं, अन्वर्थता की अपेक्षा शान्ति के सिंधु शांतिसागर थे। वे पूर्णतया अलौकिक थे।

जिनेश्वर के लघुनंदन

संसार में मृत्यु के नाम से घबड़ाता है और उसके भय से नीच से नीच कार्य करने को तत्पर हो जाता है, किन्तु शांतिसागर महाराज मृत्यु को चुनौती दे, उससे युद्ध करते हुए जिनेश्वर के नंदन के समान शोभायमान होते थे।

मृत्युंजय बनने का मार्ग

संसार के देव -दानव -मानव आदि प्राणियों पर मृत्युराज का आतंक है। ऐसा कौन, है जिस पर यम का शासन न हो ? ऐसे अद्भुत पराक्रम वाले यम को पछाड़कर अपने प्रकृति सिद्ध अधिकार अमृतत्व को प्राप्त करने की श्रेष्ठ कला जिनेन्द्र के शासन में बताई गई है। अहिंसा की पूर्णता जब जीवन में प्रतिष्ठित हो जाती है, तब यह प्राणी अमृतत्व का अधिकारी बनता है। सुव्यवस्थित, सुसम्बद्ध तथा निर्दोष रूप से अहिंसा का प्रतिपादन तथा प्रतिपालन अनेकान्त शासन में ही हुआ है। इससे अमृतत्व की उपलब्धि का एकमात्र उपाय जिनेन्द्रदेव की वीतराग देशना का अनुकरण करना है।

जैन शास्त्र कहते हैं कि मृत्यु विजेता बनने के लिए मुमुक्षु को मृत्यु के भय का परित्याग कर उसे मित्र सदृश मानना चाहिए। इसी मर्म को हृदयस्थ करने के कारण आचार्य शांतिसागर महाराज ने अपने जीवन की संध्या बेला पर समाधिपूर्वक-शान्त भाव सहित प्राणों का परित्याग करके रत्नत्रय धर्म की रक्षा का सुदृढ़ संकल्प किया था।

महाराज की धारणा

अन्न के द्वारा जिस देह का पोषण होता है, वह तो अनात्म रूप है। इस बात को सभी लोग जानते हैं। परन्तु इस पर विश्वास नहीं हैं। महाराज ने कहा था-''अनंत काला पासून जीव पुद्‌गुल दोन्हीं भिन्न आहे। हे सर्व जग जाणतो, परन्तु विश्वास नांहीं।''

उनका यह कथन भी था तथा तदनुसार उनकी दृढ़ धारणा थी कि-''जीव का पक्ष

लेने पर पुद्गल का घात होता है और पुद्गल का पक्ष लेने पर जीव का घात होता है।

इसे वे मराठी में इस प्रकार कहते थे-"जीवाचा पक्ष घेतला तर पुद्गलाचा घात होतो, पुद्गलाचा पक्ष घेतला तर जीवाचा घात होतो।" इस कारण आहार-परित्याग करने की ओर उनकी प्रवृत्ति हुई।

अलौकिक उपवास

दो-तीन माह से तो उनकी शरीर से अत्यन्त विमुख-वृत्ति हो गई थी। १४ अगस्त, सन् १९५५ के आहार के उपरान्त उन्होंने आहार को छोड़ा। दूरदर्शी तथा विवेकी साधु होने के कारण उन्होंने जलग्रहण की छूट रखी थी, किन्तु चार सितम्बर को अन्तिम बार जल लेकर उससे भी सम्बन्ध छोड़ दिया था। जगत् में बहुत-से लोग उपवास करते हैं। वे कभी तो फलाहार करते हैं, कभी रस ग्रहण करते हैं, कभी औषधि लेते हैं, इसके अतिरिक्त और भी प्रकार से शरीर को पोषण प्रदान करते हैं।

यहाँ इन आत्मयोगी का उपवास जगत् के लोगों से निराला था। शरीर को स्फूर्ति देने के लिए घी, तेल आदि की मालिश का पूर्ण परित्याग था। सभी प्रकार की भोज्य वस्तुएँ छूट गई थी।

उन्होंने जब भी जल लिया था, तब दिगम्बर मुनि की आहार ग्रहण करने की विधिपूर्वक ही उसे ग्रहण किया था। खड़े होकर, दूसरे का आश्रय न ले, अपने हाथ की अंजुलियों द्वारा थोड़ा-सा जलमात्र लिया था चार सितम्बर को उक्त स्थिति में इन्होंने चार-छह अंजुली जल लिया था, परन्तु तीस दिन के अनाहार शरीर को खड़े रखकर जल लेने की क्षमता भी उस देह में नहीं रही थी। वास्तव में तो चौरासी वर्ष के वृद्ध तपस्वी के शरीर द्वारा ऐसी साधना इतिहास की दृष्टि से भी लोकोत्तर मानी जायगी।

आत्मबल का प्रभाव

शरीररूपी गाड़ी तो पूर्णत: शक्तिशून्य हो चुकी थी, केवल आत्मा का बल शरीर को खींच रहा था। यह आत्मा का ही बल था, जो सल्लेखना के २६ वें दिन आठ सितम्बर को सायंकाल के समय उन साधुराज ने २२ मिनिट पर्यन्त लोककल्याण के लिए अपना अमर संदेश दिया, जिससे विश्व के प्रत्येक शांतिप्रेमी को प्रकाश और प्रेरणा प्राप्त होती है।

चिन्तापूर्ण शरीरस्थिति

ता. १३ सितम्बर को सल्लेखना का ३१ वाँ दिन था। उस दिन गुरुदेव की शरीरस्थिति बहुत चिन्ताजनक हो गई और ऐसा लगने लगा कि अब इस आध्यात्मिक सूर्य के अस्तंगत होने में तनिक भी देर नहीं है। यह सूर्य अब क्षितिज को स्पर्श कर चुका है। भूतल पर से

उसका दर्शन लोगों को नहीं होता; हाँ शैलशिखर से उस सूर्य की कुछ-कुछ ज्योति दिखाई पड़ रही है। उस समय महाराज की स्थिरता अद्भुत थी। उनकी सारी ही बातें अद्भुत रही हैं। जितने काम उस विभूति के द्वारा हुए वे विश्व को चकित ही तो करते थे।

ता. १३ को महाराज का दर्शन दुर्लभ बन गया। हजारों यात्री आए थे, किन्तु उनकी शरीरस्थिति को देखकर जन-साधारण को दर्शन लाभ मिलना अक्षम्य दिखने लगा। उस दिन बाहर से आगत टेलीफोनों के उत्तर में हमने यह समाचार भेजा था-''महाराज की प्रकृति अत्यंत क्षीण है दर्शन असंभव है। नाड़ी कमजोर है । भविष्य अनिश्चित है। आसपास की पंचायतों को तार या फोन से सूचना दे दीजिये, जिससे दर्शनार्थी लोग यहाँ आकर निराश न हों।''

अन्य लोगों ने भी आसपास समाचार भेज दिए कि अब यह धर्म सूर्य शीघ्र ही लोकान्तर को प्रयाण करने को है। जैसे-जैसे समय बीतता था, वैसे-वैसे दूर-दूर के लोग अहिंसा के श्रेष्ठ आराधक के दर्शनार्थ आ रहे थे। बहुभाग तो ऐसे लोगों का था, जिनके मन में दर्शन के प्रति अवर्णनीय ममता थी। कारण, उन्होंने जीवन में एक बार भी इन लोकोत्तर साधुराज की प्रत्यक्ष वन्दना न की थी। उस समय जनता में अपार क्षोभ बढ़ रहा था।

अन्तिम दर्शन

कुछ बेचारे दु:खी हृदय से लौट गए और कुछ इस आशा से कि शायद आगे दर्शन मिल जायँ ठहरे रहे। अन्त में सत्रह सितम्बर को सुबह महाराज के दर्शन सबको मिलेंगे, ऐसी सूचना ता. १६ की रात्रि को लोगों को मिली। बड़े व्यवस्थित ढंग से तथा शांतिपूर्वक एक-एक व्यक्ति की पंक्ति बनाकर लोगों ने आचार्यश्री के दर्शन किये। महाराज तो आत्मध्यान में निमग्न रहते थे। वास्तव में ऐसा दिखता था मानो वे लेटे -लेटे सामायिक कर रहे हों। बात यथार्थ में भी यही थी।

पीठ का दर्शन

जब मैं पर्वत पर पहुँचा, तब महाराज करवट बदल चुके थे, इससे उनकी पीठ ही दिखाई पड़ी। मैंने सोचा-''सचमुच में अब हमें महाराज की पीठ ही तो दिखेगी। उन्होंने अपना मुख परलोक की ओर कर लिया है। उनकी दृष्टि आत्मा की ओर हो गई है। इस जगत् की ओर उन्होंने पीठ कर ली है।'' पर्वत से लौटकर नीचे आए। लोगों को बड़ा सन्तोष हो गया कि जिस दर्शन के लिए वे हजारों मील से आए, वह कामना पूर्ण हो गई। कई लोग दूर-दूर से पैदल भी आए। आने वालों में अजैन भी थे। सब को दर्शन मिल गए, इससे लोगों के मन में सन्तोष था; किन्तु रह-रह कर याद आती थी कि यदि ऐसी व्यवस्था पहले हो जाती, तो निराश लौटे लोगों की कामना पूर्ण हो सकती थी। वास्तव

में अंतराय कर्म का उदय आने पर समझदार व्यक्तियों का विवेक भी साथ नहीं देता है और अनुकूल सामग्री भी प्रतिकूलता धारण करने लगती है।

मुझे आशा नहीं थी कि अब पर्वत पर पुनः गुरुदेव के पास पहुँचने का सौभाग्य मिलेगा। मैं तो किसी-किसी भाई से कहता था,"गुरुदेव तो हृदय में विराजमान हैं, वे सदा विराजमान रहेंगे। उनके भौतिक शरीर के दर्शन न हुए, तो क्या ? मेरे मनोमंदिर में तो उनके चरण सदा विद्यमान हैं। उनका दर्शन तो सर्वदा हुआ ही करेगा।"

कुछ समय के पश्चात् मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि एक व्यक्ति मेरे पास आया और उसने कहा कि पर्वत पर आपको बुलाया है।

परलोकयात्रा के पूर्व

मैं पर्वत पर लगभग तीन बजे पहुँचा और महाराज की कुटी में गया। वहाँ मुझे उन क्षपकराज के अत्यन्त निकट लगभग दो घंटे रहने का अपूर्व अवसर मिला। वे चुपचाप लेटे थे, कभी-कभी हाथों का संचालन हो जाता था। अखण्ड सन्नाटा कुटी में रहता था। महाराज की श्रेष्ठ समाधि निर्विघ्न हो, इस उद्देश्य से मैं भगवान् का जाप करता हुआ तेज:पुंज शरीर को देखता था।

मेरी विचारधारा

मन में विविध प्रकार के विचार आ रहे थे। मैं सोचता था-"धन्य हैं ये महापुरुष, धन्य है इनकी पवित्र श्रद्धा, धन्य है इनकी लोकोत्तर तपस्या।" मुझे तो ऐसा लगा कि मैं जीवित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के समीप बैठा हूँ। शरीर मात्र भी परिग्रह से पृथक् रत्नत्रय की ज्योति से समलंकृत वह आत्मा '**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि**' रूप सूत्रांश का स्मरण कराती थी।

बार-बार मन में यह विचार आता था कि इस क्षीण शरीर में कितनी बलवान आत्मा है। वह मृत्यु से अलौकिक युद्ध कर रही है। वह असंख्यातगुणी कर्मों की निर्जरा कर रही है। इस आत्मा की दर्शन-विशुद्धता अलौकिक है। महाराज का सशक्त शरीर तो और भी दिन रहता; किन्तु जिनाज्ञानुसार इन्होंने अमर सल्लेखना ली। छोटे-छोटे जीवों के प्राण रक्षण की प्रतिज्ञा रूप प्राणी-संयम की ये सचमुच में प्राण पण से रक्षा कर रहे थे। ऐसी ही रत्नत्रय से समलंकृत पराक्रमी आत्मा गणधर तीर्थंकर आदि की आध्यात्मिक पदवी को प्राप्त करती है।

महाबल से तुलना

स्वर्ग प्रयाण करने के चौदह घण्टे पूर्व जो मैंने दो घण्टे पर्यन्त क्षपकराज की शरीरस्थिति का सूक्ष्म निरीक्षण किया था, उसकी तुलना महापुराण में वर्णित महाबल राजा की बाईस

दिन पर्यन्त चलने वाली समाधि से की जा सकती है। पंचम काल में महान् बलयुक्त शरीरसम्पन्न ये साधुराज भी तो महाबल थे। अग्नि में जैसे वनस्पति भी जल जाती है, उसी प्रकार तपोग्नि में महाराज का शरीर भी दग्धसदृश हो गया था। महाबल राजा का जीव दसवें भव में ऋषभनाथ तीर्थंकर हुआ है। महाबल राजा ने स्वकृत और परकृत दोनों प्रकार के उपचारों से रहित श्रेष्ठ प्रायोपगमनरूप संन्यास मरण लिया था।

महापुराण का चित्रण

आचार्य महाराज ने इंगिनीमरण लिया था, उसमें दूसरों के द्वारा अपने शरीर की परिचर्या और सेवा का परित्याग किया जाता है। स्वयं शरीर की सेवा का त्याग नहीं होता। महाकवि जिनसेन ने महाबल की मानसिक और शारीरिक अवस्था का जो चित्रण किया था, वही रूप इन साधुराज के विषय में भी था।

आचार्य लिखते हैं-''कठिन तपस्या करने वाले महाबल महाराज का शरीर तो कृश हो गया था, परन्तु पंच परमेष्ठियों के स्मरण के कारण उनके भावों में विशुद्धि बढ़ रही थी। निरन्तर उपवास करने के कारण उन महाबल के शरीर में शिथिलता अवश्य आ गई थी, किन्तु ग्रहण की गई प्रतिज्ञा में रंचमात्र भी शिथिलता नहीं आई थी। सो ठीक है, क्योंकि प्रतिज्ञा में शिथिलता नहीं करना ही महापुरुषों का व्रत है। रक्त मांस आदि के क्षययुक्त तथा रसरहित शरीर, शरदकालीन मेघों के समान क्षीण हो गया था। उस समय वह राजा देवों के समान रक्त, मांसादि रहित शरीर को धारण कर रहा है। राजा महाबल ने मरण का प्रारम्भ करने वाले व्रत धारण किये हैं, यह देखकर उसके दोनों नेत्र मानों शोक से ही कहीं जा छिपे थे अर्थात् नेत्र भीतर घुस गये थे। वे पहले विलासों में विरत हो गये थे। महाबल के दोनों गालों के रक्त, मांस, चमड़ा आदि सब सूख गये थे, तथापि उन्होंने अपनी अविनाशी कान्ति का परित्याग नहीं किया था।''

ऐसी ही स्थिति हमने महाराज शांतिसागरजी के शरीर की देखी थी। शरीर की क्षीणता का तो क्या वर्णन किया जा सकता है ? अस्थिपंजर मात्र शेष था। दीप्ति अपूर्व थी। रत्नत्रय की अन्तरंग दीप्ति वृद्धिगत हो रही थी। इसका ही सम्भवत: प्रभाव शरीर पर प्रगट हो रहा था।

शरीर की अवस्था

महाबल राजा का वर्णन करते हुए आचार्य लिखते हैं-''समाधिमरण ग्रहण के पूर्व जो कंधे अत्यंत स्थूल थे तथा बाहु-बन्ध की रगड़ से अत्यन्त कठोर थे। उस समय वे अतिशय कोमलता को प्राप्त हो गये थे। उनका उदर कुछ भीतर की ओर झुक गया था और त्रिवली भी नष्ट हो गई थी। इसलिए ऐसा जान पड़ता था, मानो पवन के न

चलने से तरंगरहित सूखता हुआ सरोवर ही हो। जिस प्रकार अग्नि में तपाया हुआ सुवर्ण-पाषाण अत्यंत शुद्धि को धारण करता हुआ, अधिक प्रकाशमान होने लगता है, उसी प्रकार वह महाबल भी तपरूपी अग्नि से तप्त हो अत्यंत शुद्धता को धारण करता हुआ अधिक प्रकाशमान हो रहा था।''

''महाबल राजा असह्य शरीर के संताप को लीलामात्र में ही सहन कर लेता था तथा कभी किसी विपत्ति से पराजित नहीं होता था। इससे उसके साथ युद्ध करते समय परीषह भी पराजित हुए थे। परीषह उसे अपने कर्तव्यमार्ग से च्युत नहीं कर सकते थे।''

''आचार्य जिनसेन लिखते हैं (महापुराण, ५-२४४) :

त्वगस्थीभूतदेहोपि यद्व्यजेष्ट परीषहान्।
स्व-समाधि-बलाद् व्यक्तं स तदासीन्महाबलः ॥

यद्यपि उसके शरीर में चमड़ा तथा हड्डीमात्र शेष बचे थे तथापि उस महाबल ने आत्मा की समाधि के बल से अनेक परीषहों को जीत लिया था, इस कारण उस समय वह यथार्थ में 'महाबल' सिद्ध हुआ था।''

समाधि का पैंतीसवाँ दिन

यहाँ आचार्य महाराज की भी यही स्थिति थी। महाबल राजा ने २२ दिन पर्यन्त सल्लेखना की थी, आचार्य महाराज की सल्लेखना तो ३६ दिन तक रही। मैं उनके समीप बैठा था, वह ३५ वाँ दिन था। हीन संहनन को धारण करने वाले व्यक्ति का यह निर्मलता पूर्वक स्वीकृत समाधिमरण युग-युग तक अद्वितीय माना जायगा। आचार्य महाराज का मन तो सिद्ध भगवान् के चरणों का विशेष रूप से अनुरागी था। वह सिद्धालय में जाकर अनन्तसिद्धों के साथ अपने स्वरुप में निमग्न होता था।

आचार्य महाराज के समीप अखण्ड शांति थी। जो सम्भवतः उन शांति के सागर की मानसिक स्थिति का अनुसरण करती थी। उनके पास कोई भी शब्दोच्चार नहीं हो रहा था। शरीर चेष्टारहित था। श्वासोच्छ्वास के गमनागमन-कृत देह में परिवर्तन दिख रहा था। यदि वह चिह्न शेष न रहता, तो देह को चैतन्यशून्य भी कहा जा सकता था । प्रतीत होता था कि वे म्यान से जैसे तलवार भिन्न रहती है, उस प्रकार शरीर से पृथक् अपनी आत्मा के चिन्तवन में निमग्न थे।

उस आत्मा-समाधि में जो उनको आनन्द की उपलब्धि हो रही थी, उसकी कल्पना आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान के जाल में फँसा हुआ गृहस्थ क्या कर सकता है? महान् कुशल वीतराग योगीजन ही उस परमामृत की मधुरता को समझते हैं। जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति सूर्य के प्रकाश के विषय में कल्पना नहीं कर सकता, उसी प्रकार मोहान्ध गृहस्थ भी महाराज की अन्तरंग अवस्था की कल्पना नहीं कर सकते। बाह्य सामग्री से यह अनुमान होता था कि

महाराज उत्कृष्ट योग-साधना में संलग्न हैं। घबड़ाहट, वेदना आदि का लेश नहीं था।

दुर्भाग्य की बात

लगभग दो घंटे पश्चात् मैं बाहर गया महाराज की समस्त स्थिति बार-बार मन के आगे घूमती रहती थी। सोचा था, पश्चात् भी महाराज के पास जाकर स्थिति का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करूँगा, किन्तु ऐसा होना असंभव था। वहाँ जो लोग प्रबन्ध कर रहे थे, वे यह सोच ही नहीं सकते थे कि ऐसे बहुमूल्य क्षणों में आचार्य महाराज के पास कैसे लोगों को रहना चाहिए। महाराज की जीवन भर उज्ज्वल सेवा करने वाले बड़े-बड़े व्यक्तियों को ये अंतराय रूप प्रहरी भीतर नहीं जाने देते थे। उस समय विचित्र कर्म-विपाक देखकर आश्चर्य होता था। मन बहुत दुःखी भी होता था। भवितव्यता के विरुद्ध किसका वश चलता है। बहुत गम्भीर समय था वह। समाधि मन्दिर पर मंगल कलश लगने को था।

प्रभात में स्वर्ग प्रयाण

जैसे ३५ दिन बीते, ऐसी रात्रि भी व्यतीत हो गई। नभोमण्डल में सूर्य का आगमन हुआ। घड़ी में छः बजकर पचास मिनिट हुए थे। चारित्र चक्रवर्ती साधु शिरोमणि क्षपकराज ने स्वर्ग को प्रयाण किया।

उत्प्रेक्षा

यह समाचार सुनते ही मन में विचार आया कि प्राणों ने रात्रि को ही प्रयाण की तैयारी की थी, किन्तु शायद उन्होंने सोचा कि इन साधुराज के जीवन में सूर्यप्रकाश के बिना अन्धकार में कभी भी यात्रा नहीं कि, तब इसी महाप्रयाण का कार्य अन्धकार में करना इनकी चिरकालीन प्रवृत्ति के प्रतिकूल होगा। अतः वे प्राण रुके रहे और प्रभाकर को देखते ही वे शरीर को निर्जीव बना स्वर्ग चले गए।

वह दिन रविवार का था। अमृतसिद्धि योग था। १८ सितम्बर भादों सुदी द्वितिया का दिन था। उस समय हस्त नक्षत्र था।

धर्म का सूर्य अस्तंगत

मैं तुरन्त पर्वत पर पहुँचा। कुटी में जाकर देखा। वहाँ आचार्य महाराज नहीं थे। चारित्र चक्रवर्ती गुरुदेव नहीं थे। आध्यात्मिकों के चूड़ामणि क्षपकराज नहीं थे। धर्म के सूर्य नहीं थे। उनकी पावन आत्मा ने जिस शरीर में चौरासी वर्ष निवास किया था, केवल वह पौद्गलिक शरीर था। वही कुटी थी किन्तु वह अमर-ज्योति नहीं थी। हृदय में बड़ी वेदना हुई।

गहरी मनोवेदना

प्रत्येक के हृदय में गहरी पीड़ा उत्पन्न हो गई। बंध के मूल कारण बंधु का यह वियोग नहीं था। अकारण बंधु, विश्व के हितैषी आचार्य परमेष्ठी का यह चिर वियोग था। इस

उनके पद्मासन शरीर को पर्वत के उन्नत स्थल पर विराजमान कर सब लोगों को दर्शन कराया गया। उस समय दर्शकों को यही लगता था कि महाराज तो हमारे नेत्रों के समक्ष साक्षात् बैठे है और पुण्य दर्शन दे रहे हैं । पर्वत पर साधुओं आदि ने देशभक्ति का पाठ पढ़ा, कुछ संस्कार हुए।

बाद में विमान में उनकी तपोमयी देह को विराजमान किया गया। यहाँ उनका शरीर काष्ठ-विमान विराजमान किया गया था। परमार्थतः महाराज की आत्मा संयम साधना के प्रसाद से स्वर्ग के श्रेष्ठ विमान में विराजमान हुई होगी। यह विमान दिव्य विमान का प्रतीक दिखता था।

निर्ग्रन्थ का शरीर भी मंगलमय

निर्ग्रन्थ साधु का प्राण रहित शरीर भी मंगलरूप कहा गया है। क्योंकि उस शरीर के कण-कण द्वारा जीवन भर में अर्थात् पाप को गलानेवाले अथवा मंगल अर्थात् पुण्य को लाने वाले कार्य हुए। इससे उसे मंगलमय कहना युक्तिसंगत भी है। तिलोयपण्णत्ति में लिखा है- सूरिउवज्झयसाहूदेहाणि हु दव्वमंगलयं (आचार्य, उपाध्याय तथा साधु का शरीर द्रव्य मंगल है।) ॥ १-२० ॥

चरणों को प्रणामांजलि

विमानस्थित आचार्य परमेष्ठी के द्रव्य मंगल रूप शरीर के पास पहुँच चरणों को स्पर्श

पृष्ठ भाग का ही अभिषेक क्यों किया जाय? इस विषय में आचार्यश्री ने पहले मुझे बताया था कि यदि सामने के भाग का अभिषेक कराया जाय और कदाचित् क्षपक के शरीर से सूक्ष्म रूप से प्राण रहे आवे, तो उसकी प्रतिज्ञा भंग होने का प्रसंग आ जायगा। इससे पिछले भाग का ही अभिषेक करना चाहिए।

प्रदीप्त अग्नि

अभिषेक होते ही चंदन, नारियल की गरी, कपूर आदि द्रव्यों से पद्मासन बैठे हुए उस शरीर को ढांकने का कार्य शुरु हुआ। देखते-देखते आचार्यश्री का मुखमण्डल भर जो दृष्टिगोचर होता था, कुछ क्षण बाद वह भी उस दाह-द्रव्य में दब गया। विशेष मंत्र से परिशुद्धि की गई। अग्नि के द्वारा शरीर का चार बजे शाम को दाहसंस्कार प्रारंभ हुआ।[1] कपूर आदि सामग्री को पाकर अग्नि को वृद्धिंगत होते देर न लगी। अग्नि की बड़ी-बड़ी ज्वालाएँ पवन का सहयोग पाकर चारों दिशाओं मे फैलकर दिग्दिगन्त को पवित्र बना रही थी। देह का दाह संस्कार हो गया था।

---

१. आचार्य महाराज के शरीर को भस्मीभूत करने में इस प्रकार सामग्री लगी थी - पच्चीस मन चंदन, डेढ़ मन घी, तीस मन नारियल तथा तीन बोरा कपूर आदि।

गाँधीजी के शरीर-दाह में पन्द्रह मन चंदन, दो मन धूप, चार मन घी, एक मन नारियल तथा पंद्रह सेर कपूर लगा था।

अब महाराज के दर्शन और सत्संग का सौभाग्य सदा के लिए समाप्त हो गया, इस कल्पना से अन्त:करण में असह्य पीड़ा होती थी। तो दूसरे क्षण महापुराण का कथन याद आता था, कि आदिनाथ भगवान् के मोक्ष होने पर तत्त्वज्ञानी भरत शोक-विह्वल हो रहे थे। उनको दु:खी देखकर वृषभसेन गणधर ने सांत्वना देते हुए कहा था, "अरे भरत! निर्वाण कल्याणक होना आनन्द की बात है। उसमें शोक की कल्पना ठीक नहीं है, 'तोषे विषाद: कुत:'।" इसी प्रकार गुरुदेव की छत्तीस दिन की लम्बी समाधि श्रेष्ठ रीति से पूर्ण हो गई। यह संतोष की बात मानना चाहिए। शोक की बात सोचना अयोग्य है। ऐसे विचार आने पर मनो वेदना कम होती थी।

आगम में कहा है, 'न हि समाधिमरणंशुचे' समाधिमरण शोक का कारण नहीं है।

शिष्यों को संदेश

स्वर्गयात्रा के पूर्व आचार्यश्री ने अपने प्रमुख शिष्यों को यह संदेश भेजा था कि हमारे जाने पर शोक मत करना और आर्तध्यान नहीं करना।

आचार्य महाराज का अमर संदेश तो हमने निर्वाण प्राप्ति के पूर्व तक का कर्तव्य-पथ बता गया है। उन्होंने समाज के लिए जो हितकारी बात कही थी वह प्रत्येक भव के काम की वस्तु है। उसका मूल्य त्रिलोक भर के पदार्थ नहीं हैं। उसके द्वारा सभी श्रेष्ठ ऋद्धि, सिद्धि, वैभव आदि मिलते हैं।"वे वाक्य थे। "सम्यक्त्व धारण करो।" वैसे उनका सारा

विषय में निरपेक्ष, निर्द्वन्द्व, निर्मम, निरारंभ और निर्दोष हैं, वे ही श्रेष्ठ श्रमण लौकान्तिक होते हैं। जो श्रमण संयोग और वियोग में, लाभ और अलाभ में, तथा जीवित और मरण में समदृष्टि होते हैं, वे ही लौकान्तिक होते है। संयम, समिति, ध्यान एवं समाधि के विषय में जो निरन्तर उद्यत रहते हैं, तथा तीव्र तपश्चरण धारण करते हैं, वे श्रमण लौकान्तिक होते हैं। पंच महाव्रत सहित पंच समितियों का चिरकाल तक आचरण करने वाले को पाँचों इन्द्रिय विषयों से विरक्त ऋषि लौकान्तिक होते हैं।" (८ वां अधिकार, गाथा ६४७ से ६५१)

अनुमान

आचार्यश्री के चरणों में बहुत समय व्यतीत करने के कारण तथा उनकी सर्वप्रकार की चेष्टाओं का सूक्ष्म रीति से निरीक्षण करने के फलस्वरूप ऐसा मानना उचित प्रतीत होता है कि वे लौकान्तिक देव हुए होंगे। ये अलौकिक पुरुषरत्न थे, यह उनकी जीवनी से ज्ञात होता है। माता के उदर में जब ये महापुरुष आये थे तब सत्यवती माता के हृदय में १०८ सहस्रदल युक्त कमलों से जिनेन्द्र भगवान् की वैभवसहित पूजा करने की मनोकामना उत्पन्न हुई थी। आज के जड़वाद तथा विषयलोलुपता के युग में उन्होंने जो

---

१. चत्तारिवि खेत्ताइं आउगबंधेण होदि सम्मत्तं ।

अणुवद-महव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मुत्तं ॥- गोम्मटसार

१८६५ को अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहमलिंकन ने उच्च सरकारी पदाधिकारियों की बैठक बुलाकर उनसे कहा कि उन्हें कोई महत्वपूर्ण खबर अवश्य ही सुनने को मिलेगी। उन्होंने बताया कि उन्होंने स्वप्न देखा है कि वे ऐसी नाव में बैठे हैं कि जिसमें पतवार नहीं है। इस स्वप्न की बात बताने के पाँच घंटे बाद ही ''जॉन विल्डीजवूथ की बन्दूक से उनकी हत्या हो गई'' (नवभारत टाईम्स, २० नवम्बर १९५५, पृष्ठ ८)। महाराज में सोलहकारण भावनाओं का अपूर्व समागम था। जिनसे तीर्थंकर रूप श्रेष्ठ फल मिलता है।

शंका

यह शंका की जा सकती है कि केवली, श्रुतकेवली के चरण-मूल में तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रारंभ होता है, तब आज उक्त दोनों विभूतियों के अभाव में किस प्रकार तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकेगा ?

समाधान

यथार्थ में शंका उचित है; किन्तु इस भव में तीर्थंकर प्रकृतिका बंध न करके, लौकान्तिक पदवी को छोड़कर पुन: नर पदवी धारण करके तो तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है। विदेह में तीर्थंकर पंचकल्याणक वाले होते हैं ; दीक्षा, ज्ञान तथा मोक्ष तीन कल्याणक वाले भी होते हैं, ज्ञान और मोक्ष ये दो कल्याणक वाले भी होते हैं। गृहस्थावस्था में यदि तीर्थंकर प्रकृति का बंध किसी [illegible] आत्मा ने किया तो उसके तीन कल्याणक

होंगे। यदि निर्ग्रन्थ ने बंध किया, तो ज्ञान और मोक्ष रूप दो ही कल्याणक हो सकेंगे। इस अपेक्षा से सोचा जाय, तो वे सभी भाग्यशाली हो जाते हैं, जिन्होंने ऐसी प्रवर्धमान पुण्यशाली आत्मा के दर्शनादि का लाभ लिया हो। सबसे बड़ा भाग्य तो उनका है, जो गुरुदेव के उपदेशानुसार पुण्य जीवन व्यतीत करते हुए जन्म को सफल कर रहे हैं।

देय पर्याय की कथा

औदारिक शरीर परित्याग के अंतर्मुहूर्त के भीतर ही उनका वैक्रियिक शरीर परिपूर्ण हो गया और वे उपवाद शय्या से उठ गए। लगभग ७ बजकर ३५ मिनिट पर उनका दिव्य शरीर परिपूर्ण हो गया। उस समय उन्होंने विचार किया होगा कि यह आनन्द और वैभव की सामग्री यहाँ कैसे आ गई ? अवधिज्ञान से उनको ज्ञात हुआ होगा कि मैंने कुंथलगिरि सिद्धक्षेत्र पर यम सल्लेखनापूर्वक अपने शरीर का संयम सहित त्याग किया था उससे मुझे यह देव पर्याय प्राप्त हुई है। इस ज्ञान के पश्चात् वे आनंदपूर्ण वाद्यध्वनि तथा जयघोष सुनते हुए सरोवर में स्नान करते हैं और आनन्दपूर्वक जिन भगवान् की अकृत्रिम रत्नमय प्रतिमाओं के दर्शन, अभिषेक तथा पूजन में मग्न हो जाते हैं।

आगम का कथन

तिलोयपण्णत्ति (आठवाँ अधिकार, गाथा २-५-८२ से ५८४ तक) में लिखा है कि- "ये देव तीन छत्र, सिंहासन, भामण्डल और चामरादि से सुन्दर प्रतिमाओं के आगे जय-जय शब्द को करते हैं। उक्त देव भक्तियुक्त मन से सहित होकर सैकड़ों स्तुतियों के द्वारा जिनेन्द्र प्रतिमाओं की स्तुति करके पश्चात् उनका अभिषेक आरम्भ करते हैं।"

"उक्त देव क्षीर समुद्र के जल से पूर्ण एक हजार आठ सुवर्णकलशों के द्वारा महाविभूति के साथ जिनाभिषेक करते हैं।"[1] अब तक महाराज प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक देखा करते थे किन्तु वे सुरराज बनकर रत्नबिम्बों का स्वयं अभिषेक कर रहे हैं, ऐसा उस समय प्रतीत होता था। तिलोयपण्णत्ति के ये शब्द भी महत्वपूर्ण हैं।

[2]"सम्यग्दृष्टि देव कर्म क्षय के निमित्त सदा मन में अतिशय भक्ति से सहित होकर

---

१. थोदूण थुदि सएहिं जिणिंदपडिमाओ भत्तिभरिदमणा ।
एदाणं अभिसेए तत्तो कुव्वंति पारंभं ॥ ५८३ ॥ (ति.प.)

यह अभिषेक जिन प्रतिमा का है शास्त्र में पंच परमेष्ठी, जिनधर्म, जिनागम, जिनप्रतिमा, जिनामन्दिर ये नव देवता कहे हैं । अरहंत भगवान् और प्रतिमा की भिन्न-भिन्न रूप में परिगणना की जाती है ।

१. सम्मादिट्ठी देवा पूजा कुव्वंति जिणवराण सदा ।
कम्मक्खवणणिमित्तं जिणवर भत्तीए भरिदमणा ॥ ५८८ ॥

जिनेन्द्रों की पूजा करते हैं। यहाँ '**कम्मक्खवणिमित्तं**' शब्द ध्यान देने योग्य है। पूजा से महान् पुण्य बंध होता है तथा कर्मक्षय भी होता है। रत्नकरंडश्रावकाचार में कहा है कि पूजा '**कामदुहि कामदाहिनी**' है। एक कारण से अनेक कार्य होते हैं।

"मिथ्यादृष्टिदेव अन्य देवों के संबोधन से ये कुलदेवता हैं, ऐसा मानकर नित्यजिनेन्द्र प्रतिमाओं की पूजा करते हैं॥ ति.प., ८- ५८६ ॥"

दिव्य जीवन

महापुराण में कहा हैं- महाबल की समाधि के उपरान्त ललितांग देव रुप में उत्पत्ति हुई थी। उस कथन के प्रकाश में आचार्य महाराज के विषय में हम अपने मनोमंदिर में कल्पना का भव्य चित्र खींच सकते हैं-"श्रीप्रभ विमान में उपपाद शय्या पर (आचार्यश्री के जीव) देव का जन्म हुआ होगा। मेघ रहित आकाश में श्वेत बादलों सहित बिजली की तरह उपपाद शय्या पर शीघ्र ही वैक्रियिक शरीर से शोभायमान हुए होंगे। अंतर्मुहूर्त में ही यौवन-पूर्ण, सुलक्षण-सम्पन्न तरुण के समान वे उपपाद शय्या से उठे होंगे। दैदीप्यमान कुंडल, केयूर, मुकुट, बाजूबंद आदि आभूषण पहिने हुए, माला सहित, उत्तम वस्त्रों को धारण कर वे शोभायमान हुए होंगे। उनके नेत्र टिमकार रहित होंगे। उस समय कल्पवृक्षों द्वारा पुष्पों की स्वयमेव वर्षा हुई होगी। दुंदुभि ध्वनि हुई होगी। सुर समुदाय ने आकर प्रणाम किया होगा। उस समय उस देव ने चकित हो सोचा होगा-"मैं कौन हूँ, ये सब कौन हैं ? मैं कहां से आया ?" यह शय्यातल किसका है ?" तत्काल भवप्रत्यय अवधिज्ञान उत्पन्न हो ज्ञात हुआ होगा कि-

अये तपः फलं दिव्यम् अयं स्वर्गो महाद्युतिः।
इमे देवास्समुत्सर्पद्-देहोद्योताः प्रणामिनः ॥ ५-२६७ ॥

अहो ! यह हमारे तप का मनोहर फल है। यह दैदीप्यमान स्थल स्वर्ग हैं। ये प्रणाम करते हुए दैदीप्यमान शरीर वाले देवता लोग हैं।

इतने में देवतागण ने स्तुति करते हुए कहा होगा-

प्रतीच्छ प्रथमं नाथ सज्जं मज्जन-मंगलम्।
ततः पूजा जिनेन्द्राणां कुरु पुण्यानुबंधिनीम् ॥ ५-२७३ ॥

हे नाथ ! स्नान की सामग्री तैयार है। पहिले मंगल-स्नान कीजिए। इसके अनंतर पुण्यानुबंधिनी जिनेन्द्र भगवान् की पूजा कीजिए।

इसी प्रकार का परिणमन उस तपस्वी जीव का देव पर्याय में हुआ होगा, जिसका छह बजकर पचास मिनिट पर १८ सितम्बर, सन् १९५५ के प्रभात में कुंथलगिरि पर देहान्त हुआ था, जिसकी आचार्य शांतिसागर महाराज कहकर लोग पूजा करते थे। सच्चा देहान्त मोक्ष में होता है। यहाँ औदारिक देह का अन्त हुआ था तो वैक्रियक देह की

उत्पत्ति हुई थी। तैजसकार्माण तो सदा साथ में रहते ही हैं। इस जिनेन्द्र पूजा के पश्चात् वे अपने प्रसाद में पहुँचकर सिंहासन पर शोभायमान हुए होंगे।

सम्भव है कि वे शीघ्र ही देव पद प्राप्ति के उपरांत पूर्व संस्कारों की प्रेरणा से विदेह क्षेत्र में गए होंगे और वहाँ देवों के कोठों में बैठकर देवाधिदेव सीमंधर भगवान् के समवशरण में उन्होंने दिव्यध्वनि सुनने का सौभाग्य प्राप्त किया होगा। अब वे धर्मवृक्ष के अमृत तुल्य मधुर फलों का रसास्वादन कर रहे हैं। हमारी भौतिक दृष्टि से आचार्य महाराज नहीं है, उनका शरीर अग्नि में भस्म हो गया था; किन्तु आगम के प्रकाश से विदित होता है कि उनकी आत्मा अमर लोक में है और आगे वे तपश्चर्या द्वारा 'जरा मरणोज्झित' सिद्ध भगवान् बनेंगे। उस समय वे सच्चे अमर बनेंगे।

स्वर्ग का आनन्द

आचार्यश्री पहले लोगों को व्रत प्रदान करते समय कभी-कभी कहते थे "इससे तुमको स्वर्ग में महान् आनन्द मिलेगा। सभी इन्द्रियों को सुखप्रद सामग्री स्वर्ग में मिलती है।" वह अब दिव्यलोक में उनके अनुभव गोचर हो गई। पूज्यपाद स्वामी ने स्वर्ग के सुख को अनुपम कहते हुए बताया है कि 'अनातंकम्' आतंकरहित है और 'दीर्घकालोपलालितम्' -सुदीर्घकालपर्यन्त प्राप्त होता है। सागरों पर्यन्त सुख की धारा चली जाती है। स्वर्ग प्राप्त करने वाले जीव को दुषमा काल के शेष साढ़े अठारह वर्ष तथा दुषमा-दुषमा काल के २१ हजार वर्ष पर्यन्त कष्टों को नहीं भोगना पड़ेगा। उत्सर्पिणी के भी प्रथम द्वितीय कालों की व्यथाओं से बचे रहते हैं। दुषमा सुषमा नाम के उत्सर्पिणी के तीसरे काल में जन्म धारण करके वे निर्वाण को प्राप्त कर सकते हैं। कारण, उस काल में वज्रवृषभनाराचसंहनन की प्राप्ति हो जाती है। अवसर्पिणी का चौथा और उत्सर्पिणी का तीसरा काल समान रहते हैं। विदेह में तो सदा चौथा काल रहता है।

लौकान्तिक

लौकान्तिक देवों की आयु आठ सागर प्रमाण होती है। उनकी ऊँचाई पंचहस्त प्रमाण कही गई है। उनकी शुक्ललेश्या होती है। इनकी संख्या सब मिलाकर चार लाख सात हजार आठ सौ छः (४,०७,८०६) है। इनका जीवन अलौकिक रहता है। ये देवांगनाओं के संपर्क से रहित अपूर्व आनन्द का रसास्वादन करते हैं। ग्यारह अंग तथा चतुर्दश पूर्व के ज्ञाता होते हैं। स्वर्ग के वैभव में भी इनकी ज्ञान-ज्योति बराबर प्रकाश देती रहती है। इससे ये अपने दिव्य सुखों को अनित्य ही जानते हैं, मानते हैं, अनुभव करते हैं। धर्म के सिवाय अन्य शरण नहीं है, ऐसी अशरण भावना को भी सदा स्मरण करते हैं। विरक्त स्वभाव के कारण ही इनका मन जिनेन्द्र के रागवर्धक गर्भ तथा जन्मकल्याणकों में भाग लेने को उत्साहित नहीं होता । जिनेन्द्र के मन में वैराग्य का वसन्त आते समय वे

आकर कोकिल सदृश मधुर कण्ठ द्वारा वैराग्य पोषक ध्वनि आरम्भ करते हैं। ऊँचे स्वर्ग के देवताओं के द्वारा ये वन्दनीय बनते हैं। भगवान् के केवलज्ञान होने पर लौकान्तिक देवगण बहुत हर्षित होकर आनंद व्यक्त करते हैं। हरिवंशपुराण में कहा है-

लौकान्तिकाः पुरो यांति लोकान्तव्यापि तेजसः।
लोकेशस्य यथा लोकाः पुरोगा मूर्तिसंभवाः ॥६१-२६॥

अर्थ : जिनका तेज लोकान्त पर्यन्त व्याप्त हो रहा था, ऐसे लौकान्तिक देव भगवान् के आगे-आगे चल रहे थे। वे ऐसे लगते थे, मानो त्रिलोकीनाथ का प्रकाश ही मूर्तिमान हो आगे-आगे गमन कर रहा है।

कुंदकुंदस्वामी ने मोक्षपाहुड में लिखा है कि इस काल में रत्नत्रय की शुद्धता के प्रसाद से मनुष्य लौकान्तिक देव होता है और वहाँ से चलकर मोक्ष के सुख को प्राप्त करता है।

वैक्रियिक शरीर

अब आचार्यश्री का दिव्य शरीर हो गया। वह वैक्रियिक शरीर कहलाता है। वह अत्यंत सुन्दर सुवास सम्पन्न होता है। उसका विविध रूप से परिणमन किया जा सकता है। वह दीप्तिमान होता है। उस शरीर का वर्णन इस प्रकार आगम में किया है, "देवों के शरीर में न नख, केश और रोम होते हैं, न चमड़ा और न मांस होता है, न रुधिर और चर्बी होती है, न हड्डियाँ होती हैं, न मूत्र और न मल होता है और न नसें होती हैं।"

संचित कर्म के प्रभाव से अतिशयित वैक्रियिक रूप दिव्यबंध होने के कारण देवों के शरीर में वर्ण, रस, गंध और स्पर्श बाधा रूप नहीं होते। (ति.प.८,५६८,५६६)।

इस वैक्रियिक शरीर के सम्बन्ध में जस्टिस जुगमंदरलाल जैनी बार-एट-ला के शब्द ध्यान देने योग्य हैं-

The gods have vaikriyaka body which they can change at will. Milton rightly mentions this as the body of the angels in his Paradise Lost. The Christian, Mohammedian and other systems of religion hold a similar view. Cabalistic and Mystic systems of ancient Greece, Egypt. Assyria and Babylon also had some sort of faith in this phenomenon of changeable bodies. Popular magic, even of the black kind, connected with wizard's lore and witch-craft, also recognised that men can change themselves into animals etc. Fables and fictions in the East and the West, all the world over are familiar with this theory of physical transfiguration. The famous Fasana-e-ajayaba (The wonderful tale) of urdu literature richly illustrates this, as the Prince Jane-slam could

change himself into monkey and back to his human form again.

Thus the changeability of form is a wellknown phenomenon. The Gods in Jainism have all a body, which they can change at will, it is their vaikriyaka body. They possess it universally like their antipodean analogues to the denzens of the niether world, the embodied mundane souls of the hell. The body has no flesh, blood and bones and there are no filthy excretions from it. It is very lustrous and bright. It may be compared to a cloud shot with the shining glory of a rising or setting sun now looking like one living being now changing itself into another form.

(The Bright Ones in Jainism, page 3)

आठ सागर की स्थिति वाले देवों का आहार आठ हजार वर्षों के बाद होता है। आहार के समय उनके कण्ठ में अमृत झर जाता है, उससे उनको सर्व प्रकार की शांति और आनन्द प्राप्त होता है। इस विषय में सर्वज्ञ भगवान् ने यह बात कही है :

"जो देव जितने सागरोपम काल तक जीवित रहता है, उसका उतने ही हजार वर्षों में आहार होता है। पल्य प्रमाण काल तक जीवित रहने वाले देव के पाँच दिन में आहार होता है। (ति.प.,८-५५२)

इनका मूल शरीर स्वर्ग में रहता है। इनके शरीर की विक्रिया बाहर जाती है।

आगम में कहा है, "गर्भ और जन्मादि कल्याणकों में देवों के उत्तर शरीर जाते हैं। उनके मूल शरीर सुखपूर्वक जन्मस्थानों में चेष्टा करते हैं। " **जम्मणट्ठाणेसु सुहं मूल सरीराणि चेट्ठति।(ति. प., ८-५९५)"**

लौकान्तिकों की विशेषता

अन्य देव तो आमोद-प्रमोद, क्रीड़ा आदि द्वारा अपना सागरों का समय पूर्ण करते हैं।

लौकान्तिकों के बारे में तिलोयपण्णत्ति में लिखा है-"वे देव सब देवों से अर्चनीय, भक्ति में तल्लीन और सर्वकाल स्वाध्याय में निमग्न रहते हैं-**भत्ति पसत्ता सज्झयसाधीणा सव्वकालेसु (तिशपश, ८-६४५)।"**

इस प्रसंग में यह बात स्मरण योग्य है कि बाल्यकाल में सातगौड़ा पाटील के रूप में आचार्य महाराज भी बाल्योचित क्रीड़ा आदि से विमुख रहा करते थे। त्रिलोकसार में नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती ने लिखा है :

ते हीणाहिय रहिया विसयविरत्ता य देवरिसिणामा।
अणुपिक्ख दत्तचित्ता सेससुराणच्चणिज्जा हु ॥५३९॥

वे देवताओं के ऋषि हीनाधिकता रहित, विषयों से विरक्त अनुप्रेक्षाओं की भावना में लीन तथा शेष देवताओं के द्वारा वंदनीय होते हैं। देवर्षि यही चाहा करते हैं, कि कब उनको इस स्वर्ग के मनोज्ञ कारागार से मुक्ति मिले और वे नर पर्याय प्राप्त कर पुन: अविनाशी मुक्ति की प्राप्ति के लिए तपश्चर्या के पथ में प्रवृत्त हों।

शंका- ये श्रेष्ठ सम्यग्ज्ञानी श्रेष्ठ सुर-पूज्य सुरराज वहाँ से ही क्यों नहीं मुक्त होते है, क्योंकि सम्यग्ज्ञानी क्षणमात्र में समस्त कर्मो का क्षय करता है।

समाधान- सम्यग्ज्ञान के साथ ही तीन गुप्ति और चाहिए। मन, वचन तथा काय की क्रियाओं का निरोधरूप पूर्ण गुप्ति का पालन दिगम्बर मुनिश्वर ही कर सकते हैं। अत: वे लौकान्तिक देव उस श्रमण-जीवन की आकांक्षा करते हुए अपना काल धर्मध्यान में बिताते हैं। प्रमादी लोग मनुष्य-धर्म में भी व्रताचरण से जी चुराते हुए अपने काल्पनिक ज्ञान द्वारा पंचम काल में ही मोक्ष जाने की सोचते है। यह धारणा सम्यक्त्वी की नहीं रहती है।

समाधिजन्य आनन्द का अभाव

स्वर्ग में सब सुख हैं; किन्तु वहाँ संयमानुगामिनी उच्च समाधि जन्य शांति नहीं है, यह बात आज शांतिसागर महाराज की आत्मा के अनुभव में आती होगी। आत्मा के आनन्द की समता इंद्रियजनित सुख कभी भी नहीं कर सकता है। एक आनन्द स्वाभाविकता की ज्योति धारण करता है और दूसरा इंद्रियजनित सुख रूप विभावपरणति है। इस कारण सम्यग्दृष्टि लोग स्वर्ग के सुखों में भी अनासक्त रहते हैं। पंचाध्यायी में लिखा है-

शक्र-चक्र-धरादीनां केवलं पुण्य शालिनाम्।
तृष्णा बीजं रतिस्तेषां सुखावप्तिः कुतस्तनी।।

महान् पुण्यशाली इन्द्र, चक्रवर्ती आदि का सुख तृष्णा का बीज है। उनके सच्चे सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? सच्चा सुख शुद्धापयोगी परम वीतराग यथाख्यातचारित्रधारी मुनीश्वर को प्राप्त होता है।

भक्तों की आकांक्षा

आचार्यश्री की यम समाधि के समय एक भक्त ने महाराज से कहा था, ''महाराज, आप देव, देवेन्द्र होंगे। वहाँ से यहाँ कभी आकर हम लोगों को अवश्य संबोधन की कृपा कीजिए।'' इस प्रलाप को सुनकर महाराज चुप रहे थे। इस काल में स्वर्ग से कल्पवासी देव यहाँ नहीं आते हैं। ऐसा शास्त्र में कहा गया है। अत: आगम के प्रकाश में युक्त प्रार्थना वस्तुत: सारशून्य ही तो थी। भवनत्रिक के देवों का आगमन हो सकता है। षट्खंडागम की रचना पूर्ण होने पर देवों का आगमन हुआ था, ऐसा धवला टीका में कहा है अन्य प्रसंगो का भी वर्णन आता है।

पावन उपदेश

एक बात और ध्यान देने की है कि वे अपना पावन उपदेश क्या दे गये। इस कलिकाल में भी अपनी जीवनी द्वारा श्रेष्ठ रत्नत्रय धर्म का पालन किस प्रकार हो सकता है, यह बता गए। बस, उनके पथ-चिन्हों को देखकर जो जीव आगे बढ़ेगा, वह शांति समृद्धि, वैभव के साथ शिवपुरी का नागरिक भी बन सकेगा। संसार के दु:खों से संत्रस्त भव्यात्माओं को वह वाणी चिरस्मरणीय रहेगी, "बाबानो ! भिऊ नका।" "आत्मचिंतन करा" अरे बाबा ! डरो मत। आत्मा का चिंतन करो।"

सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र के ये शब्द चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर महाराज सदृश उज्जवल आत्माओं में सुघटित होते हैं (त्रिलोकसार, ५५५) :

विविह-तव-रयण-भूसा णाणसुची सीलवत्थ-सोम्मंगा।
जे तेसिमेव बस्सा सुरलच्छी सिद्धिलच्छी य ॥

अर्थ : जो विविध तप रत्नभूषणधारी, पवित्र ज्ञान वाले, शीलरूप वस्त्र से सौम्य शरीर वाले होते हैं, सुरलक्ष्मी तथा सिद्धीलक्ष्मी भी उनके आधीन रहती है।

सल्लेखना का संक्षिप्त विवरण

आचार्य महाराज ने कुंथलगिरि में १४ अगस्त, रविवार को नियम-सल्लेखना का निश्चय व्यक्त किया था। उन्होंने यह सल्लेखना आठ दिन के लिए ली थी। ता .१७ दिन बुधवार को उन्होंने यम सल्लेखनारूप अपनी प्रतिज्ञा कर ली। उस दिन अमावस्या थी। उसी दिन पहाड़ पर आ गए। वहाँ उन्होंने ता. २० अगस्त को केवल जल लिया था। ता. २३ को पुन: जलग्रहण किया था। ता. २४ को उन्होंने जल नहीं लिया। उन्होंने ता. २५ से ता. २८ पर्यन्त चार दिन लगातार जल लिया था। ता. २८ रविवार को ब्र. भरमप्पा को क्षुल्लक दीक्षा दी। पश्चात् २९,३०,३१ तथा १ सितम्बर, इन चार दिनों तक उन्होंने जल ग्रहण नहीं किया। पश्चात् २, ३ और ४ तारीख को उन्होंने जल लिया। वही उनका अंतिम जलग्रहण दिन था। उन्होंने रविवार १४ अगस्त से आहार त्यागकर केवल जलमात्र ग्रहण करने की छूट रखी थी। चार सितम्बर का रविवार आया। उस दिन जल लेकर उन्होंने जल भी छोड़ दिया और एक रविवार को छोड़कर दूसरे रविवार को ८४ वर्ष से सुरक्षित शरीर को भी छोड़कर इस आध्यात्मिक विभूति ने स्वर्ग को प्रयाण किया था।

मृत्यु से युद्ध की तैयारी

महाराज का जीवन बड़ा व्यवस्थित और नियमित रहा था। यम-समाधि के योग्य अपने मन को बनाने के लिए उन्होंने खूब तैयारी की थी। लोणंद से जब आचार्य महाराज फलटण आये, तब उन्होंने जीवन भर अन्न का परित्याग किया था। कुंथलगिरि पहुँचकर

उन्होंने अधिक उपवास शुरु कर दिये थे। श्रावण वदी प्रथमा से उन्होंने अवमौदर्य तप का अभ्यास प्रारम्भ कर दिया था। महाराज ने एक ग्रास पर्यन्त आहार को घटा दिया था। वे कहने लगे- ''यदि प्रतिदिन दो ग्रास भी आहर लें तो यह शरीर बहुत दिन चलेगा। यदि केवल दूध लेंगे तो यह शरीर वर्षों टिकेगा।''

सल्लेखना का मूल कारण

जब प्राणी संयम नहीं पल सकता है, तब इस शरीर के रक्षण द्वारा असंयम का पोषण क्यों किया जाय ? जिस अहिंसा महाव्रत की प्रतिज्ञा ली थी, उसको दूषित क्यों किया जाय ? व्रतभ्रष्ट होकर जीना मृत्यु से भी बुरा है। व्रत रक्षण करते हुए मृत्यु का स्वागत परम उज्ज्वल जीवनतुल्य है इस धारणा ने, इस पुण्यभावना ने, उन साधुराज को यम-समाधि की ओर उत्साहित किया था।

सप्ततत्त्व निरूपण का रहस्य

एक बार आचार्य से यह प्रश्न पूछा गया था- ''भेद विज्ञान हो तो सम्यक्त्व है; अत: आत्मतत्त्व का ही विवेचन करना आचार्यों का कर्तव्य था, परन्तु अजीव, आश्रव बंधादि का विवेचन क्यों किया जाता है ?

उत्तर-'' रेत की राशि में किसी का मोती गिर गया। वह रेत के प्रत्येक कण को देखता फिरता है। समस्त बालुका का शोधन उसके लिये आवश्यक है; इसी प्रकार आत्मा का सम्यक्त्व रूप रत्न खो गया है। उसके अन्वेषण के लिए, अजीव, आश्रव, बंधादि का परिज्ञान आवश्यक है। इस कारण सप्ततत्त्वों का निरूपण सम्यक्त्वी के लिए हितकारी है।'' आत्मा की प्राप्ति होने के बाद उसे अपने स्वरूप में रहना है, फिर बाहर भटकना प्रयोजन रहित है।

आत्मा का ध्यान

प्रश्न- आप प्राय: कहा करते हैं, ''आत्मा का ध्यान करो'', किन्तु यह कार्य बड़ा कठिन प्रतीत होता है। मैं शुद्ध, बुद्ध, ज्ञायक स्वभाव, टंकोत्कीर्ण रूप हूँ; यह कथन बारबार कहते-कहते शुकवाणीवत् बन जाता है। अत: कैसे आत्मा का ध्यान किया जाय ?

उत्तर-''शरीर प्रमाण आत्मा है। उसके बाहर सद्भाव ज्ञात नहीं होता है। संपूर्ण देह में आत्मा है। उसका चिंतन करो। आत्मा को बाहर मत भटकने दो। भीतर चिंतन करने से बाहर का विकल्प दूर हो जायेगा। आत्मा का प्रशान्त चिंतन थोड़े समय तक ही हो पाता है। प्रारम्भ में बाहर के पदार्थों का पता कुछ-कुछ चलता है, शब्दादि का बोध नहीं होता है; किन्तु पश्चात् तोप के छूटने पर भी उसका पता नहीं चलता है।'' यह आचार्यश्री का

कथन उनके अनुभव पर आश्रित है। ऐसे अनुभवी आज कहाँ हैं। बातें करने वाले मिट्ठूलाल बहुत मिलेंगे।

आत्मा की खोज सरल है

उन योगिराज ने कहा,'' ये तिल में तेलवत् इस शरीर में आत्मा व्याप्त है। अपनी आत्मा क्या अपने को नहीं मिलेगी ? समुद्र में मछली की खोज कठिन है; किन्तु लोटे के पानी में वह पड़ी हो, तो उसे पाना सरल है, इसी प्रकार अपने शरीर में विद्यमान आत्मा की खोज भी सरल है। प्रतिदिन आत्मा का चिन्तवन करो। कम से कम दो घड़ी प्रमाण मन-वचन-काय कृत, कारित, अनुमोदना इन नवकोटि से सावद्य दोष का त्याग करो।

आत्मध्यान से लाभ

''इससे ध्यान द्वारा गृहस्थ होते हुए भी तुम महान् निर्जरा करोगे। २४ घंटे में पन्द्रह मिनट आत्मा का ध्यान करो। इससे असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। इसके सिवाय भगवान् ने मोक्ष का दूसरा उपाय नहीं कहा है।''

पुरुषार्थ के लिए प्रेरक उदाहरण

महाराज ने मोक्ष मार्ग में सत्साहसपूर्वक प्रवृत्ति के लिए यह प्रेरक उदाहरण दिया था,''एक राजा था। उसके बुढ़ापे में एक ही पुत्र हुआ। उसे बड़े लाड़ प्यार से पाला। उसने खेल कूद में समय नष्ट कर दिया और कुछ भी विद्या नहीं सीखी। एक दिन राजा ने दीक्षा ले ली और पुत्र को राजा बना दिया ।

उस राज्य पर दूसरे राज्य का आक्रमण हो गया। उस समय एक पत्र ऐसा आया, जिसे राजा के सिवाय दूसरे को पढने की आज्ञा नहीं थी, अत: वह जरूरी पत्र इस नवीन राजा के पास लाया गया। निरक्षर होने के कारण उसे पाते ही उसके नेत्र अश्रुपूर्ण हो गए।

उस समय मन का संताप दूर करने को चतुर मंत्री ने उनको बाहर चलने को कहा। ये बाहर भ्रमणार्थ गए। वहाँ देखा पानी खींचने की कोमल रस्सी से कठोर काला पाषाण गड्ढायुक्त हो गया है। इसी प्रकार प्रयत्न द्वारा क्या मेरी आत्मा मुझे न मिलेगी ? राजा को विद्या सदृश आत्मा का ध्यान भी बनेगा।

प्रयत्न करते रहना हितकारी हैं । ''यत्नवत: श्रेयोस्त्येव'' - सत्कार्य में संलग्न रहकर उद्योग करने वाले का कल्याण ही होता हैं। वह पापास्त्रव से बचकर दुर्गति के सिन्धु में डूबने से बचेगा। जीवन-शोधन की समुज्ज्वल साधना सतत उद्यत रहना सत्पुरुष का प्राथमिक कर्त्तव्य होना चाहिए। शरीरादि की सेवा में अनंत काल बीत चुका है। अब उस अंधकार का मार्ग त्यागकर प्रकाश की ओर आना हितकारी है।

****
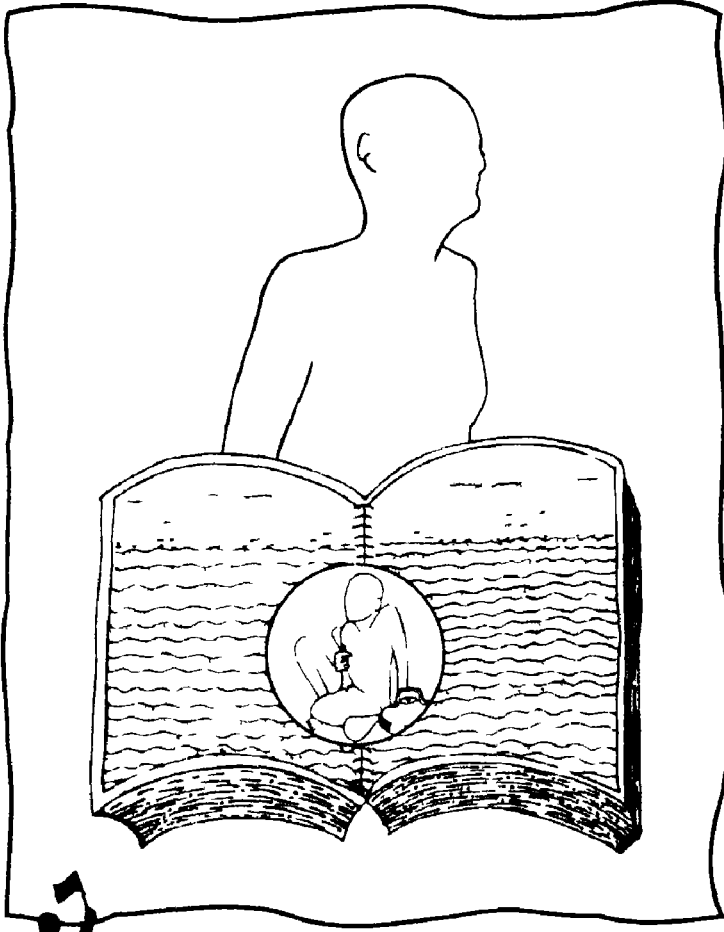
पावन स्मृति

पावन स्मृति

प्रातःस्मणीय आचार्य महाराज तो स्वर्गीय निधि बन गए। अब पावन-स्मृति-मात्र शेष है। उनके पुण्य जीवन के संस्मरण बड़े मधुर, मार्मिक तथा शान्तिदायक हैं। हमने अपने संस्मरणों के साथ अनेक धर्ममूर्ति मुनियों, त्यागियों, श्रावकों आदि के संस्मरणों का संकलन किया है। इन संस्मरणों के माध्यम से उस महान् तपोमूर्ति गुरुदेव के जीवन की एक झलक प्राप्त होती है। इनके द्वारा मोह मलिन मन को विशुद्धता प्राप्त होती है।

कुंथलगिरि पर्यूषण

कुंथलगिरि में आचार्य शांतिसागर महाराज के चातुर्मास में पर्यूषण पर्व पर ता. १२ सितम्बर सन् १९५३ से ता. २६ सितम्बर सन् १९५३ तक रहने का पुण्य सौभाग्य मिला था। उस समय आचार्यश्री ने ८३ वर्ष की वय में पंचोपवास मौनपूर्वक किए थे। इसके पूर्व में भी दो बार पंचोपवास हुए थे। करीब १८ दिन का मौन रहा था। भाद्रपद के माह भर दूध का भी त्याग था। पंचरस तो छोड़े चालीस वर्ष हो गए।

घोर तप

प्रश्न-"महाराज ! घोर तपस्या करने का क्या कारण है ?"

उत्तर-"हम समाधिमरण की तैयारी कर रहे हैं। सहसा आँख की ज्योति चली गई, तो हमें उसी समय समाधि की तैयारी करनी पड़ेगी। कारण, उस स्थिति में समिति नहीं बनेगी, अतः जीवरक्षा का कार्य नही बनेगा। हम तप उतना ही करते हैं, जितने में मन की शांति बनी रहे।"

निर्वाण-भूमि का प्रभाव

प्रश्न-"महाराज ! पाँच-पाँच उपवास करने से तो शरीर को कष्ट होता होगा ?"

उत्तर-"हमें यहाँ पाँच उपवास एक उपवास सरीखे लगते हैं। यह निर्वाण-भूमि का प्रभाव है। निर्वाण-भूमि में तपस्या का कष्ट नहीं होता है। हम तो शक्ति देखकर ही तप करते हैं।"

मौन से लाभ

प्रश्न-"महाराज ! मौन व्रत से आपको क्या लाभ पहुँचता है ?"

उत्तर-"मौन करने से संसार से आधा सम्बन्ध छूट-सा जाता है। सैकड़ों लोगों के मध्य घिरे रहने पर भी ऐसा लगता है, मानो हम अपनी कुटी में ही बैठे हों। उससे मन की

शान्ति बहुत बढ़ती है। मन आत्मा के ध्यान की ओर जाता है। वचनालाप में कुछ न कुछ सत्य का अतिक्रमण भी होता ही है, मौन द्वारा सत्य का संरक्षण भी होता है। चित्तवृत्ति बाहरी पदार्थो की ओर नहीं दौड़ती है।''

महाराज का अनुभव

प्रश्न-''उपवास से क्या लाभ होता है ? क्या उससे शरीर को त्रास नहीं होता है ?''

उत्तर-''आहार का त्याग करने से शरीर को कष्ट क्यों नहीं होगा ? लम्बे उपवासों के होने पर शरीर में शिथिलता आना स्वाभाविक बात है। फिर उपवास क्यों किया जाता है, यह पूछो, तो उसका उत्तर यह होता है कि उपवास द्वारा मोह की मन्दता होती है। उपवास करने पर शरीर नहीं चलता। जब शरीर की सुधि नहीं रहती है, तो रूपया-पैसा, बाल-बच्चों की भी चिन्ता नहीं सताती है। उस समय मोह-भाव मन्द होता है, आत्मा की शक्ति जाग्रत होती है। अपने शरीर की जब चिंता छूटती है, तब दूसरों की क्या चिन्ता रहेगी ?''

''इस विषय के स्पष्टीकरणार्थ महाराज ने एक कथा सुनाई, बन्दर का अपने बच्चे पर अधिक प्रेम रहता है। एक बार एक बंदरिया का बच्चा मर गया, तो वह उस मृत बच्चे को छाती से चिपकाये रही। उस सम. हमने देखा, कुछ बन्दरों ने जबरदस्ती उसके बच्चे को छीनकर नदी में डाल दिया था। बन्दर को पानी में तैरना नहीं आता है। यह हमने प्रत्यक्ष देखा है। इतना प्रेम मृत बच्चे पर बंदरिया का था।''

दूसरी घटना महाराज ने बताई-''एक समय एक हौज में पानी भरा जा रहा था, एक बंदरीया अपने बच्चे को कन्धे पर रखकर उस हौज में थी। जैसे-जैसे पानी बढ़ता जाता था, वह गर्दन तक पानी आने के पूर्व बच्चे को कंधे पर रखकर बचाती रही, किन्तु जब जल की मात्रा बढ़ गई औरस्वयं बंदरीया डूबने लगी, तो उसने बच्चे को पैरों के नीचे दबाया और उस पर खड़ी हो गई, जिससे वह स्वयं न डूबने पावे। इतना ममत्व स्वयं के जीवन पर होता है। उस शरीर के प्रति मोह का भाव उपवास में छूटता है। यह क्या कम लाभ है ?''

उपवास की मर्यादा

प्रश्न-''उपवासों में आपको आकुलता होती है या नहीं ?''

उत्तर-''हम उतने ही उपवास करते हैं, जितने में मन की शांति बनी रहे, जिसमें मन की शान्ति भंग हो, वह काम नहीं करना चाहिए।''

पंचपरमेष्ठी का स्मरण

प्रश्न -''महाराज ! एक ने पहले उपवास का लम्बा नियम ले लिया। उस समय उसे ज्ञान न था, कि यह उपवास मेरे लिए दुःखद हो जायगा। अब वह कष्टपूर्ण स्थिति में क्या करें ?''

उत्तर-''व्रतादि के पालन करने पर जब कष्ट आवे, तो पंचपरमेष्ठी का लगातार नाम

स्मरण करें। हम दृढ़ता से कहते हैं कि पंचपरमेष्ठी के प्रसाद से शरीर की पीड़ा शीघ्र ही दूर हो जायेगी और शांति मिलेगी।"

प्रश्न-"महाराज ! कोई-कोई यह सोचते हैं, कि संजद शब्द धवल सिद्धान्त में रखने वालों की कार्यवाही से आपने दूध का त्याग कर दिया और लम्बे-लम्बे उपवास लिये थे। इसमें क्या सत्य है ?"

समाधि की तैयारी

उत्तर-"हमने कह दिया है कि उपवास का कारण समाधि की तैयारी है। षोडशकारण व्रत के कारण हमने भादों भर के लिए शेष रसों के साथ दूध का भी त्याग किया था। हमें संजद शब्द का जरा भी विकल्प नहीं है। दुनिया भर की बातों का विचार करने से क्या प्रयोजन है ? लिखने वाले स्त्री को संजद तथा तिर्यंचों, नारकियों को भी संजद लिखते रहे, तो भी हमें उसकी चिंता नहीं है। हमें जो कहना था, सो कह दिया, अब हम बार-बार इसमें नहीं पड़ते हैं।" इससे उनकी अद्भुत वीतरागता पर प्रकाश पड़ता है।

प्रतिष्ठा ग्रंथों में बहुभाग लोप

पुनः महाराज ने कहा-"संजद शब्द न रहने से क्या सिद्धान्त का लोप हो गया ? प्रतिष्ठा ग्रन्थों का बहुत-सा भाग काट करके नवीन मनोनीत ग्रन्थ के आधार पर प्रतिष्ठा का कार्य तुम्हारे तरफ किया जाता है। ग्रन्थ का ग्रन्थ काट डाला जाय, किन्तु तुम पंडित लोग इस विषय में अब तक क्यों चुप बैठे रहे ? आश्चर्य है कि तीन अक्षर के न रखे जाने पर तो दुनिया भर में हल्ला मचाया गया, किन्तु ग्रन्थ का ग्रन्थ काटकर प्रतिष्ठा जैसे महान् कार्य की सप्राणता में क्षति पहुँचाते देखकर भी आप लोग चुप बैठे रहे ?"

आचार्य महाराज ने कहा था-"विवेकपूर्वक कार्य करना चाहिये।"

आत्मध्यान का अधिकारी

इस सम्बन्ध में महाराज ने बड़े अनुभव की बात कही थी-"आत्मा का ध्यान निकट संसारी जीव के ही होता है। जिसका भव भ्रमण अधिक शेष है, उससे ऐसा ध्यान नहीं बनेगा।"

जिन प्रभाव की महिमा

प्रश्न- जिन भगवान् का नाम, भाव को बिना समझे भी जपने से क्या जीव के दुःख दूर होते हैं? यदि जिनेन्द्र गुणस्मरण से कष्टों का निवारण होता है, तो इसका क्या कारण है ?

उत्तर- जिस प्रकार अग्नि के आने से नवनीत द्रवीभूत हो जाता है, उसी प्रकार वीतराग भगवान् के नाम के प्रभाव से संकटों का समुदाय भी दूर होता है। जिनेन्द्र भगवान् एक प्रकार से अग्नि हैं, क्योंकि उनके द्वारा कर्मों का दाह किया जाता है।

इस कारण अज्ञ प्राणी भी **'णमो अरिहंताण'** के जप द्वारा कल्याण को प्राप्त करता है। सुभग नाम के गोपाल ने **'णमो अरिहंताण'** की जापमात्र से सुदर्शन सेठ के रूप में जन्म धारण कर मोक्ष प्राप्त किया। इस प्रकार वीतराग भगवान् के नाम में भी अचिंत्य और अपार शक्ति है।

पूजा में आह्वान आदि का रहस्य

प्रश्न-"आचार्य परमेष्ठी या साधु परमेष्ठी के प्रत्यक्ष होते हुए उनका आह्वान आदि करना कैसे उचित होगा ?"

उत्तर-"आह्वान आदि तन्दुल में नहीं किया जाता। पूजक अपने मन में उक्त आह्वान आदि करता है।"

पाप द्वारा पतन

पाप के द्वारा ऊँचे आसान पर अधिष्ठित व्यक्ति भी अवर्णनीय कष्ट को भोगता है। इस विषय में महाराज ने दक्षिण के एक भट्टारक के बारे में यह बताया था कि हीन आचरण के कारण उनके शरीर में कीड़े पड़ गये थे। शरीर से असह्य दुर्गन्ध निकलती थी। मरने पर उस कमरे में घुसने की कोई हिम्मत नहीं करता था, जहाँ मृत शरीर पड़ा था। एक शीशी चन्दन का तेल वहां छिड़का गया। लोगों ने नाक में पट्टी बांधी और अपने शरीर में चंदन का तेल खूब लगाकर बड़ा साहस कर उस शरीर को बाहर निकाला था। पापोदय की ऐसी स्थिति होती है।

विदेह में द्रव्य मिथ्यात्व नहीं है

प्रश्न-"विदेह में मिथ्याधर्म का सद्भाव नहीं कहा है, इसका क्या कारण है ?"

उत्तर-"विदेह में द्रव्य मिथ्यात्व नहीं है। कारण, वहाँ विद्यमान तीर्थंकर द्वारा मोक्ष का सच्चा मार्ग बताया जाता है। वहाँ नित्य चतुर्थ काल रहता है, इसलिये जैसे काल-परिवर्तन के कारण भरतादिक क्षेत्र में द्रव्य मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है, वैसा वहाँ नहीं होता। भरतादि क्षेत्र में उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी के परिवर्तनवश मिथ्याधर्मों का आविर्भाव और विलय हुआ करता है।"

मार्मिक समाधान

प्रश्न-"कूट लेख क्रिया को किस प्रकार अतीचार कहा जायगा ?"

उत्तर-"जैसे आजकल राजकीय कानून के प्रहार से बचने के लिए गृहस्थ देता है हजार रुपया, किन्तु रसीद लिखवाता है उससे अधिक की, ताकि कचहरी में मुकदमा करने में असल रकम आपत्ति से मुक्त रही आवे। व्रती गृहस्थ का भाव धन के अपहरण का नहीं है, किन्तु कार्य तद्रूप सा दिखता है, इससे इसे अतीचार कहा है। यदि वह गृहस्थ

लेख के अनुसार असल से अधिक द्रव्य लेता है तो वह अनाचार दोष हो जायगा।

प्रश्न-"दर्शनविशुद्धिभावनायुक्त क्षयोपशम सम्यक्त्वी और उससे रहित क्षायिक सम्यक्त्वी में कौन महान् है ?"

उत्तर-"तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने वाला क्षयोपशम सम्यक्त्वी महान् है। कारण, वह स्वयं संसार- समुद्र के पार जाते हुए अगणित प्राणियों को भी मोक्ष में पहुँचाता है।"

प्रश्न-"केवली भगवान् के तेरहवें गुण-स्थान में योग का क्या कारण है ?"

उत्तर-"चौरासी लाख उत्तरगुणों की पूर्णता न होने से कर्मो का आस्रव होता है।" अज्ञानतावश छठवें गुणस्थान में ही लोग उत्तरगुणों की पूर्णता सोचते हैं। अयोगकेवली के उत्तरगुणों की पूर्णता होती है।

दयापूर्ण दृष्टि

लोग महाराज को आहार देने में गड़बड़ी किया करते हैं, इस विषय में मैंने श्रावकों को जब समझाया कि जिस घर में महाराज पड़गाहे जाँय, वहाँ दूसरों को बिना अनुज्ञा के नहीं जाना चाहिए, अन्यथा गड़बड़ी द्वारा दोष का संचय होता है। मैं लोगों को समझा रहा था, उस प्रसंग पर आचार्यश्री ने मार्मिक बात कही थी।

महाराज बोले-"यदि हम इस गड़बड़ी को बंद करना चाहें, तो एक दिन में सब ठीक हो सकता है। यदि एक घर के भोज्य पदार्थ का नियम ले लिया, तब क्या गड़बड़ी होगी ? लोगों का मन न दुखे और हमारा काम हो जाय, हम ऐसा कार्य करते हैं।"

आहार की विचित्र कथा

विपरीत परिस्थिति में भी क्षमा भाव न छोड़ना मुनि का धर्म है। इस प्रसंग में एक मुनि की बात आचार्य महाराज ने बताई थी, जिनके हाथ में किसी मूढ़ स्त्री ने खोलती खीर डाल दी। उस खीर को उन्होंने उस स्त्री के ऊपर ही उछाल दिया, वह औरत चिल्ला उठी, तब उन मुनिराज ने कहा-"तूने हमारे हाथ में खौलती खीर डालते समय नहीं सोचा कि इनका क्या हाल होगा ?"

एक बार आचार्यश्री के हाथ में दक्षिण में उबलता दूध एक गृहस्थ ने डाला था, उससे वे मुर्छित हो गए थे, किन्तु उनमें जरा भी अशांति का आविर्भाव नहीं हुआ था। सचमुच में आचार्य शांतिसागर महाराज का नाम सार्थक था, ऐसे महान् साधु इस युग में आश्चर्य की वस्तु थे।

वृद्धा की समाधि

कुंथलगिरि में सन् १९५३ के चातुर्मास में लोणंद की करीब ६० वर्ष वाली बाई ने १६ उपवास किए थे, किन्तु १५ वें दिन प्रभात में विशुद्ध धर्मध्यानपूर्वक उसका शरीरांत

हो गया। उस वृद्धा के उपवास के बारे में एक बात ज्ञातव्य है। उसने महाराज से १६ उपवास माँगे तब महाराज ने कहा-"बाई! तुम्हारी वृद्धावस्था है। ये उपवास नहीं बनेंगे। उसने आग्रह किया और कहा, महाराज ! मैं प्राण दे दूँगी, प्रतिज्ञा भंग नहीं करूँगी। महाराज ने उपवास दे दिये। उस वृद्धा ने प्राण त्याग दिए, किन्तु व्रत भंग नहीं किया। हम स्वयं वहाँ थे। अद्भुत शांति, निर्मलतापूर्वक उसका समाधिमरण हुआ था।"

महाराज ने उसके शोकाकुल कुटुम्बियों से कहा था-"हम खातरी से (निश्चय से) कहते हैं, उस बाई ने देव पर्याय पाई। इतने उपवास से प्राप्त विशुद्धता और निर्वाणभूमि का योग सामान्य लाभ नहीं है। इसके विषय में तुम लोगों के शोक करने का क्या मतलब ?" महाराज के थोड़े-से प्रबोधपूर्ण शब्दों ने कुटुम्बियों का सारा दुःख धो दिया था।

नेमिसागर महाराज का केशलोंच

व्रतों के बाद कुँवार वदी दशमी, शनिवार, १७ अक्टूबर, १९५३ को मुनि नेमिसागरजी का केशलोंच हुआ। नेमिसागरजी का केशलोंच बहुत जल्दी हो गया। उस समय मैंने पूछा-"महाराज, आपको केशों को उखाड़ते देखकर लोगों की आँखों में पानी आ जाता है, किन्तु आपके मुख में तनिक भी विकृति नहीं आती, इसका क्या कारण है ? क्या कष्ट नहीं होता ?"

उत्तर में उन्होंने कहा-"हमें कोई कष्ट नहीं होता। केशलोंच करते बहुत दिन बीत गए। इससे अभ्यास भी हो चुका है।"

उस समय आचार्य महाराज का मार्मिक भाषण हुआ।

आचार्य महाराज का उपदेश

अपने उपदेश में आचार्य मह ज ने कहा था-"भव्यों ! यह जीव चतुर्गति संसार में परिभ्रमण करता चला आ रहा है। देवगति में कल्पवृक्षों द्वारा मनोवांछित पदार्थ मिलते हैं। उपपाद शय्या में सुखपूर्वक जन्म होता है। परिपूर्ण आयु रहती है। बुढ़ापा नहीं होता, किन्तु उसमें बड़ा दोष यह है कि वह सुख अविनाशी नहीं है। नरक में जीव मारा-मारी और बैर भाव आदि के कारण दुःख पाता है। उसका वर्णन कौन कर सकता है ? तिर्यंच पर्याय में बैल, हाथी, भैंसा आदि प्राणी पराधीनतावश पीड़ा पाते हैं। बहुत-से जीव भूख से मर जाते हैं। उनसे शक्ति से अधिक काम लिया जाता है, इससे उन्हें अपार वेदना होती है। उन जीवों में भय की मात्रा भी बहुत होती है। हरिण को व्याघ्र का भय रहता है। मेढ़क को सर्प मारता है। मछली को मछली मार कर खा जाती है। मनुष्य गति में भी स्थायी आनंद नहीं मिलता। स्थिर सुख तो पाँचवी गति मोक्ष में है। वहाँ पंच इन्द्रिय बिना सुख कैसे ? भूखे को अन्न देते हैं, किन्तु क्षुधा की वेदना नहीं है, तो पकवान से क्या

प्रयोजन ? जहाँ इन्द्रिय है, वहाँ उसे तृप्त करने का दुःख होता है। एक इन्द्रिय को तृप्त करते ही दूसरी इन्द्रिय का दुःख उपस्थित होता है। सिद्धों में असली सुख होता है। वैसा सुख दूसरी जगह नहीं। वहाँ जन्म-मरण नहीं है। होटल में भोजन के पैसे लेने के बाद स्थान नहीं मिलता हैं, ऐसे ही देव पर्याय तक में आयु पूर्ण होने के अनन्तर जीव को क्षण भर भी स्थल नहीं मिलता।''

''मनुष्यों में भोजन, वस्त्र, मकान, धन आदि का दुःख रहता है। श्रीमंत को दसगुनी चिंता रहती है। उसके शत्रु भाई-बंधु तक बनते हैं। धन को सँभालने का कम कष्ट नहीं होता। मोक्ष-प्राप्ति के अनंतर ही सच्चा सुख मिलता है। उस सुख के लिए क्या करना चाहिए ?''

''राजा मांडलिक नरेश, चक्रवर्ती को राज्य की मालकी का सुख है, किन्तु उनका शत्रु आयु कर्म है। इतना वैभव, नवनिधि, चौदह रत्न छोड़कर जाना पड़ता है, इससे महान् दुःख होता है।''

''आयु पूर्ण होने पर एक मिनट भी रुकना असम्भव है।इस प्रकार विचारने पर नरक में दुःख, तिर्यंच में दुःख, मनुष्य में दुःख, चारों गतियों में दुःख ही दुःख है। खरा सुख सिद्ध पर्याय में है।''

''मोक्ष का सुख कैसे मिलता है ? आचार्य कहते हैं-'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।' पहले मार्ग का वर्णन करना चाहिए। सम्मेदशिखर जाने के लिए पहले उसके मार्ग का वर्णन करना चाहिए।''

सम्यक्त्व

''सम्यग्दर्शन क्या है ? मिथ्यात्व क्या है ? यह जानना चाहिए।'' महाराज ने कहा-''कौन मिथ्यात्वी है ? हाथ उठाओ।'' उन्होंने पुनः कहा-''सम्यक्त्वी कौन है - हाथ उठाओ।'' इस पर सन्नाटा छा गया।

महाराज के मुखमंडल पर मधुर स्मित आ गया। वे बोले-''केवली भगवान्, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी जानते हैं कि कौन सम्यक्त्वी है।''

''कुंदकुंद स्वामी ने अत्यन्त सरल शब्दों द्वारा सम्यक्त्व को इन शब्दों में बताया है- 'अरहंते सुहभत्ती सम्मत्त' (शील पाहुड ४०) - अरहंत में शुभ भक्ति सम्यक्त्व है। भक्ति का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है :

मनसा कर्मणा वाचा जिननामाक्षरद्वयम्।
सदैव स्मर्यते यत्र सार्हद्भक्तिः प्रकीर्तिता॥

अर्थ : जहाँ मन, वचन, काय द्वारा सदा जिन नाम के अक्षरद्वय का सदा स्मरण होता है, वहाँ अर्हद्भक्ति कही गई है।''

उपाय

"उस सम्यक्त्व का उपाय क्या है ? प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य ये चार गुण सम्यक्त्वी के हैं। कषाय का उपशांत होना प्रशम है। उसका क्षय, क्षीण-कषाय नाम के १२वें गुणस्थान में होता है। केवलज्ञान होने पर कषाय नष्ट हो जाता है।"

उन्होंने कहा-"अग्नि पर राख डालने पर वह घात नहीं करती। इसी प्रकार कषायों के उपशम होने पर होता है।"प्रसंगवश महाराज ने कुंथलगिरि में दिवंगत लोणंद की बाई का उल्लेख करते हुए कहा-"वह भोली सौम्य, सरल बाई थी।'फार चांगली होती'। १६ दिन के पूर्व वह मर गई। क्या तुम नहीं मरोगे ? यह अनित्य भावना सदा करनी चाहिए। इससे विषयों में वैराग्यभाव होता है, इसे संवेगगुण कहा है।"

अनुकम्पा

"अनुकम्पा में एक इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक पर दया की जाती हैं किसी जीव को दुःख नहीं देना चाहिए। खरा करुणाभाव मनुष्य पर्याय में होता है। तिर्यञ्चों में करुणा नहीं होती। कहाँ जीव जीव को खाता है। नरक में करुणा कहाँ है ? देवों में हिंसा का सम्बन्ध नहीं हे, इसलिए वहाँ जीव-दया का प्रश्न नहीं उठता। यह स्मरण रखना चाहिए कि ऋण, हत्या और बैर कभी नहीं छूटते, इसलिए वैर-विरोध छोड़ अनुकम्पा धारणा करना चाहिए।"

आस्तिक्य

"आस्तिक्य नाम का गुण महान् कठिन है। जिनेन्द्र भगवान् की वाणी में प्रगाढ़ श्रद्धा होना उसका स्वरूप है।"

प्रसङ्गवश महाराज ने कहा-"दशाध्याय सूत्र में द्वादशांग का सार भरा है। गणधरदेव १२ सभा में उपस्थित जनता को धर्म बताते थे। कुन्दकुन्दस्वामी ने कहा है- जिसके भेद-विज्ञान है, उसे सम्यक्त्वी जानना चाहिए। प्रत्येक शरीर में आत्मा पृथक् है। भाव मिथ्यात्व के कारण जीव अजीव को एक मानता है। जड़ वस्तु आत्मा से अन्य है। दोनों को एक बोलना मिथ्यात्व है।"

दिगम्बरपना

महाराज ने कहा-"प्रथमानुयोग में बताया है, पहले राजाओं की दीक्षा होती थी। आज गरीब ने दीक्षा ली, तो सोचा जाता है कि उसका पेट नहीं भरता होगा। कालदोष से साधु की उत्पत्ति का मूल्य नहीं है। दिगम्बर अवस्था मोक्ष नहीं है। यह मोक्ष का निमित्त है। मिट्टी से घड़ा बनता है, कुम्भकार निमित्त है। अग्निसंस्कार भी आवश्यक निमित्त है। इसी प्रकार दिगम्बर पर्याय निमित्त है। इसके बिना केवलज्ञान नहीं है।"

भेदविज्ञान

"भेदविज्ञान बिना सम्यक्त्व नहीं होता है। आत्मा का अनुभव होने पर अन्तर्मुहूर्त में कोटि वर्ष पर्यन्त की गई तपस्या से अधिक निर्जरा करता है। आत्मा को कर्मो का निग्रह करना चाहिए।"

सच्चा अध्यात्मवाद

"गृहस्थ क्या करें ? प्रतिदिन आत्मा का चिन्तवन करो। कम से कम दो घड़ी मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से सावद्य दोष का परित्याग करो। इस शरीर में तिल में तैलवत् सर्वत्र आत्मा है। कोन-सा भाग खाली है ? राजपुत्र द्वारा विद्या-प्राप्ती के लिए किए गए उद्योगसदृश पहले आत्मा का ध्यान करो। इसमें मुनि की मुद्रा अन्तिम वेष है। आरम्भ, मोह, कषाय के क्षयार्थ यह वेष आवश्यक है। जो इस मुद्रा को धारण नहीं कर सकते, वे गृहस्थ होते हुए आत्मा का ध्यान कर निर्जरा करते हैं। चौबीस घण्टे में कम से कम पन्द्रह मिनट पर्यन्त आत्मा का ध्यान करो। इससे असंख्यातगुणी निर्जरा होती हैं इस आत्मा का ध्यान न करने से तुम अनंत संसार में फिरते रहे। इसके सिवाय मोक्ष का दूसरा उपाय नहीं है, ऐसा भगवान् ने कहा है। इससे अविनाशी, सुखपूर्ण, मोक्ष की प्राप्ति के लिए आत्मा का ध्यान अवश्य करना चाहिए।"

मंत्रों का महत्व

प्रश्न-"ह्रां ह्रीं ह्रुं ह्रूं ह्रें ह्रैं ह्रौं ह्रः' शब्दों का क्या भाव है ?"

उत्तर-"ये ऋद्धिधारक मुनियों के वाचक शब्द हैं।"

महाराज ने कहा-"यह उपयोगी मंत्र है,'ॐ अरहंत-सिद्ध-साधुभ्यो नमः'- ३५ अक्षर के मंत्र के जपने से महान् फल होता है। उतना फल छोटे मंत्र के अधिक जाप द्वारा सम्पन्न होगा।"

महाराज ने कहा था-"हमने धर्मसंकट आने पर ही उस लक्ष्य से सवा लाख जाप किया था, अपने स्वास्थ्य लाभार्थ हमने कभी भी जाप नहीं किया।"

१९५३ में हमने महाराज में विशेषता देखी। उनकी दृष्टि में अपूर्व परिवर्तन था। महाराज का हृदय वैराग्य और स्वोन्मुखता से अधिक ओतप्रोत हो रहा था।

महाराज के जाप का मंत्र

मन्त्र-(१) ॐ ह्रां ह्रीं ह्रुं ह्रूं ह्रें ह्रैं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा महावीर स्वामी धर्मसंकटनिवारणाय सिद्धाधिपतये स्वाहा।

(२) ॐ अरहंत-सिद्ध-साधुभ्यो नमः।

प्रश्न-"महाराज, इस महान् तपस्या से शरीर को कष्ट होता है या नहीं ?"

उत्तर- (उस समय महाराज का मौन था- पाँच दिन का उपवास भी था, इसलिए उन्होंने संकेत द्वारा अपने हृदय की ओर हाथ दिखाते हुए यह सूचित किया-"आत्मा की शक्ति पर भरोसा है।") मैंने यही शब्द कहे, तो महाराज ने सिर हिला कर इसका समर्थन किया। लोगों के बहुत पत्र आते थे। सब उन्हें नमोस्तु लिखते थे। एक दिन उन्होंने समुदाय रूप यह आदेश हमें दे दिया-"जो हमें नमस्कार लिखे, उसे हमारा आशीर्वाद लिख दो।"

पाँच उपवास के समय मौन की स्थिति में महाराज को मास्टर गो. वा. वीड़कर मधुर स्वर में आध्यात्मिक पद सुना रहे थे। हमने समन्तभद्राचार्य का 'सुश्रद्धाममते मत' वाला श्लोक सार्थ सुनाया। उस समय उनके मुखमंडल पर आनन्द की ज्योति जग गई। जिनेन्द्र भक्ति की पीयूषवर्षिणी धारा से समन्तभद्र स्वामी का हृदय कितना विशुद्ध था, यह उनके मन में अंकित हो गया था।

हम पर परम कृपा

एक दिन महाराज ने कहा था-"पहले सोचा था तुम यहाँ व्रतों में आवोगे, इससे मौन नहीं लेना चाहिए, पश्चात् आत्मा की प्रवृत्ति उस ओर हो गई, इससे मौन ले लिया था।" फिर कहने लगे-"लोगों के साथ वचनालाप करने में सार क्या है ? जिनके कान पर शब्द पड़ते हैं, उनके हृदय पर कुछ भी प्रभाव नहीं दिखता। हमारा विचार तो आगे भी ऐसा ही मौन धारण का होता है। ५ उपवास के बाद गुरुदेव ने पारणा करके आगे ५ उपवास की प्रतिज्ञा की। उस समय पूज्यश्री ने कहा-"हमने तुम्हारे कारण मौन का नियम नहीं लिया। हमने सोचा शास्त्री इतनी दूर से आया है। उसे दुःख होगा। अतः मौनरहित उपवास की प्रतिज्ञा ली है।"

मुझे अपूर्व आनंद आया, कि इन लोकोत्तर महापुरुष की हम पर इतनी कृपा है।

मौन का महत्व

मौन द्वारा आत्मा की शक्तियों का अपव्यय रुक जाने से आत्मजागृति के योग्य विशेष परिस्थिति विवेकी साधक को प्राप्त होती है। तीर्थङ्कर दीक्षा के बाद मौनव्रती होकर महामौनी कहे जाते हैं। यदि मौन में महत्व न होता, तो चार ज्ञानधारी तीर्थंकर भगवान् उसका परिपालन नहीं करते। अंग्रेज पादरी कारलाइल कहता है '**Silence is the element in which great things fashion themselves**'- मौन एक ऐसा तत्व है, जिसमें महान् कार्य संपन्न किए जाते हैं।

ईर्यासमिति का भाव

१६ सितम्बर, १९५३ भादों सुदी ८ की बात थी। नेमिसागरजी पहाड़ पर जा रहे थे।

मैंने उनसे पूछा-"महाराज ! आप लम्बा प्रवास करते समय कैसे ईर्यासमिति का पालन कर सकते हैं ?" उत्तर में उन्होंने बताया-"हम एक घण्टे में तीन मील चलते हैं। मन्दिर-प्रवेश के सम्बन्ध में बम्बई जाकर सिद्धाग्रह निमित्त हम चले थे। सूर्योदय से सूर्यास्त पर्यन्त सामायिक का काल छोड़कर १० घण्टे चलते थे। उपवास था, इससे ३० मील तक चले गये थे।"

ईर्यासमिति का भाव स्पष्ट करने के लिए उन्होंने पर्वत पर बिना रुके हुए चढ़कर बताया, जिससे यह ज्ञात होता था कि शिखरजी की पहाड़ी पर इन साधुओं को जाते हुए अल्पकाल में जीवरक्षा होते हुए, लम्बा विहार कैसे होता था ? असल बात यह है कि ये आत्मयोगी साधु चलते समय बीच में विश्राम लेना या रुकना नहीं जानते। इससे समय बचता है और अधिक यात्रा होती है। अशक्त गृहस्थों के समान ये न रास्ते में ठहरते हैं, न गति धीमी ही करते हैं। सतत विहार करते रहने से शरीर के स्नायुमण्डल मजबूत रहते हैं।

वास्तुशास्त्र-निपुण

पर्वत पर एक शांति कुटी बनी। उसके निर्माण के समय बड़े-बड़े कान्ट्रेक्टरों से महाराज की जो बात होती थी, उससे स्पष्ट होता था कि वे वास्तुशास्त्र में भी पूर्ण प्रवीण हैं।

अद्भुत तेज-सम्पन्न शरीर

भादों सुदी नवमी को महाराज शास्त्र-सभा में से बीच में ही कुछ काल के लिए उठ गए। उनके सिवाय सभी पुरुष तथा महिला मण्डली शास्त्र में बैठी थी, किन्तु ऐसा लगा कि मानों वहाँ विपुल तेज वाली आत्मा नहीं हैं। इससे मन में सूनापन-सा लगता था। थियासफी (**theosophy**) वाले जिसे ओजशक्ति (**aura**) कहते हैं, यह महाराज में गजब की वृद्धिंगत मालूम पड़ती थी।

संयम के लिए प्रेरणा

संयम के लिए मार्मिक प्रेरणाप्रद बात कहते हुए वे बोले-"आप पंडित लोग सबको धर्म की बात बताते हो, किन्तु स्वयं उन पर नहीं चलते। यह तो धोबी का काम है जो सबके वस्त्र धो-धोकर स्वच्छ करता है, किन्तु अपने शरीर को मलिन वस्त्रों से ढाँके रखता है।"

दीनों के हितार्थ विचार

कुंथलगिरि में पर्यूषण पर्व में महाराज ने गरीबों के हितार्थ कहा था कि-"सरकार को प्रत्येक गरीब को जिसकी वार्षिक आमदनी १२० रु. हो, पाँच एकड़ जमीन देनी चाहिए और उसे जीववध तथा मांस का सेवन न करने का नियम कराना चाहिए। इस उपाय से छोटे लोगों का उद्धार होगा।" महाराज के ये शब्द बड़े मूल्यवान हैं-"शूद्रों के साथ जीमने से उद्धार नहीं होता। उनको पाप से ऊपर उठाने से आत्मा का उद्धार होता है। जब

तक पाप-प्रवृत्तियों से जीव को दूर कर पुण्य की ओर उसका मन नहीं खींचा जायगा, तब तक उसका कैसे उद्धार होगा ?''

मार्मिक बात

समन्तभद्रस्वामी ने कहा है 'पापं अरातिः'- पाप शत्रु है। 'धर्मः बंधुः' अर्थात् धर्म बंधु है। उन्होंने पुण्य अरातिः नहीं कहा हैं। जो गृहस्थ आगम के बन्धन मे विमुक्त हो गए हैं वे 'पुण्यं अरातिः पापः बंधुः' के पाठ द्वारा अपनी अद्‌भुत तत्वदृष्टि को पोषण प्रदान करते हैं। जीवन में वे पुण्यवानों के प्रति दासता दिखाते हैं, किन्तु वाणी से कहते हैं 'पुण्यं शत्रुः, पापः बन्धुः'। भवितव्यतानुसार बुद्धि होती है।

शासन का दोष

वर्तमान देश के अनैतिक वातावरण पर चर्चा चलने पर महाराज ने कहा था-''इस भ्रष्टाचार में मुख्य दोष प्रजा का नहीं, शासनसत्ता का है। गांधीजी ने मनुष्य सामान्य पर दया के द्वारा लोक में यश और सफलता प्राप्त की और जगत् को चकित कर दिया। इससे तो धर्म का गुण दिखाई देता है। यह दया यदि जीवमात्र पर हो जाय तो उसका मधुर फल अमर्यादित हो जायगा। आज तो सरकार जीवों के घात में लग रही है, यह अमंगलरूप कार्य है। भगवान् की वाणी है 'हसा-प्रसूतानि सर्वदुःखानि' - समस्त कष्टों का कारण हिंसात्मक जीवन है।''

शुभ चिन्ह

एक दिन महाराज कहने लगे-''दिन को न सोना शुभ चिन्ह है। संघपति गेंदनमल का हमारा करीब ३० वर्ष का परिचय है। वे कभी भी दिन को नहीं सोते, चाहे रात को कितने भी जगे हों।''

जन्मांतर का अभ्यास

महाराज ने संघपतिसेठ गेंदनमलजी के समक्ष हमसे कहा था कि हमें ऐसा लगता है, ''इस भव के पूर्व में भी हमने जिन मुद्रा धारण की होगी।''

हमने पूछा-''आपके इस कथन का क्या आधार है ?''

उत्तर-''हमारे पास दीक्षा लेने पर पहले मूलाचार ग्रंथ नहीं था, किन्तु फिर भी हम अपने अनुभव से जिस प्रकार प्रवृत्ति करते थे, उसका समर्थन हमें शास्त्र में मिलता था- ऐसा ही अनेक बातों में होता था। इसमें हमें ऐसा लगता है कि हम दो-तीन भव पूर्व अवश्य मुनि रहे होंगे।''

गृहस्थ जीवन पर चर्चा

अपने विषय में पूज्यश्री ने कहा-''हम अपनी दुकान में ५ वर्ष बैठे। हम तो घर के

स्वामी के बदले में गड़ी-बाहरी आदमी की तरह रहते थे।"

उदास परिणाम

उनके ये शब्द बड़े अलौकिक है - "जीवन में हमारे कभी भी आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान नहीं हुए। घर में रहते हुए हम सदा उदास भाव में रहते थे। हानि-लाभ, इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग आदि के प्रसंग आने पर भी हमारे परिणामों में कभी भी क्लेश नहीं हुआ।"

"हमने घर में ५ वर्ष पर्यंत एकासन की ओर ५ वर्ष पर्यंत धारण-पारणा अर्थात् एक उपवास, एक आहार करते रहे।"

मित्र

रुद्रप्पा नामक मित्र के बारे में उन्होंने बताया था-"वह श्रीमंत का पुत्र था। वह अपने कमरे का दरवाजा बन्द करके घर में चुपचाप बैठा रहता था। वह और किसी से बात नहीं करता था। हमसे बात करता था और हम पर बड़ा स्नेह करता था। वह पक्का सत्यभाषी था।"

अपना स्वभाव

महाराज ने अपने विषय में कहा-"हम कहते थे, तो बिना दस्तखत कराये लोग हजारों रुपया दे देते थे। हमारा कभी भी किसी से झगड़ा नहीं होता था। हम कभी भी दूसरे की निंदा के काम में नहीं पड़े। पिता की मृत्यु के बाद शीघ्र ही हमने दीक्षा ली। ५ वर्ष पर्यंत हमने केवल दूध और चावल लिया था।

निमित्त कारण का महत्व

महाराज ने कहा था-"निमित्त कारण भी बलवान है। सूर्य का प्रकाश मोक्ष मार्ग में निमित्त है। यदि सूर्य का प्रकाश न हो तो मोक्षमार्ग ही न रहे। प्रकाश के अभाव में मुनियों का विहार-आहार आदि कैसे होंगे ?"

उन्होंने कहा-"कुंभकार के बिना केवल मिट्टी से घट नहीं बनता। इसके पश्चात् उसका अग्निपाक भी आवश्यक है।" जो निमित्त कारण को अकिंचित्कर मानते हैं, वे आगम और अनुभव तथा युक्तिविरुद्ध कथन करते हैं।

आत्मचिंतन द्वारा निर्जरा

सन् १९५४ के पर्यूषण में महाराज ने फलटण में अपने उपदेश में कहा-"पाँच से पंद्रह मिनिट पर्यन्त आत्मचिंतन करो। इससे निर्जरा होती है। इससे सम्यक्त्व होगा। दान-पूजा से पुण्य होता है। जन्म पर्यन्त आत्मा का चिंतन करो।" तिलोयपण्णत्ति में भगवान् की पूजा को कम्मक्खवणणिमित्तं (८-५८८) कर्मक्षय का निमित्त कारण कहा है। दान-पूजा द्वारा पाप क्षय होता है और पुण्य का बंध होता है।

शास्त्रदान की प्रेरणा तथा शास्त्र के व्यापार का निषेध

महाराज कहा करते थे-"शास्त्र दान करो। इसमें बड़ी शक्ति है। शास्त्रदान से केवली होता है। शास्त्र के व्यापार से ज्ञानावरण का बंध होता है। शास्त्र के शब्द अंजन चोर के कान में पड़े थे। उससे उसकी सद्गति हुई। शास्त्र के द्वारा सब जीवों का हित होता है।"

मार्मिक विनोद

आचार्यश्री सदा गंभीर ही नहीं रहते थे। उनमें विनोद भी था, जो आत्मा को उन्नत बनाने की प्रेरणा देता था। कुंथलगिरि में अध्यापक श्री गो. वा. वीडकर ने एक पद्य बनाया और मधुर स्वर में गुरुदेव को सुनाया। उस गीत की पंक्ति थी-"ओ नींद लेने वाले, तुम जल्द जाग जाना।" उसे सुनकर महाराज बोले-"तुम स्वयं सोते हो और दूसरों को जगाते हो। 'बगल में बच्चा, गाँव में टेर'-कितनी अद्भुत बात है।" यह कहकर वे हँसने लगे।

विहार करते समय

सन् १९५३ में कुंथलगिरि में चातुमास के उपरान्त महाराज का एकदम प्रस्थान हो गया। उनके मन की बात को साथ के मुनि नेमिसागर महाराज भी नहीं जानते थे।आचार्यश्री ने एक दिन कहा था,"हम किसी की नहीं सुनते हैं। हमारा अंतःकरण जैसा कहता है, वैसा हम करते है।" सचमुच में लोकोत्तर पुरुषों की अंतरात्मा (inner voice) जो कहती है, तदनुसार उनकी प्रवृत्ति होती है। पुण्य जीवन होने के कारण उनकी पवित्र आत्मा के द्वारा सदा सम्यक् पथ-प्रदर्शन होता है। जाते-जाते वे बोले-"आम्हीं जात नांही पुनः येथें येऊ। मी हे स्थान पसंद केले आहे"-"मैं नहीं जा रहा हूँ। पुनः यहाँ आऊंगा। मुझे यह स्थान पसन्द आ गया है।"

अपने जाने का कारण मुनिनाथ ने कहा-"मुनि एक स्थान पर निरन्तर नहीं रहते। स्थानान्तर में जाना जरूरी है।"

इस प्रसंग में मुनि नेमिसागर महाराज ने कहा-"जिस प्रकार नदी का प्रवाह एक जगह स्थिर नहीं रहता है, उसी प्रकार मुनियों का भी सदा विहार होता रहता है।"

इस पर एक भक्त ने कहा-"महाराज! आप नदी हैं कहाँ ? आप तो सागर हैं। सागर तो एक ही जगह रहता है।" यह बात सुनते ही आचार्यश्री के मुखमंडल पर मधुर स्मित की आभा आ गई। उन्होंने कहा-"हम शीघ्र फिर यहाँ आवेंगे। उनकी वाणी पूर्ण सत्य रही।"

आत्मभवन का निर्माता

आचार्य श्री के पास बैठने वाले छोटे-बड़े सभी व्यक्तियों को विशेष स्फूर्ति प्राप्त होती थी। जब महाराज मौन से बैठते थे, तब भी उनके समीप रहने से मन को प्रसन्नता प्राप्त

होती थी। महाराज बोलते कम थे, किन्तु जो शब्द निकलते थे, नपे-तुले रहा करते थे।

एक दिन कुन्थलगिरि की धर्मशाला में एक जगह ब्र. भरमप्पा सीमेंट लगाने में तन्मय थे। एक व्यक्ति बोला, "महाराज ! भरमप्पा गौडी-कारीगर है।" दूसरा कहने लगा-"महाराज को अच्छा न लगेगा, ऐसी बात मत कहो।" वीडकरजी ने कहा- "महाराज ! आपके सत्संग से भरमप्पा आत्ममंदिर की इमारत बनाने का उद्योग कर रहा है। इससे वह कारीगर तो है ही।" महाराज हँस पड़े। वास्तव में महाराज ने ब्र. जी को क्षुल्लक दीक्षा देकर अन्त में आत्मभवन का शिल्पी बना दिया था। क्षुल्लक होने के बाद ऐलक होकर उनका १६६६ के लगभग स्वर्गारोहण हो गया।

गुरूदेव की कृपा

कुन्थलगिरि में १६५५ में सल्लेखना धारण करने के कुछ दिन पूर्व पूज्यश्री ने हमारी याद की थी और लोगों से कहा था-"ज्या ठिकाणीं आमचा चातुर्मास होतो, त्या ठिकाण चा एक ही भाद्रपद चुकत नाहींत. (जिस स्थान पर हमारा चातुर्मास होता है, वहाँ के एक भी भाद्रमास में आने में यह नहीं चूका है।)" उनका विश्वास था कि मैं भाद्रपद में उनके समीप ही पर्यूषण व्यतीत करूँगा, किन्तु पर्यूषण के तीन दिन पूर्व भादों सुदी द्वितीया को ही वे महर्षि स्वर्गीय निधि बन गए। सबका सौभाग्यसूर्य अस्तंगत हो गया।

जीर्णोद्वार की प्रशंसा

एक धार्मिक व्यक्ति ने पाँच मन्दिरों का जीर्णोद्वार कराया था। उसके बारे में आचार्यश्री कहने लगे-"जिन मन्दिर का काम करके इसने अगले भव के लिए अपना सुन्दर भवन अभी से बना लिया है।"

बन्ध तथा मुक्ति

आचार्यश्री किसी विषय को स्पष्ट करने के लिए बड़े सुन्दर दृष्टांत देते थे। एक समय वे कहने लगे-"यह जीव अपने हाथ से संकटमय संसार का निर्माण करता है। यदि यह समझदारी से काम लें तो उस संसार को शीघ्र समाप्त भी स्वयं कर सकता है।"

उन्होंने कहा-"एक बार चार मित्र देशाटन को निकले। रात्रि का समय जंगल में व्यतीत करना पड़ा। प्रत्येक व्यक्ति को तीन-तीन घंटे पहरे देने को बाँट दिये गये। प्रारम्भ के तीन घंटे उसके भाग में आए, जो बढ़ई का काम करने में प्रवीण था। समय व्यतीत करने को बढ़ई ने लकड़ी का टुकड़ा काटा और एक शेर की मूर्ति बना दी। दूसरा व्यक्ति चित्रकला में निपुण था। उसने उस मूर्ति को सुन्दरतापूर्वक रंग दिया, जिससे वह असली शेर सरीखा जँचने लगा। तीसरा साथी मंत्रवेत्ता था। उसने उस शेर में मंत्र द्वारा प्राण-संचार का उद्योग किया। शेर के शरीर में हलन-चलन होते देख मांत्रिक झाड़ पर चढ़

गया। उसके पश्चात् तीनों साथी भी वृक्ष पर चढ़ गए। शेर ने अपना रौद्ररूप दिखाना प्रारम्भ किया। चौथा साथी बड़ा बुद्धिमान तथा तांत्रिक था। उसने अपने मित्रों से सारी संकट की कथा का रहस्य जान लिया। उसने मांत्रिक मित्र से कहा-'डरने की कोई बात नहीं है। तुमने ही तो काष्ठ के शरीर में अपने मंत्र द्वारा प्राण-प्रतिष्ठा की थी। तुम अपनी शक्ति को वापिस खींच लो, तब जड़रूप व्याघ्र क्या करेगा ?' मांत्रिक ने वैसा ही किया। व्याघ्र पुनः जड़रूप हो गया।"

"इस दृष्टान्त का भाव यह है कि जीव स्वयं रागद्वेष द्वारा संकट रूप शेर के शरीर में प्राणप्रतिष्ठा करता है। यह चाहे तो रागद्वेष को दूर करके कर्मरुपी शेर को समाप्त भी कर सकता है। रागद्वेष के नष्ट होने पर कर्म क्या कर सकते है ? राग-द्वेष के नष्ट होते ही शीघ्र संसार भ्रमण दूर होकर जीव मुक्ति लक्ष्मी को प्राप्त करता है।"

कथा द्वारा शिक्षा

आचार्य महाराज ने बड़वानी की तरफ वंदनार्थ विहार किया था। संघ के साथ में तीन धनिक गुरुभक्त तरुण भी थे। वे बहुत विनोदशील थे। उनका हासपरिहास का कार्यक्रम सदा चलता था। उन तीनों को विनोद में विशेष तत्पर देखकर आचार्यश्री ने एक शिक्षाप्रद कथा कही :

"एक बड़ी नदी थी। उसमें नाव चलती थी। उस नौका में एक ऊँट सवार हो गया। एक तमाशेवाले का बन्दर भी उसमें बैठा था।इतने में एक बनिया अपने पुत्र सहित नाव में बैठने को आया। चतुर धीवर ने कहा-"इस समय नौका में तुम्हारे लड़के को स्थान नहीं दे सकते। यह बालक उपद्रव कर बैठेगा, तो गड़बड़ी हो जायगी।"

चालाक व्यापारी ने मल्लाह को समझा-बुझाकर नाव में स्थान जमा ही लिया। पैसा क्या नहीं करता। नौका चलने लगी। कुछ देर के बाद बालक का विनोदी मन न माना। बालक तो बालक ही था। उसने बंदर को एक लकड़ी से छेड़ दिया।

चंचल बंदर उछला और ऊंट की गर्दन पर चढ़ गया। ऊँट घबड़ा उठा। ऊँट के घबड़ाने से नौका उलट पड़ी और सबके सब नदी में गिर पड़े। ऐसी ही दशा बिना विचारकर प्रवृत्ति करने वालों की होती है। बच्चे के विनोद ने संकट उत्पन्न कर दिया। इसी प्रकार यदि अधिक गप्पों में और विनोद में लगोगे, तो उक्त कथा के समान कष्ट होगा। गुरुदेव का भाव यह था, कि जीवन को विनोद में ही व्यतीत मत करो। जीवन का लक्ष्य उच्च और उज्ज्वल कार्य करना है।"

आचार्य महाराज सन् १९२४ के लगभग अकलूज में पधारे थे। वहाँ एक सपन्न, धार्मिक तथा प्रभावशाली जैन बन्धु थे। उनकी धार्मिक प्रवृत्ति देखकर महाराज ने कहा-"पहिले राजा दीक्षा लेते थे। उनका अनुकरण जनता किया करती थी। आज तुम्हारे सरीखे

श्रीमन्त लोग यदि दीक्षा लें, तो दूसरे पुरुष भी तुम्हारी त्याग वृत्ति का अनुकरण करेंगे।''

वे जैन भाई कहने लगे-''महाराज! मेरा ध्येय दूसरा है। मैं धन कमाना और दान देना अपना कर्तव्य मानता हूँ।''

महाराज-''अरे भाई! कीचड़ में गिरना और गंगा स्नान करना, चोरी करना और दान-शाला का संचालन करने से क्या लाभ ? दीक्षा लेकर नर भव को सफल करना चाहिए।'' आजकल ऐसे अनेक गंगास्नान करने वाले धनिक शिरोमणियों के दर्शन बहुधा होते हैं। शासन की कुशासनशैली ने ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी है, गज स्नान वृत्ति वाले बढ़ते जाते हैं। परलोक जाने पर क्या होगा यह आगम बतावेगा।

सुलझी हुई मनोवृत्ति

एक समय एक महिला ने भूल से आचार्य महाराज को आहार में वह वस्तु दे दी, जिसका उन्होंने त्याग कर दिया था। उस पदार्थ का स्वाद आते ही वे अंतराय मानकर आहार लेना बन्द कर चुपचाप बैठ गये। उसके पश्चात् उन्होंने पाँच दिन का उपवास किया और कठोर प्रायश्चित भी लिया। यह देखकर वह महिला महाराज के पास आकर रोने लगी कि मेरी भूल के कारण आपको इतना कष्ट उठाना पड़ा।

महाराज ने उस वृद्धा को बड़े शान्त भाव से समझाते हुए कहा-''तू क्यों खेद करती है। मेरे अन्तराय का उदय आने से ऐसा हुआ है। तूने यदि यथार्थ में देखा जाय, तो मेरा उपकार किया है। तेरे कारण ही मुझे इस शान्ति तथा आनन्द प्रदाता व्रत लेने का सुअवसर मिला। व्रत में कष्ट नहीं होता, आत्मा को अपूर्व शान्ति मिलती है।''

यथार्थ में आचार्य महाराज निसर्ग सिद्ध (**born saint**) साधु रहे हैं। जिस तपस्या को देखकर लोग घबड़ाते हैं, उससे उनके मन को शान्ति और आत्मा को बल प्राप्त होता था। आचार्यश्री अपनी शक्ति को देखकर ही तप करते थे, जिससे संक्लेश-भाव की प्राप्ति न हो।

त्याग और स्वावलंबन

समाज में त्याग के क्षेत्र में अद्भुत प्रवृत्ति है। बहुत-से ऐसे भी त्यागी मिलते हैं, जो एक भी प्रतिमा रूप व्रत नहीं लेते हैं, किन्तु भोली समाज के बीच बड़े त्यागी के नाम से पूजा-प्रतिष्ठा का रसास्वादन करते हैं। शरीर में शक्ति-सामर्थ्य रहते हुए भी हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाते हैं। और समाज द्वारा भरण-पोषण की अपेक्षा करते हैं।

सप्तम प्रतिमाधारी व्यापारी

आचार्य महाराज ने एक गृहस्थ को सातवीं प्रतिमा के व्रत दिये। वह व्यापारी था। महाराज ने उससे कहा-''तुम व्यापार कर सकते हो। न्यायपूर्वक और सत्य रीति से

तुमको व्यापार करना चाहए।" इससे उन लोगों को प्रकाश मिल सकता है, जो नैष्ठिक बनने के पूर्व ही त्यागी-उदासीन का रूप धारण कर स्वावलंबन की प्रवृत्ति से विमुख हो जाया करते हैं। ऐसे लोग समाज पर भार रूप नहीं, तो क्या है ?

असाधारण ज्ञान-शक्ति

महाराज के विचारों में मौलिकता रहती थी, उनकी अनेक विषयों में दक्षता देख आश्चर्य होता था। वास्तव में बात यह है कि जैसे उनका चरित्र अपूर्व था, उसी प्रकार उनका क्षयोपशम भी असाधारण रहा है। भारत के कोने-कोने से आगत हजारों व्यक्तियों का नाम आदि उनको ऐसा ही याद रहा है, जैसे किसी बुद्धिमान तरुण को सब बातें याद रहती हैं। महाराज ने मुझसे कहा था-"जिस चीज को हम एक बार ध्यान से देख लेते हैं, उसे नहीं भूलते हैं।" जब हम महाराज की जन्मभूमि भोज में पहुंचे थे और इनके विषय में परिचयात्मक सामग्री का संग्रह कर रहे थे, तब यह ज्ञात हुआ था कि महाराज बाल्यकाल से ही असाधारण स्मृतिशक्ति समन्वित रहे हैं। उनकी प्रतिभा, शास्त्राभ्यास, धारणाशक्ति आदि के कारण देश के बड़े से बड़े शास्त्रज्ञ तथा लोक-विद्या के निष्णात लोग उन साधुराज के पास से ज्ञानसंवर्धक सामग्री का संचय करते थे। उनकी तर्कशक्ति भी महान् थी। श्रेष्ठ कानून वेत्ता भी उनकी तर्कशक्ति को प्रणाम किये बिना नहीं रहता था।

बाल विवाह प्रतिबंधक कानून के प्रेरक

भारत सरकार के द्वारा बाल-विवाह कानून निर्माण के बहुत समय पहले ही आचार्य महाराज की दृष्टि उस ओर गयी थी। उनके ही प्रताप से कोल्हापुर राज्य में सर्वप्रथम बालविवाह प्रतिबंधक कानून बना था।

इसकी मनोरंजक कथा इस प्रकार है। कोल्हापुर के दीवान श्री ए.बी. लट्ठे दिगम्बर जैन भाई थी। श्री लट्ठे की बुद्धिमता की प्रतिष्ठा महाराष्ट्र प्रान्त में व्याप्त थी। कोल्हापुर महाराज उनकी बात को बहुत मानते थे। श्री लट्ठे बंबई प्रांत के कुशल वित्त मंत्री बने थें।

एक बार कोल्हापुर में शाहुपुरी के मंदिर में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा हो रही थी। वहाँ आचार्यश्री विराजमान थे। दीवान बहादुर श्री लट्ठे प्रतिदिन सायंकाल के समय महाराज के दर्शनार्थ आया करते थे। एक दिन लट्ठे महाशय ने आकर आचार्यश्री के चरणों को प्रणाम किया। महाराज ने आशीर्वाद देते हुए कहा-"तुमने पूर्व में पुण्य किया है, जिससे तुम इस राज्य के दीवान बने हो और दूसरे राज्यों में तुम्हारी बात का मान है। मेरा तुमसे कोई काम नहीं है। एक बात है, जिसके द्वारा तुम लोगों का कल्याण करा सकते हो। कारण, कोल्हापुर के राजा तुम्हारी बात को नहीं टालते।"

दीवान बहादुर लट्ठे ने कहा-"महाराज ! मेरे योग्य सेवा सूचित करने की प्रार्थना है।

महाराज बोले, छोटे-छोटे बच्चों की शादी की अनीति चल रही है। अबोध बालक-बालिकाओं का विवाह हो जाता है। लड़के के मरने पर बालिका विधवा कहलाने लगती है। उस बालिका का भाग्य फूट जाता है। इससे तुम बाल-विवाह-प्रतिबंधक कानून बनाओ। इससे तुम्हारा जन्म सार्थक हो जायगा। इस काम में तनिक भी देर नहीं हो।''

कानून के श्रेष्ठ पंडित दिवान लट्ठे साहब की आत्मा आचार्य महाराज की बात सुनकर अत्यन्त हर्षित हुई। मन ही मन उन्होंने महाराज की उज्ज्वल सूझ की प्रशंसा की। गुरुदेव को उन्होंने यह अभिवचन दिया कि आपकी इच्छानुसार शीघ्र ही कार्य करने का प्रयन्त करूंगा।

दीवान श्री लट्ठे की कार्यकुशलता

गुरूदेव के चरणों को प्रणाम कर लट्ठे साहब महाराज कोल्हापुर के महल में पहुँचे। महाराज साहब उस समय विश्राम कर रहे थे, फिर भी दीवान का आगमन सुनते ही बाहर आ गये।

दीवानसाहब ने कहा, ''गुरु महाराज बाल-विवाह प्रतिबन्धक कानून बनाने को कह रहे हैं। राजा ने कहा, तुम कानून बनाओं मैं उस पर सही कर दूँगा।'' तुरन्त लट्ठे ने कानून का मसौदा तैयार किया। कोल्हापुर राज्य का सरकारी विशेष गजट निकाला गया, जिसमें कानून का मसौदा छपा था। प्रातःकाल योग्य समय पर उस मसौदे पर राजा के हस्ताक्षर हो गये। वह कानून बन गया।

दोपहर के पश्चात् सरकारी घुड़सवार सुसज्जित हो एक कागज लेकर वहाँ पहुंचा, जहाँ आचार्य शांतिसागर महाराज विराजमान थे।

लोग आश्चर्य में थे कि अशांति और उपद्रव के क्षेत्र में विचरण करने वाले वे शस्त्रसज्जित शाही सवार यहाँ शान्ति के सागर के पास क्यों आए हैं ? महाराज के पास पहुँचकर उन शस्त्रालंकृत घुड़सवारों ने उनको प्रणाम किया और उनके हाथ में एक राजमुद्राअंकित बंद पत्र दिया गया।

लोग आश्चर्य में निमग्न थे कि महाराज के पास सरकारी कागज आने का क्या कारण है ? क्षण भर में कागज पढ़ने पर ज्ञात हुआ कि उसमें महाराज को प्रणामपूर्वक यह सूचित किया गया था कि उनके पवित्र आदेश को ध्यान में रखकर कोल्हापुर सरकार ने बाल-विवाह-प्रतिबन्धक कानून बना दिया है। महाराज के मुखमण्डल पर एक अपूर्व आनन्द की आभा अंकित हो गई।

सर्वतोभद्र सुधारक

भारत सरकार ने जब बाल-विवाह कानून पास किया था, तब समाज के स्थितिपालक

दल के लोग उसको अयोग्य बताकर विरोध करते थे। सुधारक कहे जाने वाले भाई उसका स्वागत कर रहे थे। इस प्रसंग से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उक्त कानून के विचार के जन्मदाता आचार्य महाराज थे। यथार्थ में वे बड़े प्रगतिशील तथा उज्ज्वल मौलिक विचारक थे। उन सरीखा सुधारक कौन हो सकता है, जिन्होंने असंयम तथा मिथ्यात्व के विषपान में निमग्न जगत् को रत्नत्रय की अमृत औषधि पिलाई। किसी का भय नहीं किया। पंचम काल का भी विचार नहीं किया। उनका साहसी तथा जिनेन्द्रभक्त हृदय यह कहता था- "यह पंचमकाल का बाल्यकाल है। इससे इसका जोर नहीं चलेगा। यदि प्रयत्न किया जाय, तो धर्म तथा सत्कार्यों के क्षेत्र में नियम से सफलता प्राप्त हो सकती है। डरकर घर में बैठने से काम नहीं चलेगा।"

सचमुच में उन महापुरुष ने पंचमकाल के कलंक को मिटाकर धार्मिक प्रवृत्ति को नवजीवन प्रदान किया। युगधर्म कहकर जहाँ जन-समुदाय पापाचार और विषयों की अंध आराधना की ओर जा रहा था, वहाँ ये महापुरूष उस उद्वेलित लोकप्रवृत्तिरूप सिन्धु के विरुद्ध खड़े हो गये और इन्होने ऐसे-ऐसे महान् कार्य किये, जिनको सोचकर जगत् को आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता। वे सभी प्रवृत्तियों तथा सुधारों के समर्थक थे, जिनके द्वारा सम्यक्त्व का पोषण होता है, संयम का संवर्धन होता है। महाराज की विशिष्ट विचारकता के कारण वे स्थितिपालकों के प्राण थे, तो सुधारकों के श्रद्धाभाजन भी थे। वे न्यायदृष्टियुक्त अनेकान्ती साधुराज थे। विवेक उनका मार्ग-दर्शन रहा है।

दिव्यदृष्टि

आचार्यश्री का राजनीति से तनिक भी सम्बन्ध नहीं था। समाचार-पत्रों में जो राष्ट्रकथा आदि का विवरण छपा करता है, उसे वे न पढ़ते थे, न सुनते थे। उन्होंने जगत की ओर पीठ कर दी थी। आज के भौतिकता के फेर में फँसा मनुष्य क्षण-क्षण में जगत् के समाचारों को जानने को विह्वल हो जाता है। लंदन, अमेरिका आदि में तीन-तीन घंटों की सारे विश्व की घटनाओं को सूचित करने वाले बड़े-बड़े समाचार-पत्र छपा करते हैं। आत्मा की सुध-बुध न लेने वाले लोग अपना सारा समय शारीरिक और लौकिक कार्यो में ही व्यतीत करते हैं। आचार्यश्री के पास ऐसा व्यर्थ का क्षण नहीं था, जिसे वे विकथाओं की बातें में व्यतीत करें। फिर भी उनकी विशुद्ध आत्मा कई विषयों पर ऐसा प्रकाश देती थी, कि विशेषज्ञों को भी उनके निर्णय से हर्ष हुए बिना न रहेगा।

महायुद्ध का परिणाम

जब सन् १९४० में द्वितीय महायुद्ध छिड़ा था। आचार्यश्री के कानों में उसके समाचार पहुंचे, तब उनहोंने सहज ही पूछा, यह युद्ध आरम्भ किसने किया ? उनको बताया गया

कि युद्ध की घोषणा सर्वप्रथम जर्मनी ने की है।

महाराज का शुद्ध मन बोल उठा-"इस युद्ध में जर्मनी निश्चय ही पराजित होगा।" कुछ काल बाद जर्मनी की विजय अवश्यंभाविनी मानने वाले लोगों को भी यह दिखा कि आचार्यश्री का अतःकरण सत्य बात को पहले ही सूचित कर चुका था कि आक्रान्ता जर्मनी पराजित होगा।

पुण्यवान जवाहर

गांधीजी की प्रतिष्ठा देशभर में व्याप्त थी।

एक समय महाराज बोले-"गांधीजी अच्छे आदमी हैं, उनसे अधिक पुण्यवान जवाहरलाल हैं। वह राजा बनने लायक हैं।"

मैंने पूछा था, "महाराज राजनीति की बातों से तो आप दूर रहते हैं, फिर आपने जवाहरलालजी के बारे में उक्त बातें कैसे कही थीं।"

महाराज ने कहा-"हमारा ह्रदय जैसा बोलता है, वैसा हमने कह दिया। हम न गांधी को जानते, न जवाहर को पहचानते।"

पुण्यात्मा साधुराज

आचार्य महाराज सचमुच में श्रेष्ठ तपस्वी होने के साथ ही साथ अपूर्व पुण्यात्मा भी थे। उनके पुण्य चरणों को सभी सम्प्रदाय वाले प्रणाम करते थे। बड़े-बड़े राजा-महाराजा, करोड़पति, सेठ-साहूकार, सैनिक सभी वर्ग के लोग उनके प्रति पूज्यभाव रखते थे।

संघपति का महत्व अनुभव

संघपति सेठ गेंदनमलजी तथा उनके परिवार का आचार्यश्री के साथ महत्वपूर्ण सम्बन्ध रहा है। गुरूचरणों की सेवा का चामत्कारिक प्रभाव, अभ्युदय तथा समृद्धि के रूप में उस परिवार ने अनुभव भी किया है।

सेठ गेंदनमलजी ने कहा था-"महाराज का पुण्य बहुत जोरदार रहा है। हम महाराज के साथ हजारों मील फिरे है, कभी भी उपद्रव नहीं हुआ है। हम बागड़ प्रान्त में रात भर गाड़ियों में चलते थे, फिर भी विपत्ति नहीं आई। बागड़ प्रान्त के ग्रामीण ऐसे भयंकर रहते है कि दस रूपये के लिए भी प्राण लेने में उनको जरा भी हिचकिचाहट या संकोच नहीं होता था। ऐसे अनेक भीषण स्थानों पर हम गए है कि जहाँ से सुख-शांतिपूर्वक जाना असम्भव था, किन्तु आचार्य महाराज के पुण्य-प्रताप से कभी भी कष्ट नहीं देखशा। वर्षा का भी अद्‌भुत तमाशा बहुत बार देख। हम लोग महाराज के साथ-साथ रहते थे। वर्षा आगे रहती थी, पीछे रहती थी, किन्तु महाराज के साथ पानी ने कभी कष्ट नहीं दिया। उनको हर प्रकार की पुण्याई के दर्शन किए थे।"

तपोमंदिर का कलश

उनकी तपस्या के मन्दिर का कलश देखना और बाकी रहा था। वे कुंथलगिरि के पहाड़ पर बैठकर जो हजारों लोगों को दर्शन देते थे और सबको आशीर्वाद देते थे, वह तो उनके समवशरण सदृश लगता था। भाग्य से उनका यह प्रभाव भी अब समाधि काल में देखने का सौभाग्य मिल गया।

महान् तपस्या द्वारा प्राप्त अपूर्व पुण्य

लोगों की आदत है कि जब कभी पुण्य की महिमा का दर्शन होता है, तो उनका मन उस प्रकार के पुण्य एवं वैभव के लिए लालायित हो जाया करता है। प्रभु से वे प्रार्थना कर बैठते हैं- भगवान् ! हमें भी ऐसा ही पुण्य प्राप्त हो। वे लोग अपने कर्मो को सुधारने का प्रयत्न नहीं करते हैं और इसके ही कारण उनकी कामना पूर्ण नहीं होती है। नीतिकार का कथन पूर्णसत्य है :

पुण्यस्य फलमिच्छंति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
न पापफलमिच्छंति पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥

लोग पुण्य को नहीं चाहते हैं, उस पुण्य से उत्पन्न सुखरूप फल की इच्छा करते हैं। वे पापरूप फल को नहीं चाहते हैं, किन्तु पाप के संचय में प्रयत्नशील रहते हैं।

आचार्यश्री की अपूर्व तपस्या ही उनके उच्च पुण्य तथा प्रभाव का कारण है।

तृषा-परीषह जय

एक दिन की घटना है। ग्रीष्मकाल था। महाराज आहार को निकले। दातार ने भक्तिपूर्वक भोजन कराया, किन्तु वह जल देना भूल गया। दूसरे दिन गुरूदेव पूर्ववत् मौनपूर्वक आहार को निकले। उस दिन दातार ने महाराज को भोजन कराया, किन्तु अंतराय के विशेष उदयवश वह भी जल देने की आवश्यक बात को भूल गया। कुछ क्षण जल की प्रतीक्षा के पश्चात् महाराज चुप बैठ गए। मुखशुद्धि-मात्र की। जल नहीं पिया। खड़े होकर ही आहार-पान होता है।

चुपचाप वापिस आकर वे सामायिक में निमग्न हो गये। पिपासा के कष्ट की क्या सीमा है ? क्षणभर देर से यदि प्यासे को पानी मिलता है, तो आत्मा व्याकुल हो जाती है, यहां तो दो दिन हो गए, किन्तु वे उस परीषह को समताभाव से सहन कर रहे थे। मालूम पड़ता है, वे नरकों के दुःखों का स्मरण कराकर अपने मन को समझाते होंगे, कि तूने जब पराधीन स्थिति मे सागरों पर्यन्त प्यास का कष्ट भोगा है, तो यहाँ अपने कर्मो की निर्जरा के हेतु क्यों नहीं इस प्यास की पीड़ा को शांत भाव से सहन करता है ? उनका मन, उनकी इन्द्रियां उनके अधीन थी हीं, अतः बहुत धीरता तथा गम्भीरतापूर्वक वे प्यास की बाधा

सहन कर रहे थे। उनका नर-जन्म सार्थक था।

पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में तृषा-परीषहजय पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि-"मुनिराज प्यासरूप अग्नि की ज्वाला को धैर्यरूपी नवीन मृत्तिका के घट में भरे हुए शीतल सुवासपूर्ण समाधिरूप जल के द्वारा बुझाते हैं।" उस स्थिति में धैर्य औरसमाधि के द्वारा आचार्यश्री के शांति अखंड थी।

तीसरा दिन आया, उस दिन भी दातार की बुद्धि जल देने की बात को विस्मरण कर गई। इस प्रकार आठ दिन बीत गए।

नवें दिन महाराज के शरीर में छाती पर बहुत-से फोड़े उष्णता के कारण आ गए। शरीर के भीतर की स्थिति को कौन बतावे ? शरीर की ऐसी कठिन परिस्थिति में भी वे सागर की भाँति गम्भीर ही रहे आए।

दसवें दिन अन्तराय कर्म का उदय कुछ मन्द पड़ा। उस दिन के दातार गृहस्थ ने महाराज को जल दिया। कारण अन्य आहारयोग्य शरीर न था। महाराज ने जल ही जल ग्रहण किया और वे बैठ गए।

पश्चात् गम्भीर मुद्रा में उन साधुराज ने कहा था, "शरीर को पानी की जरूरत थी और तुम लोग दूध ही डालते थे। चलो ! अच्छा हुआ। कर्मों की निर्जरा हो गई।" साधुओं का मूल्य आँकने वाले सोचें, ऐसी तपस्या कहाँ है ? ऐसी स्थिति में भी वे अशान्त न हुए। शांति के सागर रहे।

शिथिलाचारी का शोचनीय पतन

आज के युग में ऐसी तपस्या एक दिन भी कठिन दिखती है। लगभग बाईस वर्ष हुए, उत्तर प्रान्त में एक अत्यन्त प्रख्यात तपस्वी साधु को रात्रि के समय पिपासा की असह्य पीड़ा उत्पन्न हुई, तो शिथिलाचारी दो पंडितों ने उनसे कहा-"यह आपत्ति का काल है। इस समय आपको जल ले लेना चाहिये जिससे क्लेश न हो।" होनहार विचित्र थी। उन विवेकभ्रष्ट पंडितों तथा उसी प्रकृति के बड़े धनिक की प्रेरणा को पाकर उन साधु ने प्यास की पीड़ा को सहन करने की असमर्थतावश अपनी महान् प्रतिज्ञा को भ्रष्ट कर दिया। कुछ समय के पश्चात् परलोक प्रयाण किया। उनकी प्रवृत्ति आगम की मर्यादा से बँधी नहीं थी। कुछ पथभ्रष्ट शास्त्रियों के इशारे पर उनकी प्रवृत्ति रहती थी। वे स्वच्छंद आचार करते थे।

धर्मात्मा की दृष्टि

इस घटना तथा उनकी मृत्यु की खबर जब आचार्य शांतिसागर महाराज को मिली, तब वे एक तपस्वी के रूप में प्रसिद्ध जीव के पतन को देख विविध प्रकार के विचारों में

निमग्न हो गए। आचार्य महाराज ने मुझसे कहा था- ''कभी भी व्रत को भंग नहीं करना चाहिए। प्राण जाते हुए भी प्रतिज्ञा की रक्षा करना चाहिए।'' पुराणों में हम पशुओं आदि का भी उच्च विकास देखते है, क्योंकि उन जीवों ने व्रत का पालन करने में आश्चर्यकारी स्थिरता रखी है।

प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि संयम धारक को व्रतों से डिगने की बात कभी भी न कहे। इस प्रकार की प्रणाली से स्व तथा पर की निश्चय से दुर्गति हुए बिना नहीं रहती है। कृत, कारित तथा अनुमोदना में भी समान फल होता है। पापोदय से शास्त्रज्ञ भी इस तत्व को भूल जाता है। मोहनीय कर्म बड़ो-बड़ों को अंधा बना देता है।

आश्चर्य है, ऐसे लोग स्थिरता की वृद्धि के हेतु सुकौशल-सुकुमाल, राजकुमार आदि के कथानकों को पूर्णतया भुला देते हैं और सामान्य श्रेणी के भी त्यागी को समन्तभद्र मान, समन्तभद्र सदृश बनने की बात सुझाते हैं। वे यह नहीं सोच सकते कि आचार्य समंतभद्र अपनी श्रेणी के एक ही हुए हैं। विपरीत स्थिति में भी उनका अनुपम सम्यक्त्व भाव सजग रहा है। पाषाण-राशि फटकर, भगवान् चंद्रप्रभ तीर्थंकर की मूति का प्रगट होना उनकी ही श्रेष्ठ श्रद्धा का फल था। उन श्रेष्ठ महापुरूष की श्रेणी में साधारण मनुष्य को बैठाकर संयम के निरादर की प्रेरणा देना खोटे भविष्य की सूचना देता है।

कर्त्तव्य

हमारा कर्त्तव्य है कि आचार्य महाराज की उज्ज्वल तपस्या को स्मरण करें और अपने जीवन को उच्च बनावें। दूसरों को भी आत्म-विकास की प्रेरणा दें। विपत्ति में ग्रस्त दुःखी व्यक्ति को पाप की ओर ढकेलना एक प्रकार से अंधे आदमी की आँख में धूल झोंकने सदृश बात होगी :

'अंध असूझन की अखियन में झाँकत हैरत आत्म दुहाई' । यह कार्य महापापी ही करते हैं।

आगम का प्रकाश

महापुराण में प्रतिपादित दंड महाराज नामक विद्याधर का यह चरित्र ध्यान देने योग्य है। भोगों की आसक्ति के कारण दंड राजा मरकर आर्त्तध्यान वश अपने खजाने में अजगर हुआ था। उसे जातिस्मरण हो गया था, अतः वह अपने पुत्र मणिमाली को ही खजाने में घुसने देता था। अन्य को नहीं जाने देता था। अवधिज्ञानी मुनि से मणिमाली को अपने पूज्य पिता का पतन ज्ञात हुआ। उसने अजगर की आत्मा को धर्म का अमृत पिलाया।

उस सर्पराज ने वैराग्ययुक्त को आहारत्याग किया तथा शरीर छोड़कर वह महान् ऋद्धिधारी देव हुआ। देव होने पर उसने अपने पुत्र को एक मणियों का शोभायमान हार दिया था।

अत्यन्त निकृष्ट वृत्ति वाला सर्प तक संयम धारण करता है औरसंयमी मानव उस संयम को छोड़ता है, यह कितने आश्चर्य की बात है। अध्यात्म का विपरीत, भाव लेने वालों को ऐसे ही कार्मो में संतोष मिलता है। ऐसे जीव मरणकर कुगति में कुकर्म का फल रोते-रोते भोगा करते हैं। कर्म किसी पर रहम नहीं करते।

शरीर निस्पृह साधुराज

महाराज ज्ञान-ज्योति के धनी थे। वे शरीर को पर-वस्तु मानते थे। उसके प्रति उनकी तनिक भी आसक्ति नहीं थी।

एक दिन पूज्य गुरूदेव से प्रश्न पूछा गया-"महाराज ! आपके स्वर्गारोहण के पश्चात आपके शरीर का क्या करें ?"

उत्तर-"मेरी बात मानोगे क्या ?"

प्रश्नकर्त्ता-"हाँ महाराज ! आपकी बात क्यों न मानेंगे ?"

महाराज-"मेरी बात मानते हो, तो शरीर को नदी, नाला, टेकड़ी आदि पर फेंक देना। चैतन्य के जाने के पश्चात् इसकी क्या चिन्ता करना ?"

यह बात सुनते ही प्रश्नकर्त्ता ने विनयपूर्वक कहा-"महाराज ! क्षमा कीजिए। ऐसा तो हम नहीं कर सकते, शास्त्र की विधि क्या है ?"

तब उनको दूसरी विधि कही थी कि-"मृत शरीर को विमान पर पद्मासन से बिठाकर देह का दहन-कार्य किया जाता है। फिर बोले-"हमारे पीछे जैसा दिखे, वैसा करो।"

पार्श्वमती अम्मा

आचार्य महाराज के लोकोत्तर जीवन -निर्माण में उनके माता-पिता की श्रेष्ठता को भी एक कारण कहना अनुचित न होगा। पश्चिम के विद्वान व्यक्ति की उच्चता में माता को विशेष कारण कहते हैं। नैपोलियन का जीवन उसकी माता से बहुत प्रभावित था। माता सत्यवती की जीवनी लोकोत्तर थी, जिस जननी ने आचार्य शांतिसागर और महामुनि वर्धमानसागर सदृश दो दिगम्बर श्रेष्ठ तपस्वियों को जन्म दिया। आज के युग में ऐसी माता की तुलना के योग्य कौन जननी हो सकती है ? माता सत्यवती से क्षुल्लिका पार्श्वमती अम्मा का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा था।

माता सत्यवती का उज्ज्वल चरित्र

उक्त अम्मा ने हमें कुंथलगिरि में माता सत्यवती आदि के विषय में कुछ महत्वपूर्ण बातें सुनायी थीं। वे कहती थी-"माता सत्यवती बहुत भोली, मंदकषायी, साध्वी तथा अत्यन्त सरल स्वभाव वाली थी। प्रति दिवस एकासन करती थीं पति की मृत्यु के पश्चात केश कटवाकर माता ने वैधव्य दीक्षा ली थी। सफेद वस्त्र पहनती थी। यथार्थ में माता

पिच्छीरहित आर्यिका सदृश थी। माता की आदत शास्त्र चर्चा करने की थी। महाराज तथा कुमगोंडा माता को शास्त्र सुनाते थे। माता बहुत उदार थी। उनके घर में सदा अतिथि सत्कार हुआ करता था।

सातगोंडा का मधुर चरित्र

अतिथि सत्कार तथा साधु की वैयावृत्य करने में महाराज बहुत प्रवीण थे। वे साधु को स्वयं आहार देते थे। उनमें विनय बहुत थी। महाराज की प्रवृत्ति देखकर सबका मन यह बोलता था कि ये नियम से महामुनि बनेंगे। वे माता की आज्ञा का पालन करते थे। बड़ों की बात का आदर करते थे। उनके विषय में जनता कहती थी-"सातगोंडा फार चांगला, फार सरल, फार सज्जन आहे.- (सातगोंडा-आचार्य महाराज का गृहस्थावस्था का नाम- बहुत अच्छे, अत्यन्त सरल तथा अधिक सज्जन है।)

भोज के देवता

भोजवासी महाराज को देवतासदृश मानते थे। वे घर में कम बोलते थे। उनका सम्बन्ध वैर-विरोधपूर्ण बातों से तनिक भी नहीं रहता था। मधुर भाषा बोलते थे। छेदंकरी या पीड़ादायिनी वाणी नहीं बोलते थे। वे मौन से भोजन करते थे। घर में रहते हुए भी वे घी, नमक, शक्कर तथा हरी शाक नहीं खाते थे। संध्या को पानी तक नहीं पीते थें घर त्यागने के पाँच-छः वर्ष पहले से वे एक दिन के बाद से भोजन करते थे। सबेरे मन्दिर जाकर दर्शन, सामायिक करते थे। दस बजे स्नान करके मन्दिर को पूजा करने जाते थे। वे पूजा करते थे। भगवान् का अभिषेक उपाध्याय करता था। हमारी तरफ अभिषेक उपाध्याय (पुजारी) ही करता है। महाराज रात्रि को सब लोगों को शास्त्र सुनाते थे। चातुर्मास के समय अधिक लोग शास्त्र सुनने आते थे। जैन तथा जैनेतरों की दृष्टि में महाराज सत्पुरूष माने जाते थे। भोजग्राम की जनता भी बहुत धार्मिक है।

"महाराज का कुमगोंडा पर बहुत प्रेम था। महाराज के घराने में तपस्वी होते चले आए हैं। घर के सब लोग महाराज की आज्ञा में रहते थे। वे इनको साधुसदृश देखते थे। ये कभी भी खेल तमाशे में नहीं जाते थे। धार्मिक कीर्तन को अवश्य देखते थे।"

उक्त पार्श्वमती माताजी के भोज में आठ चातुर्मास हो चुके थे। उन्होंने यह भी कहा था-"मैं महाराज को अण्णा (बड़ा भाई) कहती थी।"भोज के आस-पास की जनता बहुत धार्मिक हैं। लोग सर्व प्रकार सुखी तथा संपन्न है। भोज में लगभग तीन सौ घर जैनियों के हैं।"

वेषभूषा

"महाराज बंडी, धोती, फेंटा, दुपट्टा रखते थे। दीक्षा लेने के १५ या २० वर्ष पूर्व से

उन्होंने जूता पहिनना छोड़ दिया था।"

"महाराज के सब से बड़े भाई देवगोंडा (वर्धमानसागरजी) थे। दूसरे भाई आदिगोंडा थे। महाराज से छोटी बहिन कृष्णाबाई थी। कुमगोंडा सबसे छोटे भाई थे। सब भाई-बहिन मिलकर वे ५ व्यक्ति थे।"

देवगोंडा की सत्यनिष्ठा

वर्धमानसागर महाराज का चरित्र भी बड़ा मधुर रहा हैं। वे अत्यन्त सरल और दयालु रहे हैं। उनके विषय की एक मधुर चर्चा ज्ञात हुई थी। उनके घर का बटवारा हो चुका था। सम्पत्ति के निमित्त को लेकर एक मुकदमा न्यायालय के समक्ष पेश हुआ। यदि ये इतनी बात कह देते कि हमारे घर का बटवारा नहीं हुआ है, तो इनको बहुत धन का लाभ होता। वकील ने इनको खूब समझाया था कि आज पेशी पर तुम इतना अवश्य कहना कि हमारा बटवारा नहीं हुआ है। ये जब अदालत में पहुँचे, तो यह कह बैठे कि हमारा बटवारा हो चुका हैं। इससे ये असफल हो गए। कचहरी से लौटने पर वकील इनसे बोला-"आपको कितना समझाया था कि यह न कह देना कि हमारा बटवारा हो गया है, किन्तु आपने एक न मानी।" वे बोले-"क्या करें। जो ठीक-ठीक बात थी, वह कह दी। नुकसान हो गया, तो हो जाने दो। हम खोटी बात नहीं करेंगे।"

तपस्विनी बहिन

महाराज की बहिन कृष्णाबाई के बारे में कुन्थलगिरि में ज्ञात हुआ कि वह बहुत तपस्विनी थी। ६ वर्ष की अवस्था में कृष्णाबाई विधवा हो गई थी। यथार्थ में वह बालब्रह्मचारिणी रही।

भीम के संस्मरण

महाराज के भाई के पौत्र का नाम भीमगोंडा है। कुन्थलगिरि में भीम ने हमें बताया कि वह कृष्णाबाई को आजी कहता था, भीम ने बताया, आजी मुझे अण्णा कहती थी, मेरा नाम नहीं लेती थी। कारण, हमारे बाबा-प्रपितामह का नाम भीम था। आजी उनका नाम लेने में संकोचवश मुझे अण्णा कहती थी। घर के सभी लोग मुझे अण्णा कहते है।

महाराज के परिवार की यह पद्धति रही है कि पुत्र-पौत्रादि के नाम पिता, पितामह आदि के नामानुसार रखे जाते थे, ताकि उन पूज्य पूर्वजों की स्मृति सदा हरी-भरी रही आवे। दक्षिण की ऐसी प्रणाली प्राचीनकाल से रही है। क्षत्रचूड़ामणि में कहा है कि सत्यंधर राजा के पुत्र महाराज जीवंधर ने गंधर्वदत्ता महारानी से उत्पन्न अपने राजकुमार का नाम सत्यंधर रखा था। उत्तरप्रान्त में ऐसी प्रणाली नहीं पाई जाती।

भीम ने सुनाया था-"आजी आचार्यश्री को महाराज कहती थी। आजी का सारा

समय धर्मध्यान में व्यतीत होता था। आजी ने तीन दिन पर्यन्त सल्लेखना ग्रहणकर शीरीर त्याग किया था।"

भीम ने कुन्थलगिरि में अपने सगे बाबा आचार्य महाराज के दर्शन किए थे। भीम ने कहा- "महाराज ने हमसे अधिक बात नहीं की। उन्होंने हमें अपना पवित्र आशीर्वाद दिया था।"

आठवें दिन आहार लेने वाले मुनि

तपस्या करने वाले और भी मुनिराज दक्षिण में हुए हैं। बोरगाँव के मुनि आदिसागर आठ दिन के बाद आहार लिया करते थे। जब वे भोज आते थे, तो उनको आहार देने का सौभाग्य सातगोंडा को ही प्रायः प्राप्त होता था। वे अद्भुत प्रवृत्ति के थे। एक-तारा वाद्य द्वारा भजन गाते थे, इत्यादि । शास्त्रों का ज्ञान न रहने से कई बातें आगमविरूद्ध भी हुआ करती थी। यह विशेष बात थी, जहाँ उत्तर में महाव्रती का अभाव हो गया था, वहाँ दक्षिण में उसका सद्भाव तो था।

एकान्तवास से प्रेम

आचार्य महाराज को एकान्तवास प्रारम्भ से ही प्रिय लगता रहा है। भीषण-स्थल में भी वे एकान्त निवास को पसन्द करते थे। वे कहते थे-"एकान्त भूमि में आत्मचिंतन और ध्यान में चित्त खूब लगता है।" जब महाराज बड़वानी पहुंचे थे, तो बावनगजा (आदिनाथ की मूर्ति) के पास के शांतिनाथ भगवान् के चरणों के समीप अकेले रात भर रहे थे। किसी को वहां नहीं आने दिया था। साथ के श्रावकों को पहले ही कह दिया था, आज हम अकेले ही ध्यान करेंगे।

बढ़िया ध्यान

पूज्यश्री की यह विशेषता रही है कि जहाँ एकान्त रहता था, वहाँ उनका ध्यान बढ़िया होता था, किन्तु जहां एकान्त नहीं रहता था, वहाँ भी उनका ध्यान सम्यक् प्रकार से सम्पन्न हुआ करता था। उनका अपने मन पर पूर्ण अधिकार हो चुका था। इन्द्रियाँ उनकी आज्ञाकारिणी हो गई थी। अतः जैसा उनकी आत्मा आदेश देती थी, वैसी ही स्थिति इन्द्रिय तथा मन उपस्थित कर देते थे।

दिव्यदृष्टि

दर्पण जितना स्वच्छ होता है, उतना ही निर्मल प्रतिबिम्ब बाहर के पदार्थ का उसमें स्वतः दिखाई पड़ता है। आचार्यश्री का अन्तःकरण आदर्श सदृश था। जिनका सारा जीवन आदर्श रहे, उनका हृदय भी सहज ही आदर्श (दर्पण) रूप हो, यह पूर्ण स्वाभाविक है। उनकी चित्तवृत्ति में अनेक बातें स्वयंमेव प्रतिबिम्बित हुआ करती थी।

एक समय की बात है कि पूज्यश्री का वर्षा योग जयपुर नगर में व्यतीत हो रहा था। कुचड़ी (दक्षिण) के मंदिर के लिए ब्र. बंडू रत्तू पंचों की ओर से मूर्ति लेने जयपुर आए।

महाराज के दर्शन कर कहा-"स्वामिन् ! पंचों ने कहा है कि पूज्य गुरुदेव की इच्छानुसार मूर्ति लेना। उनका कथन हमें शिरोधार्य होगा।"

महाराज ने कहा-"वहाँ महावीर भगवान् की मूर्ति विराजमान होगी, ऐसा हमें लगता है, किन्तु तुम तार देकर पंचों से पुनः पूछ लो।"

महाराज के कहने पर पंचों को तार दिया गया। वहाँ से उत्तर आया-"भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमाजी लाना।"

महाराज ने कहा-"क्यों ! हम कहते थे न कि पंचों का मन स्थिर नहीं है। अच्छा हुआ, खुलासा हो गया। हमने तुमसे महावीर भगवान् की मूर्ति के विषय में कहा था। कारण, हमें वहाँ के मंदिर में महावीर भगवान् की प्रतिमा दिखती थी।"

शिल्पी ने कुछ समय बाद भगवान् पाश्वनार्थ स्वामी की प्रतिमा बना दी, किन्तु मूर्ति का फणा खंडित हो गया। यह समाचार जब कुड़ची के पंचों को मिला, तब उन्होंने तार भेजकर लिखा कि जो मूर्ति तैयार मिले, उसे ही भेज दो। तदनुसार मूर्ति रवाना की गई। वह मूर्ति महावीर भगवान् की ही थी, जिसमें सिंह का चिन्ह था। मूर्ति को देखते ही सबको आश्चर्य हुआ कि आचार्य महाराज ने पहले ही कह दिया था कि हमें तो महावीर भगवान् की मूर्ति दिखती है। ऐसे ही ज्ञान को दिव्यज्ञान कहते है। साधनसंपन्न तपस्वियों में ऐसी असाधारण बातें देखी जाती है।

हमारी कर्त्तव्य-विमुखता

आज के राजनैतिक प्रमुखों के क्षण-क्षण की वार्ता जिस प्रकार पत्रों में प्रगट होती है, वैसी यदि सूक्ष्मता से इन महामना मुनिराज की वर्ताओ का संग्रह किया गया होता, तो वास्तव में विश्व विस्मय को प्राप्त हुए बिना नहीं रहता। इस पापप्रचुर पंचमकाल में सत्कार्यों के प्रति बड़े-बड़े धर्मात्माओं की प्रवृत्ति नहीं होती है। वे कर्त्तव्य पालन में भूल जाते हैं। कई वर्षो से मैं प्रमुख लोगों से, जैन महासभा के कार्यकर्त्ताओं आदि से, पत्र द्वारा अनुरोध करता था कि आचार्य महाराज के उपदेशों को रेकार्ड किया जाना चीहए, किन्तु आज करते हैं, कल करते हैं, ऐसा करते-करते वह आध्यात्मिक सूर्य हमारे क्षेत्र की अपेक्षा अस्तंगत हो गया, यद्यपि उस सूर्य का उदय स्वर्गलोक में हुआ है।

मंगलमय भाषण की विशेष बात

आचार्य महाराज का २६ वें दिन जो मंगलमय भाषण रेकार्ड हो सका, इसकी भी अद्भुत कथा है। नेता बनने वाले लोग कहते थे, अब समय चला गया। महाराज इतने

अशक्त हो गए हैं कि उनकी वाणी का रेकार्ड तैयार करना असंभव है।

मैंने कहा-"सचमुच में उपदेश नहीं मिलेगा, ऐसा ९९ प्रतिशत समझकर भी यंत्र को लाना चाहिए। शायद एक प्रतिशत की संभावना सत्य हो जाय।"

कुछ भाइयों के प्रयत्न से रिकार्ड की मशीन लेकर इंजीनियर आ गया। उस समय महाराज के पास पं. मक्खनलालजी, मुरैना और मैं पहुँचे। उनसे कुछ थोड़े-से शब्दों से सारपूर्ण बात कहने की प्रार्थना की।

उस समय महाराज के थके शरीर से ये शब्द निकले-"अरे! पहले लाए होते, तो दसों उपदेश दे देते।" इन शब्दों का क्या उत्तर था? मस्तक लज्जा से नत था। सचमुच में ऐसी भूल का क्या इलाज हो सकता है। धर्मप्रभावना के महत्वपूर्ण कार्यों में ऐसी अज्ञतापूर्ण चेष्टाएं हुआ करती हैं। मन में आया-'देखो! पूज्यश्री की जयंती मनाने में, उनके लिए गजट का विशेषांक निकालने में धार्मिक संस्था जैन महासभा ने पैसे को पानी मानकर खर्च किया, किन्तु इस दिशा में जगाए जाने पर भी समर्थ भक्तों के नेत्र न खुले। यथार्थ में देखा जाय तो इसमें दोष किसी का नहीं है। जब दुर्भाग्य का उदय आता है, तब हितकारी और आवश्यक बातों की तरफ ध्यान नहीं जाता है।'

अमर संदेश

मैंने महाराज से कहा था-"महाराज! दो-चार मिनिट ऐसा उपदेश रिकार्ड हो जाय, जिसमें लोगों के मन में धार्मिक भावना जगे।" महाराज ने कहा, "यन्त्र लाओ।"

यन्त्र लाया गया। महाराज ने नेत्रों को बन्द दिया। आँख को बंद किए हुए वे महापुरूष २२ मिनट पर्यन्त ऐसा उपदेश दे गए कि यदि यह कहा जाये कि उसमें जिनागम का सार आ गया और अनुभव के स्तर पर कल्याण की सब बातें आ गई, तो पूर्णतया सत्य होगा। उस महत्व की बेला में महाराज की कुटी में उनके सामने की तरफ बैठने का मुझे सुयोग मिल गया था। उस समय महाराज की वीतरागता उस वाणी द्वारा बाहार आ रही थीं ऐसा लगता था, मानो हम किन्हीं ऋद्धिधारी महर्षि के मुख से उद्गत अमृत वाणी का रसपान ही कर रहे हों। बोलते-बोलते महाराज कुछ क्षण रुक जाते थे।

आज के युग के वक्ता भाषण देते-देते पानी पिया करते हैं। महाराज का यम-सल्लेखना व्रत के उपवास का छब्बीसवाँ दिन था। वे अपने क्षीण तथा शुष्क कण्ठ में बल लाने को "ॐ सिद्धाय नमः" रूप जिनवाणी का अमृत पान कर लेते थे और अपना विवेचन जारी रखते थे।

सिद्धों की भक्ति

महाराज की कुटी में बहुधा जब कभी महाराज के मुख से कोई शब्द सुनाई पड़ता था।

तो वह ॐ सिद्धाय नमः ही था। सिद्ध बनने के सत्संकल्प वाले सत्पुरुष के मुख से सिद्धों को प्रणामांजलि अर्पित करने वाली वाणी ही पूर्णतया उपयुक्त थी। जब महाराज ने सर्वप्रकार का आहार छोड़ दिया, तब उनकी दृष्टि ज्ञानसुधारस पान करने वाले अशरीरी सिद्धों की ओर रहना स्वाभाविक थी।

वे साधुराज एक बार कहते थे, हम तो अनंत सिद्धों के साथ बैठकर सिद्धलोक में अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं। उनकी दृष्टि में सिद्ध भगवान् ही तो सर्वत्र दिखेंगे। बाह्यदृष्टि से उन्होंने सिद्धक्षेत्र कुंथलगिरि को समाधि का आश्रम बनाया था।

मैंने एक दिन पूज्य गुरुदेव से कहा था-"महाराज ! आपने कुन्थलगिरि को अपनी अमर सल्लेखना का स्थान चुना, इसका कारण मुझे यह लगता है कि देशभूषण, कुलभूषण भगवान् बालब्रह्मचारी थे। आप भी उनके समान रहे हैं। आपके जीवन में तो हमें दोनों प्रभुओं का समन्वय प्रतीत होता है। आप देश के भूषण हैं। और सम्यक्त्वी जीवों के कुल के भूषण हैं। आपकी समाधि के कारण इस क्षेत्र को नवीन प्राण प्राप्त हो गया। आपके चरणों का सान्निध्य पाकर हमारा जीवन धन्य है।"

मैंने यह भी कहा था-"महाराज ! जिनेन्द्र भगवान् से हमारी प्रार्थना है कि आप सदृश सद्‌गुरू के चरणों का शरण भव-भव में प्राप्त हो।"

महाराज ने कहा था-"तुम्हारे मन में भक्ति है। इससे तुम ऐसा बोलते हो।"

अप्रतिम साधुराज

वास्तव में विचार किया जाय तो यह बात प्रत्येक विचारक सोचेगा कि इस काल में ऐसे सद्‌गुरू का अब दर्शन सचमुच में दुर्लभ है। पंचमकाल के कलुषित वातावरण में प्राचीन साधुओं की तपस्या तथा पवित्रता को अपनी जीवनी द्वारा बताने वाले महाराज शांतिसागरजी के समकक्ष होने की सामर्थ्य किसमें हो सकती है ? सचमुच में अलंकार-शास्त्र की भाषा में शांतिसागर महाराज 'शांतिसागर महाराज सदृश थे' - ऐसा कहना ही पूर्ण सत्य होगा, जिस प्रकार पूज्यपाद स्वामी कहते हैं :

"स्वर्ग में देवताओं का सुख, स्वर्ग में देवताओं के समान है - नाके नाकौकसां सौख्यं, नाके नाकौकसामिव।"- इष्टोपदेश (५)

युग के श्रेष्ठ मानव

इस युग ने राजनैतिक क्षेत्र में जगत् को प्रभावित करने वाला गांधी सदृश तेजस्वी पुरुष दिया, काव्य व साहित्य के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ समान विश्वकवि दिया, आईंस्टिन सा महान वैज्ञानिक दिया, तो अध्यात्म के क्षेत्र में साधु-समाज के शिरोमणि महाराज को दिया, जिनकी पुण्यकथा विश्वविदित है।

विविध मनो-विकल्प

कुंथलगिरि में भारत के कोने-कोने से पन्द्रह-बीस हजार तक लोगों का समुदाय जिन साधुराज के पावन दर्शन को दौड़-दौड़ कर इस जंगल की पहाड़ी पर आता-जाता था। सब आकुलित थे कि अब इस अपूर्व सूर्य का दर्शन आगे न होगा। भौतिक सूर्य जाने के बाद पुनः दर्शन देता है, किन्तु यह धर्मसूर्य पुनः यहाँ दर्शन नहीं देगा।

सल्लेखना की वेला में उन साधुराज की चर्चा स्वर्गलोक में अवश्य हो रही होगी। सौधर्मेन्द्र अपनी सुधर्मा सभा में बैठकर चर्चा कर रहे होंगे कि इस काल में उत्कृष्ट तप और इंद्रिय विजय करने वाला महासाधु शांतिसागर के रूप में भरतखंड में जिनधर्म की प्रभावना करता रहा है। अब हमारे स्वर्गलोक की वह शीघ्र ही श्रीवृद्धि करेगा। वह सुर समाज बड़े सज-धज के इन अप्रतिम साधुराज के स्वागत के लिए हृदय से तैयारी कर रहा होगा। सचमुच में संसार की दशा निराली है। पूर्णिमा की रात्रि को चन्द्रमा अपनी शुभ्र ज्योत्स्ना से विश्व को धवलित करता है। प्रभात होते ही वह अस्तंगत होता है और प्रताप-पुंज प्रभारक उदित होता है। विश्व में भाग्यचक्र इस प्रकार बदलता रहता है। अब १८ सितम्बर १९५५ के प्रभात से सुर समाज का भाग्य जागा कि मध्यलोक की विभूति स्वर्गलोक में पहुँच गई।

दिव्य जगत् में साथी

स्वर्ग में वे अनेक महापुरुषों के साथी हो गए, जिन्होंने पूर्व में उनकी ही तरह जिन दीक्षा लेकर जिनधर्म की उज्ज्वल आराधना की थी। महर्षि कुन्दकुन्द, समंतभद्र, अकलंक, जिनसेन, गुणभद्र आदि महापुरुषों ने रत्नत्रय की समाराधना द्वारा देव पदवी प्राप्त की होगी, इसमें संदेह की क्या बात है। आगमोक्त कथन पर सम्यक्त्वी की श्रद्धा रहती है। कहा है-'आगम तीजा नयन बताया'-आगम तीसरा नेत्र है। संयम और समाधि के प्रसाद से आचार्य शांतिसागर महाराज भी उन श्रेष्ठ आत्माओं की मधुर मैत्री का रसास्वाद करते होंगे। उन्होंने तो सीमंधर स्वामी आदि विद्यमान बीस तीर्थंकरों के साक्षात् दर्शन का सौभाग्य प्राप्त किया होगा।

वहाँ से चल कर वास्तव में वे धर्म तीर्थ के प्रवर्तक होंगे। इस सम्बन्ध में दृढ़तापूर्वक कथन तो प्रत्यक्षवेदी मुनियों का ही हो सकता है। हम लोग तो अनुमान प्रमाण के आधार से ही प्रमाणिक निर्णय पर पहुँच सकते है।

संयमी का महत्व

आचार्य महाराज की दृष्टि में संयम तथा संयमी का बड़ा मूल्य रहा है। एक दिन वे अपने क्षुल्लक शिष्य सिद्धसागर (भरमप्पा) से कह रहे थे-"तेरे सामने में चक्रवर्ती की

भी कीमत नहीं करता। लोग संयम का मूल्य समझते नहीं है। जो पेट के लिए भी दीक्षा लेते हैं, वे तप के प्रभाव से स्वर्ग जाते हैं, तूने तो कल्याणार्थ संयम धारण किया है। तू निश्चय से स्वर्ग जायगा, इसमें रत्ती भर शंका मत कर।''

प्रिय शिष्य को हितोपदेश

एक बार महारज अपने एक भक्त को समझा रहे थे-''तुम घर में रहते हुए भी एकान्त में रहा करो। जहाँ भीड़ हो, वहाँ नहीं रहना, ध्यान, स्वाध्याय करना। दीक्षा लेना। घर में नहीं मरना। मनुष्य भव बार-बार नहीं मिलता है। मोह ने जीव को पछाड़ दिया है। अब उस मोह को पछाड़ना चाहिए। अतः सल्लेखना लेकर ही मरण करना।''

मोह मल्ल को पछाड़ने की कला के ज्ञाता

आचार्य महाराज के भक्त ब्रह्मचारी जिनदास भरडी (बेलगाँव) वाले वहाँ कुन्थलगिरि में भी आये थे। वे ब्रह्मचारीजी नामांकित पहलवान रहे हैं। राज दरबारों के समक्ष भी कुश्ती में वे यशस्वी हुए हैं। मैंने पूछा-''ब्र. जी ! अब कुश्ती नहीं करते ।''वे बोले-''अब हमने मेहनत करना बंद कर दिया है। अब हमारे गुरु शांतिसागर महाराज हैं। हम उनके पास कुन्थलगिरि आए हैं। वे हमें कर्मो से कुश्ती लड़ने का दाँव-पेंच सिखावेंगे। कारण, आचार्य महाराज मोहमल्ल को पछाड़ने की कला में अत्यन्त दक्ष हैं। वे ब्र. जी अब क्षुल्लक बन गए हैं। रत्नाकार आदि कन्नड़ कवियों के सुन्दर गीत उन्हें स्मरण है।

आध्यात्मिक उद्योगपति

आचार्य महाराज आध्यात्मिक उद्योगपति थे। आज का उद्योगपति वह होता है, जिसके तत्वावधान में बड़े-बड़े कारखाने चलते हैं। महाराज का उद्योग पुद्गल के बंधन काटने का था। वे मोहारि-विजय के उद्योग में निरन्तर उद्यत रहते थे।

अष्टादश कोटि जाप

उनके जीवन में विविधता थी। वे महान् आत्मचिन्तक थे, किन्तु जिनेन्द्र के पुण्य नामास्मरण करने में भी वे असाधारण भक्तराज थे। सल्लेखना लेने के पूर्व वे अपने पंच परमेष्ठीवाचक विशिष्ट मंत्रों की १८ कोटि जाप पूर्ण कर चुके थे।

भयंकर ज्वर में भी जाप

उनका जाप का कार्यक्रम निराबाध गति से चला करता था। भयंकर ज्वर चढ़ा है। थर्मामीटर के हिसाब से ज्वर १०४ या १०५ डिग्री को पहुंच चुका है, किन्तु ये मनोबली मुनिराज अपने जाप के काम में निमग्न रहते थे। एक बार महाराज फलटण से लोणंद गए थे, क़ारण, फलटण के हीरक जयंती के समय से महाराज को ज्वर आने लगा था। उस

समय की स्थिति का ज्ञान होने से मैंने पूज्यश्री से पूछा था-"महाराज ऐसी ज्वर की भीषण स्थिति में तो आपको जप कार्य स्थगित होता होगा ?"

महाराज-"उस समय भी हम बराबर जाप करते थे। उस समय भी जाप में बाधा नहीं पड़ती थी।" उनमें आत्मबल महान् था। उससे ही उनमें सत्प्रवृत्तियों का महान् विकास हुआ था।

शरीर के श्रान्त होते हुए भी उनका मन धार्मिक प्रवृत्तियों के विषय में सदा नवस्फूर्तिपूर्ण रहता था। आदत मनुष्य के दूसरे स्वभाव (**Second Nature**) सदृश मानी जाती है। जिनेन्द्र भगवान् को हृदय में विराजमान कर उसकी जन्मजन्मांतर से की गई आराधना का ही यह सुफल रहा है कि वे आत्मकल्याणकारी कार्यों में सदा सफल रहे। इस धर्म वृक्ष के शरण को ग्रहण करने वालों को सदा कल्पनातीत सुफल मिले हैं तथा आगे मिलते रहेंगे।

उपवासों की सम्पत्ति

उनके द्वारा जीवन में किए गए उपवासों की गणना करना कठिन है। कोई न कोई व्रत चलता ही जाता था। एक उपवास, एक भोजन तो उनके लिए बहुत ही सामान्य बात थी। वह क्रम प्रायः चलता था। महाराज एक दिन कहते थे-"उपवास से शरीर में प्रमाद नहीं रहता। और समय यदि हम दस मील चलते, तो उपवास के दिन शरीर हल्का रहने के कारण सहज ही पंद्रह मील चले जाते थे।"

उनको हमने कभी भी प्रमादपूर्ण अवस्था में नहीं देखा। यथार्थ में प्रमत्तगुणस्थानवर्ती होते हुए भी उनकी चेष्टायें सदा अप्रमत्त सदृश थीं। उनकी एक पुस्तक से ज्ञात हुआ कि उन्होंने तीस-चौबीस भगवान् के ७२० उपवास किये थे। पाँच भरत तथा पाँच ऐरावत रूप दश क्षेत्रों की त्रिकालवर्ती चौबीसी को तीस चौबीसी कहते हैं। ३०X२४=७२० उपवास तीस चौबीसी व्रत में होते हैं चारित्र शुद्धि व्रत के १२३४ उपवास हुए थे। सोलहकारण व्रत को १६ वर्ष किया। उसमें उनका एक उपवास, एक आहार का क्रम चलता रहता था। सिंह विक्रीड़ित सदृश कठोर तप उन्होंने किया था। आष्टाह्निक व्रत, दशलक्षण व्रत, कवलचांद्रायण व्रत, कर्मदहन व्रत, श्रुतपंचमी व्रत आदि उन्होंने किये थे। गणधरों के चौदहसौ बावन उपवास करने का क्रम चल रहा था, उसमें दो सौ उपवास हो पाये थे।

तपस्या के द्वारा मन की मलिनता दूर होती है। आत्मा विशुद्धता प्राप्त करती है। महान् तपस्या के अभ्यास के कारण विपत्ति की स्थिति में उनका मन उनके आधीन रहता था। सच्चा साधुत्व तो तभी है, जब विपत्ति के समय वह अपनी प्रतिज्ञा से न डिगे। संकट के समय भी महाराज में अद्भुत स्थिरता, आत्मविश्वास तथा दृढ़ता का दर्शन होता था। कवि का यह कथन सत्य है-

भक्ति भाव भादों नदी, सबै चली घहराय।
सरिता सोई जानिये, जेठ मास ठहराय॥

धर्मसूर्य

महाराज का जीवन तपोमय था। उन्होंने धर्म का सूर्य बनकर स्व तथा पर का प्रकाशन किया। जिस प्रकार प्रभापुंज भास्कर भी कुछ जीवों की दर्शन-शक्ति के बाधक बन जाता है, इसी प्रकार ऐसी भी आत्माएँ मिलेंगी, जो इन तेजोमय विभूति के महत्व को स्वीकार करने में अक्षम हों। जिन जीवों को कुयोनियों में परिभ्रमण करना है, उनकी आत्मा सत्कार्यो से द्वेष करती है। अच्छी बातों के बारे में अनुभूति की क्षमता उनमें नहीं रहती है, जैसे पक्षाघात लकवा पीड़ित व्यक्ति के अङ्गो में सप्राणता की शून्यता आ जाती है।

आचार्यश्री का प्रभाव

आचार्य महाराज कटनी चातुर्मास के पश्चात् जबलपुर आते समय जब बिलहरी ग्राम पहुँचे, तो वहाँ के लोग पूज्यश्री की महिमा से प्रभावित हुए। वहाँ के सभी कुएँ खारे पानी के थे। एक स्थान पर आचार्य महाराज बैठे थे। भक्त लोगों ने उसी जगह कुआँ खोदा। वहाँ बढ़िया और अगाध जल की उपलब्धि हुई। आज भी गाँव के लोग इन साधुराज की तपस्या को याद करते हैं।

कटनी की जैन शिक्षासंस्था के २० फुट ऊँचे मंजिले पर एक ३ वर्ष का बच्चा बैठा था। एक समय और बालकों ने आचार्य महाराज का जयघोष किया। वह बालक भी मस्त हो महाराज की जय कहकर उछला और नीचे ईंट, पत्थर के ढेर पर गिरा किन्तु कोई चोट नहीं आई। सुयोग की बात थी, जिस कोने पर वह गिरा, उस जगह पत्थर आदि का अभाव था। सब कहते थे-"यह आचार्य महाराज के पुण्यनाम का प्रभाव है।"

कटनी में एक प्राणहीन सरीखा आम का वृक्ष था। वह फल नहीं देता था। एक बार उस वृक्ष के नीचे आचार्यश्री का पूजन हुआ। तब से वह डाल फल गई, जिसके नीचे वे साधुराज विराजमान हुए थे। इस घटना से सभी कटनी वासी परिचित हैं।

सिंहदृष्टि

सिंह की दृष्टि तत्व पर रहती हैं। वह लाठी प्रहार करने वाले या बन्दूक मारने वाले पर प्रहार करता है। इसी प्रकार महाराज संकट के समय दूसरों को दोष न देकर, अपने कर्मों को ही उस विपत्ति का कारण मानते थे। दूसरों पर दोष रखकर अपने को उज्ज्वल बताने की लौकिक प्रवृत्ति उनमें नहीं पायी जाती थी। वे स्वश्रयी, स्वावलम्बी, आगमप्राण महात्मा थे।

संवेग भावना

एक बार महाराज, नेमिसागर महाराज तथा ब्र. बन्डू रत्तू सांगली की तरफ जा रहे थे। मार्ग में तीन हरिजन स्त्रियों ने इस मुनियुगल को देखा और तिरस्कारपूर्वक इन दिगम्बर साधुओं का महान् उपहास किया। उस समय महाराज ने आपस में चर्चा करते हुए कहा- ''हमने अनादिकाल से संसार भर की हँसी की। अब हमारी हँसी हो रही है, यह उसका ही तो फल है। इसमें हमारा क्या नुकसान है ?''कुछ समय के पश्चात् कुछ मुसलमान आ गये। उनकी डॉट से वे नारियाँ चुपके से चली गई।

संघ में निवास की आवश्यकता

साधुओं को अपने मन को सदा सावधान रखना आवश्यक है। न जाने कब इन्द्रिय रूपी डाकू आक्रमण कर उनकी संयम निधि को लूटने को तैयार जो जाये ? आचार्यश्री सदा कहा करते थे कि मुनियों को संघ में रहना चाहिये । शत्रु भी यदि साधु बने, तो उसे भी संघ में विहार करने को कहना चीहये। आज मुनियों में स्वतंत्र विहार की प्रवृत्ति बढ़ रही है।

आचार्य महाराज की दृष्टि से मुनियों का कल्याण तथा धर्म संरक्षण इसमें है कि वे संघ बनाकर रहें। ऐसे प्रसंग पर जब मनुष्य का पतन दुर्बलतावश होता है या दुष्टों का समागम होता हैं, तब संघस्थ साधु अधिक सुरक्षित रहता है और उसे अपनी धार्मिक मर्यादा में स्थिर रहने की बहुत प्रेरणा मिलती है। संघ में रहने से बहुत हित होता है।

बालक का समाधान

आचार्य महाराज सन् १९५३ में बारसी में विराजमान थे। उत्तर भारत का एक बालक अपने कुटुम्बियों के साथ गुरुदेव के दर्शन को आया। वह बच्चा लगभग ४ वर्ष का था। उसने पहले महाराज का साँपयुक्त चित्र देखा था। इससे वह महाराज से बोला- ''तुम्हारा साँप कहाँ है ?''महाराज बच्चे के आशय को समझ गए। वे मुस्कराते हुए बोले, ''वह साँप अब यहाँ नहीं है। वह तो चला गया।''

महान् जिनेन्द्र भक्ति

कुंथलगिरि में आचार्यश्री की इच्छानुसार मैसूर राज्य से एक १५ फुट ऊँची प्रतिमा को लाने का विचार चला था। बाहुबलि स्वामी की एक सुन्दर मूर्ति मिल गई। उस प्रतिमा की फोटो आचार्यश्री के समक्ष एक सितम्बर १९५५ को दिखायी गई। वह उपवास का १९ वाँ दिन था। फोटो देखते ही उनके नेत्रों से आनन्दाश्रु की धारा प्रवाहित हो गई। महाराज बोले, ''मेरी इच्छा पूर्ण हो गई।''सच्चे सम्यक्त्वी को जिस प्रकार वीतराग की छवि आनन्द देती है, उसी प्रकार का आनन्द इन साधुराज का था। यह मूर्ति मैसूर से २४ मील दूरी पर है। महाराज को विश्वास दिलाया गया था कि शीघ्र ही मूर्ति

कुंथलगिरि आ रही है, किन्तु उनके दिवगंत होने को पन्द्रह वर्ष हो गये, अब तक वह मूर्ति नही आ पाई। इसका रहस्य क्या है, यह अज्ञात है। सौभाग्य की बात है कि नातेपुते के धर्मात्मा दानी भाई गौतमचंद नेमचंद गांधी ने कुंथलगिरि पर बाहुबली की एक बड़ी मनोज्ञ मूर्ति की सन् १९७२ में प्रतिष्ठा करा कर विराजमान करा दिया।

सुख का रहस्य

एक व्यक्ति ने महाराज के समक्ष प्रश्न किया-"महाराज! आपके बराबर कोई दुःखी नहीं है। कारण, आपके पास सुख के सभी साधनों का अभाव है।"

महाराज ने कहा, "वास्तव में जो पराधीन है, वह दुःखी हैं। जो स्वाधीन है, वह सुखी है। इन्द्रियों का दास दुःखी है। हम इन्द्रियों के दास नहीं हैं। हमारे सुख की तुम क्या कल्पना कर सकते हो? इन्द्रियों से उत्पन्न सुख मिथ्या है। आत्मा के अनुभव द्वारा प्राप्त सुख की तुलना में वह नगण्य है।"

विशुद्ध जीवन का प्रभाव

आचार्यश्री ऐसे निरीह और निस्पृह तपस्वियों में थे, जो अपने तप के द्वारा प्राप्त फल या विशेष सामर्थ्य के विषय में पूर्णतया निरपेक्ष रहते थे, फिर भी कुछ लोगों ने साधुराज के उज्ज्वल व्यक्तित्व द्वारा लाभ उठाया है।

सिर की पीड़ा

वेडणी ग्राम के एक धनिक बन्धु विपुल द्रव्य खर्च करते-करते थक गये थे, किन्तु उनके सिर की पीड़ा नहीं जाती थी। उसने आचार्य महाराज के चरणों में नम्र भाव से विनती की और अपनी दारुण व्यथा सुनाई। दयार्द्र भाव से आचार्यश्री ने उस व्यक्ति के सिर पर अपनी पिच्छी रख दी। तत्काल वह हमेशा के लिए उस पीड़ा से छूट गया। वास्तव में जड़ प्रयोग जहाँ हार जाते हैं, वहाँ पर योगियों का चमत्कार जगत् को चकित कर देता है।

सर्पदंश

फलटण के श्री तलकचंद देवचंद गांधी के यहाँ के दस वर्ष के बालक को साँप ने काट दिया। आचार्य महाराज के समक्ष वह बालक लाया गया। उसे ध्यान से देखकर महाराज ने कहा, "चिन्ता मत करो। यह ठीक हो जायेगा।" इसके पश्चात् वह बालक निर्विष हो गया।

कुष्ठ रोगी

नसलापुर में एक व्यक्ति पापोदय से गलित कुष्ठ की बीमारी से दुःखी हो रहा था। वह महाराज की सेवा में पहुँचा। उसने बहुत अनुनय-विनय की। गुरुदेव ने उसे ब्रह्मचर्य व्रत

देते हुए कहा, "तू छह माह के भीतर ठीक हो जायगा।" महाराज की वाणी के अनुसार वह स्वस्थ हो गया।

मृगी रोगी

एक व्यक्ति मृगी रोग के कारण अपार व्यथा पा रहा था। सभी लोगों को ऐसा लगता था कि यह व्यक्ति न जाने कहाँ गिरकर मृगी के कारण मर जायगा। उसने महाराज की सेवा में रहकर बहुत दिन गुरुदेव के प्रसादार्थ प्रार्थना की। एक समय महाराज बाहर जा रहे थे। वह उनके पीछे लग गया और अपनी विनय स्वामी की सेवा में सुनाई।

आचार्य ने कहा, "तू पूजन किया कर। थोड़े समय में ठीक हो जायगा। बहुत थोड़े समय में ही वह व्याधि के कुचक्र से बच गया। महाराज के हृदय से निकली हुई वाणी का अद्भुत प्रभाव देखा गया है।

वानर वृन्द पर प्रभाव

शिखरजी की तीर्थवंदना से लौटते हुए महाराज का संघ सन् १९२८ में विंध्यप्रदेश में आया। विध्यांटवी का भीषण वन चारों ओर था। एक ऐसी जगह पर संघ पहुँचा, जहाँ आहार बनाने का समय हो गया था। श्रावक लोग चिंता में थे कि इस जगह वानरों की सेना का स्वच्छन्द शासन तथा संचार है, ऐसी जगह किस प्रकार भोजन तैयार होगा और किस प्रकार इन साधुराज की शास्त्रानुसार आहार की विधि संपन्न होगी ? उस स्थान से आगे चौदह मील तक ठहरने योग्य जगह नहीं थी।

संघपति सेठ गेंदनमलजी जवेरी आचार्यश्री के समीप पहुँचे और कहा, "महाराज ! यहाँ तो बंदरों का बड़ा कष्ट है। हम लोग किस प्रकार आहारादि की व्यवस्था करें।"

महाराज मुस्कराते हुए बोले, "तुम लोग शीरा, पूड़ी उड़ाते हो। बंदरों को भी शीरा-पूड़ी खिलाओ।" इसके बाद वे चुप हो गए। उनके मुखमंडल पर स्मित की आभा थी।

वहाँ संघ के श्रावकों ने कठिनता से रसोई तैयार की, किन्तु डर था कि महाराज के हाथ से ही बंदर ग्रास लेकर न भागें, तब तो अंतराय आ जायगा। इस स्थिति में क्या किया जाय ? लोग चिंतित थे।

अस्तु, चर्या का समय आया। शुद्धि के पश्चात् आचार्य महाराज जैसे ही चर्या के लिए निकले कि सैकड़ों बन्दर स्वयमेव अत्यन्त शान्त हो गए और चुप होकर महाराज की चर्या की सारी विधि देखते रहे। बिना विघ्न के महाराज का आहार हो गया। इसके क्षण भर पश्चात् ही बन्दरों का उपद्रव पूर्ववत प्रारंभ हो गया। गृहस्थ बन्दरों को रोटी खाने को देते जाते थे और स्वयं भी भोजन करते जाते थे। ऐसी अपूर्व दशा महाराज के आत्मविकास तथा आध्यात्मिक प्रभाव को स्पष्ट करती है।

आत्मध्यान का उपाय

एक दिन आर्यिका, विशालमती माताजी ने पूज्य गुरुदेव से पूछा-"महाराज! आप आत्मा का ध्यान करो, यह कहते हैं। किस प्रकार आत्मा का ध्यान किया जाय?"

महाराज ने सूत्ररूप में एक महत्व की बात कही-"गप बसाला सीखा- पूर्ण चुपचाप रहना सीखो।" इन थोडे सारपूर्ण शब्दों में योगिराज ने योगविद्या का रहस्य कह दिया। चुप बैठकर अंतर्जल्प बन्द करना सामान्य बात नहीं है।

इस विषय को समझाते हुए महाराज ने कहा था-"स्त्रियों को अपने हृदय में स्फटिक की मूर्ति विराजमान करने उसका ध्यान करना चाहिए। पुरुषों को अपने शरीर में विद्यमान आत्मा के भीतर ही दखेना तथा विचारना चाहिए। काय गुप्ति, वचन गुप्ति तथा मन गुप्ति पालन करना चाहिए। अंतर्जल्प को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करते-करते मुक्ति मिलेगी।"

उन्होंने यह भी स्वयं के अनुभव की बात कही थी-"सबेरे आठ बजे सूर्य की तरफ पीठ करके खड़े हो जाओ। कायोत्सर्ग होकर १५ मिनट आत्मा का ध्यान करो। कुछ अभ्यास के बाद तुमको शरीर बराबर स्फटिक की मूर्ति दिखाई पड़ेगी।"

शिक्षण के विषय में

आचार्य महाराज की आदत रही है कि जो भी काम किया जाय, वह श्रेष्ठ हो। वे संख्या (**quantity**) के स्थान पर गुण (**quality**) को महत्व देते थे। श्री शांतिसागर, अनाथाश्रम, शेडवाल के संचालक महोदय को महाराज ने कुंथलगिरि में कहा था, शेडवाल आश्रम में पाँच छात्र रहे, तो भी अच्छी तरह उसे चलाना। अधिक संख्या का मोह मत करना। कार्य अच्छा होना चाहिए।"[1] इस आश्रम में विद्यानंद मुनिश्री ने शिक्षा प्राप्त की थी।

आचार्यश्री उस शिक्षा को कल्याणप्रद कहते थे, जो"चारित्रं खलु धम्मो" की भावना को हृदय में प्रतिष्ठित करती है। ऐसी पाप-पोषणी-विद्या, जिसे सीखकर पश्चात जन्मान्तर में जीव नरक या तिर्यंच पयार्य की शोभा बढ़ावें, धर्मगुरु को कैसे इष्ट हो

---

१. विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'विश्वभारती' विद्यालय में पहले केवल पांच विद्यार्थी थे। उनमें एक कविवर का पुत्र था, "During the first year Rabindranath had only five pupils, one of whom was his own son." कविवर के समक्ष एक विशेष आदर्श था। संख्या का मोह न था। आज वह संस्था विश्वविद्यालय बनकर अत्यंत समृद्ध स्थिति में है। जो लोग संख्या विश्वविद्यालय बनाकर अत्यंत समृद्ध स्थिति में है। जो लोग संख्या की ममता के बीमार है, उनको आचार्य महाराज तथा लौकिक-जगत में विख्यात कविवर रवीन्द्रनाथ की दृष्टि से प्रकाश प्राप्त करना चाहिए।

Rabindranath Tagore by sybes page 52

सकती है ?

आज वास्तव में समाज के कर्णधारों का कर्त्तव्य है कि अपने ज्ञान-केन्द्रों की बारीकी से जाँच करके उनको इस रूप में चलावें कि आचार्यश्री के रत्नत्रयपोषक दृष्टिकोण से उसकी अनुकूलता हो।

महान् आचार्य जिनसेन स्वामी ने बताया है, कि आदिनाथ भगवान ने अपने परिवार के बालक-बालिकाओं को विविध शास्त्रों में निपुण बनाया था। उनकी दृष्टि से लोकविद्या के साथ परमार्थ विद्या का भी शिक्षण आवश्यक था। आदिपुराण (पर्व ४२-श्लोक ३४) के ये शब्द हितप्रद हैं -

राजविद्यापरिज्ञानादैहिकार्थे दृढ़ा मतिः।
धर्मशास्त्र-परिज्ञानान्मतिर्लोकद्वयाश्रिता॥

राजविद्या के ज्ञान से लौकिक वस्तुओं के विषय में बुद्धि सुदृढ़ बनती है, किन्तु धर्मशास्त्र के परिज्ञान से उभय लोकों के विषय में बुद्धि को दृढ़ता प्राप्त होती हैं।

लौकिक शास्त्रों का अभ्यास

आत्म-कल्याणकारिणी विद्या के अभ्यास के साथ प्रतिभाशाली गृहस्थ के लिए अन्य लौकिक शास्त्रों का अध्ययन भी उचित कहा गया है। महापुराणकार भगवज्जिनसेन स्वामी ने उपासकाचार एवं अध्यात्मशास्त्र के साथ शब्दविद्या, अर्थशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, गणितशास्त्र, छंद ज्ञान, शकुनशास्त्र आदि का अभ्यास भी उपयोगी बताया है।

सेवा द्वारा सुफल लाभ

आचार्य महाराज तो वीतराग भाव वाले मुनि रहे है, किन्तु उनके शरण में आने वालों को समृद्धि मिली है और उनसे विमुख होने वालों को विपत्ति।

महाकवि धनजंय ने कहा है-"हे जिनेन्द्र ! आपके उन्मुख रहने वाला सुख पाता है और विमुख रहने वाला कष्ट भोगता है। आप दर्पण के समान उन दोनों के समक्ष एक रूप में रहते हैं।"

दर्पण के समक्ष जैसा मुख व्यक्ति का रहता है, वैसा वह दिखता है। वह मुख को अच्छा-बुरा नहीं बनाता है। महान् आत्माओं की ऐसी ही कीर्ति सुनी जाती है। उनसे रूठनेवाला अहंकारी व्यक्ति कष्ट भोगा करता है। आचार्य महाराज की सेवा में संलग्न रहने वाले अनेक व्यक्ति यदि अपनी-अपनी कथा लिखें, तो एक पुराण बन जाय, जिससे यह पता चलेगा कि किस प्रकार हीन या मध्यम परिस्थिति में वे संपन्न, प्रतिष्ठित तथा समृद्ध हुए। अजैनों ने भी महाराज की भक्ति और सेवा से आनंद लिया है। धर्म और धार्मिक का शरण लेने वाला यथार्थ में सुख को प्राप्त करता है।

मुस्लिम भक्त

नसलापुर में एक मुसलमान था। वह महाराज के दर्शन के पश्चात् ही शुद्ध भोजन करता था। उस भक्त की बहुत उन्नति हुई। वहाँ एक दर्जी भी था, जो द्वेष भाव धारण करता था। एक वर्ष में ही उसका बहुत पतन हुआ। ऐसी ही अनेक स्थानों की बातें सुनी जाती हैं।

वास्तव में प्रशममूर्ति आचार्यश्री महान् आध्यात्मिक विभूति थे। उपनिषद् में जिसे परा विद्या कहा है, उसके ये वास्तव में आचार्य थे। यथार्थ में वे इस भौतिकवाद के युग में लोकोत्तर महा मानव थे।

****

वीरसागरजी को आचार्य पद का दान

ता. २६ शुक्रवार को आचार्य महाराज ने वीरसागर महाराज को आचार्य पद प्रदान किया। उसका प्रारूप आचार्यश्री के भावानुसार मैंने लिखा था। भट्टारक लक्ष्मीसेन जी, कोल्हापुर आदि के परामर्शानुसार उसमें यथोचित परिवर्तन हुआ।

अन्त में पुन: आचार्य महाराज को बाँचकर सुनाया, तब उन्होंने कुछ मार्मिक संशोधन कराए।

उनका एक वाक्य बड़ा विचारपूर्ण था-"हम स्वयं के संतोष से अपने प्रथम निर्ग्रन्थ शिष्य वीरसागर को आचार्य पद देते हैं।"

मुनि वीरसागरजी को संदेश

आचार्य महाराज ने वीरसागर महाराज को यह महत्वपूर्ण संदेश भेजा था-"आगम के अनुसार प्रवृत्ति करना, हमारी ही तरह समाधि धारण करना और सुयोग्य शिष्य को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करना, जिससे परम्परा बराबर चले।"

उन्होंने यह भी कहा था, "वीरसागर बहुत दूर है, यहाँ नहीं आ सकता अन्यथा यहाँ बुलाकर आचार्य पद देते।" उनके ये शब्द महत्त्व के थे, वीरसागर को हमारा आशीर्वाद कहना और कहना कि शांतभाव रखे, शोक करने की जरूरत नहीं है।"

-पृष्ठ ३६०-३६१, सल्लेखना

सन् १९५१ का भारत व सरकारी नीतियाँ

एक दिन मैंने आचार्य महाराज से पूछा था- "महाराज! आज का युग संयम की साधना के पूर्णतया प्रतिकूल है। जीवन निर्वाह के लिए भोजन की सामग्री तक पाना कठिन हो गया है, इसलिए दो जैन प्रोफेसरों ने पूना में हमसे पूछा था कि आज के युग में हिंसा किए बिना निर्वाह कैसे होगा? अनाज की उपज कम हो गई है, इसलिए माँस भक्षण की प्रेरणा दिए बिना जीवन-यात्रा नहीं बन सकती है। बन्दर आदि धान्य-घातक जानवरों को मारे बिना अन्य उपाय नहीं है। ऐसे समय में जैनधर्म के अनुसार कैसे लोकहित का संपादन हो सकता है? राष्ट्र के हित के लिए जीवों का वध करना आवश्यक कर्तव्य हो गया है। इसी से भारत सरकार बन्दरों आदि घातक जानवरों के मारने को उत्साहित करती है। 'अहिंसा भक्त भारत सरकार का सूचना-विभाग बताता है कि बम्बई में भारत सरकार ने १२ लाख रुपयों के खर्च से ऐसा कारखाना तैयार किया है कि उसमें प्रतिदिन १५ टन मछलियाँ जमा की जावेगी तथा २५० टन मछली (आपात) समय के लिए सुरक्षित रखी जायेंगी इत्यादि। प्रतिदिन लगभग २० टन बर्फ भी तैयार किया जायगा, जिससे कि मछलियों को ठंडा करके जमाया जा सके। उस सरकारी सूचना-विभाग ने यह भी बताया है कि इससे महिनों पर्यन्त मछलियों का रंग, रूप, स्वाद ज्यों का त्यों बना रहेगा। (उद्योग-भारती, कलकत्ता, दिस ५१)

दैनिक सन्मार्ग, ३ सितम्बर सन् १९५१ में अहिंसावादी भारत सरकार की हिंसक प्रवृत्ति के विषय में यह समाचार छपा था कि करनाल जिले में जंगली पशुओं की हत्या के हेतु पंजाब सरकार ने दस हजार रुपयों के इनाम की घोषणा की है। बन्दर मारने पर प्रत्येक बन्दर पीछे २ रुपये इनाम मिलेगा। प्रमाण के लिए मरे बन्दरों की पूँछें प्रथम श्रेणी के न्यायाधीश के सामने पेश करनी होगी। सन् १९५० में २७२५१ बन्दर मारे गए थे। ५०१६ गीदड़ों का नाश किया गया था। इनके नाश का कारण यह बताया जाता है कि इनके कारण आवश्यक अन्न को क्षति पहुँचती है। भारत सरकार ने जापान के हिंसक विशेषज्ञों को बुलाकर मछली मारने के कार्य में अपना लम्बा कदम उठाया। केरल प्रांत में मेढकों को मारकर उनके ि रों को अमेरिका भेजा जाता है। इस प्रकार असंख्य जीवों के संहार द्वारा धनसंचय का उद्योग चल रहा है। जीववध के क्षेत्र में धर्मभूमि भारत के कर्णधार भयंकर रूप से बढ़ रहे हैं। जितनी हिंसा हिंसक देशों में हो रही है, उससे अधिक अहिंसक देश भारत में हो रही है।

-प्रभात, *जटिल समस्या व *सामयिक अन्न संकट में क्या करें,

पृष्ठ ३१९-३२०

श्रमणों के संस्मरण

मुनिराज श्री वर्धमानसागरजी महाराज

बाहुबली क्षेत्र में दर्शन

इन परमपूज्य साधुराज के दर्शन १५ फरवरी, सन्१९५७ को ८ बजे सुबह बाहुबली क्षेत्र (कुम्भोज ग्राम, जिला कोल्हापुर) में शुक्रवार के दिन हुए थे। उस दिन जिनेन्द्र पंचकल्याणक में जन्मकल्याण का महोत्सव हो रहा था। इनका शरीर सुडौल, गेंहुआ वर्णयुक्त था। ज्येष्ठ सुदी दशमी, शक संवत् १७८५, ईसवी सन् १८६३ में इनका जन्म हुआ। ९४ वर्ष की जिनकी अवस्था हो, दिगम्बर शरीर और मन भी जिनका दिगम्बर हो ऐसे साधुराज के दर्शन से बड़ी शांति मिली।

वर्धमान भगवान के शासनकाल में वर्धमान वय वाले सकल संयम की साधना में अत्यन्त वर्धमान, वर्धमान स्वामी के दर्शन से अन्तःकरण का आनन्द भी वर्धमान हुआ।

उनकी स्थिरता, निर्मलता और सर्वाङ्गीण साधुता का परिचय पाकर मन आनन्दित होने के साथ चकित भी होता था। अधिक वृद्ध व्यक्ति से चला नहीं जाता, शरीर अपना-वीभत्स रूप दिखाता है और वह तो अर्धमृतक अर्थात् मृतप्राय-सा लगता है, उस शरीर से श्रावक के सामान्य संयम का अभ्यास भी आज दिन शक्य नहीं होता। मृत्यु के पास पड़ा हुआ वह वृद्ध औषधियों आदि के द्वारा जीता हुआ मृतप्राय प्रतीत होता है, किन्तु ९४ वर्ष की अवस्था में इस हीन काल में असंप्राप्तसृपटिकासंहनन वाले शरीर में विद्यमान वर्धमानसागरजी सचमुच में आज के भोगी युग के लिए आश्चर्य की वस्तु थे। उनके मुखमण्डल पर विलक्षण तेज था। अद्भुत शांति से सुसज्जित उनका शरीर, अङ्ग-प्रत्यंग तथा आत्मा थी। यदि कोई देखता, तो उसे लगता मानो सचमुच में शान्ति के सागर शांतिसागर महाराज के पादपद्मों के पास पहुँच गया है। आचार्य महाराज की स्वर्गयात्रा के पश्चात् गुरुदर्शन न होने से व्यथित मन को इनके पास ऐसा लगा मानो जीवनप्रद सामग्री मिल गई।

वार्तालाप

मैंने उन्हें प्रणाम किया। वे बोले- ''बड़ा अच्छा हुआ आ गये। हमने तो बहुत पहले तुम्हारे आने का समाचार सुना था। बहुत दिन तक प्रतीक्षा भी की, फिर सुनने में आया कि तुम जापान चले गये और अब एकदम तुम हमारे पास आ गये। हमें ऐसा लगता था

कि शायद बड़े महाराज के स्वर्गगमन के बाद तुम हमें भूल गये होगे।''

मैंने कहा-''महाराज ! आपको कैसे भूल सकता हूँ ? प्रतिदिन अभिषेक तथा पूजा के समय आपके पवित्र चरणों को परोक्ष रूप से अर्घ दिया करता था। आज आपको साक्षात् देखकर मेरे नेत्र धन्य हो गये। भारत के बाहर जापान आदि देशों में अवश्य गया था, किन्तु आप सदृश गुरु के चरण मुझे वहाँ भी याद आते थे। अनेक जापानी मित्रों को, भाइयों और बहिनों को, आपकी फोटो बतलाता था और कहता था कि सौ के समीप वय वाले वर्धमान महाराज की अप्रतिम, नैसर्गिक सौन्दर्यसम्पन्न छवि को देखो।

लोग देखकर हर्षित होते थे। उनके चहेरे पर विस्मय का भाव आ जाता था। इतनी अवस्था में वस्त्र आदि साधनों से रहित, चौबीस घण्टे में एक बार खड़े होकर अपने हाथों की अंजुलि में विशेष नियमों के साथ आहार-ग्रहण करने वाले नररत्न आज भी जगत् में विद्यमान हैं, यह सचमुच में बड़े अचरज की चीज दिखती है।

संदेश

प्रश्न-''आचार्य महाराज ने सल्लेखना के काल में आपको कोई अपना विशेष संदेश भेजा था ? प्रार्थना है कि उस पर थोडा प्रकाश डालें।''

उन्होंने कहा-''महाराज ने कहा था कि निरन्तर आत्मा का ध्यान करना। आर्त्तध्यान मत करना। इसी प्रकार आत्म-चिन्तवन में लगे रहना, जैसे भरत महाराज उसमें लगे रहते थे। आत्मा का ध्यान करो। लगातार आत्मा का ध्यान होगा नहीं, इसलिये शुभ कार्यों में भी लगे रहना।''

उन्होनें कहा-''अब हमारा शरीर बहुत कमजोर हो गया है। उसमें शक्ति नहीं रही है, किन्तु वृद्ध शरीर में स्थित आत्मा में शक्ति है। कभी-कभी सारी रात ध्यान में बीत जाती है। तीन घंटे तक तो सहज ही ध्यान में बैठ जाता हूँ। यह आत्मशक्ति का फल है।''

प्रश्न-''महाराज ! आप ध्यान कब करते हैं? मेरा अभिप्राय रात्रि के समय से है।''

उत्तर-''हम रात को १२ बजे ध्यान को बैठ जाते हैं और करीब तीन घंटे तक आत्मचिंतन तथा आत्मध्यान में संलग्न रहते हैं।''

प्रश्न-''महाराज ! शरीर आपको कष्ट देता है या नहीं ?''

उत्तर-''व्यवहारदृष्टि से यह कष्ट देता है, निश्चय से वह हमारा क्या बिगाड़ सकता है ? अब हम आत्मशक्ति से ही काम लेते हैं, अन्यथा बाहर शौच को जाने की भी शक्ति अब शरीर में नहीं है।''

अपूर्व केशलोंच

ता. १८ फरवरी सन् १९५७ को उन्होंने केशलोंच किया। दूर-दूर से आये हजारों

स्त्री-पुरुष केशलोंच देख रहे थे। मैंने देखा कि आधे घण्टे के भीतर ही उन्होंने केशलोंच कर लिया। किसी की सहायता नहीं ली। चेहरे पर किसी प्रकार की विकृति नहीं थी। धीरता और गंभीरता की वे मूर्ति थे। जैसे कोई तिनका तोड़ता है, उस तरह झटका देते हुए सिर तथा दाढ़ी के बालों को उखाड़ते जाते थे।

लो ! केशलोंच हो गया। उन्होंने पिच्छि हाथ में लेकर जिनेन्द्र को प्रणाम किया, तीर्थंकरों की वन्दना की ।

अब उनका मौन नहीं है, ऐसा सोचकर धीरे से मैंने पूछा-''महाराज अभी आप केशलोंच कर रहे थे, उस समय आपको पीड़ा होती थी कि नहीं ?''

उत्तर-''अरे बाबा, रंचमात्र भी कष्ट नहीं होता था। लेशमात्र भी वेदना नहीं थी। हमें ऐसा नहीं मालूम पड़ता था कि हमने अपने केशों का लोंच किया है। हमें तो ऐसा लगा कि मस्तक पर केशों का समूह पड़ा था, उसे हमने अलग कर दिया। बताओ, हमने और क्या किया ? देखो, एक मर्म की बात बताते हैं। शरीर पर हमारा लक्ष्य नहीं रहता है। केशलोंच शुरू करने के पहिले हमने जिन भगवान् का स्मरण किया और शरीर से कहा, अरे शरीर ! हमारी आत्मा जुदी है, तू जुदा। 'कां रड़तोस'(अरे क्यों रोता हैं)? हमारा-तेरा क्या सम्बन्ध ? बस, केशलोंच करने लगे। हमें ऐसा नहीं मालूम पड़ा कि हमने अपना केशलोंच किया है।''

स्वप्न में गुरुदर्शन

प्रश्न-''महाराज ! मैं तो आचार्य महाराज के बारे में कुछ जानना चाहता हूँ। यह तो बताइए कि स्वप्न में उनका दर्शन होता है या नहीं ?''

उत्तर-''जागृत अवस्था के भाव स्वप्न में आते हैं। अनेक बार उनका दर्शन होता है। वे यही कहते हैं कि अपने व्रत में स्थिर रहकर आत्मचिन्तन करो।''

रुद्रप्पा की समाधि

उन्होंने आचार्य महाराज के गृहस्थ अवस्था के मित्र लिंगायत धर्मावलम्बी श्रीमन्त रुद्रप्पा की बात सुनाई। सत्यव्रती रुद्रप्पा वेदान्त का बड़ा पण्डित था। वह अत्यन्त निष्कलंक व्यक्ति था। वह अपने घर में किसी से बात न कर दिन भर मौन बैठता था। कभी-कभी हमारे घर आकर आचार्य महाराज से तत्त्वचर्चा करता और उनका उपदेश सुनता था।

एक समय की बात है कि भोजग्राम में प्लेग हो गया। हम सब अपने माता-पिता के साथ अपने मामा के यहाँ यरनाल ग्राम में पहुँचे। प्लेग भीषण रूप धारण कर रहा था। सुनने में आया कि रुद्रप्पा को प्लेग हो गया। प्लेग की गाँठ उठ आई। उस समय लोग प्लेग से इतना घबराते थे कि बिरला व्यक्ति ही कुटुम्बी होते हुए बीमार के पास जाता था।

जैसे कोई व्याघ्र से दूर भागता है, ऐसे बीमार से दूर रहा करते थे।

आचार्य महाराज ने रुद्रप्पा की बीमारी का समाचार सुना। वे चुपके से रुद्रप्पा के पास चले गये। भय क्या चीज है, इसे वे जानते ही नहीं थे। उनका जीवन आदि से अन्त तक निर्भय भावों से भरा रहा है। मित्र रुद्रप्पा के पास पहुँचकर उन्होंने देखा कि उसकी अवस्था अत्यन्त शोचनीय है। उन्होंने सोचा कि ऐसे जीव का कल्याण करना मेरा कर्तव्य है। आचार्य महाराज ने कहा-''रुद्रप्पा, अब तुम्हारा समय समीप है। अब समाधिमरण करो। शरीर से आत्मा जुदी है। शरीर का ध्यान छोड़ो। रुद्रप्पा 'अरहंता' बोलो।''अब रुद्रप्पा के मुख से 'अरहंता' निकलने लगा।

इनकी वाणी सुनकर उसे लगा कि जैनधर्म ही खरा (सच्चा) धर्म है। जैनगुरु ही सच्चे गुरु है। जैनशास्त्र ही सच्चे शास्त्र हैं। इनकी महिमा को कोई नहीं समझ सकता। उसके मन में श्रद्धा जगी। मिथ्यात्व की अँधियारी दूर हुई। उस समय उसका भाग्य जगा, ऐसा मालूम होता है, तभी तो वह जिनेन्द्र के नाम से प्यार करने लगा। अब उसके मुख पर अन्य नाम के लिए स्थान नहीं है। वह अरंहता कहता है। वाणी क्षीण हो गई है अत· शब्दों का उच्चारण नहीं कर सकता, ओष्ठों का स्पन्दनमात्र होता है।

महाराज कहते हैं-''रुद्रप्पा ध्यान दो। शरीर और आत्मा जुदे-जुदे हैं। अरहंत का स्मरण करो।''

इतने में शरीर चेष्टाहीन हो गया। अब रुद्रप्पा वहाँ नही हैं। समाधिमरण के प्रेमी शान्तिसागर महाराज ने अपने मित्र को सुपथ पर लगा दिया। सचमुच में उसकी सद्गति करा दी। ऐसी मैत्री आज कौन दिखाता है। आज तो भवसिन्धु में डुबाने वाले यार-दोस्त मिलते हैं। मोक्ष के मार्ग पर लगानेवाले सन्मित्र का लाभ दुर्लभ है।

ध्यान-सूत्र

प्रश्न-'' महाराज ! कृपाकर बताइये, क्या आपका मन लगातार आत्मा में स्थिर रहता है या अन्यत्र भी जाता है ?''

उत्तर-''हम आत्मचिंतन करते हैं। कुछ समय के बाद जब ध्यान छूटता है, तब मन को फिर आत्मा की ओर लगाते हैं। कभी-कभी मोक्षगामी त्रेसठ शलाका पुरुषों का चिंतवन करता हूँ।''

मलिन भावों की दवा

''कभी-कभी बुरा भी चिंतवन हो जाता है। उस समय मैं मन को कहता हूँ-'अरे ! बिना कारण बुरे ध्यान में क्यों रहता है, शुभ ध्यान में रह।' इससे मन फिर ठिकाने पर आ जाता है। मैंने भला-बुरा सब कुछ आपसे कह दिया।''

जाप का क्रम

प्रश्न-"महाराज ! आपके जाप का क्या क्रम रहता है ?"

उत्तर-"प्रभात में १८ माला, मध्याह्न में ५ माला, संध्या के समय ३६ माला, मध्यरात्रि में ५ माला फेरता हूँ और अन्य समय में मैं आत्मा का ध्यान करता हूँ।"

प्रश्न-"उनके पास समय ज्ञात करने को घड़ी रखी थी। मैंने पूछा-"महाराज यह घड़ी आपकी नहीं है, हम तो आपके हैं न ?"

उत्तर (सस्मित वदन से वे बोल उठे)-"आप भी हमारे हो तो हमारे साथ चलो। हमारे साथ क्यों नहीं रहते ? अरे बाबा ! इस जगत् के मध्य में यह शरीर भी माझा नाहीं है। कोई भी पदार्थ मेरा नहीं है। 'अंतकाले कोणी नाहीं, जासी एकला' (अतंकाल में जीव का कोई साथी नहीं है, यह अकेला जायेगा)।"

अभिषेक के बारे में महत्व की बात

स्व. आचार्य शांतिसागर महाराज सदृश आगम की आज्ञा को मानने वाला विशुद्ध श्रद्धावान् कौन होगा, जिन्होंने आगम के आदेश को ध्यान में रखकर अपने सुदृढ़ शरीर को समाधिमरण की अग्नि में समर्पित कर दिया था। वे गुरुदेव कुंथलगिरि में सल्लेखना के आत्म चिंतन एवं आत्मविशुद्धि के अपूर्व काल में प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान के मन्दिर में जाकर देशभूषण, कुलभूषण भगवान का पंचामृत द्वारा किया गया वैभवयुक्त अभिषेक देखकर विशेष शान्ति प्राप्त करते थे।

एक दिन तो महाराज ने प्रबन्धकों से कहा था-"तुम लोग अभिषेक की बोली में दो-दो हजार, ढाई-ढाई हजार रुपया तक लेते हो; किन्तु अभिषेक की सामग्री में क्यों कमी करते हो ?"

महाराज के उलाहना देने पर दूसरे दिन घड़ों दही-दूध से भगवान का अभिषेक होने लगा था। महाराज बड़े ध्यान से जिनेन्द्र का अभिषेक देखते थे। वह उपवास का २८ वाँ दिन था। जब मैं महाराज के ठीक समीप खड़ा था, तब मैंने निकट से देखा कि वे अभिषेक को अत्यन्त तल्लीनता से देख रहे थे। उससे स्पष्ट होता था कि इन निर्ग्रन्थराज को सल्लेखना की उत्कृष्ट तपोमयी बेला में भी इस महाभिषेक दर्शन से महान् लाभ होता था, अतः गृहस्थों को तो यह अभिषेक अनन्त कल्याणदाता अवश्य होगा। इस सम्बन्ध में पक्ष का मोह छोड़कर हमें आगम से प्रकाश प्राप्त करना चाहिए।

अभिषेक के विषय में आगम की आज्ञा

कोई-कोई स्वाध्यायप्रेमी भाई कहते हैं कि आगम में दूध, दही, रस आदि से अभिषेक नहीं लिखा है। उन बन्धुओं के लिए अपने मान्य ग्रन्थों के दो-चार प्रमाण देते हैं, ताकि

वे गम्भीरतापूर्वक सोच सकें। हम स्वयं अभिषेक के विरोधी थे, किन्तु आचार्यश्री ने ग्रन्थ का आधार दिखाया, तो हमने हठ न कर आगम की आज्ञा को शिरोधार्य किया।

हरिवंशपुराण आचार्य जिनसेन स्वामी रचित है। वे महाज्ञानी एवं आगम के मर्मज्ञ दिगम्बर जैन आचार्य हुए हैं। उनके हरिवंशपुराण के बाईसवें सर्ग में कहा है कि वासुपूज्य भगवान के जन्म से पुनीत चम्पापुरी में वसुदेव ने गन्धर्व सेना के साथ फाल्गुन के अष्टाह्निका महापर्व में जिनमन्दिर में जाकर बड़े हर्ष से क्षीर, इक्षुरस, दधि, घृत जलादि के द्वारा जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक किया ? उन्होंने हरिचंदन की गन्ध, शालि, तंदुल, नाना प्रकार के पुष्प, निर्दोष नैवेद्य, दीपक, धूप से भगवान् की पूजा की थी। ग्रन्थ के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं **(हरिवंशपुराण, सर्ग २२, श्लोक २१, २२, २३)** :

क्षीरेक्षुरस-धारोधै-र्घृतदध्युदकादिभिः ।
अभिषिच्य जिनेन्द्रार्चामर्चितां नृसुरासुरैः ॥
हरिचन्दन-गंधाढ्यैर्गन्धशाल्यक्षताक्षतैः ।
पुष्पैर्नानाविधैरूद्धैर्धूपैः कालागुरूद्भवैः ॥
दीपैर्दीप्रशिखाजालैर्नैवेद्यैर्निरवद्यकैः ।
तावानर्चतुरर्चां तामर्चनाविधिकोविदौ ॥

पूजा के अंत में वसुदेव ने अढ़ाई द्वीप के १७० धर्मक्षेत्रों में त्रिकालसम्बन्धी जिनेन्द्रादि की इन भव्य शब्दों द्वारा वन्दना भी की थी :

द्वीपेष्वर्धतृतीयेषु स-सप्ततिशतात्मके ।
धर्मक्षेत्रे त्रिकालेभ्यो जिनदिभ्यो नमोस्त्विति ॥२७॥

समाज का अत्यन्त आदरणीय ग्रन्थ पद्मपुराण भी इस विषय में हरिवंशपुराण का समर्थन करता है **(दौलतरामजी की भाषा-टीका, पृ.३०८, पर्व ३२)** :

राम के वनवास के पश्चात् भरत शासन करते थे। भरत ने द्युति नाम के महान् आचार्य के समीप नियम लिया कि "पद्मदर्शनमात्रेण करिष्ये मुनिताम्" - राम के दर्शनमात्र से ही मुनिव्रत धारण करूँगा। उस समय आचार्य द्युति महाराज ने कहा था कि इसके पूर्व तुमको श्रावकों के व्रत धारण करना चाहिए। उन्होंने उपदेश में कहा था- "अरे ! जो रात्रि कूं आहार का त्याग करै, सो गृहस्थ पद के आरंभ विषै प्रवृत्तै हैं, तो शुभगति के सुख पावै। जो पुरुष कमलादि जल के पुष्प तथा केतकी, मालती आदि पृथ्वी के सुगन्ध पुष्पनिकरि भगवान कूं अरचे सो पुष्पक विमान कूं पाय यथेष्ट क्रीड़ा करै।"

रविषेणाचार्य रचित मूल पद्मपुराण के वाक्य ध्यान देने योग्य हैं **(सर्ग ३२-१५७, १५९)**:

करोति विभावर्यामाहापरिवर्जनम् ।
सर्वारंभप्रवृत्तोपि यात्यसौ सुखदां गतिं ॥

सामोदैर्भूजलोद्भूतैः पुष्पैर्योजिनमर्चयति।
विमानं पुष्पकं प्राप्य स क्रीडति यथोप्सितम् ॥

इस आगम के प्रकाश मे पुष्पों द्वारा भी भगवान् की पूजा का निषेध नहीं होता है। जिस सिद्धपूजा को श्रावक लोग बड़े चाव से पढ़ते हैं, उसमें भी मंदार, कुंद, कमल आदि वनस्पति से उत्पन्न पुष्पों द्वारा सिद्धचक्र की वंदना की गई है :-

मन्दार-कुंद -कमलादिवनस्पतीनां, पुष्पैर्यजे शुभतमैर्वरसिद्धचक्रम् ॥

अभिषेक का महाफल

पद्मपुराण की भाषा-टीका में दौलतरामजी ने लिखा है-"जो नीरकर जिनेन्द्र का अभिषेक करैं, सो देवनिकर मनुष्यनितैं सेवनीक चक्रवर्ती होय, जाका राज्याभिषेक देव-विद्याधर करैं। अर जो दुग्ध करि अरहंत का अभिषेक करैं, सो क्षीरसागर के जल समान उज्ज्वल विमान विषैं परमकांति धारक देव होय, बहुरि मनुष्य होय मोक्ष पावै। अर जो दधिकर सर्वज्ञ वीतराग का अभिषेक करै, सो दधि समान उज्ज्वल यशकूं पाय करि भवोदधि कूं तरै। अर जो धृतकर जिननाथ का अभिषेक करै, सो स्वर्ग विमान में महा बलवान देव होय परंपरा अनंतवीर्यकूं धरै। अर जो ईख रसकर जिननाथ का अभिषेक करै, सो अमृत का आहारी सुरेश्वर होय नरेश्वरपद पाय मुनीश्वर होय अविनस्वर पद पावै। अभिषेक के प्रभाव करि अनेक भव्यजीव देव अर इंद्रनिकर अभिषेक पावते भए, तिनकी कथा पुराणनि में प्रसिद्ध है।"

मूल संस्कृत ग्रन्थ के ये पद्य पढ़ने योग्य हैं -

अभिषेकं जिनेन्द्राणां कृत्वा सुरभिवारिणा।
अभिषेकमवाप्नोति यत्र यत्रोपजायते ॥१६५ ॥
अभिषेकं जिनेन्द्रणां विधाय क्षीरधारया।
विमाने क्षीरधवले जायते परमद्युतिः ॥१६६॥
दधि-कुंभैर्जिनेन्द्राणां यः करोत्यभिषेचनं।
दध्याभ-कुट्टमे स्वर्गे जायते स सुरोत्तमः॥ १६७ ॥
सर्पिषा जिननाथानां कुरुते योभिषेचनम्।
कांतिद्युति प्रभावाद्यो विमानेशः स जायते ॥ १६८॥
अभिषेकप्रभावेण श्रूयंते बहवो बुधाः।
पुराणेनंतवीर्याद्या द्युभूलब्धाभिषेचनाः ॥ १६९॥

वरांगचरित्र में लिखा है-"जन्म, जरा, मृत्यु आदि की शांति के लिए जल चढ़ाते हैं। विषयवासनाओं को सर्वथा मिटाने के लिए दूध से पूजा करते हैं। दधि के द्वारा पूजा करने से कार्यसिद्धि होती है। क्षीर पूजा से पवित्र स्थान मोक्ष में निवास होता है।"

वरांगचरित्र की हिन्दी टीका में लिखा है, सोना, चांदी आदि के कितने ही कलश दूध, दधि, पानी, घी आदि अभिषेक में उपयोगी द्रव्यों से भरे रखे हुए थे। ये सब कलश मुख पर रखे श्रीफल आदि फूलों के गुच्छों तथा पत्तो से ढँके हुए थे। प्रत्येक कलश में मालाएँ लटक रही थी (पृ.२१२, पर्व २३)।

भावसंग्रह में आचार्य देवसेन ने दूध, दही आदि द्वारा भगवान् के अभिषेक का वर्णन करते हुए लिखा है (गाथा-४४१)-

उच्चारि ऊणमंते अहिसेयं कुणउ देवदेवस्य।
णीर-घय-खीर-दहियं खिवउ अणुक्कमेण जिणसीसे ॥
उच्चार्यमंत्रान् अभिषेकं कुर्यात् देवदेवस्य।
नीर-घृत-क्षीर दधिकं क्षिपेत् अनुक्रमेण जिनशीर्षे ॥

पंडित सदासुखजी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार के ११६ वें श्लोक 'देवादि देवचरणे' की टीका में यह महत्वपूर्ण कथन किया है :-

''बहुरि जे सचित्त द्रव्यनितें पूजन करे हैं, ते जल, गंध अक्षतादि उज्वल द्रव्यनिकरि पूजन करे हैं। अर चमेली, चंपक, कमल, सोनजाई इत्यादि सचित्त पुष्पनि ते पूजन करे हैं। धृत का दीपक तथा कपूर आदि दीपकनिकी आरती उतारे हैं। अर सचित्त, आम्र, केला, दाडिमादिक द्रव्यनि कर हूँ पूजन करे हैं। धूपायनि में धूप दहन करे हैं। ऐसे सचित्त द्रव्यनि कर हूँ पूजन करिए हैं। दोऊ प्रकार आगम की आज्ञा प्रमाण सनातन मार्ग है। अपने भावनि के अधीन पुण्य बंध के कारण हैं।''

इससे धर्मात्मा पुरुषों को यह स्वीकार करना होगा कि ऋषिप्रणाली आगम पंचामृत अभिषेक का समर्थन करता है और इसके विरुद्ध आचार्यप्रणीत वाणी का अभाव है। सम्यक्त्वी जीव आगम के अनुसार श्रद्धान करता है। वह वीतराग आचार्यों को पक्षपाती कहने का प्रयत्न नहीं करता। **तिलोयपण्णत्ति, भाग २, अ. ५, गाथा १११** में फलों के द्वारा पूजा का कथन आगम प्रेमियों के लिए ध्यान देने योग्य है, आचार्य कहते हैं - **''दाख, अनार, केला, नारंगी, मातुलिंग, आम तथा अन्य भी पके फलों से जिननाथ की पूजा करते हैं**। गाथा इस प्रकार है :-

दक्खा-दाडिम-कदली-णारंगय-मादुलिंग-भूदेहिं ।
अण्णेहिं वि पक्केहिं फलेहिं पूजंति जिणणांह ॥

त्रिलोकसार में लिखा है कि धर्मात्मा पुरुष स्वर्ग में उत्पन्न होते ही स्नान के पश्चात् जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा का अभिषेक करते हैं। आगम प्राण धार्मिक बंधुओं को इस आगम वाणी को ध्यान में लाना हितकारी है :-

धर्म प्रशंस्य स्नात्वा ह्रदे अभिषेकालंकारम् ।
लब्ध्वा जिनाभिषेकं पूजा कुर्वंति सदृष्टयः ॥ ५५२॥

साधुविरोधी आन्दोलन

एक दिन वर्धमान महाराज कहने लगे-"आजकल साधु के चरित्र पर पत्रों में चर्चा चला करती है। उनके विद्यमान अथवा अविद्यमान दोषों का विवरण छपता है। इस विषय में उचित यह है कि अखबारों में यह चर्चा न चले, ऐसा करने से अन्य साधुओं का भी अहित हो जाता है। मार्ग-च्युत साधु के विषय में समाज में विचार चले, किन्तु पत्रों में यह बात न छपे। इससे सन्मार्ग के द्वेषी लोग अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। उन्होंनें यह भी कहा था-"कि किसी भी साधु का आहार बन्द नहीं करना चाहिए।"

महाराज ने कहा था-" मुनि धर्म फार (बहुत) कठिन है। मुनि होकर पैर फिसला, तो भयंकर पतन होता है। नेत्रों को जागृत रखना चाहिए। ज्ञान आदि की बातों में चूक हो गई, तो उतनी हानि नहीं होती, जितनी संयम-पालन में प्रमाद करने पर होती है। तलवार की धार पर सम्हालकर पैर रखा, तो ठीक, नहीं तो पैर नियम से कट जाता है। मुनिपद में चारित्र को बराबर पालना चाहिए।"

वैराग्य का जागरण

उन्होंने कहा था-"आचार्य शांतिसागर महाराज संघ सहित जब शिखरजी के लिए रवाना हुए, तब हमारे मन में वैराग्य के भाव विशेष थे और हमने महाव्रती बनने हेतु अभ्यास आरंभ किया था।" अतः उनकी आत्मा अत्यन्त विकसित तथा सुसंस्कृत हो गई थी। इस निष्कर्ष का आधार निम्नलिखित चर्चा है।

दशलक्षण पर्व सितम्बर सन् १९५७ का पूर्ण हो चुका था। मैंने प्रभात में गुरुदेव से कहा-"महाराज ! आपके चरणों के समीप पर्व सानंद पूर्ण हो गया।"

समन्वयपूर्ण वाणी

महाराज बोले-"तुम्हारे आने से लोगों का बड़ा हित हुआ। मिथ्यात्व का त्याग हुआ। धर्म बुद्धि बढ़ी।" मैंने कहा, मुझे तो आपके दर्शन का अपूर्व लाभ मिला।"

महाराज बोले-"अच्छा, दोनों का लाभ हुआ। तुम्हारा तथा लोगों का भी।" मैंने कहा-"बिलकुल ठीक बात है।"

महाराज बोले-"हम खोटी बात क्यों बोलेंगे ?" कितना सुन्दर, मधुर तथा यथार्थ उत्तर था उनका। सत्य महाव्रती साधु असत्य तथा आगमविरुद्ध भाषण नहीं करते।

अद्भुत एकाग्रता

मैंने पूछा-"महाराज, कल रात्रि को आपकी कुटी के अत्यन्त समीप मेरा दो घंटे के

लगभग भाषण हुआ था। विषय था **'ब्रह्मचर्य धर्म'**। क्या आपने सुना था ?''

महाराज-''मैं ध्यान में बैठा था। मुझे तुम्हारे व्याख्यान का कुछ भी पता नहीं चला। ध्यान में बैठने पर पास में तुम नक्कारा भी बजाओ, तो पता नहीं चलता है। नदी या तालाब के जल में डुबकी लगाने पर बाहर का पता नहीं चलता। मैं आत्मचिंतन में निमग्न था। उस समय बाहर का कुछ भी ज्ञान नहीं था। हम जैसा होता है, वैसा बताते हैं।''

मैं आश्चर्य में पड़ गया। महाराज के अति समीप उच्च स्वर में दिए गए लम्बे भाषण का भी उनको आत्मचिंतन काल में पता नहीं चला। धन्य है ऐसी आत्मध्यान की अपूर्व क्षमता। **स्व० आचार्य शांतिसागर महाराज भी अपने ध्यान के विषय में ऐसा कहते थे कि''हम बीच बाजार में बैठकर आत्मा का ध्यान कर सकते हैं। आत्मा में निमग्न होने पर बाजार क्या बाधा उत्पन्न करेगा।''** इस कथन का प्रत्यक्षीकरण वर्धमान स्वामी में हमने देख लिया। तत्त्वज्ञानी साधु अभ्यास के द्वारा असंभव बातों को संभव कर लिया करते हैं।

संसार एक खेल है

व्रतों की द्वादशी को मन्दिरजी के चौक में स्थानीय श्राविकाश्रम की छोटी-छोटी बालिकाओं ने कुछ खेल दिखाए। उसे देखते हुए महाराज ने मुझसे कहा-''यह तो बच्चों का खेल है, किन्तु संसार ही एक खेल है, आत्मा इस खेल से पृथक् है। इसको हम नहीं भूलते हैं। संसार में जीव मोह के कारण नाचते-कूदते हैं।''वास्तव में स्वतत्त्व की जिनको उपलब्धि हो चुकी है, उनकी दृष्टि, उनकी वाणी, उनकी चर्या में एक विलक्षण ज्योति, मधुरता, सरसता तथा सजीवता का दर्शन होता है।

विनम्रता

एक दिन प्रभातकाल में महाराज कहने लगे-''नाम सोनूबाई और पास में सुवर्ण न हो, उसी प्रकार मैं सामान्य स्थिति का हूँ और लोग मुझे बड़े-बड़े नामों से पुकारते हैं। कोई मुझे चारित्र चूड़ामणि कहता है, कोई आचार्य कह बैठता है। अरे बाबा ! ये बहुत बड़े पद हैं। मैं इतना महान् नहीं हूँ।''

मुनिपद का महत्व

८ सितम्बर को आहार के उपरान्त महाराज ने कन्नड़ी में मुझ से कुछ कहा।

मैंने पूछा-''महाराज आपने क्या कहा ?''

उन्होंने कहा-''बैठ जाओ, यह कहा है।'' बैठने के पश्चात् उन्होंने हमसे पूछा-''बताओ, हमने घर छोड़कर मुनि का पद क्यों धारण किया ? क्या भोजन के लिए ? लज्जा छोड़कर दूसरे के घर में खड़े भिक्षावृत्ति से आहार के लिए क्या मुनिपद लिया ?

क्या हमारे घर में कमी थी, जो ऐसा किया ?" मैंने कहा-"महाराज ! आपका संपन्न परिवार बहुतों को भोजन देता रहा है। उपरोक्त कोई कारण नहीं है, अतः महाराज ! आप ही इस प्रश्न का समाधान कर सकते हैं।"

उन्होंने कहा-"हमने आत्मकल्याण के लिए यह पद ग्रहण किया है। आगमानुसार प्रवृत्ति के लिए यह मुद्रा धारण की है। आचार्यों ने कहा है कि २८ मूलगुणों का पालन करते हुए आत्मकल्याण करो, इससे मैं ऐसा करता हूँ। यश, मान, सम्मान के लिए यह पद अंगीकार नहीं किया है। यश तथा सम्मान में क्या है ? आहार के पश्चात् तुमने पूजा-स्तुति की या नहीं की, इसमें क्या है ? आगम कहता है कि मुट्ठी भर अन्न खा और जा। इससे आत्मकल्याण की साधना के एकमात्र उद्देश्य से हमने दिगम्बर मुद्रा धारण की है। "या शिवाय मोक्ष होणार नाहीं", इस पद के बिना मोक्ष नहीं होगा।"

सांगली नरेश को उपदेश

नांद्रे में मानस्तम्भ पूजा सन् १९५७ के ज्येष्ठ मास में वर्धमान स्वामी के समक्ष बड़े आनन्दपूर्व सम्पन्न हुई।

उस मङ्गल प्रसङ्ग पर सांगली नरेश नांद्रे पधारे और महाराज के दर्शनार्थ गए। सामायिक के उपरांत महाराज का दर्शन सांगली नरेश ने किया। वर्धमान स्वामी के मुख पर तपस्या तथा आत्म-साधना का अद्‌भुत तेज था। योगदर्शन में प्रतिपादित योगी के भाव महाराज में स्पष्ट प्रतिभाषित हो रहे थे।

मार्मिक उपदेश

दर्शन से तृप्त होकर सांगली नरेश ने गुरुदेव से अमृत उपदेश की प्रार्थना की।

वर्धमान महाराज ने कहा-"राजन् ! हमें अच्छी प्रकार पता है कि आपने अच्छी तरह शासन करके प्रजा को सुखी रखा है। अब स्वराज्य होने से आप पर से शासन-संचालन का भार दूर हो गया है और कोई चिन्ता का कारण नहीं है, अतएव हमारा यही कहना है कि आप आत्मकल्याण का मार्ग अंगीकार करें। आप प्रतिदिन कुछ समय मैं चैतन्य हूँ, जड़ से भिन्न हूँ, इस प्रकार आत्मचिन्तन में भी लगाया करें।"

राजा का प्रभाव

वर्धमान महाराज की वाणी सुनते ही सांगली सरकार को बहुत शांति मिली। अत्यन्त सन्तोष प्राप्त हुआ। उनके नेत्रों में अश्रु आ गए।

वे बोले-"स्वामिन् ! हमें हजारों बड़े-बड़े साधु मिले, किन्तु आज तक किसी ने ऐसा मधुर आत्मा की ओर आकर्षित करने वाला उपदेश नहीं दिया।"

इसके पश्चात् दिगम्बर मुद्राधारी इन ऋषिराज के चरणों पर सांगली नरेश ने अपना

मस्तक रख दिया और प्रार्थना की-"प्रभो ! आप सदृश साधुराज का हमें ऐसा ही आशीर्वाद प्राप्त हो कि मैं आत्मकल्याण में लग जाऊँ।"

इसके अनन्तर वर्धमान महाराज ने एक अध्यात्मशास्त्र की प्रति सांगली सरकार के पास स्वाध्याय हेतु भिजवाई। उसे पाकर वे अत्यन्त हर्षित हुए थे।

सतत अभ्यास का महत्व

आचार्य शांतिसागर महाराज कहते थे, जिस प्रकार बार-बार रस्सी की रगड़ से कठोर पाषाण में गड्ढा पड़ जाता है, उसी प्रकार अभ्यास द्वारा इन्द्रियाँ वशीभूत होकर मन में चंचलता नहीं उत्पन्न करती हैं। सूक्ति है **"रस्सी आवत जात तें, सिल पर परत निसान।"**

एक बार मैंने आचार्य महाराज से पूछा था कि आप सतत स्वाध्याय करते हैं, क्या मनरूपी बन्दर की चचंलता दूर करने को यह कर रहे हैं ?

महाराज ने उत्तर दिया था कि **हमारा मन हमारे आधीन है। वह चंचल नहीं है।** अतएव आत्मचिन्तन के विषय में ऐसे योगियों का अनुभव ही जन-साधारण का मार्गदर्शक बन सकता है।

दीर्घजीवन का रहस्य

महाराज ने बताया-"संयमी जीवन दीर्घायुष्य का विशेष कारण है। हम रात को ९ बजे के पूर्व सो जाते थे और तीन बजे सुबह जाग जाया करते थे। ३५ वर्ष की अवस्था में हमने ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया था। हमारे शरीर में कभी रोग नहीं हुआ। गृहस्थ अवस्था में हम एक दिन में ४५ मील बिना कष्ट के सहज ही चले जाते थे। २५ वर्ष की अवस्था में हम भोज से ५.३० बजे सबेरे चलकर शाम को ४५ मील दूरी पर स्थित तेरदल ग्राम में जाकर भोजन करते थे। पहले हमारे शरीर का चमडा इतना कड़ा था कि शरीर से चमडा नहीं खिचता था, लेकिन अब तो वृद्धा अवस्था आ गई है। आज के विटामिन भक्तों तथा डाक्टरों के उपासकों को साधुराज के दिव्य जीवन से शिक्षा लेना चाहिए। निरोगता का बीज परिश्रम, ब्रह्मचर्य, परिमित आहार-विहार में है। महाराज ने बताया था कि वे स्नान के पश्चात् देवाराधना के अनन्तर भोजन करते थे और एक बार संध्या को भी भोजन करते थे। बार-बार भोजन की आदत नहीं थी।"

वैराग्य का कारण

मैंने पूछा-"महाराज ! आपके मन में वैराग्य-भाव जगाने में क्या आचार्य महाराज शान्तिसागर कारणरूप हुए थे ?"

महाराज ने कहा-"यथार्थ में आचार्य महाराज के दीक्षित होने का हमारे मन पर बड़ा असर पड़ा।"

आचार्यश्री की विरक्ति का क्रम

मैंने कहा-''आचार्य महाराज की विरक्ति तथा आत्म-साधना पर कुछ प्रकाश डालिए, क्योंकि आप ही इस विषय में प्रामाणिकतापूर्वक कथन कर सकते हैं।''

वर्धमान महाराज ने कहा-''घर में कपड़े की दुकान पर कुंमगोंडा तथा महाराज बैठते थे। मैं खेती का काम देखता था। मैं उपवासादि नहीं करता था। पिता की महाराज ने तथा मैंने सेवा की । उनकी मृत्यु के उपरान्त महाराज चार-पाँच वर्ष घर में और रहे, कारण मातुश्री जीवित थी। महाराज बहुत उपवास करते थे। उनको उपवास करते देख माताजी भी उपवास किया करती थी।''

स्तवनिधि दर्शन का नियम

माघ मास में माता की मृत्यु होने के पश्चात् महाराज के हृदय में वैराग्य-भाव वृद्धिंगत हुआ। भोज से २२ मील दूर स्तवनिधि अतिशय क्षेत्र है। अन्य लोग उसे तेवंदी कहते हैं। महाराज ने प्रत्येक अमावस्या को स्तवनिधि जाने का व्रत ले लिया। वे बहिन कृष्णाबाई को साथ में भोजन बनाने को ले जाते थे। स्तवनिधि की यात्रा का आश्रय ले उन्होंने प्रपंच से छूटने का निमित्त ढूँढ़ निकाला था। वे स्तवनिधि में एक दिन ठहरा करते थे।

वे ज्येष्ठ मास पर्यन्त स्तवनिधि गये। उन्होंने बहिन से कहा-''अक्का! अब हम अकेले ही स्तवनिधि जायेंगे।''अतः स्वयं भोजन साथ में रखकर ले गये। महाराज ने कुंमगोंडा से कह दिया था कि मेरा भाव व्यापार का नहीं है।

उत्तूर में देवप्पा स्वामी का दर्शन

स्तवनिधि के निमित्त ये घर से गये थे, किन्तु इनका मन वैराग्य से परिपूर्ण हो चुका था। इससे ये समीपवर्ती उत्तूर ग्राम में गये, जहाँ बालब्रह्मचारी मुनि देवेन्द्रकीर्ति महाराज, जिन्हें देवप्पा स्वामी कहते थे, विराजमान थे। संवत् १९७० के भाद्रपद में महाराज ने उत्तूर जाकर उनसे क्षुल्लक दीक्षा आदि का वर्णन ज्ञात किया। देवप्पा स्वामी का महाराज पर बड़ा वात्सल्य भाव था, कारण वे भोज में कभी-कभी माह पर्यन्त रहा करते थे। वे सातगोंडा की विरक्ति तथा धार्मिक प्रवृत्ति से सुपरिचित थे। जब महाराज ने दीक्षा धारण करने का अपना विचार व्यक्त किया, तो देवप्पा स्वामी को अपार खुशी हुई। उन्होंने लोगों से कहा था कि भोज से पाटील आया है, इनकी सब व्यवस्था करो। सातगोंडा पाटील (महाराज) ने देवप्पा स्वामी से प्रार्थना की कि अब हमें क्षुल्लक दीक्षा दीजिए।

दीक्षा- मंडप की रचना

देवप्पा स्वामी पाटील की परिणति से पूर्ण परिचित थे, अतः उनके इशारे पर उत्तूर में दीक्षा-मंडप सजाया गया। पाटिल को तालाब पर ले जाकर स्नान कराया गया। पश्चात्

वैभव के साथ उनका जुलूस निकाला गया। उन्होंने स्वच्छ नवीन वस्त्र धारण किए थे। गाजे-बाजे के साथ जुलूस दीक्षा-मण्डप में आया, जहाँ इनको क्षुल्लक दीक्षा दी गई तथा उनका नाम शांतिसागर रखा गया **(इस दीक्षा का पूर्ण वर्णन दिगंबर-दीक्षा प्रकरण में है)**।

ज्येष्ठ सुदी त्रयोदशी को दीक्षा

अब महाराज तो क्षुल्लक हो गए। उन्होंने घर पर कोई समाचार तक नहीं भेजा। भेजते क्यों ? जब घर का द्रव्य तथा भाव, दोनों ही रूप से त्याग कर दिया था, तब वहाँ खबर भेजने का क्या प्रयोजन ? किन्तु उत्तूर का समाचार भोज आ ही गया। चिट्ठी में लिखा था कि महाराज ने क्षुल्लक दीक्षा ले ली है। उनकी दीक्षा ज्येष्ठ सुदी तेरस को हुई थी।

दीक्षा समाचार

वर्धमान स्वामी ने बताया कि हमें समाचार ज्येष्ठ सुदी चौदह को प्राप्त हुआ। पत्र पहले पोस्टमैन ने भाई कुंमगोंडा के हाथ में दिया। उसे पढ़कर कुंमगोंडा बहुत रोए। वे अकेले थे। सबेरे उनका उतरा हुआ चेहरा देखकर अक्का (बहिन) ने पूछा, "तुम्हारा मुख उदास क्यों है ?"

कुंमगोंडा ने कहा-"अप्पानी दीक्षा घेतली", अर्थात् महाराज ने दीक्षा ले ली। जिसको यह समाचार मिले, उसके मोही मन को अपार सन्ताप पहुँचा।

हम कुंमगोंडा और उपाध्याय के पुत्र को साथ लेकर उत्तूर गये। रात को सदलगाग्राम में मुकाम किया। वहाँ के मराठों ने कहा, "भोज का पाटील स्वामी (साधु) हुआ है।" दक्षिण में दीक्षा लेने वाले को स्वामी कहते हैं। यथार्थ में साधु बनने पर यह व्यक्ति इन्द्रियों का दास नहीं रहता है, स्वामी बनता है, अतः स्वामी शब्द का प्रयोग औचित्यपूर्ण है। आजकल अव्रती को भी स्वामी कहते हैं। दरिद्री को राजा कहते हैं, जैसे "आँखों के अंधे नाम नयनसुख।"

क्षुल्लक रूप में दर्शन

उत्तूर पहुँचकर महाराज को देखते ही हमारी आँखों में पानी आ गया। महाराज ने कहा- "यहाँ क्या रोने को आये हो ? तुमको भी तो हमारे सरीखी दीक्षा लेनी है। रोते क्यों हो ?" हम सब चुप हो गए। हमने रसोई तैयार की। हमारे चौके में महाराज का आहार हुआ। हमने आहार में गोवा चे आम्बे (गोवा के आम) भी महाराज को दिये थे।

प्रस्थान

देवप्पा स्वामी ने हमें कहा कि यह छोटा-सा ग्राम है, अतः चातुर्मास के लिए तुम शांतिसागर महाराज को निपाणी की तरफ ले जाओ। उस समय कुंमगोंडा ने महाराज की दीक्षा समारम्भ में खर्च हुई सामग्री आदि का मूल्य उत्तूर वालों को देकर महाराज के साथ में

प्रस्थान किया। अद्भुत दृश्य था। पहिले सातगोंडा व देवगोंडा, गृहस्थ रूप में समान वेष वाले थे, अब-सातगोंडा क्षुल्लक हैं और उनके साथ उनके ज्येष्ठ सहोदर चल रहे हैं ।

अद्भुत युग

वह अद्भुत युग था। महाराज को देने योग्य कमण्डलु तक न था, अत: पास के लोटे में सुतली बाँधकर उससे कमण्डलु का कार्य लिया गया था। देवप्पा स्वामी ने अपनी पिच्छि में से कुछ पंख निकालकर पिच्छी बनाई थी और महाराज को दी थी। विचारक पाठक उस समय की क्या स्थिति थी, यह सोच सकता है।

महाराज कापसी ग्राम में ठहरे। कुमगोंडा ने कहा-"मैं कोल्हापुर जाकर कमण्डलु लाता हूँ। आप भोज जाओ।" भूपालप्पा जिरगे ने एक कमण्डलु भेंट किया। कुंमगोंडा ने कापसी ग्राम में जाकर महाराज को कमंडलु दे दिया।

"महाराज का प्रथम चातुर्मास कोगनोली में हुआ।"

घर के सदस्यों की अंतर्दशा

वर्धमानसागर महाराज ने बताया कि घर आने पर महाराज के अभाव में मेरा मन बैचेन हो गया। कुंमगोंडा ने दुकान के सब समान को तथा कपड़ों से भरी आलमारी को इकट्ठे ही एक मारवाड़ी को बेच दिया। उस समय सबका मन अत्यन्त व्यथित हो रहा था।

संयम केअभ्यास हेतु प्रेरणा

इसके अनन्तर वर्धमान महाराज ने बताया कि मैं कोगनोली में महाराज के पास गया और दीक्षा माँगने लगा। इस पर महाराज ने कहा-"दीक्षा लेना कठिन काम है। तुम मेरी तरह घर में ही रहकर पहले संयम का अभ्यास करो।" आज जो योग्यता शून्य दीक्षा देने की पद्धति दिखाई दे रही है, उसके बारे में आचार्य शांतिसागर महाराज की दृष्टि स्मरण योग्य है।

घर में आकर मैंने एक बार का आहार रखा। मैं खेती का काम देखता था, तो कुंमगोंडा कहता था-"अण्णा ! अब तुम यह काम मत करो।" कुमगोंडा ने भोज में रहना छोड़कर कोल्हापुर में व्यापार करना प्रारम्भ किया। मैं बहिन कृष्णाबाई के साथ कोल्हापुर आया-जाया करता था। कुमगोंडा अत्यन्त चतुर था। उसने पहले वर्ष साझेदारी में आड़त की दुकान की, पश्चात् अपना स्वतंत्र व्यवसाय प्रारम्भ किया। महाराज के चले जाने से भोज जंगल सरीखा लगने लगा था।

कुमगोंड़ा ने जैसिंगपुर में अपना कार्य जमाया। मैं भी वहीं रहने लगा। मैं ११ बजे से १ बजे दिन तक पर्वत पर ध्यान करता था। मन की चंचलता को रोकता था। मैं सात वर्ष जैसिंगपुर मे रहकर ध्यान का अभ्यास करता था। महाराज (शांतिसागरजी) कुम्भोज बाहुबली आये। वे निर्ग्रन्थ हो चुके थे। मैं उनके दर्शन को वहाँ गया।

गहरी विरक्ति

वहाँ कलप्पा भरमप्पा निटवे शास्त्री महाराज के पास बैठे थे। वे मुझे नहीं पहिचानते थे। मुझे देखकर शास्त्रीजी ने महाराज से पूछा-"ये कौन हैं ?"

महाराज ने यह नहीं कहा कि ये हमारे भाई हैं, किन्तु ये भोज के पाटील हैं, ऐसा कह कर परिचय दिया। यह सुनकर हमारे हृदय को धक्का लगा। हमारे नेत्रों में आँसू आ गए। इतनी गहरी विरक्ति तथा अनासक्ति महाराज के मन में विद्यमान थी।

महाराज संघ सहित जब शिखरजी के लिए रवाना हुए थे, तब बाहुबली से वे जैसिंगपुर भी पधारे थे। उन्होंने सन् १९२७ में शिखरजी के लिए जब प्रस्थान किया, तब हमारे मन में गहरा वैराग्य उत्पन्न हो गया था।

दीक्षा हेतु प्रार्थना

उत्तर भारत में विहार करते हुए जब महाराज का चातुर्मास जयपुर में हुआ, तब कुंमगोंडा तथा ब्र० जिनदास समडोलीकर महाराज के दर्शन को गए। उस समय हमने उक्त दोनों व्यक्तियों को कुछ न कहकर साथ में जाने वाले बालगोंडा को कहा कि महाराज को नमोस्तु कहकर उनसे मेरी दीक्षा के लिए प्रार्थना करना।

पुत्तूर के नेमिसागर मुनिराज .....

जयपुर जाकर जब महाराज को मेरी प्रार्थना सुनाई गई, तब महाराज बोले-"क्या अब भी उनके मन में वैराग्य का भाव विद्यमान है ?" इसके प्रत्युत्तर में महाराज से निवेदन किया गया कि-"उनका वैराग्य का भाव पक्का है। उन्होंने पुत्तूर के स्वामी नेमिसागरजी से निर्ग्रन्थ दीक्षा मांगी थी, किन्तु वे आपकी आज्ञा के बिना दीक्षा नहीं देते हैं। इससे आपसे ही दीक्षा देने की प्रार्थना करते हैं।"इस पर आचार्य महाराज ने पुत्तूर ग्राम वाले नेमिसागरजी को समाचार दिया कि तुम इनको (वर्धमानसागरजी को) दीक्षा दे सकते हो।

इस प्रसंग में यह बात ज्ञातव्य है कि वर्धमानसागर महाराज ने दीक्षा की स्वीकृति अपने सगे भाई कुमगोंडा पाटील तथा निकट परिचित ब्र० जिनदासजी के द्वारा प्राप्त न कराकर, अन्य व्यक्ति द्वारा यह कार्य क्यों सम्पन्न कराया ?

इसमें एक रहस्य है। आत्मानुशासन में कहा है कि :-

'बंधवो बंधमूलम्'

बंधु-बांधव बंध के कारण होते हैं, अतः आत्मसाधना के कार्य में उनसे विघ्नादिक की सम्भावना रहती है। मोहवश इष्ट व्यक्ति जो उपाय बताता है, वह वास्तव में आत्मा के लिए हितकारी नहीं रहता है। इससे वर्धमान महाराज ने अपने बन्धु तथा बन्धु तुल्य व्यक्ति के माध्यम से दीक्षा की अनुज्ञार्थ उद्योग करना उपयुक्त नहीं समझा था।

सत्तर वर्ष की अवस्था में क्षुल्लक दीक्षा

इस समय वर्धमानसागरजी ७० वर्ष के हो चुके थे। अवस्था तो श्रेष्ठ तपस्या के प्रतिकूल प्रतीत होती थी, किन्तु आत्मबल एवं वैराग्य के आश्रय से उन्होंने क्षुल्लक दीक्षा के महान् भार को अंगीकार करने का सुदृढ़ निश्चय कर लिया। मुनि नेमिसागर जी पुत्तूरकर, समडोली में विराजमान थे, अतः वे नेमिसागर महाराज के पास दीक्षार्थ गए।

उस समय कुंमगोंडा पाटील के मन में अवर्णनीय सन्ताप हुआ। वे जमीन पर गिर गए, फूट-फूटकर रोने लगे। उस समय का करुण दृश्य इन स्थिर-वैराग्यवाले महापुरुष पर कुछ प्रभाव न डाल सका।

उन्होंने ब्र. जिनदासजी से कहा-''उधर मत देखो, आगे बढ़ो।''

उस समय वे सोच रहे थे कि'**अहमिक्को णाणमओ**', मैं अकेला ज्ञानमयी चित्-चैतन्य हूँ।'**एक एव जायेहं एक एव म्रिये, न मे कश्चिन् स्वजनः परिजनो वा**' मैं अकेला उत्पन्न होता हूँ, अकेला मरण करता हूँ, मेरा कोई भी कुटुम्बी-बन्धु नहीं है। इस स्थिति में किसका भाई और किसकी बहिन ? यह सब मोह तथा अज्ञान का जाल है। उससे जकडा जीव पर वस्तुओं में अपनापन उत्पन्न करता है। अब मेरी आत्मा में सच्चे ज्ञान की ज्योति जगी है। मेरा कुटुम्ब परिवार दूसरा है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र ही मेरे बन्धु हैं। सच्चे कुटुम्बी हैं। त्रिकाल में भी इनका साथ नहीं छोड़ना है। लौकिक बन्धु श्मशान तक साथ देते हैं। मेरा हंस अकेला ही कर्मों के अनुसार दूसरी पर्याय धारण करता है। वहाँ इसके अन्य कुटुम्बी तथा इष्ट जन बन जाते हैं। अब मैं इस मोह के प्रतारणापूर्ण माया जाल में नहीं फ सूँगा। इस प्रकार ज्ञान का निर्मल निर्झर उनके अन्तःकरण में बह रहा था।

समडोली में क्षुल्लक दीक्षा

उनकी यथाविधि क्षुल्लक दीक्षा समडोली ग्राम में हो गई। चार वर्ष पर्यन्त ये क्षुल्लक रहे, पाँचवें वर्ष में ऐलक दीक्षा हुई और पश्चात् छठवें वर्ष में दिगम्बर मुनि बने। इससे स्पष्ट होता है कि मुनि दीक्षा देना सामान्य नहीं, किन्तु गंभीर विचारपूर्ण कार्य है, ऐसी आचार्य महाराज की धारणा थी।

गंजपंथा प्रस्थान

चार चातुर्मास गुरु के समीप हुए। पाँचवाँ चातुर्मास डिग्रज ग्राम में हुआ। वहाँ बड़गाँव के धर्मात्मा श्रावक बाबूराव मार्ले आए और मोटर में इनको बैठाकर गजपंथा ले गए। वहाँ शांतिसागर महाराज विराजमान थे।

गजपंथा पहुँचकर इन ज्येष्ठ वयवाले बन्धु ने अनुज बन्धु आचार्य शान्तिसागर महाराज को प्रणाम किया। दीक्षा लेने के बाद भाई-बन्धु आदि के कौटुम्बिक सम्बन्ध समाप्त हो

जाते हैं। इस प्रकार से यह नवीन जन्म तपस्वी के रूप में होता है। कानून में इसे (Civil deth) सिविल डेथ (मृत्यु) माना जाता है। अतः गृहस्थावस्था के छोटे भाई सातगोंडा अब आचार्य शांतिसागर के रूप में हैं, उनका आत्मा ही उनका भाई है, अन्य कोई भाई नहीं है।

धर्मगुरु

इसी कारण वर्धमान महाराज ने आचार्य महाराज को धर्मगुरु के रूप में ही देखा और अनुभव किया तथा उसी रूप में उनके चरणों की वंदना की।

बड़ी नम्रतापूर्वक गुरूचरणों में उन्होंने प्रार्थना की-''महाराज! क्षुल्लक पद लिए चार वर्ष व्यतीत हो गए। अब ऐलक दीक्षा देकर कृतार्थ कीजिए।''

दीक्षा की कठिनता

आचार्य महाराज बोले-''यह दीक्षा बहुत कठिन है। तुम्हारी अवस्था भी ७५ वर्ष की हो गई है।''

वर्धमान महाराज ने बारंबार विनय कर आचार्यश्री के मन में यह विश्वास उत्पन्न कर दिया कि यदि इनको यह पद दिया गया, तो यह उसे निर्दोष रूप में पालेंगे, फिर भी आचार्य महाराज इनकी दीक्षा के बारे में गम्भीरतापूर्वक विचार करते रहे।

आचार्य द्वारा पात्रता की परीक्षा

गजपंथा में वर्धमान महाराज को सोने के लिए रात के समय एक चटाई दी गई थी। वे उस पर न सोकर जमीन पर ही निद्रा ले रहे थे।

मध्यरात्री में उठकर आचार्यश्री ने देखा कि वर्धमानसागरजी जमीन पर सो रहे हैं। चटाई अलग है। इससे उनके हृदय में यह भाव उत्पन्न हुआ कि इनके विरागी मन में सयंम के प्रति प्रगाढ़ प्रेम है।

आचार्यश्री द्वारा ऐलक दीक्षा

अतः आसाढ़ सुदी त्रयोदशी को गुरुप्रसाद से वर्धमानसागर महाराज क्षुल्लक से ऐलक बन गए। अब इनके पास लंगोटी, पिच्छी और कमंडलुमात्र सामग्री रह गई। भौतिक दृष्टि से इनकी अंकिचनता बढ़ी, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से ये विशिष्ट संयम-लक्ष्मी के स्वामी बन गए।

वाहन-त्याग

आचार्य महाराज ने इनको आदेश दिया कि यहाँ से वापिस दक्षिण जाने के पश्चात् फिर कभी मोटर आदि में नहीं बैठना।

ये वहाँ से लौटे। इनके हृदय में बड़ी विशुद्धता थी। अपार आनन्द था। जैसे कोई लखपति-करोड़पति बनने पर अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करता है। इसी प्रकार

क्षुल्लक के स्थान में ऐलक पद प्राप्त करके इनके हृदय में अपार हर्ष हुआ था।

जैसे धनी व्यक्ति की धनलाभ के बाद तृष्णा जागती है, उसी प्रकार इनके मन में यह भाव उत्पन्न होता था- "हे जिनेन्द्र देव! आपके चरणप्रसाद से मुझको शीघ्र ही दिगम्बर अवस्था से परिपूर्ण निर्वाण मुद्रा धारण करने का सौभाग्य प्राप्त हो।" अंतःकरण की सच्ची भावना फलवती होती है। ऐलक अवस्था में एक वर्ष व्यतीत हुआ। दूसरा वर्ष प्रारंभ हुआ।

बारामती में मुनिदीक्षा

चातुमार्स पूर्ण होने के उपरान्त मार्गशीर्ष मास में ऐलक वर्धमानसागरजी अपने गुरु देव आचार्य शान्तिसागर महाराज के समीप बारामती पहुँचे और अत्यंत विनयपूर्वक मुनिमुद्रा प्रदान करने की प्रार्थना की। जिनमुद्रा धारण कर, निर्दोष रीति से उसके महान् नियमों का पालन करना इस कलिकाल में बहुत कठिन कार्य है। दूसरी बात यह भी है कि वर्धमानसागर महाराज का ७६ वाँ वर्ष चल रहा था।

इतनी वृद्धावस्था में महाव्रत का भार आज का बुद्धिजीवी वर्ग सोच भी नहीं सकता। जगत् तो बूढ़े आदमी का इसी रूप में सर्वत्र चित्र देखा करता है :-

अंगं गलितं पलितं मुंडं दशनविहीनं जातंतुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुंचत्याशा पिण्डम् ॥

७६ वर्ष में मुनिदीक्षा

अतः ७६ वर्ष की वर्धमान अवस्था में वर्धमान महाराज ने मार्गशीर्ष सुदी षष्ठी, सवंत् १८७९ अर्थात् १९३६ में बारामती में मुनिमुद्रा धारण की। चार वर्ष क्षुल्लकपद, एक वर्ष ऐलकपद के पश्चात् मुनि दीक्षा प्राप्त हुई। ऐसे अवसर पर कोई-कोई लोग दोनों आदर्श मुनिबन्धुओं की जननी माता सत्यवती और पिता भीमगोंडा के पवित्र वंश का स्मरण करते थे कि जिनके यहाँ ऐसे त्रिभुवनवंदित और सम्यक्चारित्र समलंकृत दो वीतराग साधुराज उत्पन्न हुए थे। ऐसा सौभाग्य किस वंश को प्राप्त होता है ?

मोह का लेश भी उत्पन्न न हो, इससे दीक्षा के पश्चात् गुरु की आज्ञा से वर्धमान मुनि महाराज दक्षिण तरफ चले गए। दोनों सगे भाई साथ-साथ रहते, तो सम्भव है कि मन में मोह का भाव कुछ जागृत हो जाय, इसीलिए प्रतीत होता है कि परम अनुभवी तथा गम्भीर विचारक आचार्य महाराज ने वर्धमान स्वामी को अपने पास आश्रय देना उचित नहीं समझा और इन्हें अन्यत्र रहने का आदेश प्रदान किया। आचार्य महाराज देश,काल आदि पर दृष्टि डालकर सर्व कार्य करते थे।

अंतःशुचिता के प्रेमी

जैसे बाह्य शुचिता का प्रेमी क्षण-क्षण में साबुन आदि सौंदर्य के प्रसाधनों का उपयोग

कर स्वच्छता का संरक्षण करता है; उसी प्रकार अंतःशुचिता के परम प्रेमी ये गुरुदेव आलोचना, प्रतिक्रमण आदि अन्तरङ्ग शुद्धि के साधनों का निरन्तर प्रमादरहित हो उपयोग करते रहते थे। मैंने देखा था कि ये मन्दिर में जाकर जिनेन्द्रमूर्ति के समक्ष अपने समस्त कार्यों का कथन इतनी स्वच्छता तथा स्पष्टतापूर्व गम्भीर तथा उच्च स्वर में करते थे, मानों ये प्रतिमा के समीप नहीं, साक्षात् जिनेन्द्र देव के समक्ष ही अपने दोषादि का निर्दोष रूप से निरूपण कर रहे हों। ये **''वृषभं त्रिभुवनपति-शतवंद्यं, मंदरगिरिमिव धीरनिंद्यम्''** स्तोत्र भगवान् के समक्ष बड़ी भक्ति और तन्मयता के साथ पढ़ते थे ।

अद्भुत मनोविकल्प

एक समय तारीख ३१ अगस्त को छोटे भाई कुंमगोंडा के पुत्र जनगोंडा की पत्नी लक्ष्मीबाई महाराज के पास लगभग १५ मिनट पर्यन्त कुछ चर्चा करती रही। उस समय महाराज के मन में संभवतः ऐसा विकल्प आया कि अपने गृहस्थावस्था के भतीजे की स्त्री से इतनी देर बात करना ठीक नहीं था। मेरा अब कोई लौकिक कुटुम्बी एवं बंधु नहीं रहा है । इससे मुझे लक्ष्मीबाई से विशेष वार्तालाप नहीं करना चाहिए था। आचार्य महाराज तो निर्ग्रन्थ बनने पर मुझे भाई न मानकर भोज का पाटील कहते थे, तब मेरी दृष्टि भी ऐसी ही होनी चाहिए। सम्भवतः कुछ ऐसे महान् विचार उनके मन में आए। उन्होंने शीघ्र कुटी में जाकर बहुत समय तक आत्म-ध्यान किया, पश्चात् समीपवर्ती विचारवान भक्त गृहस्थ से कहने लगे-''आज बहुत बडी भूल हो गई । मैं कहाँ से कहाँ चला गया था ? यथार्थ में मेरा कोई नहीं हैं। मैं भी किसी का कुछ नही हूँ।'' उस समय मुझे पता चला कि इनका मन स्फटिक सदृश स्वच्छ है।

अत्यन्त सरल

वे सरलता की मूर्ति थे। एक दिन मेरे भाई डाक्टर प्रोफेसर सुशील दिवाकर का पत्र आया। उसमें महाराज को नमोस्तु लिखा था। मैंने सुनाया-''महाराज, छोटे भाई ने आपको नमोस्तु कहा है।''महाराज ने कहा-''उनको हमारा आशीर्वाद लिख देना। तुम्हारे घर में भी सबको आशीर्वाद लिख देना।

एक बात और ध्यान में रखना, हमारे लिए जो नमोस्तु लिखे, उसे तुम स्वयं हमारा आशार्वाद लिख देना, भूलना नहीं।''

मार्मिक उक्तियाँ

जब मैं शास्त्र पढ़ता था, उस समय महाराज के मुख से समयोचित तथा अनुभव-पूर्ण अनेक मार्मिक बातें निकलती थी, जिसमें महाराज का उच्च अनुभव और तपस्या के प्रसाद से वर्धमान क्षयोपशम का सद्भाव सूचित होता था।

एक बार उन्होंने जिनागम के मर्म रूप निम्न उक्तियाँ कही थी :-

सिद्ध भगवान् लोक के शिखर पर बैठ कर संसार का नाटक देखते हैं और सरागी भगवान् स्वयं नाटक करते हैं।

जैन आगम छोटा सा जलाशय नहीं है, वह तो सिन्धु से भी बड़ा है।

सम्यक्त्वी जीव अव्रती होते हुए भी अन्य व्रती को देख ऐसे हर्षित होता है, जैसे माता रुक्मिणी चिरवियोग के पश्चात् पुत्र प्रद्युम्न की भेंट होने पर आनन्दित हुई थी।

अविवेकी, अंहकारी, साधु दर्शन होने पर संतप्त तथा क्रुद्ध बनता है। दर्शनमोह के कारण जीव की दृष्टि विपरीत हो जाती है।

वर्धमान महाराज जब किसी कथा को कहते थे, तो उसमें स्वाभाविकता तथा चरित्र-चित्रण का अपूर्व माधुर्य पाया जाता था।

आचार्यश्री से अन्तिम वार्तालाप

भादों सुदी दशमी को आचार्य महाराज के विषय में मैंने एक प्रश्न पूछा-"समाधि लेने के पूर्व आचार्य महाराज शेडवाल, सांगली आदि स्थानो में गए थे। नाद्रें में वे श्री बालगोंडा के अत्यन्त विशाल, भव्य तथा फलों से लदे हुए रम्य बगीचे में २१ दिन ठहरे थे। उसके पश्चात् वे आगे विहार कर गए। उस समय आपकी और उनकी अन्तिम भेंट हुई थी। प्रार्थना है कि उस समय हुई बातचीत का कुछ दिग्दर्शन करें ?"

वर्धमान महाराज ने कहा-"हमने महाराज से पूछा था कि क्या फिर इधर आवेंगे, हमारी-आपकी अब कब भेंट होगी ?"

स्वर्ग में भेंट होगी

आचार्य महाराज ने उत्तर दिया था-"अब हमारी-तुम्हारी भेंट यहाँ नहीं होगी। अब स्वर्ग में ही अपनी भेंट होगी।"

इस चर्चा के उपरान्त वर्धमान स्वामी की मुद्रा बहुत गम्भीर हो गई। इससे मैंने पुनः अन्य प्रश्न नहीं किये। ऐसा प्रतीत होता था मानो वर्धमान महाराज के समक्ष अपने दिवंगत गुरुदेव का चित्र आ गया हो।

तात्त्विक दृष्टि

तात्त्विक चर्चा में महाराज ने कहा-"दान-पूजा आदि षट्कर्मों के द्वारा मोक्ष नहीं मिलता, स्वर्ग का सुख प्राप्त होता हैं। पाप, चोरी, लबारी, कुशील सेवनादि से पाप होता है, उनका फल नरकगति या तिर्यंचगति के दुःख है। एक दृष्टि से पुण्य अमृतकुम्भ है और पाप विषकुम्भ है। दूसरी दृष्टि पुण्य-पाप दोनों को विषकुम्भ मानती है। वह शुद्ध दृष्टिमात्रे अमृतकुम्भ है।"

विवेकी गृहस्थ का पथ

गृहस्थ जीवन में षट्कर्मरूपी कृषि, वाणिज्यादि लोहे को धारण करने वाला पुण्यकर्म रूपी सुवर्ण को नहीं छोड़ेगा। उस स्वर्ण का त्याग करने वाला आत्म-रत्न की उपलब्धि के हेतु उद्योग करता है। यदि कोई आदमी लोहे का संग्रह करते हुए, सुवर्ण के त्याग की बात करता है, तो उसे झूठा मानना चहिए, इसी प्रकार पाप-कर्मों में निमग्न रहने वाला यदि पुण्यरूप सुवर्ण को छोड़ने की चर्चा करता है, तो उसे भी विश्वास योग्य नहीं समझना चाहिए। आत्मा का चिन्तन करना कल्याण का सच्चा मार्ग है। जग का चिंतन त्याग कर, आत्मा का ध्यान करना चाहिए।

चोर पर भी करूणा

आचार्य शांतिसागर महाराज के गृहस्थजीवन की एक घटना पर वर्धमान महाराज ने इस प्रकार प्रकाश डाला था- "एक दिन महाराज, शौच के लिए खेत में गए थे, तो क्या देखते हैं कि हमारा ही नौकर एक गट्ठा ज्वारी चोरी करके ले जा रहा था। उस चोर नौकर ने महाराज को देख लिया। महाराज की दृष्टि भी उस पर पड़ी। वे पीठ करके चुप बैठ गए। उनका भाव था कि बेचारा गरीब है, इसलिए पेट भरने को ही अनाज ले जा रहा है। उस दीन पर विशेष दयाभाव होने से महाराज ने कुछ नहीं कहा, किंतु वह चोर नौकर घर आया और हमारे पास आकर बोला कि अण्णा! भूल से मैं खेत से ज्वार लेकर जा रहा था, महाराज ने मुझे देख लिया, लेकिन कहा कुछ भी नहीं ।"

दीनों के बंधु

वर्धमान महाराज ने बताया था कि-"सदा से गरीबों पर हमारे परिवार का विशेष ध्यान रहता था। लगभग ८० वर्ष पूर्व भयंकर दुष्काल आया था। अनाज नहीं पका था। गरीब लोग नागफणी के मध्य के लाल भाग तक को खाया करते थे। उस दुष्काल के समय हमारे पिताश्री की आज्ञा से हम ज्वारी की एक बड़ी रोटी तथा दालसदृश पेय पदार्थ प्रत्येक व्यक्ति को देते थे। वह दुष्काल बड़ा भयंकर था। रोटी बनाने को दो नौकर रखे थे। गरीबों को भोजन-दान का काम मैं स्वयं अपने हाथ से करता था।"

आज के संपन्न व्यक्तियों के सिर लोभ का भूत सवार रहता है, अतः लोकोपकारी तथा गरीबों के कल्याणकारी कार्यों से विमुख हो धन संग्रह की सोचते हैं । उन्हें यमराज के मुख में जाने की बात याद नहीं आती, जब कि सारा संग्रह किया धन यहाँ ही पड़ा रह जाता है।

आचार्यश्री के घरेलू जीवन के संस्मरण

वर्धमानसागर महाराज ने आचार्य महाराज के बारे में इस प्रकार संस्मरण बतलाये थे :

"मैंने उसे गोद में खिलाया, गाड़ी में खिलाया। वह हमारे साथ-साथ खेलता था। बहुत

शांत था। रोता नहीं था। मैंने उसे रोते कभी नहीं देखा, न बचपन में और न बड़े होने पर। उसे कपड़े बहुत अच्छे पहिनाए जाते थे। सब लोग उसे अपने यहाँ ले जाया करते थे। हमारा घर बड़ा सम्पन्न था।''

''एक बार कुंमगोंडा पानी में बह गया था, तब सब काम छोड़ महाराज ने पानी में घुस कर उसे बचाया था। कुमगोंडा की रक्षार्थ चौथी कक्षा के बाद इन्होंने पढ़ाई बन्द कर दी थी।''

''इनकी शादी की बात आती थी, तब कहते थे कि 'मी लग्न करणार नाही (मैं विवाह नहीं करूँगा), कारण कि शास्त्रों में लिखा है, संसार खोटा है।' यह बात सुन हमारे माँ बाप के आँसू आ गये। वे बड़े धर्मात्मा थे, इसलिए मन ही मन बहुत प्रसन्न हुए।''

''शरीर-बल में कोल्हापुर जिले में उनकी जोड़ का कोई नहीं था। चावल का पूरा बोरा उठाकर अपने कन्धे पर रख लिया करता था। इस पर जब उनको चाँदी के कड़े इनाम देने लगे, तो इन्होंने लेने से इन्कार कर दिया था।''

जन्म कुंडली

''उनकी जन्म-पत्री से ही मालूम हो गया था कि वे मुनि हो जाएंगे। सूर्य निकलते समय उनका जन्म हुआ था। उपाध्याय ने जन्मकुण्डली बनाई और कहा था कि यह महान् आत्मा है। जगत् में प्रकाश देगा। इससे माता-पिता हर्षित हुए थे।''

शक्ति की परीक्षा

''एक बढ़ई ने भोज में आकर शक्ति-परीक्षण हेतु एक लम्बा खूँटा गाड़ा था। वह गाँव में किसी से न उखड़ा, उसे नागपंचमी के दिन महाराज ने जरा ही देर में उखाड़ दिया था और चुपचाप घर आ गये थे। जब खूँटा उन्होंने उखाड़ा तब मैंने कहा था-''ऐसा काम नहीं करना। चोट आ गई तो ?''इससे जनता द्वारा सम्मानार्थ निकाले गये जलूस में वे नहीं गए थे, कारण कि उन्हें कीर्ति नहीं चाहिए थी। वे जन्मजात विरक्त महापुरुष थे। उनका मेरे प्रति प्रेम था। कुंमगोंडा पर भी प्रेम था।''

दीक्षा का पत्र

''जब उन्होंने दीक्षा ली थी, तब उत्तूर से पत्र आया था, घर भर के लोग रोने लगे थे। हमारे नेत्रों में भी आँसू आ गये थे, बाद में हम उनके पास गये थे।''

सर्पराज का शरीर पर से जाना

''तरुण वय में वे खेत में लेटे थे, उस समय एक बड़ा सर्प उनके गाल को स्पर्श करता हुआ पास के बिल में जा घुसा था और बार-बार निकलकर इनको देखता था। ये स्थिर थे। यह बात महाराज ने हमसे कही थी। मैं उन्हें सातगोंडा कहता था और वे मुझे अण्णा कहते थे।''

शरीर नौकर है

"उनकी दृष्टि थी कि यह शरीर नौकर है। नौकर को भोजन दो और काम लो। आत्मा को अमृत-पान कराओ।"

भादों सुदी त्रयोदशी को महाराज ने समयसार के प्रवचनकाल में कहा था-"द्रव्यानुयोग के अभ्यास के लिए प्रथमानुयोग सहायक होता है। उसके अभ्यास से द्रव्यानुयोग कठिन नहीं पड़ता।"वास्तव में प्रथमानुयोग से आध्यात्म रस का पान करने वाली महनीय समर्थ तथा त्यागी विभूतियों का जीवनवृत्त ज्ञात होता है, जैसे पांडवपुराण से आत्मनिमग्न युधिष्ठिर आदि की दृढ़ता अवगत होती है।

भोजनलोलुपी की कथा

महाराज ने प्रसंगवश कहा था-"ज्ञानी पुरुष अवमोदर्य तप करता है। भूख से कम आहार लेता है। अज्ञानी पुरुष पेट फटने पर्यंत भोजन करता है, इससे वह दुःखी होता है।"महाराज ने ८० वर्ष पूर्व की एक घटना बताई थी कि कोन्नूर में बाबा भट्ट नाम के एक भोजनलोलुपी ब्राह्मण थे। उन्होंने लोटा भर घी, खूब शक्कर मिलाकर खाया। भोजन की तीव्र गृद्धतावश उसने खूब घी भी पिया। पश्चात् वहाँ से चलकर भोज आये। आते समय वेदगंगा-दूधगंगा नदी के संगम में से घुसकर भोज आना पड़ा। शीतल जल पेट में लगने के कारण खाया गया सब घी जम गया। उससे वह ब्राह्मण उदर शूल से बड़ा दुःखी हो छटपटाने लगा। ऐसा दिखने लगा कि अब वह नहीं बचेगा।

भोज में एक चतुर वैद्य था। वह बुलाया गया। बाबाभट्ट से शरीर व्यथा का कारण ज्ञात कर वैद्यराज ने एक खाट पर बाबा भट्ट को लिटवाया और नीचे अग्नि रखकर पेट का खूब सिकाव करवाया। उष्णता से पेट में जमा घी पतला हो गया और उसके बाद विरेचन हुआ। इस प्रकार उसके प्राण बचे, नहीं तो उस ब्राह्मण की आशा नहीं रही थी। उसने भोजन खाया था, किन्तु अतिरेक होने से भोजन ही उसे खा रहा था, इसलिए भोजन में गृद्धता को छोड़कर भूख से कम खाना चाहिये। भूख से कम खाना कष्टप्रद नहीं होता है।

मर्यादित जीवन

गृहस्थ के कल्याण हेतु महाराज ने कहा-"यदि हम बाल से वृद्ध पर्यन्त सबको ही ब्रह्मचर्यका उपदेश देंगे, तो कार्य कैसे बनेगा ? सीढ़ी पर पैर रखते हुए आगे बढ़ना चाहिए, गृहस्थ को विषय-सेवन में बहुत मर्यादा रखनी चाहिये। अधिक विषय-भोग से शरीर का रक्त नष्ट होता है और आदमी रोगी होकर शीघ्र मरण को प्राप्त करता है।"

वर्धमान महाराज ने बताया था कि ३६ वर्ष की अवस्था में उन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया था। यदि वर्धमान महाराज का आदर्श आज का गृहस्थ स्मरण रखे, तो उसकी संततिवृद्धि

जनित विविध प्रकार की आकुलताएँ अनायास दूर हो जाएँ और तब वह मनुष्य अपने जीवन का स्वकल्याणार्थ उपयोग कर सकता है, अन्यथा वह परिवार की सेवा-चाकरी में ही दिनरात व्यतीत कर कोल्हू के बैल के समान अमूल्य जीवन को समाप्त करता है।

वर्धमान महाराज की धर्मपत्नी लगभग १५ वर्ष पर्यन्त जीवित रही थी। उनसे पुत्र बालगोंडा हुए थे, जो अभी जीवित हैं। वे अत्यन्त भद्र परिणामी हैं। वर्धमान महाराज ने बताया था कि उन्होंने मुनि आदिसागरजी बोरगाँवकर से ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया था। वर्धमान महाराज खेती का काम देखा करते थे। नौकर-चाकर तथा गरीबजन इनसे बड़े प्रसन्न रहते थे, कारण कि ये उनको खाने-पीने को मुक्तहस्त होकर अनाज दिया करते थे। हरिजन आदि गरीबों पर आचार्य महाराज की विशेष दयादृष्टि रहती थी। वे कठोर वाणी नहीं बोलते थे। उनका आहार-पान सामान्य था। उनकी दृष्टि घर में आचार्य शांतिसागर महाराज को अच्छा भोजन कराने की ओर विशेष रहती थी। वे सत्यता और सरलता की तो प्रारम्भ से ही मूर्ति रहे थे।

सत्यप्रिय जीवन

"उन्होंने (वर्धमान महाराज ने) बताया था कि उनके पिता जी मिथ्या नहीं बोलते थे और वे भी असत्य भाषण नहीं करते थे।"

इस सत्य भाषण के कारण उनको लगभग लाख रुपए की सम्पत्ति से हाथ धोना पड़ा था।

वकील ने कहा था-"महाराज, एक शब्द थोड़ा सा बदलकर बोल देना, बाकी सब मैं सम्हाल लूँगा।"

कोर्ट में आने पर जब न्यायाधीश ने सत्य बोलने की शपथ दिलाई, तो वकील साहब के द्वारा पढ़ाया गया सब पाठ विस्मरण हो गया और उन्होंने ठीक-ठीक बात कह दी।

वकील ने महाराज से पूछा कि "गवाही देते समय क्या आप भूल गए थे ?"

महाराज ने उत्तर दिया था कि नहीं, मैं भूला नहीं था। मैंने ठीक-ठीक ही उत्तर दिया है।"

वास्तव में वे माता सत्यवती के आदर्श आत्मज थे। महाराज की इस सत्यता की अभी भी पुराने लोग उस प्रान्त में चर्चा करते हैं।

आज के दम्भप्रधान युग में थोड़े -से रुपयों के लिए बड़े-बड़े लोग झूठ बोल देते हैं। सचमुच में वर्धमान महाराज सदृश्य महापुरुष बिरले ही होते हैं। उनकी सदा यही धारणा रही थी कि **'पुण्यानुसारिणी लक्ष्मी'**(पुण्य के अनुसार लक्ष्मी का लाभ होता है)"। भाग्य का चक्र विचित्र रहता है। इस विषय में महाराज ने कोल्हपुर के राजा शाहू महाराजा का एक बड़ा रोचक तथा मार्मिक कथन सुनाया :-

कोल्हापुर नरेश का संस्मरण

एक बार कोल्हापुर नरेश के राजा शाहू महाराज से उनके राजपंडित ने निवेदन किया-

''श्रीमन्त सरकार ! आप अन्य लोगों को हजारों रुपये दान में दिया करते हैं। मुझ गरीब ब्राम्हण पर भी ऐसी कृपा क्यों नहीं करते ?''

शाहू महाराज बड़े अनुभवी और विचारशील शासक थे। उन्होंने कहा- ''क्या करूँ, आपको अधिक द्रव्य देने का भाव ही नहीं होता।''

पण्डित की समझ में शाहू सरकार का कथन नहीं आया। अतः पडित के भाग्य की परीक्षा हेतु राजाज्ञा से दो ढेर भूसे के लगवाए गए। एक में केवल भूसा था, दूसरे में सुवर्ण रखा था। ऊपर से देखने में दोनों ढेर समान ही दृष्टिगोचर होते थे।

शाहू महाराज ने ब्राह्मण से कहा- ''जो ढेर तुम्हें पसन्द आये उसे उठा लो।''

पण्डित महोदय ने भूसे वाला ढेर उठाया, सुवर्ण वाला ढेर उठाने के उसके परिणाम नहीं हुए।

तब शाहू महाराज ने कहा- ''हम क्या करें, आपका दैव ही ठीक नहीं है।''

शिथिलाचार तथा अज्ञान का युग

वर्धमान महाराज ने बताया था कि जब आचार्य महाराज ने मुनि देवेन्द्रकीर्ति स्वामी से क्षुल्लक दीक्षा ली थी, उस समय देवेन्द्रकीर्ति स्वामी एक बार पंचमुष्ठी बनाकर कुछ केशों का लोंच करते थे, पश्चात् कैंची से शेष केशों को बनवाते थे। सचमुच में वह अद्भुत अज्ञान का युग था। उस समय उत्तर भारत के लोग तो मुनि पद के अस्तित्व की भी कल्पना नहीं करते थे और दक्षिण में जो निर्ग्रन्थ गुरु थे, उनकी क्रियायें अनेक बातों में विचित्र थी। मुनि जीवन से शिथिलाचार को दूर कर आगमानुसार प्रवृत्ति को पुनः प्रचलित करने का श्रेष्ठ कार्य आचार्य शांतिसागर महाराज ने किया था।

यरनाल में मुनिदीक्षा

आचार्य महाराज ने भौसेकर आदिसागर महाराज से यरनाल ग्राम में मुनि दीक्षा ली थी।

शांतिसागर महाराज के निर्ग्रन्थ दीक्षादाता गुरु भोसे ग्रामवासी आदिसागरजी की दीक्षा की अद्भुत कथा सुनने को मिली। वर्धमान महाराज ने बताया था कि आदिसागरजी ने मुनिपद ग्रहण कर लिया। पश्चात् उन्होंने कहीं यह सुना कि पंचमकाल में ९९ कोटि मुनीश्वर मरण करके नरक जाते हैं। इस बात को ज्ञात कर उनके मन में अद्भुत परिवर्तन हुआ। वे सोचने लगे कि यदि शास्त्र यह कहता है कि मुनि पदवी धारण करे नरक जाना पड़ेगा, तो मुनि पद त्याग करना ही अच्छा है। उस ग्रामवासी भोली आत्मा को सत्पथ बताने वाला कोई न मिला। अपनी विचित्र धुन में मग्न हो उन्होंने घर पर आकर मुनिपद का त्याग करके कंबल ओढ़ लिया और स्त्री से कहा- ''भाकरी आण - खाने के लिए ज्वार की रोटी दे।''

बेचारी स्त्री घबड़ा गई। पतिदेव मुनि बने थे। उस पद में तो माँगकर भोजन नहीं होता, ये कैसे माँगकर खाने को तैयार हो गये। उस बाई ने गाँव के पंचों को सूचना दी। सब

चिन्ता में निमग्न हो गये। उस गाँव में एक चौगुले नामक चतुर गृहस्थ थे। उन्होंने आदिसागरजी से चर्चा कर सब बातें समझ ली।

श्री चौगुले ने भद्र परिणामी आदिसागरजी को समझाते हुए कहा कि शास्त्रों में तो यही लिखा है कि मुनिपद को धारण करके स्वर्ग जावेंगे, किंतु यह भी लिखा है कि यदि कोई मुनि पदवी धारण कर उसे छोड़गा, तो वह व्यक्ति नरक जायगा। आगम के अनुसार मुनिपद धारण करने वाला स्वर्ग जायगा, शास्त्र की परवाह न कर स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने वाला मुनि नरक जायगा। इस बात को सुनकर उन भोले-भाले आदिसागरजी का भ्रम दूर हुआ और उन्होंने पुनः मुनिचर्या का पालना प्रारम्भ कर दिया। मांगूरग्राम में उनका स्वर्गवास हुआ था। उन्हें लम्बे समय तक समाधिमरण का उद्योग नहीं करना पड़ा था। एक उपवासपूर्वक उनका मरण हुआ था।

धर्म के विषय में सर्तकता

वर्धमान महाराज ने उपदेश देते हुए एक दिन कहा था-''आत्मा शैव नहीं है, बौद्ध नहीं है, यवन नहीं है, बाल नहीं है, वृद्ध नहीं है। आत्मा स्वयंभू है। आत्मा का कल्याण धर्म के द्वारा होता है। खरे-खोटे धर्म की परीक्षा करनी चाहिए। तुम बाजार जाते हो तो अल्प मूल्य वाले मिट्टी के बर्तन आदि को खरीदते समय बजाकर उसे देखते हो कि कहीं यह फूटा तो नहीं है। नारियल को लेते समय भी उसे बजाकर देखते हो, तब फिर जिस धर्म के द्वारा आत्मा का भविष्य उज्ज्वल बनता है, उसके सम्बन्ध में परीक्षा की दृष्टि नहीं रखना यह चतुर व्यक्ति का कर्तव्य नहीं है ?''

किसान का उदाहरण

महाराज ने एक सुन्दर बात कही थी कि एक बार एक किसान अपनी स्त्री से कह रहा था कि जब अपना छोटा-सा परिवार है, थोड़ी-सी खेती है, उसकी ही बहुत आकुलता रहती है, तब बड़े भारी राज्य के स्वामी महाराज भरत को कितनी चिन्ता रहती होगी ? चक्रवर्ती को नींद भी दुर्लभ होगी। भरतेश्वर ने अपने अवधिज्ञान से यह बात जान ली।

उन्होंने उस किसान को राजभवन में बुलवाया। किसान आया। उसने देखा कि आसपास सुन्दर नृत्य हो रहे हैं। अनेक प्रकार के उत्सव भी हो रहे हैं। सम्राट ने उसके सिर पर एक पानी का घड़ा रखवाया और उसे राजमहल के सुन्दर दृश्य व उत्सव देखने का आदेश दिया। उसीके सम्मुख अपने सिपाही को प्रगट रूप में आज्ञा दी कि यदि इस किसान के घड़े से पानी की एक बूँद भी गिरी, तो तलवार से इसका शिरोच्छेदन कर देना। अलग बुलाकर सिपाही से भरतेश्वर ने यह भी कह दिया कि यह आदेश किसान के मन में भय पैदा करने को दिया गया है, इसका उपयोग नहीं करना है। इसके पश्चात् उस

किसान को राजमहल में सुन्दर दृश्य बताए गए। मधुर-मधुर गीत सुनाए गये।

अन्त में भरतेश्वर ने उस किसान से पूछा-"तुमने क्या-क्या देखा ?"

वह किसान बोला-"महाराज ! मैं कुछ भी नहीं देख पाया। पानी की बूँद गिरने पर सिर कटने का जो दण्ड आपने बता दिया था, उससे मैं डर गया था। मेरा ध्यान पानी के घड़े पर ही था। मैं एक भी दृश्य नहीं देख सका।"

भरतेश्वर ने कहा-"जिस प्रकार प्राण जाने के डर से तुम सब दृश्य सम्मुख होते हुए भी, उनको नहीं देख सके, उसी प्रकार मेरा भी ध्यान है। सारे राज्य वैभव के मध्य रहते हुए भी संसार के दुःखों का सतत स्मरण रहने के कारण मेरा भी ध्यान अपनी आत्मा के बाहर नहीं जाता है।"

शिथिलाचार में सुधार

वर्धमान स्वामी ने बताया-"आचार्य महाराज को क्षुल्लक पद प्रदान करने वाले मुनि देवप्पा स्वामी के समय में मुनि पद में बहुत शिथिलता थी। उस समय देवप्पा स्वामी आहार को जाते थे, पश्चात् दातार से सवा रुपये लेते थे। आचार्य महाराज ने क्षुल्लक पद में भी ऐसा नहीं किया। इस पर देवप्पा स्वामी कहते थे कि तुम रुपया लेकर हमें दे दिया करो। आगमप्रिय आचार्य महाराज को यह बात अनिष्ट लगी, अतः महाराज ने देवप्पा स्वामी का साथ छोड दिया था।"

आगम का महत्व

आचार्य महाराज आगम के समक्ष लोकाचार को कोई महत्व नहीं देते थे। आचार्य महाराज ने मुनिजीवन में नवीनता लाकर उसमें सच्चा प्राण उत्पन्न किया था। पहले ऐसा होता था कि मुनिराज शरीर पर एक चादर ढाँककर उपाध्याय के द्वारा निर्धारित घर में मार्ग से जाते थे। उस घर में पहुंचने के बाद इनकी वैयावृत्य होती थी, स्नान होता था, पश्चात् वस्त्र त्यागकर आहार ग्रहण किया जाता था। आहार के समय घण्टा या बर्तन बजाया जाता था, जिससे अंतराय का कारण बनने वाला शब्द कर्णगोचर ही न हो।

आहार के बाद मुनिराज दक्षिणारूप में सवा रुपया लेते थे।

अनंत उपकार

आचार्यश्री के प्रतिभाशाली तत्त्वचिन्तक मस्तिष्क ने मुनिपद में आगत विकारों को ज्ञात कर उसे शुद्ध करने का अपूर्व कार्य किया था। स्व. आचार्य वीरसागर महाराज ने कहा था-"आचार्य शांतिसागर महाराज ने मुनि धर्म के भीतर उत्पन्न भयंकर शिथिलाचार को दूरकर अनंत उपकार का कार्य किया था। उनके उपकार का वर्णन करने के लिए हमारे पास शब्द नहीं हैं।"

उद्दिष्टत्याग का परिपालन

आचार्य महाराज क्षुल्लक अवस्था में स्तवनिधि के पास के सोलापुर नाम के ग्राम में पहुंचे। वहाँ एक ही श्रावक का घर था। वहाँ रात्रि को निवास कर आहार बिना किए वे विहार कर गये, कारण कि उद्दिष्टत्याग रूप नियम की रक्षा नहीं हो सकती थी।

चेतावनी

इससे स्पष्ट हो जाता है कि क्षुल्लक या अन्य ऊँची पदवी वाला व्यक्ति यदि एक ही जगह प्रतिदिन आहार लेता है और वहाँ दूसरा चौका नहीं है, तो वह अपनी आहार-चर्या को निर्दोष नहीं पालन करता है। सदा एकत्र निवास होने पर वीतराग वृत्ति के ऊपर राग भाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता है।

पक्षियों का प्रेम

मैंने देखा- वर्धमान महाराज के पास आकर अनेक पक्षी चुपचाप बैठ जाते थे। चिड़िया भी उनसे नहीं डरती थी। मैंने देखा कि कभी-कभी चिड़िया उनके सिर पर, कंधे पर बैठ जाती थी। मैंने इसका कारण पूछा।

महाराज ने कहा-"पक्षी आते हैं, तुम उसे भगा देते हो, वे बेचारे डरकर भाग जाते हैं। हम उनको नहीं भगाते हैं। किसी को कष्ट क्यों दें ? इससे वे बेचारे हमारे पास आते हैं, बैठते हैं, उनको डर नहीं लगता है।"

उत्तर की यात्रा

उन्होंने बताया था कि सन् १९२७ में गृहस्थावस्था में वे अपने अनुज कुंमगोंडा पाटील के साथ शिखरजी की यात्रा को गए थे। सोनागिरि भी गए थे। अजमेर की नशियाजी के दर्शन भी किये थे। नागपुर के पास भगवान् शांतिनाथ की प्रतिमा युक्त अतिशय क्षेत्र रामटेक भी गए थे। वास्तव में रामटेक क्षेत्र के दर्शन अत्यधिक आनन्दवर्धक रहे।

प्राणायाम

वर्धमान महाराज क्षुल्लक की अवस्था में मोटर द्वारा ऐलक दीक्षा लेने कोल्हापुर के श्रावकों के साथ गजपंथा आचार्य महाराज के पास गए थे। मोटर कितने वेग से चलती थी, इसका उल्लेख करते हुए उन्होंने बताया था कि मील का खम्भा देखकर कभी-कभी हम श्वास रोकते थे, तो दूसरे मील का खम्भा आने पर हम श्वास छोड़ते थे।

इस विषय में लिखने का हमारा उद्देश्य इतना ही है कि पाठक देखें कि साधु बनने वाले सत्पुरुषों के कार्य ऐसे अद्भुत हुआ करते हैं कि उनके बारे में अन्य साधारण व्यक्ति कल्पना भी नहीं कर सकते हैं।

अन्तिम दर्शन

पर्यूषण पूर्ण हो गया। भट्टारक श्री लक्ष्मीसेन महाराज ने हमें कोल्हापुर बुलवाया था, अतः कोल्हापुर के लिए प्रस्थान करते समय मैंने वर्धमान महाराज से आशीर्वाद की प्रार्थना की। आशीर्वाद देते हुए महाराज ने कहा था-" पुरुषार्थ भी करो। हमारा आशीर्वाद तो है ही।"

आशीर्वाद

"हमारा तुम्हें यही आशीर्वाद है कि तुम जहाँ भी जाओगे, जैन धर्म की ध्वजा को सदा ऊँचा रखोगे। एक बात और ध्यान में रखना कि यहाँ से जाने के बाद हमारी खबर लेते रहना और जब समाधि का समय निकट रहे, उस समय अवश्य आना।"

कुंभोज में अन्तिम प्रयाण

इसके पश्चात् ऐसा विचित्र कर्मोदय आया कि दोबारा वर्धमान स्वामी का दर्शन ही नहीं हुआ। उनकी कुशलता के समाचार पत्रों तथा तार द्वारा प्राप्त करता था। दुर्भाग्यवश २६ फरवरी १९५९ को सायंकाल के समय परमपूज्य १०८ वर्धमानसागरजी महाराज की प्रकृति अकस्मात् बिगड़ गई। उसके पहले वे, उस गुरुवार को, अनेक लोगों के साथ धार्मिक चर्चा करते रहे। थोडा-सा ज्वरमात्र था। सन्ध्या को अधिक मल-विसर्जन होने से क्षीणता वृद्धिगत होने लगी। रात्रि भर शरीर क्षीण होता चला गया। शुक्रवार के प्रभात में सामायिक के लिए बैठते-बैठते शरीर अत्यन्त शिथिल हो गया। परलोक-प्रयाण का सूचक श्वास चलना प्रारम्भ हुआ।

पंच-नमस्कार का जाप चल रहा था कि ६.३० बजे साम्यभाव पूर्वक पूर्व के देवगोंडा नामधारी एवं वर्तमान के वर्धमानसागर मुनिराज नामवाली ज्योतिर्मयी वीतराग परिणति व विभूषित आत्मा ने ९७ वर्ष वाली देहरूपी जीर्ण कुटी को त्याग करके देव पर्याय प्राप्त की।

बंधु-मिलन

संयम के माध्यम से देवगोंडा ने देवेन्द्र पदवी प्राप्त की होगी आचार्य शान्तिसागर महाराज ने सकल संयम की समाराधना द्वारा प्राणों का परित्याग किया था। आगम के प्रकाश में देखा जाय, तो संभवतः अब ये दोनों मुनिबन्धु दिव्यलोक में जाकर अवश्य मिले होंगे। उन ऋषिराजों को पुनःपुनः प्रणाम।

****

लोकहितार्थ सूचना

आचार्य महाराज ने एक स्मरण योग्य बात कही थी-"खुली सभा में ऐसी चर्चायें नहीं चलानी चाहिए, जिससे जनता की दिशाभूल होना सम्भव हो।"

पृष्ठ - ५२३, मुनिवर्य आदिसागर(शेडवाल)उवाच

आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज

मुझे सात अप्रैल १९५७ के प्रभात में जयपुर की खजांची की नसिया में ८२ वर्ष की वय वाले महातपस्वी निर्ग्रन्थ गुरू तथा स्वर्गीय चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांन्तिसागरजी के द्वारा नियुक्त उत्तराधिकारी आचार्य वीरसागर महाराज के पुण्यदर्शन का सौभाग्य मिला। वयोवृद्ध होते हुए भी उनके सारे शरीर में, विशेषतया मुख में एक विशेष दीप्ति दिखाई पड़ती थी, जो उच्च तपस्वियों में पाई जाती है।

मैंने उनको प्रणाम किया। उनसे कुछ चर्चा प्रारम्भ हुई। इस चर्चा से मन को बड़ी शांति मिली, अन्तःकरण को अपूर्व आनंद मिला क्योंकि इस चर्चा से विचारों को महत्वपूर्ण सामग्री मिली । उनकी आचार्य शांतिसागर महाराज में अगाध भक्ति थी।

मुनि मार्ग के सच्चे सुधारक

आचार्यश्री के संबंध में वे कहने लगे- ''आचार्य महाराज ने हम सबका अनन्त उपकार किया है। उन्होंने इस युग में मुनिधर्म का सच्चा स्वरूप आचरण करके बतलाया था। उनके पूर्व उत्तर में तो मुनियों का दर्शन नहीं था और दक्षिण में जहाँ कहीं भी मुनि थे, उनकी चर्या विचित्र प्रकार की थी। वे दिगम्बर मुनि कहलाते भर थे, किन्तु ऊपर से एक वस्त्र ओढ़े रहते थे। वे मुनि आहार को उस जगह जाते थे, जहाँ उपाध्याय जाकर पहिले से आहार की पक्की व्यवस्था कर लेता था और आकर कहता था '**वर री स्वामी**' (महाराज चलो)। लोगों को पड़गाहने की विधि नहीं मालूम थी। उपाध्याय उस समय मुनि को आहार कराता था और स्वयं भी माल उड़ाता था।''

इस वातावरण को देख शांतिसागर महाराज के मन ने यह अनुभव किया कि यह तो निर्ग्रन्थ मुनि की चर्या नहीं हो सकती। उन्होंने उपाध्याय के द्वारा पूर्व निर्णीत घर में जाना एकदम छोड़ दिया। दिगम्बर मुद्रा धारण कर उन्होंने आहार के लिए विहार करना प्रारम्भ किया। लोगों को विधि मालूम न होने से वे उनको यथा शास्त्र नहीं पड़गाहते थे। इससे महाराज लौट करके चुपचाप आ जाते। शान्त भाव से वह दिन उपवासपूर्वक व्यतीत करते थे। दूसरे दिन भी ऐसा ही हुआ। धर्मात्मा गृहस्थों में चिन्ता उत्पन्न हो गई। फिर भी वे नहीं जानते थे कि इनके उपवास का क्या कारण है ? क्योंकि वे गुरूदेव शान्त थे और किसी से अपनी बात नहीं कहते थे। उनकी चर्या को देखकर कोई भी आदिप्रभु के युग को स्मरण करेगा। ऐसी परीस्थति के मध्य जब चार दिन बीत गये, तब ग्राम के प्रमुख

पाटील ने उपाध्याय को बुलाकर कड़े शब्दों में कहा-"साधूला मारतोस काय ? विधि का सांगत नाही ? साधु को मारेगा क्या ? विधि क्यों नहीं बताता ?" जब उपाध्याय ने ठीक-ठीक विधि बताई, तब पड़गाहना शुरू हुआ।

गुरु स्मरण

वीरसागर महाराज ने जब यह कहा, उस समय गुरु के स्मरण से उनके नेत्रों में अश्रु छलछला पड़े थे-"खरे गुरु वे ही थे। उन्होंने मुनि बनकर मार्ग बताया।"

विकट स्थिति

उस विकट स्थिति में जब कि अन्य अनेक मुनि आगमविरुद्ध वस्त्र धारण कर निर्णीत किये हुए घर में, एक प्रकार से आमंत्रित प्रदेश में आहार करते थे, तब निर्ग्रन्थ गुरू की चर्या के अनुसार प्रवृत्ति करना और मार्ग निकालना कितना कठिन काम था, इसकी सामान्य मनुष्य कल्पना नहीं कर सकता।

वृत्तिपरिसंख्यान तप

आचार्य महाराज कोन्नूर में विराजमान थे। वहाँ का धार्मिक पाटील महाराज को आहार कराने के लिए निरन्तर उद्योग करता था, किन्तु महीनों बीतने पर भी उसका मनोरथ सफल नहीं हुआ। पाटील ने चन्द्रसागरजी से अपनी मनोव्यथा सुनाई।

चन्द्रसागारजी ने महाराज से पूछा-"महाराज पाटील के यहाँ योग्य विधि लगने पर भी आपका आहार वहाँ क्यों नहीं होता है ?"

महाराज बोले-"पाटिल के घर के चौके से पूर्व योग्य विधि मिलती है, तो उसको छोड़कर आगे कैसे जायें ?" इसके पश्चात् महाराज ने "वृत्ति-परिसंख्यान तप" के स्वरूप को दृष्टि में रखकर विशेष प्रतिज्ञाएँ लेनी शुरू की, इससे अनेक व्यक्तियों को आहार देने का सौभाग्य मिलने लगा।

गंभीर प्रकृति

महाराज आहार में केवल दूध और चावल लेते थे। अत्यन्त बलवान और सुदृढ़ शरीर में वह भोज्य पदार्थ थोड़ी ही देर में पच जाता था, फिर भी महाराज ने यह कभी नहीं कहा कि गृहस्थ लोग विचारहीन हैं, एक ही पदार्थ को देते हैं।

एक दिन चन्द्रसागरजी ने कहा-"महाराज ! आप दूध, चावल ही क्यों लेते हैं और भोजन क्यों नहीं करते ?" कुछ देर चुप रहकर महाराज ने कहा-"जो गृहस्थ देते हैं, वह मैं लेता हूँ। इन्होंने दूध चावल ही दिये, दूसरी चीज दी ही नहीं, इसलिए मैं दूध और चावल ही लेता रहा।" इस प्रकार मनोगत को जानकर लोगों ने आहार में अन्य भोज्य पदार्थ देना प्रारम्भ किया।

व्रत दान

आचार्य महाराज का जीवन चुम्बक की तरह मन को आकर्षित करता था। एक दिन पं. धन्नालालजी कासलीवाल, बम्बई वाले महाराज के पास गये और बोले-"महाराज मुझे ब्रह्मचर्य प्रतिमा दीजिए।" महाराज ने कहा-"इसके लिए मुहूर्त देखेंगे।"पंडितजी ने विनयपूर्वक कहा-"महाराज, आज मैंने आपके चरण पकड़ लिए। मेरे लिए, इससे बढ़कर क्या मुहूर्त होगा ?"पंडित जी की तीव्र लालसा देखकर उन्हें उसी समय ब्रह्मचर्य प्रतिमा दी गई। दो माह के पश्चात् पण्डित धन्नालालजी का स्वर्गवास हो गया। व्रतयुक्त उनकी मृत्यु हुई। इस प्रकार महाराज ने बहुत-से व्यक्तियों का कल्याण किया।

आचार्य महाराज के शरीर पर लिपटा सर्प

वीरसागर महाराज ने कहा-"आचार्य महाराज के शरीर पर सर्प लिपटा था, किन्तु उसने कुछ उपद्रव नहीं किया।"इसका कारण भी उन्होंने बताया-"अंतरङ्ग में निर्मलता हो तो बाहर वालों में भी निर्मलता आ ही जाती है, इसीलिए वह सर्प अभिभूत हुआ था।"

मुनिजीवन में क्या कष्ट है ?

मैंने कहा-"महाराज आचार्यश्री ने आपको मुनि बनाकर, आपको कष्ट दिया या आनन्द दिया ?"उत्तर देते हुए वीरसागर महाराज बोले-"हमें कौन-सी बात का कष्ट है ? हम तो तुम्हारी तकलीफ देखते हैं और उसे छुड़ाना चाहते हैं। तुम परिग्रह और आकुलता के जाल में जकड़े हुए हो। तुम्हें क्षण भर भी शान्ति नहीं है।"

"देखो ! साधु के परीषह होती है, गृहस्थ भी कम परीषह सहन नहीं करता। जितना कष्ट गृहस्थ उठाता है तथा जितना परिग्रह का ध्यान वह करता है, उतना कष्ट यदि मुनि सहन करे और निज गुण का ध्यान करे, तो उसे मोक्ष प्राप्त करने में देर न लगे। देखो ! चिल्हर का व्यापार करने वाला बीच बाजार में बैठता है। हर एक ग्राहक को देता है, लेता है, परन्तु अपने धन कमाने के ध्येय को नहीं भूलता है। कितनी सावधानी रखता है वह ?"

साधु जीवन व गृहस्थ जीवन में सिर्फदृष्टि का फेर है

"दूसरी बात, गृहस्थ जेठ महीने में दस बजे दुकान पर जाता है। सूर्य की गर्मी बढ़ती जाती है। ग्राहकों की भीड़ लगी हुई है। उस समय नौकर आकर कहता है, पानी पी लो, तो वह सुनता नहीं, बहिरा बन जाता है। पुनः कहता है, तो वह डाँट देता है या उसकी ओर ध्यान नहीं देता है। ध्यान है ग्राहक पर। इस प्रकार वह अपने लाभ की ओर चित्त लगाए हुए रहता है और कष्ट की ओर उसका ध्यान नहीं जाता। यह दृष्टि का फेर है। आत्मकल्याण में लगने पर साधु आरम्भ क्रियाओं को छोड़ देता है और आत्मकल्याण के कार्यों में आगत विघ्नों को सहज ही सहन करता है।"

जगत के गुरु

आचार्य महाराज के विषय में वे कहने लगे-"उनकी वाणी में कितनी मिठास, कितना युक्तिवाद और कितनी गम्भीरता थी, यह हम नहीं कह सकते। महाराज, जब आलंद (निजाम राज्य में) पधारे, तब उनका उपदेश वहाँ मुस्लिम जिलाधीश के समक्ष हुआ। उस उपदेश को सुनकर वह अधिकारी और उनके सहकारी मुस्लिम कर्मचारी इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने महाराज को साष्टांग प्रणाम किया और बोले-"महाराज, जैनों के ही गुरु नहीं हैं, ये तो जगत् के गुरु हैं। हमारे भी गुरु हैं।"

आचार्य महाराज समय को देख सुन्दर ढंग से इस प्रकार तत्त्व बतलाते थे कि शङ्का के लिए स्थान नहीं रहता था। मैंने पूछा-"उस भाषण में महाराज ने क्या कहा था ?" वे बोले-"आचार्य महाराज ने देव, गुरु तथा शास्त्र का स्वरूप समझाया था।"

उन्होंने कहा था-"जो हमारे ध्येय को पूरा करे वही देव है। जितने ध्येय हैं, उतने देव मानने पड़ेंगे और उनकी पूजा करनी पड़ेगी। कुंजड़ी को देव मानना होगा, तब इष्ट साग आदि की पूर्ति होगी। पूजा का स्वरूप लोगों ने समझा नहीं, पूजा का अर्थ योग्य सम्मान है।"

पशुओं में ज्ञान शक्ति

उन्होंने बताया-"हम शिखरजी गये थे। रास्ते में १००-१५० बैलों का झुंड मिला। चार मस्त बैल भागे, महाराज की तरफ आये और उनकी तरफ मुँह करके प्रणाम करके रह गये। देखने वालों के नेत्रों में आँसू आ गये। लोग कहने लगे, इन जानवरों को इतना ज्ञान है कि साधुराज को प्रणाम करते हैं और मनुष्यों की इसके विपरीत अवस्था है।" वीरसागर महाराज ने कहा था कि उस परिस्थिति में आचार्य महाराज पूर्ण शान्त थे।

दक्षिण के जैनों का उद्धार

वे बोले-"आचार्य महाराज ने दक्षिण के जैनों का बड़ा उपकार किया है। उन्होंने पत्थर को रत्न बनाया है। किसी-किसी जगह जैन लोग बलिदान में सम्मिलित होते थे। आचार्य महाराज ने उस समय यह नियम किया था कि जो जीवहिंसा का त्याग करेगा, मिथ्यात्व का त्याग करेगा और पुनर्विवाह का त्याग करेगा, उसके हाथ का ही आहार लेंगे।"

करुणाग्रह

"एक समय की बात है, छिपरी गाँव का पाटील बलिदान संपर्क छोड़ नहीं रहा था। उस समय महाराज ने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक यह नियम नहीं करेगा, तब तक मेरे अन्न-जल का त्याग है।" स्मरण रहे कि यह उस समय की बात है, जब गांधीजी के पास सत्याग्रहरूपी हथियार नहीं पहुँचा था। उन्होंने जीव हित के लिए जिस मार्ग को अपनाया था, उसे आज की दुनिया सत्याग्रह कहती है।

"पहिले दिन पाटील पर कोई असर नहीं हुआ। दूसरा दिन आया, फिर भी महाराज आहार को नहीं उठे, क्योंकि पाटील का मन पत्थर की तरह कड़ा है और वह परिवर्तन को तैयार नहीं है। जीवदया से प्रेरित अन्तःकरण और पाटील के उद्धार करने में दृढ़प्रतिज्ञ वे साधुराज और कड़े हो गए। सारी बस्ती में गहरी चिन्ता छाई हुई थी। ऐसे अवसर पर वह पाटील कोल्हापुर भाग गया। तीसरा दिन आया, फिर भी महाराज का आहार नहीं हुआ, तब तो सारे ग्रामवासी बैचेन हो गए। कोल्हापुर जाकर लोग पाटील को पकड़कर लाये और बोले, 'क्या साधु के प्राण लेना है ? नियम क्यों नहीं लेता है ?' वह वज्रहृदय कोमल बन गया। महाराज के चरणों को प्रणाम कर उसने सर्वदा के लिए पाप का त्याग किया, तब महाराज आहार को उठे। वीरसागर महाराज बोले-"आचार्यश्री के जीवन की ऐसी अनमोल अनेक घटनायें हैं। वे अपने ढंग के एक ही थे, उन सदृश श्रेष्ठ आत्मा का दर्शन कहाँ होगा ?"

शिष्य बनो

वीरसागर महाराज बोले-"जो अपने को गुरु मानता है, वह उन्नति नहीं कर पाता। शिष्य बनोगे तो तुम्हारा हित होगा। शिष्य बनने पर अपनी गलती मालूम पड़ती है। गुरु बनने पर कैसे पता लगेगा ?"

प्रश्न-"आचार्य शान्तिसागर महाराज में गुरुपना था या शिष्यपना ?"

उत्तर-"हमारे लिए तो वे गुरु ही थे, किन्तु स्वयं को गुरु नहीं मानते थे। अपने को गुरु मानने वाले का कल्याण नहीं है।"अहंकार अर्थात् मद बड़ा दोष है। वह सम्यक्त्व को नष्ट कर देता है।

रोग के विषय में अपूर्व दृष्टि

प्रश्न-"महाराज, आपका स्वास्थ्य खराब रहता है, इससे चिन्ता होती है।"

उत्तर में महाराज ने यह महत्व के शब्द कहे-"त्यागी को रोग वैराग्य के लिए होता है और भोगी को रोने के लिए।" इसके सिवाय उन्होंने और कुछ नहीं कहा।

स्वप्न में गुरुदर्शन

प्रश्न-"आचार्य महाराज का कभी स्वप्न में दर्शन होता है क्या ?"

उत्तर-"मनीं वसे, स्वप्नी दिसे"- जो बात मन में जमी रहती है, स्वप्न में उसका दर्शन होता है। इस नियमानुसार गुरुदेव का स्वप्न में अनेक बार दर्शन होता है। हमारी उनसे बातचीत भी हुआ करती है।

शत्रु पर प्रेम

उन्होंने कहा-"आचार्यश्री का जीवन अनमोल था। उनका अनुभव-ज्ञान अद्भुत था।

राजाखेड़ा में जब ५०० गुण्डों के साथ छिद्दी ब्राह्मण आक्रमण के लिये शस्त्रों से सज्जित होकर आने की तैयारी कर रहा था, उस समय आचार्यश्री की अन्तरात्मा को विलक्षण प्रकाश मिला। ठंड के दिन थे, गगनमण्डल में कुछ बादल देख उन गुरुदेव ने आदेश कर दिया कि संघ के त्यागी आज कोठरी के भीतर ही ध्यान करेंगे। १५ मिनिट बाद ही उपद्रव आरम्भ हुआ, किन्तु उपद्रवकारी विफल रहे। वे जिन साधुओं पर उपसर्ग करना चाहते थे, वे तो कमरे के अन्दर थे, इसलिये उनकी दुर्भावनाएँ मन की मन में रह गई।''

उस समय पुलिस का अधिकारी महाराज के पास आकर बोला-''इस छिद्दी को क्या करना चाहिये ?आज्ञा दीजिये।''

महाराज ने कहा-''मेरी मानोगे क्या ?''

पुलिस कप्तान ने कहा-''आपकी आज्ञा का हम परिपालन करेंगे।''

महाराज बोले-''छिद्दी को छोड़ दो।''

इस प्रकार प्राण लेने वाले पर भी प्रेम का भाव धारण करने वाले वे गुरुदेव सचमुच में शान्ति के सागर ही थे।

अचिन्त्य आत्मबल

आचार्यश्री में एक दूसरी विशेषता उन्होंने बतलाई, वह था उनका आत्मबल। उनका आत्म-विश्वास अचिन्त्य था। जिनवाणी पर श्रद्धा रखकर आत्मबल के आश्रय से वे अपना मार्ग निर्धारण करते थे। उस समय उनके विरुद्ध यदि सारा संसार हो, तो भी उन्हें उसका भय नहीं था। वे अपूर्व आत्मबली सत्यनिष्ठ संत थे।

वीरसागर महाराज को भी उष्णता के कारण बहुधा चक्कर आ जाया करते थे। उस मूर्च्छा की स्थिति में भी उनकी अंगुली जाप करती हुई मालूम पड़ती थी। ओष्ठ भी पंचपरमेष्ठी के नाम की आराधना करते थे। यथा गुरु, तथा शिष्य।

हित शत्रु

उनके एक भक्त-विद्वान्-त्यागी के समक्ष मैंने महाराज से कहा-''आपके सिर में ब्राह्मी तैल सदृश कोई औषधि अवश्य लगानी चाहिये।''वे बोले-''हमें अपने शरीर की अवस्था मालूम है। ये औषधि बताने वाले, हमारे हितैषी बनकर आते हैं और बाद में बातें सुनाते हैं। मैं तो इनको अपना हित-शत्रु समझता हूँ।'' हितैषी के लिये हित-शत्रु शब्द का प्रयोग सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, इसलिए मैंने पूछा-''आपने यह कैसे कहा ?''

उत्तर-''ये बताते हैं हित और करते हैं हमारे हित का घात। प्रमाद को बढ़ाने वाले कार्यों की ओर मुझे ले जाना चाहते हैं। उनसे मेरा घात होता है। इसलिए मैंने सोच-समझकर इन्हें शत्रु कहा है।''इसके पश्चात् वे कहने लगे-''दिवाकरजी ! मेरे पास

एकान्त नहीं है, मैं अनेकान्त दृष्टि से सोचता हूँ।"

पिच्छी की लाज रखो

आचार्य वीरसागरजी ने पिच्छी धारण करने वाले उच्च त्यागियों को दृष्टिपथ में रखते हुए कहा-"साधु को अपने पद का हमेशा ध्यान रखना चाहिये।" पिच्छी हाथ में लेकर उन्होंने मुझसे पूछा-"हमारे हाथ में क्या है ?"फिर बोले-"इस पिच्छी को हाथ में लेकर जिसने करुणा नहीं की, उसने क्या किया।" वे बोले-"हमारा तो यह कहना है, पिच्छी को लजाओ मत।"

बनिया

वे कहने लगे-"अपने हानि-लाभ का विचार करने वाला बनिया सबसे चतुर होता है। मुमुक्षु को अपने आत्म-हित के बारे में इसी प्रकार सोचना चाहिये।"उन्होंने कहा - "बनियों से स्याना अजब दिवाना।"पश्चात् बोले-"बनिया प्रारम्भ से चतुर रहता है और जाट पीछे समझदारी पाता है।" उनके शब्द थे-"बनियो मूल में स्यानों, जाट आखीर में स्यानों।"

घर में प्रतिमा विराजमान करो

मैंने कहा था-"महाराज हमारे पिताजी बहुत वृद्ध हो गये हैं, शरीर शिथिल हो गया है, घुटनों में दर्द रहने के कारण जिन मन्दिर जा नहीं सकते, क्या उनकी धर्मसाधना के हेतु घर में जिन भगवान की मूर्ति ला सकते हैं ?"

उत्तर में उन्होंने कहा-"अवश्य मूर्ति विराजमान करो। बाद में उन्होंने एक मराठी की कहावत सुनाई-**"ज्याच घरी नाहीं जिना चे दर्शन। जनावे श्मशान घर त्याचे (जिनके घर में जिन भगवान् की मूर्ति नहीं, वह घर तो श्मशान तुल्य है।)"**इस प्रकार अनेक ज्ञानी मुनियों ने कहा था। धर्म से अनभिज्ञ गृहस्थ इस आगमोक्त कार्य की निन्दा कर पाप का बंध करता है।"

अनादि मूलमन्त्र

प्रश्न-"कुछ लोग कहते हैं, यह णमोकार मंत्र तो पुष्पदन्त आचार्य ने बनाया, क्या यह ठीक है ?"

उत्तर-"यह अनादि मूलमंत्र है। साधुओं के प्रतिक्रमण आदि में णमोकार मंत्र का निरन्तर उपयोग होता है। सामायिक प्रकीर्णक का मङ्गलाचरण यह णमोकार मंत्र है। सामायिक दंडक के प्रारम्भ में भी यह मंत्र है। और भी कारणों से इसे अनादि मूलमंत्र मानना चाहिये।"

सम्यक्त्व खेल नहीं है

प्रश्न-"महाराज ! आज सम्यक्त्व का बाजार बड़ा गरम है। उसका हर जगह नाम

सुनाई पड़ता है, तो क्या बात है ?''

उन्होंने उत्तर में सूत्ररूप ये शब्द कहे-''सम्यक्त्व खेल नहीं है, वह बहुत बड़ी चीज है।''

साधु बहिष्कार

प्रश्न-''आज हर एक आदमी कहने लगता है, अमुक साधु में इस प्रकार दोष है, उसको ठीक करना समाज का कर्त्तव्य है । इस विषय में आपका क्या कहना है ?''

उत्तर-''पहिले एक बार इस प्रकार का एक विकट प्रसंग आ चुका है कि मुनि का बहिष्कार कौन कर सकता है ? तब मैंने कहा था कि मुनि के बहिष्कार करने का तुमको या मुझको अधिकार नहीं है। राजा को या आचार्य शांतिसागरजी को (जो उस समय जीवित थे) इस विषय में अधिकार है।''

वे कहने लगे-''आजकल लोग अतिरेक में लग गये हैं। हर बात में अतिरेक होने से ही गड़बड़ी पैदा हो गयी है। कोई किसी की नहीं सुनता, सब अपनी-अपनी सुनाना चाहते हैं।''

प्रश्न-''ऐसी स्थिति में सत्पुरुष का क्या कर्त्तव्य है ?''

उत्तर-''**ऐकावे जनाचे, करावे मनाचे** (लोगों की सुनो ओर अन्तःकरण के अनुसार करो)।''

गांधीजी भी तो अन्तरात्मा की आवाज को बहुत महत्व दिया करते थे। यह बात भी स्मरण पोषण है कि पाप करते-करते पापी की अन्तरात्मा का एक प्रकार से प्राणहरण हो जाता है।

विचित्र प्रश्न

एक बार एक साम्प्रदायिक गेरुआ वस्त्र धारण कर आचार्य महाराज के पास आया और उसने आचार्य महाराज से एक विचित्र प्रश्न पूछा-''सब वस्त्र त्यागकर आप नग्न क्यों बने हैं ?''

इस प्रश्न को सुनकर आचार्य महाराज पूर्ण शान्त रहे। उन्होंने कहा था- 'भाई ! यह तो बताओ, आपने गेरुआ वस्त्र क्यों धारण किया ?''

उस विद्वान् ने कहा-''हमारे शास्त्र की आज्ञा है कि साधु को गेरुआ वस्त्र रखना चाहिए।''

आचार्य महाराज ने कहा-''आपका शास्त्र गेरुआ वस्त्र रखने की आज्ञा देता है, किन्तु हमारा शास्त्र दिगम्बर मुद्रा धारण करने की बात बताता है। आपका शास्त्र आपके लिए मान्य है, हमारा शास्त्र हमारे लिए मार्गदर्शक है।''

महाराज वीरसागरजी ने बताया था कि इस उत्तर से वे विद्वान् आवाक् हो गये थे और उनके मन में महाराज के प्रति आदर का भाव जगा था।

दुष्ट का समाधान

उन्होंने बताया- ''एक बड़े जैन विद्वान् मुनिपद धारण के प्रतिकूल धारणा वाले थे। वे शांतिसागर महाराज के पास आये। उस समय वे विद्वान् अपनी अश्रद्धा व्यक्त करते हुए मुनिपद के विरुद्ध अनेक बातें कहने लगे। शान्तमूर्ति आचार्य महाराज ने कहा- 'पं. जी ! आप एक वर्ष के लिए मुनि की चर्या पाल लो। उसको पालन करने के बाद अनुभव के आधार पर आप जो भी बात कहेंगे, उसे हम पालन करने को तैयार रहेंगे।' उनके इस उत्तर को प्राप्त कर वे पंडितजी नतमस्तक हो चुप हो गये।''

महान् तपस्वी

वीरसागर महाराज कहने लगे- ''आचार्य महाराज की तपस्या की बात मत पूछो। उन्होंने कठोर से कठोर संयम की साधना की थी। उन्होंने सिंहनिष्क्रीड़ित नाम का महान् तप किया था। सब रसों का त्याग कर रखा था। उनका सारा जीवन उज्ज्वल संयम की साधना में संलग्न रहता था। चरित्रमोह का भार न्यून होने से उन्हें उपवासादि में आनन्द आता था।''

अलौकिक प्रभाव

वीरसागर महाराज ने बताया- ''उनका प्रभाव अलौकिक था। मैंने और खुशालचन्द्रजी पहाड़े (चन्द्रसागरजी) ने उनके कोन्नूर में दर्शन किये थे। उन्हें देखते ही हम दोनों के मन पर क्या प्रभाव पड़ा, हम नहीं कह सकते। उन्हें देखकर हमारा मन यही बोला कि ऐसे गुरु को छोड़कर अब नहीं जाना चाहिए। उनके दर्शन से अपने-आप हमारे परिणाम संयम की ओर वृद्धिंगत हुए। उन्होंने हमें प्रेरणा तक नहीं की किन्तु उनका आध्यात्मिक प्रभाव अन्तःकरण को प्रबल प्रेरणा प्रदान करता था।'' उस समय वीरसागरजी का नाम ब्र. हीरालाल था।

महाराज के लोकोत्तर प्रभाव का उल्लेख करते हुए वीरसागरजी महाराज ने बताया- ''एक स्त्री बड़े भीषण स्वभाव और उद्दण्ड प्रकृति की थी। उसने आचार्य महाराज को देखा। उसका जीवन इनकी तपःपुनीत मुद्रा से महान् प्रभावित हुआ और उसके भावों में बड़ी शान्ति आ गई। उसने क्षुल्लिका के व्रत धारण कर लिये थे।''

धर्म में अरुचि क्यों ?

प्रश्न- ''महाराज ! आजकल अन्य लोगों की जैनधर्म में रुचि नहीं है। जैनी क्यों अल्प संख्या वाले है ? जैनों की अल्पसंख्या क्यों है ?''

उत्तर- ''जौहरी की दुकान में बहुत थोड़े ग्राहक रहते हैं, फिर भी उसका अर्थलाभ विपुल मात्रा में होता है। सागभाजी बेचने वाले की दुकान पर बड़ी भीड़ लगी रहती है, फिर भी बहुत थोड़ी ही आमदनी होती है। इसी प्रकार वीतराग भगवान् का धर्म है। बिना निर्मल परिणाम हुए उसे पालन करने को लोगों की तबियत नहीं होती।'' अनादि संस्कारवश

जीव असंयम की ओर जाता है। जो उपदेश उस ओर ले जाता है वह मोही जीव को अच्छा लगा करता है। पुरुषार्थी तथा आत्मबली व्यक्ति जितेन्द्रियता के उपदेष्टा धर्म में लगते हैं। ऐसी उच्च आत्माएं थोड़ी संख्या में होती हैं।

सार्वधर्म

प्रश्न-"जैनधर्म सार्वधर्म है, तो सबको पालन करने का अधिकार मिलना चाहिए। यदि सबको जैनी नहीं बनाते हो, तो जैन धर्म सार्वधर्म नहीं बनेगा। ऐसी स्थिति में सार्वधर्म माने जाने वाले जैनधर्म वालों के मन्दिर में शूद्रों का प्रवेश क्यों रोकते हैं ?"

उत्तर-"कोई नहीं रोकता। जैन बनने की रोक-टोक कहीं नहीं है, इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि मन्दिर अजायबघर नहीं, वह धर्म का आयतन है। जैनधर्म को मानने वाला उसमें जायगा। अपनी योग्यता के अनुसार प्रत्येक को आना चाहिए।"

धर्म में मर्यादा

प्रश्न-" शूद्र की कितनी योग्यताएँ हैं ?"

उत्तर-" शूद्र की बात तो दूसरी, वह तो मनुष्य है। पशु पर्यायवाला मेंढक तक जैन माना गया है, उसको जैन बनने से किसी ने रोका क्या ? वह फूल मुख में रखकर भगवान् के दर्शन को जा रहा था, किंतु ऐसा तुम नहीं कर सकते। जैनधर्म का कथन व्यवस्थित और नियमानुसार है। पहिले जैन बनो और देखो कि जैन कानून तुम्हारे विषय में क्या आज्ञा देता है। आचार्य शांतिसागर महाराज ने अनेक शूद्रों को जैनी बनाया था। वे जिनमन्दिर में प्रवेश न करके जिनमन्दिर के दर्शन करके प्रसन्न थे। वे मन्दिर के भीतर नहीं गये थे और कहते थे कि पूर्व भव में महान् पाप कर हमने यह अवस्था पाई है। अब यदि जिन भगवान की आज्ञा के विरुद्ध आचरण करेंगे, तो आगे हमारी क्या गति होगी ? इसलिए अपनी मर्यादा के भीतर प्रवृत्ति करना चाहिए।"

विद्या की बिक्री

वीरसागर महाराज गृहस्थ जीवन में अवैतनिक रूप से धर्मशिक्षण का कार्य करते थे। उनके पूर्व विद्यार्थी चिन्तामणि जैन जालना ने बताया था कि-"वीरसागर महाराज ने फुलेरा में मुझसे कहा था, तुम पूजा, विधान आदि करते हो, तुम्हें उसका मूल्य नहीं ठहराना चाहिये। जो भेंट श्रावक देवे, उसमें ही आनन्द मानना चाहिए। अपनी अनमोल विद्या की कीमत नहीं करना चाहिए। तुमने जैसे ही कहा कि इतना लेंगे, इसका अर्थ है कि तुमने विद्या बेच दी। ऐसा नहीं करना चाहिए।"

आचार्य वीरसागर महाराज प्रातःस्मरणीय सत्पुरुष हो गये।

****

गोडासन योग मुद्रा में ध्यानमग्न
आचार्य श्री नेमिसागरजी महाराज

आचार्य श्री नेमिसागरजी महाराज

आचार्य महाराज तपोमूर्ति थे। उनके शिष्य नेमिसागर महाराज भी बहुत सरल तथा तपःपुनीत जीवन से समलंकृत हैं। कहते हैं कि हजारों लोगों की दृष्टि के समक्ष ही अपने अद्भुत प्रदर्शनों द्वारा जादूगर बड़े-बड़े बुद्धिमानों को भी चकित कर दिया करता है। आध्यात्मिक जादूगर के रूप में आचार्य महाराज ने जिनेन्द्र शासन से पूर्ण विमुख नेमण्णा नाम के कुड़ची के व्यापारी के जीवन को बदल दिया। वे ही परम श्रद्धालु, श्रेष्ठ तपस्वी, अद्वितीय गुरुभक्त १०८ परम पूज्य आचार्य नेमिसागर महाराज के रूप में मुमुक्षुवर्ग का कल्याण करते रहे। उन्हें आचार्य महाराज से मुनिदीक्षा लिए लगभग ४४ वर्ष हो गए। एक उपवास, एक आहार का क्रम प्रारम्भ से चलता आ रहा है। इस प्रकार नर जन्म का समय उपवासों में व्यतीत हुआ। उन्होंने तीस चौबीसी व्रत के ७२० उपवास किए। कर्मदहन के १५६ तथा चारित्रशुद्धि व्रत के १२३४ उपवास किए। दशलक्षण में पाँच बार दस-दस उपवास किए। अष्टाह्निका में तीन बार आठ-आठ उपवास किए। इस प्रकार २४ उपवास किए। लोणंद में महाराज नेमिसागरजी ने सोलहकरण के सोलह उपवास किए थे। इस प्रकार उनकी तपस्या अद्भुत रही है। दो, तीन, चार उपवास तो जब चाहे, तब करते थे।

अज्ञानी विषयासक्त संसारी खाने-पीने में मजा मानता है। चारित्र चूड़ामणि नेमिसागर महाराज को उपवास में आनंद आता है। बिना आत्मानंद के कौन अपने ४४ वर्ष के साधुजीवन के बहुभाग को उपवासों में व्यतीत करता ? अन्य साधुओं में भी उपवास की प्रवृत्ति पाई जाती है, किन्तु उन लोगों में भी विश्व की दृष्टि से सोचा जाय, तो नेमिसागर महाराज के सामने खड़े होने वाला एक भी व्यक्ति न मिलेगा। तपस्या के क्षेत्र में दिगम्बर जैन साधुओं में इस समय ये ही शिरोमणि हैं। भौतिक विकास के कारण अहंकार के ज्वालामुखी पर नग्न-नर्तन करने वाले देशों के समक्ष भारत, नेमिसागर महाराज सदृश विभूति को ही उपस्थित कर सकता है और पूछ सकता है कि तुम्हारे पास ऐसी ज्योतिर्मयी मूर्ति है क्या ? कौन उत्तर देगा ? जड़वाद के राक्षस के पादार्चन करने वाले राष्ट्र क्या उत्तर देंगे ? भारत में भी अन्य लोग अपने हृदय पर हाथ रखकर सोचें कि उनमें शान्त भाव, आत्मचिंतन, पवित्र साधनापूर्वक हजारों उपवास करने वाली नेमिसागर महाराज सदृश निष्कलंक चारित्र वाली कोई अन्य विभूति है क्या ? कौन उत्तर देगा ? कोई हो, तो उत्तर

मिले। नेमिसागर महाराज तपस्या के क्षेत्र में सबको निरुत्तर बनाते हुए अनुत्तर हैं। महापुराण में लिखा है-**'तपः सूते महत्फलम्'** यह तपस्या महान् फलों को उत्पन्न करती है। इससे महान् निर्जरा होती है, तथा श्रेष्ठ पुण्य बंध होता है। आज नेमिसागर महाराज का नाम सार्थक लगता है। तपस्या के क्षेत्र में भगवान् नेमिनाथ तीर्थंकर का जीवन भी लोकोत्तर ही नहीं, लोकोत्तम रहा है। उनका नाम धारण करनेवाली निर्ग्रन्थ मुद्राधारी आत्मा का जीवन भी आध्यात्मिक सुवास-सम्पन्न है।

महातपस्वी साधुराज श्री १०८ नेमिसागर महाराज के पास बम्बई में सन् १६५८ तथा १६५६ के दशलक्षण पर्व में पहुंचकर अनेक महत्वपूर्ण बातें ज्ञात की। उनसे तत्त्वाभ्यासी वर्ग को विशेष लाभ होगा, कारण कि नेमिसागर महाराज उच्चकोटि की साधना में संलग्न तपस्वी हैं। १७ सितम्बर १६५८ को मैंने उनके दर्शन किए थे। आचार्य शांतिसागर महाराज के जीवन संबंधी सामग्री को लक्ष्य कर मैंने उन गुरुदेव से चर्चा प्रारम्भ की।

परिचय

१०८ नेमिसागर महाराज महान् तपस्वी हैं। उन्होंने कहा-''हमारा और आचार्य महाराज का ५० वर्ष पर्यन्त साथ रहा। चालीस वर्ष के मुनिजीवन के पूर्व मैंने गृहस्थावस्था में भी उनके सत्संग का लाभ लिया था। आचार्य महाराज कोन्नूर में विराजमान थे। वे मुझसे कहते थे-''तुम शास्त्र पढ़ा करो। मैं उसका भाव लोगों को समझाऊँगा।'' वे मुझे और बन्डू को शास्त्र पढ़ने को कहते थे। मैं पाँच कक्षा तक पढ़ा था। मुझे भाषण देना नहीं आता था। शास्त्र बराबर पढ़ लेता था, इससे महाराज मुझे शास्त्र बाँचने को कहते थे। मेरे तथा बन्डू के शास्त्र बाँचने पर जो महाराज का उपदेश होता था, उससे मन को बहुत शांति मिलती थी। अज्ञान का भाव दूर होता था। हृदय के कपाट खुल जाते थे। उनका सत्संग मेरे मन में मुनि बनने का उत्साह प्रदान करता था। मेरा पूरा झुकाव गृह त्यागकर साधु बनने का हो गया था।''

पिताजी से चर्चा

''एक दिन मैंने अपने पिताजी से कुड़ची में कहा-''मैं चातुर्मास में महाराज के पास जाना चाहता हूँ।''

वे बोले-''तू चातुर्मास में उनके समीप जाता है, अब क्या वापिस आयेगा?''पिताजी मेरे जीवन को देख चुके थे, इससे उनका चित्त कहता था कि आचार्य महाराज का महान् व्यक्तित्व मुझे संन्यासी बनाए बिना नहीं रहेगा। यथार्थ में हुआ भी ऐसा।''

जीवनधारा में परिवर्तन

''चार माह के सत्संग ने मेरी जीवनधारा बदल दी। मैंने महाराज से कहा-''महाराज!

मेरे दीक्षा लेने के भाव हैं। अपने कुटुम्ब से परवानगी लेने का विचार नहीं है। घरवाले कैसे मंजूरी देंगे ? मुफ्त में नौकर मिलता है, जो कुटुम्ब की सेवा करता रहता है, तब फिर परवानगी कौन देगा ?''

महाराज ने कहा-''ऐसा शास्त्र में कहा है कि आत्मकल्याण के हेतु आज्ञा प्राप्त करना परम आवश्यक नहीं है।''

''मेरे दीक्षा लेने के भाव अठारह वर्ष की अवस्था में ही उत्पन्न हो चुके थे। उसके पूर्व की मेरी कथा बड़ी विचित्र थी।''

पूर्व जीवन में मुसलिम प्रभाव

नेमिसागर महाराज का पूर्व का जीवन सचमुच में आश्चर्यप्रद था। उन्होंने यह बात बताई थी-''मैं अपने निवास स्थान कुड़ची ग्राम में मुसलमानों का बड़ा स्नेहपात्र था। मैं मुसलिम दरगाह में जाकर पैर पड़ा करता था। सोलह वर्ष की अवस्था तक मैं वहाँ जाकर उदबत्ती जलाता था। शक्कर चढ़ाता था।'' कुड़ची में यवनों की अधिक संख्या है। वहाँ जाकर वह घर भी मैंने देखा है, जहाँ नेमण्णा के रूप में उनका निवास था।

''जब मुझे अपने धर्म की महिमा का बोध हुआ, तब मैंने दरगाह आदि की तरफ जाना बन्द कर दिया। मेरा परिवर्तन मुसलमानों को सहन नहीं हुआ। वे लोग मेरे विरुद्ध हो गए और मुझे मारने का विचार करने लगे।'' जहाँ मौका मिलता है, यवन-वर्ग बलप्रयोग करता आया है।

ऐनापुर में स्थान-परिवर्तन

''ऐसी स्थिति में अपनी धर्म-भावना के रक्षण निमित्त मैं कुड़ची से चार मील की दूरी पर स्थित ऐनापुर ग्राम में चला गया। वहाँ के पाटील की धर्म में रुचि थी। वह हम पर बहुत प्यार करता था। इससे मैंने ऐनापुर में रहना ठीक समझा।''

रामू के साथ खेती

''अपने जीवन निर्वाह के लिए मैंने, रामू ने **(जो बाद में कुंथुसागर महाराज के रूप में प्रसिद्ध हुए)** तथा एक और व्यक्ति ने मिलकर ठेके पर जमीन ली।

आचार्य महाराज नसलापुर में थे। मैं उनके पास एक माह रहा था। उसके पश्चात् महाराज चातुर्मास हेतु ऐनापुर पधारे। मैं हमेशा महाराज के पास रहता था। खेती का कुछ भी ध्यान नहीं था। उनके पास मन ऐसा लग गया था कि मुझे अपने भविष्य का कुछ भी ध्यान नहीं था। मेरी सारी स्थिति से महाराज परिचित थे।

एक दिन वे बोले-''तुमने बिना कारण खेती में पैसा डाल दिया। ऐसा क्यों किया ?''

मैं और रामू महाराज के पास अधिक समय देते थे। हमारा भाव दीक्षा लेने का हो गया

था, इससे संसार में फंसाने वाले आरंभ की ओर हमारा चित्त नहीं लगता था।''

रामू (कुंथुसागरजी) के साथ शर्त

''चातुर्मास के पश्चात् महाराज को हमने और रामू ने शेडवाल पर्यन्त पहुंचाया। उस समय शेडवाल में दिगम्बर जैन महासभा का उत्सव होने वाला था। मैंने और रामू ने एक दूसरे के हाथ पर हाथ मारकर यह शर्त की थी कि छह माह के भीतर अवश्य दीक्षा लेंगे।''

मैंने नेमिसागर महाराज से पूछा-''आचार्य महाराज की ऐसी कौन-सी बात थी, जिससे आपका मन, ममता के एकमात्र केन्द्र गृह तथा परिवार के परित्याग के लिए तैयार हो गया ? साधु का जीवन पुष्प-शय्या नहीं है। यह कठिन तपस्या परिपूर्ण है।''

आचार्य महाराज की वाणी

नेमिसागर महाराज ने बताया-''उस समय आचार्य महाराज ने निर्ग्रन्थ दीक्षा नहीं ली थी। वे क्षुल्लक थे। मैं और बंडू उनके पास तेरदल में रहे थे। बन्डू शास्त्र पढ़ता था। मैं सुनता था। भगवती आराधना, तत्त्वार्थसार आदि ग्रंथों का स्वाध्याय हो चुका था।''

गजस्नान

तेरदल से विहार कर महाराज कुडची ग्राम में आए। उनका आहार हमारे घर में हुआ। आहार के उपरान्त वे बोले-''तुम्हारी भक्ति, पूजा, अर्चा आदि कार्य गज के स्नानतुल्य है। देखो! पूजा आदि सत्कार्यों के द्वारा तुमने निर्मलता प्राप्त की। यह तो स्नान हुआ। इसके पश्चात् तुमने आरंभ के कार्यों में पड़कर पाप का संचय किया। इसके द्वारा तुमने अपने ऊपर फिर से मिट्टी डाल दी। ऐसा गृहस्थ का जीवन होता है।''यथार्थ में गृहस्थ की अवस्था में सावधानी रखते हुए भी प्रमाद होता है, इसी कारण सर्वपरिग्रहत्यागी दिगम्बर अवस्थाधारी मुनि पदवी प्राप्त किए बिना सच्चे सुख का लाभ असंभव कहा गया है।

सर्वप्रथम ऐलक शिष्य

नेमिसागर महाराज ने बताया-''आचार्य महाराज जब गोकाक पहुंचे तब वहाँ मैंने और पायसागर ने एक साथ ऐलक दीक्षा महाराज से ली थी। उस समय आचार्य महाराज ने मेरे मस्तक पर पहले बीजाक्षर लिखे थे। मेरे पश्चात् पायसागर के दीक्षा के संस्कार हुए थे।''

समडोली में निर्ग्रन्थ दीक्षा

''दीक्षा के दस माह बाद मैंने समडोली में निर्ग्रन्थ दीक्षा ली थी। वहाँ आचार्य महाराज ने पहले वीरसागर के मस्तक पर बीजाक्षर लिखे थे, पश्चात् मेरे मस्तक पर लिखे

थे। इस प्रकार मेरी और वीरसागर की समडोली में एक साथ मुनि दीक्षा हुई थी। वहाँ चन्द्रसागर ऐलक बने थे।"

घर की बातें

इनके पिता का नाम अण्णा था। घर में नेमिसागरजी को नेमण्णा कहते थे। नेमिसागर महाराज के एक भाई की पैदा होते ही मृत्यु हुई थी व दूसरे भाई की मृत्यु सात-आठ वर्ष की अवस्था में हुई थी। नेमण्णा ज्येष्ठ थे। माता की मृत्यु के समय इनकी अवस्था लगभग बारह वर्ष की थी। माता की धर्म-रुचि बहुत थी। माता सरल परिणामी, परोपकार रत व साधु स्वभाव वाली थी। दीनजनों पर माता का बड़ा प्रेम था।

इनके पिता अण्णाजी बहुत बलवान थे। पाँच-छः गुंडी पानी से भरा हंडा पीठ पर रखकर लाते थे।

नेमिसागर महाराज की मुनिपद धारण की रुचि बाल्यकाल से ही थी। उन्होंने बताया, "हमारी १५ वर्ष की अवस्था में ही मुनि बनने की इच्छा थी। हम ज्योतिषी से पूछते थे कि हमारी इच्छा पूर्ण होगी या नहीं ?"

नेमिसागर नाम का हेतु

इनकी माता का नाम शिवदेवी है ऐसा जानकर मैंने कहा-"महाराज भगवान् नेमिनाथ तीर्थङ्कर की माता का नाम शिवदेवी था। आपकी माता का भी यह नाम था। यही समता महत्वपूर्ण है।"

इस पर नेमिसागर महाराज ने कहा-"मेरा नाम नेमण्णा था। गोकाक के मंदिर में हमारी ऐलक दीक्षा का संस्कार हुआ था। वहाँ मूलनायक नेमिनाथ भगवान् थे। इस कारण आचार्य महाराज ने हमारा नाम नेमिसागर रखा था।"इस प्रकार नेमिनाथ भगवान् के सान्निध्य में शिवदेवी के पुत्र नेमण्णा को ऐलक दीक्षा देते समय नेमिसागर नाम रखना आचार्य महाराज की विशिष्ट दृष्टि को सूचित करता है।

ऐलक दीक्षा का रहस्य

नेमिसागर महाराज ने कहा-"मैंने आचार्य महाराज से मुनिदीक्षा मांगी थी, किन्तु उन्होंने कहा, थोड़े दिन ऐलक बनो। कुछ समय बाद मुनिदीक्षा देंगे।"वे यह भी कहते थे- "हमारा क्या जाता है, दीक्षा लेना है, तो ले लो।"ऐलक दीक्षा देने का उनका अभिप्राय था कि मुनिपद का पूर्व अभ्यास हो जाय। स्वयं मुनि बनने के पूर्व महाराज क्षुल्लक रह चुके थे।

स्व. वर्धमानसागर महाराज को मुनि बनाने के पूर्व उन्होंने ऐलक दीक्षा दी थी। उसके पहले वे क्षुल्लक रह चुके थे। आजकल कोई-कोई साधु पूर्व जीवन का निरीक्षण किए बिना सहसा मुनिदीक्षा दे देते हैं। उसका परिणाम शिथिलाचार की वृद्धि रूप में देखने में

आता है। दीक्षा आत्मकल्याण का साधन है, अहंकार पोषण का अंग नहीं है।

विनोद द्वारा शिक्षा

"आचार्य महाराज मधुर विनोद की चाशनी में कर्तव्यपालन की औषधि दिया करते थे। नेमिसागर महाराज ने बताया- एक दिन सामायिक करते समय मुझे तंद्रा आ गई, तब महाराज ने सामायिक के उपरान्त कहा-"नेमिसागर ! तुम सामायिक बहुत अच्छी करते हो।"इस प्रकार आचार्य महाराज शिष्यों के जीवन को उज्ज्वल बनाते थे।"

निद्रा का कारण

नेमिसागर महाराज ने एक अनुभवपूर्ण बात कही-"विचार चालू रहने पर निद्रा नहीं आती। विचार बन्द होते ही निद्रा सताती है।"एक बार की सामायिक का हाल नेमिसागर महाराज ने इस प्रकार बताया-"हम मुजफ्फरनगर में सामायिक को खड़े हुए थे। न जाने क्यों, हम तत्काल धड़ से जमीन पर गिर पड़े थे।"

घुटनों के बल पर आसन

नेमिसागर महाराज घुटनों के बल पर खड़े होकर आसन लगाने में प्रसिद्ध रहे हैं। मैंने पूछा-"इससे क्या लाभ होता है ?" उन्होंने बताया-"इस आसन लिए विशेष एकाग्रता लगती है। इससे मन का निरोध होता है। बिना एकाग्रता के यह आसन नहीं बनता है। इसे"गोडासन"कहते हैं। इससे मन इधर-उधर नहीं जाता है और कायक्लेश-तप भी पलता है। दस-बारह वर्ष पर्यन्त मैं वह आसन सदा करता था, अब वृद्ध शरीर हो जाने से उसे करने में कठिनता का अनुभव होता है।"

मैंने पूछा-"महाराज ! गोडासन करते समय घुटनों के नीचे कोई कोमल चीज आवश्यक है या नहीं ?"

वे बोले-"मैं कठोर चट्टान पर भी आसान लगाकर जाप करता था। भयंकर से भयंकर गर्मी में भी गोडासन पाषाण पर लगाकर सामायिक करता था। मेरे साथी अनेक लोगों ने इस आसन का उद्योग किया, किन्तु वे सफल नहीं हुए। ध्यान के लिए सामान्यतः पद्मासन, पल्यंकासन और कायोत्सर्ग आसन योग्य हैं। अन्य प्रकार का आसन कायक्लेश रूप है। गोडासन करने की प्रारम्भ की अवस्था में घुटनों में फफोले उठ आए थे। मैं उनको दबाकर बराबर अपना आसन का कार्य जारी रखता था।"

अग्निकाय का जीव

उन्होंने यह भी बताया-"शिखरजी से लौटता हुआ संघ वैशाख मास में इलाहाबाद आया था। वहाँ मैं छत पर खड़े होकर कायोत्सर्ग करता था, उस समय बम्बई वाले संघपति आए। उन्होंने चटाई रखी और उस पर खड़े होकर मेरे ऊपर छाता लगा दिया।

उस समय क्या सामायिक बनती ? मैंने आठ-दस णमोकार की माला फिराई। इस तरह सामायिक पूरी हुई। उसके पश्चात् आचार्य महाराज के पास यह खबर पहुंची, तब वे बोल उठे-"नेमिसागर तो अग्निकाय का जीव है।" मुझे भीषण गर्मी में भी कष्ट नहीं होता। हमारा शरीर जाड़े को ढीला है।"

शांति का उपाय

मैंने कहा-"मेरा छोटा-सा प्रश्न है, शांति का क्या उपाय है ?"

उन्होंने कहा-"संकल्प-विकल्प त्यागने से शांति मिलती है। इससे कर्मों का क्षय होता है। परिणामों में जितनी-जितनी विशुद्धता होगी, उतनी-उतनी शांति की उपलब्धि होगी। मलिन परिणामों से शांति दूर होती है और अशांति की जागृति होती है। परिणामों की निर्मलता के लिए सत्संगति चाहिये। विषयभोग की सामग्री का त्याग भी आवश्यक है। संगति के योग्य सज्जन पुरुषों का समागम दुर्लभ रहता है। सत्समागम न मिले, तो अच्छे-अच्छे शास्त्रों का स्वाध्याय मनन करें। ग्रन्थों का अभ्यास भी सत्समागम ही तो है। प्रत्येक ग्रन्थ के भीतर महान् ज्ञानी, संयमी, सत्पुरुष बैठे हैं। इस दृष्टि से जिनवाणी के स्वाध्याय का बड़ा महत्व है।"

त्याग में आनन्द

"त्याग के द्वारा मन शांत बनता है। त्याग में सुख है। भोग में दुःख है। यदि शक्ति अल्प है, तो थोड़ा त्याग करो। इन्द्रियों ने जीव को दास बना रखा है। इन्द्रियों के दास न बनकर इन्द्रियों को दास बनाना हितकारी है। मन के भीतर की खराबी दूर करना चाहिए। अन्तर्दृष्टि होने का प्रयत्न करते जाना चाहिए। परिश्रमपूर्वक पढ़ने वाला अज्ञानी भी विद्वान् बन जाता है। आत्मा की ओर रुचि होने पर तुम्हारा मन दूसरी ओर नहीं जावेगा, कारण कि मन की उधर की प्रवृत्ति होती है, जहाँ उसकी रुचि पाई जाती है। भोगों में अरुचि तथा आत्म तत्त्व में रुचि होने पर परिणामों में शांति उत्पन्न होती है।"

पर्यूषण पर्व में व्रत करके लोग अनुभव के आधार पर त्याग को गौरव प्रदान करते हैं व त्याग के जीवन को दिव्य जीवन मानते हैं।

मार्मिक पद्य

सामायिक पाठ का यह पद्य नेमिसागर महाराज को प्रिय रहा है। एक धार्मिक सज्जन कहते थे, कुंथुसागर महाराज को भी यह पद्य प्रिय रहा है। इस प्रकार दोनों पुराने साथी साधु इस पद्य द्वारा आनन्द लेते थे -

बोधिः समाधिः परिणामशुद्धि, स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्यसिद्धिः।
चिन्तामणिं चिंतितवस्तुदाने, त्वां वंद्यमानस्य ममास्तु देवि॥

अर्थ : हे देवि सरस्वती ! इच्छित पदार्थ को प्रदान करने में चिन्तामणि समान तुम्हारी वंदना करने वाले मुझको बोधि, सामाधि, परिणाम शुद्धि, आत्म स्वरूप की प्राप्ति तथा मोक्ष-सुख की उपलब्धि हो ।

वासना छोड़ो

वे कहने लगे-"श्वास का रोकना समाधि नहीं है। मन का बाल-बच्चे, धन-धान्य, मकान आदि की ओर नहीं जाना तथा स्वोन्मुख बनना समाधि है। बाह्य पदार्थ न हों, किन्तु उस ओर मन दौड़ा, तो समझना चाहिए कि बाह्य पदार्थ पास में ही है।"उनके ये उद्‌गार अनमोल हैं-"वासना है, तो पदार्थ है ही।"अभ्यास द्वारा वासना पर विजय प्राप्त होती है।

चरणों में शुभ चिह्न

उन्होंने बताया-"आचार्य महाराज के पैरों में ध्वजा का चिह्न था। उन्होंने धर्म की ध्वजा फहराकर उस चिह्न की सार्थकता द्योतित की। उनके पाँव में चक्र भी था। इससे वे सदा भ्रमण किया करते थे।" उनके शरीर में अनेक शुभ चिह्न सामुद्रिक शास्त्रानुसार थे। उनके हाथ में दिव्यदर्शन (Intution) की रेखा देखकर हस्तरेखाविशेषज्ञ आश्चर्यान्वित होते थे।

रोग में दृढ़ता

एक दिन नेमिसागर महाराज की पीठ में बहुत दर्द हो गया। उन्होंने दवा नहीं लगाने दी। जब मैंने आग्रह किया, तो कहने लगे-"आदमी को रोग न होगा, तो क्या पत्थर को होगा।" **मन चंगा, तो कठौती में गंगा।** हमारे शरीर में अनेक रोग होते हैं, हम परवाह नहीं करते। रोग आओ या जाओ। साधारण बीमारी को डरने लगे, तो क्या होगा ? रोग को भोजन नहीं मिलेगा, तो वह नहीं टिकेगा। भोजन न मिलने पर मेहमान कितने दिन रहेगा ? पैसा पास में रहता है, तो बीमारी में डाक्टर, वैद्य, बम्बई, कलकत्ता सब याद आते हैं। पैसा नहीं है, तो कहाँ का बम्बई, कहाँ का कलकत्ता और कहॉ का डाक्टर ? शरीर के एक अंगुल क्षेत्र में ९६ रोग कहे गए हैं। तब फिर किस-किस रोग की फिकर करना ? इससे हम रोग की चिन्ता नहीं करते ।"

विदेश जाने वाले छात्र को उपदेश

नेमिसागर महाराज के पास एक जैन तरुण आया, जो अमेरिका प्रोफेसर होकर जा रहा था। महाराज ने उससे कहा था-"तुम अच्छे कुल के हो। अपने कुल की लाज रखना। अभक्ष्य भक्षण नहीं करना।"

कब पेंशन लोगे ?

सत्तर वर्ष के एक धार्मिक सेठ महाराज के पास आए। नेमिसागर महाराज ने कहा-

"सेठजी ! अंग्रेज लोग तीस वर्ष की नौकरी के बाद पेंशन दिया करते थे, अब तुम सत्तर वर्ष के हो गए। घर-गृहस्थी की जिम्मेदारी से कब पेंशन लोगे ?" महाराज का प्रश्न बड़ा मार्मिक है। आज के राजनीतिज्ञ अपना एक पैर यममंदिर में रखते हुए भी राजनीति के प्रपंच में फंसे रहते हैं। गृहस्थ यह बात भूल गया है कि गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम भी है। उनकी विस्मृति का ही परिणाम है कि जीव शहद में गिरी हुई मक्खी के समान छटपटा कर मरण करता है और असमाधि पूर्ण मृत्यु के कारण नरभव को यूँ ही गँवा देता है।

महत्वपूर्ण विचार

एक दिन नेमिसागर महाराज ने बड़े महत्व के विचार प्रगट किए थे। उन्होंने कहा था- "अनुभव, शास्त्र (आगम) तथा व्यवहार, इन तीनों को ध्यान में रखकर कार्य करना चाहिए।"

उनकी यह शिक्षा भी बहुत उपयोगी है- "पूर्व में उपार्जित पुण्य कर्मोदय से सुखी, समृद्ध तथा वैभववानों को देखकर लोगों को नहीं जलना चाहिए। उससे गुण लेना चाहिए कि इस जीव ने पूर्व में पुण्य द्वारा ऐसी सुन्दर सामग्री प्राप्त की है। हमें भी ऐसा पुण्य संचय करना चाहिए। जलते रहने से या निन्दा करने से हित नहीं होता। बिना पुण्य के कोई धनवान तथा सुखी नहीं बनता। जो कहते है कि गरीबों का शोषण कर, उनका धन लूटकर, धनवान समृद्ध बने हैं, वे यह बतावें कि धनवान बनने से उनको किसने रोका है ? पुण्यवान व्यक्ति धन तथा वैभव अवस्था को त्यागकर अल्प प्रयत्न से विभूतिवान बनते हैं।"

विनय द्वारा विकास

महाराज की यह शिक्षा सर्वसाधारण के लिए उपयोगी है- "बड़प्पन अपने-आप नहीं आता। छोटो की सेवा द्वारा बड़प्पन मिलता है। विनयवान सुखी रहता है। नम्र चींटी तिजोड़ी के भीतर रखे हुए मिष्ट पदार्थ को खाती है। हाथी को बड़ा होने पर भी गन्ना खाने को नहीं मिलता है। यदि हाथी गन्ने के खेत में जाता है, तो उसकी पीठ पर लट्ठ प्रहार होता है। विनयवान, चींटी के समान सदा नम्र, उद्योग द्वारा मोक्ष को प्राप्त करता है।"

आचार्य महाराज एक उदाहरण देते थे- "यदि एक ऊँचे खंभे के शिखर पर सुई लगाकर उसके ऊपर एक अमरूद का फल रख दिया जाय, तो भी छोटी-सी चींटी उस खम्भे का चक्कर लगाती हुई ऊपर पहुँचती है, धीरे-धीरे वह उस फल को खाकर पोला करती है, इससे वह फल जमीन पर गिर जाता है, इसी प्रकार उद्योगी विनयवान मोक्ष प्राप्त करता है। शूरवान साहसी व्यक्ति अल्पकाल में मुक्त होता है। अंजनचोर ने साहस करके अपना जीवन सुधारा और वह पवित्र बन मोक्ष गया।"

तोते का आदर्श

पक्षियों में तोता एक विलक्षणता धारण करता है, वह उड़ता जाता है और वृक्ष के फल, धान्यादि को खाता जाता है। अन्य पक्षी की तरह उसे बैठने को स्थान नहीं लगता। तोते की तरह विषयों में अनासक्त होकर, जीवन व्यतीत करने वाला शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त करता है। प्रमादी व्यक्ति राजा भरत की अनासक्ति का उदाहरण दे विषयसेवन में प्रवृत्ति करता है। यह भ्रान्त कल्पना है।

उपयोगी शिक्षा

बुराई अपने आप आती है। उसे दूर करने में उद्योग लगता है। जैसे धन कमाने में परिश्रम करना पड़ता है, पर धन के खोने में कोई कोशिश नहीं करनी पड़ती। दुराचारी बनने में कुछ भी श्रम नहीं लगता है, सदाचारी बनने के लिए आत्मा में शक्ति चाहिए। बुजदिल, डरपोक व्यक्ति ही इन्द्रियों की गुलामी करता है।

भाषण का अभ्यास

नेमिसागर महाराज ने बताया-''पहले मुझे बोलना नहीं आता था। आचार्य महाराज ने मुझे और पायसागर को भाषण देने को कहा था। पहले बोलते नहीं बनता था, इससे मैं दुःखी होकर जंगल में चला जाता था। वहाँ क्या प्रयोजन सिद्ध होता ? इससे मैंने दस-बीस पुस्तकें इकट्ठी की। उनमें से उपयोगी बातों का संग्रह एक कापी में किया। मैं उच्चारण करके उस पाठ को पढ़ा करता था, धीरे-धीरे बोलते बनने लगा।''

क्षमा याचना निर्मलता का हेतु है

एक दिन नेमिसागर महाराज भक्ति-पाठ पढ़ रहे थे, पश्चात् प्रतिक्रमण पढ़ते समय अपने दोषों की क्षमा माँगने का पाठ पढ़ते थे। मैंने कहा-''महाराज ! आप बड़े हैं। छोटे-से क्षमायाचना करने से आत्मा में क्या लघुता नहीं आती ?''

उन्होंने कहा-''क्षमा माँगना, प्रणाम करना नहीं है। मन में निर्मलता आने पर क्षमा माँगने के भाव होते हैं। तीर्थंकर भगवान एकेन्द्रियादि जीवों से क्षमा माँगते हैं। मलिन मन क्षमा नहीं मागँता, वह क्रोध करता है। क्षमा मांगने पर बदला लेने के दूषित भाव दूर हो जाते हैं। बदला लेने के दूषित भावों के द्वारा कर्मों का बंध होता है। इससे क्षमा माँगना मुमुक्षु मानव का भूषण है, कर्त्तव्य भी है।''

जीवित तपोधर्म

उत्तम तप की पूजा के पाठ को पढ़ते हुए मैं अर्घ चढ़ाने को १०८ श्री नेमिसागर महाराज के पास गया और उनको अर्घ चढ़ाया। महाराज ने पूछा-''क्या पूजा समाप्त हो गई ?''

मैंने कहा-''महाराज! दशलक्षण पूजा कर रहा था। तप रूप सातवें धर्म की पूजा

करते समय चित्त में विचार आया कि जब महातपसस्वी गुरु के रूप में आप यहाँ विराजमान हैं, तब जीवित तपोधर्म को क्यों न अर्घ चढ़ांऊँ ? इससे मैं आपके पास आया। आचार्य शांतिसागर महाराज के जीवन में मैं पर्यूषण में उनके पास पहुंचा करता था, इसका कारण यह था कि उनके भीतर जाज्वल्यमान दशधर्मों का प्रत्यक्षीकरण होने से सजीव धर्मों की पूजा का सौभाग्य मिलता था। आज आपके पास भी मुझे वही लाभ मिल रहा है।''उसके अनंतर मन में एक विकल्प आया। मैंने सोचा, महाराज से समाधान प्राप्त कर लूँ, अन्यथा पूजा करने में वह विचार विस्मृत न हो जाय।

मैंने कहा-''क्या आप आचार्य शांतिसागर महाराज को आज भी प्रणाम करते हैं ? पहले तो करते थे, क्योंकि वे महाव्रती साधुराज थे, किंतु अब तो वे सुरराज हुए होंगे ?''

संयमी पर्याय को प्रणाम

नेमिसागर महाराज ने कहा-''हम सदा आचार्य महाराज को प्रणाम करते हैं। उनके चरणयुगल हमारे हृदय में विराजमान हैं।'' महाराज नेमिसागरजी ने यह मार्मिक बात कही थी कि''हम शांतिसागर महाराज की संयमयुक्त पर्याय को ध्यान में रखकर प्रणाम करते हैं। उनकी संयमरहित देव पदवी हमारी दृष्टि में नहीं रहती। हम अव्रती देव पर्यायवाली आत्मा को कैसे प्रणाम करेंगे ? आगम की जैसी आज्ञा है, वैसा हम करते हैं।''

देव पर्याय को नमस्कार नहीं

मैंने पूछा-''महाराज ! यदि आचार्य महाराज का जीव यहाँ साक्षात देवरूप में दर्शन दे, तो क्या उनको भी नमस्कार न करेंगे ?''नेमिसागर महाराज ने कहा-''हाँ ! हम उन्हें नमस्कार नहीं करेंगे।''

इस पर मैंने पूछा-''अच्छा यह बताइये कि क्या वह सुरराज की पर्यायधारी आचार्य महाराज की आत्मा आपको प्रणाम करेगी या नहीं ?''उन्होंने कहा-''अवश्य ! आगम की आज्ञा में आचार्य महाराज का सदा विश्वास रहा है, इस कारण वे आगम की आज्ञानुसार सकल संयमी की वंदना करेंगे, अन्यथा उनकी विशुद्ध श्रद्धा को दोष लगेगा।''

मुसलमान वर्ग का प्रेम

महाराज के सुन्दर तर्कशुद्ध समाधान से मन को बड़ी शांति मिली। पूजा के पश्चात् मैं महाराज के पास आया तथा देखा कि एक मुसलमान तरुण उनसे प्रार्थना कर रहा था-''महाराज ! आप कुड़ची ग्राम के हैं। वहाँ की आम जनता आपके दर्शन करना चाहती है।'' महाराज ने कहा-''तुम लोग मुसलमान हो और हम हैं दिगम्बर साधु। हमारे दर्शन से तुम्हारे यहाँ के मुसलमानों का मन दुःखी होगा। उनको क्षोभ प्राप्त होगा।''

वह मुसलमान भक्त बोला-''आप हमारे भी साधु हैं। आपके दर्शन से हम सबको

बहुत खुशी होगी। आपके खिलाफ कोई नजर नहीं उठा सकेगा। माफ कीजिए ! जो आपकी तरफ बुरी निगाह करेगा, उसकी खैरियत न समझिए।''

महाराज ने बताया कि इस प्रकार के अनेक लोग उनके पास आते रहते हैं। अपने रत्न का मूल्य दूसरा करता है। दुर्भाग्य की बात है कि हम समीप में रत्नराशि होते हुए भी दरिद्री की तरह दुःख प्राप्त कर रहे हैं। यवन तो जैन साधु की भक्ति करता है और दुष्ट पंडित तथा अविवेकी जैन धनिक साधु-निन्दा करते नहीं थकते।

नातेपुते की घटना

उन्होंने कहा-''आचार्य शांतिसागर महाराज ने मुझे आज्ञा दी कि मैं भी एक माह अन्यत्र विहार करूँ। मैं बारामती से दहीगांव की तरफ गया था। नातेपुते के समीप पहुँचने पर कुछ विरोधी व्यक्तियों ने काले झण्डे दिखाये। लोक-व्यवहार में प्रवीण न होने के कारण मैं यह नहीं जान सका कि काले झण्डों का क्या मतलब है ? जैन मण्डली की तरफ से बाजे बज रहे थे। मैंने कहा, बाजे बन्द करो। बाजों से क्या प्रयोजन है ? मैं विरोध-प्रदर्शक झण्डे वालों के समुदाय में चला गया। वहाँ से मैं जैनमन्दिर में पहुँच गया। कलेक्टर ने आकर हमें बताया कि गाँव में गडबडी होने की संभावना होने से उसका आगमन हुआ है। हमने कलेक्टर को गृहस्थ धर्म की आरम्भिक अवस्था से लेकर मुनियों के २८ मूलगुणों आदि का स्वरूप बताया और कहा कि हमें अपने शास्त्र की आज्ञानुसार आहार लेने नगर में जाना पड़ता है। शौच के लिए भी हमें नगर के मध्य होकर बाहर जाना पड़ता है।''

''हमारी बातों को सुनकर कलेक्टर ने हमारे विहार का समय नियत कर दिया। हमने कलेक्टर से कहा कि आप सुबह ८ बजे से ११.३० बजे तक और शाम को ३ बजे से ५ बजे तक हमारे विहार का काल नियत करते हैं, किन्तु यदि शौच की बाधा असमय में आ जाय, तो आप बतावें क्या किया जायेगा ? वे निरुत्तर हो गये। हम शासकीय आदेश की उपेक्षा करते हुए गाँव में से गये। वापसी में हमने देखा कि एक पुलिस की मोटर खडी है। फौजदार के साथ पाँच सिपाही हथकड़ी लेकर हमारे आने के मार्ग पर खड़े हैं। हम भूमि पर दृष्टि रखते हुए गाड़ी के पास आये और आगे चले गये। हमें किसी ने नहीं रोका। इस घटना के पश्चात् आचार्य महाराज ने मुझे अपने पास बुला लिया था।''

देहली चातुर्मास की विशेष घटना

नेमिसागर महाराज ने देहली चातुर्मास की एक बात पर इस प्रकार प्रकाश डाला था- ''देहली में संघ का चातुर्मास हो रहा था। उस समय नगर के प्रमुख जैन वकील ने संघ के नगर में घूमने की सरकारी आज्ञा प्राप्त की थी। उसमें नई दिल्ली, लालकिला, जामा

मसजिद, वायसराय भवन आदि कुछ स्थानों पर जाने की रोक थी ।जब आचार्य महाराज को यह हाल विदित हुआ, तब उनकी आज्ञानुसार मैं, चन्द्रसागर, वीरसागर उन स्थानों पर गए थे, जहाँ गमन के लिए रोक लगा दी गई थी। आचार्य महाराज ने कह दिया था कि जहाँ भी विहार में रोक आवे, तुम वहीं बैठ जाना। हम सर्व स्थानों पर गए। कोई रोक-टोक नहीं हुई। उन स्थानों पर पहुँचने के उपरान्त फोटो उतारी गई थी, जिससे यह प्रमाणित होता था कि उन स्थानों पर दिगम्बर मुनि का विहार हो चुका है।''

नेमिसागर महाराज ने बम्बई में उन स्थानों पर भी विहार किया है, जहाँ मुनियों के विहार को लोग असम्भव मानते थे। हाईकोर्ट, समुद्र के किनारे जहाँ जहाजों से माल आता-जाता है। ऐसे प्रमुख केन्द्रों पर भी नेमिसागर महाराज गये, इसके सुन्दर चित्र भी खिंचे हैं। इनके द्वारा दिगम्बर जैन मुनिराज के सर्वत्र विहार का अधिकार स्पष्ट सूचित होता है। साधुओं की निर्भीकता पर भी प्रकाश पड़ता है।

कल्याणसाधक त्याग

महाराज ने उपदेश के अंत में ये मार्मिक शब्द कहे थे,-''जिसका पाप है, उसे ही वह खाता है। श्रावक धर्म का पालन करो। त्याग बिना कल्याण नहीं। भावना करो कि कब संसार से हम छूटें ?''

यह कितनी अपूर्व बात है-''भावना करो कि हम संसार से कब छूटें ?''हम संसार में फँसने का सदा उद्योग करते हैं। यथार्थ में शाश्वतिक शान्ति का बीजारोपण तब होता है, जब अन्तःकरण में यह भावना उत्पन्न होती है कि अब हम संसार के जाल से निकलकर स्व अधीन बनें। इस स्वाधीनता का मार्ग वीतराग शासन की शरण ग्रहण करना है, अतः **''हे प्रभो ! प्रत्येक आत्मा में ऐसा सामर्थ्य उत्पन्न हो जाय कि वह दुःखमय संसार से छूटकर, आनन्दधाम निर्वाण का अधिपति बन जाय।''**

नेमिसागर महाराज का जीवन न सिर्फ त्यागमय, तपोमय, सौरभमय बना, बल्कि प्रतिक्षण वह शुद्ध, परिशुद्ध होता जा रहा है, इसके कारण आचार्य शांतिसागर महाराज थे। उनके उज्ज्वल जीवन ने कितने भव्यों का उपकार नहीं किया है ? शिष्य मंडली के सुविकसित, समुन्नत तथा समुज्ज्वल जीवन में आचार्य महाराज का पवित्र प्रभाव सुस्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। भावना के साथ यथाशक्ति प्रवृत्ति भी हितकारी है। मक्कार लोग कोरी भावना का प्रदर्शन कर स्व तथा पर को ठगते हैं।

नेमिसागर महाराज के विचार

सन् १९५८ के व्रतों में १०८ नेमिसागर महाराज के लगभग दस हजार उपवास पूर्ण हुए थे और चौदह सौ बावन गणधर सम्बन्धी उपवास करने की नवीन प्रतिज्ञा उन्होंने ली,

उस समय मैंने उनसे लोकहित को लक्ष्यकर पूछा- "महाराज! लगभग दस हजार उपवास करने रूप अनुपम तथा लोकोत्तर तपःसाधना करने से आपके विशुद्ध हृदय में भारत देश का भविष्य कैसा नजर आता है ? देश अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुष्काल, अन्नाभाव आदि के कष्टों का अनुभव कर रहा है। आपका हृदय इस विपत्ति-मालिका से मुक्ति पाने का क्या उपाय बताता है ?"

विपत्ति से छूटने का उपाय

महाराज नेमिसागरजी ने कहा- "जब भारत पराधीन था, उस समय की अपेक्षा स्वतन्त्र भारत में जीववध, मांसाहार आदि तामसिक कार्य बड़े वेग से बढ़ रहे हैं। इनका ही दुष्परिणाम अनेक कष्टों का आविर्भाव तथा उनकी वृद्धि है।"

आचार्यश्री का कथन

आचार्य महाराज सदा कहा करते थे- "मांसाहार, जीवहिंसा, अतिलोभ, व्यभिचार-वृद्धि, विलासिता के साधनों की प्रचुरता के द्वारा कभी भी आनन्द नहीं मिल सकता है। भारतीय शासन यदि प्रजा को सुखी देखना चाहता है, तो उसका पाप-कार्यों से विमुख होना जरूरी है। हिरण, बन्दर, मछली आदि जीवों की हत्या के कार्यों में राजसत्ता द्वारा उद्योग किया जाना सब संकटों का बीज है।"

"व्यक्तिगत पापाचारों को पूर्णरूप से रोकना सहज नहीं है, किन्तु शासन-सत्ता सहज ही अपने पाप-व्यवसायों को रोककर अहिंसामूलक प्रवृत्तियों को प्रश्रय प्रदान कर सकती है, यदि भारत के कर्णधारों ने अपना ढङ्ग-रङ्ग न बदला, तो देश उत्तरोत्तर अधिक संकटग्रस्त होगा।"

ये बहुमूल्य अनुभव ७७ वर्ष की अवस्था वाले मुनिराज ने हमें सुनाये थे। उनके कथन का औचित्य सूर्यप्रकाश के समान स्पष्ट है। देश में जो सात्विक प्रवृत्तिवाले जीव जीवित हैं, उनका संगठित होकर तामसिक विषमयी प्रवृत्तियों को दूर करने का उद्योग वांछनीय है। पुण्य प्रवृत्तियों के आधार पर ही आनन्द का भवन खड़ा किया जा सकता है।

****

उपयोगी शिक्षा

बुराई अपने आप आती है। उसे दूर करने में उद्योग लगता है। जैसे धन कमाने में परिश्रम करना पड़ता है, पर धन के खोने में कोई कोशिश नहीं करनी पड़ती। दुराचारी बनने में कुछ भी श्रम नहीं लगता, सदाचारी बनने के लिए आत्मा में शक्ति चाहिए। बुजदिल, डरपोक व्यक्ति ही इन्द्रियों की गुलामी करते हैं।

-पृष्ठ-५०२, आचार्य नेमिसागरजी उवाच

आचार्य श्री पायसागरजी महाराज

कोल्हापुर से हम १०८ आचार्य पायसागर महाराज का दर्शन करने स्तवनिधि गए। पायसागर महाराज से हमने आचार्य महाराज के विषय में कुछ बातें बताने की प्रार्थना की।

आचार्य महाराज की विशेषता

श्री पायसागर महाराज ने कहा-"आचार्य महाराज की मुझ पर अनंत कृपा रही। उनके आत्म-प्रेम ने हमारा उद्धार कर दिया। महाराज की विशेषता थी कि वे दूसरे ज्ञानी तथा तपस्वी के योग्य सम्मान का ध्यान रखते थे। एक बार मैं महाराज के दर्शनार्थ दहीगांव के निकट पहुँचा। मैंने भक्ति तथा विनयपूर्वक उनको प्रणाम किया। महाराज ने प्रतिवंदना की।" मैंने कहा-"महाराज मैं प्रतिवंदना के योग्य नहीं हूँ।"

महाराज बोले-"पायसागर चुप रहो। तुम्हें अयोग्य कौन कहता है ? मैं तुम्हारे हृदय को जानता हूँ।" महाराज के अपार प्रेम के कारण मेरा हृदय शल्यरहित हो गया। मेरे गुरु का मुझ पर अपार विश्वास था।

असली प्रायश्चित्त

मैंने कहा-"बहुत वर्षों से गुरुदेव आपका दर्शन नहीं मिला। मैं आपके चरणों में आत्मशुद्धि के लिए आया हूँ। मैं अपने को दोषी मानता हूँ। मैं अज्ञानी हूँ। गुरुदेव, आपसे प्रायश्चित्त की प्रार्थना करता हूँ।"

महाराज ने कहा-"पायसागर ! चुप रहो। हमें सब मालूम है। तुमको प्रायश्चित्त देने की जरूरत नहीं है। आज का समाज विपरीत है। तू अज्ञानी नहीं है। तुझे अयोग्य कौन कहता है। मैं तेरे को कोई प्रायश्चित्त नहीं देता हूँ। प्रायश्चित्त को नहीं भूलना, यही प्रायश्चित्त है।"

आचार्यश्री की चेतावनी

जब आचार्य महाराज से अंतिम विदाई होने लगी, तब महाराज ने कहा-"पायसागर ! बहुत होशयारी से चलना। स्व-स्वरूप में जागृत रहना।"

उन्होंने यह भी कहा था-"दुनिया कुछ भी कहती रहे, तू तो योग-निद्रा में लीन रहना।"

जीवन-सुधार का अपूर्व उदाहरण

पायसागरजी के एक निकट स्नेही सज्जन ने बताया कि पहले ये ही महाशय जिनधर्म

की निन्दा किया करते थे। कहा करते थे-"मुनि पशुतुल्य नग्न विचरते हैं। पत्थर की मूर्ति पर दूध डालना महामूर्खता है। जैन लोग महाअज्ञानी हैं।" इनका भाव मिथ्या-तापसी बनने का था, किन्तु गौकाक में आचार्य महाराज के दर्शनमात्र ने इस जीव के जीवन में चमत्कारिक परिवर्तन करा दिया। जीवन के परिवर्तन का पायसागर महाराज सदृश उदाहरण मिलना भी दुर्लभ है।

अद्भुत अभिनेता

पहले पायसागरजी के कन्नड़ी भाषा के रसपूर्ण गीतों का अर्थ न समझते हुए भी कोल्हापुर नरेश शाहू महाराज रात-रात भर जागकर इनके गायन की स्वरलहरी से मस्त हुआ करते थे। उनका संगीत अद्भुत रसपूर्ण रहता था। यथार्थ में वे उस समय मोह की महिमा का प्रसार कर रहे थे। वे ही साधु बनकर जिनधर्म की महिमा के अपूर्व प्रचारक बन गए। अन्धकारमय जीवन आध्यात्मिक ज्योति से जगमगा उठा। पायसागरजी को दिगम्बर मुनिरूप में देखकर पुरानी अवस्था से तुलना करने वाला आश्चर्य के सिन्धु में डूबे बिना नहीं रहता था। पहली अवस्था में यही व्यक्ति ओवरकोट-पेंट पहने, टोप, टाई से अलंकृत, सिगरेट मुँह में दबाए हुए, अंग्रेजी प्रभावापन्न थे और आज दिगम्बर साधुराज के रूप में धर्म की देशना देते हैं। इतना अवश्य है कि पहले भी इनकी रुचि अध्यात्म शास्त्र की ओर ही थी।

महान् कलाकार

पायसागर महाराज महान् कलाकार थे। वे मुनि बन गए थे, फिर भी उनमें पूर्व की अभिव्यक्ति की कला मोक्षमार्ग के अभिनेता के रूप में दृष्टिगोचर होती थी। भाषण देते समय पायसागर महाराज अपनी वाणी, हस्त, मुखादि की चेष्टाओं द्वारा जब पदार्थ का निरूपण करते थे, उस समय श्रोतागण अत्यन्त शांतभावपूर्वक उपदेशामृत को पीते जाते थे। वे मन्त्रमुग्ध सरीखे हो जाते थे। कहावत है- "मूल स्वभाव जाई ना"- मूल स्वभाव नहीं जाता। इस नियमानुसार पायसागरजी में कुछ विलक्षणता थी। अब उनकी समस्त प्रवृत्तियाँ वीतराग रस को उद्दीपनता प्रदान करती थीं। तत्त्व प्रतिपादन के अनुरूप उनकी चेष्टा भी हुआ करती थी।

अपूर्व अभिनय

मुनि आदिसागर महाराज ने बताया था कि "पायसागरजी की गृहस्थावस्था अद्भुत थी। उनका अभिनय अपूर्व होता था। यदि कभी वे रङ्गमञ्च पर आकर इधर से उधर एक बार भी जाते थे, तो प्रेक्षकवर्ग हँसते-हँसते थक जाता था।"

पत्रों के महत्वपूर्ण अंश

उनके पत्र अनुभवपूर्ण रहते थे। उनके पत्रों में से कुछ के अंश यहाँ कहते हैं :

१. सुविद्वानों की कलह में दुःख की वृद्धि है व कुविद्वानों के संगठन द्वारा पाप-कलहादि की वृद्धि होकर राष्ट्र का अकल्याण होता है।

२. वर्षाकाल में पुष्पों पर विपुल जल डालने की अपेक्षा, ग्रीष्मकाल में अल्पजल का सिंचन करना विशेष महत्वपूर्ण है।

३. आज के निकृष्ट काल में सद्धर्म का पालन करना बड़ी बात है।

४. समृद्धि में दान देने का उतना महत्व नहीं है, जितना दारिद्र्य में थोड़ा भी दान देना गौरवपूर्ण है।

५. आज भगवान् जिनेन्द्र के पवित्र धर्म को बड़ों-बड़ों ने छोड़ दिया है। जैन थोड़े हैं। सम्यक्त्वी और थोड़े हैं, इससे हम संघटन की अपेक्षा दरिद्री हो गए हैं। ऐसी स्थिति में धर्म-वृक्ष के लिए वात्सल्य पूर्वक एक लोटा जल डालने सदृश थोड़ी सी सहायता महत्वपूर्ण है।

आचार्य पद त्याग

जब १०८ पूज्य पायसागर महाराज अशक्त हो गए, तब उन्होंने अपना आचार्य पद १०८ मुनि अनंतकीर्ति महाराज को प्रदान किया था।

आनंदाश्रुओं का प्रवाह

कई बार ये आत्मरस में मग्न हो भाषण देते जाते थे। नेत्रों से आनंद की अश्रुधारा बहती जाती थी। श्रोता लोग भी आनंदरस में डूब जाते थे। उनके भी नेत्रों से वह आनंदपूर्ण अश्रुधारा निकल पड़ती थी। ऐसे अलौकिक वक्ता का जीवन में कहीं भी दर्शन नहीं हुआ।

आत्मनिन्दा

पूर्व में सेवन किए गए दुर्व्यसनों के फलस्वरूप उनका शरीर रोगों का केन्द्र बन गया था। उस सम्बन्ध में वे कहा करते थे- "मैंने जो कर्म किए हैं, उनका फल मुझे ही भोगना पड़ेगा। उसकी कोई औषधि नहीं है।"

पाप क्षय के उपाय

पापक्षय के उपाय हैं आत्मस्वरूप का चिंतवन करना, ज्योतिर्मय जिनेन्द्र की भक्ति करना तथा अपने स्वरूप को ध्यान में रखना। "सूर्योदय द्वारा जिस प्रकार अंधकार दूर होता है, उसी प्रकार जिनेन्द्र स्मरण तथा आत्मदेव के प्रकाश द्वारा मोह तथा विपत्ति का अंधकार नष्ट होता है। जागृत रहकर सदा आत्मकल्याणार्थ उद्योग करते रहना चाहिए।"

मृत्यु की पूर्व सूचना

पायसागर महाराज कहते थे- "मेरा समय अब अति समीप है। मैं कब चला जाऊँगा, यह तुम लोगों को पता भी नहीं चलेगा।" हुआ भी ऐसा ही। प्रभातकाल में वे अध्यात्मप्रेमी

साधुराज ध्यान करने बैठे। ध्यान में वे निमग्न थे। करीब ७.३० बजे लोगों ने देखा, तो ज्ञात हुआ कि महान् ज्ञानी, आध्यात्मिक योगीश्वर पायसागर महाराज इस क्षेत्र से चले गए। पक्षी पिंजड़ा छोड़कर उड़ गया। वास्तव में उन्होंने लोहतुल्य जीवन को स्वर्णरूपता प्रदान कर दिव्य पद प्राप्त किया।

आचार्यश्री के विषय में उद्‌गार

आचार्य महाराज में उनकी अपार भक्ति थी। वे कहते थे-"मेरे गुरु चले गये। मेरे प्रकाशदाता चले गये। मेरी आत्मा की सुध लेने वाले गए। मेरे दोषों का शोधन करके उपगूहनपूर्वक विशुद्ध बनाने वाली वंदनीय विभूति चली गई। मेरे धर्म पिता गए। मुझे भी उनके मार्ग पर जाना है।"उनकी समाधि की स्मृति में उन्होंने गेहूँ का त्याग उसी दिन से कर दिया था। उसके पश्चात् उन्होंने जङ्गल में ही निवास प्रारम्भ कर दिया था। वे नगर में पाँच दिन से अधिक नहीं रहते थे। उनकी दृष्टि में बहुत विशुद्धता उत्पन्न हो गयी थी।

आत्म-प्रभावना

वे कहते थे-"अब तक मेरी बाहरी प्रभावना खूब हो चुकी। मैं इसे देख चुका। इसमें कोई आनन्द नहीं है। मुझे अपनी आत्मा की सच्ची प्रभावना करनी है। आत्मा की प्रभावना रत्नत्रय की ज़्योति के द्वारा होती है। इस कारण मैं इस पहाड़ी पर आया हूँ। मैं अब एकान्त चाहता हूँ!"

आत्म-परिवार

अपने आत्म-परिवार के साथ मैं अब एकान्त में रहना चाहता हूँ। शील, संयम, दया, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्यादि मेरी आत्म-परिवार की विभूतियाँ हैं। मैं उनके साथ खेल खेलना चाहता हूँ। इससे मैं असली आनन्द का अमृतपान करूँगा। मैं कर्मो का बन्धन नहीं करना चाहता।

गुणों की दीवाली

"मैं आत्मगुणों की दीवाली मनाना चाहता हूँ तथा कर्मों की होली करना चाहता हूँ। कर्मों के ध्वंस करने का मेरा अटल और अचल निश्चय है।"

आलंद में इनका चातुर्मास नगर के भीतर न होकर बाहर हुआ था। पहले उनके आहार के उपरान्त भक्त श्रावकगण बाजे-गाजे आदि के द्वारा अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए प्रभावना करते थे। अब पायसागर महाराज ने ये सब बातें बन्द करवा दी। आचार्य महाराज की समाधि के पश्चात् उनकी जीवनदृष्टि में विलक्षण परिवर्तन हो गया था। ऐसा दिखता था कि अब पायसागर महाराज आत्मशुद्धि के पथ पर वेग से बढ़ते जा रहे थे। उनका मन वीतरागता के रस में निरन्तर निमग्न रहता था।

समाधि की तैयारी की दृष्टि से उन्होंने ज्वारी की अंबिल लेना शुरू कर दिया था। दूध, दही, शक्कर आदि सभी रसों का परित्याग कर दिया था। शरीर के रोगी रहने से घी मात्र नहीं छोड़ा था। यह क्रम पन्द्रह माह पर्यन्त चलता रहा। वे कहते थे- ''अब मु झे अपने जीवन के एक-एक क्षण का उपयोग समाधि के लिए उपयोगी सामग्री के संचय में लगाना है।''

अद्‌भुत समाधान

उनसे तत्त्वचर्चा में बहुत आनन्द मिलता था। सदा जैनधर्म के अनुपम रहस्यों की चर्चा चला करती थी।

एक दिन किसी ने पूछा- ''महाराज ! कोई व्यक्ति निर्ग्रन्थ मुद्रा को धारण करके उसके गौरव को भूलकर यदि अकार्य करता है, तो उसको आहार देना चाहिए या नहीं ?''

उन्होंने कहा- ''आगम का वाक्य है, कि **भुक्तिमात्र-प्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनाम्**-अरे ! दो ग्रास भोजन देते समय साधु की क्या परीक्षा करना ? उसको आहार देना चाहिए। बेचारा कर्मोदयवश प्रमत्तबनकर विपरीत प्रवृत्ति कर रहा है। उसका न तिरस्कार और न पुरस्कार ही करें। भक्तिपूर्वक ऐसे व्यक्ति की सेवा नहीं करना चाहिए।''

अपनी समाधि के विषय में

अपने समाधि के बारे मे वे बहुधा कहते थे, ''मेरी परलोक-यात्रा समाधिपूर्वक, इस प्रकार की होगी कि किसी को भी पता नहीं चल पायेगा। मैं अपने विषय में पूर्ण सावधान हूँ।''उनकी वाणी अक्षरश सत्य हुई। आश्विन वदी अमावस्या, सन् १९५८ में वे स्वर्गवासी हो गए।

वे आत्मजागरण तथा उपयोग शुद्धि के लिए आत्मा को प्रबोध प्रदान करने वाले थे। वे मंत्रों तथा आगम के वाक्यों का सदा उच्चारण किया करते थे। अपनी अखण्ड शांति तथा आनन्द की धारा को आघात न पहुँचे, इसलिए वे समीपवर्ती शिष्य मण्डली को भी अपने पास आने का निषेध करते थे।

आत्मयोगी की अपूर्व चर्या

उनकी आत्म-निमग्नता, आत्म-विचार तथा तत्त्व-चिंतन आदि अद्‌भुत थे। चलते-चलते वे एकदम रुक जाते थे, पैर नहीं बढ़ते थे। वे ध्यान मे खडे रहते थे। कभी-कभी ऐसा होता था कि वे शौच के लिए रवाना हुए, किन्तु मार्ग में रुककर खडे हो जाते। लोग देखते थे कि महाराज तो आत्मध्यान में निमग्न हैं। किसी निर्धन को यदि चिंतामणि रत्न मिल जाय, तो वह उस रत्न को बड़े प्रेम, आदर तथा ममता से बार-बार देखकर हर्ष प्राप्त करता है। इसी प्रकार आत्मयोगी पायसागर महाराज विश्व में अनुपम आत्मनिधि को प्राप्त कर जहाँ चाहे वहाँ, जब चाहे तब, उसका दर्शन करते थे, आनंद प्राप्त करते

थे। समाधि द्वारा ब्रह्मदर्शन करने वाले योगियों के समान पायसागर महाराज की अवस्था हो रही थी। विषयों की निस्सारता का उन्होंने स्वयं आवश्यकता से अधिक अनुभव कर लिया था, इससे उनका हृदय विषयसुखों से पूर्ण विरक्त हो चुका था। वह उस ओर न जाकर सदा अपनी ओर ही उन्मुख रहता था।

उनकी अवस्था देखकर रत्नाकर कविरचित भरतेश वैभव में वर्णित चक्रवर्ती भरत महाराज का चित्रण सहज ही नेत्रों के समक्ष आ जाता था। भोगी के समक्ष सदा विषयों का नृत्य होता रहता है। आत्मयोगी की अवस्था निराली होती है। वह सदा आत्मनिधि के सौन्दर्य को देखकर हर्ष प्राप्त करता है।

निरन्तर आत्मचिन्तन

आत्मध्यान में वे इतने निमग्न रहते थे कि उनको समय का भान नहीं रहता था। कभी-कभी चर्या का समय हो जाने पर भी वे ध्यान में मस्त बैठे रहते थे। उस समय कुटी की खिड़की से कहना पड़ता था कि आपकी चर्या का समय हो गया। इस अवस्था वाले पायसागर महाराज के चित्र से क्या पूर्व के व्यसनी नाटकी रामचन्द्र गोगाककर के जीवन की तुलना हो सकती है ? जिस प्रकार राहु और चन्द्र में तुलना असम्भव है, इसी प्रकार उनके पूर्व जीवन तथा वर्तमान में रञ्चमात्र भी साम्य नहीं था। तप, स्वाध्याय तथा ध्यान के द्वारा उनका जीवन सुवर्ण के समान मोहक बन गया था।

विलक्षण योगी

उनकी विलक्षण अवस्था का वर्णन सुनकर लोगों की समझ में नहीं आयेगा, किन्तु हमने तो प्रत्यक्ष देखा है कि आहार करते-करते कभी-कभी वे चुप खड़े हो जाते थे। वे भूल जाते थे कि उनको आहार करना है। उस अवस्था में कहना पड़ता था-"महाराज ! आपको आहार लेना है", तब उनका ध्यान बदलता था।

चेतावनी

आहार के समय कभी-कभी कुछ हल्ला हो जाता था, तो आहार के उपरांत कहते थे-"तुम मेरे आत्मविचार में क्यों विघ्न डालते हो ? थोड़ा-सा भोजन देकर मेरी आत्म-निमग्नता को क्यों बाधा देते हो ? यदि तुमने शांति नहीं रखी, तो मुझे तुम्हारी रोटी की परवाह नहीं है। मुझे अपनी आत्मा का कल्याण करना है। याद रखो, मैं शरीर का दास नहीं हूँ। शरीर मेरा नहीं है। मैं क्यों उसकी दासता करता फिरूं ?"

स्वोपकारी

उन्होंने अपना आचार्यपद अनन्तकीर्ति मुनि महाराज को दे दिया था, अतः अब तो वे साधु परमेष्ठी हो गए थे। इससे उन्होंने अपने शिष्यों को कह दिया था कि-"तुम्हें स्वयं

अपना कल्याण करना है। अब मैं तुम्हारे लिए अपना समय नहीं दे सकता। मैं अपनी आत्मसाधना के कार्य को नहीं छोड़ सकता। **परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव**। परोपकार की स्थिति को छोड़कर अपनी आत्मा का हित साधन कर, ऐसी आगम की आज्ञा की ओर उनका ध्यान था।''

मेरा भगवान् मेरे पास है

वे कहते थे-''इतने दिन तो परोपकार किया। उपदेश दिया। धर्म प्रभावना के कार्य किए। अब मुझे दूसरी जगह जाना है। अब अपनी तैयारी करना है। अब तुम्हारी फिकर करने के लिए मेरे पास समय नहीं है। मैं तुम्हें समझाऊँ भी क्या ? तुम भी स्वयं समर्थ हो। तुमको भी अपनी आत्मा से प्रकाश प्राप्त करना चाहिए। बाहरी प्रकाश की जरूरत नहीं है। कम से कम मुझे तो बाहरी वस्तु की जरूरत नहीं है। मेरे पास तो मेरी निधि है, मेरा भंडार है। मेरा जीवन सर्वस्व है। मेरा भगवान् है।''

स्वास्थ्य-वार्ता

कभी लोग पूछते थे-''महाराज ! आपका शरीर-स्वास्थ्य कैसा है ?

वे कहते थे-''इस चिररोगी शरीर की कथा क्या पूछते हो ? मेरी आत्मा के स्वास्थ्य की, कुशलता की, प्रसन्नता की बात क्यों नहीं करते हो ? मैं स्वस्थ हूँ, मैं निरोग हूँ, मैं आनन्दमग्न हूँ। शरीर सरोग है या निरोग है, मैं चैतन्यमयी आत्मा इस बात की क्यों चिन्ता करता फिरूँ, शरीर-शरीर है, पुद्गल है, वह अपने गुणधर्म के अनुसार परिवर्तन का खेल दिखाता है। मैं शरीर नहीं हूँ तथा शरीर का सेवक भी नहीं हूँ। मैं अपने स्वरूप का स्वामी हूँ। इस सडे शरीर की क्यों गुलामी करूँ ?''

आत्मध्यान-औषधि

उनकी आत्म-दृष्टि बहुत उज्ज्वल होती जा रही थी। उस स्वरस में निमग्न होकर उन्होंने कहा-''मैंने औषधिमात्र का त्याग कर दिया है। अब मेरे अंतः बाह्य सभी रोगों की दवा आत्मा का ध्यान है। इस दवा से आत्मा पुष्ट होती है और अनादिबद्ध पुण्य-पाप सभी प्रकार के विकारों का क्षय होकर आत्मा चिरंतन स्वास्थ्य को प्राप्त करती हुई अविनाशी निरोगता को प्राप्त करती है।''

उनके भाई चंदप्पा जिनप्पा डोंगरे उनके पास आकर कहने लगे-''अब आपका शरीर संभाषण के योग्य नहीं है। शरीर का ख्याल कर मौन लेना ठीक होगा। अब दूसरों को उपदेश देने की शक्ति आपके शरीर में शेष नहीं है।''

मेरी सम्पत्ति

पायसागर महाराज ने कहा-''तुम्हारी बात बड़ी विचित्र है। तुम सब काम को छोड़कर

धन-सम्पादन के हेतु कष्ट उठाते हो। ग्राहकी चलने पर तुम अपने शरीर की भी चिन्ता नहीं करते हो। मेरा भी व्यापार है। भव्य जीवों का कल्याण मेरी ग्राहकी है। उनको मोक्ष मार्ग में लगाना मेरी कमाई है, मेरी सम्पत्ति है, मेरी विभूति है। मेरी दुकान के विषय में मुझे विपरीत उपदेश क्यों देते हो ? मैं अपनी मोक्षमार्ग की देशना को बन्द नहीं कर सकता। आँखे बन्द होते-होते भी मैं सर्वज्ञ-वीतराग जिनेन्द्र के शासन की चर्चा नहीं छोड़ूंगा। यह जिनेन्द्र की वाणी का मंगलमय रस समस्त संकटों और व्याधियों का विनाश करता है। मंगलोत्तम शरणभूत जिनेन्द्र की चर्चा इस जीवन के सिवाय मेरे आगामी जीवन के लिए रसायन रूप है। इससे मेरी आत्मा को पोषण प्राप्त होता है। मैं तुम्हारे व्यापार में बाधा नहीं डालता, तुम मेरे व्यापार में क्यों विघ्न करते हो ? तुमको मेरे बीच में नहीं पड़ना चाहिए।''

गुरुदेव की पावन स्मृति

आचार्य महाराज के प्रति उनकी बड़ी भक्ति थी। उनका उपकार वे सदा स्मरण करते थे। प्रायः उनके मुख से ये शब्द निकलते थे, ''मैंने कितने पाप किए ? कौन सा व्यसन सेवन नहीं किया ? मैं महापापी न जाने कहाँ जाता ? मैं तो पापसागर था। रसातल में ही मेरे लिए स्थान था। मैं वहाँ ही समा जाता। मेरे गुरुदेव ने पायसागर बनाकर मेरा उद्धार कर दिया।''ऐसा कहते-कहते उनके नेत्रों में अश्रु आ जाते थे।

सच्चे गुरु की सच्ची भक्ति

उनके हृदय में गुरु की सच्ची भक्ति थी, सच्चे गुरु की भक्ति थी, सच्चे गुरु की सच्ची भक्ति थी। इससे जैसे गुरुदेव''ॐ सिद्धाय नमः''शब्द कहते-कहते परलोक गए, इसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र के पुण्य वातावरण में आत्मचिन्तन करते हुए ये मनस्वी साधु भी स्वर्गवासी हुए। पायसागर महाराज अध्यात्म रस से पूर्ण क्षीरसागर सदृश थे, उनका जीवन समुज्ज्वल आलोकमय था। वे असाधारण तथा लोकोत्तर संतशिरोमणि थे।

****

अद्भुत समाधान

एक दिन किसी ने पूछा-''महाराज! कोई व्यक्ति निर्ग्रन्थ मुद्रा को धारण करके उसके गौरव को भूलकर यदि अकार्य करता है, तो उसको आहार देना चाहिए या नहीं ?''

उन्होंने कहा-''आगम का वाक्य है, कि भुक्तिमात्र-प्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनाम्-अरे! दो ग्रास भोजन देते समय साधु की क्या परीक्षा करना ? उसको आहार देना चाहिए। बेचारा कर्मोदयवश प्रमत्तबनकर विपरीत प्रवृत्ति कर रहा है। उसका न तिरस्कार और न पुरस्कार ही करें। भक्तिपूर्वक ऐसे व्यक्ति की सेवा नहीं करना चाहिए।''

-पृष्ठ-५११, आचार्य पायसागरजी उवाच

आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज

आचार्य महाराज के स्वर्गवास के पश्चात्, पूर्व में उनके समीप बहुत समय व्यतीत करने वाले मुनिराज १०८ धर्मसागर महाराज का चातुर्मास जबलपुर के निकट बरगी ग्राम में हो रहा था। २४ नवम्बर, सन् १९५५ को मैं उनके पास पहुँचा। वे सामायिक में निमग्न थे। उनकी भव्य, शांत तथा तेजोमय ध्यानमुद्रा मन को अति मधुर तथा आकर्षक लगी। सच्ची सामायिक तो सम्पूर्ण परिग्रहरहित दिगम्बर गुरु के होती है। गृहस्थ के पास साधु की निराकुलता और विशुद्धता स्वप्न में भी असम्भव है।

सामायिक का रहस्य

सामायिक पूर्ण होने के उपरान्त मैंने महाराज को नमोस्तु कहा। उनका पवित्र आशीर्वाद मिला। मैंने पूछा-''महाराज ! आप सामायिक के समय क्या चिन्तवन कर रहे थे ?''

उन्होंने कहा-''हम कुछ नहीं करते थे। राग और द्वेष छोड़कर चुपचाप शांत बैठे थे। इसके सिवाय सामायिक और है क्या ? वास्तव में राग-द्वेष-मूलक आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान के परित्याग को परमागम में सामायिक कहा गया है। स्व. आचार्य महाराज भी आत्मचिन्तवन के लिए वचनालाप छोड़कर शांतचित्त हो चुप बैठने के लिए कहते थे।''

स्वर्गवाससूचक स्वप्न

मैंने कुन्थलगिरि की सल्लेखना का सब वृत्तान्त उन्हें सुनाया। उन्होंने कहा-''आचार्य महाराज का १८ सितम्बर सन् १९५५ के प्रभात में स्वर्गवास हुआ था। उसी दिन प्रभात में हमें भी एक स्वप्न आया था। उससे हमने सोचा था कि महाराज अब सम्भवतः स्वर्गवासी हो गये होंगे।''

मैंने आग्रहपूर्वक स्वप्न का हाल पूछा, तब उन्होंने इस प्रकार कहा-''आचार्य महाराज के स्वर्गारोहण की रात्रि के अंतिम प्रहर में हमें एक अर्थी (शव) दिखायी दी। वह आकाश से हमारे पास आ रही थी । उसके समीप आने पर हमने कहा '**णमो अरिहंताणं**' पढ़ो। उत्तर में हमें भी '**णमो अरिहंताणं**' की ध्वनि सुनाई पड़ी। कुछ काल के पश्चात् वह अरथी अदृश्य हो गई।''

धर्मसागर महाराज ने यह भी बताया था-''स्वर्गवास के आठ दिन पूर्व स्वप्न में आचार्य महाराज दिखे थे। उनके साथ में वर्धमानसागरजी तथा पायसागरजी भी थे।''

भट्टारक जिनसेन जी के सत्य स्वप्न

मैंने कहा-"भट्टारक जिनसेन स्वामी कोल्हापुर को ७ जुलाई, १९५३ को सबेरे पाँच बजे ऐसा स्वप्न आया था कि आचार्य महाराज आगामी तीसरे भव में तीर्थङ्कर होंगे।"

इस सम्बन्ध में धर्मसागर महाराज ने कहा-"भट्टारक जिनसेन के स्वप्न सच्चे देखे गए हैं। स्व. आचार्य श्री ने भी उक्त भट्टारकजी के स्वप्नों की प्रामाणिकता प्रतिपादित की थी।"

अभक्ष्य सेवन

आजकल प्रायः शुद्ध आचार तथा विचार में सर्वत्र शिथिलता नजर आती है ।

एक जैन प्रोफेसर ने कहा था-"लोकोपकारी व्यक्ति यदि अमेरिका के उत्तर भाग में चला जाय, जहाँ का प्रदेश हिमाच्छादित है तथा हिमाच्छादित होने से जहाँ वनस्पति नहीं मिल सकती है, वहाँ उस मनुष्य को मांस खाकर अपना निर्वाह करने में जैन सिद्धान्त में बाधा नहीं आती।"

मैंने यह चर्चा धर्मसागर महाराज के समक्ष चलाई, तो उन्होंने सूत्र रूप में यह मार्मिक उत्तर दिया था-"अभक्ष्य खाकर जीने की अपेक्षा मरना अच्छा है।"

हमारे पिताश्री को संदेश

धर्मसागर महाराज से पिताजी के स्वास्थ्य की चर्चा आई। वे उनकी अत्यन्त वृद्ध देहस्थिति को दो वर्ष पूर्व सिवनी में हमारे यहाँ पधारकर स्वयं देख चुके थे, अतएव उन्होंने पिताश्री सिंघई कुँवरसेनजी के लिए यह महत्वपूर्ण तथा कल्याणकारी संदेश दिया था, **"उनको कहना कि प्राण जाते पर्यन्त अरहंत नाम निरन्तर जपना, ऐसा महाराज ने कहा है।"** गुरु का आशीर्वाद सफल हुआ। २४ मार्च, १९६० को पिताजी की अपूर्व तथा उच्च समाधि हो गई। हमारे अनुज अभिनंदन कुमार दिवाकर (एडवोकेट) से भक्तामर, सहस्रनाम पाठ सुनते हुए शांतभावपूर्वक उनका स्वर्गारोहण हुआ।

आकर्षण

१०८ धर्मसागर मुनि महाराज ने आचार्यश्री का संस्मरण सुनाते हुए कहा था-"मैं उस समय छोटा था। मैंने महाराज के "यरनाल" में दर्शन किए थे। वे ऐलक थे। यरनाल में उनकी मुनिदीक्षा हुई थी। बाद में महाराज का कोन्नूर में चातुर्मास हुआ था।

वह स्थान हमारे गाँव पाच्छापुर से दस मील पर था। रविवार को हमारे स्कूल की छुट्टी रहती थी। उस दिन हम दस मील दौड़ते हुए महाराज के पास कोन्नूर जाया करते थे। उनके दर्शन के उपरान्त शाम को लौटकर घर वापिस आते थे। महाराज के जीवने का आकर्षण इतना था कि उस समय बीस मील का आना-जाना कष्टप्रद नहीं लगता था।"

चारित्र पर उपदेश

"वहाँ आचार्य महाराज कन्नड़ी भाषा में चारित्र पर उपदेश देते थे। शास्त्र स्वाध्याय खूब करते थे। शास्त्रानुसार उन्होंने अपने जीवन में बहुत परिवर्तन किया था। शुद्ध चरित्रधारी निर्ग्रन्थ साधु होने के कारण उनका प्रभाव वेग से वर्धमान हो रहा था।"

महाराज के जीवन पर प्रकाश

"उस समय नेमण्णा (मुनि नेमिसागर महाराज) गृहस्थ थे। वे शास्त्र पढ़ते थे और आचार्य महाराज उसे स्पष्ट रूप से समझाते थे। उस समय महाराज अष्टमी, चतुर्दशी को मौन व्रत धारण किया करते थे। उस मौन की अवस्था में उनकी जाँघ पर एक सर्प चढ़ा था। महाराज उस समय स्थिर थे।"

धर्मसागर महाराज के विचार

"हमारे मन में प्रारम्भ से ही ब्रह्मचारी रहने के भाव थे। इस कारण हम शांतिसागर महाराज के समीप बहुत बार जाया करते थे।"

"पहले महाराज ने मुझे शादी होने पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत दिया था। पश्चात् सन् १९२८ में शिखरजी पहुँचकर उन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत जीवन भर को दिया। उन्होंने मुझे क्षुल्लक दीक्षा दी। दस वर्ष के पश्चात् मैं ऐलक बना। दो वर्ष ऐलक रहने के पश्चात् महाराज ने मुझे निर्ग्रंथ दीक्षा दी। मेरी दीक्षा के सर्व संस्कार महाराज ने ही अपने हाथ से किए थे।"

मधुर वाणी

उन्होंने यह भी बताया-"दिल्ली में आचार्यश्री का चातुर्मास हुआ था। उस समय मुझे महाराज के समीप १८ वर्ष रहने का सौभाग्य मिला था। उनकी धर्म में प्रगाढ़ निष्ठा थी। धर्म विरुद्ध बात को वे सहन नहीं करते थे । वे शिष्यों को कठोर शब्द कभी भी नहीं कहते थे। मधुर वाणी से वे समझाया करते थे या मौन रहते थे।"

श्रवणबेलगोला की यात्रा

सन् १९२४ में आचार्य महाराज गोकाक से श्रवणबेलगोला गए थे। वे श्रवणबेलगोला में १५ दिन ठहरे थे। वहाँ के मठ के स्वामी भट्टारकजी के यहाँ आहार की विधि लगती थी, किन्तु आचार्य महाराज वहाँ आहार नहीं लेते थे । महाराज कहते थे-"मठ का अन्न ठीक नहीं है। वहाँ का धन प्रायश्चित्, दण्ड आदि द्वारा प्राप्त होता है। निर्माल्य धन नहीं लेना चाहिए।"

पंडित (उपाध्याय) के यहाँ भी महाराज आहार को नहीं जाते थे।

वे चन्द्रगिरि पर्वत पर एक प्राचीन मन्दिर में रहते थे। उसके पास ही भद्रबाहु श्रुतकेवली

की गुफा है।

महाराज का विशेष प्रभाव

जब मैंने धर्मसागर महाराज से पूछा कि- "आपके अनुभव में महाराज के जीवन की कोई सातिशय प्रभाव को बताने वाली घटना आई होगी ?"

तब वे कहने लगे- "संघ में एक स्त्री रहती थी । उसका चार वर्ष का बच्चा पानी में डूब गया। वह स्त्री बच्चे को खोजने लगी। लोगों ने खोजकर बच्चे का पता चलाया। उस बच्चे का बचना असम्भव था। महाराज के प्रभाव से बालक अच्छा हो गया। मैंने देखा कि महाराज के संघ के लोगों को कोई कष्ट नहीं होता था।"

गाड़ी लौटने पर बच्चे का रक्षण

उन्होंने एक दूसरी घटना इस प्रकार सुनाई- "हुम्मच पद्मावती क्षेत्र के समीप एक गाड़ी उलट पड़ी। एक वर्ष का बालक गिर पड़ा। उसके पास में कुल्हाड़ी पड़ी थी। वह बालक बाल-बाल बच गया। उस समय चंद्रसागरजी ऐलक थे। वीरसागरजी और नेमिसागरजी निर्ग्रन्थ थे।"

चन्द्रसागरजी का कथन

उस यात्रा की एक घटना धर्मसागर महाराज ने इस प्रकार सुनाई,एक विधवा स्त्री को पान खाते देखकर चंद्रसागरजी ने कहा- "विधवा का तांबूल भक्षण शीलव्रत के विरुद्ध है। आचार्य महाराज धन्य पुरुष हैं। इनके पास नियम लेकर तुम अपने को धन्य करो।" इसे सुनते ही उस स्त्री ने आजीवन तांबूल भक्षण का त्याग किया था।

गोरल में मूर्च्छा

धर्मसागर महाराज जब ऐलक थे, तब उनका नाम यशोधर महाराज था। उस वर्ष गोरल में महाराज के साथ उनका चातुर्मास व्यतीत हुआ था। उस समय की घटना का विवरण धर्मसागर महाराज ने इस प्रकार सुनाया था :-

गोरल में हमने शास्त्र पढ़ा। पश्चात् उठकर हम ग्रंथ की नकल करने लगे। श्लोक पूर्ण करने के शेष तीन अक्षर बचे थे कि हमें मूर्च्छा आ गई। गरदन लटक पड़ी। ऐसा लगा कि अब हमारे प्राण जाने की तैयारी कर रहे हैं। कुछ समय बाद वमन हो गया। वमन के बाद हमने मौन ले लिया था।

पश्चात् आचार्य महाराज आए। उन्होंने देखा और कहा- "हमें नहीं मालूम था कि तुम्हारी ऐसी हालत हो गई।" उस प्रसंग पर महाराज ने कहा था- "तुम्हारा मरण लिखते-लिखते होगा और हमारा मरण चलते-चलते होगा।"

आत्मबली धर्मसागर महाराज का धैर्य

"१९५७ में चातुर्मास के पश्चात् धर्मसागर महाराज कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को (वीर संवत् २४८३ में) सिवनी से प्रस्थान कर मुक्तागिरि गए। वहाँ से कुंथलगिरि जाते समय देउळगाँवराजा नामक बस्ती के आगे जंगल में मध्याह्न के समय धर्मसागर महाराज सामायिक में बैठ गए। इमली के वृक्ष की छाया के नीचे ये मुनिराज ध्यान कर रहे थे। इनको पता नहीं था कि इनके सिर से थोड़ी ऊँचाई पर वृक्ष की डाली पर दो सर्प इधर-उधर फिरते हुए क्रीड़ा कर रहे हैं। एक ग्रामीण पथिक की दृष्टि इस दृश्य पर पड़ी। उसने साथ के श्रावकों से कहा कि महाराज के सिर के ऊपर की डाल पर सर्प युगल हैं। लोग चिंता में पड़ गए। कुछ काल व्यतीत होने पर महाराज की सामायिक पूर्ण हुई।"

लोगों ने कहा-"महाराज, आपकी कुटी के ऊपर समीप में दो सर्प फिर रहे हैं। यहाँ से दूसरी जगह बैठ जाइये। महाराज ने लोगों का कहना नहीं सुना और वे दो घंटे वहाँ ही बैठे रहे। १९५७ की भादों सुदी चौथ को नांद्रे जाने के पूर्व धर्मसागर महाराज के पास जब मैं लासुर्ना ग्राम में गया और मैंने सर्प की उक्त चर्चा चलाई, तो वे बोले, "बात तो ठीक सुनी। ऐसा ही हुआ था।"

मैंने पूछा महाराज-"सिर पर यमराज नाचते रहे और वहाँ ही आप रहे आए। इसका क्या कारण है ?" महाराज ने कहा-"इसका क्या भय करना ? वे हमारे शरीर पर तो नहीं थे और यदि शरीर पर भी आ जाते, तो हमारी आत्मा का क्या करते ?" मैंने सोचा आखिर, ये महामना भी तो शांतिसागर महाराज सदृश श्रेष्ठ तपस्वी के शिष्य हैं।

संकल्प पूर्वक त्याग

महाराज ने कहा-"बुद्धिपूर्वक त्याग करने से फल मिलता है। मंदिर जाते हो, वापिस घर आने तक सर्वप्रकार का आहार छोड़ दिया तथा कदाचित् मरण हो गया, तो त्याग में मरण होने से सद्गति मिलेगी। रात्रि भर आहार का त्याग हो और साँप के काटने से स्थिरतापूर्वक मरे, तो समाधि होगी ? अरे ! शरीर तो नाशवान है। इस पर मोहकर तुम इसका लालन-पालन कर रहे हो। यह तुम्हारे साथ जाने वाला नहीं है। इस नाशवान शरीर के पीछे क्यों लग रहे हो ?"गुणभद्र स्वामी ने कहा है-"इस शरीर में आसक्ति करने वाले का उद्धार नहीं होगा। त्याग बुद्धि रखो।"

तोते का त्याग

"एक मिथ्या साधु था। उसने एक बुद्धिमान तोता पाला था। तोते को पिंजरे में रखकर साधु ने राम-राम, विठ्ठल-विठ्ठल सिखलाया था। वहाँ एक जैन ब्रह्मचारी आया। उस साधु ने सोचा कि यह ब्रह्मचारी विद्वान् है, इसलिए उसने कुछ उपदेश देने की प्रार्थना

की।'' ब्रह्मचारीजी ने कहा-''त्याग के द्वारा बंधन से छूट जाओगे।''तोते के कान में शब्द पहुंचे। उसने विचारकर एक घण्टे के लिए आहार-पानी छोड़ दिया। वह मुर्दे के समान हो गया। साधु ने तोते को मृत सदृश समझा, इस लिये पिंजरे का द्वार खोल उसे वृक्ष के नीचे छोड़ दिया। तोता चुपचाप पड़ा रहा। एक घण्टा पूरा होने पर वह तोता उड़ कर झाड़ पर चढ़ गया। वह बन्धन से छूट गया। एक घण्टे के त्याग के द्वारा पराधीनता दूर हो गई। उसने साधु से कहा, ''तुम असली त्याग को पकड़ लोगे, तो तुम्हारा बंधन दूर हो जावेगा। बंधन से छूटकर सच्चा आनन्द पाने के लिए त्याग भाव को अपनाना चाहिए।''

धर्मसागर महाराज की वाणी में माधुर्य था। वे आगम प्राण साधु थे।

****

कोगनोली में सर्पराज का उपसर्ग

''महाराज कोगनोली की गुफा में ध्यान करने बैठे थे। एक सर्प लगभग आठ हाथ लम्बा तथा बड़ा मोटा महाराज के पेट तथा अधोभाग में लिपटा हुआ बैठा था। महाराज गंभीर मुद्रा में अवस्थित थे। सैकड़ों लोगों ने आकर देखा। घंटे भर बाद वह सर्प स्वयमेव चला गया। महाराज का ध्यान पूर्ण हुआ।

उन्होंने उपस्थित लोगों को यह प्रतिज्ञा दिलाई थी कि इस सर्प की बात को जाहिर नहीं करेंगे। लोगों ने अपने प्रतिज्ञा की इतनी मात्र पूर्ति की थी कि उन्होंने यह वर्णन नहीं छपवाया, किन्तु वे इसकी चर्चा को नहीं रोक सके। गुरु की ऐसी अपूर्व तपस्या को देख भला कौन अपना मुख बंद रख सकता था ?''

कोगनोली में सर्प के भीषण उपद्रव की अवस्था में अविचलित तथा प्रसन्नतापूर्ण ध्यान-मुद्रा से महाराज की महिमा का प्रसार दक्षिण में बड़े वेग से हुआ। लोगों की भक्ति भी खूब वृद्धि को प्राप्त हुई।

-पृष्ठ -५२७, मुनिराज श्री आदिसागरजी(शेडवाल) उवाच

पुनः दीक्षा लेने का हेतु

मैंने अनन्तकीर्ति महाराज से पूछा-''जब आपने दीक्षा ले ली थी, तब पुनः दीक्षा लेने का क्या कारण था ?''

उन्होंने कहा-''दीक्षा गुरु पाहिजे-दीक्षा-गुरु होना आवश्यक है।''

-पृष्ठ-५३१, आचार्य अनंतकीर्तिजी उवाच

मुनिराज श्री नमिसागर जी महाराज

जैनधर्म की प्रभावनार्थ किये गये जापान, हांगकांग, सिंगापुर आदि के लम्बे प्रवास से लौटकर आत्मनिर्मलता के हेतु मैं ता. १६ अक्टूबर, १९५६ को कलकत्ता से चलकर संध्या को पारसनाथ (ईसरी) आया। ता. १८ को शिखरजी की वंदना की। अपूर्व शांति मिली। वह चुतर्दशी का पुण्य दिवस था। अन्तःकरण को बहुत आल्हाद मिला। मैंने उस दिन उपवास किया। मुझे रंचमात्र भी कष्ट नहीं मालूम पड़ा। स्मरण आया स्व. गुरुदेव आचार्य शान्तिसागर महाराज का पुनीत वाक्य-''निर्वाणस्थान में उपवास आदि की कठिनता नहीं प्रतीत होती। इसी से मैं समाधि के लिए निर्वाणभूमि में आया हूँ।''ईसरी में समाधिमरण का संकल्प कर अपने रत्नत्रय की रक्षा में उद्यत १०८ दिगम्बर महातपस्वी मुनिराज नमिसागरजी महाराज का दर्शन हुआ था। ता. १७ अक्टूबर को उन साधुराज से कुछ चर्चा हुई थी। अल्प काल के बाद उनका स्वर्गवास हो गया था, फिर भी धर्मप्रेमियों के लिये उनका वर्णन हितकारी होगा, ऐसा विश्वास है।

शारीरिक पीड़ा

प्रश्न-''महाराज ! आपका शरीर अस्थिपंजरमात्र रह गया है। आपने सल्लेखना की तैयारी की है। कुछ मानसिक अशांति या आकुलता तो नहीं है ?''

महाराज ने कहा-''मैं आचार्य शांतिसागरजी महाराज का शिष्य हूँ। उनके ही समान समाधि का उद्योग कर रहा हूँ। मेरे पास पूर्ण शांति है। शरीर की पीड़ा के बारे में क्या पूछते हो ? शरीर की पीड़ा शरीर के पास है। मेरे पास नहीं, मेरा आनन्द मेरे पास है। मुझे कोई भय नहीं। मैं सुखी हूँ।''

प्रश्न-''महाराज ! इस सल्लेखना व्रत के कारण आपका आनन्द पहले के आत्मीक आनन्द से कुछ न्यून हुआ है या नहीं ?''

महाराज-''इस कारण मेरा आनन्द बहुत बढ़ रहा है। मोक्ष-लक्ष्मी की प्राप्ति का मार्ग मिला है। मुक्तिरमणी की उपलब्धि आगे होगी, इस कल्पना से महान् आनन्द आ रहा है।''महाराज मेरे लिए क्या आज्ञा है ?

महाराज बोले-''तुमने जापान जाकर जिनधर्म की प्रभावना की। यह बहुत अच्छा किया। तुम योरोप, अमेरिका आदि देशों में जाकर जैनधर्म का प्रचार करो। धर्म-प्रचार

के लिए जाने से डरो मत। अपनी श्रद्धा को निर्मल रखो। चारित्र में दोष आवे, तो प्रायश्चित् द्वारा शुद्ध करो। हमारा हृदय कहता है कि अब जैनधर्म का उद्योत होगा। इसके लिये धन, तन तथा मन को लगाकर काम करना चाहिये। धर्म-प्रचार के लिये धर्म श्रद्धालु, सदाचारसम्पन्न तथा निस्पृह व्यक्ति चाहिये। तुम खूब धर्म-प्रचार करो। यही हमारा तुमको आशीर्वाद है।" (यह कहकर उन्होंने बड़ी स्नेहमयी भावना से मेरे मस्तक पर अपनी करुणामयी पिच्छिका रख दी।)

जैनों का कर्त्तव्य

प्रश्न- "आज के जैन भाइयों के लिये आपको क्या कहना है ?"

उत्तर- "जैनियों को अपनी धार्मिक क्रियाओं का रक्षण करना चाहिये। मांस, मदिरा, मधु व रात्रि भोजन त्यागना चाहिये। धनवान हो या उच्च अधिकारी हों, प्रत्येक जैनी को छना पानी पीना चाहिये व रात्रि को भोजन नहीं करना चाहिये। शास्त्र में लिखा है कि रात्रि-भोजन त्यागने से आधा जीवन उपवासपूर्वक सहज ही व्यतीत होता है।"

प्रश्न- "आजकल लोग स्वयं को भगवान् सरीखा समझ साधनसम्पन्न होते हुए भी जिनेन्द्र-दर्शन नहीं करते। इससे कोई हानि तो नहीं है ?"

महाराज ने कहा- "ऐसा करना अच्छा नहीं है। जो स्वयं को भगवान् सोचते हैं, वे यहाँ संसार में क्यों रहते हैं ? अपने स्थान पर क्यों नहीं जाते ?" उन्होंने यह भी कहा- "जो स्वयं धर्म से पतित होकर तथा उसे दूर फेंककर दूसरे के कल्याण की बात सोचते हैं, वे भूल में हैं। स्वयं धर्म पर आरूढ़ होकर ही जिनधर्म की प्रभावना हो सकती है।" महाराज के ये शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं, "जैनधर्मी अपने धर्म से डिग रहे हैं। कहने से वे नहीं सुनते। जब अन्य धर्म वाले जैनधर्म से प्रेम करेंगे, भक्ति करेंगे, तब इन जैनों में भी शरम से अपने धर्म की जागृति होगी।"

गुरु को प्रणाम की प्रार्थना

मैंने महाराज से कहा था- "आप तो स्वर्गयात्रा करने वाले हैं। कदाचित् आचार्य शांतिसागर महाराज का दर्शन हो, तो हमारा प्रणाम कह दीजिए। इस जैनधर्म को गौरवान्वित करने का वहाँ ध्यान रखिए।"

ता. १६ के प्रभात में उन क्षपकराज का पुनः दर्शन किया। उन्होंने फिर से देश-विदेश में जैनधर्म की प्रभावना करने का आदेश देते हुए आशीर्वाद दिया। मैं पावापुरी के लिए रवाना हुआ। पश्चात् ज्ञात हुआ कि २२ अक्टूबर को साम्य-भाव सहित नमिसागर महाराज शरीर त्याग कर स्वर्ग की ओर गये। उनका स्वर्गवास हो गया।

****

मुनिराज श्री आदिसागरजी महाराज

शेडवाल के (श्री बालगोंडा देवगोंडा पाटील) परमपूज्य मुनि आदिसागर महाराज का सिवनी में २७ फरवरी, १९५७ को शिखरजी जाते समय आगमन हुआ था। उन्होंने आचार्य श्री शांतिसागर महाराज के विषय में मेरी प्रार्थना पर निम्नलिखित बातें बताई :

उन्होंने कहा-"चिकोड़ी तालुका, बेलगाम जिला में महाराज का लगभग १० वर्ष पर्यन्त विहार हुआ। उतने समय तक मैं चिकोड़ी की अदालत में सरकारी कर्मचारी था। अतः महाराज के दर्शन का बहुधा सौभाग्य मिला करता था। महाराज बहुत शास्त्र-स्वाध्याय करते थे। शास्त्र की गूढ़ शंकाओं को सरलता से समझाते थे और सुन्दर समाधान करते थे।"

लोकहितार्थ सूचना

आचार्य महाराज ने एक स्मरण योग्य बात कही थी-"खुली सभा में ऐसी चर्चायें नहीं चलानी चाहिए, जिससे जनता की दिशाभूल होना सम्भव हो।"

दूध निर्दोष है

एक बार एक अन्य सम्प्रदाय के विद्वान् ने महाराज से पूछा था-"आप चमड़े के पात्र का पानी नहीं लेते ? चमड़े के बर्तन का घी नही लेते, तब दूध को क्यों लेते हैं ? उसमें भी तो मांस का दूषण है।"

महाराज ने कहा था-"आप लोग अनेक नदियों के जल को अत्यन्त पवित्र मानते हैं, किन्तु यह तो सोचिये कि वह जल कहाँ तक शुद्ध है, जिसमें कि जलचर जीव मल-मूत्र त्यागते हैं और जिसमें उनकी मृत्यु भी होती है ? अनेक दोषों के होते हुए भी यदि जल शुद्ध है, तो दूध क्यों नहीं ? एक बात और है, दूध की थैली गाय के शरीर में अलग होती है। जब गाय घास खाती है, तब पहिले उसका रस भाग बनता है। इसके बाद खून बनता है, इसलिये दूध में कोई दोष नहीं है।"

फोटो खिंचवाना

उन्होंने बताया-"एक बार मैं चिकोड़ी (बेलगाँव) में था। आचार्य महाराज उस समय मुनि अवस्था में नसलापुर में विराजमान थे। मैंने चिकोड़ी के अनेक गृहस्थों के साथ नसलापुर जाकर महाराज से प्रार्थना की कि वे हमें फोटो खिंचवाने की मंजूरी प्रदान

करें, जिससे हम परोक्ष में आपके दर्शन से लाभ ले सकें। हमारी प्रार्थना स्वीकार हुई।

फोटोग्राफर महाराज के पास आया। उसने महाराज से कहा-"महाराज! अच्छी फोटो के लिए, यह जगह ठीक नहीं है। दूसरा स्थान उचित है। वहाँ चलिए।" इसके साथ ही इस प्रकार खड़े रहिए आदि विविध प्रकार के सुझाव उपस्थित किए गए। महाराज अनुज्ञा देकर वचनबद्ध थे। उन्होंने फोटोग्राफर के संकेतों के अनुसार कार्य किया। फोटो तो खिंच गई, किन्तु इसके बाद एक विचित्र बात हुई।"

मन को दण्ड

"उस समय महाराज दूध, चांवल तथा पानी के सिवाय कोई भी वस्तु आहार रूप में नहीं लेते थे। फोटो खींचने की स्वीकृति देने वाली मनोवृत्ति को शिक्षा देने के हेतु महाराज ने एक सप्ताह के लिए दूध भी छोड़ दिया। बिना अन्य किसी पदार्थ के वे केवल चावल और पानी मात्र लेने लगे।" महाराज ने बताया-"हमारे मन ने फोटो खिंचवाने की स्वीकृति दे दी। इसमें हमें अनेक प्रकार की पराधीनता का अनुभव हुआ। फोटोग्राफर के आदेशानुसार हमें कार्य करना पड़ा, क्योंकि हम वचनबद्ध हो चुके थे। हमने दूध का त्यागकर अपने मन को शिक्षा दी, जिससे वह पुनः ऐसी भूल करने को उत्साहित न हो।" इस प्रकरण से महाराज की लोकोत्तर मनस्विता पर प्रकाश पड़ता है।

रसना-इन्द्रिय का जय

नसलापुर चातुर्मास में यह चर्चा चली कि-"महाराज ! आप दूध, चावल तथा जलमात्र क्यों लेते हैं ? क्या अन्य पदार्थ ग्रहण करने योग्य नहीं हैं।" महाराज ने कहा-"तुम आहार में जो वस्तु देते हो, वह हम ले लेते हैं। तुम अन्य पदार्थ नहीं देते, अतः हमारे न लेने की बात ही नहीं उत्पन्न होती है।"

दूसरे दिन महाराज चर्या को निकले। दाल, रोटी, शाक आदि सामग्री उनको अर्पण की जाने लगी, तब महाराज ने अंजुलि बंद कर ली। आहार के पश्चात् महाराज से निवेदन किया गया-"स्वामिन् ! आज भी आपने पूर्ववत् आहार लिया। रोटी आदि नहीं ली। इसका क्या कारण है ?" महाराज ने पूछा-"तुमने आटा कब पीसा था, कैसे पीसा था ?" इन प्रश्नों के उत्तर के रूप में यह बताया गया कि रात को आटा पीसा था आदि। तब महाराज ने कहा-"ऐसा आहार मुनि को नहीं लेना चाहिए।"

इसके बाद तीसरे दिन फिर पूर्ववत् ही महाराज ने आहार लिया। आहार के पश्चात् महाराज ने भोजन की अनेक त्रुटियाँ बताई। भक्ष्य-अभक्ष्य के विषय में पूर्ण निर्णय होने में पंद्रह दिन का समय व्यतीत हो गया। इसके बाद महाराज ने अन्य शुद्ध भोज्य वस्तुओं का लेना प्रारम्भ किया। केवल दूध, चांवल, जल लेते-लेते लगभग आठ-दस वर्ष का

समय व्यतीत हो गया था।

मिट्टी के बर्तन पर नारियल का नियम

आचार्य महाराज ने कोन्नूर में वृत्ति परिसंख्यान तप प्रारम्भ किया था। उनकी प्रतिज्ञा बड़ी विलक्षण, किन्तु अत्यन्त विवेकपूर्ण थी। सात दिन पर्यन्त प्रतिज्ञा के अनुसार योग न मिलने से महाराज के छह उपवास हो गये। समाज के व्यक्ति सतत चिंतित रहते थे, जिस प्रकार आदिनाथ भगवान् को आहार न मिलने पर उस समय का भक्त समाज चिन्तातुर रहा था। सातवें दिन लाभान्तराय का विशेष क्षयोपशम होने से एक गरीब गृहस्थ भीमप्पा के यहाँ गुरुदेव को अनुकूलता प्राप्त हो गई।

महाराज का नियम था कि यदि मिट्टी के बर्तन पर नारियल रखकर कोई पड़गाहेगा, तो मैं आहार लूंगा। गरीब भीमप्पा की दरिद्रता वरदान बन गई। उस बेचारे ने निर्धनतावश मिट्टी का कलश लेकर पड़गाहा और उसने महाराज को आहार देने का उज्ज्वल सुयोग प्राप्त किया।

प्रतिभा द्वारा प्रभावना

एक बार आचार्य महाराज हुबली पहुँचे। वहाँ अन्य सम्प्रदाय के अनेक साधु विद्यमान थे। उनके संघनायक सिद्धारूढ स्वामी लिंगायत साधु महान् विद्वान् थे। आचार्यश्री की सर्वत्र श्रेष्ठ साधु के रूप में कीर्ति का प्रसार हो रहा था, इसलिए वे पालकी में आरूढ़ होकर अपने शिष्य समुदाय के साथ आचार्य महाराज के निकट आकर बैठ गए। अपने सम्प्रदाय के विशेष अहंकारवश उन्होंने जैन गुरु को प्रणाम करना अपनी श्रद्धा के प्रतिकूल समझा था। आचार्य महाराज की इस विषय में उपेक्षा-दृष्टि रहती थी, कारण कि प्रणाम करने या न करने से उनकी न कोई हानि होती थी और न लाभ ही होता था।

उस समय नेमिसागरजी शास्त्र पढ़ रहे थे। सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्व का प्रकरण चल रहा था। कुछ समय तक लिंगायत स्वामी ने शास्त्र सुना और प्रश्न किया, "बार-बार सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्व का शब्द सुनने में आ रहा है। सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का क्या भाव है ?"

महा मिथ्यात्व के रोग में ग्रस्त व्यक्ति को कैसे सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का भेद समझाया जावे ? उत्तर देना सामान्य बात नहीं थी। उत्तर तो कोई भी दे सकता था, किन्तु उत्तर ऐसा आवश्यक था, जो हृदय को समाधानप्रद हो तथा जिससे कटुता उत्पन्न न हो। आचार्य महाराज की प्रतिभा ने एक सुन्दर समाधान सोचा। उन्होंने ये अनमोल शब्द कहे-"भीतर देखना सम्यक्त्व है। बाहर देखना मिथ्यात्व है।" महाराज ने कन्नड़ी भाषा में ये वाक्य कहे थे। इसे सुनते ही उसका हृदय कमल खिल गया। उस ज्ञानवान साधु को अवर्णनीय आनन्द आया।

उन्होंने आचार्य महाराज को साष्टांग प्रणाम किया और कहा-"ऐसे सद्‌गुरु का मुझे अपने जीवन में प्रथम बार दर्शन हुआ। ऐसे महापुरुष को ही अपना गुरु बनाना चाहिये।"

उनके सभी शिष्यों ने महाराज को प्रणाम किया।

हजारों व्यक्तियों के मुख से जैन गुरु के गौरव और स्तुति के वाक्य निकलते थे। उस समय बड़ी प्रभावना हुई थी। लाखों लोग कहते थे,सच्चा साधुपना तो शान्तिसागर महाराज में है।

महाराज ने सन् १९२५ में श्रवणबेलगोला की यात्रा की थी। उस यात्रा से लौटते समय आचार्य संघ दावणगिरि में ठहरा था। बहुत-से अन्य धर्मी गुरुभक्त महाराज के पास रस, दूध, मलाई आदि भेंट लेकर पहुंचे। रात्रि का समय था। चन्द्रसागरजी ने लोगों से कहा कि महाराज रात्रि को कुछ नहीं लेते हैं। वे लोग बोले-"महाराज गुरु हैं। जो भक्तों की इच्छा पूर्ण नहीं करते, वे गुरु कैसे ?"महाराज तो मौन थे। वे भद्रपरिणामी भक्त रात्रि को ढोलक आदि बजाकर भजन तथा गुरु का गुणगान करते रहे।

उपयोगी उपदेश

दिन निकलने पर महाराज का विहार हो गया। वे लोग महाराज के पीछे-पीछे गए। उन्होंने प्रार्थना की-"स्वामीजी ! कम से कम हम लोगों को कुछ उपदेश तो दीजिए।" उनका अपार प्रेम तथा उनकी योग्यता आदि को दृष्टि में रखकर महाराज ने उन लोगों के द्वारा गाये गए भजन के उनके परिचित कुछ शब्दों का उल्लेख कर कहा-"इन शब्दों के अर्थ का मननपूर्वक आचरण करो और अधिक से अधिक जीवदया का पालन करो, तुम्हारा कल्याण होगा।"इस प्रिय वाणी को सुनकर वे बड़े प्रसन्न हुए। महाराज में यह विशेषता थी कि वे समय, परिस्थिति, पात्र, आदि का विचार कर समयोचित तथा हितकारी बात कहते थे।

सद्भावनापूर्ण भेंट

उन भक्तों का मन महाराज के चरणों में इस प्रकार आसक्त हो गया था, जिस प्रकार कि मधुकर कमल के प्रति अपार अनुराग धारण करता है। महाराज लगभग दस मील पहुँचे होंगे कि वे भक्त एक गाड़ी में घृत, धान्य आदि सामग्री लेकर संघ के सत्कार की सद्भावना से प्रेरित हो वहाँ पहुँचे।

महाराज ने संघपति से कहा-"इन लोगों की प्रेमपूर्ण भेंट तुम्हें स्वीकार करना चाहिए।"

उनकी स्नेहपूर्ण भेंट प्रेमभाव से स्वीकार की गई। सुमधुर भोजन द्वारा उन गुरुभक्तों को परितृप्त भी किया गया। महाराज का व्यवहार अन्य सम्प्रदाय वालों के साथ भी इतना मधुर होता था कि वे इनके चरणों के प्रेमी बन जाते थे।

शेडवाल में सर्प का उपसर्ग

आचार्य महाराज आत्मबली, उग्रतपस्वी तथा निर्भय हृदय वाले थे। सर्प के द्वारा अनेक बार उन पर उपसर्ग हुआ। सन् १९२९ की बात है-"महाराज शेडवाल अनाथाश्रम की समीपवर्ती गुफा में ध्यानार्थ गए। रात्रि भर वहाँ रह कर, ध्यान के पश्चात् गुफा से बाहर आते समय उन्होंने सबेरे श्रावक से कहा-"होशयारी से भीतर जाना।" उस श्रावक ने भीतर जाकर देखा, तो उसे कुछ नहीं दिखा। मैं भीतर गया, तो प्रयत्नपूर्वक खोज की। महाराज के शब्द अन्यथा नहीं हो सकते, इस विश्वास से मैंने विशेष ध्यान देकर इधर-उधर खोज की, तो एक फोटो के पीछे लगभग दो हाथ का सर्प छिपा था। मैंने उसे पकड़कर खेत में छोड़ा था।"

कोगनोली में सर्पराज का उपसर्ग

"महाराज कोगनोली की गुफा में ध्यान करने बैठे थे। एक सर्प लगभग आठ हाथ लम्बा तथा बड़ा मोटा महाराज के पेट तथा अधोभाग में लिपटा हुआ बैठा था। महाराज गंभीर मुद्रा में अवस्थित थे। सैकड़ों लोगों ने आकर देखा। घंटे भर बाद वह सर्प स्वयमेव चला गया। महाराज का ध्यान पूर्ण हुआ।

उन्होंने उपस्थित लोगों को यह प्रतिज्ञा दिलाई थी कि इस सर्प की बात को जाहिर नहीं करेंगे। लोगों ने अपने प्रतिज्ञा की इतनी मात्र पूर्ति की थी कि उन्होंने यह वर्णन नहीं छपवाया, किन्तु वे इसकी चर्चा को नहीं रोक सके। गुरु की ऐसी अपूर्व तपस्या को देख भला कौन अपना मुख बंद रख सकता था ?"

कोगनोली में सर्प के भीषण उपद्रव की अवस्था में अविचलित तथा प्रसन्नतापूर्ण ध्यान-मुद्रा से महाराज की महिमा का प्रसार दक्षिण में बड़े वेग से हुआ। लोगों की भक्ति भी खूब वृद्धि को प्राप्त हुई।

सन् १९१८ में मेरा एक मित्र मुनि शान्तिसागरजी के गुण गाता था, तब मैं निरादर भाव से कहा करता था-"उनमें क्या धरा है ? वे सामान्य मनुष्य सरीखे होंगे।"

प्रथम दर्शन

एक दिन रविवार को चिकोड़ी में कचहरी बन्द रहने से मैंने नौ मील पर स्थित नसलापुर जाकर महाराज को देखा। उनके दर्शन होते ही मेरे मन में उनके चरणों के प्रति अपार प्रीति उत्पन्न हुई। उस समय मुझे अवर्णनीय आनन्द प्राप्त हुआ। आज भी उस घटना का स्मरणकर चित्त में महान् शान्ति प्राप्त होती है। उनकी आत्मा का ऐसा ही प्रभाव पड़ता था, जैसा चुम्बक का लोहे पर पड़ता है। मेरा जीवन बदल गया। मैं आज उनके प्रभाववश ही मुनि बना।

शिष्य को गुरुत्व की प्राप्ति

आचार्य महाराज ने देवप्पास्वामी (मुनि देवेन्द्रकीर्ति महाराज) से क्षुल्लक दीक्षा ली थी। देवप्पास्वामी सन् १९२५ में श्रवणबेलगोला में थे, उस समय महाराज भी वहाँ पहुंचे।

देवप्पास्वामी ने वहाँ महाराज का शास्त्रोक्त जीवन देखा और जब उससे उन्होंने अपनी शिथिलाचारपूर्ण प्रवृत्ति की तुलना की, तब उनको ज्ञात हुआ कि मेरी प्रवृत्ति मुनिपदवी के अनुकूल नहीं है। देवप्पास्वामी दस गज लम्बा वस्त्र ओढ़ते थे। उद्दिष्ट स्थान पर जाकर आहार लेते थे। आहार के समय वे दिगम्बर होते थे। भोजन के समय जोर से घंटा बजता था, ताकि भोजन में अन्तराय रूप वाक्य कर्णेन्द्रियगोचर ही न हो। ऐसी अनेक बातें थीं। देवप्पास्वामी सच्चे मुमुक्षु थे। विषयों से विरक्त थे। उनको सम्यक् प्रणाली का पता न था। उन्होंने आचार्य महाराज से कहा-''मुझे छेदोपस्थापना दीजिये। आगम के अनुसार मेरा कल्याण कीजिए। आपके शास्त्रोक्त जीवन से मेरी आत्मा प्रभावित हो उठी है।''

आचार्य महाराज ने उनको यथायोग्य प्रायश्चित्तपूर्वक पुन: दीक्षा दी। उनके गुरु ने भी गुरुत्व का परित्याग कर शिष्य पदवी स्वीकार की। सत्पुरुष आत्महित को सर्वोपरि मानते हैं। आचार्य महाराज को अपने गुरु के सम्बन्ध की यह चर्चा करना अच्छा नहीं लगता था।

प्रभावशाली व्यक्तित्व

''देवप्पास्वामी का ब्रह्मचर्य बड़ा उज्ज्वल था। वे सिद्धिसंपन्न सत्पुरुष थे। मैंने गोकाक में उनकी गौरवपूर्ण कथा सुनी थी। उसकी प्रामाणिकता का निश्चय भी किया था। वे गोकाक से कोन्नूर जा रहे थे। वहाँ की भीषण पहाड़ी पर ही सूर्य अस्त हो गया अर्थात् संध्या हो गई। उनके साथ एक उपाध्याय था। उसे कग्गुड़ी पण्डित कहते थे। स्वामी ने एक चक्कर खींचकर उपाध्याय को उसके भीतर सूर्योदय पर्यन्त रहने को कहा और वे भी उस घेरे के भीतर ध्यान के लिए बैठ गए।''

शेर की गर्जना

रात्रि होने पर एक भयानक शेर वहाँ आया। उसने खूब गर्जना की, उपद्रव किए, किन्तु वह व्याघ्र घेरे के भीतर न घुस सका। भय से उपाध्याय का बुरा हाल था, फिर भी वह घेरे के बाहर नहीं गया। दिन निकलने के बाद स्वामी कोन्नूर पहुँचे, तब उपाध्याय ने सब जगह उपरोक्त कथा सुनाई। इससे देवप्पा स्वामी का महत्व सूचित होता है। शुद्ध मुनिपद धारण कर उनकी आत्मा बहुत विकसित हुई।

भीमशा की भीषण भक्ति

आचार्य श्री कागनोली में विराजमान थे। चातुर्मास का समय सन्निकट था। प्रत्येक

समीपवर्ती ग्रामवासी चाहता था कि गुरुदेव की चार माह पर्यन्त सेवा का सौभाग्य हमारे ग्राम को प्राप्त हो। कई स्थानों के लोग महाराज के पास एकत्रित हो गए थे। निर्णय होना शेष था। नसलापुर के अनेक लोग आए थे। उनमें शक्ति और भक्ति गुणसंपन्न भीमशा मकदूम नामक व्यक्ति ने ऐसा काम किया, जिसकी कोई स्वप्न में भी शायद कल्पना नहीं करेगा।

महाराज गाँव के बाहर गुफा में ध्यान करने गए। प्रभात में चार बजे महाराज सामायिक को बैठे ही थे कि भीमशा अपने साथियों सहित गुफा में गया। भीमशा के मस्तक में एक विचित्र विचार आया कि इस समय महाराज ध्यान में हैं, अतः ये कुछ भी नहीं बोलेंगे। भीमशा ने महाराज को आसन सहित उठाकर अपने बलवान् कंधे पर विराजमान कर शीघ्र ही नसलापुर की ओर प्रस्थान किया। सूर्योदय होते समय वे लगभग आठ मील दूर यमगरणी ग्राम पर्यन्त पहुँच गए थे। सामायिक पूर्ण हुई। आकाश में सूर्य को देखकर महाराज का मौन भी पूर्ण हुआ। उन्होंने भीमशा से कहा-''अरे बाबा ! अब तो हमें नीचे उतरने दो।''पश्चात् भीमशा का साहस तथा भक्ति देख महाराज हँसने लगे।

कुछ काल के पश्चात् कोगनोली की गुफा में महाराज को न देख अन्य ग्रामों के गृहस्थ महाराज को खोजते हुए उस स्थान पर आए। उन्होंने महाराज से अपने-अपने ग्राम में चातुर्मास हेतु विनय की। उस समय महाराज ने हँसते हुए भीमशा की ओर इशारा करते हुए कहा-''यमराज बैठा है। इससे कौन बच सकता है। ?'' इसके पश्चात् नसलापुर में ही महाराज का चातुर्मास हुआ। ऐसी भक्ति लोगों की महाराज के प्रति रहती थी। लोगों का महाराज के चरणों में इतना प्रेम रहता था कि वे अपने कुटुम्ब, परिवार का भी ममत्व छोड़कर महाराज की सेवार्थ अपने प्रिय प्राणों के परित्यागार्थ तैयार रहते थे।

महाराज के समक्ष जब भीम सरीखा शक्तिशाली भीमशा आता था, तब महाराज के मुखमण्डल पर स्मित की मधुर रेखा आ जाती थी। संभवतः महाराज को भीमशा की अद्भुत भक्ति की स्मृति आ जाती रही होगी।

विचारपूर्वक व्रतदान

''आचार्य महाराज बहुत दूरदर्शी थे। उनसे जब कोई व्रत माँगता था, तो वे व्रत लेने वाले की संपूर्ण (वर्तमान तथा आगामी) परिस्थिति पर दृष्टिपात कर लेते थे। मैंने कोन्नूर में महाराज से पंचाणुव्रत लिए।'' परिग्रह का परिमाण करते समय मैंने कहा-''मैं पाँच हजार रुपयों को रखने का परिमाण करता हूँ।''

महाराज ने कहा, ''इतने में तुम्हारा निर्वाह नहीं होगा। उससे आकुलता उत्पन्न होगी।'' अतएव महाराज के कथनानुसार मैंने परिग्रह परिमाण लिया था।

पात्र के योग्य प्रायश्चित्त

एक बार मारवाड़ के नावा ग्राम में दिगम्बर जैन महासभा के अधिवेशन में मैं, बालगोंड़ा

और दरीगोंडा के साथ पहुंचा था। मैं तथा मेरे साथी, जिन्हें मैं काका कहता था, जैनगृहस्थों के हाथ का ही जल पीते थे। महासभा के एक पदाधिकारी सज्जन ने हमसे कहा कि यहाँ शोध के चौके में जैनी ही पानी लाता है तथा भोजन बनाता है। हमने उस चौके में दो-तीन दिन भोजन किए। अन्त में पता चला कि वहाँ कहार जाति का आदमी पानी लाता था। इससे मेरे मन में बहुत खेद उत्पन्न हुआ। वापिस लौटकर हमने आड़ते नाम के स्थान पर आचार्य महाराज के दर्शन किए। यह कोल्हापुर के समीप है।

हमने आचार्य महाराज के समक्ष अपना सर्व वृत्तान्त सुनाया कि उत्तर प्रान्त में जाने पर किस प्रकार हमारे नियम में दूषण आ गया। आचार्य महाराज ने सम्पूर्ण कथन ध्यान से सुना। इसके पश्चात् महाराज ने प्रायश्चित्त ग्रन्थ उठाकर लगभग आधा घंटे के अनन्तर हमें महामंत्र की विशेष जापरूप प्रायश्चित्त दिया। मैंने कहा-''इतना प्रायश्चित्त देने में आपको अधिक समय क्यों लगा ?''

महाराज ने कहा-''शास्त्र में उपवास का प्रायश्चित्त अनेक स्थल पर बताया गया है। हम जानते हैं कि तुमको सरकारी काम के कारण बाहर सदा दौरा करना पड़ता है, इससे तुमको उपवास रूप प्रायश्चित्त क्लेशदायी हो जायगा। यह विचार कर हम तुम्हारे योग्य प्रायश्चित्त को देखते थे, इससे हमें समय लग गया।''वे गंभीर विचारक थे।

****

अभिषेक के बारे में महत्व की बात

स्व. आचार्य शांतिसागर महाराज सदृश आगम की आज्ञा को मानने वाला विशुद्ध श्रद्धावान् कौन होगा, जिन्होंने आगम के आदेश को ध्यान में रखकर अपने सुदृढ़ शरीर को समाधिमरण की अग्नि में समर्पित कर दिया था। वे गुरुदेव कुंथलगिरि में सल्लेखना के आत्म चिंतन एवं आत्मविशुद्धि के अपूर्व काल में प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान के मन्दिर में जाकर देशभूषण, कुलभूषण भगवान का पंचामृत द्वारा किया गया वैभवयुक्त अभिषेक देखकर विशेष शान्ति प्राप्त करते थे।

एक दिन तो महाराज ने प्रबन्धकों से कहा था-''तुम लोग अभिषेक की बोली में दो-दो हजार, ढाई-ढाई हजार रुपया तक लेते हो; किन्तु अभिषेक की सामग्री में क्यों　　कमी करते हो ?''

महाराज के उलाहना देने पर दूसरे दिन घड़ों दही-दूध से भगवान का अभिषेक होने लगा था। महाराज बड़े ध्यान से जिनेन्द्र का अभिषेक देखते थे।

-पृष्ठ-४५७, मुनिराज श्री वर्धमानसागरजी उवाच

आचार्य श्री अनन्तकीर्तिजी महाराज

अपूर्व आध्यात्मिक आकर्षण

मुनि अनन्तकीर्ति महाराज बेलगाँव वालों ने बताया- "आचार्य महाराज का व्यक्तित्व असाधारण आध्यात्मिक आकर्षण का केन्द्र था। जिस प्रकार चुम्बक लौह पदार्थ को अपनी ओर खींचता है, उसी प्रकार अच्छे भविष्य वाले भव्य जीव उनके सान्निध्य को पाकर उनसे बहुत कुछ प्राप्त करते थे। उनके उपदेश के बिना ही बहुतों की आत्माएँ पाप-पंक से निकलकर संयम की उज्ज्वल भूमि में अवस्थित हुई थी।"

अपना अनुभव व व्यक्तित्व का प्रभाव

उन्होंने स्वयं अपना अनुभव इस प्रकार बतलाया- "आचार्य शान्तिसागर महाराज कोन्नूर ग्राम में अपना वर्षाकाल व्यतीत कर रहे थे। मैं उनके पास जाया करता था। उनका दर्शन कर मन में यही इच्छा होती थी कि मैं भी दिगम्बर मुद्रा धारण कर उनके साथ में रहूँ। बार-बार न जाने क्यों ऐसी इच्छा हुआ करती थी कि घर में, कुटुम्ब में, व्यापार में तथा परिवार में कुछ नहीं रखा है। उन साधुराज सदृश बनने में ही शान्ति का लाभ होगा।"

"उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर मैंने ब्रह्मचर्य प्रतिमा ग्रहण की। एक वर्ष के पश्चात् क्षुल्लक पद ग्रहण किया। इसके बाद मैं निर्ग्रन्थ बना। मैंने (स्वयं ही) क्षुल्लक पद पञ्चकल्याणक के अवसर पर लिया था, किन्तु आचार्य शान्तिसागरजी के पास आकर मैंने नवीन रूप से पुनः दीक्षा ली थी।"

पुनः दीक्षा लेने का हेतु

मैंने अनन्तकीर्ति महाराज से पूछा-"जब आपने दीक्षा ले ली थी, तब पुनः दीक्षा लेने का क्या कारण था ?"

उन्होंने कहा-"दीक्षा गुरु पाहिजे-दीक्षा-गुरु होना आवश्यक है।"

उनके वाक्यों को सुनकर सचमुच में यह बात मन को उचित लगी। कई मुमुक्षुजन सद्गुरु का सान्निध्य पाने का प्रयत्न न करके स्वयं दीक्षा ले लेते हैं। उनकी कृति में अनेक बातें कभी-कभी ऐसी आ जाती हैं, जो उनके जीवन में नहीं होती, यदि उन्होंने किसी को दीक्षागुरु बनाया होता।

सद्गुरु नाविक हैं

जिस तरह महान् सरोवर या सिन्धु में चतुर नाविक का आश्रय प्राणों का रक्षण करता है, उसी प्रकार भवसिंधु में सद्गुरु का अवलम्बन ग्रहण करना हितकारी होता है। गुरु का अनमोल अनुभव सत्पथ पर लगाता है।

अहंकार का त्याग

जब आत्मा का कल्याण करना है, सारे कुटुम्ब परिवार को छोड़ना है, तब स्वात्मसिद्धि के प्रेमी साधु को छोटे से अहंकाररूपी शत्रु को भी छोड़ देना चाहिए। यह थोड़ा-सा अहंकार महान् साधु को लधु बनाते हुए उनकी साधुता को कभी-कभी मोह की भंवर में डुबा दिया करता है। इस प्रकाश में अनन्तकीर्ति महाराज की बात सुन्दर लगती है कि उन्हें गुरु नहीं मिला था, किन्तु तत्पश्चात् सद्गुरु मिल गये, तो उनसे दुबारा दीक्षा ली। यह कार्य उज्ज्वल है, प्रशस्त है। अभिनन्दनीय एवं अभिवन्दनीय है। अन्य मुमुक्षु वर्ग को इस सम्बन्ध में अवश्य दृष्टि देने की प्रार्थना है।

कुटुम्बी बाधक नहीं बने

अनन्तकीर्ति महाराज से मैंने पूछा- ''महाराज, आप तो बड़े सम्पन्न परिवार के व्यक्ति रहे, दीक्षा लेते समय क्या कुटुम्बी लोग बाधक नहीं बने ?''

उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा- ''हमारे मन से प्रेम हटने के बाद कुटुम्बियों में रोकने की भला क्या ताकत थी ?'' सचमुच में जो विषयों की दासता त्यागकर, अन्तःकरण में यथार्थ वैराग्य की ज्योति को जलाता है, उस भाग्यशाली को, आत्मस्वातन्त्र्य के पथ में प्रवृत्ति करने से कौन रोक सकता है ? उदीयमान प्रभातकालीन प्रभाकर को क्षितिज पर देखकर ऐसा कौन है, जो उसकी वृद्धि को रोककर, उसे पुनः उषा की गोद में सुला सके ? हाँ, असली वैराग्य चाहिए। श्मशान-वैराग्य अल्प काल तक टिकता है। जैसे सट्टे का व्यापारी क्षण में धनवान बन जाता है। श्रीमन्तों में महाश्रीमन्त बनता है और थोड़े समय के बाद ही दरिद्रों की पंक्ति में पुनः बैठ जाता है, अतः विवेकी जन, मन के मजबूत होने पर ही अपना कदम उठाया करते हैं।

क्या मुनिपद कठिन है ?

मैंने पूछा- ''आपने मुनिपद जैसी कठिन चीज को बहुत जल्दी कैसे ग्रहण कर लिया ?''

अनन्तकीर्ति महाराज ने कहा- ''मुनि का जीवन कठिन नहीं है। वास्तव में आत्मकल्याण का पथ सुलभ है। अज्ञान के कारण जीव उसे कठिन मानता है और जो वास्तव में कठिन है, उसे सुलभ समझता है। घर के कामों की अपेक्षा मुनि का जीवन सुलभ होता है।'' वे कहने लगे- ''पण्डितजी ! कपड़े ओढ़कर आपको जितनी ठंड

लगती है, उतनी ठंड हमें दिगम्बरत्व में लगती है।"

मैंने पूछा-"महाराज ! यह कैसी बात है ?"

उत्तर-"अन्तरङ्ग में "धृति-कम्बलः"धैर्यरूपी कम्बल ओढ़कर हम रहते हैं। उस कम्बल के धारण करने पर आनन्द से शीत ऋतु व्यतीत हो जाती है।" उन्होंने समझाया-"आप लोग व्यापार करते हैं। भयंकर गर्मी में बैठकर व्यापार में निमग्न रहते हैं, तब क्या गर्मी लगती है ? उस समय धनोपार्जन के आनन्द के कारण जिस प्रकार गर्मी का कष्ट कष्टरूप नहीं लगता, इसी प्रकार परीषहादि भी संयमी पुरुषों को बाधक नहीं होते।"

अद्भुत योगी

उन्होंने उस समय शान्तिसागर महाराज के सत्सङ्ग का उल्लेख करते हुए बताया था-"आचार्य महाराज अद्भुत योगी की तरह ध्यान में निमग्न रहते थे, जब चाहे तब वे अपनी आँखों को बन्द कर देते थे और अपने-आप में मस्त रहा करते थे।"वास्तव में जैसे फिल्म (चित्रपट) देखते समय बाहरी प्रकाश बुझा देना उपयोगी रहता है, ठीक इसी प्रकार अंतर्ज्योति के दर्शन के लिए चक्षुरूपी बाहरी खिड़कियों को बन्द करना आवश्यक है। इतना ही क्यों आत्मा के असली आनन्द, अवर्णनीय रस का निर्झर तो तब बहता है और उसमें आकण्ठ निमग्न होने का अपूर्व सुखद अनुभव तब प्राप्त होता है, जब आत्मा व्यग्रता के कारणरूप स्पर्शन,रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन इन्द्रियों से सम्पर्क दूर कर उपद्रवी मन को कसकर बाँध लेता है। जो खाते-पीते, मौज उड़ाते, खेलते, कूदते, विषय सेवन करते हैं, मान-अपमान की गठरी पास रखते हैं, रागद्वेष का कचरा साथ में रखते हुए आत्मानन्द की उज्ज्वल बातें बनाते है, उनकी बातें ऐसी लगती हैं, जैसी किसी दरिद्र के मुख से श्रीमन्तों को तिरस्कृत करनेवाली धनवैभव की चर्चा निकलती है। इस प्रकाश में उन विषयासक्तों का जीवन करुणापूर्ण लगता है, जो अंधकार पुंज अपने जीवन को सर्वाधिक तेजःपुंज मानते हैं। वे मोही, साधुओं की दया के पात्र हैं। मोहकर्म के कारण वे तेजोमय सत्य का दर्शन नहीं कर पाते हैं।

पतित का उद्धारकार्य

"आचार्य अनंतकीर्ति महाराज ने एक घटना का जिक्र किया कि एक बार आचार्य शांतिसागर महाराज कुंभोज पहुँचे। एक व्यक्ति धर्ममार्ग से डिग चुका था। उसके सुधार हेतु महाराज के भाव उत्पन्न हुए। महाराज ने उस व्यक्ति को अपने पास बुलाने का विचार किया। उस पर चंद्रसागरजी ने कहा-"महाराज ! वह दुष्ट है। बुलाने पर वह नहीं आयेगा, तो आपका अपमान होगा।"

आचार्य महाराज ने कहा-"हमारे पास मान नहीं है, तो अपमान कैसे होगा ?"

मान होने पर अपमान का भय उचित था। इसके पश्चात् वह व्यक्ति महाराज के पास आया। उनके तपोमय व्यक्तित्व ने उस पापी हृदय पर गहरा प्रभाव डाला। महाराज के कथन को सुनकर उसने अपने जीवन में समुचित सुधार कर लिया।"

आचार्य पायसागर महाराज ने अनंतकीर्ति महाराज को आचार्य-पद प्रदान कर समाधि ली थी। अनंतकीर्ति महाराज की शान्ति के साथ समाधि हो गई।

****

मुनिपद का महत्व

८ सितम्बर को आहार के उपरान्त महाराज ने कन्नड़ी में मुझ से कुछ कहा।

मैंने पूछा-"महाराज आपने क्या कहा ?"

उन्होंने कहा-"बैठ जाओ, यह कहा है।" बैठने के पश्चात् उन्होंने हमसे पूछा-"बताओ, हमने घर छोड़कर मुनि का पद क्यों धारण किया? क्या भोजन के लिए ? लज्जा छोड़कर दूसरे के घर में खड़े भिक्षावृत्ति से आहार के लिए क्या मुनिपद लिया ? क्या हमारे घर में कमी थी, जो ऐसा किया ?"

मैंने कहा-"महाराज ! आपका संपन्न परिवार बहुतों को भोजन देता रहा है। उपरोक्त कोई कारण नहीं है, अतः महाराज ! आप ही इस प्रश्न का समाधान कर सकते हैं।"

उन्होंने कहा-"हमने आत्मकल्याण के लिए यह पद ग्रहण किया है। आगमानुसार प्रवृत्ति के लिए यह मुद्रा धारण की है। आचार्यों ने कहा है कि २८ मूलगुणों का पालन करते हुए आत्मकल्याण करो, इससे मैं ऐसा करता हूं। यश, मान, सम्मान के लिए यह पद अंगीकार नहीं किया है। यश तथा सम्मान में क्या है ? आहार के पश्चात् तुमने पूजा-स्तुति की या नहीं की, इसमें क्या है ? आगम कहता है कि मुट्ठी भर अन्न खा और जा। इससे आत्मकल्याण की साधना के एकमात्र उद्देश्य से हमने दिगम्बर मुद्रा धारण की है। 'या शिवाय मोक्ष होणार नाहीं' - इस पद के बिना मोक्ष नहीं होगा।"

-पृष्ठ-४६२-४६३, मुनिराज श्री वर्धमानसागरजी उवाच

आचार्य श्री
देशभूषणजी महाराज

देहली में १०८ आचार्यरत्न देशभूषण महाराज का १९५७ में चातुर्मास था। उसके पूर्ण होने के पश्चात् हम देहली में राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसादजी के पास जबलपुर के बृहत् जैन पंचकल्याणक महोत्सव में उनके पधारने की स्वीकृति प्राप्त करने हेतु गए थे। दिसम्बर माह में राष्ट्रपतिजी से भेंट हुई थी। लगभग ५० मिनिट तक उन भद्रस्वभाव वाले महान् सत्पुरुष से चर्चा हुई थी। पश्चात् मैं आचार्य देशभूषण महाराज के पास आया। मैंने प्रार्थना की कि मुझे आचार्य शांतिसागर महाराज के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण संस्मरण सुनाइये।

उपगूहन तथा स्थितिकरण

देशभूषण महाराज ने कहा था-"स्व. आचार्य महाराज में उपगूहन तथा स्थितिकरण अपूर्व थे। किसी साधु के दोषों की चर्चा चलने पर लोगों के समक्ष वे चुप रहते थे, शांत रहते थे। एकान्त स्थान में वे सदोष साधु को खूब दंड देते थे। लोगों के द्वारा की गई चुगली पर वे विश्वास न करके स्वयं अपनी पैनी दृष्टि डालकर दूसरे की मानसिक अवस्था का अनुमान कर लिया करते थे। उनके आत्म-तेज के कारण अपराधी स्वयं भी अपराध को स्वीकार करता था।"

प्रेमपूर्ण मार्मिक शिक्षा

देशभूषण महाराज ने कहा-"मैं नवदीक्षित और छोटी अवस्था का मुनि था। नांद्रे में मैं आचार्य महाराज के पास गया। मैंने उनकी वंदना की। उन्होंने दयाकर मेरी वंदना को स्वीकार कर प्रतिवंदना की।"उन्होंने मुझ पर अपार प्रेमभाव व्यक्त करते हुए कहा-"तुम हमारे भाई हो। सदा आगम के अनुकूल चलना। किसी के बहकावे में मत आना। तुम्हारी उमर छोटी है। सम्हाल कर काम करना। तुम क्षत्रियवंश के हो। घराने को धब्बा लगे, ऐसा काम कभी मत करना। तुम भ्रम उत्पन्न करने वाले बड़े-बड़े भूतों से बचना। धर्म की खूब प्रभावना करना।"

संयम की चिन्ता

पढ़ाई की बात न पूछकर पहले हमारे संयम का हाल पूछा-" तुमने कितना प्रतिक्रमण

किया ? दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, मासिक, वार्षिक आदि कितने किए हैं ?''किन्हीं विषयों में गड़बड़ी ज्ञात कर वे पूछने लगे-''खाने के कारण तो गड़बड़ी नहीं हुई है।'' हमने कहा-''महाराज ! आपके चरणों में हम आत्मनिर्मलता के हेतु आए हैं। आपकी आज्ञा को शिरोधार्य करते हैं।''

एकान्त में उपदेश

''महाराज ने लोगों से कहा-''हमारा भाई आया है उसका उपदेश होगा।'' मेरा उपदेश सुनकर वे संतुष्ट हुए। पश्चात् एकान्त में समझाने लगे, तुम चतुर्थ हो और यह पंचम जाति का है, इस प्रकार जाति के साथ भेद-भाव मत करना। लोग झगड़ा मोल लेते हैं। तुम शत्रु पर गुस्सा मत करना। शत्रु भी यदि त्यागी हो तो उसे साथ में रखना, अकेले भ्रमण मत करना। तुम्हारा भी कल्याण होगा।''स्वच्छन्द विहार का वे विरोध करते थे। आज कोई-कोई आगम की आज्ञा को न मानकर स्वच्छन्द विचरण करते हैं। यह अयोग्य कार्य है।

आचार्य देशभूषण महाराज ने बताया था-''प्रतिवर्ष आचार्य महाराज को पत्र भेजकर उनसे प्रायश्चित्त लेकर हम प्रायश्चित्त ग्रहण करते रहे हैं।''

स्वाध्याय के लिए मार्गदर्शन

उन्होंने कहा था-''प्रायश्चित्त शास्त्र पढ़ना। प्रायश्चित शास्त्र दूसरों को पढ़कर नहीं सुनाना। प्रथमानुयोग का भी मनन करना। एकान्त में अपनी शांति के हेतु समयसार पढ़ना। सार्वजनिक रूप में समयसार नहीं पढ़ना।''आज समयसार का जनसाधारण में प्रचार बढ़ने के साथ असंयम का महारोग बढ़ रहा है। नकली सम्यक्त्व को रत्न माना जा रहा है।

प्रपितामह

चर्चा के प्रसंग में देशभूषण महाराज ने बताया-''मुनि जयकीर्ति महाराज उनके दीक्षा गुरु थे। जयकीर्ति महाराज के गुरु पायसागर महाराज थे। पायसागरजी के गुरु आचार्य शांतिसागर महाराज थे। इस दृष्टि से आचार्य महाराज देशभूषण महाराज के प्रपितामह हुए।''उस पर मैंने कहा-''तब तो संयम की दृष्टि से आप महाराज शांतिसागरजी के प्रपौत्र ठहरे।'' देशभूषण महाराज ने कहा-''बिलकुल ठीक बात है।'' क्षण भर में वैराग्य की लहर आने पर वे कहने लगे-''पंडितजी ! किसका पिता, किसका पुत्र, कौन किसका है ? जगत् में सभी जीव अलग-अलग हैं।''

आचार्यश्री का श्रेष्ठ विवेक

इसके पश्चात् देशभूषण महाराज ने कहा-''आचार्य शांतिसागर महाराज ने अपने जीवन की एक विशेष घटना हमें बताई थी। एक ग्राम में एक गरीब श्रावक था। उसकी

आहार देने की तीव्र इच्छा थी, किन्तु बहुत अधिक दरिद्र होने से उसका साहस आहार देने का नहीं होता था। एक दिन वह गरीब प्रतिग्रह के लिए खड़ा हो गया। उसके यहाँ आचार्यश्री की विधि का योग मिल गया। उसके घर में चार ज्वार की रोटी थी। उन्होंने सोचा कि यदि इसकी चारों रोटी हम ग्रहण कर लेते हैं, तो यह गरीब क्या खायगा ? इससे उन्होंने थोड़ी-सी भाकरी, थोड़ा दाल, चावल मात्र लिया था। उस समय गरीब श्रावक का हृदय बड़ा प्रसन्न हो रहा था। उसके भक्ति से परिपूर्ण आहार को लेकर वे आए और सामायिक को बैठे। उस दिन सामायिक में बहुत मन लगा। बहुत देर तक सामायिक होती रही। शुद्ध तथा पवित्र मन से दिए गए आहार का परिणामों पर बहुत प्रभाव पड़ता है। वे लोकोत्तर थे।''

****

शिथिलाचार में सुधार

वर्धमान स्वामी ने बताया-''आचार्य महाराज को क्षुल्लक पद प्रदान करने वाले मुनि देवप्पा स्वामी के समय में मुनि पद में बहुत शिथिलता थी। उस समय देवप्पा स्वामी आहार को जाते थे, पश्चात् दातार से सवा रुपये लेते थे। आचार्य महाराज ने क्षुल्लक पद में भी ऐसा नहीं किया। इस पर देवप्पा स्वामी कहते थे कि तुम रुपया लेकर हमें दे दिया करो। आगमप्राण आचार्य महाराज को यह बात अनिष्ट लगी, अतः महाराज ने देवप्पा स्वामी का साथ छोड़ दिया था।''

-पृष्ठ-४८० मुनिराज श्री वर्धमान सागरजी उवाच

हित शत्रु

उनके एक भक्त-विद्वान्-त्यागी के समक्ष मैंने महाराज से कहा-''आपके सिर में ब्राह्मी तैल सदृश कोई औषधि अवश्य लगानी चाहिये।''वे बोले-''हमें अपने शरीर की अवस्था मालूम है। ये औषधि बताने वाले, हमारे हितैषी बनकर आते हैं और बाद में बातें सुनाते हैं। मैं तो इनको अपना हित-शत्रु समझता हूँ।'' हितैषी के लिये हित-शत्रु शब्द का प्रयोग सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, इसलिए मैंने पूछा-''आपने यह कैसे कहा ?''

उत्तर-''ये बताते हैं हित और करते हैं हमारे हित का घात। प्रमाद को बढ़ाने वाले कार्यों की ओर मुझे ले जाना चाहते हैं। उनसे मेरा घात होता है। इसलिए मैंने सोच-समझकर इन्हें हित-शत्रु कहा है।''

-पृष्ठ- ४८८-४८९ आचार्य श्रीवीरसागरजी उवाच

आचार्य श्री विमलसागरजी महाराज

डाकू का कल्याण

१९ जनवरी, १९५६ को १०८ मुनि विमलसागर महाराज शिखरजी जाते हुए फलटण चातुर्मास के उपरान्त सिवनी पधारे थे। उन्होंने बताया था कि आचार्य शांतिसागर महाराज आगरा के समीप पहुंचे। वहाँ जैन मंदिर में उनके पास एक महान् डाकू रामसिंह पद्मावती पुरवाल वेष बदलकर गया। महाराज के पवित्र जीवन ने उस डाकू के हृदय में परिवर्तन कर दिया। उसने महाराज से अपनी कथा कहकर क्षमा-याचना की तथा उपदेश माँगा। महाराज ने उससे कहा-"तुम णमोकार मंत्र को जपो।"णमोकार मंत्र जपते ही उस डाकू के तत्काल प्राणपखेरु उड गए। जीवन कितना क्षणिक है। क्षण भर में उसका कल्याण हो गया।

आचार्य विमलसागरजी ने कहा था-"स्व. आचार्य महाराज आगरा की तरफ पधारे थे। उनकी कृपा से हमें यज्ञोपवीत प्राप्त हुआ था, जो रत्नत्रय का लिङ्ग है। उस रत्नत्रय के चिह्न के निमित्त से आज मुझे निर्ग्रन्थ पदवी प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। उनके सम्पर्क से परिणामों में अपूर्व उत्साह उत्पन्न होता था। आत्मकल्याण की ओर भाव बढ़ते थे।"

****

ब्र. भरमप्पा की क्षुल्लक दीक्षा

क्षुल्लक सिद्धिसागरजी ने आचार्य महाराज की बहुत सेवा तथा वैयावृत्य की थी। उन्होंने बताया कि-"मैंने महाराज से क्षुल्लक दीक्षा मांगी। महाराज ने कहा, 'वर्धमानसागर से दीक्षा ले लो।' इसके बाद उन्होंने ब्र. बंडू रत्तू को दीक्षा के लिए कहा और कहा कि 'हम तुम्हें दीक्षा दे देंगे।' उस समय मैंने कहा-'महाराज ! मुझे भी आप दीक्षा दीजिये।' ब्र. रत्तू बंडू ने दीक्षा नहीं ली। मेरा भाग्य था, इससे महाराज से मुझे २८ अगस्त १९५५ को क्षुल्लक दीक्षा मिल गई। दीक्षा देते समय महाराज ने मुझसे कहा था कि 'तुम को कुछ नहीं आता, इसलिये हमेशा णमोकार मंत्र का जाप मंदिर में करते रहना। आहार को जाने के पूर्व शौच से आने पर तथा अन्य समय पर २७ बार णमोकार का जाप करना।"

क्षुल्लक श्री सिद्धिसागरजी महाराज

वैयावृत्य का निषेध

महाराज के अन्तिम क्षण में समीप रहने वाले क्षुल्लक सिद्धिसागर (ब्र. भरमप्पा) ने सिवनी में आकर शिखरजी जाते समय हमें बतलाया था कि-"अन्त के तीन दिन, चौबीसों घण्टे महाराज एक ही करवट रहे थे। पहिले महाराज ने हमें आज्ञा कर दी थी कि तुम हमारे हाथ-पाँव मत दबाना, क्योंकि हमने सेवा कराना छोड़ दिया है। तुम जबर्दस्ती सेवा करते थे, अब नहीं करना।"

शास्त्रदान की प्रेरणा

आचार्य महाराज संयम के सिवाय सम्यक्ज्ञान के भी महान् प्रेमी थे। उन्होंने कहा था-"ज्ञान बिना समाज में धर्म नहीं टिकेगा। ज्ञान का प्रसार सार्वजनिक जैनमन्दिर में स्वाध्याय के लिए ग्रंथ रखने से ही हो सकेगा, कारण कि वहाँ सब जैन लोग आते हैं और उन ग्रंथों पर सबका स्वत्व रहता है। उसे कोई उठाकर नहीं ले जा सकता। वह सुगमता से सब को मिल सकता है। ग्रंथ की बिक्री से सुविधा नहीं होती। गरीब आदमी, त्यागी तथा सन्यासी लोग ग्रंथ नहीं ले सकते, इसीलिए जहाँ तक बने मुफ्त में ग्रन्थ बाँटना चाहिए।"

इंद्रिय-निग्रह का उपाय

एक दिन मैंने महाराज से पूछा-"महाराज! इन्द्रिय-निग्रह किस प्रकार करना चाहिए?" महाराज ने कहा था, "घोड़े का दाना-पानी बन्द कर दो, घोड़ा अपने आप वश में हो जाता है।" उन्होंने एक छोटे से उत्तर से गम्भीर प्रश्न का अनुभव के आधार पर समाधान कर दिया।

नियमितपना

महाराज में नियमितता (Punctuality) अधिक थी। वे समय पर कार्य करने का ध्यान रखते थे। उनमें गुणग्राहकता अपूर्व थी। यदि विशेष कलाकार उनके पास आता था, तो उसको वे बहुत प्रेरणा देते थे।

बच्चों से नैसर्गिक प्रेम

बच्चों पर महाराज का अकृत्रिम प्रेम था। कितनी भी गम्भीर मुद्रा में वे हों, बालक के पास आते ही वे उसे देखकर हर्षित होते थे। कभी-कभी किसी बच्चे के हाथ में मोटर का

खिलौना रहता था, तो वे पूछते थे कि इसमें हम बैठ सकते हैं आदि। उस समय ऐसा लगता था कि ये वृद्ध पितामह हैं और ये संसार के श्रेष्ठ महापुरुष रत्नत्रय मूर्ति आचार्य शांतिसागर महाराज ही हैं, ऐसा नहीं मालूम पड़ता था।

धनी-निर्धन में समान भाव

एक दिन महाराज से पूछा-"महाराज ! आप श्रीमन्तों के महाराज हैं या गरीबों के ?" महाराज ने कहा-"हमारी दृष्टि में श्रीमन्त और गरीब का भेद नहीं रहा है। अर्थ के सद्भाव-असद्भाव द्वारा बड़ेपने की कल्पना आप लोग करते हो। अकिञ्चनों की निगाह में धन के सद्भाव-असद्भाव का अन्तर नहीं रहता।"

आदमी की परख

एक दिन महाराज से पूछा-"महाराज! आपके पास बैठने वाले क्या सभी खरे भक्त हैं ?" महाराज बोले-"इनमें दश प्रतिशत ही खरे हैं। यह हमें मालूम है कि कौन खरा है और कौन खोटा है। हम दूसरे के नेत्रों को देखकर ही उस आदमी को पहिचान लेते हैं।" यथार्थ में उनकी दृष्टि भीतर की बात को देख लेती थी।

शास्त्रों को अपना प्राण मानना

धवल आदि सिद्धान्त-ग्रन्थ ताम्रपत्र में मुद्रित हुए। फलटण में धवल-ग्रन्थ विराजमान हुए थे। उनके सम्बन्ध में महाराज ने कहा था-"देखो, ये मेरे प्राण हैं, जो तुम्हारे पास हैं। मेरे बराबर इनकी रक्षा तुम लोगों को करना चाहिए।" ये शब्द महाराज ने सैकड़ों बार कहे थे। जिनवाणी को वे अपना प्राण मानते थे। वास्तव में जिनवाणी की आज्ञानुसार ही सल्लेखना द्वारा उन्होंने अपने प्राणों का त्याग किया था।

दीक्षा और आहार

प्रश्न-"महाराज ! यदि आप सब को दीक्षा दे देंगे, तो उनको आहार कैसे मिलेगा ?"

उत्तर में महाराज ने कहा-"आहार के लिए दीक्षा मत लो। दीक्षा लेने के बाद आहार अपने आप मिलेगा।"

भक्तामर स्तोत्र का प्रथम परिचय

महाराज ने बताया था कि उन्होंने अपने जीवन में सबसे पहिले भक्तामर स्तोत्र पढ़ा था। वही पहिला शास्त्र था।

ब्रह्मचारी बण्डोबा बाबाजी रतू

ब्रह्मचारी बंडोबा बाबाजी रतू ने बताया कि-"आचार्य शान्तिसागर महाराज के लोकोत्तर व्यक्तित्व ने नेमण्णा नाम के सरल चित्त वाले गृहस्थ को नेमिसागर मुनिराज बना दिया। नेमण्णा महोदय विलक्षण प्रकृति के व्यक्ति थे। भिन्न-भिन्न धर्म के साधुओं के सम्पर्क में रह चुके थे। एक दिन आचार्य महाराज के जीवन की घटना ने उनके जीवन पर गहरा प्रभाव डाला। उस दिन उन्होंने निश्चय किया कि शान्तिसागर महाराज ही ऐसे साधुरत्न हैं, जिनके चरणों को अन्तःकरण में विराजमान कर जीवन भर अभिनन्दन करना चाहिए।"

प्रभावप्रद घटना

यहाँ सहज ही प्रश्न उठता है कि वह कौन-सी घटना होगी, जिसने जीवन बदल दिया?

ब्र. बण्डू ने बताया-"आचार्य महाराज एक गुफा में बैठ कर आत्म-ध्यान में निमग्न थे। वास्तव में अपने स्वरूप में मस्त बैठे थे। उस समय मकोड़े उनके शरीर पर चढ़कर उनकी पुरुष इन्द्रिय को काट रहे थे। वे मांस खाते थे और रक्त की धारा बहती थी, किन्तु महाराज स्तम्भ की तरह स्थिर थे।" उनका ध्यान पूर्ण हुआ, तब बाद में नेमण्णा (नेमिसागरजी महाराज) ने पूछा- "यह क्या है?" ब्र. बण्डू रतू ने कहा-"देखते नहीं हो, यह रक्त बह रहा है।"

सुनकर महाराज बोले-"कहाँ है रक्त?" बाद में उन्होंने देखा कि मकोड़े उनके शरीर को खा रहे थे।

ब्र. बण्डू ने उस मकोड़े को अलग किया था।

सामायिक में तल्लीनता

उस समय आचार्य महाराज बोले-"हम तो सामायिक में बैठ गये थे। हमको पता नहीं, क्या हुआ।"

यह शब्द सुनकर नेमण्णा ने कहा-"यह क्या चमत्कार है? यह साधु है या भगवान् है। निश्चय से ये बहुत बड़े साधु हैं।"इस घटना ने उनके मन में प्रबल वैराग्य उत्पन्न किया। वे ही नेमण्णा आज परमपूज्य १०८ निर्ग्रन्थ मुनि आचार्य नेमिसागर महाराज के रूप में विराजमान रहे।

****

वैद्यराज श्री
शान्तिनाथ भुजबली, बारामती

वैद्यराज को उपदेश, ''पैसा साथ नहीं जायेगा''

बारामती में श्री शान्तिनाथ भुजबली वैद्य एक सज्जन व्यक्ति हैं। वे महाराज के पास बहुधा आया-जाया करते थे और उनके स्वास्थ्य के विषय में विशेष ध्यान रखा करते थे। वैद्यराज ने बताया कि महाराज हमसे कहते थे-''तुमने हजारों आदमियों को दवा दी है, किंतु उससे अधिक फल निर्ग्रन्थ साधु अथवा व्रती को औषधि देने का है। तुम साधु-सेवा में लगे रहते हो, इसका तुम्हें बहुत मधुर फल मिलेगा। ऐसा ही परोपकार करने में अपने जन्म को सार्थक बनाते रहना।''

महाराज के ये शब्द बड़े मार्मिक हैं-''पैसा खूब संग्रह करो, तो भी वह तुम्हारे साथ नहीं जायेगा। धर्म ही साथ जानेवाला है। बीमार स्वयं की प्रसन्नता से जितना दे, उतना लेना। जबर्दस्ती करके और उसे दुःखी करके नहीं लेना चाहिए, इसे अवश्य ध्यान में रखना।''

स्वर्गारोहण की रात्रि का वर्णन

आचार्य महाराज का स्वर्गारोहण भादों सुदी दूज को सल्लेखना ग्रहण के ३६ वें दिन प्रभात में ६ बजकर ५० मिनट पर हुआ था।

उस दिन वैद्यराज महाराज की कुटी में रात्रि भर रहे थे। उन्होंने महाराज के विषय में बताया था कि-''दो बजे रात को हमने जब महाराज की नाड़ी देखी, तो उसकी गति बिगड़ी हुई अनियमित थी। तीन, चार ठोके देने के बाद रुकती थी, फिर चलती थी। हाथ-पैर ठण्डे हो रहे थे। रुधिर का संचार कम होता जा रहा था। चार बजे सबेरे श्वास कुछ जोर का चलने लगा, तब हमने कहा-''अब सावधानी की जरूरत है। अन्त अत्यन्त समीप है।''

सबेरे ६ बजे महाराज का संस्तर से उठाने का विचार क्षुल्लक सिद्धिसागर (भरमप्पा) ने व्यक्त किया। महाराज ने सिर हिला कर निषेध किया। उस समय तक वे सावधान थे। उस समय श्वास जोर-जोर से चलती थी। बीच में धीरे-धीरे रुककर फिर चलने लगती थी। उस समय महाराज के कान में भट्टारक लक्ष्मीसेनजी'ॐ नमः सिद्धेभ्यः'तथा 'णमोकार मंत्र' सुनाते थे।

६ बजकर ४० मिनट पर मेरे कहने पर महाराज को बैठाया, पद्मासन लगवाया, कारण कि अब देर नहीं थी। अब श्वास मन्द हो गई। ओष्ठ अतिमन्द रूप से हिलते हुए सूचित होते थे मानो वे जाप कर रहे हों। एक दीर्घ श्वास आया और हमारा सौभाग्यसूर्य अस्त हो गया।

उस समय उनके मुख से अन्त में "ॐ सिद्धाय" शब्द मन्द ध्वनि में निकले थे।"

वैद्यराज ने कहा-"हमारी धारणा है कि महाराज का प्राणोत्क्रमण नेत्रों द्वारा हुआ। मुख पर जीवित सदृश तेज विद्यमान रहा आया था।"

****

बालगोंड़ा पाटील, कोगनोली

चिकोड़ी के नागगोंडा व जनगोंडा उर्फ बालगोंडा पाटील कोगनोली के प्रभावशील धर्मात्मा और गुरुभक्त सज्जन हैं। उन्होंने आचार्य महाराज की बहुत सेवा की थी। उन्होंने बताया कि जब शांतिसागर महाराज ने दीक्षा लेकर भोजभूमि से बिदा ली, तब उन्होंने कोगनोली ग्राम में अपनी प्रारम्भिक तपस्या का विशेष समय व्यतीत किया। आस-पास लोग शांतिसागर महाराज को कोगनोली के महाराज कहने लगे थे। उस समय पूर्ण दिगम्बर मुद्राधारी मुनियों का अभाव था। उस समय मुनि आहार लेते समय दिगम्बर हुआ करते थे। आचार्य शांतिसागर महाराज ने उस शिथिलाचार के जाल में जकड़ी हुई मुनिचर्या का उद्धार किया था। कोगनोली में वे दिगम्बर मुद्रा में रहा करते थे। एक उपवास, एक पारणा का क्रम बारह महीने चला करता था।

बालगोंडा पाटील ने बताया कि कोगनोली में आचार्य महाराज के शरीर पर सर्प लिपटा था। वह घटना तो सर्वत्र प्रसिद्धि पा चुकी है। हमारे यहाँ जब महाराज आये, तब उनकी तपश्चर्या बड़ी भीषण थी। रसों का परित्याग कर वे आहार लेते थे। बहुधा उपवास करते थे। दिगम्बर रूप में विचरण करते थे। कोई लोग उपसर्ग न कर दें, इस भय से ग्राम का प्रमुख व्यक्ति होने के कारण मैं महाराज का कमण्डलु हाथ में लेकर सामने चलता था, जब महाराज शौच आदि के लिए बाहर निकलते थे।

पागल द्वारा भयंकर उपसर्ग

उस ग्राम में एक विचित्र घटना हुई थी। श्री पाटील ने बताया-"महाराज बस्ती के बाहर एक निर्जन स्थान में बनी हुई गुफा में रात्रि को रहा करते थे और आत्मध्यान में लगे रहते थे। दुर्भाग्य की बात थी कि एक बार नगर का एक पागल महाराज के पास जंगल में गया। महाराज उस समय कठोर तप किया करते थे उस एकान्त प्रदेश में उस पागल ने भयंकर उपद्रव किया। महाराज का शरीर अत्यन्त बलशाली था। यदि वे शान्ति के सागर न होते, तो उस पागल को कहीं भी उठाकर फेंक सकते थे, किन्तु वे तो आचार्य महाराज थे। क्षमाशील साधुओं के स्वामी थे। भीषण उपद्रव में भी वे अविचलित थे। उस पागल के हाथ में एक लकड़ी थी, जिसके अग्र भाग में नोकदार लोहे का कीला लगा था। उससे बैलों

को मारने का काम लिया जाता है। पागल ने महाराजजी के पास रोटी माँगी।

वह कहता था-"ए बाबा ! रोटी दो, बड़ी भूख लगी है।"

बाबा के पास क्या था ? कुछ होता तो देते। वे तो चुपचाप आत्म-ध्यान करने बैठे थे। उनको शान्त देख पागल का दिमाग और उत्तेजित हुआ। उसने अपने पास की लकड़ी से महाराज के शरीर को मारना शुरू किया। लोहे की नोक, शरीर में, पीठ में, छाती आदि में चुभी। सारा शरीर रक्तरञ्जित हो गया। लकड़ी की मार से हाथ-पैर सूज गये थे। उस कठिन परिस्थिति का क्या वर्णन करें। बहुत देर तक उपद्रव करने के बाद पागल वहाँ से चला गया। बस्ती में आकर उसने अपने कुटुम्बी की हत्या की, जिसके कारण उसे प्राणदण्ड मिला था।"

श्री पाटील ने बताया कि-"सबेरे हमने जब महाराज को देखा, तो उनके शरीर पर अनेक जगह लकड़ी के निशान थे। कई जगह खून बह रहा था। मैं यह देखकर आश्चर्य में पड़ गया। समझ में नहीं आया क्या हुआ ? सारे समाज को खबर लगी। सब लोग बहुत दुःखी हुए। महाराज ने कुछ नहीं कहा। वे चुपचाप रहे और पास के ग्राम जैनवाड़ी को चले गये। वहाँ जाकर हम लोगों ने उनसे बहुत प्रार्थना की। अत्यधिक अनुनय-विनय के उपरान्त वे पुनः कोगनोली आये। आज भी पागल के द्वारा किये गये उपसर्ग का स्मरण कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। कैसी उनकी स्थिरता थी, कितना उनमें धैर्य था, कितनी उनमें शान्ति थी ? हमारा छोटा-सा हृदय और साधारण-सा मस्तक उन गुरूदेव की गहराई और महत्ता का अनुमान भी नहीं कर सकता। धन्य हैं, वे जो उस भयंकर शारीरिक उपद्रव को साम्यभाव से सहन करते रहे।"

****

भाईचन्द नेमचन्द गांधी, नातेपुत

पात्रापात्र का विवेक

आचार्य महाराज बहुत सोच-विचार कर कार्य करते थे। एक दिन भाईचन्द नेमचन्द गांधी नातेपुते ने आचार्यश्री से ब्रह्मचर्य प्रतिमारूप व्रत माँगे।

महाराज ने उनकी पात्रता का विचार करके कहा-"तुम पापभीरु हो, इस कारण तुमको ब्रह्मचर्य व्रत देते हैं। तुम्हारे हृदय में वैराग्य नहीं है, इससे प्रतिमारूप व्रत नहीं देते हैं।"

विनोद

महाराज का विनोद मधुर तथा अकटु होता था। भाईचन्द ने सुनाया कि मेरी विलक्षण तथा विचित्र बातों को सुनकर महाराज मुझे"दोन शहाणा"(दो दिमाग वाला बुद्धिमान)

कहा करते थे।

****

पार्श्वनाथ उपाध्ये

वयोवृद्ध श्री उपाध्ये ने शांतिसागर महाराज के सत्संग का लाभ लिया था। भोज ग्राम भी चिक्कोड़ी तालुका में ही तो है। श्री उपाध्ये का यह वर्णन महत्वपूर्ण तथा मनोरंजक है-"आचार्य महाराज जब गृहस्थ थे अर्थात् उन्होंने जब गृह नहीं छोड़ा था, तब वे हमारे ग्राम पट्टन में आए थे। मैं उनको एक घंटे पर्यन्त पद्मनंदिपंचविंशतिका सुनाता था। उस समय महाराज को ब्रह्मचारी सातगोंडा कहते थे। उनका उस समय यह नियम था कि शास्त्र स्वाध्याय के बिना वे अन्न-जल नहीं लेते थे। शास्त्र सुनने के उपरान्त ही वे भोजन करते थे। उनका शास्त्र का प्रेम प्रारंभ से ही महान् रहा है। हमारा-उनका हार्दिक प्रेम था। वे शास्त्र सुनकर मुझसे कहते थे - **'उपाध्याय ! मेरा मन शीघ्र ही स्वामी बनने का है।'** दक्षिणमें मुनिपद लेने वाले को स्वामी कहने की पद्धति है। इस व्यवहार के पीछे सद्वीचार छुपा है। चक्रवर्ती भी साक्षात् क्यों न हो, वह स्वामी नहीं है। वह बेचारा भोगों तथा इंद्रिय-सुखों का दास है। दासानुदास के समान है। दिगम्बर मुद्रा स्वीकार करने वाला मनस्वी मानव इंद्रियों का दास नहीं रहता है, वह इंद्रियों को दास बनाता है।, अतएव मुनि को स्वामी कहना अर्थपूर्ण है।"

उपाध्याय ने महाराज के स्वामी बनने की भावना ज्ञात करके कहा-"पाटिल! स्वामी बनना बहुत कठिन काम है। उसके लिए आत्मा में बहुत शक्ति तथा सच्चा वैराग्य चाहिए।"

वे कहते थे-"मैंने अपने मन में पक्का निश्चय कर लिया है। मैं उससे पीछे नहीं हटूँगा।" उनकी वाणी के पीछे सुदृढ़ संकल्प की प्रेरणा का दर्शन होता था। उनकी उच्च मनोभावना ज्ञातकर मैं उनके समक्ष यतिधर्म की विशेष रूप से व्याख्या करता था। उस अवस्था में वे मुझे ज्ञान, वैराग्य तथा ब्रह्मचर्य की जीवितमूर्ति दिखते थे।

वर्धमान स्वामी महान् थे

"जैसा निकट परिचय आचार्य महाराज के साथ था, वैसा ही परिचय तथा निकटता देवगोंडा पाटील (वर्धमानसागर महाराज) के साथ थी। दोनों पाटील बंधु सत्पुरुष, महान् व संत आत्मा थे।"

उनका पवित्र सुझाव

महाराज मुझसे कहते थे-"उपाध्याय ! तुम मुनिधर्म की इतनी मधुर तथा मार्मिक चर्चा करते हो , उसके गुण का कथन करते हो, तुम भी मुनि बनो, तो ठीक रहेगा।"मैं

कहता था -"मेरे चारित्र-मोह का प्रबल उदय है, इससे मैं महाव्रती बनने की पात्रता अभी अपने में नहीं पाता हूँ। जब कर्मभार हलका होगा, तब उस निर्वाण मुद्रा को धारणकर अपने जन्म को कृतार्थ करूँगा।" उनके दर्शनमात्र से हृदय को अपार आनंद प्राप्त होता था।

****

सेठ रामचंद धनजी दावड़ा नातेपुते

कोन्नूर गुफा : सेठ रामचंद धनजी दावडा नातेपुते ने कहा- "मैं पहली बार महाराज शांतिसागरजी के पास कोन्नूर में गया था। वहाँ पाँच सौ से भी अधिक गुफाएं है। महाराज नगर के बाहर की गुफा में रहते थे। दोपहर की सामायिक गुफा में ही करते थे। गुफा पाँच फुट से भी बड़ी थी। ऊँची भी अधिक थी। एक चिह्ने वाला सर्प, जो लगभग २ हाथ का रहा होगा, गुफा में आया। वह महाराज की जंघा पर चढ़ा और बाद में गुफा के बाहर आ गया। वह महाराज के शरीर पर पाँच मिनिट पर्यन्त रहा था। उस समय महाराज ध्यान में स्थिर थे। वे जरा भी हिले-डुले नहीं। उनकी दृढता देखकर मेरे मन पर बहुत प्रभाव पड़ा। मैं इतना प्रभावित हो गया कि करीब तीस वर्ष पर्यन्त भादों मास में लगातार उनके पास नियम से जाया करता था। मैं उनके बहुत परिचय में रहा। वे अपने ढंग के अद्वितीय महापुरुष हो गए।"

समाधि की बात : "समाधि की बात तो तब आती, जब उसके सम्बन्ध में कभी किसी प्रकार की चर्चा चली होती। अद्भुत आत्मबली, परमपावन गुरुदेव प्रायः हृदय की बात मुझे बताते थे। उन्होंने कहा था-'हम सल्लेखना तो लेंगे, किन्तु वह यम-सल्लेखना न होगी, हम नियम सल्लेखना लेंगे।' उनके मनोगत को उपरोक्त रूप से जानने के कारण, मैं तो कभी नहीं सोचता था कि महाराज और यमराज का द्वन्द्व यम-सल्लेखना के माध्यम से आरम्भ होगा ?"

यथार्थ बात : "गहराई से पता चलाने पर यह अवगत हुआ कि वे साधुराज सल्लेखना की तपोग्नि में अभी प्रवेश करने की नहीं सोचते थे, किन्तु लोगों ने ऐसी विचित्र परिस्थिति लाकर एकत्रित कर दी कि महाराज की अत्यन्त विरक्त और प्रबुद्ध आत्मा ने यमसल्लेखना को स्वीकार किया। अब विशेष ऊहापोह में क्या सार है ?'अब पछताए होत का, जब चिडिया चुग गई खेत।' गुरुदेव तो गए। उनके जीवन की बातों को पुनः पुनः स्मरण कर तथा तदनुसार प्रवृत्ति कर हम अपना जन्म कृतार्थ कर सकते हैं। वे तो वास्तव में धन्य हो गए। हमारे समक्ष उनके पदचिन्ह हैं।"

****

अंतिम अमर संदेश

अंतिम अमर संदेश

"ॐ जिनाय नमः। ॐ सिद्धाय नमः। ॐ अर्हं सिद्धाय नमः। भरत-ऐरावत-क्षेत्रस्थ भूत-भविष्य-वर्तमान तीस चौबीसी भगवान् नमो नमः। सीमंधरादि बीस विहरमान-तीर्थंकर भगवान् नमो नमः। ऋषभादि महावीरपर्यंत चौदह सौ बावन गणधरदेवेभ्यो नमो नमः। चौंसठ ऋद्धिधारी मुनीश्वराय नमो नमः। अंतकृतकेवलीमुनीश्वराय नमो नमः। प्रत्येक तीर्थंकर के समय होने वाले दश दश घोरोपसर्गविजयो मुनीश्वराय नमो नमः।

ग्यारह अंग चौदह पूर्व शास्त्र महासमुद्र है। उसका वर्णन करने वाला आज कोई श्रुतकेवली नहीं है। कोई केवली भी नहीं है। श्रुतकेवली उसका वर्णन कर सकता है। मुझ-सरीखा क्षुद्र मनुष्य क्या वर्णन कर सकता है ? यह सर्व जीवों का कल्याण करने वाला है। जिनवाणी सरस्वती देवी अनन्त समुद्र प्रमाण है, फिर उसमें जिनधर्म को जो जीव धारण करेगा उसका कल्याण अवश्य होता है। अनन्त सुख को प्राप्त कर वह मोक्ष प्राप्ति कर लेता है। अनन्त आगमों में एक अक्षर- एक ॐ अक्षर-मात्र को जो धारण करता है, उस जीव का कल्याण होता है। सम्मेदशिखर में दो बन्दर लड़ते थे। णमोकार मंत्र के प्रभाव से बन्दर स्वर्ग गया। श्रेष्ठी सुदर्शन ने बैल को उपदेश दिया, वह स्वर्ग गया। सप्तव्यसनधारी अंजन चोर को णमोकार मंत्र के उपदेश से उच्च गति हुई। यह तो जाने दो। कुत्ता महा नीच जाति के जीव को जीवंधरकुमार ने उपदेश दिया, वह भी देवगति में गया। इतनी महिमा जिनधर्म की है। परन्तु इसे कोई धारण नहीं करता है।

जैनी होकर भी जिनधर्म का विश्वास नहीं। अनन्तकाल से जीव पुद्गल दोनों भिन्न-भिन्न हैं, यह सब जगत् जानता है, परन्तु विश्वास करते नहीं। पुद्गल अलग है, जीव अलग है। दोनों ही भिन्न-भिन्न होते हुए भी अपना जीव, जीव है या पुद्गल, इसका विचार करना चाहिए। अपने तो जीव हैं, पुद्गल नहीं। पुद्गल अलग है, जड़ है। उसमें ज्ञान नहीं है। दर्शन चैतन्य यह गुण जीव में है। स्पर्श, रस, वर्ण गंध यह पुद्गल में है। दोनों का गुणधर्म अलग है और दोनों अलग-अलग है।

अपने जीव हैं या पुद्गल ? अपने जीव हैं । पुद्गल के पक्ष में पड़ने के कारण अपने को इस मोहनीय कर्म ने अपने जाल में फँसा लिया है। मोहनीय कर्म जीव का घात करता है। पुद्गल के पक्ष में पड़े तो जीव का घात होता है, जीव के पक्ष में पड़े तो पुद्गल का घात होता है। अपने तो जीव हैं, इसलिये जीव का कल्याण होना, जीव को अनन्त सुख

में पहुंचाना, मोक्ष को जाना, यह सब जीव में होता है। पुद्गल मोक्ष में नहीं जाता है।

आदेश और उपदेश

इतना समझने पर भी यह सब जग भूल भटक रहा है, पंच पापों में पड़ा हुआ है। दर्शनमोहनीय कर्म के उदय ने सम्यक्त्व का घात किया है, चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय ने संयम का घात किया है। इस प्रकार इन दोनों कर्मो ने अनन्त काल से जीव का घात किया है। फिर अपने को क्या करना चाहिए ? सुख प्राप्त करने की जिसको इच्छा हो उस जीव को हमारा आदेश है कि दर्शनमोहनीय कर्म का नाश करके सम्यक्त्व प्राप्त करो। चारित्रमोहनीय कर्म का नाश करो, संयम को धारण करो। इन दो मोहनीय कर्म का नाश कर अपना आत्मकल्याण करो, यह हमारा उपदेश है।

अनन्त काल से यह जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है। किस कारण से ? एक मिथ्यात्व कर्म के उदय से। अपना कल्याण किससे होगा ? इस मिथ्यात्व कर्म के नाश से। अतः उसका नाश अवश्य करना चाहिए। सम्यक्त्व प्राप्त करना चाहिए।

सम्यक्त्व किसे कहते हैं, इसका कुन्दकुन्दस्वामी ने समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचस्तिकाय, अष्टपाहुड़ में और गोम्मटसारादि बड़े-बडे ग्रन्थों में वर्णन किया गया है। इस पर कौन श्रद्धा रखता है ? अपना आत्मकल्याण करने वाला रखेगा। जीव संसार में भ्रमण करता आ रहा है। यह हमारा आदेश है, उपदेश है। ॐ सिद्धाय नमः।

कर्त्तव्य

फिर आपको क्या करना चाहिये ? दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय करना चाहिये। किससे उसका क्षय होता है ? एक आत्मचिंतन से होता है। कर्म निर्जरा किससे होती है ? आत्मचिंतन से होती है। तीर्थयात्रा करने पर पुण्यबंध होता है। प्रत्येक धर्मकार्य करने पर पुण्यबन्ध होता है।

आत्मचिंतन

कर्म निर्जरा होने के लिये आत्मचिंतन साधना है। अनन्त कर्मो की निर्जरा के लिए आत्मचिंतन ही साधन है। आत्मचिंतन किये बिना कर्मो की निर्जरा होती नहीं। केवलज्ञान होता नहीं, केवलज्ञान के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है।

फिर अपने को क्या करना चाहिये ? चौबीस घण्टे में छह घड़ी उत्कृष्ट कही गई है। चार घड़ी मध्यम कही गई है, दो घडी जघन्य कही गई है। जितना समय मिले उतना समय आत्मचिंतन करो। कम से कम तो १०-१५ मिनट तो करो। हमारा कहना है कि कम से कम पाँच मिनिट तो करें। आत्मचिंतन किये बिना सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता है। सम्यक्त्व के बिना कर्मो का संसार बंधन टूटता नहीं। जन्म जरा मरण छूटता नहीं।

सम्यक्त्व प्राप्त कर संयम के पीछे लगना चाहिए। यह चारित्रमोहनीय कर्म का उदय है कि सम्यक्त्व होकर जीव ६६ सागर तक रहता है और मोक्ष नहीं होता। क्यों ? चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होने से।

संयम-पालन

चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय करने के लिए संयम को ही धारण करना चाहिए। संयम के बिना चारित्रमोहनीय कर्म का नाश नहीं होता। इसलिए यह संयम कैसा भी हो, परन्तु संयम धारण करना चाहिए। डरो मत। धारण करने में डरो मत। संयम धारण किये बिना सातवाँ गुणस्थान नहीं होता है। सातवें गुणस्थान के बिना आत्मानुभव नहीं होता है। आत्मानुभव के बिना कर्मो की निर्जरा नहीं होती। कर्मो की निर्जरा के बिना केवलज्ञान नहीं होता।

समाधि

ॐ सिद्धाय नमः। निर्विकल्प समाधि, सविकल्प समाधि, इस प्रकार समाधि के दो भेद कहे गये हैं। कपडों में रहने वाले गृहस्थ सविकल्प समाधि करेंगे। मुनियों के सिवाय निर्विकल्प समाधि होती नहीं है। वस्त्र छोड़े बिना मुनिपद नहीं होता। भाइयों, डरो मत, मुनिपद धारण करो। यथार्थ संयम हुए बिना निर्विकल्प समाधि नहीं होती है। इस प्रकार समयसार में कुंदकुंद स्वामी ने कहा है। आत्मानुभव के बिना सम्यक्त्व नहीं होता है। व्यवहार सम्यक्त्व को उपचार कहा है। यह यथार्थ सम्यक्त्व नहीं है, यह साधन है। जिस प्रकार फल आने के लिये फूल कारण है, उसी प्रकार व्यवहार सम्यक्त्व कहा है।

यथार्थ सम्यक्त्व कब होता है ? आत्मानुभव होने के बाद होता है। आत्मानुभव कब होता है ? निर्विकल्प समाधि होने पर होता है। निर्विकल्प समाधि कब होती है ? मुनिपद धारण करने पर ही होती है।

निर्विकल्प समाधि का प्रारम्भ कब होता है ? सातवें गुणस्थान से प्रारम्भ होता है और बारहवें गुणस्थान में पूर्ण होता है, तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान होता है, इस प्रकार नियम है। शास्त्रों में ऐसा लिखा है। इसलिये डरो मत। संयम धारण करो, सम्यक्त्व, धारण करो, ये आपके कल्याण करने वाले हैं। इनके सिवाय कल्याण होता नहीं। संयम के बिना कल्याण नहीं होता है। आत्मचिंतन के बिना कल्याण नहीं होता है।

पुद्गल और जीव अलग-अलग हैं, यह पक्का समझना। तुमने साधारणरूप से समझा है, यथार्थ तत्व अभी समझ में आया नहीं। यथार्थ समझ में आया होता, तो इस पुद्गल के मोह में तुम क्यों पड़ते ? संसार में बाल-बच्चे, भाई-बन्धु, माता-पिता, ये सब पुद्गल के संबंध से होने वाले हैं। जीव के सम्बन्ध वाले कोई नहीं ? अरे भाई ! जीव अकेला ही जानेवाला है। देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये छह क्रिया कही गई है। असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, विद्या, ये छह आरंभ कहे गये हैं। इन छह आरंभजनित

दोषों को क्षय करने के लिये छह कर्म करने की आवश्यकता है। यह व्यवहार हुआ। उससे यथार्थ में मोक्ष नहीं होता। ऐहिक सुख मिलेगा, पंचेन्द्रिय सुख मिलेगा, परन्तु मोक्ष नहीं मिलेगा। मोक्ष किससे मिलता है ? मोक्ष केवल आत्मचिंतन से ही मिलता है। बाकी किसी भी कर्म से, क्रिया से, कार्य से और किसी कारण से मोक्ष नहीं मिलता।

जिनवाणी पर श्रद्धा

नये, शास्त्र, अनुभव इन तीनों को मिलाकर विचार करो कि मोक्ष किससे मिलता है ? बाकी सब रहने दो। अपना अनुभव क्या ? भगवान् की वाणी के सामने उसका कोई मूल्य नहीं है। वाणी सत्य है। उस वाणी पर पूर्ण विश्वास रखना चाहिए। उस वाणी के एक शब्द सुनने पर एक शब्द से ही जीव तिर कर मुक्ति को जायेगा, ऐसा नियम है।

सत्य वाणी कौन-सी है ? एक आत्मचिंतन। आत्मचिंतन से सर्व कार्य सिद्ध होने वाले हैं। उसके सिवाय कुछ भी नहीं। अरे भाई ! बाकी कोई भी क्रिया करने पर पुण्यबंध पड़ता है, स्वर्ग-सुख मिलता है, संपत्ति, संतति, धनवान, स्वर्ग-सुख यह सब होते हैं, पर मोक्ष नहीं मिलता है। मोक्ष मिलने के लिये केवल आत्मचिंतन है, तो वह कार्य करना ही चाहिए। उसके बिना सद्गति नहीं होती, यह क्रिया करनी चाहिए।

सारांश

धर्मस्य मूलं दया। जिनधर्म का मूल क्या है ? सत्य, अहिंसा। मुख से सभी सत्य, अहिंसा बोलते हैं, पालते नहीं। रसोई करो, भोजन करो। ऐसा कहने से क्या पेट भरेगा ? क्रिया किए बिना, भोजन किए बिना पेट नहीं भरता है बाबा। इसलिए क्रिया करने की आवश्यकता है। क्रिया करनी चाहिए, तब अपना कार्य सिद्ध होता है।

सब कार्य छोड़ो। सत्य, अहिंसा का पालन करो। सत्य में सम्यक्त्व आ जाता है। अहिंसा में किसी जीव को दुःख नहीं दिया जाता, अतः संयम होता है, यह व्यावहारिक बात है। इस व्यवहार का पालन करो। सम्यक्त्व धारण करो, संयम धारण करो, तब आपका कल्याण होगा। इसके बिना कल्याण नहीं होगा।

-(दिनांक ८-९-१९५५, गुरुवार, समय ५.१० से ५.३२ तक संध्या)

सूचना : बंबई से पं. तनसुखलालजी की प्रेरणा से प्रेरित सेठ श्री निरंजनलाल जी रिकार्डिंग मशीन लेकर आचार्यश्री की सेवा में कुंथलगिरि पधारे, जिसमें आचार्यश्री द्वारा मराठी में दिये गये २२मिनट के अन्तिम उपदेश को रिकार्ड किया गया। इस समय गुफा में दोनों क्षुल्लक जी(सुमतिसागर व सिद्धिसागर), भट्टारक लक्ष्मीसेनजी, भट्टारक जिनसेनजी, संघपति सेठ गेंदनमलजी, बाबूराव परंडेकर आदि उपस्थित थे। रिकार्ड होने के बाद जब दुबारा सुना गया तब पं. शिखरचन्द जी मैंनेजर महासभा विशारद भी वहां पहुँच गये थे। उपर्युक्त हिन्दी अनुवाद इसी अंतिम अमर संदेश का है ॥(साभार-आचार्य शान्तिसागर श्रद्धांजलि विशेषांक)

****

इस युग के महानायक के महाप्रयाण की
साधना के ऐतिहासिक छत्तीस दिन
१४ अगस्त, १९५५ से १८ सितम्बर १९५५
कुंथलगिरि (महा.)

१४ अगस्त - नियम-सल्लेखना की घोषणा करने के बाद आचार्य श्री शांत-सहज मुद्रा में।

१४ अगस्त १९५५

आचार्य श्री ने प्रात: नौ बजे बादाम का पानी ग्रहण किया और तदनन्तर उपस्थित जनता के सम्मुख एक सप्ताह की नियम सल्लेखना धारण करने की घोषणा की। महाराज को अंतिम आहार देने का श्रेय बारामती के गुरु-भक्त सेठ चन्दूलालजी सराफ को प्राप्त हुआ।

१५ अगस्त - दर्शनार्थ मन्दिर जाने को उद्यत आचार्य श्री।

१५ अगस्त १९५५ -

महाराज ने जल नहीं लिया। मध्याह्नोपरांत तीन बजे शांतिसागर दिगम्बर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था, बम्बई की ओर से ताम्र पत्रों पर उत्कीर्ण श्री धवल, जय धवल, एवं महाधवल सिद्धांत ग्रन्थ आचार्य श्री को समर्पित किये गये। महाराज की आज्ञानुसार फल्टन (महा.) द्वारा प्रकाशित रत्नकरण्ड श्रावकाचार महाराज को भेंट किया गया। इस अवसर पर महाराज ने श्रुतोद्धार के ऊपर मार्मिक प्रवचन दिया।

१६ अगस्त - आचार्य श्री की जग-प्रसिद्ध सहज, सरल, चित्ताकर्षक ध्यान मुद्रा।

१६ अगस्त १९५५

महाराज ने आज भी जल नहीं लिया। आज उन्होंने भक्तों को दर्शन दिया व शेष समय आत्म चिंतन, मनन व ध्यान में बिताया।

१७ अगस्त - आचार्य श्री हजारों दर्शनार्थियों के बीच में। इसके थोड़ी ही देर पूर्व उन्होंने यम-सल्लेखना की घोषणा की थी।

१७ अगस्त १९५५ -

महाराज ने आज दिन में तीन बजे सिर्फ जल को छोड़कर आमरण सल्लेखना ग्रहण की। इस अवसर पर संघपति सेठ गेंदनमलजी बम्बई, रावजी देवचंदजी शोलापुर, गुरूभक्त सेठ चंदूलालजी सराफ बारामती, सेठ मानिकचंदजी वीरचंद जी मंत्री कुंथलगिरि सिद्धक्षेत्र आदि उपस्थित थे एवं त्यागी वर्ग में श्री १०५ क्षुल्लक विमलसागरजी, क्षुल्लक सुमतिसागरजी, श्री भट्टारक जिनसेनजी म्हसाल, ब्र. भरमप्पा तथा कुछ आर्यिकायें उपस्थित थी। आचार्य श्री इस दिन पहाड़ के ऊपर मन्दिर जी में पहुंच गये।

१८ अगस्त - आचार्य श्री मुख्य मन्दिर में ध्यानस्थ मुद्रा में।

१८ अगस्त १९५५

जल ग्रहण नहीं किया। प्रातः काल अभिषेक के समय तथा मध्याह्न में आचार्य श्री बाहर पधारे और जनता को दर्शनों का लाभ कराया। सारा समय आत्मध्यान में व्यतीत किया।

१९ अगस्त - आचार्य श्री गहन चिंतन की मुद्रा में।

१९ अगस्त १९५५ -

आचार्य श्री ने आज पूरा दिन जल ग्रहण नहीं किया व सारा समय आत्म चिंतन, मनन एवं ध्यान में व्यतीत किया।

२० अगस्त - अभिषेक के पश्चात् आचार्य श्री को अर्घ समर्पण कर क्रमशः नमोस्तु करते श्रावक वृंद।

२० अगस्त १९५५

आज जल ग्रहण किया। कमजोरी के कारण सिर मे भी दर्द हो गया। शारीरिक-स्थिति कमजोर होते जाने पर भी चर्या पूर्ववत जारी रही।

२१ अगस्त - आचार्य श्री पूजा के उपरांत मन्दिर जी मे लौटते हुए।

२१ अगस्त १९५५

आज भी जल ग्रहण नही किया। विशेष बात यह हुई कि आचार्य श्री के भतीजे जिन गौड़ा ने आचार्य श्री से आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया।

२२ अगस्त - श्री शांतिसागर जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था के मन्त्री श्री बालचंद शहा को श्री लक्ष्मीसेन भट्टारक की अध्यक्षता में मानपत्र भेंट किया गया। महाराज बीच में विराज रहे हैं।

२२ अगस्त १९५५

आज भी जल ग्रहण नहीं किया। आचार्य श्री की उपस्थिति मे श्री भट्टारक लक्ष्मीसेनजी की अध्यक्षता मे आचार्य शातिसागर जिनवाणी जीर्णोद्धारक सस्था के मत्री श्री बालचदजी देवचदजी शहा, बी.ए. शोलापुर को मानपत्र समर्पित किया गया। भाषण समाप्त होने के अनतर आचार्य श्री ने श्री बालचद देवचद शहा को शुभाशीर्वाद दिया। आज माणिकचदजी चवरे, कारजा, प. तनसुखलालजी काला आदि पधारे।

२३ अगस्त - आचार्य श्री आहार चर्या हेतु विचरण करते हुए।

२३ अगस्त १९५५

जल ग्रहण किया। दोनों समय जनता को दर्शन देकर कृतकृत्य किया। दर्शनार्थियो का ताता लग गया। दूर-दूर से जनता उमड़ पड़ी।

२४ अगस्त - आचार्य श्री की सल्लेखना स्थली का मनोहारी दृश्य।

२४ अगस्त १९५५

जल ग्रहण किया। दोनो समय जनता को दर्शन दिये। देहली से लाला महावीरप्रसाद जी ठेकेदार, रतनलालजी मादिपुरिया, लाला उल्फतराय जी, रघुवीरसिह जी जैना वाच वाले, प मक्खनलालजी, प इन्द्रलालजी शास्त्री जयपुर, ब्र सूरजमलजी, ब्र प श्रीलाल जी दर्शनार्थ पधारे। आज क्षुल्लको की सख्या १२, क्षुल्लिकाऐ ५ और ब्रह्मचारी १५ हो गये। सल्लेखना के समय शास्त्रानुसार दिगम्बर यति आचार्य पद छोड देते है, अत आचार्य श्री ने भी तदनुसार आचार्य पद त्याग करेने की घोषणा की और अपने प्रथम शिष्य श्री १०८ वीरसागरजी महाराज को आचार्य घोषित किया। चूकि श्री १०८ वीरसागरजी महाराज इस अवसर पर जयपुर मे विराजमान थे, अत घोषणा पत्र लिखवाकर उनके पास भिजवाया गया। दर्शनार्थियो की सख्या ३ हजार से अधिक थी।
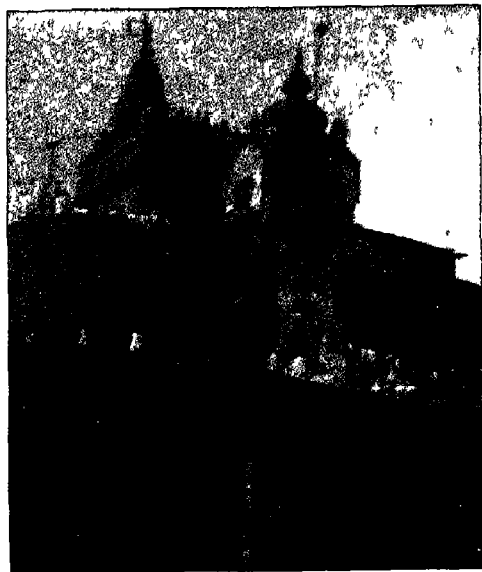
२५ अगस्त - जलाहार के पूर्व आचार्य श्री शुद्धि करते हुए।

२५ अगस्त १९५५

जल ग्रहण किया। दोनो समय दर्शन देकर जनता को कृतार्थ किया। आज दर्शन देने के पश्चात् देहली से प शिखरचद जी (मैनेजर) महासभा, लाला रूपचदास जी, रामसिहजी (खेकडा वाले) आदि दर्शनार्थ पधारे। श्री प सुमेरुचद्रजी दिवाकर न्यायतीर्थ बी ए, एल एल बी, सिवनी, प इन्द्रलालजी शास्त्री जयपुर, प मक्खनलालजी दिल्ली, भट्टारक जिनसेनजी के प्रवचन हुये।

२६ अगस्त - आचार्य श्री ने दर्शनार्थ उपस्थित विशाल जनसमूह के समक्ष महासभा के लिये आशीर्वचन कहे।

२६ अगस्त १९५५

आज जल ग्रहण किया। दोनो समय जनता को दर्शन व शुभाशीर्वाद दिया। आज दिन महासभा के महामंत्री लाला परसादीलालजी पाटनी दिल्ली और लाला राजकृष्ण जी दिल्ली दर्शनार्थ पधारे। विशेष बात यह हुई कि तीन हजार जनता के समक्ष आचार्य श्री ने क्षमाभाव ग्रहण किया और कहा कि वे सब पुरानी बातो को भूल गये है व यह भी चाहते है कि प्राणीमात्र उनको क्षमा करे। आचार्य श्री ने इस समय महासभा को भी याद किया। जब महाराज से महासभा के महामंत्री जी ने महासभा के लिए कोई संदेश देने की प्रार्थना की तो महाराजजी ने कहा - **महासभा सदैव की तरह धर्म रक्षा में सदा कटिबद्ध रहे, धर्म को कभी न भूले और धर्म के विरूद्ध कोई भी कार्य न करे।**

२७ अगस्त - आचार्य श्री उवाच.....

२७ अगस्त १९५५

आज जल ग्रहण किया। अभिषेक के समय तथा दोपहर मे भी आचार्य श्री ने उपस्थित जनता को दर्शन देकर जनता को शुभाशीर्वाद दिया। इन्दौर से श्री स्या वा वि वा प खूबचद जी शास्त्री, श्री सेठ रतनचद्र हीराचदजी बम्बई दर्शनार्थ पधारे। दोपहर मे श्री माणिकचन्द जी भिसीकर, स्या वा वि प खूबचद्र जी शास्त्री, जैन जाति भूषण लाला परसादीलालजी पाटनी (महामत्री महासभा), लाला राजकृष्ण दिल्ली आदि ने जनता को संबोधा। विशेष बात यह रही कि गुफा मे जब आचार्य श्री विराजमान थे तब उपस्थित लोगो ने निवेदन किया कि महाराज कुछ बाचकर सुनाये ? तब आचार्य श्री ने उत्तर दिया कि मै स्वय जागृत हू, मैंने इगिनीमरण सन्यास लिया है, मुझे किसी की अपेक्षा नहीं है , अपनी आत्मा के ध्यान मे ही मग्न रहता हू।

(कुछ बाचकर आपको सुनाये क्या ? उपस्थित लोगो द्वारा किये गये इस निवेदन पर आचार्य श्री का उत्तर)

२८ अगस्त - ब्रह्मचारी भरमप्पा क्षुल्लक दीक्षा के पश्चात् आचार्य श्री को नमोस्तु करते हुए।

२८ अगस्त १९५५

जल ग्रहण किया। दोना ममय जनता का दर्शन दिए। विशेष बात यह हुई कि आचार्य श्री के मघ मे सात वर्ष स साथ रहने वाले ब्र भरमप्पा को क्षुल्लक दीक्षा दी गई। दीक्षा नाम सिद्ध मागर रखा गया। दीक्षा विधि आचार्य श्री क निर्देशानुसार १०५ क्षुल्लक श्री सुमतिमागर जी न करवाई। अत मे आचार्य श्री न शुभाशीर्वाद दिया।

२९ अगस्त - विशाल जनसमूह आचार्य श्री क दर्शनार्थ प्रतिक्षारत्।

२९ अगस्त १९५५

आज जल ग्रहण नहीं किया। प मक्खनलाल जी शास्त्री मारना मे दर्शनार्थ पधार। आज दिन दोपहर मे आचार्य श्री गुफा म बाहर नहीं पधारे। अत जनता पुण्य लाभ नही कर मकी। महाराज का कमजारी कुछ बढ गयी।

३० अगस्त - आचार्य श्री गश आ जाने से लेटे ही थे कि उनिदी आँखों में भगवान देशभूषण और कुलभूषण के साक्षात् दर्शन हो गये।

३० अगस्त १९५५

आज जल ग्रहण नही करने का दूसरा दिन है। दोपहर मे जनता को दर्शन दिये। गश आ जाने से महाराज लेट गये। स्वप्न मे उन्हे मालूम हुआ कि श्री देशभूषण कुलभूषण उन्हे ऊपर बुला रहे हैं। दरवाजे के ऊपर जो छोटा मन्दिर है, उसमे यह घटना हुई।

३१ अगस्त - आचार्य श्री अभिषेक देखने के बाद सेठ चंदुलालजी सराफ के हाथों गन्धोदक लेते हुए।

३१ अगस्त १९५५

जल नहीं ग्रहण करने का आज तीसरा दिन है। दोनो समय उपस्थित जनता को दर्शन दिये और शुभाशीर्वाद दिया।

१ सितम्बर - महाराज के दर्शनार्थ एकत्र विशाल जन समूह।

१ सितम्बर १९५५

जल नही ग्रहण करने का आज चौथा दिन है। दोनो समय उपस्थित जनता को दर्शन दिये थे। आज सारा समय गुफा क अन्दर ही व्यतीत किया। रात्रि में ९ बजे आचार्य श्री की तबीयत काफी नरम हो गई थी अत बाहर क कमर मे करीब २ घंटे बैठ रहे।

२ सितम्बर - दर्शनार्थियो के सम्मुख महाराज जल ले रहे है।

२ सितम्बर १९५५

आज चार दिन के बाद जल ग्रहण किया। ३।। बजे दिन मे आचार्य श्री दस मिनिट को गुफा से बाहर आये थे और जनता को दर्शनो का पुण्य लाभ कराया था। आज दिन प जगन्मोहनलालजी शास्त्री दर्शनार्थ पधारे। आपका दोपहर म सबोधन और रात्रि मे शास्त्र प्रवचन हुआ।

३ सितम्बर - आचार्य श्री के जलाहार का भव्य दृश्य।

३ सितम्बर १९५५

आज जल लिया। दोपहर में ५ मीनिट को आचार्य श्री बाहर आये और जनता को दर्शनों का पुण्य लाभ कराया। आज रा.ब. राजकुमारसिंह जी दर्शनार्थ पधारे। दोपहर में पं. जगन्मोहनजी शास्त्री कटनी, पं. मक्खनलाल जी शास्त्री मोरेना रा. ब. राजकुमारसिंह जी इन्दौर, पं. सुमेरुचंद्रजी दिवाकर आदि ने उपस्थित जनता को संबोधा।

४ सितम्बर - आचार्य श्री का अंतिम जलाहार।

४ सितम्बर १९५५

आज पूज्य श्री ने अंतिम जल ग्रहण किया, लेकिन अशक्ति बढ़ जाने के कारण बहुत थोड़ा जल लिया और बैठ गये। दोपहर में २॥ बजे बहुत जोरों की वर्षा हुई, फिर भी आचार्य श्री के पुण्य दर्शनों के लिए जनता पानी में बराबर बैठी रही, तब आचार्य श्री ने २ मिनिट के लिये उपस्थित जनता को दर्शन दिये।

आज सेठ देवकुमारसिंह जी, इन्दौर सपत्नीक दर्शन हेतु पधारे और रा.सा.ला. नेमीचंदजी जलेसर तथा सेठ विधिचंदजी गंगवाल जयपुर, बम्बई से कार द्वारा दर्शन के लिए पधारे।

५ सितम्बर - आचार्य श्री दर्शनार्थियो को दर्शन देने हेतु पधारते हुए।

५ सितम्बर १९५५

आज सल्लेखना का २३ वा दिन है। अशक्ति बढती जाती है। फलत खड़े होने और बैठने में भी सहारा लेना पड़ता था। फिर भी दोपहर में २ मिनिट के लिये बाहर आये, और जनता को शुभाशीर्वाद दे तृप्त किया। सारा समय गुफा में आत्मध्यान में व्यतीत किया।

६ सितम्बर - आचार्य श्री की स्थिति से उपस्थित जनसमूह को अवगत कराने हेतु रखी गई जनसभा का दृश्य।

६ सितम्बर १९५५

दोनों समय जनता को दर्शन देकर जनता को तृप्त किया।

७ सितम्बर - अत्यंत कमजोर अवस्था में भी आचार्य श्री भक्तों को दर्शन देने जा रहे हैं।

७ सितम्बर १९५५

सल्लेखना का आज २५ वा दिन था। ४ सितम्बर के बाद जल ग्रहण न करने का तीसरा दिन। कमजोरी बहुत बढ गयी थी, फलत: चक्कर भी आने लगे। बिना लोगों के सहारे के खड़े होना मुश्किल हो गया था, फिर भी जनता को दोनों समय दर्शन दिये। आज जब लोगों ने आचार्य श्री से चर्या के समय जल ग्रहण करने के लिये निवेदन किया तो आचार्य श्री ने यही उत्तर दिया कि चूंकि बिना सहारे शरीर खड़ा भी नहीं हो सकता, अत. पवित्र दिगंबर साधु चर्या को सदोष नहीं बनाया जा सकता, जैसी कि शास्त्राज्ञा है।

८ सितम्बर - अन्तिम संदेश ध्वनिमुद्रित करते हुए

८ सितम्बर १९५५

आचार्य श्री की सल्लेखना का २६ वा दिन था। कमजोरी बहुत ज्यादा बढ गयी थी। आज दिन अंकिबाट से श्री १०८ मुनि पिहितास्रव जी भी आ गये। आचार्य श्री को कमजोरी के कारण बिना सहारा दिये चलना भी मुश्किल हो गया। बंबई से श्री निरंजनलालजी पं. तनसुखलालजी काला की सद्प्रेरणा से रिकार्डिंग मशीन लेकर आचार्य श्री के दर्शनार्थ पधारे। आज आचार्य श्री का २२ मिनट मराठी में अंतिम उपदेश हुआ जो रिकार्ड किया गया। इस समय गुफा में दोनों क्षुल्लक जी, भट्टारक लक्ष्मीसेनजी, भट्टारक जिनसेनजी, संघपति सेठ गेंदनमल जी, बाबूराव पंडेरकर आदि उपस्थित थे। रिकार्ड होने के बाद जब दुबारा सुना गया तब पं.शिखरचंद जी (मैनेजर-महासभा विशारद) भी वहां पहुंच गये।

९ सितम्बर - श्री १०८ मुनि पिहितास्रव प्रवचन करते हुए। उनके पीछे विराजमान है १०८ आ. श्री विद्यानंदजी जो कि उस समय क्षुल्लक अवस्था में थे और उनका नाम था क्षुल्लक श्री १०५ पार्श्वकीर्तिजी।

९ सितम्बर १९५५

आज सल्लेखना का २७ वा व जल ग्रहण नही करने का ५ वां दिन था। दोनों समय आचार्य श्री ने जनता को दर्शन देकर कृतकृत्य किया। मध्यान्ह में सिर्फ ७-८ मिनिट ही ठहरे और शुभाशीर्वाद देकर गुफा में चले गये। आज दिन सूरत से जैनमित्र के सम्पादक श्री मूलचद किसनदासजी कपाड़िया भी दर्शनार्थ पधारे। जनता में आचार्य श्री का रिकार्डिंग भाषण सुनाया गया। विशेष बात यह हुई कि परम पूज्य श्री १०८ आचार्य वीरसागर जी का आया हुआ पत्र आचार्य श्री को पढ़कर सुनाया गया।

१० सितम्बर - आचार्य श्री अंतिम बार मुख्य मन्दिर के दर्शनार्थ जाते हुए।

१० सितम्बर १९५५

आज सल्लेखना का २८ वा दिन था। अशक्तता बहुत ज्यादा थी, फिर भी प्रात: अभिषेक के समय आचार्य श्री पधारे और आधा घंटा ठहरे थे। प्रात: अभिषेक के समय पधारने का यह अंतिम दिन था। इसके बाद अभिषेक के समय आचार्य श्री नहीं पधारे। दोपहर मे आचार्य श्री के दर्शनों का लाभ जनता को नहीं मिला। हालत बहुत ही चिंताजनक रही। आज शीत का भी असर मालूम हुआ।

११ सितम्बर - आचार्य श्री आज दिन भर गुफा से बाहर नहीं आये।

११ सितम्बर १९५५

सल्लेखना का आज २९ वा दिन था। आज प्रात और दोपहर दोनो ही समय आचार्य श्री अशक्तता बहुत ज्याद बढ जाने के कारण बाहर नहीं आये, अत जनता दर्शन न कर सकी।

१२ सितम्बर - इस दिन आचार्य श्री के मुख की अलौकिक प्रभा देखने लायक थी।

१२ सितम्बर १९५५

आज सल्लेखना के ३० वे और जल न ग्रहण करने के ८ व दिन आचार्य श्री की हालत चिंताजनक रही। फिर भी जनता के विशेष आग्रह स आचार्य महाराज के दर्शन की छूट द दी गई। आचार्य महाराज बाहर कमरे मे दिन के ९ बजे से ५ बजे तक लेटे हुये आत्म चिंतन करते रहे और ५-६ हजार जनता ने आचार्य श्री के पुनीत दर्शनो का लाभ लिया। आचार्य श्री की हालत अत्यत नाजुक तथा नाड़ी की गति अत्यत मद रही। आखो की ज्योति क्षीण होने के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार की शारिरिक वेदना न होने के कारण आत्मध्यान मे लीन रहे।

१३ सितम्बर - आचार्य श्री के दर्शनो को लालायित जनसमूह को आज निराशा हाथ लगी।

१३ सितम्बर १९५५

कल बाहर के कमरे में आचार्य श्री ४-५ घंटे तक लेटे रहे, जिसके कारण आज काफी कष्ट रहा। नाड़ी की गति अत्यत मद होने पर भी सारा समय गुफा मे आत्मध्यान मे व्यतीत किया। आचार्य श्री की साधना मे कोई विघ्न न हो, इसलिये देशभूषण कुलभूषण मदिर भी दर्शनो के लिए बद रहा। सागर के सेठ भगवानदासजी बीड़ी वाले और प मुन्नालालजी सामगौरया दर्शनार्थ पधारे थे। आचार्य श्री आज गुफा मे बाहर नहीं आये, अत जनता दर्शन लाभ न कर सकी।

१४ सितम्बर - दर्शनार्थियो मे से सुबह ७ से ९ तक महिलाओ ने क्रम से भगवान देशभूषण-कुलभूषण क दर्शन किये पश्चात पुरुषो न।

१४ सितम्बर १९५५

आज सल्लेखना का ३२ वा दिन और जल न ग्रहण करने को १० वा दिन हो जाने पर भी आचार्य श्री की आत्म साधना और ध्यान बराबर जारी रहा। आज दिन उस्मानाबाद के कलेक्टर सा मय पुलिस अफसरान के आचार्य श्री के दर्शनार्थ पधारे थे। कमजोरी अधिक बढ जाने के कारण जनता को आज आचार्य श्री के दर्शन नहीं कराये गये।

१५ सितम्बर - आज आचार्य श्री के पीछी और कमण्डल के ही दर्शन हो पाये।
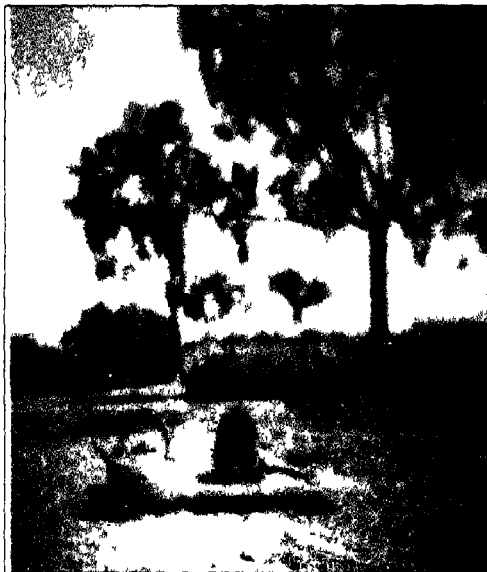
१५ सितम्बर १९५५

सल्लेखना का आज ३३ वा दिन था। आचार्य श्री को आज अशक्तता तो थी ही, नाड़ी की गति भी धीमी रफ्तार से चल रही थी। दर्शनार्थियों का अति आग्रह होने पर भी आचार्य श्री के दर्शन नहीं कराये गये। ऐसी नाजुक हालत पर भी महाराज आत्म साधना में लीन रहे। जनता को आचार्य श्री की पूर्व में उपयोग में लाई गई पीछी व कमंडल के दर्शन कराये गये।

१६ सितम्बर - आचार्य श्री उवाच ....

१६ सितम्बर १९५५

आज सल्लेखना का ३४ वा दिन था। जल न ग्रहण करने का १२ वा। हालत बहुत ही नाजुक थी, फिर भी आत्म ध्यान में गुफा में समय व्यतीत किया। आज दिन सर सेठ भागचंदजी सोनी अजमेर, रा ब सेठ हीरालालजी पाटनी किशनगढ, सेठ गंभीरमलजी पाड्या कुचामन और सेठ मोहनलाल जी बड़जात्या जयपुर से दर्शनार्थ पधारे थे।
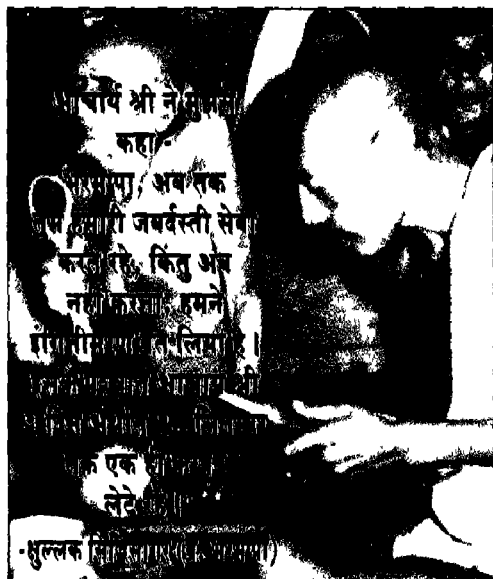
१७ सितम्बर - आचार्य श्री ने पूरा दिन व रात्रि इसी करवट मे ध्यान करते हुए बिताया।

१७ सितम्बर १९५५

आज सल्लेखना का ३५ वा दिन था । आज गुफा की दालान मे आचार्य श्री को लिटा दिया गया। फलत उपस्थित हजारो की जनता ने देशभूषण कुलभूषण मन्दिर तथा आचार्य श्री के पुण्य दर्शनो का लाभ लिया । आज दिन इन्दौर से रा ब सेठ हीरालालजी कासलीवाल, सेठ भवरलालजी सेठी, मध्यभारत के वित्तमत्री श्री मिश्रीलालजी गगवाल, आचार्य श्री के दर्शनार्थ पधारे । शाम को सेठ भवरलालजी सेठी और श्री मिश्रीलाल जी गगवाल का भाषण हुआ । मिश्रीलालजी सा के गुरूभक्ति पर जनता को मत्रमुग्ध करने वाले भजन हुये। आचार्य श्री ने अपना समय आत्म ध्यान मे व्यतीत किया ।

१८ सितम्बर - अतिम दर्शन - आचार्य श्री समाधि के कुछ क्षण पूर्व।

१८ सितम्बर १९५५

आज आचार्य श्री की सल्लेखना का ३६ वा दिन था और आचार्य श्री की इस लोक की जीवन लीला का अतिम दिन । आचार्य श्री जागृत अवस्था मे सिद्धोऽहं का ध्यान करते रहे। ६ ।। बजे गधोदक ले जाकर क्षुल्लक सिद्धिसागरजी ने कहा महाराज अभिषेक का जल है, महाराज ने हू मे उत्तर दिया और गधोदक लगा दिया गया। महाराज सिद्धोऽहं का ध्यान करते हुए ६-५० पर स्वर्गवासी हो गये ।

शंका :

क्या सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान लेट कर किया जा सकता है ?

समाधान :

ध्यान के लिये देश, काल व अवस्था अर्थात् आसन का कोई बंधन नहीं है अर्थात् सर्व देशों में, सर्व कालों में व सभी मुद्राओं में ध्यान किया जा सकता है। देखिये श्री धवलाजी, पुस्तक १३, पृष्ठ : ६६ .-

सव्वासु वट्टमाणा मुण ओ जं देस कालचेट्ठासु ।
वरकेवलादिलाहं पत्ता बहु सो खवियपावा ॥१५॥
तो देसकाल चेट्ठाणियमोज्झाणस्स णत्थि समयम्मि ।
जोगाण समाहाणं जह होई तहा पयइयव्वं ॥२०॥

अर्थ : सब देश, सब काल और सब अवस्थाओं (आसनों) मे विद्यमान मुनि अनेकविध पापों का क्षय करके उत्तम केवलज्ञानादि को प्राप्त हुये ॥१५॥

ध्यान के शास्त्र में देश, काल और चेष्ठा (आसन) का कोई नियम नहीं है। तत्त्वत: जिस तरह योगो का समाधान हो उसी तरह प्रवृत्ति करनी चाहिये ॥२०॥

शंका :

इंगिनीमरण किसे कहते हैं व वह किन-किन आसनों में सधता है ?

समाधान :

इसका उत्तर श्री धवलाजी, पुस्तक १, पृष्ठ २३ से देते हैं :-

आत्मोपकारसव्यपेक्षं परोपकार निरपेक्षं इंगिनीमरणम् ॥

अर्थ - जिस सन्यास मे अपने द्वारा अपने पर किये गये उपकार की अपेक्षा तो रहती है, किन्तु दूसरों के द्वारा अपने पर किये गये वैयावृत्य आदि उपकार की अपेक्षा किंचित् भी नहीं रहती, उसे इंगिनीमरण कहते हैं।

अब इंगिनीमरण के आसनों को श्री भगवती आराधनाजी से बतलाते हैं :-

ठिच्चा णिमिदित्ता वा तुवट्टिदूण व सकाय परिचरणं ।
सयमेव णिरूवसंग्गे कुणदि विहारम्मि सो भयवं ॥२०४१॥

अर्थ : कायोत्सर्ग मे खडे होकर, अथवा बैठकर, अथवा लेटकर एक करवट पर पडे हुए वे मुनिराज स्वयं ही अपने शरीर की क्रिया करते हैं।
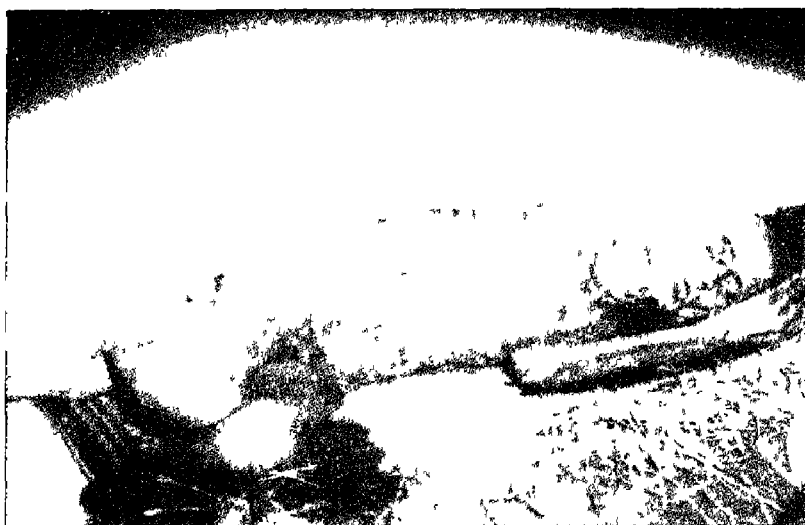
स्वर्गारोहण की रात्रि का वर्णन

आचार्य महाराज का स्वर्गारोहण भादो सुदी दूज को ३६ वे दिन प्रभात मे ६ बजकर ५० मिनट पर हुआ था। उस दिन श्री शान्तिनाथ भुजबली वैद्य, बारामती महाराज की कुटी मे रात्रि भर रहे थे। उन्होने महराज के विषय मे इस प्रकार बताया- दो बजे रात को हमने जब महाराज की नाडी देखी , तो उनकी गति बिगडी हुई अनियमित थी। तीन, चार ठोकर देने के बाद रुकती थी, फिर चलती थी। चार बजे सबेरे श्वास कुछ जोर मे चलने लगा, तब हमने कहा, अब सावधानी की जरूरत है। अत अत्यत समीप है। सबेरे ६ बजे महाराज को सस्तर मे उठाने का विचार क्षुल्लक सिद्धिसागर (ब्र. भरमप्पा) ने व्यक्त किया। महाराज ने सिर हिला कर निषेध किया। इस समय तक वे सावधान थे। उस समय श्वास जोर-जोर से चलती थी। बीच मे धीरे-धीरे रुककर फिर चलने लगती थी। उस समय महाराज के कान मे भट्टारक लक्ष्मीसेनजी ॐ नम: सिद्धेभ्य: तथा णमोकार मत्र सुनाते थे। ६ बजकर ४० मीनिट पर मेरे कहने पर महाराज को बैठाया। कारण, मैंने कहा कि अब देर नही है। उनको उठाया पद्मासन किया, तब श्वास मद हो गई। ओष्ठ अतिमन्द रूप से हिलते हुए सूचित करते थे कि वे जाप कर रहे हैं। एक दीर्घ श्वास आया और हमारा सौभाग्य सूर्य अस्त हो गया। उस समय उनके मुख मे अन्त मे ॐ सिद्धाय शब्द मन्द ध्वनि मे निकले थे। श्री शान्तिनाथ भुजबली वैद्य, बारामती ने यह भी कहा कि- रात मे दो बजे से हाथ-पैर ठण्डे हो रहे थे। रुधिर का सचार कम होता जा रहा था। हमारी धारणा है कि महाराज का प्राणोत्क्रमण नेत्रो के द्वारा हुआ। मुख पर जीवित सदृश तेज विद्यमान रहा आया था।

अंतत: आचार्य श्री ने इंगनिमरण साध ही लिया

मृत्यु के क्षण के तीन दिन पूर्व से आचार्य श्री के -
न मल था, न मूत्र, न स्वेद, न भूख, न प्यास, न रोग, न शोक, न पीडा, न क्रंदन,
न कराह, न आक्रोश, न खीझ, न निराशा, न आशा,
न किसी से सेवा ली और न ही स्वयं ही स्वयं की सेवा की,
आयु कर्म पूर्ण होने तक लेटे रहे एक ही करवट,
उनके न नींद थी, न प्रमाद, न प्रसन्नता, न खेद, न क्लेश.........
कुछ नहीं, कुछ भी नही था उनके पास...........
सिवाय सिद्धोऽहं व सिद्ध शरण के भावों के।
आयु कर्म पूर्ण हुआ और दीक्षा काल में जैसे निर्मम होकर त्यागे थे वस्त्र, ठीक उसी तरह अत्यंत निर्मम भाव से त्याग दी देह,
मानो साक्षात् स्वयं अपनी देह का त्याग करते हुए स्वयं का साक्षात्कार किया हो।
ऐसा मृत्यु महोत्सव तो इस कलिकाल की इस सदी के भूतकाल में तो हुआ ही नहीं,
किंतु संभवत: भविष्य मे भी विरलों को ही होगा।
ॐ शांति शांति शांति

समाधि के उपरांत

अत्यमस्कार विधि का निर्देशन स्वस्ति श्री भट्टारक जिनसनजी एव स्वस्तिश्री भट्टारक लक्ष्मीसनजी द्वारा किया गया ।

१८ सितम्बर १९५५

आचार्य श्री की पार्थिव दह को पद्मासन म बैठाने की तैयारी।

१८ सितम्बर - आचार्य श्री की पालकी मे बिठान हेतु पद्मासनस्थ दह।

१८ सितम्बर १९५५

समाधिमरण के बाद आचार्य श्री की पद्मासनस्थ पार्थिव देह।

१८ सितम्बर - आचार्य श्री की पालकी उठाने को उद्यत जन समूह।

१८ सितम्बर १९५५

आचार्य श्री की पालकी उठाने का उद्यत जन समूह।

१८ सितम्बर -आचार्य श्री की अन्त्ययात्रा।

१८ सितम्बर १९५५

महाराज का शरीर विमान में लाया जा रहा है।

१८ सितम्बर -अंत्यक्रियाविधि के पूर्व का दृश्य (आचार्य श्री की पार्थिव देह के अंतिम दर्शन)।

१८ सितम्बर १९५५

महाराज का विमान पाण्डुक शिला पर। १०५ क्षुल्लक श्री पार्श्वकीर्तिजी (आचार्य विद्यानंदजी) सीढ़ियों पर विराजमान है।

१८ सितम्बर - क्षुल्लक पार्श्वकीर्तिजी (आचार्य विद्यानंदजी) अंत्यक्रियाविधि में आगम निर्देशित पाठ का वाचन करने को उद्यत।

१८ सितम्बर १९५५

आचार्य श्री को दी जाने वाली मुखाग्नि के समीप विराजमान आचार्य श्री के अन्त्यसंस्कारविधि के अंतर्गत आगम निर्देशित पाठ का वाचन करने की तैयारी सहित क्षुल्लक १०५ श्री पार्श्वकीर्तिजी (आचार्य श्री विद्यानंदजी)।

१८ सितम्बर - अंत्यसंस्कारविधि के अंतर्गत आगम निर्देशित विधि अनुसार आचार्य श्री की पार्थिव देह का दुग्धाभिषेक।

१८ सितम्बर १९८८

आचार्य श्री के अंत्य संस्कार के अंतर्गत पीठ की ओर से किये जाने वाले पंचामृताभिषेक में से दुग्धाभिषेक का दृश्य। अभिषेक कर्त्ता हुईं सुप्रसिद्ध उद्योगपति गोविंदरावजी दोशी की धर्मपत्नी कुमुदिनी दोशी।

१८ सितम्बर - अंत्यसंस्कारविधि के अंतर्गत आगम निर्देशित विधि अनुसार आचार्य श्री की पार्थिव देह का अर्घार्पण।

१८ सितम्बर १९८८

आचार्य श्री की अंत्यक्रिया के अंतर्गत पीठ की ओर से की जाने वाली पूजन विधि में दिग्दर्शित अर्घार्पण का दृश्य।

१८ सितम्बर - आचार्य श्री पार्थिव देह को दी जा रही मुखाग्नि।

१८ सितम्बर १९५५

श्वेत चदन, कपूर, घी आदि से सुसजित चिता को मुखाग्नि दिये जाने का दृश्य।

१८ सितम्बर - आचार्य श्री की पार्थिव देह को पंच भूत में विलीन करती अंत्याग्नि।

१८ सितम्बर १९५५

आचार्य श्री की देह को पंच तत्त्व मे विलिन करती अंत्याग्नी।

१८ सितम्बर(दिल्ली) - आचार्य श्री के प्रति श्रद्धांजली व्यक्त करने हेतु निकाली गयी रैली का दृश्य।

१८ सितम्बर १९९५

आचार्य श्री के प्रति श्रद्धाजली व्यक्त करने हेतु निकाली गयी भव्य रैली का एक दृश्य।

१८ सितम्बर(दिल्ली) - आचार्य श्री के प्रति श्रद्धाजली व्यक्त करने हेतु आयोजित किये गये सभा मण्डप के समीप पहुंचती हुई रैली का दृश्य।

१८ सितम्बर १९९५

आचार्य श्री को श्रद्धाजली व्यक्त करने हेतु निकाली गयी रैली का दूसरा दृश्य।

एक इतिहास यह भी

(१८ सितम्बर १९५५ - आचार्य श्री के स्वर्गारोहण के समाचार प्राप्त होने के साथ ही राजधानी दिल्ली में आयोजित श्रद्धांजली सभा)

१८ सितम्बर १९५५

उपराष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन ने अपने समस्त पूर्व निर्धारित कार्यक्रमों व अनुबंधों को निरस्त कर उस विराट श्रद्धांजली सभा में न सिर्फ भारत सरकार के प्रतिनिधि के रूप में शिरकत की, अपितु उस सभा की अध्यक्षता भी की। चित्र में डॉ. राधाकृष्णन जी आचार्य श्री के प्रति श्रद्धांजली व्यक्त करता हुआ अध्यक्षीय भाषण देते हुए दिख रहे है।

१८ सितम्बर - केन्द्रीय खाद्य मंत्री श्री अजीतप्रसादजी जैन आचार्य श्री के प्रति अपनी श्रद्धांजली अभिव्यक्त करते हुए।

१८ सितम्बर १९५५

इस श्रद्धांजली सभा में उप राष्ट्रपति महोदय के साथ-साथ केन्द्रीय खाद्य मंत्री श्री अजीतप्रसादजी जैन भी उपस्थित रहे।

अचार्य श्री व उनके प्रथम शिष्य प्रथम पट्टाचार्य १०८ श्री वीरसागरजी महाराज
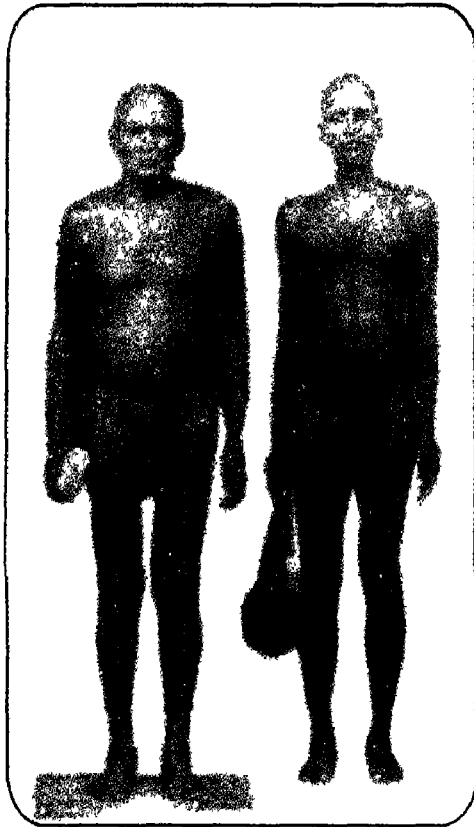
आचार्य श्री की अंतिम आज्ञा प्रथम पट्टाचार्य
१०८ श्री वीरसागरजी महाराज के लिए :-

"आगम के अनुसार प्रवृत्ति करना, हमारी ही तरह समाधि धारण करना और सुयोग्य शिष्य को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करना, जिससे परम्परा बराबर चले।"

आचार्य श्री के चार स्वप्न

१) लोणंद में : लोणंद चातुर्मास के अन्त में आचार्य महाराज को यह स्वप्न रात्रि के अंतिम प्रहर में दिखाई पड़ा था-आचार्यश्री के आसपास ५०० सेअधिक व्यक्ति बैठे थे। उस समय १२ हाथ लंबा सर्प घेरा बाँधकर बैठा था। वह लोगों के पास से आकर महाराज के सिर पर चढ़ गया। उस समय महाराज ने लोगों को चुप रहने को कहा, इतने में सर्प चला गया।

इस स्वप्न का अर्थ महाराज ने यह समझा कि सर्प यमराज का प्रतीक था। सर्प चला गया, इससे अपमृत्यु का संकट दूर हो गया, ऐसा सूचित होता था।

२) फलटण में : फलटण के चातुर्मास में सन् १९५४ के कार्तिक मास में महाराज ने एक स्वप्न देखा कि उनसे जिनशासन की देवी नेयह कहा कि अब अन्न का आहार छोड़ दो।

सबेरे आदिनाथ मंदिर में जाकर उन्होंने अन्न-आहार का त्याग कर दिया।

३) वारसी में : तीसरा स्वप्न वारसी में अर्धजागृत अवस्था में एक विशाल गजेन्द्र सदृश स्थूलकाय सिंह दिखा। उसके मुख में एक आदमी समा सकता था। उसने महाराज की गर्दन को पकड़कर अपने मुँह में रख लिया, किन्तु दाँत नहीं लगे।

महाराज ने शांत भाव से सिद्ध भगवान् का स्मरण किया। उन्होंने सिंह का कान पकड़ा। इतने में नींद खुल गई।
इसका महाराज ने यह अर्थ निकला कि उनका जीवन संकट में है। विपत्ति जीवित है, किन्तु अन्नत्याग द्वारा अकाल मरण टलेगा, ऐसा प्रतीत हुआ।

४) कुंथुलगिरि में : चौथा स्वप्न कुंथलगिरि में इस प्रकार आया था कि एक समय महाराज जंगल में अकेले खड़े थे। एक मजबूत सींगों वाला भयंकर जंगली भैंसा रोषपूर्वक दौड़ता हुआ महाराज पर झपटा। उस समय एक मुनि हाथ में पिच्छी लेकर दस फीट की दूरी पर आ गये। उनके हाथ में एक तीन हाथ लंबी लकड़ी थी। उससे उस मुनि ने भैंसे को खूब मारा। पिटाई के कारण थक कर वह भैंसा गिर पड़ा। उस समय महाराज सिद्ध भगवान् का जाप कर रहे थे। मुनि ने महाराज सेकहा कि अब आप संकट मुक्त हैं, चले जाइये। महाराज ने कहा कि मुनि होकर तुमने इस प्रकार हिंसा का कार्य क्यों किया ? यहाँ से दूर चलेजाओ ।
इस स्वप्न से आचार्य महाराज ने सोचा कि विपत्ति तो दूर हो गई, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रशांत मुनि का दर्शन आगे दुर्लभ होगा। महाराज ने मौन पूर्वक पाँच उपवास का नियम लिया था।

इन स्वप्नों का वर्णन महाराज ने अपने विश्वासपात्र भक्तों को सुनाया था, जिनके समक्ष वे अपने मन की बात संकोच रहित हो कहते थे।

****

आचार्य श्री के मुनि दीक्षा गुरु के विषय में पं. सुमेरुचंद्रजी दिवाकर का स्पष्टीकरण

विद्वत्‌रत्न सुमेरुचन्द्र दिवाकर शास्त्री
बी. ए, एल एल बी, धर्म दिवाकर, न्यायतीर्थ

दिवाकर सदन
सिवनी (म. प्र.)
२६-६-१९९२

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

विशेष विज्ञप्ति — पू. माता विशुद्धमतीजी ने परम पूज्य १०८ श्रमणशिरोमणि साधुराज आचार्य शांतिसागर महाराज के बारे में मेरे द्वारा लिखी गई रचना चारित्रचक्रवर्ती की ओर जनता का ध्यान महत्वपूर्ण उपयोगी कार्य किया है।

यह बात उल्लेखनीय है कि शांतिसागर महाराज को मुनि दीक्षा प्रदाता देवेन्द्रकीर्ति महाराज थे।

निवेदक - सुमेरुचंद्र दिवाकर

कोन्नूर की गुफा का एक दृश्य।

कोन्नूर की गुफा का दूसरा दृश्य।

आ. श्री जैन मंदिर के निर्माण की चर्चा करते हुए।

कुछ ग्रामवासियों के साथ आचार्य महाराज।
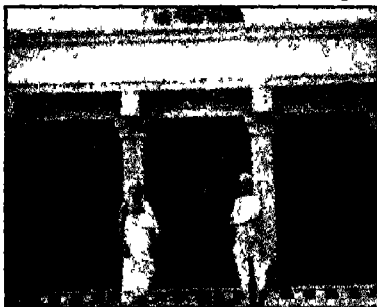
दिगम्बर जैन मंदिर भोज (दाहिनी ओर लेखक खड़े हैं)

आचार्य श्री के गमन का भव्य दृश्य।
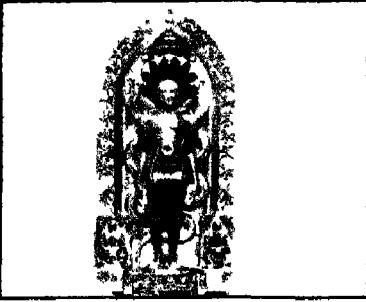
भगवान पार्श्वनाथ की यक्ष यक्षिणी सहित कलात्मक मूर्ति।

महाराज के जेष्ठ बंधु श्री देवगौड़ा (मुनि वर्धमानसागरजी) एव कनिष्ठ भ्राता कुमगौड़ा छोटी बहिन एव कृष्णाबाई।
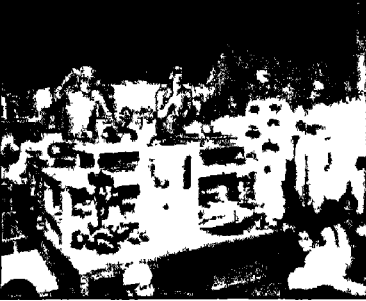
बारामति में आचार्य श्री व मुनि नेमिसागरजी केशलोंच करते हुए।

मुनि पायसागरजी, आचार्य श्री, तथा नेमीसागरजी।

भोजग्राम की वेदगगा, दूधगगा का सगम।

भगवान बाहुबली की मूर्ति का छत पर बैठकर आ. श्री। ने दर्शन किया था।

प्रधानमत्री नेहरूजी इदिरा गाधी के साथ बाहुबली के चरणों में।

महाराज की ७६ वी वर्षगाठ के अवसर पर ७६ फल परिपूर्ण थालियों द्वारा पूजन।

वेदगगा, दूधगगा के सगम का दृश्य । नाव पर लेखक बैठे है ।

लेखक द्वारा सम्पादित तथा अनुवादित प्राकृत का प्राचीनतम दिगम्बर जैन धर्म साहित्य का महान ग्रंथ महाधवल का आ. श्री को समर्पण का दृश्य (सोलापुर में)

दुकान जहा आ. श्री बैठा करते थे । बाहर लेखक खड़े हैं ।

आचार्य श्री आत्मचिंतन मुद्रा मे ।

आचार्य महाराज ग्रंथ परिशीलन मे निमग्न ।

आचार्य महाराज विचार निमग्न ।

आचार्य महाराज ध्यानास्थ ।

आचार्य श्री का कमडल, आसन, पिच्छी व ग्रथ ।

केन्द्रीय शिक्षा मंत्री श्री मौलाना अब्दुलकलाम आजाद
श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के पंडाल में प्रवेश कर रहे हैं (देहली)।

केन्द्रीय यातायात मंत्री श्री गोपालस्वामी अय्यंगार
श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के पंडाल में प्रवेश कर रहे हैं (देहली)।

परिशिष्ट - १

१. **प्रतिज्ञा - २ (पूर्व-भूमिका)**
(हरिजन मंदिर प्रवेश एक्ट के विरुद्ध आचार्य श्री)

२. **प्रतिज्ञा - २**
(हरिजन मंदिर प्रवेश एक्ट बिल के संबंध में केन्द्रिय सरकार आचार्य श्री के पक्ष में)

३. **ऐतिहासिक दस्तावेज**
(केन्द्रिय सरकार को आचार्य श्री के पक्ष में दर्शाते ऐतिहासिक दस्तावेज)

४. **आचार्य श्री के पक्ष में ....**
(आचार्य श्री के पक्ष में दिये गये बंबई हायकोर्ट के आदेश का छायाचित्र व हिंदी अनुवाद)

देहली में प्रधानमंत्री माननीय पं. नेहरू का महासभा अधिवेश में शुभागमन
महासभा अध्यक्ष सर सेठ भागचंदजी और भैया साहब राजकुमारसिंहजी (इन्दौर) आदि द्वारा स्वागत

महासभा अधिवेशन में माननीय प्रधानमंत्री विदेशी राजदूतों के साथ स्वागत समारोह के कार्यक्रम में।
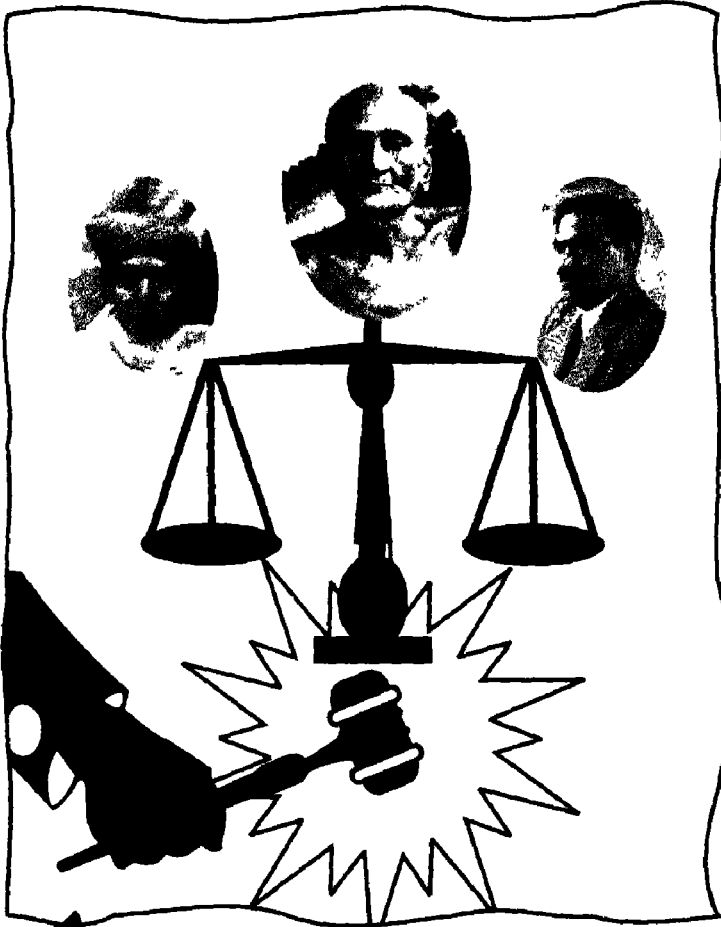
प्रतिज्ञा - २

प्रतिज्ञा-२ (पूर्व-भूमिका)

अंग्रेजों के शासन काल (१८३१) से ही जैनियों की गणना हिंदुओं से सर्वथा भिन्न व स्वतंत्र धर्म के रूप में होती आई थी, किंतु पता नहीं स्वतंत्र भारत की प्रांतीय सरकार गव्हर्नमेन्ट ऑफ बोम्बे (महाराष्ट्र-सरकार) किस चिंतन से प्रभावित हुई कि उसने सन् १९४७ से प्रभाशाली हरीजन टेंपल एन्ट्री एक्ट, जिसके कि तहत हरजिनों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य स्वर्ण हिन्दुओं की ही तरह हिन्दु मंदिरों में प्रवेश व पूजा-पाठ आदि का अधिकार प्राप्त हो जाता है, की व्याख्या में जैनियों की भी गणना हिंदुओं में करनी प्रारंभ कर दी व घोषणा कर दी कि हिंदु इन्क्लुड्स जैन अर्थात् जैन हिंदुओं में सम्मिलित हैं, उनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, अतः हरिजनों को हिंदु मंदिरों की ही तरह जैन मंदिरों के भी उपयोग का पूरा-पूरा अधिकार है ।।

इस निर्णय के विरुद्ध जैन समाज द्वारा तीव्र प्रतिक्रिया परमपूज्य आचार्य शांतिसागर जी महाराज के नेतृत्व में की गई ।। सरलता से कोई निर्णय न आता देख आचार्य श्री ने १५/८/१९४८ को फलटन(महा.) में प्रतिज्ञा की कि **जब तक धर्म पर आया यह उपसर्ग समीचीनतया टल नहीं जाता अर्थात् जब तक श्रमण संस्कृति(जैन-धर्म) को वैदिक संस्कृति(हिंदु-धर्म) से सर्वथा भिन्न संस्कृति के रूप में संवैधानिक तौर पर शासन द्वारा स्वीकार नहीं कर लिया जाता, तब तक वे अन्न ग्रहण नहीं करेंगे ।।**

इस आंदोलन में सरकार पर दबाव बनाने के उद्देश्य से परमपूज्य मुनिवर श्रेयाँस सागरजी महाराज ने आमरण अनशन धारण किया ।। ११वें दिन उनका स्वर्गवास हो गया ।। सम्पूर्ण जैन समाज में क्षोभ का वातावरण छा गया, जिसकी कि तीव्र व तीखी प्रतिक्रिया रूप चारों ओर से इस एक्ट के विरुद्ध में सैकडों की तादाद में टेलिग्राम व पत्र भारत सरकार व गव्हर्नमेन्ट ऑफ बोम्बे (महाराष्ट्र-सरकार) को भेजे गये, किंतु गव्हर्नमेन्ट ऑफ बोम्बे (महाराष्ट्र-सरकार) के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगी व भारत सरकार चूँकि २६ जनवरी सन् १९५० से क्रियान्वय होने वाले स्वतंत्र भारत के स्वतंत्र संविधान के प्रारूप की निर्मिति व खानापूर्ति में लगी थी, अतः संवैधानिक, सामाजिक, राजनैतिक, अथवा अन्य भी सामयिक व दीर्घकालिक समस्याओं व उनके समाधान की ओर लक्ष्य नहीं दे पा रही थी ।।

आचार्य श्री को चिंता हुई व उन्होंने निर्णय लिया कि जो स्थिति जैनियों की गव्हर्नमेन्ट ऑफ बोम्बे (महाराष्ट्र-सरकार)के संविधान में है, वही स्थिति कहीं केन्द्र सरकार में भी न हो जाये, अतः केन्द्र सरकार को स्वतंत्र भारत के नवीन संविधान के पारित होने के पूर्व अपने

पक्ष में लेने का उद्यम, बम्बई सरकार के विरुद्ध किये जा रहे उद्यम के साथ-साथ किया जाय।। इसी निर्णय के अनुसार आचार्य श्री के निर्देशन में केन्द्र सरकार को जैनियों के पक्ष में किये जाने की कथा का निरुपण इस प्रतिज्ञा-२ शीर्षक के तहत किया गया है।।

आइये, आचार्य श्री के निर्देशन के तहत जैन-धर्मावलम्बियों पर आये इस उपसर्ग के निवारणार्थ केन्द्र सरकार को जैन-धर्मावलम्बियों के पक्ष में लेने के सफल प्रयास की कथा का हम भी पारायण करें।।

सूचना :- यहाँ इस सत्य को हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यह प्रकरण पं. सुमेरुचंद्रजी का लिखा हुआ नहीं है।। इस प्रकरण को हमने परमपूज्य १०८ आचार्य वर्धमान सागरजी, स्वस्ति श्री भट्टारक चारुकीर्तिजी, महासभा अध्यक्ष आदरणीय निर्मलकुमारजी सेठी व सुप्रसिद्ध दानपति, जो कि इस प्रकाशन के भी दानपति हैं व जिनका बहुकाल आचार्य श्री के सान्निध्य में गुजरा है, ऐसे वयोवृद्ध महामना श्री कांतिलालजी ज़वेरी आदि के परामर्शानुसार भव्य जीवों को इतिहास के समीचीन बोधार्थ मूल ग्रंथ से सर्वथा पृथक इस परिशिष्ट अंतरे (कॉलम) में मुद्रित करवाया है।। इस लेख का लेखन सन् १९५१ में सुप्रसिद्ध विद्वान श्री वर्द्धमान जी पार्श्वनाथ शास्त्री (विद्यावाचस्पति, न्यायकाव्यतीर्थ), शोलापुर(महा.) के सुप्रयासों व संपादन दायित्व में ऐतिहासिक दस्तावेज़ के रूप में प्रकाशित व स्वयं आचार्य श्री एवं पं. सुमेरुचंद्रजी दिवाकर द्वारा अवलोकित-प्रशंसित जैन बोधक(तत्कालीन सुप्रसिद्ध मासिक पत्र) के धर्म विजय ध्वजांक-अपर नाम - श्री आचार्य शांतिसागर विशेषांक से ग्रहण कर व अकलुज(महा.) के प्रत्यक्षदर्शी महानुभावों व उनके परिवारजनों द्वारा उपलब्ध करवाई गई सामग्रियों के आधार से सुप्रसिद्ध विद्वान पं. हेमन्तजी काला, मुंबई, वर्तमान निवास इंदौर द्वारा करवाया गया है।।

इस लेख के लेखन का एक कारण और भी बना, और वह यह कि स्वयं पं. सुमेरुचंद्रजी दिवाकर ने अपने १९५३ के चारित्र चक्रवर्ती के प्रथम संस्करण में दिगम्बरत्व शीर्षक से पं. जवाहरलालजी द्वारा लिखे गये उपर्युक्त विषय से संबंधित एक बहुमूल्य व महत्वपूर्ण पत्र का पृष्ठ५३३ पर उल्लेख किया है, किंतु यह पत्र जैन समाज के किस विशिष्ट व्यक्ति को भेजा गया, क्यों भेजा गया व उस विशिष्ट व्यक्ति ने वे कौन से उपाय किये कि प्रधानमंत्री कार्यालय इस पत्र को प्रेषित करने को बाध्य हो गया अथवा क्या वो पत्र व्यक्तिगत् था या कि उसे जैन समाज को प्रेषित किया गया था या कहीं यह भी तो स्वयं आचार्य श्री के ही किसी मिशन का अंग नहीं था आदि इस पत्र से संबंधित वाचक के चित्त में सहज ही उठने वाले प्रश्नों का समाधान नहीं किया है।। यहाँ से आगे की कथा में कहे जाने वाले दो नायकों में से एक के नाम यह पत्र आया था, जिसके कि नाम्मोल्लेख, उद्देश्य व कार्य के विवेचन सहित, हम उपर्युक्त पत्र की मूल प्रति की फोटो, अन्य सामग्रियों के साथ मुद्रित करने जा रहे हैं।।

****

प्रतिज्ञा-२

पं. सुमेरूचंद्र जी दिवाकर द्वारा राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसादजी की ओर से २१ अगस्त १९५० को गव्हर्नमेन्ट ऑफ बोम्बे (महाराष्ट्र-सरकार)द्वारा हरिजनों अथवा स्वर्ण हिंदुओं के जैनायतनों में प्रवेश अधिकार को लेकर उत्पन्न किये गये संवैधानिक-विवाद को शिथिल करने के उद्देश्य से जैनियों के पक्ष में पहल करने हेतु लिखे गये पत्र के प्रत्युत्तर में यह उत्तर प्राप्त हुआ कि इस विषय में राष्ट्रपति की हैसियत से वे प्रत्यक्ष रूप में कुछ नहीं कर सकेंगे। इस सम्बन्ध में उन्हें (जैनधर्मावलम्बियों को) भारत सरकार से निवेदन करना चाहिए।

संभवतः आचार्यश्री को राष्ट्रपति अथवा कहें कि भारत सरकार की ओर से आने वाले इस प्रत्युत्तर का पूर्वाभाष हो गया था व तदनुसार भाव आया कि प्रांतीय स्तर पर उत्पन्न स्थिति कहीं केन्द्रिय न बन जाये, इसलिये प्रथम स्वतंत्र भारत का स्वतंत्र संविधान निर्मिति में तत्पर केन्द्र सरकार को ही अपने पक्ष में करने हेतु पहल की जाये।। इस कार्य हेतु उनका मन समानान्तर कार्यकर्ताओं के एक और गठन का हो रहा था।।

नवम्बर १९४९ की बात है यह।। इस समय आचार्यश्री रावलगाँव (नासिक, महा.) में विराजमान थे।। अनन्य चिंतन के पश्चात् उन्हें दक्षिण महाराष्ट्र(सांगली-कोल्हापुर) के सुप्रसिद्ध राजनितिज्ञ व कांग्रेस के प्रथम श्रेणी के कार्यकर्ता व श्री बाबासाहेब आंबेडकर के विश्वस्त श्री शिरगूरकरजी पाटील की याद आई।। शिरगूरकर पाटील महाराज के अनन्य भक्तों में से न सिर्फ एक थे, अपितु इस आपातकाल में अपनी विशिष्ट सेवायें देने का आश्वासन न सिर्फ कई बार दे चुके थे, अपितु उस अनुसार सहयोग भी दिया था।।

आचार्यश्री ने उन्हें बुलवाने का निर्देश दिया।।

वे आये।। संक्षेप में ही आचार्यश्री का मंतव्य अनुमान कर इस कुशल राजनितिज्ञ ने आचार्यश्री से निवेदन किया कि वे आचार्यश्री द्वारा नियुक्त डेप्यूटेशन को न सिर्फ अन्यान्य केन्द्रिय प्रतिनिधियों से मिलवा देंगे, अपितु तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल जी नेहरू से मुलाकात का सम्यक् आयोजन भी करवा देंगे, किंतु...

किंतु शब्द का प्रयोग कर पाटीलजी ठहर गये।।

आचार्य श्री ने पूछा कि किंतु क्या ?

पाटीलजी ने कहा कि वे तो राजनितिज्ञ हैं, जैन विद्वान नहीं।। जैन विद्वान के रूप में

वे आचार्य श्री का पक्ष इन राजनितिज्ञों के सम्मुख नहीं रख पायेंगे।। इस कार्य के लिये उन्हें आचार्य श्री के प्रतिनिधि के रूप में एक ऐसे सुयोग्य विद्वान की आवश्यकता है, जो कि न सिर्फ जैनागम का ज्ञाता हो, अपितु अद्भुत शब्द सामर्थ्य का धनी, अपने विषय को प्रस्तुत करने में कुशल व व्यवहार कौशल्य का पुंज हो।। निर्भिक भी होना चाहिये उसे ।।

इस पर आचार्य श्री ने पूछा कि ऐसा क्यों ?

इस पर पाटील जी का उत्तर था कि उस प्रतिनिधि को किसी सामान्य मंत्रियों या सरकारी प्रतिनिधियों के ही नहीं, अपितु महामहिम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसादजी, श्री श्री बाबासाहेब आंबेड़करजी, महामना मौलाना आजादजी व षट्दर्शन पारंगत महामना महाविद्वान एवं वाद कुशल प्रधानमंत्री पं. जवाहरलालजी नेहरू आदि के समक्ष भी अपना पक्ष रखना है।।

यहाँ शिरगूरकर जी प्रतिनिधि पात्र का बखान कर रहे थे कि वह कैसा होना चाहिये और वहाँ आचार्यश्री के मस्तिष्क में एक ही नाम रह-रह कर उभर रहा था और वह नाम था पं. तनसुखलाल जी काला।।

आचार्यश्री ने तुरंत पं. तनसुखलाल जी काला को उपस्थित होने का निर्देश दिया।।

आचार्यश्री जिस भूमि से विहार करते हुए रावलगाँव पहुँचे थे, वही नांदगांव की भूमि पंडित जी की क्रिडा व कर्मभूमि थी।। अकेले पंड़ितजी की ही नहीं, अपितु यह वह वह भूमि है जिससे जन्म, क्रिडा या कर्म, किसी न किसी अपेक्षा से प्रथम पट्टाचार्य वीरसागरजी, द्वितीय पट्टाचार्य शिवसागरजी, आचार्यकल्प चंद्रसागरजी, आचार्य श्रेयाँस सागरजी, मुनिवर्य अजेयसागरजी, मुनिवर्य अनमोल सागरजी, आर्यिका अर्हमति माताजी, आर्यिकारत्न श्रेयाँसमति माताजी, आर्यिका अनमोलमति माताजी आदि संबंधित रहे।। यह वही गाँव है जहाँ पर न सिर्फ जैन जगत के सुप्रसिद्ध साप्ताहिक जैन दर्शन के सह संपादक पं. प्रवर तेजपालजी काला रहते थे, अपितु जगप्रसिद्ध क्रांतिकारी माणिकचंदजी पहाडे की भी कर्म भूमि रही है।।

किसी न किसी अपेक्षा से कह सकते हैं कि प्रज्ञा भूमि है यह।।

आचार्य श्री के आदेशानुसार पंड़ितजी आये।।आचार्यश्री ने पंडितजी को आदेश दिया कि अपने सारे ही आजीविका व सामाजिक कार्यों को स्थगित कर तुरंत शिरगूरकर पाटील के साथ दिल्ली रवाना हो जायें।।

पंड़ितजी ने आज्ञा शिरोधार्य की।।

गमन के पूर्व की औपचारिकतायें पूर्ण कर आचार्य श्री का शुभाशीर्वाद ले शुभ मुहुर्त में दोनों ही दिग्गज महामना सहयोगी श्री जयचंदजी लौहाड़े(हैद्राबाद) को साथ ले दिल्ली रवाना हुए।। समूचा नांदगांव उन्हें विदा देने उपस्थित था।।

२३.११.१९४९ को वे दिल्ली पहुँचे॥

दिल्ली पहुँच कर सर्व प्रथम दोनों ही महानुभावों ने अपने-अपने कार्य बाँट लिये॥ जहाँ पाटील जी राजनितिक सुप्रयत्नों में लग गये, वहीं पंडितजी सामाजिक चेतना को प्रस्फुट करने के प्रयासों में॥ अपने-अपने कार्य के अनुसार रहने का स्थान भी तय किया गया॥ पंड़ितजी ने रहने के लिये महासभा का कार्यालय चुना, तो शिरगूरकरजी ने १०, सेन्ट्रल कोर्ट, नई दिल्ली॥

अपने निवास की व्यवस्था एवं सामाजिक चेतना को प्रस्फुट करने के लिये पंडितजी ने श्री परसादीलालजी पाटणी(महामंत्री-श्री भारतवर्षीय दिगंबर जैन धर्मसंरक्षिणी महासभा) से संपर्क किया॥ उन्होंने न सिर्फ पंडितजी के निवास की व्यवस्था करके दी, अपितु सप्तम प्रतिमाधारी पंडितजी के दैनिक भोजन की भी सुव्यवस्था की॥ वैसे कार्य संपन्न होने तक पंडितजी एक समय के भोजन व जल ग्रहण की प्रतिज्ञा आचार्य श्री से लेकर ही नांदगाँव से चले थे॥ पाटणीजी ने ही अन्यान्य समाज के वरिष्ठ महानुभावों से पंड़ितजी का परिचय करवाया॥ इनमें से अधिकांश या तो पंडितजी से पूर्व से परिचित थे, या फिर पंडितजी का नाम सुन रक्खा था॥ ये सभी एकमत से इस कार्य में अपना सर्वांग सहयोग देने कटिबद्ध हुए॥

इन्हीं महामनाओं के सहयोग से पंडितजी ने दैनिक सभाओं व व्यक्तिगत सम्पर्कों के जरिये जन-जागरण का भी कार्य प्रारंभ किया॥ सामाजिक स्तर पर एक माहौल की निर्मिति होने लगी॥ कुछ ही दिनों में आम आदमी तक सार्वाजनिक चर्चाओं में आचार्य श्री व आचार्य श्री के पक्ष को लेकर चर्चा करने लगा, जिसकी गूँज आम राजनैतिक कार्यकर्ताओं के माध्यम से सत्ता के गलियारों तक पहुँचने लगी॥

इसी बीच शिरगुरकरजी के व्यक्तिगत सुप्रयत्नों से सर्वप्रधम एक औपचारिक मुलाकात राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद जी से उनके निवास स्थान पर ५ दिसम्बर १९४९ को हुई॥ शिरगूरकरजी ने राष्ट्रपति महोदय से पंडितजी का परिचय करवाते हुए पंडितजी को विस्तृत चर्चा के लिये आगे किया॥ पंडितजी की शैली व विषय प्रस्तुतिकरण की विधा देख शिरगूरकर पाटील अचम्भित से रह गये व उनका आत्मविश्वास सुदृढ़ हो गया कि नहीं, अब कार्य हो जायेगा॥

पंडितजी द्वारा प्रेषित आचार्यश्री के आशीर्वाद को राष्ट्रपति महोदय ने शिरोधार्य किया व पश्चात् पंडितजी ने प्रश्नोत्तरात्मक व चर्चात्मक शैली में जैन धर्मावलम्बियों की वर्तमान स्थिति, आचार्यश्री का पक्ष व जैनधर्म की सनातनता पर संक्षेप में, किंतु सारगर्भित प्रमाण प्रस्तुत किये॥

राष्ट्रपति महोदय प्रभावित हुए॥

विदा काल में उन्होंने आचार्यश्री को न सिर्फ अपना नमोस्तु कहने को कहा, अपितु

जैन धर्म पर आई विपत्ति को दूर करने का आश्वासन भी दिया।।

राष्ट्रपति महोदय से पंडितजी की मुलाकात करवाने में शिरगूरकर पाटीलजी को कई समस्याओं का सामना करना पड़ा।। उन कई समस्याओं में से एक समस्या यह थी कि पंडितजी को वे किस अधिकारिक व्यक्ती के रूप में आचार्यश्री व जैनधर्म का पक्ष लेकर सरकारी प्रतिनिधियों से मिलवायें ? सरकारी महकमों में वे सम्पूर्ण दिगंबर जैन समाज के प्रतिनिधि के रूप में पंडितजी का क्या कह कर परिचय करवायें ? यद्यपि आचार्यश्री की ओर से अधिकृत अधिकार मौखिक रूप से तो प्राप्त हो गया था, किंतु लिखित रूप में प्राप्त नहीं हुआ था।। सरकारी महकमों में लिखित अधिकृतता का ही महत्व है, मौखिक का नहीं।। यह समस्या आदरणीय प्रधानमंत्रीजी से मुलाकात के प्रयासों में न आये, इसलिये शिरगूरकरजी ने पंडितजी के पक्ष में अधिकार-पत्र प्रेषित करने हेतु आचार्यश्री को टेलिग्राम प्रेषित किया।।

आचार्यश्री ने निवेदन की गंभीरता व उपयोगिता पर गौर करते हुए तुरंत ही गोपाल दिगंबर जैन संस्कृत महाविद्यालय, मुरैना(म.प्र.) एवं बीसवीं सदी के द्वितीय दशक के श्री भारतवर्षीय दिगंबर जैन धर्मसंरक्षिणी महासभा के अध्यक्ष व सुप्रसिद्ध उद्योगपति शाह सखाराम रावजी दोशी (सोलापुर, महा.) के सुपुत्र, जो कि न सिर्फ सुप्रसिद्ध उद्योगपति (कार्यकारी संचालक : रावलगांव शुगर फेक्ट्री, मालेगांव (महा.)) थे, अपितु सामाजिक व राजनैतिक क्षेत्र में अपना विशिष्ट दखल रखते हुए, जैन समाज के प्रतिनिधि व्यक्तियों के रूप में भी अपनी पहचान रखते थे, श्री गोविन्द राव जी दोशी को बुलवाया व तत्संबंधी कार्यवाही करने के लिये कहा।।

गोविंदरावजी ने तत्काल पं.तनसुखलालजी काला को आचार्यश्री के आदेश से आचार्य श्री के प्रतिनिधि के रूप में भारत सरकार से चर्चा करने का अधिकार-पत्र टेलिग्राम के रूप में प्रेषित किया।।

टेलिग्राम इस प्रकार था :-

MALEGAON 7 DEC. 1949

PANDIT TANSUKHLALJI CARE/ MAHAMANTRI DELHI.

YOU ARE MY REPRESENTATIVE. TALK WITH CENTRAL GOV T. OF INDIA ON MY BEHALF BY ORDER OF AACHARYA SHANTISAGAR MAHARAJ.

-GOVINDJI.

इस टेलिग्राम ने शिरगूरकर पाटील का कार्य आसान कर दिया।। यद्यपि पंडितजी श्री गोपाल दिगंबर जैन सिद्धांत संस्कृत महाविद्यालय, मुरैना(म.प्र.) के महामंत्री थे, किंतु

प्रधानमंत्री से अधिकृत रूप से की जाने वाली चर्चा के लिये यह पहचान पर्याप्त नहीं थी।।

यह टेलिग्राम ७ दिसंबर को ही प्राप्त हो गया और ८ दिसंबर को तत्कालीन शिक्षामंत्री मौलाना अब्दुलकलाम आजाद से पंडितजी की आचार्य शांतिसागरजी महाराज के प्रतिनिधि के रूप में प्रथम मुलाकात शिरगूरकरजी ने असेम्बली भवन में करवाई ।।

पंडितजी व उनके बीच प्रश्नोत्तर का लम्बा दौर चला।। संतुष्ट होने पर उन्होंने पूछा कि जैन समाज उनसे क्या चाहता है ।। पंडितजी ने आचार्यश्री की कांक्षा कही।। मौलानाजी ने आश्वस्त किया कि वे उनके साथ हैं ।।

इसके पश्चात् तो एक के बाद एक मंत्रियों व प्रतिनिधियों से औपचारिक व कार्यालयीन मुलाकातों का दौर ही प्रारंभ हो गया।। इन मुलाकातों में डॉ. बाबा साहेब आंबेडकर, सरदार बलदेवसिंहजी (रक्षामंत्री), रफी अहमद किद्वई, श्री संथामन, काँग्रेस अध्यक्ष श्री पट्टाभि सीतारामैया आदि से की गई मुलाकातें स्मरणीय रही।।

यहाँ शिरगूरकरजी पाटील ने एक और कुशलता का परिचय दिया।। इन समस्त मुलाकातों का ब्यौरा, पंडितजी द्वारा करवाई जा रही दैनिक सभाओं व पंडितजी द्वारा ही प्ररूपित जैनधर्म का पक्ष वे समय-समय पर स्थानीय अखबारों में मुद्रित करवाते रहे।। न सिर्फ मुद्रित करवाते रहे, अपितु उन्हें प्रधानमंत्री कार्यालय को भी प्रेषित करवाते रहे, ताकि विषय की सार्वजनिकता, जैनधर्मावलम्बियों पर हो रहे अन्याय और आचार्य श्री के व्यक्तित्व की ओर प्रधानमंत्री कार्यालय का न सिर्फ ध्यान आकृष्ट किया जाय, अपितु उस पर गंभीरता से निर्णय लेने की पहल को बल भी मिले।।

हुआ भी यही।। शिरगूरकरजी व पंडितजी के व्यक्तिगत प्रयासों, मंत्रियों से की गई मुलाकातों व स्थानीय अखबारों में प्रेषित समाचारों के आधार पर समुचे तंत्र में आचार्य श्री के पक्ष की सार्वभौमता व उनके व्यक्तित्व की अलौकिकता की विराट छवि की निर्मिति हो गई, जिसके वशीभूत हो प्रधानमंत्री कार्यालय ने शिरगूरकर पाटील के नेतृत्व व पं. तनसुखलालजी काला के प्रतिनिधित्व में जैन डेप्युटेशन को मंत्रणा के लिये २५.१.१९५० को आने का अत्यंत आदर पूर्वक निमंत्रण दिया।।

निश्चित ही यह दिन जैन इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य था।। सम्पूर्ण जैन समाज में यह समाचार हर्ष और उल्लास का संचार कर गया।।

किंतु शिरगुरकर पाटील व पंडितजी के लिये नहीं।। वे तो अपरिमित तनाव में थे।। षट्दर्शन पारंगत व वाद कुशल इस महामना के सम्मुख विषय का प्रस्तुतीकरण सरल नहीं था।। किंचित् भी त्रुटि या असावधानी आचार्यश्री के मंतव्यों पर पानी फेर सकती थी।।

अपनी कुल उम्र में प्रथम बार पंडितजी ने चर्चा का पूर्वाभ्यास किया कि पं. नेहरूजी की ओर से जैनधर्म की सनातनता को लेकर क्या-क्या बाधायें उपस्थित की जा सकती

हैं व दूसरा यह कि जैनधर्म हिन्दू धर्म का ही अंग है की सिद्धि में वे क्या-क्या तर्क व प्रमाण दे सकते हैं।।

आचार्यश्री के पक्ष को खण्डित करने वाले पं. नेहरू द्वारा प्रतिपादित किये जाने योग्य प्रश्नों की फेहरिस्त बनाई गई और उनके पौराणिक, वर्तमानकालिक व पुरातात्विक उत्तर तैयार किये गये।। उत्तरों की पुनः कई बार व कई प्रकार से परीक्षा ली गई व सर्व प्रकार से संतुष्ट हुआ गया।। **(जिन प्रश्नों व चर्चाओं का पंडितजी ने पूर्वाभ्यास किया था, उन ४२ बिंदुओं को हम जैसा का तैसा इस लेख के ठीक पश्चात् दे रहे हैं।।)**

इसीके साथ एक कार्य और किया गया और वह यह कि भारत भर के जैन धर्म के प्रतिनिधि व्यक्तियों को आचार्य श्री के निर्देशानुसार प्रधानमंत्री कार्यालय से आये निमंत्रण की सूचना दी गई व उनसे निवेदन किया गया कि वे उसमें सम्मिलित होने दिल्ली पहुँचे।।

सम्पूर्ण भारत भर से प्रतिनिधि दिल्ली पहुँचने लगे, जिनकी ठहरने, भोजन व आवागमन की व्यवस्था श्री परसादीलालजी पाटणी ने की।। २५.१.१९५० को प्रधानमंत्री कार्यालय के सम्मुख दिल्ली व बाहर से पधारे उपस्थित प्रतिनिधियों की संख्या कई सौ हो गई।।

प्रधानमंत्री कार्यालय से निवेदन आया कि २५.१.१९५० को मंत्रणा के लिये निर्धारित काल में प्रधानमंत्री कार्यालय में उपस्थित होने के पूर्व बम्बई के मुख्य मंत्री श्री बाळासाहेब खेर, जो कि उन दिनों दिल्ली में ही थे से मुलाकात कर अपना पक्ष रखें।।

मात्र ३५ व्यक्तियों के डेप्युटेशन को ही उपस्थित होने की आज्ञा मिल पाई।।

यहाँ हम कह सकते हैं कि श्री बाळासाहेब खेर से प्रथम मिलने का लाभ यह हुआ कि एक प्रकार से प्रधानमंत्री जी से मिलने से पूर्व प्रधानमंत्री महोदय के लिये की गई तैयारी का पूर्वाभ्यास हो गया, जो कि कल्पनातीत कार्यकारी रहा।।

चर्चा के पश्चात् आदरणीय खेर साहेब ने पूछा कि वे उनसे क्या चाहते हैं ?

डेप्युटेशन का सर्व सम्मति से निवेदन था कि बम्बई सरकार जैनधर्मावलम्बियों की गणना हिन्दुओं में न करें व जैन धर्म को हिन्दु धर्म में पृथक धर्म प्ररूपित करें।। इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि-"(जैसा कि आपकी प्रस्तुती से सिद्ध हो रहा है, उस अनुसार) यदि केन्द्रिय सरकार द्वारा यह खुलासा कर दिया जाता है कि जैन हिंदु नहीं है, फिर प्रांतीय सरकार को कोई आपत्ती नहीं रह जाती है।।" चर्चा पूर्ण होते-होते उन्होंने पुनः कहा कि-"जिस सत्य को आप यहाँ सिद्ध कर रहे हैं, इसे हम बहुत पहले से मानते आये हैं।। हमने स्वयं ने पूना असेम्बली में यह बात कही थी।।"

इस चर्चा व निष्कर्ष ने डेप्युटेशन के आत्मबल को दुगुना कर दिया।। दुगुने उत्साह से, चूँकि प्रधानमंत्री कार्यालय में १८ व्यक्तियों के डेप्यूटेशन को ही उपस्थित होने की अनुमति

थी, अतः ड़ेप्युटेशन के ३५ में से १८ सदस्य प्रधानमंत्री महोदय के समक्ष उपस्थित हुए।।

यहाँ यह बतला देना अत्यंत आवश्यक है कि २५ जनवरी १९५० प्रथम गणतंत्र दिवस २६ जनवरी १९५० के ठीक पूर्व का ऐतिहासिक दिन था।। इसके द्वारा हम न सिर्फ प्रधानमंत्री महोदय की व्यस्तता की सहज ही कल्पना कर सकते हैं, अपितु शिरगूरकरजी पाटील व पं. तनसुखलालजी की कार्य शैली का भी अहोभाव कर सकते हैं कि उन्होंने दो माह के कार्यकाल में विषय को कितना महत्वपूर्ण बना दिया होगा कि प्रधानमंत्री महोदय अपने अति व्यस्ततम् कार्यकाल में भी समय देने को बाध्य हो गये।।

प्रधानमंत्री व पंडित कालाजी के मध्य हुए वार्तालाप के साक्षी बने क्षुल्लक श्री सूर्यसिंहजी, प्रिमियर ऑटोमोबाइल्स के सर संचालक सुप्रसिद्ध उद्योगपति श्री रतनचंद हीराचंद दोशी(शोलापुर), भैयासाहेब श्री राजकुमारसिंहजी कासलीवाल(इंदौर), श्रीमान् धर्मवीर सर सेठ भागचंदजी सोनी(अध्यक्ष- श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा), सेठ श्री परसादीलालजी पाटणी(महामंत्री-श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा), सुप्रसिद्ध उद्योगपति श्री गोविन्दराव जी दोशी(कार्यकारी संचालक : रावलगांव शुगर फेक्ट्री, मालेगांव, महा.), उनकी धर्मपत्नी श्रीमती कुमुदिनी गोविन्दराव दोशी आदि।।

महामना प्रधानमंत्री नेहरू जी को सर्वांग व सर्व प्रकार संतुष्ट किया गया।। पंडित कालाजी के बाद कौशल्य ने नेहरूजी को प्रभावित किया व पं. नेहरूजी के मुखारविन्द से संविधान के आर्टिकल २५, धारा २बी के संबंध में इतिहास बदलने वाले ये शब्द मुखरित हुए- "जैन कभी भी हिंदू नहीं थे और न हो सकते हैं।।"

इस सम्पूर्ण कार्यवाही की प्रत्यक्षदर्शी श्रीमति कुमुदिनी दोशी(धर्मपत्नी सुप्रसिद्ध उद्योगपति व समाज सेवी श्री गोविन्दराव जी दोशी) श्री शिरगूरकरजी पाटील का पत्र ले २७ जनवरी को रावलगाँव में आचार्य श्री के समक्ष पहुँची।। आचार्य श्री की प्रसन्नता का माप ही न रहा।। फिर भी शिरगूरकर पाटील को आशीर्वाद ज्ञापित करता व केन्द्रिय सरकार के मंतव्य को लिखित रूप में प्राप्त करने हेतु प्रेरणा देता एक पत्र २७ जनवरी को ही स्वयं कुमुदिनी दोशी के हाथों से लिखवाकर प्रेषित किया, जिसे कि हमने इस लेख के अंत में मुद्रित करवाया है।।

इस पत्र के प्राप्त होने के पूर्व ही दिल्ली में दोनों महामना प्रधानमंत्री कार्यालय से लिखित मंतव्य प्राप्त करने के प्रयास में प्रयत्नशील थे, जिसके फल स्वरूप दिनांक ३१.१.१९५० को प्रधानमंत्री कार्यालय से एक पत्र श्री शिरगुरकर पाटील के नाम से प्रेषित हुआ, जिसमें संविधान के आर्टिकल २५, धारा २बी के मंतव्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया था कि जैन धर्म हिन्दू धर्म से सर्वथा भिन्न धर्म है।। यद्यपि जैनधर्म की कुछ बातें हिन्दू धर्म से मिलती-जुलती हैं, किंतु यह नितांत

सत्य है कि जैनधर्म सर्वथा भिन्न धर्म है, जिसकी कि अलग ही पहचान है, जिसे कि संविधान में स्पष्ट रूप से दर्शाया गया है ।।

इस पत्र को भी यथा स्थिति इस लेख के अंत में ऐतिहासिक साक्ष्यों के रूप में मुद्रित करवाया गया है ।।

इस पत्र के आने के पश्चात् पंडितजी व शिरगूरकरजी दोनों ने अन्य प्रतिनिधियों से मिल कर पुनः मंत्रणा की व सोचा कि ठीक ऐसा ही पत्र यदि शिक्षा मंत्री मौलाना आजाद से भी मिल जाये, तो समझो कार्य फतह हो गया, अतः मौलाना साहेब को पत्र लिखकर प्रधानमंत्री कार्यालय से प्राप्त पत्र पर सम्मती मांगी गई ।।

मौलाना साहेब की ओर से तुरंत पत्र प्रेषित हुआ, जिसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से जिक्र किया कि आचार्य श्री चिंता न करें, भारत सरकार उनके साथ है व वे अन्न ग्रहण करें ।।

यह पत्र आचार्य शांतिसागर जी के प्रतिनिधि के रूप में कार्यरत पं. तनसुखलालजी काला के नाम से प्रेषितहुआ ।। इस पत्र को भी इस लेख के अंत में मुद्रित किया गया है ।।

इतना ही नहीं, अपितु आचार्य श्री के पक्ष में एक कड़ी भारत के गृहमंत्री लौहपुरूष सरदार पटेल की ओर से प्रधानमंत्री कार्यालय के निर्देशों को पुष्ट करने हेतुजोड़ी गई ।। उन्होंने सेंसस-आयोग(जन-गणना-आयोग) की समीक्षा करते हुए स्पष्ट निर्देश दिया कि जैनों की गणना हिन्दूओं से सर्वथा पृथक की जाये व तदनुसार जनगणना में जैनों का स्वतंत्र कॉलम भी सरकार द्वारा वर्गीकृत कर लिया गया ।।

इस कार्यवाही के पश्चात् तो केन्द्रिय सरकार की ओर से जैनधर्म हिन्दू धर्म से सर्वथा स्वतंत्र व सनातन धर्म है के निर्णय पर सरकारी मोहर लग गई ।।

उपर्युक्त दोनों ही पत्र व लौहपुरुष वल्लभभाई पटेल द्वारा सेंसस आयोग को दिया गया आदेश भारत वर्ष के सम्पूर्ण प्रतिनिधि समाचार पत्रों में शिरगूरकर पाटील जी के प्रयासों से प्रकाशित हुआ, जिससे सम्पूर्ण देश के जैनधर्मावलम्बियों में उत्साह व उत्सव जैसे आनंद का संचार हुआ ।।

पंडितजी इसके पश्चात् गजपंथा(म्हसरूल, नासिक,महा.) आचार्य श्री के पास सम्पूर्ण विगत का ब्यौरा देने आचार्य श्री के निर्देशानुसार लौटे ।। शिरगूरकर पाटील वहीं रुके रहे ।।

भारत सरकार की उपर्युक्त कारगुजारी पर संतोष जाहिर करते हुए एक पत्र आचार्य श्री ने प्रधानमंत्री कार्यालय को इस विषय में संविधान में संशोधन करने के सुझाव को देते हुए देने को कहा ।।

आज्ञानुसार पंडित तनसुखलालजी काला ने म्हसरुल से ही पत्र व्यवहार किया।

जिस पर तत्काल प्रतिक्रिया हुई व प्रधानमंत्री कार्यालय से जैन समाज को संतुष्ट करने वाला पत्र प्राप्त हुआ जिसमें कहा गया था कि :-

"संविधान में संशोधन की कोई आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि हमने जैन समाज को ज्ञापित पत्र में संविधान की भाषा का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है व स्पष्टीकरण दिया है कि जैनधर्म हिन्दूधर्म से सर्वथा भिन्न व एक स्वतंत्र धर्म है।।"

पत्र का मूल रूप इस प्रकार था :-

Prime ministers secretariat of India
New Delhi 22nd February 1950
Dear sir,

I am in receipt of your letter of the 17th Feb 1950.We do not think any ammendment to the Constitution is necessary or called for. The language is quite clear and I have taken pains to Eexplain it. It is not Therefore proposed to change the language of the article in The constitution.

Yoyr's incerely

(A.V.PAI)
Principal private secretary to P.M

Shri Tansukhlalji kala
Representative Acharya shantisagarji Maharaj
Mhasrul (nasik)

इस पत्र की प्राप्ती के पश्चात् पंडितजी वापस दिल्ली लौटे।।

सहयोगी मंत्रियों व अन्य महामनाओं का जिन्होंने इस कार्य में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सहायता की थी, उन सभी के पास आचार्य श्री का आशीर्वाद पहुँचाते हुए, उनका साधुवाद किया।। जिनका प्रत्यक्ष किया जा सकता था उनका प्रत्यक्ष व जिनका परोक्ष ही संभव था, उनका परोक्ष।।

इसके पश्चात् दिल्ली समाज ने न सिर्फ पं. तनसुखलालजी व शिरगूरकरजी पाटील का सम्मान किया, अपितु उन्हें मानपत्र भी भेंट किया, जिसका कि प्रकाशन तत्कालीन जैनाजैन समाचार पत्रों में हुआ।।

इस प्रकार पंडित तनसुखलालजी काला व शिरगूरकरजी पाटील धर्म की विजय पताका लहराते हुए आचार्य श्री के श्री चरणों में गजपंथा(म्हसरूल-नासिक, महा.) लौटे।।

पं. तनसुखलालजी व शिरगुरकर पाटील दिल्ली में पाँच माह तक रहे।। पाँच माह तक सप्तम प्रतिमाधारी पंडितजी ने एकासन किया।। समस्त मंत्रीगणों द्वारा चाय आदि के औपचारिक निवेदन पर शिरगूरकरजी पाटील द्वारा पंडितजी के सप्तम प्रतिमा, सोले का

भोजन व एकासन प्रतिज्ञ व्यक्तित्व के रूप में दिये गये परिचय ने भी खासा प्रभाव डाला व सिद्ध किया कि शब्द ही नहीं, चारित्र भी बोलता है।। इतना ही नहीं, अपितु इस परिचय ने आचार्य श्री के व्यक्तित्व को भी निखारा कि जिनका शिष्य ऐसा है, वह महामना कैसा होगा ?

(पंडितजी के इसी व्यक्तित्व व आचार्य श्री की उन पर विश्वनीयता को दर्शाता स्वयं पं. सुमेरूचंद्रजी दिवाकर का पंडितजी के देहावसान के पश्चात् उनके छोटे भाई श्री माणिकचंदजी काला को प्रेषित पत्र भी इस लेख के अंत में मुद्रित करवाया गया है।।)

उपर्युक्त क्रियाकलाप के समाचार सर्वत्र प्रसारित हो ही गये थे।।

संपूर्ण भारतवर्ष में उल्लास और उत्साह का वातावरण निर्मित हो गया था।। चारों ओर से पंडितजी व शिरगूरकरजी का साधुवाद किया जाने लगा।।

जब पाँच माह पश्चात् आचार्यश्री के पास पंडितजी गजपंथा(म्हसरूल-नासिक,महा.)लौटे, तब जैन समाज द्वारा स्टेशन पर ही उनका वह स्वागत हुआ, जिसके विषय में कह सकते हैं कि **'न भूतो न भविष्यति।।'**

यह तो ठीक, किंतु इस विषय में आचार्यश्री का आशीष इतना-इतना-इतना मिला कि पंडितजी व शिरगुरकर पाटील का यश सात समंदरों के पार पहुँच गया।।

इस विजय यात्रा के पश्चात् आचार्यश्री से जिन-जिन ने इस कार्य के निर्विघ्न संपन्न होने को जो-जो त्याग लिया था, उन सभी से वह-वह द्रव्य ग्रहण करने की आज्ञा दे कर कार्य निर्विघ्न संपन्न हो गया का एक प्रकार से आचार्य श्री ने उद्घोष ही कर दिया, किंतु स्वयं ने अन्न नहीं लिया, क्योंकि बम्बई सरकार(महाराष्ट्र सरकार) केन्द्रिय सरकार द्वारा निर्देशित अर्थ की पुष्टी नहीं कर रही थी।। उनके अनुसार जैन हिंदु ही थे।। यद्यपि मुख्य मंत्री बाळासाहेब खेर जैनियों के पक्ष में थे, किंतु उन्हीं के मंत्री मण्डल के कतिपय मंत्री जैनियों की गणना हिंदुओं से पृथक करने को सहमत नहीं थे।। इन कतिपय मुख्यमंत्रियों में प्रथम नाम गृहमंत्री मोरारजी देसाई का था।।

उनके मत को स्वयं पंड़ित सुमेरूचंद्रजी ने इन शब्दों में लिखा है : **''जैनमन्दिर के विषय में हरिजनों को उतने ही अधिकार प्राप्त हैं, जितने जैनियों को प्राप्त हैं। यदि जैनी मूर्ति का स्पर्श करके पूजा करता है, तो ऐसा हरिजन भी कर सकेंगे।''**

इस विषय में प्रिमियर ऑटोमोबाइल्स के सर संचालक सुप्रसिद्ध उद्योगपति श्री रतनचंद हीराचंद दोशी(शोलापुर) ने भी बम्बई सरकार से पत्र व्यवहार किया था।। उनको प्राप्त प्रत्युत्तर में से बम्बई सरकार के स्पीकर माननीय कुंदनमल शोभाचंद फिरोदिया जी के पत्र का अंश हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं : **''आपको जो यह भय है कि संविधान की वर्तमान समीक्षा के अनुसार कि जैन धर्म हिंदु धर्म की शाखा है से या तो जैन**

धर्म हिंदु धर्म में सम्मिश्रित हो कर एक मेक हो जायेगा या नष्ट हो जायेगा, ऐसा भय मुझे किंचित् भी नहीं है ।।"

मात्र ये ही नहीं अपितु स्वयं महात्मा गांधी के उत्तराधिकारी के रूप में विख्यात् आदरणीय विनोबा भावे जी का भी मत विचित्र था।। उन्होंने अपने अत्यंत स्पष्ट रूप से लिखा कि-"श्वास रुक जाने पर जो आत्मा की स्थिति होती है, वही जैन नाम मिट कर यदि जैन समाज की हो जाय तो भी कोई हानि नहीं है ।।"

इन तथाकथित मंत्रियों व समाजसेवियों को भी पुनः बल जैनधर्मावलम्बियों की फूट का ही था, जिनके संबंध में पंडित सुमेरूचंद्रजी कड़े शब्दों में लिखते हैं : **'उस समय बड़ा विचित्र वातावरण था।। महाराज के समक्ष अपनी भक्ति की दुहाई देने वाले अनेक धनी-मानी लोग परोक्ष में यही कहते थे कि महाराज ने व्यर्थ में अन्नत्याग करके वज्र तुल्य शासन से सिर रगड़ने का कार्य किया।। ऐसे लोगों से मुझे अनेक बार मिलने का मौका मिला।।'**

निश्चित ही पाठक वर्ग को जैनधर्मावलम्बियों की शोचनीय स्थिति का अनुमान हो गया होगा !!

किंतु आचार्य श्री हारने वालों में से नहीं थे।। इस विषय में बम्बई सरकार पर दबाव बनाने के लिये आचार्य श्री ने शिरगूरकरजी पाटील को पुनः याद किया, जो कि उस समय दिल्ली में थे।। दिल्ली उनके पास संदेश भिजवाया गया ।। शिरगूरकर पाटीलजी भैयासाहब श्री राजकुमार सिंहजी कासलीवाल (इंदौर) व धर्मवीर सर सेठ श्री भागचंदजी सोनी (अध्यक्ष-महासभा) के साथ श्री मौलाना आजादजी से मिले।।

मौलाना आजादजी ने अत्यंत आदर के साथ आचार्य श्री के चरणों में विनय प्रस्तुत करते हुए निवेदन किया कि इस विषय में बम्बई सरकार के साथ लिखा-पढ़ी हुई है व चल भी रही है।। जिस प्रकार आचार्य श्री के चरण प्रसाद एवं शुभाशीर्वाद से जैन समाज को केंद्रिय सरकार से विजय प्राप्त हुई है, उसी प्रकार उनका तपोबल बम्बई सरकार को भी सुबुद्धि प्रदान कर प्रतिज्ञा पूर्ती का शीघ्र सुअवसर प्रदान करायेगा, ऐसी हम कामना करते हैं।।

किंतु सुबुद्धि नहीं आई।।

इन निराशाजनक स्थितियों में एक प्रकार से हम कह सकते हैं कि आचार्य श्री का ज्ञानबल, चारित्रबल, तपोबल व मंत्रबल काम आया।। इन्हीं बलों के कारण आचार्य श्री के साथ-साथ गमन करने वाले अतिशय ने इशारा दिया कि इस समस्या के समाधानार्थ अब बम्बई सरकार के साथ परिश्रम करने की अपेक्षा उच्च न्यायालय की शरण ली

जाय।। इसी अनुसार अकलुज(महाराष्ट्र)ग्राम में स्थानीय डी.एस.पी.(डीप्युटी सुपरिन्टेण्ड़ेन्ट ऑफ पुलिस),सोलापुर की २७ नवंबर को और सोलापुर के कलेक्टर की बुद्धि २८ नवंबर को भ्रष्ट हुई।। इनमें से डी.एस. पी. महोदय तो सफल नहीं हो पाये, किंतु सोलापुर के कलेक्टर ने रात्रि के ८ बजे दिगम्बर जैन मंदिर का ताला तुड़वाकर उसके भीतर मेहतरों तथा चमारों आदि का प्रवेश करवा दिया।। जिन जैन बन्धुओं ने इनके विरुद्ध आवाज उठाई उनको गिरफ्तार कर लिया ।।

गिरफ्तारी दो चरणो में हुई ।। निम्न ११ में से प्रारंभ के ८ को २७ नवंबर को हरिजनों को मंदिर में प्रवेश करवाने में असफल डी.एस.पी. द्वारा व शेष ३ को सोलापुर के २८ नवंबर को कलेक्टर के निर्देशन पर गिरफ्तार किया गया।। जिन्हें गिरफ्तार किया गया उनके नाम इस प्रकार हैं :-

१.स्व. अभय कुमार रूपचंद फडे, २. स्व. दीपचंद केशरचंद फडे
३.स्व. माणिकलाल हीराचंद दोशी, ४. स्व. ताराचंद हीराचंद फडे,
५. स्व. हीराचंद जीवनचंद गांधी, ६. स्व. प्रेमचंद रायचंद गांधी
७. स्व. हीम्मतलाल हीराचंद फडे, ८. श्री रतनलाल रायचंद गांधी
९. श्री जयकुमार जीवराज दोशी, १०. श्री अनंतलाल जीवराज गांधी
११. श्री माणिकलाल जीवराज गांधी(मुनि श्री अनंतकीर्तिजी महाराज, संघस्थ आचार्य देवनंदि जी महाराज)

हमने ऊपर लिखा कि आचार्य श्री के अनुचर रूप गमन करने वाले अतिशय ने ही सोलापुर के कलेक्टर की बुद्धि भ्रष्ट की, सो अतिशयोक्ति अलंकार रूप नहीं लिखा है, अपितु यथार्थतः ऐसा ही हुआ भी था, क्यों कि श्री मंदिरजी का ताला तोडने के पश्चात् सोलापुर के कलेक्टर मात्र एक कदम ही मंदिरजी में प्रवेश कर पाये, दूसरा डग भर न पाये।। इसमें भी विशेषता यह रही कि हरीजन भाई भी मंदिरजी की देहरी ही छू पाये, भीतर प्रवेश न कर पाये, वहीं से लौट गये।। मंदिरजी में बलात् प्रवेश कर लेने के बाद भी न तो वेदी जी को ही छू पाना और न ही प्रतिमाजी को, इसे आचार्य श्री का ही अतिशय न कहेंगे, तो फिर क्या कहेंगे!! अतिशय को सोलापुर के कलेक्टर की उद्दंडता भर चाहिये थी, और कुछ नहीं, सो मिली और उसे वहीं से लौटा दिया।।

उस समय समाज के अध्यक्ष श्री भाईचंद ताराचंद गांधी व सेक्रेटरी श्री छगनलाल लालचंद फडे थे।। इन दोनों के द्वारा समाज की मिटींग बुलवाई गई।। न सिर्फ मिटिंग बुलवाई गई, अपितु आचार्य श्री से संपर्क कर इस संबंध में प्रतिक्रिया क्या की जाय, इस विषय पर चर्चा भी की गई।। आचार्य श्री के निर्देशानुसार श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन

महासभा के पदाधिकारियों से संपर्क किया गया।। आचार्य श्री की उपस्थिति में मिटिंग का आयोजन किया गया।। आचार्य श्री की कांक्षा थी कि जैसे केन्द्रिय सरकार को अपने पक्ष में करने हेतु किये गये पुरुषार्थ में किंचित् भी कोताही नहीं बरती गई, उसी प्रकार इस बार भी अत्यंत सावधानी व दूरदर्शिता पूर्वक अनुष्ठान का आयोजन किया जाय।। सो आचार्य श्री की मंशानुसार ११ सदस्यीय कार्यकर्ताओं की समिति गठित की गई व तय किया गया कि बंबई हायकोर्ट में गव्हर्नमेन्ट ऑफ बोम्बे (महाराष्ट्र-सरकार) व सोलापुर कलेक्टर के विरुद्ध आरोप-पत्र प्रस्तुत किया जाय।। सम्पूर्ण भारतवर्ष का दिगंबर जैन समाज इस निर्णय में अकलुज समाज के साथ था।। इस निर्णय के अनुसार श्री भाईचंद ताराचंद गांधी, श्री मियाचंद रतुचंद फडे, श्री उत्तमचंद केशवचंद फडे, श्री माणिकलाल गंगाराम दोशी व श्री अभयकुमार रूपचंद फडे ने संयुक्त रूप से बंबई सरकार व शोलापुर कलेक्टर के खिलाफ आचार्य श्री के मत को पुष्ट करने हेतु जनहित में याचिका जनवरी सन् १९५१ को बैरिस्टर पालखीवाला व बैरिस्टर सर एन. पी. इंजिनीयर के निर्देशन में दायर की।। अदालत में अपना पक्ष रखने हेतु महान विद्वान व पूर्व न्यायाधीश बैरिस्टर दास को नियुक्त किया गया, जिनके कि एक ही तर्क ने न्यायाधीश चागला आदि को जैनियों के पक्ष में चिंतन करने को मजबूर कर दिया।। सम्पूर्ण अदालतीय खर्च का वहन करने की जिम्मेदारी आदरणीय सेठ श्री गजराज जी गंगवाल ने ग्रहण की।।

इसके आगे का इतिहास ठीक वैसा ही घटा, जैसा कि पंडितजी श्री सुमेरुचंद्रजी ने लिखा है ।। वह इतिहास स्पष्ट इशारा करता है कि जीत हमारे पौरुष से नहीं, अपितु आचार्य श्री के ज्ञानबल, चारित्रबल, तपोबल व मंत्रबल के अनुचर अतिशय ने दिलवाई।।

आचार्य श्री के अनुचर रूप कार्य करने वाले अतिशयों ने स्वयं ही बाधित कर्म की अविपाक निर्जरा कर प्रतिज्ञा पूर्ती का आयोजन कर दिया, हम कुछ भी न कर पाये ।।हम तो बस इन्हीं अनुचरों के बल पर कार्य करने वाले सामान्य सिपाही भर रहे।।

ॐ शांति शांति शांति।।

सूचना : कोर्ट के आदेश की कोर्ट से प्राप्त नकल प्रति जो कि कुछ स्पष्ट व कुछ अस्पष्ट है, की यथास्थिति प्रिंट व उसका सुप्रसिद्ध विद्वान श्री वर्द्धमान पार्श्वनाथजी शास्त्री, शोलापुर(महा.) द्वारा किया गया हिंदी अनुवाद भी इस लेख के पश्चात् अन्य ऐतिहासक साक्ष्यों के साथ मुद्रित किया जा रहा है।।

****

श्रमण संस्कृति की स्वतंत्रता के द्योतक ४२ बिंदु...

(श्रमण संस्कृति अर्थात् जैनधर्म वैदिक- संस्कृति अर्थात् हिंदुधर्म से सर्वथा भिन्न, स्वतंत्र व सनातन धर्म है)

-पं. तनसुखलालजी काला, नांदगाँव (नासिक)

(पंडितजी श्री तनसुखलालजी काला के चिंतन से नि.सृत ऐतिहासिक, सैद्धाँतिक, पुरातात्विक, दार्शनिक, पौराणिक साक्ष्यों एवं इतिहासज्ञों व बुद्धिजीवियों के मंतव्यों के आश्रय से संकलित ४२ बिंद, जिनके कि आधार से सहज ही सिद्ध किया सकता है कि जैन-धर्म किसी भी अन्य धर्म की शाखा या उपशाखा नहीं, अपितु नितांत स्वतंत्र व सनातन धर्म है ॥

इन्हीं ४२ बिंदुओं का विस्तार निश्चित ही न्यायशास्त्र के स्वतंत्र ग्रंथ का रूप ले सकता है ॥

जैसा कि पूर्व के लेख में निर्देश दिया गया था, उसी अनुसार इन बिंदुओं को पंडितजी द्वारा षट्दर्शन पारंगत महामना विद्वान प्रधानमंत्री पं. जवाहरलालजी नेहरू के समक्ष आचार्य श्री के मत को निर्दोष सिद्ध करने व उन्हीं के द्वारा केन्द्र-सरकार से जैन-धर्म को स्वतंत्र धर्म के रूप मे मान्यता दिलवाने हेतु स्मृति में क्रमवार सूत्र रूप रखने के लिये तैयार किया गया था ॥ मात्र बिंदुओं को ही तैयार नहीं किया गया था, अपितु इन बिंदुओं से संबंधित साहित्य का भी परिश्रम पूर्वक संकलन कर २५ जनवरी १९५० को प्रधानमंत्री कार्यालय ले जाया गया था ॥ पाठकों के सद् बोधार्थ इन बिंदुओं को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है ॥)

(१) मत की समीचीनता का उद्योत करने वाले न्याय ग्रंथों की अपेक्षा :- प्रमेय कमलमार्तंड, अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा, न्यायविनिश्चयालंकार, प्रमेयरत्नमाला, न्यायदीपिका, न्यायकुमुदचंदोदय आदि जैनों के न्यायशास्त्र हैं, जिनमें हिंदुओं की मान्यताओं का सर्वथा खंडन किया गया है। हिंदुओं के न्यायशास्त्र जुदे हैं। उनके रचयिता भी जुदे हैं।

(२) शब्दानुशासन को दर्शाने वाले व्याकरण शास्त्रों की अपेक्षा :- शाकटायन व्याकरण, जैनेंद्र व्याकरण शब्दार्णवचंद्रिका, शब्दानुशासन, कातंत्र रूपमाला आदि जैनों के व्याकरण शास्त्र हैं। हिंदुओं के व्याकरणशास्त्र व उनके रचयिता जुदे हैं।

(३) साहित्य संरचनाओं की विधा की अपेक्षा :- काव्य, चंपू, नाटक, अलंकार आदि साहित्य ग्रंथ भी जैनों तथा हिंदुओं के जुदे हैं।

(४) अनुयायियों द्वारा मान्य धार्मिक ग्रंथों की अपेक्षा :- प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग आदि शास्त्र भी जैनों के हिंदुओं से सर्वथा भिन्न हैं।

(५) लौकिक साहित्य की अपेक्षा :- ज्योतिष और गणित शास्त्र भी दोनों के

एक नहीं है, अर्थात् जुदे-जुदे हैं।

(६) साहित्य संख्या व संज्ञा की अपेक्षा :- जैनागम में बारह अंग तथा चौदह पूर्वों का वर्णन है। हिंदु शास्त्रों में उनका कहीं नामोल्लेख भी नहीं है।

(७) आराधना स्थलों की अपेक्षा :- जैनों के तीर्थक्षेत्र एवं अतिशय क्षेत्र आदि ही नहीं, अपितु पुरातत्त्व विभाग द्वारा खोजी गई व संरक्षित गुफायें भी हिंदुओं की गुफाओं आदि से सर्वथा जुदे हैं।(इनमें पुरातात्त्विक धरोहरों व शिलालेखों को सम्मिलित कर अर्थ ग्रहण करना चाहिये।।

(८) अनुयायियों द्वारा मान्य धार्मिक अनुष्ठानों की अपेक्षा :- जैनों में षोडशकारण, दशलाक्षणिक, आष्टान्हिक, रत्नत्रय आदि पर्व माने हैं, हिंदुओं के पर्व इनसे बिल्कुल जुदे हैं।

(९) सामान्य अथवा मूल मान्यताओं की अपेक्षा :- जैनी लोग ईश्वर को सृष्टी का कर्ता नहीं मानते, जबकि हिंदु ईश्वर को सृष्टि निर्माता, पालन कर्ता तथा संहारकर्ता मानते हैं।

(१०) तत्त्व प्ररूपणा अर्थात् विषय वस्तु को प्ररूपित करने की शैली की अपेक्षा :- जैनी स्याद्वादी (अनेकान्तवादी) हैं, जबकि शेष सभी धर्म एकांतवादी हैं।

(११) अनुयायियों की मूल मान्यता अथवा मानस की अपेक्षा :- जैन शास्त्रों के अनुसार प्रत्येक आत्मा पुरुषार्थ द्वारा ईश्वर (परमात्मा) बन सकता है, जबकि हिंदुओं की वैसी मान्यता नहीं है।

(१२) अनुयायियों द्वारा पालित एवं लोक में जैनियों के लिये मान्य कुलगत संस्कारों की अपेक्षा(१) :- जैन रात्रि में भोजन नहीं करते, हिंदु रात्रि में भोजन करते हैं।

(१३) अनुयायियों द्वारा पालित एवं लोक में जैनियों के लिये मान्य कुलगत संस्कारों की अपेक्षा(२) :- जैन लोग मद्य, मांस, मधु एवं कंद आदि के सेवन करने को महापाप समझते हैं, हिंदु वैसा नहीं मानते।

(१४) अनुयायियों द्वारा पालित एवं लोक में जैनियों के लिये मान्य कुलगत संस्कारों की अपेक्षा(३) :- जैन पानी छानकर ही पीते हैं, हिंदुओं को उसका कोई नियम नहीं है।

(१५) अनुयायियों द्वारा पालित एवं लोक में जैनियों के लिये मान्य कुलगत संस्कारों की अपेक्षा(४) :- जैन लोग किसी भी जीव का घात नहीं करते, यहां तक कि चींटी, मकोडा, डांस, खटमल, मच्छर वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीव की भी रक्षा करते हैं। बिच्छू, सर्प, सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक जीव को भी वे कभी नहीं मारते, जब कि हिन्दू लोग उनका घात करने में कोई पाप नहीं समझते।

(१६) धार्मिक क्रियाकाण्डों की अपेक्षा :- जैनों का अहिंसातत्त्व हिंदुओं के अहिंसातत्त्व से सर्वथा भिन्न है। हिंदूशास्त्र होम, यज्ञ आदि में प्राणियों की जो हिंसा होती है उसको पाप नहीं समझते, कारण वेदों में कहा है कि **'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति'**, अतएव होम आदि में जीवों के वध को वे पुण्य समझते हैं, परन्तु जैनशास्त्र में इसका सर्वथा निषेध है, वे संकल्पपूर्वक किसी भी प्राणी के वध करने को महापाप समझते हैं।

(१७) आराध्यों की प्रतिकृतियों अर्थात् प्रतिमाओं की अपेक्षा :- जैनों के आराध्य देव तथा उनकी मूर्तियां नग्न होती हैं। जैन परम निर्ग्रंथ (दिगम्बर) वीतराग देवों के उपासक होते हैं, किंतु हिंदुओं के देव सवस्त्र, सरागी तथा गृहस्थी सहित होते हैं।

(१८) दोनों परंपराओं में मान्य ऋषियों के बाह्य लिंगों की अपेक्षा :- जैनों के गुरु परमवीतरागी निर्ग्रंथ होते हैं। लंगोट मात्र भी परिग्रह रखना उनके लिये निषेध है। केशों को भी वे हाथ से ही उखाड़ते हैं। हिंदूओं के गुरु वस्त्रसहित, जटाधारी, पंचाग्नि तप तपनेवाले तथा चिमटा शस्त्र आदि को धारण करनेवाले होते हैं।

(१९) धर्म सेवन का फल मुक्ति की अपेक्षा :- जैनशास्त्र मुक्त आत्मा का पुनरागमन नहीं मानते, जब कि हिंदू शास्त्र मुक्त आत्मा का भी पुनरागमन मानते हैं।

(२०) हिंदु संस्कृति में मान्य धार्मिक अनुष्ठान के विपरित मान्यताओं की अपेक्षा :- जैन लोग गंगा यमुना आदि नदियों में स्नान करने को पुण्य नहीं मानते, जबकि हिंदु पुण्य समझकर उसमें स्नान करते हैं।

(२१) हिंदु संस्कृति में मान्य धार्मिक अनुष्ठान की मान्यताओं के अभाव की अपेक्षा :- जैनागमों में श्राद्ध, तर्पण, पिण्डदान आदि की क्रिया विधियों का सर्वथा अभाव है, जबकि हिंदुशास्त्र उसे आवश्यक-धर्म मानते हैं।

(२२) हिंदु संस्कृति में मान्य मांत्रिक अनुष्ठानों से विपरित्त मान्यताओं की अपेक्षा :- जैनों के मंत्र व उनकी अनुष्ठान विधि भी हिंदुओं के मंत्रों व उनके अनुष्ठान विधियों से सर्वथा जुदी है।

(२३) निर्दोष संसार व्यवहार परिपालनार्थ संपन्न की जाने वाली विवाह विधि की अपेक्षा :- जैनों की विवाह विधि, क्रिया व आचरण आदि भी हिंदुओं की विवाहविधि, क्रिया व आचरण आदि से सर्वथा भिन्न हैं।

(२४) हिंदु साहित्य में जैनियों के लिये प्रयुक्त विशेषणों की अपेक्षा :- जब हिंदु लोग ही जैनों को नास्तिक(ईश्वर को नहीं मानने वाले), उनके देवों की नंगे देव व गुरुओं की नंगे साधु आदि कहकर निंदा करते हैं, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि जैन हिंदु है।

(२५) दोनों मतों की स्व-स्व मत के मान्य ऋषियों द्वारा प्रणीत सामाजिक न्याय व्यवस्था की अपेक्षा :- जैन लॉ भी हिंदु लॉ से सर्वथा भिन्न है। प्रिव्ही कौंन्सिल

आदि में जैन लॉ के अनुसार जैनों के कई फैसले हो चुके हैं। भद्रबाहुसंहिता, अर्हन्नीति, इंद्रनंदिसंहिता आदि जैनों के दायभाग आदि के ग्रंथ भी हिन्दुओं के ग्रंथ से सर्वथा जुदे हैं।

(२६) स्व-स्व मत में प्रचलित शक संवत् की अपेक्षा :- भिन्न २ संप्रदायवालों के शक चलते हैं, जैसे मुसलमानों का शक, ख्रिस्तियों का शक, विक्रम शक, शालिवाहन शक इसी प्रकार जैन धर्म में महावीर भगवान का शक चलता है, जो कि सब शकों से पहले का है अर्थात् जैनों के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर भगवान के निर्वाण के समय से चलता है, जिसको आज २४४७ वर्ष हो चुके हैं। यह भी अन्य धर्मों से जैन धर्म को पृथक् सिद्ध करता है।

(२७) विश्व मान्य चिंतकों की शोध-बुद्धि से उत्पन्न निष्कर्षों की अपेक्षा :- जर्मनी के सुप्रसिद्ध संस्कृतज्ञ प्रो. एच्.जे. कोर्बा ने ऑक्सफोर्ड के धार्मिक परिषद में जो ऐतिहासिक व्याख्यान दिया था, उसमें कहा था कि जैनधर्म सर्वथा स्वतंत्र धर्म है। मेरा विश्वास है कि वह किसी का अनुकरण नहीं करता और इसीलिये प्राचीन भारतवर्ष के तत्त्वज्ञान का और धर्मपद्धति का अध्ययन करनेवालों के लिये उसका अध्ययन बड़े महत्व की वस्तु है।

(२८) तटस्थ बुद्धिजीवियों द्वारा अध्ययन के पश्चात् दिये गये निष्कर्षों की अपेक्षा(१) :- सर कुमारस्वामी (चीफ जस्टिज मद्रास हायकोर्ट) कहते हैं कि जैनधर्म यह हिन्दुधर्म की शाखा नहीं है।

(२९) हिंदु मानस के बुद्धिजीवियों द्वारा अध्ययन के पश्चात् दिये गये निष्कर्षों की अपेक्षा(२) :- न्यायमूर्ति रांगणेकर (हायकोर्ट, मुंबई) का कहना है कि इस देश में जैनधर्म ब्राह्मण धर्म के जन्म के बहुत पहले से प्रसिद्ध था।

(३०) हिंदुओं के धर्म गुरुओं की निष्पत्ति(३) :- श्री शंकराचार्य जगद्गुरु का कथन है कि जैनधर्म यह बहुत ही प्राचीन धर्म है।

(३१) विश्व मान्य हिंदु इतिहासकारों के शोध से उत्पन्न निष्कर्षों की अपेक्षा(४) :-इतिहासज्ञ डॉ. प्राणनाथ कहते हैं कि- इतिहास ने यह सिद्ध कर दिया है कि आज से ५ हजार वर्ष पूर्व से भी पहले जैन धर्म का अस्तित्व कायम था।

(३२) स्वयं पंडित जवाहरलाल जी का मत(५) :- स्वयं पं. जवाहरलाल नेहरू ने डिस्कव्हरी ऑफ इंडिया में लिखा है कि हिन्दु संस्कृति यह भारतीय संस्कृति का एक अंश है। जैन तथा बौद्ध धर्मीय भी पूर्ण भारतीय हैं, परन्तु वे हिंदु नहीं हैं।

(३३) जैन संस्कृति की उत्पत्ति की समीक्षा करने वाले इतिहासकारों के मत की अपेक्षा(६) :- जी. जे. आर. फरलांग साहब ने The short studies in science of comparative religion में लिखा है कि It is impossible to find a

beginning for Jainism . Jainism appears as the earliest faith of India अर्थात् जैनधर्म की स्थापना अर्थात् शुरुआत अर्थात् जन्म कब हुआ इसका पता लगना अशक्य है। हिंदुस्तान के धर्मों में जैनधर्म यह अत्यंत प्राचीन धर्म है।

(३४) महान स्वतंत्रता सेनानी, राजनितिज्ञ, दार्शनिक एवं श्रीमद् भगवत्गीता आदि हिंदु ग्रंथों के भाष्यकार स्व. लोकमान्य तिलक जी की अपेक्षा(७) :- स्व. लोकमान्य तिलक ने ता. ३० नोव्हेंबर १९०४ को श्वेताम्बर जैन कॉन्फ्रेंस बडौदा में जो भाषण दिया, उसमें स्पष्टतया स्वीकार किया है कि-" ग्रंथों तथा सामाजिक व्याख्यानों से जाना जाता है कि जैनधर्म अनादि है, यह विषय निर्विवाद तथा मतभेदरहित है। सुतरां इस विषय में इतिहास के दृढ़ सबूत है तथा "अहिंसा परमो धर्मः" के उदार सिद्धान्त की चिरस्मरणीय छाप जैनधर्म ने ही ब्राह्मण धर्म पर मारी है। भारत में यज्ञों द्वारा जो असंख्य पशुहिंसा धर्म के नाम पर की जाती थी, उसको सदा के लिये विदा कर देने का श्रेय भी जैन धर्म को है। ब्राम्हण और हिंदु धर्म में मांस भक्षण और मदिरा पान बंद हो गया, यह जैनधर्म का प्रताप है।

(३५) वैदिक संस्कृति के महान विद्वान, चिंतक व दार्शनिक महामहोपाध्याय पं. राममिश्रजी शास्त्री की अपेक्षा(८) :- महामहोपाध्याय पं. राममिश्रजी शास्त्री (प्रोफेसर संस्कृत कॉलेज, बनारस) ने पौष सुदी १सं...... को व्याख्यान देते हुये कहा है कि सृष्टि की आदि से जैन मत प्रचिलित है। जैनों का अनेकान्तवाद तो ऐसी चीज है कि उसे सबको मानना पडेगा और लोगों ने माना भी है।

(३६) भारतीय संस्कृति के आद्य व्याख्याता उपराष्ट्रपति डॉ. सर्वापल्ली राधाकृष्णण की अपेक्षा(९) :- इंडियन फिलोसफी के पृष्ठ-२८७ पर सर राधाकृष्णन् ने लिखा है कि "The Bhgwat Puran endorses the view that Rishabh was the founder of Jainisn" अर्थात् भागवत पुराण में स्वीकार किया गया है कि जैनधर्म के संस्थापक वृषभदेव थे। भागवत के अतिरिक्त विष्णुपुराण, वायुपुराण, लिंगपुराण, कूर्मपुराण, मत्स्यपुराण, मार्कंडेयपुराण, अग्निपुराण आदि में भी भगवान वृषभदेव और उनके माता -पिता आदि का वर्णन है, जो जैनपुराण आदि से मिलता है।

इसी अनुसार आगे कहे गये ३७, ३८, ३९ व ४०वें बिंदु हैं :-

(३७) जैन धर्म की प्राचीनता की सिद्धि करता ऋग्वेद व यजुर्वेद के निम्न मंत्र :- ऋग्वेद में कहा है कि-**ओम् त्रैलोक्य प्रतिष्ठानाम् चतुर्विंशतितीर्थंकराणाम् वृषभादि वर्धमानांतानाम् सिद्धानाम् शरणं प्रपद्ये।** इसमें भगवान् आदिनाथ तथा दूसरे तीर्थंकरों की स्तुति की है। यजुर्वेद में भी कहा है '**ओम् नमो अर्हंत वृषभो।**' ये दोनों प्रमाण भी सिद्ध करते हैं कि ऋग्वेद के लेखन के पूर्व जैन-धर्म अस्तित्व में था॥

(३८) जैन धर्म की प्रचीनता की सिद्धि करता हिंदुओं की मान्यताओं के विपरित मान्यता वाले जैन देवताओं का हिंदु ग्रंथों में प्रकरण की अपेक्षा :- योग वशिष्ट रामायण के वैराग्यप्रकरण, अध्याय१५, श्लोक ८ में लिखा है कि-

नाहम् रामो न मे वांछा भावेषु न च मे मनः।
शान्ति मासितुमिच्छामि स्वात्मनीव जिनो यथा॥

अर्थात् भगवान् रामचन्द्र ने इसमें जिनेन्द्र भगवान् के सदृश शांत प्रकृति होने की भावना प्रगट की है। हिंदु संस्कृति में परमात्मा के विशेषण अथवा पर्यायवाची रूप में अव्याख्यायित/अप्रचलित जिन शब्द, जो कि मुख्यतया जैनियों के ही यहाँ प्रयुक्त होता है, का प्रयोग सिद्ध करता है कि रामचंद्रजी के काल के पूर्व जैन धर्म अस्तित्व में था॥

जिन शब्द की मेदिनीकोश से सिद्धि :-

(३९) शब्दकोशिय व्युत्पत्ति की अपेक्षा :- मेदिनीकोश में जिन शब्द का अर्थ **'बृहत् जैनधर्म के आदि प्रचारक'** ऐसा किया है। हनुमन्नाटक, गणेशपुराणादि ग्रंथों में अर्हत् शब्द का व्यवहार देखा जाता है, जो कि जैनियों के अर्हन् शब्द से उत्पन्न हुआ है।

(४०) चूँकि जैन ऋषियों का हिंदु ग्रंथों में किया गया स्मरण भी जैन धर्म की प्राचीनता की सिद्धि करता है, अतः उसकी अपेक्षा :- रामायण बालकांड, सर्ग १४, श्लोक २२ में राजा दशरथ ने श्रमणगणों का अतिथि सत्कार किया, यह बात लिखी है-**'तापसा भुंजते चापि श्रमणा भुंजते तथा'**। भूषण टीका में श्रमण शब्द का अर्थ दिगम्बर किया है-**'श्रमणा दिगम्बराः, श्रमणा वातवसना इति निघण्टुः'।**

(४१) भारतीय संस्कृति के सर्वमान्य व्याख्याता वरदाकान्त मुख्योपाध्याय की अपेक्षा :- वरदाकान्त मुख्योपाध्याय, एम्.ए. प्रसिद्ध विद्वान् लिखते हैं कि लोगों का वह भ्रमपूर्ण विश्वास है कि पार्श्वनाथ जैनधर्म के संस्थापक थे, किन्तु इसका प्रथम प्रचार वृषभदेव ने किया था। इसकी पुष्टि में प्रमाणों का अभाव नहीं है।

(४२) महान इतिहासज्ञ डॉ. ए. गिरनोट(फ्रेन्च विद्वान) की अपेक्षा :- डॉ. ए. गिरनोट नामक फ्रेंच विद्वान् लिखते हैं कि Concerning the antiquity of jainism comparatively to Budhism the former is truly moe ancient than the later there is very great ethical value in jainism for mens improvement and systiomatical doctrine.अर्थात् जैनधर्म और बौद्धधर्म की प्राचीनता के संबंध में मुकाबला करने पर जैनधर्म बौद्धधर्म से वास्तव में बहुत प्राचीन है। मानव समाज की उन्नति के लिये जैनधर्म में सदाचार का बड़ा मूल्य है। जैनधर्म एक मौलिक, स्वतंत्र और नियमित सिद्धान्त है।

****

पं. तनसुखलालजी काला

पं. सुमेरुचंद्रजी दिवाकर

श्री शिरगूरकरजी पाटील
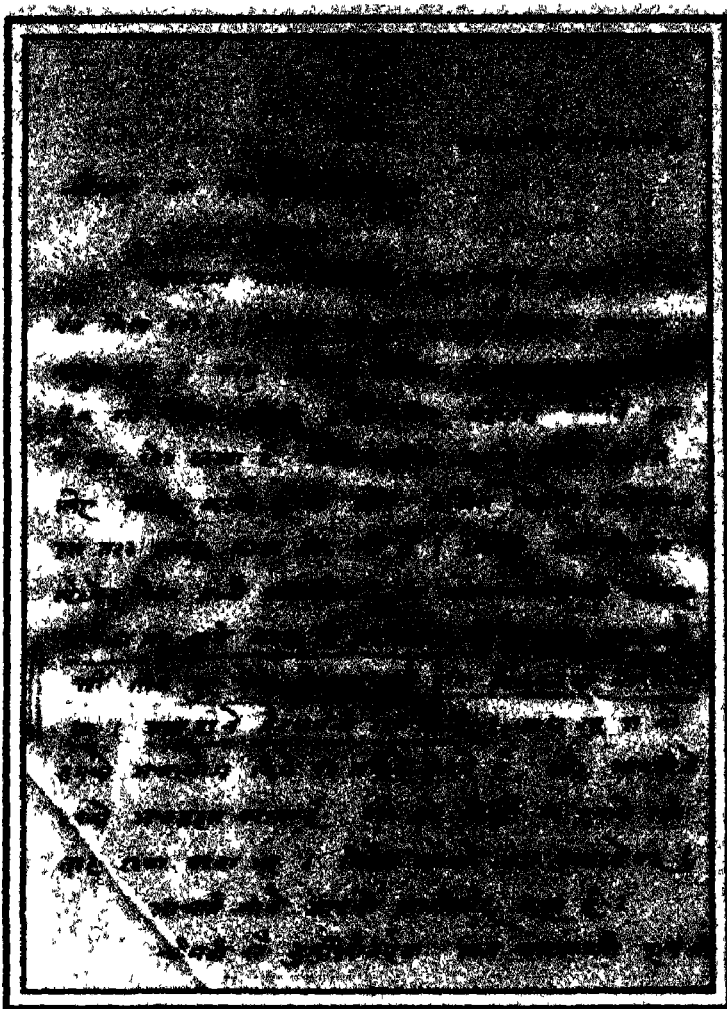
आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज द्वारा
श्री शिरगूरकर पाटील साहब को लिखवाया गया पत्र।

आचार्य श्री की पं. तनसुखलालजी काला के प्रति विश्वसनीयता को दर्शाता पं. सुमेरूचंद्रजी दिवाकर का पत्र

(पत्र का अगला भाग)

वीतरागाय नमः

विद्वत्‌रत्न सुमेरुचंद्र दिवाकर शास्त्री
बी. ए., एल एल बी., धर्म दिवाकर न्यायतीर्थ

दिवाकर सदन
सिवनी (म० प्र०)
9-11-84

भाई माणिकचन्द जी

जयजिनेन्द्र। आज आपका पत्र मिला। आगम प्राण एवं धर्मपक्ष के धुरीण वयोवृद्ध समाजसेवी पं. तनसुखलाल जी का निधन जानकर दुःख हुआ। स्वर्गीय आचार्य शान्तिसागर महाराज के अत्यन्त वे विश्वासपात्र रहे। सेठ निरंजन लाल जी और इन्होंने मिलाकर आर्षमार्ग का रक्षण किया। वे निर्भीक और ओजस्वी वक्ता थे इस जमाने में धर्म और समाज की सेवा करने वाले श्रद्धावान व्यक्तियों में उनका गौरवपूर्ण स्थान था। उन्होंने संयम के द्वारा अपने ज्ञान को अलंकृत कर मनुष्यजन्म को कृतार्थ किया। धार्मिक पक्ष की दृष्टि से हम और वे एक परिवार के व्यक्ति रहे आज उस तेजस्वी सम्यक श्रद्धा सम्पन्न सत्पुरुष के स्वर्गवासी

(पत्र का पिछला भाग)

बनने के कारण समाज की अकथनीय क्षति हुई है। उनका निर्मल जीवन "धन्य था" "यमस्य करुणा नास्ति"। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को क्रूर यमराज का ग्रास होना होगा। जिनेन्द्र भक्ति आपको आर्तध्यान से बचावें। यही सुझाव है, यही प्रार्थना है।

आपका शुभचिन्तक
सु. च. दिवाकर
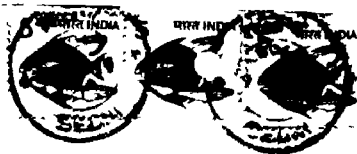
श्री माणिकचन्द काला
C/o अभय कुमार काला
1/A/7 गाजावाला अपार्टमेन्ट
M.B. Road
Borivali
Bombay (West)
P. 400092
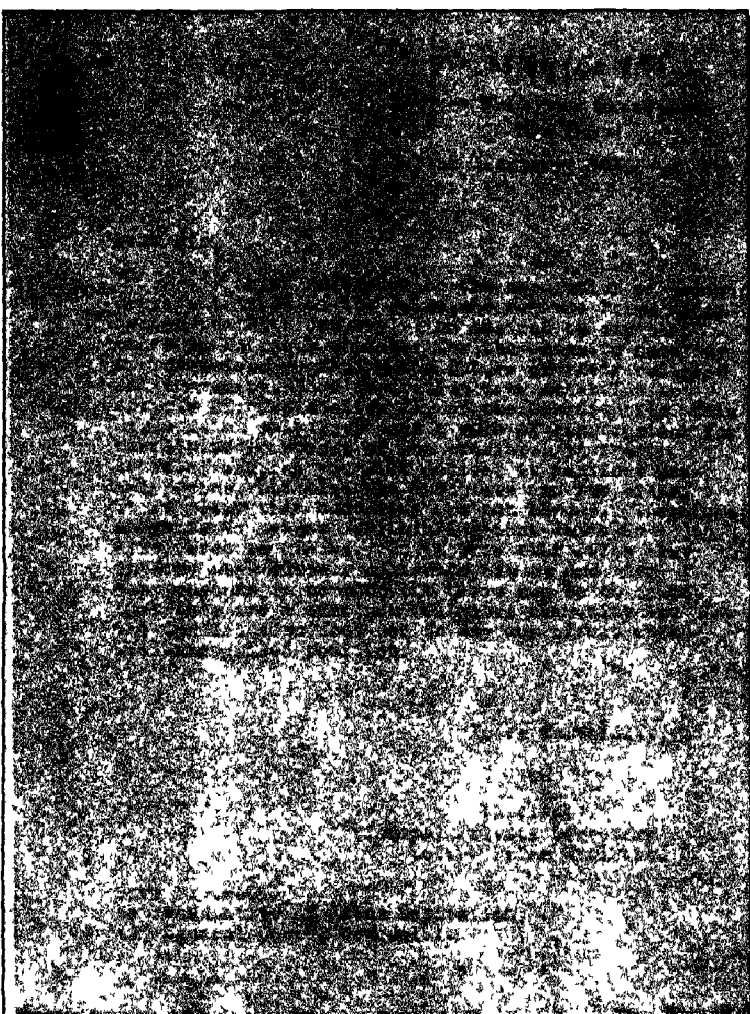
केंद्रीय प्रधानमंत्री भारतमुकुट

श्री पं. जवाहरलाल नेहरूजीका

जैनसमाजको पत्र.

No 33 94 50 PMS

PRIME MINISTER'S SECRETARIAT
NEW DELHI

31st January, 1950

Dear Sir,

With reference to the deputation of certain representatives of the Jains, who met the Prime Minister on the 25th January, I am desires to say that there is no cause whatever for the Jains to have any apprehensions regarding the future of their religion and community. Your deputation draw attention to Article 25, Explanation II of the Constitution. This Explanations only lays down a rule of constitution for the limited purposes of one provision in the article and, as you will notice it mentions not only Jains, but also the Buddhists and the Sikhs. It is clear that Buddhist are not Hindus, Therefore There is no reason of thinking that Jains are considered as Hindus. It is true that Jains are in some ways closely allied to Hindus and have many customs in common; but there can be no doubt that they are a distinct religious community and the constitution does not in any way affect this well recognised position.

Yours faithfully

AVPa

A V Pai
Principal Private Secretary
to the Prime Minister

Shri. S G Pati
Representative of Jains Deputation
1, Central Court New Delhi

केन्द्रीय प्रधानमंत्री
श्री पं. जवाहरलाल नेहरूजी
का जैन समाज को पत्र

(पिछले पृष्ठ पर मुद्रित इस पत्र को साफ पढने हेतु पुनः टंकित किया गया है)

केन्द्रीय शिक्षामंत्री

श्री मौलाना अब्दुलकलाम आजाद

का जैन समाज को पत्र
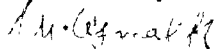
19 Akbar Road,
New Delhi.

February 4, 1950

Dear Mr. Tansukhlal ji,

Your letter of 2nd february 1950 has been received by Maulana Sahib. He hopes that when the main point has been clarified, Acharya Shri Shantisagar ji Maharaj would and the penance which he has imposed on himself and begin taking the normal food. The Government of India, ad this Prime Minister has written in his letter, has no intention of absorbing any community in any other group against its faith.

Yours faithfully,

M. Ajmal Khan,
By Private Secretary
to H.M. Education

Shri Tansukhlal ji Kala
Representative Acharya Shantisagar Ji Maharaj
New Delhi.

केन्द्रीय शिक्षामंत्री
श्री मौलाना अब्दुलकलाम आजाद
का जैन समाज को पत्र

(पिछले पृष्ठ पर मुद्रित इस पत्र को साफ पढने हेतु पुनः टंकित किया गया है)

देहली में बंबई के प्रधानमंत्री श्री बालासाहेब खेर से जैन समाज का डेप्युटेशन मिल रहा है।

श्री सर सेठ भागचंदजी सोनी श्री खेर साहब का स्वागत कर रहें है और
साथ में है पं. तनसुखलालजी काला ।

प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरूजी से मिलने को प्रतिक्षारत्
मुख्य प्रतिनिधि शिरगूरकर पाटील ।

संरक्षण मंत्री सरदार बलदेवसिंहजी
का श्री शिरगूरकरजी पाटील
सम्मान करते हुए व साथ
में है पं. तनसुखलालजी काला।
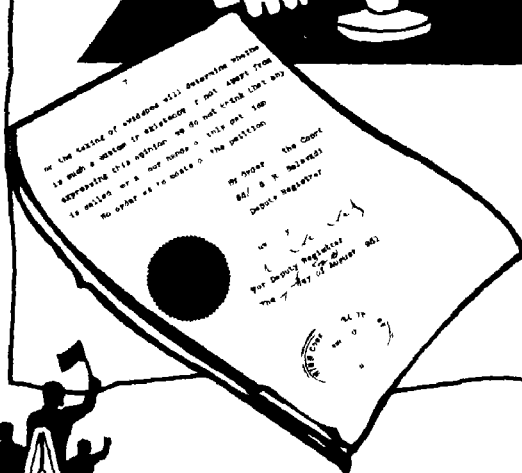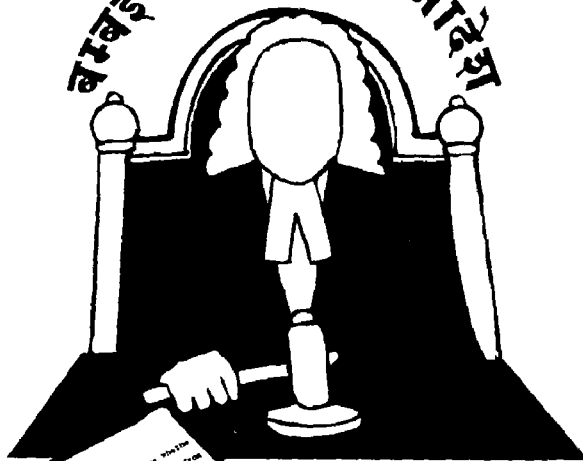
बम्बई हायकोर्ट का आदेश
आचार्य श्री के पक्ष में

हरिजन मंदिर प्रवेश एक्ट बिल के संसोधनार्थ मुबंई (महा.) सरकार व शोलापुर के कलेक्टर के विरूद्ध बम्बई हाइकोर्ट में दाखिल आरोप पत्र पर बंबई हाईकोर्ट के महत्वपूर्ण निर्णय का छाया चित्र -

Rupees Eleven, annas ~~four and pies nine~~ Five only

Superintendent, D.D.
14-8-1951.

Typed by Mr. D.R. Gokarn
Examined by Mr.
Read by Mr.

Copy applied for on 26 . . 5
Copy ready on 14-8-51
Copy delivered on 14-8-51
sent by V.P.P. / Regd. Post on

Assistant Superintendent

CIVIL APPLICATION NO. 91 OF 1951.

Bhaichand Tarachand Gandhi and others....Petitions

Versus.

The State of Bombay, having their office at Secretariat, Bombay; and another......Opponents

------

Application praying for issuing a Writ of Mand ir for a direction or Order under Art. 226 of the stitution of India ordering the Opponents not to e -force against the petitioners the provisions of Bo Harijan Temple Entry Act of 1947, in respect of - Digambar Jain Temples at Akluj and other places.

Mr. P.B. Das, Mr. N.A. Palkhivala and Nandlal & Co., Attorneys for the Petitioners.

Advocate General with Mr. G.N. Joshi and Little & Co Attorneys for the Opponents.

Coram:- Chagla, C.J., & Gajendragadkar, J.

24th July 1951.

Oral Judgment (Per Chagla, C.J.):- This is a petit filed by certain members of the Digamber Jain Comm of Akluj in the Sholapur District. At Akluj there a Jain Temple and the question that is raised by t

petition is whether the Harijans are entitled to enter this Temple by reason of the Bombay Harijan Temple Entry Act 1947. That Act was placed on the statute book in order to remove certain disabilities from which the Harijans suffered, and one of the most glaring disabilities was that Harijans were not allowed to worship along with other Hindus in Hindu temples. The contention of Mr. Das is that on a true construction of this Act, if Hindus had a right by law or custom to worship in this particular Temple, then the Harijans would have a similar right. But if Hindus themselves have no right to enter into this Temple, then no right has been conferred upon the Harijans by this Act. The contentions, on the other hand, put forward on behalf of the State by the Advocate General is that this Act throws open all Jain temples to all the Hindus, and inasmuch as Jain temples are thrown open to all the Hindus the right that the Hindus have by virtue of this Act can also be exercised by the Harijans.

In order to decide which of these two contentions is sound, it is necessary to look both at the purpose and object of the Act and also to the language used by the Legislature in order to effectuate that object and purpose. Sec. 2 is the definition section and the material definitions we have to consider is the definition of "Hindus" and of "Temple". "Hindus" is defined as including Jains, and "temple" is defined as a place, by whatever name known and to whomsoever belonging, which is used as a place of religious worship by custom, usage or otherwise by the members of the Hindu community or any section thereof and includes all land appurtenant thereto and subsidiary shrines attached to any such place. Sec. 3 is the material section which confers certain rights upon Harijans, and that is in the following terms:

"Notwithstanding anything contained in the terms of any instrument of trust, the terms of dedication, the terms of a Sanad, or a decree or order of a competent Court,

or any custom, usage or law, for the time being in force to the contrary, every temple shall be open t Harijans for worship in the same manner and to the same extent as to any member of the Hindu community or any section thereof and Harijans shall be entitl to bathe in, or use the waters of, any sacred tank, well, spring or water-course in the same manner and to the same extent as any member of the Hindu - community or any section thereof".

The Advocate General's contention is that we must import the definition of "Hindus" given in the Act into this section and having imported that definition we must read the section as meaning that every temple, whether it is a temple of Hindus or of Jains, is open to every member of the Hindu community, which means member of the Jain community or the Hindu community. It is impossible to accept this contention. If this contention were to prevail, it would result in our holding that the Legislature by this legislation has completely wiped off and obliterated all distinction between Hindus and Jains and that the object of this legislation was to do away with such distinction and difference. As I said before, this Act has a narrow and limited objective, however laudable that objective might be, and the limited objective is to raise the Harijans in status and to bring them up to the same position as high class Hindus in respect of temple entry. The object of this legislation is not to do away with distinction between Hindus and Jains or the distinction between Hindu and Jain temples. It is well known that Jains are Hindu dissenters and in their religious beliefs they differ from the Hindus on some material points. They do not recognise the authority of the Vedas and do not subscribe to the view that there is any religious merit in the performance of rituals and sacrifices. The Jains also differ from the Hindus in

assigning the highest place of respect to their Saints known as Teerthankars who according to the Jains have "successively become superior Gods" (Vide Bhagwandas Tejmal v. Rajmal, 10 B.H.C.R. 241, 251). It is true that according to judicial decisions in the absence of proof of custom or usage to the contrary Hindu law applies to the Jains. Even so, their distinct and separate entity as a class by themselves governed by their own religious tenets and beliefs cannot be disputed. Therefore, though as the Advocate General assumes it may be possible or perhaps even desirable to treat the Jains as Hindus for all legal and social purposes, that clearly was not the object of the State Legislature in passing the present Act. We must therefore refuse to accept the contention of the Advocate General that the main object of the Act is to remove all the distinctions between Jains and Hindus.

The other consequence of the Advocate General's argument being accepted would be that this Act confers rights upon high class Hindus which they did not possess before the passing of this Act, because according to the Advocate General after this Act was passed every Hindu became entitled to enter a Jain temple even though he did not have such a right before the passing of this statute. That construction also, in our opinion, is totally opposed to the object and purpose of this legislation. This legislation was not passed in order to confer any rights upon high class Hindus. It was passed solely for the purpose of removing disabilities of Harijans. The definition of "temple" also lends support to the construction we are placing upon the statute, because a temple is defined as a place of religious worship which is so by custom, usage or otherwise. That

means that if a temple is permitted by Jains to be used by the Hindus, then undoubtedly it would fall in the def nition of "temple" as used in this Act. Mr. Das concede that if in this particular Jain temple Hindus are permi tted to worship by reason of custom or usage, then the Harijan would be equally entitled to worship in this temple. But the Advocate General is asking for a higher right for Hindu and that right is that although by law or by custom a Hindu was not entitled to worship in a Jain temple, by reason of this Act he became so entitled That contention we are not prepared to accept.

Therefore, in our opinion, on a true construction o this Act the position in law is that in a Jain temple Hindus are only allowed to worship provided they have acquired that right by law or by custom. If Hindus have a right to worship in a Jain temple, then by reason of tha a similar right must be conferred upon the Harijans. So that the rights of the Harijans have been made to appro- ximate with the rights of the Hindus, but the right that a Hindu has is a right which was subsisting in him befor the Act was passed; no new right has been conferred upon him by this Act. Therefore, if a Hindu can establish his right to worship in a Jain temple as having existed prio to the passing of this Act, then a Harijan can equally well claim the same right. We should also like to point out that if there are any Harijans among the Jains - we are told there are none -, then the Harijans Jains would have the same right to worship as the Jains have, even though they did not possess that right before this Act w placed on the statute book.

Therefore, in our opinion, the contention of the petitioners must prevail that as far as this particular Jain temple at Sholapur is concerned the Harijans have no

no right of entry in this temple if Hindus have not that right established either by law or custom or usage.

There is one other point that arises on this petition and that is the action taken by the Collector of Sholapur in this matter. We are quite prepared to concede that the Collector acted out of the best of motives and in the interest of a cause which is a very worthy and deserving cause, but it seems to us that the action taken by him was not fully justified by law. What he did was that at the instance of the Harijans who insisted upon their right to enter this temple, he ordered the removal of the lock placed on the door of the temple by the Jains. It seems to us that the only right that he has got in law is the right conferred upon him by sec. 4 of the Act. That section provides that whoever prevents a Harijan from exercising any right conferred by this Act, or molests or obstructs or causes or attempts to cause obstruction to a Harijan in the exercise of any such rights, shall, on conviction, be punishable in a particular way. Therefore, if the Collector of Sholapur is satisfied, in the light of our judgment and in the light of the interpretation and construction we have put upon this Act, that Hindus had the right by law or custom to enter this Jain temple at Akluj, then it would be perfectly competent to him to order a prosecution of any Jain who is depriving the Harijans of the right conferred upon them under the Act. But apart from the right to prosecute the Jains under sec. 4, it seems to us that the Collector had no right to compel the Jains to break open the lock or to assist the Harijans in entering the temple. If the view of the Collector is that there is a custom which entitled Hindus to enter this temple, if the view of the Jains is that there is no such custom, the proper forum for determining this disputed question of fact would be a Court of law, and if the Collector prosecutes the Jains then this issue will come up before the Court and the Court

on the taking of evidence will determine whether ther is such a custom in existence or not. Apart from expressing this opinion, we do not think that any ord is called for at our hands on this petition.

No order as to costs of the petition.

By Order of the Court,
Sd/- S. H. Belavadi
Deputy Registrar.

True Copy

For Deputy Registrar
The/ day of August 1951.

बम्बई हायकोर्ट के आदेश का हिन्दी अनुवाद

यह प्रार्थना पत्र शोलापुर जिले के आकलूज ग्राम के दिगम्बर जैन समाज के कुछ लोगों ने पेश किया है। अकलूज में एक जैन मंदिर है और इस प्रार्थना पत्र से प्रश्न यह उठाया गया है कि हरिजनों को १९४७ के बंबई हरिजन मन्दिर प्रवेश कानून के अनुसार उस मन्दिर में जाने का अधिकार है या नहीं ?

वह कानून इसलिए बनाया गया था कि हरिजनों को जो कुछ असुविधायें उठानी पड़ रहीं हैं, उन्हें दूर किया जाय और उन सब बड़ी असुविधाओं में से एक यह है कि हरिजनों को हिन्दू मन्दिरों में अन्य हिन्दुओं के साथ पूजा नहीं करने दी जाती है।

(जैन पक्ष के एड्वोकेट) श्री दास का कहना है कि इस कानून के निर्माण का ठीक अभिप्राय यह है कि यदि हिन्दुओं को कानून या रिवाजन इस मंदिर में पूजा करने का अधिकार होता, तब तो इस (जैन) मंदिर में हरिजनों को भी वैसा अधिकार मिल जाता, किंतु जब हिन्दुओं को ही इस मंदिर में प्रवेश करने का अधिकार नहीं है, तब हरिजनों को भी इस कानून से वैसा कोई अधिकार कैसे दिया जा सकता है अर्थात् नहीं दिया जा सकता।

दूसरे पक्ष का दावा यह है, जो कि (बम्बई) सरकार की ओर से एडवोकेट जनरल ने पेश किया है कि इस कानून से सभी जैन मन्दिर सभी हिन्दुओं(स्वर्णों या हरिजनों) के लिए खोल दिये गये हैं, और इस कानून से जो अधिकार स्वर्ण हिन्दुओं को (जैन मंदिरों के लिये) दिये गये हैं, उन (अधिकारों) का उपयोग हरिजन भी कर सकते हैं।

इन दोनों में से कौन सा दावा ठीक है इसका निर्णय करने के लिये यह आवश्यक है कि इस कानून के प्रयोजन व उद्देश्य दोनों को देखा जाय, और उस भाषा को भी देखा जाय, जिसका प्रयोग इस कानून के उस प्रयोजन व उद्देश्य को कार्य में परिणत करने के लिये किया गया है।

दूसरी धारा व्याख्या से सम्बन्ध रखती है और जिस व्याख्या पर हमें विचार करना है वह "हिन्दु" और "मन्दिर" शब्दों की व्याख्या है। "हिन्दु" की व्याख्या में कहा गया है कि उसमें जैन भी शामिल हैं। और "मन्दिर" की व्याख्या में कहा गया है कि :-

"वह स्थान, चाहे वह किसी भी नाम से क्यों न पुकारा जाता हो और चाहे किसी से भी सम्बन्ध क्यों न रखता हो, जिसको कि, हिन्दु समाज अथवा उसका कोई समुदाय धार्मिक पूजा के लिये, रिवाज के तौर पर, व्यवहार के तौर पर अथवा अन्य रूप से काम में लाता हो और उसमें चाहे वह जमीन हो या चाहे उसमें कोई मूर्ति हो मंदिर है।"

तीसरी धारा में हरिजनों को कुछ अधिकार दिये गये हैं, वह धारा इस प्रकार है :-

"किसी भी ट्रष्ट के विधान की शर्तों में, धर्मादि की शर्तों में अथवा सनद की शर्तों में, किसी भी अदालत के हुक्म या डिग्री में अथवा किसी भी कानून या रिवाज में, जो कि इस समय प्रचलित है, उसमें कुछ भी क्यों न कहा गया हो, प्रत्येक मन्दिर हरिजनों के लिये पूजा करने को वैसे ही और

उसी रूप में खोल दिया जायेगा जैसे कि वह हिन्दू समाज अथवा उसके किसी भी समुदाय के लिये खुला होगा। और हरिजनों को किसी भी पवित्र तालाब, कुएं, स्रोत अथवा जलधारा में स्नान करने और उसका उपयोग करने का वैसा और उसी रूप में अधिकार प्राप्त होगा जैसा कि हिन्दू समाज और उसके किसी भी वर्ग को प्राप्त है।''

एडवोकेट जनरल की मंशा यह है कि कानून की उक्त धारा में ''हिन्दू'' शब्द की जो व्याख्या की गई है, उसे इस (हरिजनों को दिये गये अधिकार की) धारा में शामिल करना चाहिये और उस व्याख्या को इस धारा में शामिल करने के बाद हमें उसका यह अर्थ करना चाहिये कि हरेक मन्दिर, चाहे वह हिन्दुओं का हो या जैनों का, वह हिन्दूसमाज के हर सदसय के लिये खोल दिया गया है, जिसका अभिप्राय जैन समाज और हिन्दू समाज के सभी सदस्यों से है।

(एड्व्होकेट जनरल की) इस मंशा को स्वीकार करना असंभव है। यदि इस मंशा को स्वीकार कर लिया जावे, तो हमारी सम्मति में इसका परिणाम यह होगा कि व्यवस्थापिका (धारा सभा) ने इस व्यवस्था या कानून से वे सब भेद और अन्तर एकदम मिटा दिये अथवा खत्मकर दिये हैं जो हिन्दू और जैन में है। क्या इस कानून का उद्देश्य यही था कि इस भेद या अन्तर को मिटा दिया जाय ?

जैसा कि मैंने पहले कहा है कि इस कानून का उद्देश्य बहुत ही सीमित अर्थात् मर्यादित है। (वह सीमा अथवा मर्यादा यह है कि) वह उद्देश्य कितना ही पवित्र है अथवा हो सकता है ? वह सीमित (पवित्र) उद्देश्य यह है कि :- हरिजनों के सामाजिक धरातल को उंचा किया जाय और उनको मंदिर प्रवेश के सम्बन्ध में उच्च हिन्दुओं के समान स्थिति में लाय जाय। (निश्चित ही) इस कानून का उद्देश्य हिन्दू और जैन मन्दिरों में विद्यमान भेद या अन्तर को मिटाना नहीं है।

यह सुविदित है कि जैन हिन्दुओं से भिन्न धर्म के हैं और अपने धार्मिक विश्वासों में वे अनेक महत्वपूर्ण मामलों में हिन्दुओं से मतभेद रखते हैं। वे वेदों को प्रमाण नहीं मानते और न वे इस विचार के हैं कि कर्मकांड तथा (पशु) बलिदान का कोई धार्मिक महत्व है।

जैनों का इस बारे में भी हिन्दुओं से भेद है कि वे अपने उन संतों के प्रति जिन्हें कि तीर्थंकर कहा जाता है, जो कि जैनों के मतानुसार क्रमशः परमात्मपद को प्राप्त कर लेते हैं, सर्वोच्च श्रद्धा रखते हैं (भगवानदास तेजमल बनाम राजमल १०बी. एस. जी. आर. ३४१, २५१, केअनुसार)।

यह सच है कि जहाँ कोई रिवाज या व्यवहार (हिन्दुओं व जैनियों मं) विपरीत नहीं मिलता, वहाँ अदालतों के फैसले के अनुसार जैनों पर हिन्दू कानून लागू होता है, फिर भी उनके पृथक् और स्वतन्त्र समाज के अस्तित्व के बारे में जिस पर कि उनके अपने धार्मिक विचारों और विश्वासों की व्यवस्था लागू होती है, कोई विवाद नहीं किया जा सकता, इसलिये भले ही एडवोकेट जनरल के कहने के अनुसार यह संभव हो और भले ही वाँछनीय भी क्यों न हो कि जैनों को सभी कानूनी और सामाजिक मामलों में हिन्दुओं के समान ही समझा जाता है, अतः दोनों के धर्म भी एक ही समझे जायें, व्यावहारिक नहीं है। यहाँ यह स्पष्ट है कि इस कानून को स्वीकार करने का राज्य की (संविधान बनाने व लागू करने वाली) धारा सभा का उद्देश्य ऐसा करना नहीं है कि दोनों धर्म एक ही समझे जायें। **इसलिये हम एडवोकेट जनरल के इस दावे को स्वीकार करने से इनकार करते हैं कि कानून का मुख्य उद्देश्य**

जैनों और हिन्दुओं के बीच के सारे भेद या अन्तर को मिटा देना है।

एडवोकेट जनरल के तर्क को स्वीकार का लेने का दूसरा परिणाम यह होगा किउच्च वर्ण के हिन्दुओं को इस कानून से वे अधिकार मिल जायेंगे जो कि इस कानून को स्वीकार किये जाने से पहले उन्हें प्राप्त नहीं थे। क्योंकि एडवोकेट जनरल के कहने के अनुसार इस कानून के इस प्रकार स्वीकार किये जाने के बाद हर हिन्दू को जैन मन्दिरों में प्रवेश करने का अधिकार मिल जाता है, भले ही उसको वैसा अधिकार इस कानून को स्वीकार किये जाने से पहिले प्राप्त नहीं था। **हमारी सम्मति में कानून का यह अर्थ करना भी इस कानून के उद्देश्य और प्रयोजन दोनों के ही सर्वथा विपरीत है।** निश्चित ही उच्चवर्ण के हिन्दुओं को (जैन मंदिरों में) कोई भी अधिकार देने के उद्देश्य से यह कानून स्वीकार नहीं किया गया है। इसे स्वीकार करने का प्रयोजन केवल यह था कि हरिजनों की असुविधायें दूर की जायें।

''मन्दिर'' शब्द की व्याख्या से भी हमारे उस अर्थ का ही समर्थन होता है, जो कि हम इस कानून का कर रहे हैं। 'मन्दिर की' व्याख्या यह की गई है कि धार्मिक पूजा का वह स्थान जो कि रिवाज, व्यवहार आदि से वैसा अर्थात् पूज्य बन गया है। इसका मतलब यह होता है कि जैनों ने यदि किसी मन्दिर को हिन्दुओं द्वारा काम में लाये जाने की अनुमति दे दी है, तो बिना किसी संदेह के वह मन्दिर इस कानून द्वारा की गई 'मन्दिर की' व्याख्या में आ जाता है (कि वह मन्दिर दोनों सम्प्रदाय वालों के लिये समान अधिकार को देने वाला हो जाता है)।

श्री दास यह स्वीकार करते हैं कि यदि किसी विशेष जैन मन्दिर में हिन्दुओं को पुराने रिवाज और व्यवहार से पूजा करने का अधिकार प्राप्त है, तो उस मन्दिर में हरिजनों को भी पूजा करने का वैसा ही अधिकार प्राप्त हो जायगा।

परन्तु एडवोकेट जनरल तो हिन्दुओं के लिये उससे भी अधिक ऊँचे अधिकार की माँग करते हैं और वह अधिकार यह है कि भले ही किसी कानून या रिवाज से हिन्दू को जैन मन्दिर में पूजा करने का अधिकार पहले से प्राप्त नहीं है, तो भी उसको इस कानून से वह अधिकार प्राप्त हो जाता है, **हम इस मंशा को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हैं।** इसलिये हमारी सम्मति में इस कानून का ठीक अर्थ समझा जाय तो कानूनन स्थिति यह है कि **जैन मंदिर में हिन्दुओं को पूजा करने का अधिकार तभी प्राप्त है, जब कि वह उन्होंने कानून अथवा रिवाज से प्राप्त कर लिया हो।** यदि हिन्दुओं को जैन मंदिर में पूजा करने का अधिकार प्राप्त है, तो उसी अधिकार के आधार पर वैसा ही अधिकार निश्चय ही हरिजनों को भी प्राप्त हो जाता है। हरिजनों के अधिकार हिन्दुओं के अधिकारों के समान कर दिये गये हैं, लेकिन हिन्दू को जो अधिकार है वह उतना ही है जितना कि इस कानून के स्वीकार किये जाने से पहले प्राप्त था, कोई नया अधिकार उसको इस कानून से नहीं दिया गया है। इसलिये यदि हिन्दू यह सिद्ध कर सके कि उसे इस कानून के स्वीकार किये जाने से पहले जैन मन्दिर में पूजा करने का अधिकार प्राप्त था, तो हरिजन भी वैसे ही समान अधिकार का दावा कर सकते हैं, (अन्यथा नहीं)।

हम यह भी कह देना चाहते हैं कि यदि जैनों में कोई हरिजन हैं, - हमें बताया गया है कि उनमें कोई हरिजन नहीं -तो जैन-हरिजनों को पूजा करने का वैसा ही अधिकार प्राप्त होगा, जैसा कि जैनों को है, भले ही वह अधिकार उन्हें इस कानून के स्वीकार किये जाने से पहले प्राप्त न था।

इसलिये हमारी सम्मति में आवेदन करनेवाले (जैनियों का) यह दावा स्वीकार किया जाना चाहिये कि यदि हिन्दुओं ने उस जैन-मंदिर में जाने का अपना अधिकार कानून या रिवाज से अथवा व्यवहार से सिद्ध नहीं कर दिया था, तो शोलापुर के इस विशेष मंदिर में हरिजनों को जाने का कोई अधिकार नहीं था।

इस प्रार्थना पत्र से जो दूसरा मुद्दा पैदा होता है वह शोलापुर के कलेक्टर की इस बारे में की गई कार्यवाही है। हम यह मानने को पूरी तरह तैयार हैं कि कलेक्टर ने जो कुछ भी किया उसमें उसका इरादा बहुत नेक था और उन्होंने इस कार्य के हेतु वह किया जो कि बहुत ही पवित्र और उचित था। परन्तु हमें ऐसा प्रतीत होता है कि उन द्वारा की गई कार्यवाही सर्वथा कानून सम्मत नहीं थी। जो कुछ उन्होंने किया वह यह था कि उन्होंने हरिजनों के कहने पर, जिन्होंने कि मन्दिरों में जाने के अपने अधिकार के लिये आग्रह किया, यह हुक्म दे दिया कि जैनों के मंदिर में लगा ताला, हटा दिया जाय।

हमें ऐसा प्रतीत होता है कि कानून से उन्हें जो अधिकार प्राप्त था वह उतना ही था, जितना कि कानून की चौथी धारा से उन्हें प्राप्त हुआ है। उस धारा में इतना ही कहा गया है कि जो भी हरिजनों को इस कानून से प्राप्त अधिकार में बाधा डालता है अथवा उस अधिकार को हरिजन द्वारा उपयोग लाने में बाधा उत्पन्न करता है अथवा उस बाधा का उत्पन्न करने का कारण बनता है, उसे उसका अपराध साबित होने पर कानून के अनुसार उसे सजा दी जा सकती है। इसलिये हमारे द्वारा दिये गये निर्णय और हमारे द्वारा की गई कानून की व्याख्या और हमारे द्वारा किये गये उसके अर्थ के अनुसार यदि कलेक्टर को यह संतोष था कि हिन्दुओं को कानूनन या रिवाज से अकलूज के इस जैन मंदिर में जाने का अधिकार है, तो उसके लिये सर्वथा उचित होता कि वह उन जैनों पर मुकदमा चलाता, जिसने कि हरिजनों को इस कानून द्वारा प्राप्त अधिकार से वंचित किया गया था।

कानून की चौथी धारा के अनुसार जैनों पर मुकदमा चलाने के अधिकार के अलावा, हमें प्रतीत होता है कि कलेक्टर को यह अधिकार नहीं था कि वह जैनों के मंदिर का ताला तोडने के लिये आदेश देता या सहायता करता अथवा हरिजनों को मंदिर में जाने के लिये मदद देता।

यदि कलेक्टर की यह धारणा है कि ऐसा कोई रिवाज है, जिससे हिन्दुओं को उसमें जाने का अधिकार है और जैनों की यह धारणा है कि वैसा कोई रिवाज नहीं है तो इस विवादास्पद प्रश्न के निर्णय करने का उचित स्थान अदालत ही था। यदि कलेक्टर जैनों पर मुकदमा चलाता, तो मामला अदालत के सामने आ जाता और अदालत साक्षी पुरावे के आधार पर निर्णय करती कि वैसा कोई व्यवहार या रिवाज प्रचलित है या नहीं। (अतः उपयुक्त तो यही था कि कलेक्टर महोदय द्वारा मंदिर का ताला तोड़ने का आदेश देने की बजाय, अदालत से न्याय प्राप्त करने का प्रयास किया जाता।)

चूँकि अपनी सम्मति को प्रकट करने के अलावा हम समझते हैं कि इस दरख्वास्त में हमसे किसी हुक्म अर्थात् आदेश देने मांग नहीं की गई है, (अतः हम इस विषय में अपनी सम्मति भर प्रगट कर रहे हैं, कलेक्टर या बम्बई सरकार के विरुद्ध कोई आदेश नहीं दे रहे हैं।) यहाँ तक कि प्रार्थना पत्र के खर्च के सम्बन्ध में कोई भी हुक्म नहीं दिया जा रहा है।

अनुवादक : पं. वर्द्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, सोलापुर(महा.)

परिशिष्ट - २

मुनिवर्य कुंथुसागरजी
(शिष्य - आ शांतिसागरजी)

१. श्री शांतिसागर चरित्र
(महान तपस्वी व प्रज्ञावान मुनिवर्य कुंथुसागरजी द्वारा संस्कृत भाषा में रचित काव्य ग्रंथ के अंश)

आचार्य श्री विद्यासागरजी
(रेखा चित्र)

२. श्री शांतिसागर स्तवन
(महान तपस्वी व प्रज्ञावान आचार्य विद्यासागरजी द्वारा हिंदी भाषा में रचित आचार्य श्री का स्तवन)

देहली में राष्ट्रपति बा. राजेन्द्रप्रसादजी को महासभा की ओग से आयोजित मानपत्र अर्पण समारोह में
श्री महासभा अध्यक्ष सर मेठ भागचंदजी अभिनंदन पत्र पढ रहे हैं।

श्री शांतिसागर चारित्र

(आचार्य श्री द्वारा दीक्षित महान विद्वान व तपस्वी साधुराज मुनिवर्य कुंथुसागरजी द्वारा संस्कृत भाषा में सन् १९३७ में लिखे गये आचार्य श्री के चारित्र-ग्रंथ के कुछ अंश)

नमस्कृत्य जिनं शान्तिं सूरिं श्रीशान्तिसागरम् ।
वैराग्यवर्द्धकं वक्ष्ये गुरुवर्यचरित्रकम् ॥१॥

अर्थ- मैं सोलहवें तीर्थंकर भगवान् शान्तिनाथ को नमस्कार करता हूँ और आचार्य श्री शान्तिसागर को नमस्कार करता हूँ। तदनंतर मैं अपने गुरुवर्य आचार्य शान्तिसागर का वैराग्य बढ़ाने वाला जीवन चरित्र कहता हूँ।

वीरे मोक्षं गते कालेऽष्टनवतयधिके शुभे ।
त्रयोविंशतिशतेऽब्दे षष्ठयां जातस्तृतीयतुक् ॥२॥
आषाढकृष्णपक्षे च शुभलग्ने शुभे ग्रहे ।
चरित्रनायकः श्रीमान् दयालुः सातगौडकः ॥३॥
वृषाद्धि सातगौडोऽयं भावी श्रीशान्तिसागरः ।
जिनधर्ममहाकाशचन्द्रो मिथ्यात्वनाशकः ॥४॥

अर्थ- भगवान् वर्धमान स्वामी के मोक्ष जाने के बाद शुभसंवत् तेईस सौ अठानवे के आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन शुभलग्न और शुभ ग्रहों के होते हुए (माता सत्यवती की कोख से येलगुळ नामक ग्राम में) तीसरा पुत्र जो इस चरित्र का नायक श्रीमान् दयालु सातगौडा उत्पन्न हुआ था। धर्म के प्रभाव से यही सातगौड पुत्र आगे चलकर शान्तिसागर के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं, जो कि मिथ्यात्व को नाश करने वाले हैं और जिनधर्मरूपी महा आकाश में चन्द्रमा के समान सुशोभित होते हैं।

चतुर्विंशतिशते चत्वारिंशदधिके शुभे ।
वीरे शिवंगते प्राप्तः श्रीदेवेन्द्रगुरुं गृहात् ॥५॥
ज्येष्ठशुक्ला त्रयोदशां गृहीत्वा क्षुल्लकव्रतम् ।
गुरुपकण्ठे स्थितवान् क्षुल्लकः कतिचिद्दिनम् ॥६॥

अर्थ- वीरनिर्वाण शुभसंवत् चौबीस सौ चालीस में वह पाटील सातगौड अपने घर से चलकर श्रीदेवेन्द्रगुरु के समीप पहुंचे और ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी के दिन उन्होंने क्षुल्लक के व्रत धारण किये। तदनंतर वे क्षुल्लक कुछ दिन तक अपने गुरु के समीप रहे।

चतुर्विंशतिशते षट् चत्वारिंशत्तमे शुभे ।
शिवंगते जिने वीरे शुभाष्टाह्निक पर्वणि ॥७॥
फाल्गुन शुक्लपक्षे च चतुर्दश्यां महातिथौ ।
श्रीदेवेन्द्रगुरोः पार्श्वेदीक्षा जैनेश्वरी शुभा ॥८॥
देवधर्मगुरुश्राद्धसाक्षिकं शुद्धिचेतसा ।
गृहीता शुभसायाह्ने शांतिसागरयोगिना ॥९॥
श्रावकाः सकलास्तत्र हर्षिता वृषवर्द्धनात् ।
गीतवादित्रशब्दैश्च जपशब्दैः कृतोत्सवाः ॥१०॥

अर्थ– वीरनिर्वाण संवत् चौबीस सौ छ्यालीस के शुभ अष्टान्हिका के पर्व में फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशी की महातिथि के दिन सांयकाल के शुभमुहूर्त में योगिराज उन शांतिसागर महाराज ने अपने शुद्ध हृदय से देव, धर्म, गुरु और श्रावकों की साक्षीपूर्वक अपने गुरु श्रीदेवेन्द्रकीर्ति के समीप जैनेश्वरी शुभ दीक्षा धारण की। उस समय समस्त श्रावक लोग गीत और बाजों के शब्दों से तथा जय जयकार के मधुर शब्दों से उत्सव मना रहे थे व धर्म की वृद्धि होने से बहुत ही हर्ष मना रहे थे।

मार्गे संबोधयन् भव्यान् समडोलिपुरं गतः।
चातुर्मासं च कृतवान् जनान् ज्ञात्वा सुधार्मिकान् ॥११॥
निषिद्धैर्गुरूणा दत्तमाचार्यपदमुत्तमम्।
पंडितैर्मुनिभिःश्राद्धैः संघैर्मत्वा सुयोग्यकम् ॥१२॥

अर्थ– मार्ग में अनेक भव्यजीवों को उपदेश देते हुए वे मुनिराज समडोली नाम के गांव में पहुंचे और वहां के लोगों को धार्मिक समझकर वहीं पर चातुर्मास योग धारण किया। वहां पर गुरुराज के निषेध करने पर भी पंडितों ने मुनियों ने, श्रावकों ने तथा सब संघ ने अत्यंत सुयोग्य समझकर उन मुनिराज शांतिसागर को उत्तम आचार्य पद दिया।

दयालुः गुरुभक्तश्च नीतिज्ञो वीरसागरः ॥१३॥
क्षमानिधिस्तपस्वी च योगी श्रीनेमिसागरः।
दृढव्रती द्वितीयोपि शान्तिदो नेमिसागरः ॥१४॥
ऐते त्रयोऽनगाराश्च संजाता धर्मवर्द्धकाः।
एवं दक्षिणे महती जाता धर्मप्रभावना ॥१५॥

अर्थ– इनके सिवाय (इनके संघ में) तीन मुनि हुए। उनमें से दयालु गुरुभक्त और नीति को जाननेवाले वीरसागर हैं, क्षमा के निधि योगी और तपस्वी श्री नेमिसागर हैं और शांति देनेवाले दृढव्रती दूसरे नेमिसागर हैं। ये तीनों ही मुनिधर्म को बढाने वाले हैं। इस प्रकार आचार्य शांतिसागर के निमित्त से दक्षिण देश में धर्म की महाप्रभावना हुई है।

वंदित्वा तच्छुभं क्षेत्रं निखिलांश्च जिनालयान्।
चतुर्विंशतिशतेऽब्दे षट्पंचाशत्तमे शुभे ॥१६॥
मार्गशीर्षे शुभे मासे पौर्णिमायां शुभे दिने।
मोक्षं गते जिने वीरे चत्वारो मुनयस्तदा ॥१७॥
प्रभाते दीक्षितास्तत्र शान्तिसागरयोगिना।
तेषां नामानि वर्ण्यन्ते दीक्षितानां यथाक्रमम् ॥१८॥

अर्थ– आचार्य महाराज ने उस शुभ क्षेत्र (सोनागिरि) की वंदना की और समस्त जिनालयों की वंदना की फिर वीरनिर्वाण सम्वत् चौबीस सौ छप्पन के मगसिर के शुभ महीने में पौर्णमासी के शुभ दिन प्रातःकाल के समय आचार्य शांतिसागर ने चार एल्लकों को श्री जैनश्वरी दीक्षा दी। आगे उन दीक्षित हुए मुनियों के यथा क्रम से नाम कहते हैं।

चन्द्रसागरयोगीन्द्रः धर्ममूर्तिः प्रभाववान्।
विचक्षणों दयामूर्ति मुनिः श्रीपार्श्वसागरः ॥१९॥
चतुर्विंशतिपूज्यानां स्तुतिकर्ता प्रसन्नधीः।
कर्ताहमस्य वृत्तस्य तृतीयः कुंथुसागरः ॥२०॥

ध्यानोपवासदक्षश्च तपस्वी नमिसागरः।
चत्वारो मुनयश्चैते दीक्षिता तत्र सूरिणा ॥२१॥

अर्थ– धर्ममूर्ति और प्रभावशाली योगिराज चन्द्रसागर दीक्षित हुए, दया की मूर्ति और सबसे विचक्षण श्रीपार्श्वसागर मुनि दीक्षित हुए। चतुर्विंशति तीर्थंकरों की स्तुति की रचना करनेवाला प्रसन्न चित्त को धारण करनेवाला और इस चरित्र को बनानेवाला तीसरा मैं कुंथुसागर हूँ तथा ध्यान उपवास में अत्यंत चतुर ऐसे नेमिसागर चौथे मुनि दीक्षित हुए हैं। इस प्रकार उस सोनागिर पर्वत पर आचार्य महाराज ने चार एल्लकों को जैनेश्वरी दीक्षा देकर मुनि बनाया था।

क्षुल्लकोऽजितकीर्तिश्च विरक्तस्तत्र दीक्षितः।
मुनयः क्षुल्लकाः सर्वे वीतरागः दयालवः ॥२२॥

अर्थ– विरक्त हुए, क्षुल्लक अजितकीर्ति भी वहीं पर दीक्षित हुए थे। इस प्रकार दीक्षित हुए वे सब मुनि और क्षुल्लक वीतराग थे तथा दयालु थे।

ततो चलत्समित्या हि धर्ममुद्योतयन् पथि।
ग्रामं पुरं समुल्लंघ्य मथुरायां समागतः ॥२३॥
श्रीजम्बुस्वामिनं नत्वा सिद्धभूमिं सुसिद्धिदाम्।
तत्क्षेत्रं परमं रम्यं ध्यानयोग्यं निरीक्ष्य च ॥२४॥
वर्षायोगो धृतस्तत्र जगत्पूज्येन योगिना।
कदाचोपवने ध्यानं कदाचिज्जिनमन्दिरे ॥२५॥
प्रभुपार्श्वे श्मशाने च कदाचिन्नगरे वरे।
एवं ध्यानं सदा कुर्वन् वर्षायोगं व्यतीतवान् ॥२६॥

अर्थ– वे आचार्य समिति पूर्वक वहां से भी चले और मार्ग में धर्म का उद्योत करते हुए, नगर तथा गांवों को उल्लंघन किया और मथुरानगर में आये। वहाँ पर उन्होंने जम्बू स्वामी को नमस्कार किया और सब सिद्धियों को देनेवाली सिद्धभूमि को नमस्कार किया। तदनंतर उस क्षेत्र को परम मनोहर और ध्यान के योग्य देखकर उन जगत् पूज्य योगिराज ने वहीं पर वर्षायोग धारण किया। वे आचार्य कभी बाग में ध्यान करते थे, कभी जिनमंदिर में ध्यान करते थे, कभी भगवान् के समीप में ध्यान करते थे, कभी श्मशान में ध्यान करते थे और कभी श्रेष्ठ नगर में ध्यान करते थे। इस प्रकार सदा ध्यान करते हुए उन्होंने वर्षायोग पूर्ण किया।

तदा द्वौ दीक्षितौ साधु गुरुवर्येण शान्तिदौ।
वर्णयामि तयोर्नाम पापहारि यथाक्रमम् ॥२७॥
प्रथमश्च दयामूर्तिरादिसागरनामकः।
मम विद्यागुरुर्धीरः सुधर्मसागरोऽपरः ॥२८॥
मनोहरः सुबुद्धिश्चाविद्याया ध्वंसकारकः।
तद्भ्रातरोपि विद्वांसः सरस्वत्याः सुतोपमाः ॥२९॥

अर्थ– (वीरनिर्वाण संवत् चौबीससौ साठ के फाल्गुन शुक्ल पक्ष में सेठ घासीलाल ने अपने प्रतापगढ़ नगर में बड़े शुभ भावों से प्रतिष्ठा कराई थी।) प्रतापगढ़ में उस समय आचार्य शांतिसागर

ने दो क्षुल्लकों को जैनेश्वरी दीक्षा दी। आगे मैं पापनाश करनेवाले उन दोनों के नाम यथा क्रम से कहता हूँ। पहले मुनि का नाम दयामूर्ति आदिसागर है और दूसरे धीर वीर मेरे विद्यागुरु सुधर्मसागर हैं। ये सुधर्मसागर बहुत मनोज्ञ हैं, अविद्या को नाश करनेवाले हैं तथा इनकी बुद्धि बहुत श्रेष्ठ है। इनके भाई भी सरस्वती के पुत्र के समान विद्वान् हैं।

यशोधरेण भव्येन नेमिसागरयोगिना।
द्वाभ्यां हि ब्रह्मचारिभ्यां क्षुल्लकेन समं तदा ॥३०॥

अर्थ– उस गोरल क्षेत्र को अत्यंत मनोहर, एकान्त और उपद्रव रहित देखकर गुरुवर्य आचार्य ने मुनि नेमिसागर के साथ क्षुल्लक भव्य यशोधरा के साथ और दो ब्रह्मचारियों के साथ वहीं पर वर्षायोग धारण किया।

इतश्चाचार्यवर्येण क्षुल्लकश्चार्हदासकः।
दीक्षितश्च जिनमति सुमतिमति क्षुल्लिके ॥३२॥
सर्वसंघं समादाय आचार्यः शान्तिसागरः।
तारंगासिद्धिभूमिं च वंदनार्थं ततोऽचलत् ॥३३॥

अर्थ– इधर आचार्य ने दीक्षा देकर अर्हद्दास क्षुल्लक बनाया और जिनमति सुमतिमति दो क्षुल्लिकाए बनाई। तदनंतर आचार्य शांतिसागर स्वामी संघ को लेकर सिद्ध क्षेत्र तारगा की वंदना करने के लिये चले।

ज्यायांश्च देवगौडाख्यो बंधुर्धर्मपरायणः।
त्यक्त्वा मोहं कुटुंब चागृहीद्ध क्षुल्लकव्रतम् ॥३४॥

अर्थ– इनका सबसे बड़ा भाई देवगौडा है, वह बहुत ही धर्मात्मा है। उसने भी मोह और कुटंब को छोड़कर क्षुल्लक व्रत धारण कर लिये हैं।

हे क्षमावीर ! हे धीर ! कृपाब्धे करुणानिधे।
शक्तः शक्रोप्यशक्तोस्ति कथितुं ते चरित्रकम् ॥३५॥
मम विद्याविहीनस्य मन्दबुद्धेः कथैव का।
तथापि तवभक्त्यैव रचितं केवलं मया ॥३६॥
श्रीमान् तवैव शिष्येण कुंथुसागरयोगिना।
शान्तिदं त्वच्चरित्रं च संभूयात्स्वर्गमोक्षदम् ॥३७॥

अर्थ– हे क्षमाधारण करनेवालों में वीर, हे धीर, हे कृपा के सागर, हे करुणानिधि, शक्र वा इन्द्र यद्यपि समर्थ है तथापि आपका चरित्र कहने के लिये असमर्थ है, फिर भला विद्यारहित और मंद बुद्धि को धारण करने वाले मेरी तो बात ही क्या है। तथापि हे श्रीमन् ! आपके ही शिष्य मुझ कुंथुसागर मुनि ने केवल आपकी भक्ति के वश होकर ही इस चरित्र को बनाया है। ऐसा यह शांति देनेवाला आपका जीवन-चरित्र स्वर्ग मोक्ष का देनेवाला हो।

॥ समाप्तोऽयं ग्रंथः ॥

।।श्री शांतिसागर स्तवन ।।

(परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी द्वारा रचित आचार्य श्री का स्तवन)

(बसन्ततिलका छन्द)

'मैसूर राज्य' अविभाज्य, विराजता औ, शोभामयी- नयन मन्जु सुदीखता जो ।
त्यों शोभता, मुदित भारत - मेदिनी में, ज्यों शोभता, मधुप - फुल्ल सरोजिनी में ।। १ ।।

है 'बेलगाँव' सुविशाल जिला निराला,
सौन्दर्य - पूर्ण जिसमें पथ हैं विशाला ।
अभ्रंलिहा परम उन्नत सौधमाला,
जो है वहाँ अमित उज्जवल औ उजाला ।। २ ।।

है पास 'भोज' इसके नयनाभिराम,
राकेन्दु - सा अवनि में लखता ललाम ।
श्रीभाल में ललित कुंकुम शोभता ज्यों,
औ भोज भी अवनि मध्य सुशोभता त्यों ।। ३ ।।

आके मिली विपुल निर्मल नीर वाली, हैं भोज में सरित दो सुपयोज वाली ।
विख्यात है इक सुनो वर 'दूध गंगा', दूजी अहो ! सरस शान्त सु 'वेदगंगा' ।। ४ ।।

श्रीमान् महान् विनयवान् बलवान् सुधीमान्,
श्री 'भीमगौड़' मनुजोत्तम औ दयावान् ।
सत्यात्म थे, कुटिल आचरणज्ञ ना थे,
जो भोज में कृषि कला अभिविज्ञ वा थे ।। ५ ।।

नितिज्ञ थे, सदय थे, सुपरोपकारी,
पुण्यात्म थे सकल मानव हर्षकारी ।
जो लीन धर्म अरू अर्थ सुकाम में थे,
औ वीरनाथ वृष के वर भक्त यों थे ।। ६ ।।

श्री भीमगौड़ ललना अभि सत्यरूपा, थी काय कान्ति जिसकी रति - सी अनूपा ।
सीता समा, गुणवती, वर नारि रत्ना, जो थी यहाँ नित नितान्त सुनीतिमग्ना ।। ७ ।।

नाना कला निपुण थी मृदुभाषिणी, थीं,
शोभावती मृगदृगी गतमानिनी थी ।
लोकोत्तरा छविमयी तनवाहिनी थी,
सर्वसहा - अवनि - सी समतामयी थी ।। ८ ।।

मन्दोदरी सम सुनारि सुलक्षिणी थी,
श्री प्राणनाथ - मद - आलस - हारिणी थी ।

हँसानना शशिकला मनमोहिनी थी,
लक्ष्मी समान जग सिंहकटी सती थी ॥ ६ ॥

हीरे समा नयन रम्य सुदिव्य अच्छे, थे सूर्य चन्द्र सम तेज, सुशान्त बच्चे ।
जन्में दया भरित नारि सुकूँख से थे, दोनों अहो ! परम सुन्दर लाडले थे ॥ १० ॥

था ज्येष्ठ पुष्ट अतिहृष्ट सु - देवगौड़ा,
छोटा बड़ा चतुर बालक 'सातगौड़ा'।
दोनों अहा ! सुकुल के यश - कोश ही थे,
या प्रेम के परम - पावन - सौंध ही थे ॥ ११ ॥

होता विवाह पर शैशवकाल में ही,
पाती प्रिया अनुज की द्रुत मृत्यु यों ही ।
बीती कई तदुपरान्त अहर्निशायें,
जागी तदा नव विवाह सुयोजनायें ॥ १२ ॥

तो देख दृश्य वह बालक सोचता है, है पंक ही नव विवाह, न रोचता है ।
दुर्भाग्य से सघन - कर्दम में फँसा था, सौभाग्य से बच गया, यह तीव्र साता ॥ १३ ॥

माँ ! मात्र एक ललना चिर से बची है,
वैसी न नीरज मुखी अब लों मिली है ।
हो चाहती मम विवाह मुझे बता दो,
जल्दी मुझे अहह ! अब ! शिवांगना दो ॥ १४ ॥

इत्थं कहा द्रुत तदा वच भी स्व - माँ को,
निर्भीक भीम - सुत ने सुमृगाक्षिणी को ।
जो भीमगौड़ पति की अनुगामिनी थी,
औ कुन्दिता - मुकुलिता - दुखवाहिनी थी ॥ १५ ॥

काँटे मुझे दिख रहे घर में अहो ! माँ, चाहूँ नहीं घर निवास, अतः सुनो माँ ।
है जैनधर्म जग सार, पुनीत भी है, माता ! अतः मुनि बनूँ यह ही सही है ॥ १६ ॥

तू जायगा यदि अरण्य अरे सबेरे,
उत्फुल्ल-लोल-कल-लोचन-कंज मेरे ।
बेटा ! अरे ! लहलहा कल ना रहेंगे,
होंगे न उल्लसित औ न कभी खिलेंगे ॥ १७ ॥

रोती, सती बिलखती, गत - हर्षिणी थी,
जो सातगौड़ जननी, गजगामिनी थी ।
बोली निजीय सुत को नलिनीमुखी यों,
ओ पुत्र ! सन्मुख तथा रख दी व्यथा यों ॥ १८ ॥

माता अहो ! भयानक - काननी में, कोई नहीं शरण है इस मेदिनी में ।
सद्धर्म छोड़ सब ही दुखदायिनी है, वाणी जिनेन्द्र कथिता सुखदायिनी है ॥ १९ ॥

माधुर्य - पूर्ण समयोचित भारती को,
माँ को कही सजल - लोचन - वाहिनी को ।
रोती तथा बिलखती उर पीट लेती,
जो बीच-बीच रूकती, फिर श्वाँस लेती ॥ २० ॥

विद्रोह, मोह, निज - देह - विमोह छोड़ा,
आगे सुमोक्ष - पथ से अति नेह जोड़ा ।
'देवेन्द्रकीर्ति' यति, से वर भक्ति साथ,
दीक्षा गही, वर लिया, वर मुक्ति पाथ ॥ २१ ॥

गम्भीर, पूर्ण, सुविशाल - शरीरधारी, संसार - त्रस्त जन के द्रुत आर्तहारी ।
औ वंश - राष्ट्र - पुर देश सुमाननीय, जो थे सु - 'शान्ति' यतिनायक वन्दनीय ॥ २२ ॥

विद्वेष की न इसमें कुछ भी निशानी,
सत्प्रेम के सदन थे, पर थे न मानी ।
अत्यन्त जो लसित थी, इनमें (अ) नुकम्पा,
आशा तथा मुकुलिता अरू कोष चंपा ॥ २३ ॥

थे दूर नारि कुल से, अति - भीरू यों थे,
औ शील - सुन्दर - रमापति किन्तु जो थे ।
की आपने न पर या वृष की उपेक्षा,
थी आपको नित शिवालय की अपेक्षा ॥ २४ ॥

स्वामी, तितिक्षु, न बुभुक्षु, मुमुक्षु जो थे, मोक्षेच्छु रक्षक, न भक्षक दक्ष औ थे ।
यानी, सुधी, विमल - मानस - आत्मवादी, शुद्धात्म के अनुभवी, तुम अप्रमादी ॥ २५ ॥

निश्चिंत हो, निडर, निश्चल, नित्य भारी,
थे ध्यान - मौन धरते तप औ करारी ।
थे शीत ताप सहते, गहते न मान,
ते सर्वदा स्वरस का करते सुपान ॥ २६ ॥

शालीनतामय सुजीवन आपका था,
आलस्य, हास्य विनिवर्जित शस्य औ था ।
थी आपमें सरसता व कृपालुता थी,
औ आप में नित नितान्त कृतज्ञता थी ॥ २७ ॥

थे आप शिष्ट, वृषनिष्ठ, वरिष्ठयोगी, संतुष्ट थे, गुणगरिष्ठ, बलिष्ठ यों भी ।
थे अन्तरंग, बहिरंग, निसंग नंगे, इत्थं न हो यदि, कुकर्म नहीं कटेंगे ॥ २८ ॥

था स्वच्छ, अच्छ व अतुच्छ चरित्र तेरा,
था जीवनातिभजनीय पवित्र तेरा ।
ना कृष्य देह तब जो तप साधना से,
यों चाहते मिलन आप शिवांगना से ॥ २९ ॥

प्रायः कदाचरण युक्त अहो धरा थी,
सन्मार्ग रूढ़ मुनि मूर्ति न पूर्व में थी ।
चारित्र का नव नवीन पुनीत पंथ,
जो भी यहां दिख रहा तव देन संत ॥ ३० ॥

ज्ञानी विशारद सुशर्म पिपासु साधु, औ जो विशाल नर नारि समूह चारू ।
सारे विनीत तव पाद - सुनीरजों में, आसीन थे भ्रमर से निशि में, दिवा में ॥ ३१ ॥

संसार सागर असार अपार खार,
गम्भीर पीर सहता इह बारबार ।
भारी कदाचरण भार विमोह धार,
धिक् धिक् अतः अबुध जीव हुआ न पार ॥ ३२ ॥

थे शेडबाल गुरूजी इक बार आये,
इत्थं अहो सकल मानव को सुनाये ।
"भारी प्रभाव मुझ पै तब भारती का,
देखो पड़ा इसलिये मुनि हूँ अभी का" ॥ ३३ ॥

अच्छे बुरे सब सदा न कभी रहे हैं, औ जन्म भी मरण भी अनिवार्य ही है ।
आचार्यवर्य गुरूवर्य समाधि लेके, सानन्द देह तज, 'शान्ति' गये अकेले ॥ ३४ ॥

हे ! तात ! ! घात ! ! पविपात ! ! हुआ यहाँ पै,
आचार्यवर्य गुरूवर्य गये कहाँ पै ?
जन्में सुरेन्द्रपुर में, दिवि में जहाँ पै,
हूं भेजता 'स्तुति सरोज' अतः वहां पै ॥ ३५ ॥

॥ प्रशस्ति ॥

संतोष - कोष गत रोष 'सुशान्ति - सिन्धु', मैं बार-बार तब पाद सरोज वन्दूँ ।
हूँ 'ज्ञान का प्रथम शिष्य', अवश्य बाल, 'विद्या' सुशान्ति पद में धरता स्व-भाल ॥ ३६ ॥

॥ श्री शांतिसागराय नमः ॥

बालब्रह्मचारी धर्म-दिवाकर विद्वत्‍रत्न विद्यावारिधि स्व. पंडित सुमेरुचंद्रजी दिवाकर न्यायतीर्थ शास्त्री, बी.ए., एल.एल.बी., सिवनी, म.प्र.

जीवन परिचय

अपनी उच्च धार्मिक, सामाजिक सेवाओं के कारण भारतवर्ष के जैन बंधु स्व. पंडित समेरूचन्द्रजी दिवाकर से भली-भाँति परिचित हैं। उनका जन्म मध्य प्रदेश के सिवनी नगर में ८ अक्टूबर १९०५ (विक्रम संवत् १९६२) विजयादशमी के दिन रविवार को हुआ। आपके पूज्य पिता जी स्वर्गीय सिंघई कुँवरसेनजी भारतवर्षीय जैन समाज में अपनी धर्म, समाजसेवा तथा विद्वत्ता के लिए विख्यात थे। समाज के वरिष्ठ विद्वान् न्यायाचार्य सिद्धांतवारिधि पं. शिरोमणि माणिकचंदजी ने एक बार लिखा था कि-"सिंघई कुँवरसेनजी बड़े प्रतिभाशाली थे। वे धार्मिक वीर पुरूष थे। जैन विद्वानों से अक्षुण्ण प्रमोद भावना रखते थे। उन्होंने समाज में महान् कार्यों को करके विशेष ख्याति प्राप्त की थी। ऐसे नररत्न धन्य हैं। ऐसे महान् नरपुंगव अब कहाँ हैं।"

पंडित श्री दिवाकर जी ने १९२१ में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के आह्वान पर असहयोग आन्दोलन में विदेशी सत्ता द्वारा संचालित अंग्रेजी स्कूल से संबंध त्याग कर कारंजा, मुरैना के जैन गुरूकुल में संस्कृत और धर्म का अध्ययन किया। वहाँ से आप स्याद्वाद विद्यालय, बनारस आये जहाँ से न्यायतीर्थ और शास्त्री हुए। स्वर्गीय विद्यावारिधि बैरिस्टर चंपतरायजी की सलाह पर आपने हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस में पुनः अंग्रेजी का अध्ययन प्रारंभ किया। क्रमानुसार हिन्दू विश्वविद्यालय से इंटर, जबलपुर से बी.ए. तथा नागपुर विश्वविद्यालय से एल.एल.बी. की परीक्षाओं में सफलता प्राप्त की। श्री दिवाकरजी के व्यक्तित्व से आकर्षित होकर सन् १९३६ में नागपुर उच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश सर ग्रिल ने पूछा था कि-"क्या तुम्हें गव्हर्नमेंट सर्विस चाहिए?" उनका अभिप्राय इन्हें उच्चपद पर नियुक्त करने का था। दिवाकरजी ने नम्रतापूर्वक निवेदन किया था कि-"मैं अहिंसामय जैनधर्म की सेवा करते हुए अपने जीवन को व्यतीत करने का संकल्प कर चुका हूँ। प्राणिमात्र की सेवा करना मेरे जीवन का लक्ष्य-बिन्दु बन चुका है। मेरी दृष्टि धन कमाने की नहीं है।" इस उत्तर से सर ग्रिल बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने आशीर्वाद देते हुए कहा कि-"मेरा विश्वास है तुम सफल, यशस्वी और महान् लोक कल्याणकारी व्यक्ति बनोगे। मेरी तुम्हारे प्रति हार्दिक मंगल कामना है।" शिक्षा प्राप्ति के अनंतर राष्ट्रीय आंदोलन ने इनको अपनी ओर खींचा। चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागरजी महाराज के दिव्य व्यक्तित्व से प्रभावित हो उन्होंने सभी विकल्पों का त्याग कर जिनशासन की सेवा के कार्य में पूर्णरूपेण समर्पण कर दिया और फिर आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर जीवन के अंतिम क्षण तक यथाशक्ति उन्होंने जो धर्म, समाज, संस्कृति व साहित्य की बिना किसी अर्थाभिलाषा के सेवा की उससे सपूर्ण जैन जगत् परिचित है।

आपने चारित्र चक्रवर्ती, आध्यात्मिक ज्योति, तीर्थंकर, जैनशासन, महाश्रमण महावीर, आचार्य देशभूषण महाराज का जीवन चारित्र, तत्विक चिंतन, अध्यात्मवाद की मर्यादा, आगम पथ, विश्वतीर्थ श्रवणबेलगोला, चंपापुरी, नंदीश्वरद्वीप, भगवान महावीर, कुंदकुंद की देशना, सुलझे पशु उपदेश सुन, समीचीन दृष्टि आदि अनेक ग्रंथों की रचना की।

इनके अतिरिक्त जैन वाङ्मय के महाबंध, कषायपाहुड़, मोक्षपाहुड़, समाधिशतक, इष्टोपदेश, पंचास्तिकाय दीपिका, जिनसहस्रनाम सदृश ग्रंथों का संपादन किया। अंग्रेजी भाषा में श्री दिवाकर जी ने रिलीजन एंड पीस, फिलासफी आफ वेजीटेरियनिज्म, महावीर लाइफ एण्ड फिलासफी, लार्ड पार्श्वनाथ, न्यूडिटी आफ जैन सेंट्स, ऐंटीक्विटी आफ जैनिज्म, इज जैनिज्म ए डिसटिंक्ट एंड सेपरेट रिलीजन आदि ग्रंथ लिखे हैं। इन ग्रंथों में से कई हिन्दी ग्रंथों के कन्नड़ तमिल, मराठी, गुजराती भाषाओं में अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं।

आपके ही प्रयत्न एवं प्रभाव से दक्षिण भारत के मूड़बिद्री मठ से सर्व प्राचीन दिगम्बर जैन ग्रंथराज 'महाधवल' (महाबंध) की प्राप्ति हुई, जिसका संपादन भी आपने ही किया। आचार्य शांतिसागर महाराज ने आपको संपूर्ण महाबंध के ताम्रपत्र पर उत्कीर्णन संबंधी संपादन कार्य सौंपा था। इस महान् कार्य की संपन्नता पर एवं अन्य सेवाओं को लक्ष्य में रख सोलापुर में आचार्य श्री के समक्ष आपको **"धर्म दिवाकर"** के पद से अलंकृत किया गया। इसी तरह भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा ने अपने गोहाटी (आसाम) में हुए अधिवेशन में जैन साहित्य और समाज के लिए की गई आपकी दीर्घकालीन सेवाओं के आधार पर **"विद्वत्रत्न"** की उपाधि से विभूषित किया था तथा बाद में दिगम्बर जैन महासभा ने आपको अपना महनीय संरक्षक पद प्रदान किया, जिस पद पर वे जीवन के अंत समय तक रहे। देहावसान के कुछ ही माह पूर्व २५.१०.९३ को श्रवणबेलगोला में चारूकीर्ति भट्टारकजी ने श्री दिवाकरजी को **"विद्यावारिधि"** की उपाधि से समलंकृत कर रजतथाल प्रदत्त की थी। सन् १९७६ में जबलपुर नगर में बड़े महोत्सव के मध्य आपको विशाल **'अभिनंदन ग्रंथ' मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री नवीनचंद्रजी द्विवेदी की अध्यक्षता में भेंट किया गया। 'अखिल भारतीय दार्शनिक परिषद' द्वारा १९८० में भारतवर्ष के सब धर्मों के दिग्गज विद्वानों और दार्शनिक मनीषियों के मध्य श्री दिवाकरजी को सम्मानपत्र भेंट किया गया।** भगवान् महावीर के २५०० वे निर्वाणोत्सव समारोह के समय दिल्ली में पूज्य आचार्य विद्यानंदजी महाराज के सान्निध्य में श्री दिवाकरजी को उनके "चारित्र चक्रवर्ती" ग्रंथ के रचयिता के रूप में अभिनंदित किया गया। परम पूज्य आचार्य १०८ विद्यासागरजी महाराज के सागर चातुर्मास के अवसर पर दिगम्बर जैनाचार्य धरसेन के शिष्य आचार्य पुष्पदंत तथा आचार्य भूतबलि द्वारा प्रणीत कषायपाहुड़ एवं अन्यान्य सिद्धान्त ग्रंथों की हिन्दी टीका के माध्यम से धर्म की अपूर्व प्रभावना करने पर दिगम्बर जैन समाज, सागर व श्री गणेश दि. जैन सं. विद्यालय, सागर म.प्र. द्वारा दिनांक १७.६.८० श्रुतपंचमी को श्री दिवाकरजी को **रजतपत्र प्रदत्त** कर सम्मानित किया था।

आचार्य विद्यासागरजी महाराज, आचार्य बाहुबलीजी महाराज आदि सभी निर्ग्रंथ साधुओं का शुभाशीर्वाद प्राप्त होता रहा है। चारित्र, विद्वता और भक्ति का संगम श्री दिवाकरजी के जीवन में था। अपने पवित्र जीवन की स्वर्णिम संध्या में भी आप निरंतर अध्ययन एवं लेखन में न्यस्त रहे और पूर्ण सावधानीपूर्वक महामंत्र णमोकार का श्रवण-मनन करते हुए दिनांक २५ जनवरी १९९४ को देह का त्याग किया। एक अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी के रूप में अपार अध्ययन व अनुभव में अनुप्राणित आपकी अभिव्यक्तियाँ समाज के लिए सदैव प्रकाशस्तंभ सदृश रहेंगी।

स्व. श्री दिवाकरजी की धर्म, समाज और साहित्य सेवा के लिए समाज सदैव ऋणी रहेगा।